सन्मार्ग दिवाकर

परम पूज्य श्री १०८ आचार्य विमलसागर जी महाराज

अभिवन्दन ग्रंथ
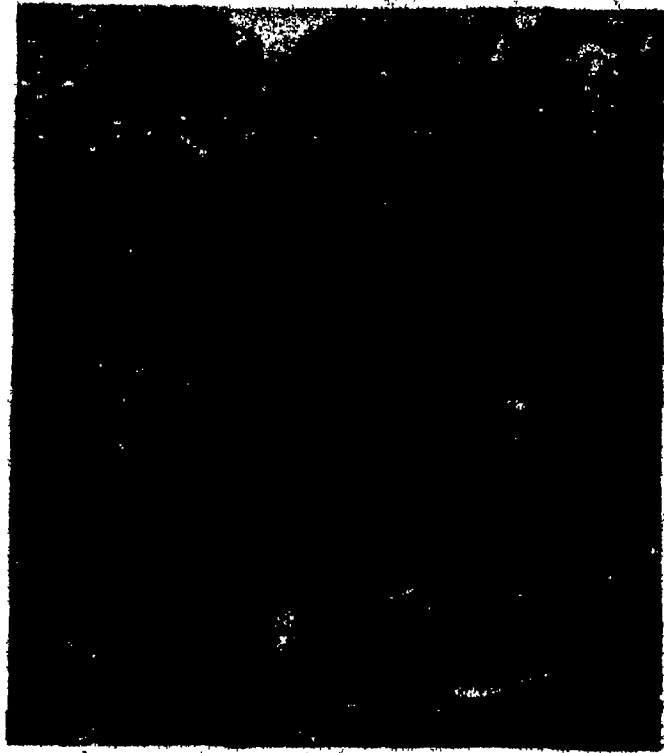
—: प्रधान सम्पादक :—

परम पूज्य श्री १०८ आचार्यकल्प स्याद्वाद
विद्याभूषण सन्मतिसागर "ज्ञानानन्द" जी महाराज

— प्रकाशक —

श्री स्याद्वाद विमल ज्ञानपीठ

([illegible])

[illegible] सोनागिर (दतिया) [illegible]

सहयोगी (साधु वृन्द)

श्री १०८ प० पू० उपाध्याय भरतसागरजी महाराज

श्री १०८ प० पू० उपाध्याय ज्ञानसागरजी महाराज

श्री १०५ पूज्य आर्यिका ज्ञानमती माता जी

" " " " सुपार्श्वमती माता जी

" " " " विजयामती माता जी

" " " " जिनमती माता जी

" " " " शुभमती माता जी

" " " " स्याद्वादमती माता जी

" " " " कीर्तिमती माता जी

" " " ऐलक श्रुतभूषण जी महाराज

सहयोगी (त्यागीवृन्द)

ब्र० बहिन सुनीता जी शास्त्री

ब्र० बहिन प्रभा जी पाटनी

ब्र० बहिन अनीता जी

ब्र० बहिन कमलेश जी

ब्र० बहिन हरकुंवर जी

ब्र० बहिन किरण जी

ब्र० बहिन कान्ति जी

ब्र० बहिन रंजना जी

ब्र० बहिन रेखा जी

ब्र० बहिन विजय जी

ब्र० बहिन रेखा जी

ब्र० बहिन शशि जी

❁

सहयोगी (विद्वत् वर्ग)

श्री पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य, सागर

श्री पं० बलभद्र जी जैन, आगरा

श्री डा० रतनलाल जैन, इन्दौर

श्री पं० शिवचरनलाल जैन, मैनपुरी

श्री स्व० पं० राजकुमार जी शास्त्री, आगरा

श्री पं० ज्ञानचन्द जी बिल्टीवाला, जयपुर

श्री पं० डा० रमेशचन्द जैन, बिजनोर

श्री पं० डा० महेन्द्रसागर प्रचण्डिया, अलीगढ़

श्री पं० डा० भागचन्द जी भागेन्दु, दमोह

श्री पं० डा० सुपार्श्वकुमार जैन, बड़ौत

श्री पं० डा० श्रेयांसकुमार जैन, बड़ौत

श्री पं० मुन्नालाल जी शास्त्री, ललितपुर

श्री पं० सोहनलाल जी, लोहारिया

श्री पं० उत्तमचन्द जैन 'राकेश', ललितपुर

श्री पं० कस्तूरचन्द जैन 'सुमन', महावीर जी

श्री पं० डा० अशोककुमार जैन, पिलानी

श्री पं० डा० सुरेन्द्र जैन 'भारती' बुरहानपुर

श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र सोनागिर स्थित

श्री १००८ तीर्थंकर भगवान चन्द्रप्रभु जी

(विद्वानों का ऐसा मत है कि यह मूर्ति
तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ की है।)

परम पू० श्री १०८ आचार्य विमलसागर जी महाराज के गुरुवर
आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी महाराज

सन्मार्ग दिवाकर आचार्य श्री १०८ विमलसागर जी महाराज
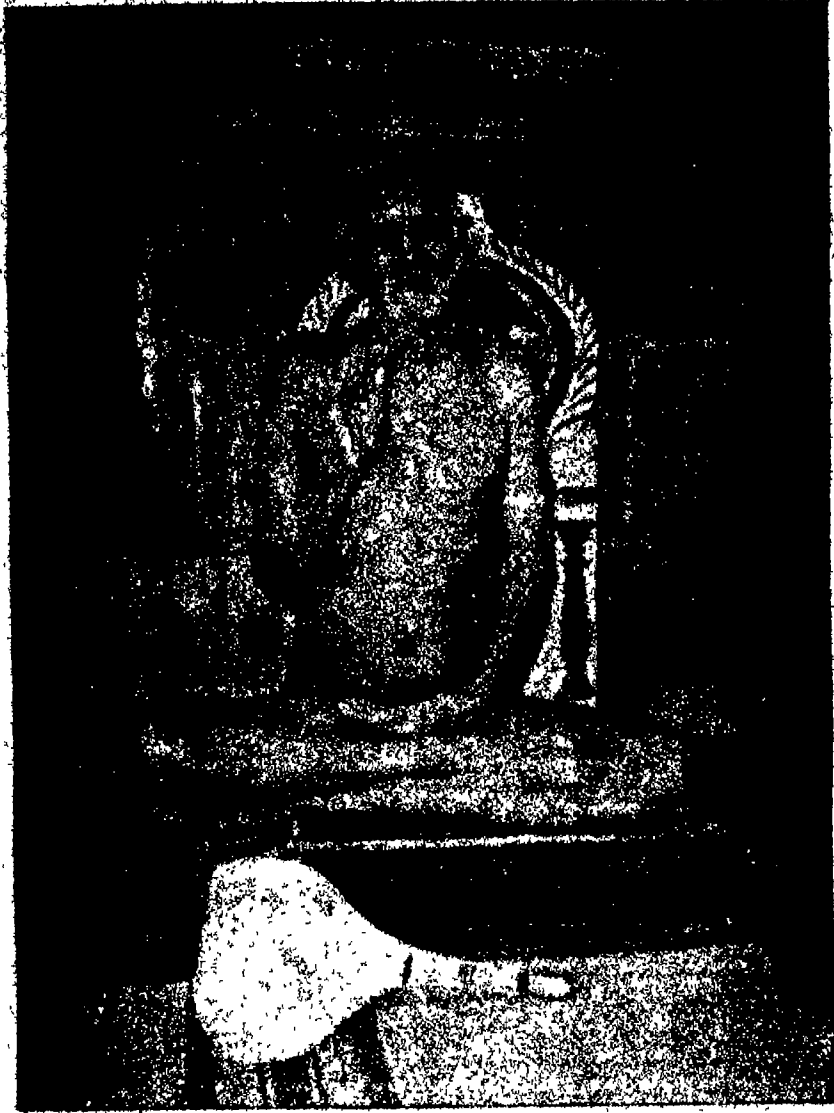
सन्मार्ग दिवाकर, परम पूज्य, प्रखर तपस्वी
१०८ आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज

समर्पण

•

सन्मार्ग दिवाकर

परम जिनशासन प्रभावक,

वात्सल्य मूर्ति, करुणानिधि, परम

तपस्वी, निमित्तज्ञान शिरोमणि, तीर्थोद्धारक

सत्यान्वेषी, सम्यग्ज्ञान प्रसारक, जिनधर्मोपदेष्टा

सिद्धान्त संरक्षक, उपसर्गजयी, प्रातःस्मरणीय

परमपूज्य श्री १०८ आचार्य विमल

सागर जी महाराज के पावन

कर-कमलों में श्रद्धा एवं

भक्ति सहित सविनय

समर्पित।

—स्याद्वाद विद्याभूषण

मनोभावना

वायु के समान जिसकी अमर कीर्ति दिग् दिगान्तरों को सुरभित करती आ रही है; ऐसे सन्मार्ग दिवाकर वात्सल्य मूर्ति, स्वपरोपकारी श्री १०८ आचार्य रत्न विमलसागर जी महाराज के पावन कर कमलों में उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व के अनुरूप यह अभिनन्दन ग्रंथ समर्पित करते हुए गौरव का अनुभव हो रहा है।

१९८१ में गोम्मटेश बाहुबली के महामस्तकाभिषेक के पावन अवसर पर परम पूज्य आचार्य श्री के अभिनन्दन में 'द्वादशांग सार' प्रकाशित करने का निश्चय किया गया तथा जिसका संकलन एवं सम्पादन कार्य की जिम्मेदारी मुझे सौंपी गई, तदनुरूप कार्य का शुभारम्भ हुआ और साधु-सन्त तथा गण्यमान्य विद्वानों के सहयोग से ५ वर्ष में संकलन का कार्य पूर्ण कर सका तथा २ वर्ष में विशिष्ट ज्ञानी महानुभावो के सहयोग से सम्पादन कार्य भी पूर्णता के नजदीक आ सका परन्तु इसमें कठिनाईयाँ एवं विशिष्ट अनुभवों की अनुभूतियाँ अवश्य हुई।

विशेष परिस्थितियों के कारण यथा समय पूर्णता के साथ यह ग्रंथ भक्तगणो के बीच उपस्थित नहीं किया जा सका, इस बात का भी खेद है। प्रसन्नता इस बात की है कि 'फूल नहीं पाँखुडी ही सही' इस कहावत के अनुरूप 'श्री १०८ आचार्य विमल सागर अभिनन्दन ग्रंथ' के नाम से यह ग्रंथ गुरुभक्तो के बीच समर्पित किया जा सका है।

पूज्य श्री का गुणगान करना सूर्य को दीपक दिखाने तुल्य है फिर भी भक्ति एवं अनुरागवश सामान्य जीवन वृत्त के साथ साधुपरिचर्या, ज्ञान की महिमा एवं स्याद्वाद तथा अनेकान्त के सन्दर्भ में द्वादशांग रूप परमागम से कुछ मणियों की माला सँजोकर समर्पित करने का साहस किया है।

इस ग्रंथ के प्रकाशन में मेरा तो नाम मात्र है, यथार्थ में कार्य का सम्पादन तो अनेकों सहयोगियों के अथक् परिश्रम से संभव हो सका है। इस ग्रंथ में आर्थिक, मानसिक, एवं शारीरिक सहयोग प्रदान करने वाले समस्त सहयोगी विशेष धन्यवाद के सुपात्र हैं।

—प्रधान सम्पादक

प्रकाशकीय

जिस प्रकार बीज को बगीचे में बोने के बाद माली की आँखें क्रमशः पौधा, वृक्ष और फलावलोकन के लिए लालायित रहती हैं, उसी प्रकार जब से परिषद् के माध्यम से पूज्य श्री १०८ 'आचार्य विमलसागर जी महाराज के अभिवन्दनार्थ 'अभिवन्दन ग्रन्थ' का कार्य शुभारम्भ किया तभी से अगणित भक्त गणों की आँखें ग्रंथावलोकन के लिए व्याकुल हैं।

चिरप्रतीक्षा के बाद ग्रंथ के प्रकाशन का कार्य किसी तरह पूर्ण हो सका है, यद्यपि आचार्य श्री के अभिवन्दन में श्री अखिल भारतीय स्याद्वाद विद्वत् परिषद् द्वारा अभी तक अनेकों छोटी बड़ी कृतियाँ प्रकाशित की जा चुकी हैं तथापि जितनी समस्याओं का सामना इस ग्रन्थ के प्रकाशन में करना पड़ा है, इससे पहले उनका अनुभव कभी नहीं हुआ।

इस अभिवन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन 'द्वादशांग सार' नाम से होना तय हुआ था, तदनुरूप साधु-संत त्यागीवृन्द तथा विद्वानों के पुरुषार्थ परिश्रम से इस ग्रन्थ का संकलन एवं सम्पादन परम पूज्य आचार्य कल्प स्याद्वाद विद्याभूषण सन्मति सागर 'ज्ञानानन्द' जी महाराज ने किया। उसी का एक अंश 'अभिवन्दन ग्रन्थ के नाम से तैयार किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्य श्री के प्रति साधु-संतों, भक्तगणों की शुभकामनाओं, प्रेरक-प्रसंगों चित्रों आदि के साथ-साथ रोचक शैली में श्रीमान् डा० सुरेन्द्र कुमार जैन 'भारती' जी द्वारा लिखित आचार्य श्री का अनुकरणीय जीवन वर्णन है।

बौद्धिक जिज्ञासुओं के लिए 'आचारांग' में वर्णित सामग्री का अति संक्षिप्त रूप से, जैनाचार्यों द्वारा लिखित विभिन्न ग्रन्थों से संकलन हुआ है, जिसमें साधुओं की दीक्षा विधि, मूलगुण उत्तरगुण, समाचार, पिंडशुद्धि, भावना, ध्यान, सल्लेखना, समाधि आदि मुनि, उपाध्याय, आचार्यों की पूर्ण क्रियाओं का विवेचन किया गया है।

ज्ञान एवं उसके उपयोग के साथ अपने लेखों में स्याद्वाद एवं अनेकान्त तथा उसके प्रयोजन का सफल विवेचन किया गया है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में सर्व प्रथम हम उन साधु-संतों के आभारी हैं, जिन्होंने स्याद्वाद मयी जिनवाणी रूप सागर का मन्थन कर आलेख रूप नवनीत प्रदान किये।

देश के लब्धप्रतिष्ठ विशिष्ट विद्वानों ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में अपना श्रम साध्य सहयोग प्रदान किया है तदर्थ हम उनके विशिष्ट आभारी हैं। हमारे साथी त्यागी व्रती भाई-बहिनों ने हर प्रकार की व्यवस्था में पिछले सात वर्षों से जो विशेष योगदान दिया है, वह अविस्मरणीय रहेगा।

इस ग्रन्थ का सुरुचिपूर्ण प्रकाशन जिनवाणी महानुभावों के द्रव्य से संभव हो सका है, उनको इस आशा के साथ विशिष्ट धन्यवाद दिए बिना रहा नहीं जा सकता कि ग्रन्थमाला के शेष भाग का प्रकाशन भी उन दानी महानुभावों के सहयोग से प्रकाशित होना है, जिन्होंने स्वीकृतियाँ प्रदान की हैं।

इस ग्रन्थ के मुद्रण कार्य में संस्था समाज एवं प्रेस आदि के जिन-जिन महानुभावों का सहयोग प्राप्त हुआ, उन सबके हम विशेष आभारी हैं। विज्ञेषु किमधिकम्-

—ब्र. सुनीता शास्त्री

मन्त्री— श्री स्याद्वाद विमल ज्ञानपीठ

श्री दि. जैन सिद्धक्षेत्र सोनागिर (दतिया) म.प्र.
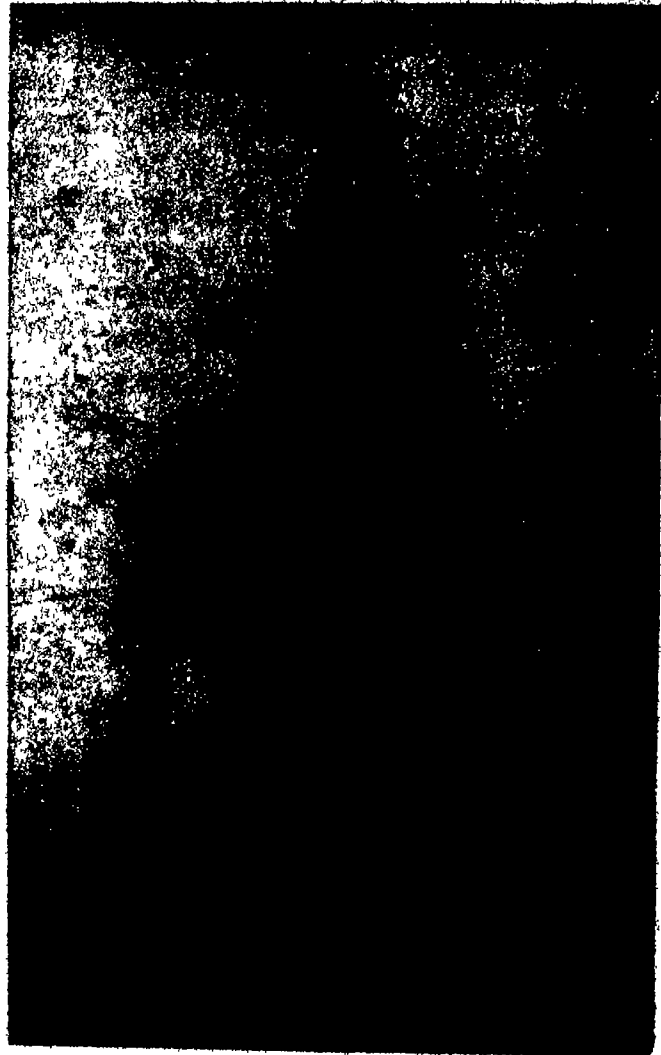
भगवान श्री १००८ वरांग कुमार जी

विषयानुक्रमणिका

प्रथम खण्ड— अध्याय—१

शुभकामना एवं विनयाञ्जलि

१– मुनि गण

२– राज नेता

३– विद्वत वर्ग

४– विशेष महानुभाव

अध्याय–२

आचार्य श्री को समर्पित भक्ति पुष्प

५– हो वंदन गुरुवर मेरा — पू० ज्ञानानंद जी

६– कीर्ति स्तम्बन — पू० ज्ञानानंद जी

७– विमल गुणगान — आ० सु० माता जी

८– विमल स्तम्बन — क्षु० अनंगमती जी

९– विमल सागर वंदना — श्री बिहारी लाल मोदी

१०– सौ सौ बार नमन है — श्री हजारी लाल 'काका'

११– अमल विमल के चरण — श्री बिहारी लाल मोदी

१२– गुरु गुणगान — श्री पवन कुमार 'दीवान'

१३– सोनागिर परिचय — श्री त्रिलोकलाल पाटनी

अध्याय–३

जीवन वृत

१४– आचार्य श्री : जीवन रेखा — प्रो० सुरेन्द्र जैन 'भारती' बुरहानपुर

१५– संस्मरण — श्री अजित जैन, मुरार

१६– संस्मरण — श्री माणिकचन्द गंगवाल

१७– चातुर्मास सूची

१८– परिचय त्यागी व्रती आश्रम

१९– चित्रों में परिषद् की एक झलक

अध्याय–४

अ० भा० श्री स्याद्वाद शिक्षण परिषद् के बढ़ते चरण

२०– परिचय एवं गतिविधियां

२१– परिषद् की उपलब्धियां

२२– परिषद् द्वारा प्रकाशित प्रमुख साहित्य — प्रो० सुरेन्द्र 'भारती' बुरहानपुर
२३– परिषद् सम्बंधी चित्र

द्वितीय — खण्ड (स्याद्वाद वाणी)

२४– पर्व- १ स्याद्वाद लेखक–श्री १०८ आ० कल्प सम्मति सागर जी
२५– पर्व- २ अनेकान्त ,,
२६– पर्व- ३ सप्तभङ्ग सिद्धि ,,
२७– पर्व- ४ जिज्ञासा ,,

आचारांग सार

लेखक–श्री १०८ आ० कल्प स्याद्वाद विद्याभूषण
सम्मति सागर जी महाराज

२८– पर्व- १ जैनेश्वरी दीक्षा
२९– पर्व- २ मूलगुण परिसर
३०– महाव्रत की परिभाषा
३१– अहिंसा महाव्रत
३२– सत्य महाव्रत
३३– अचौर्य एवं ब्रह्मचर्य महाव्रत
३४– अपरिग्रह महाव्रत
३५– समिति
३६– इन्द्रिय निरोध
३७– षट् आवश्यक
३८– शेषगुण
३९– आचार्य परमेष्ठी के ३६ गुण
४०– पर्व- ३ पंचाचार वाटिका—
४१– तपाचार (बाह्य) —
४२– अनशन
४३– ऊनोदर
४४– व्रत परिसंख्यान
४५– रस परित्याग
४६– विविक्त शय्यासन
४७– कायक्लेश

४८— तपाचार (अन्तरंग)
४९— प्रायश्चित
५०— विनय
५१— वैयावृत्य
५२— स्वाध्याय
५३— कायोत्सर्ग
५४— ध्यान
५५— पर्व- ४ पिण्डशुद्धि
५६— पर्व- ५ अनगार भावना
५७— पर्व ६ समाचार
५८— पर्व ७ भेदाधिकार
५९— पर्व ८ नैमित्तिक क्रियाधिकार
६०— पर्व ९ विशेषाधिकार (बारह भावना)
६१— ज्ञान और उपयोग — लेखक–ज्ञान दिवाकर उपाध्याय श्री १०८ भरत सागर जी महाराज
६२— आचार्य श्री की पूजन — श्री झंडूलाल जैन
६३— ,, ,, ,, आरती — पू० ज्ञानानन्द जी
६४— विमल स्तवन — ,, ,, ,, ,,

ग्रन्थ की न्योछावर २०१) रु०

नोट— उक्त न्योछावर का उपयोग छात्रावास के छात्रों की भोजन व्यवस्था हेतु किया जायेगा।

उपसंहार

यद्यपि आचारांगसार के संदर्भ में सांगोपांग सामग्री तो उपलब्ध है ही नहीं फिर भी कुन्दकुन्दादि विशिष्ट आचार्यों के ग्रन्थों के माध्यम से साधु जीवन चर्या से संबंधित सामग्री संकलित करने का आगम प्रमाण से प्रयत्न किया है।
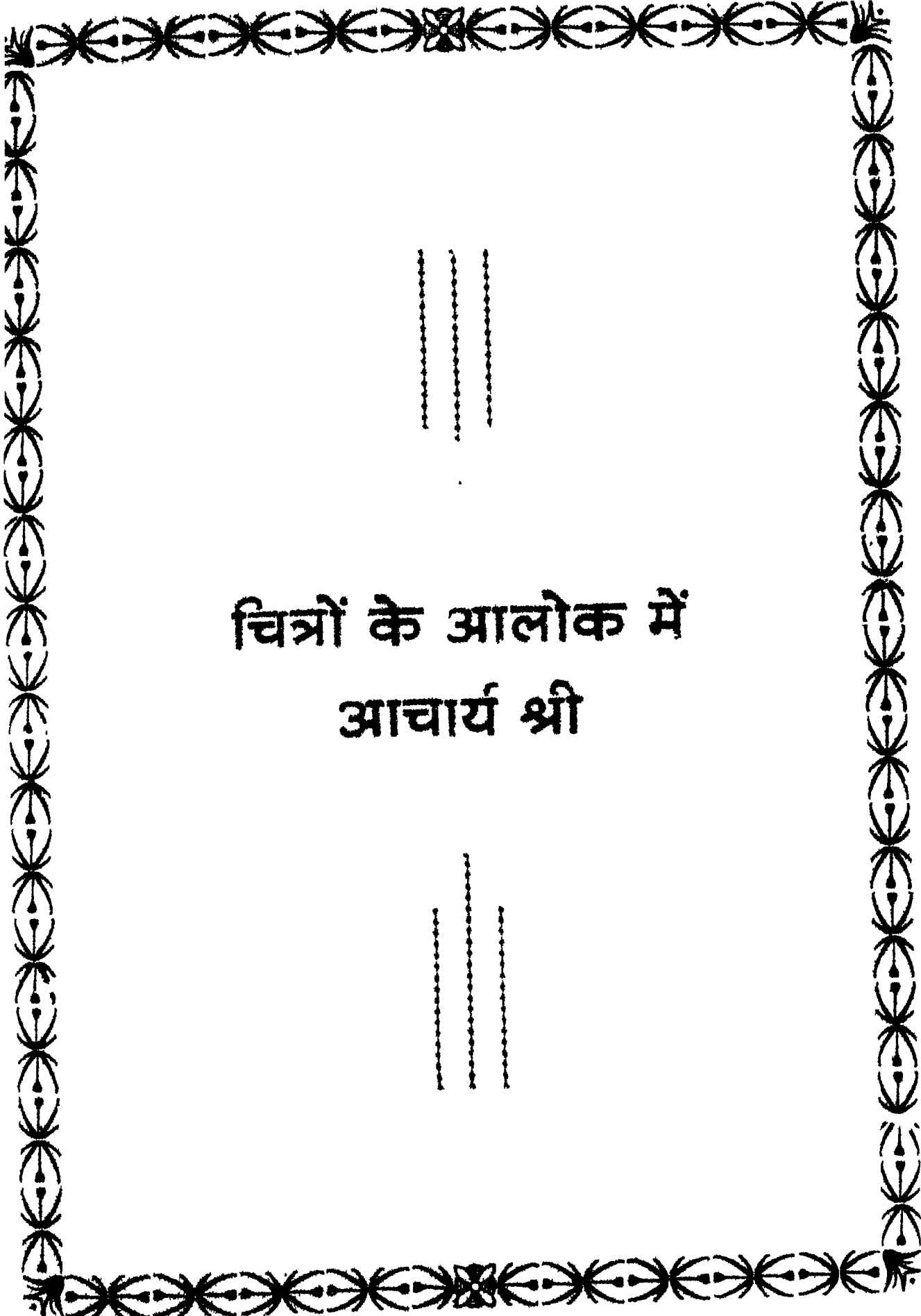
वर्तमान में हम लोगों की परिचर्या में आगमानुसार कुछ ढीले प्रतीत हो रही हैं, जिनके कारण लोकोपवाद तो होता ही है, परन्तु विशेषतया हम लोग अपने लक्ष्य से भी वंचित रह सकते हैं। अतः हमारी यही भावना है कि इस आचारांगसार का स्वाध्याय करते हुये सभी मोक्ष मार्ग के साधक निर्विवाद मोक्ष मार्ग का अनुसरण करें।

कुछ अनावश्यक तथ्य हमने अपना लिये हैं, इन्हीं के कारण लोगों को मुनि धर्म पर उंगली उठाने का अवसर मिल रहा है। इनमें निष्परिग्रही होने पर भी वाहन आदि का परिग्रह, वीतरागी होने पर भी आम्नाय का व्यामोह एवं स्याद्वादी होने पर भी वाणी पक्षपात या तनाव उत्तेजनात्मक भाषण सराहनीय नहीं है। पुण्ययोग में हमारी जय-जयकार हो सकती है, भक्तों की भीड़ लग सकती है, मनचाहा कार्य भी कर सकते हैं, तथा हमारी त्रुटियों से लोग अनभिज्ञ भी रह सकते हैं परन्तु यह ऋषि मुनियों के लिये समादरणीय नहीं है। मित्र शत्रु में समदर्शी, रत्नत्रय से विभूषित मुनिराज तो प्रतिक्षण अन्तरंग एवं बाह्य परिचर्या के साथ निर्विवाद एवं निर्भय होकर लोकैषणाओं को गौण करते हुये यथा शक्ति चौआराधना की उपासना में लीन रहते हैं।
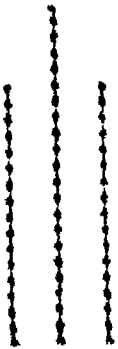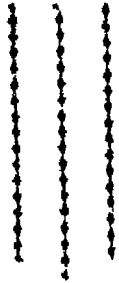
हमारा विश्वास है इस ग्रन्थ के माध्यम से सभी साधक भेदविज्ञानी परमेष्ठी पद विभूषित दिशा बोध प्राप्त कर सकेंगे।

द्वादशांग सार संकलन के प्रथम चरण में यह आचारांगसार नाम से यह ग्रन्थ आचार्य प्रणीत ग्रन्थों के माध्यम से ही संकलित किया है। प्रमाद एवं अल्पज्ञता वश त्रुटियां रहना स्वाभाविक है। साधक भव्यात्माओं से निवेदन है कि त्रुटियों को सुधार कर पढ़ते हुये हमें अवगत कराने का कष्ट करें।

—विद्याभूषण

चित्रों के आलोक में
आचार्य श्री

व्याख्यान देते हुये परम पू० चारित्र चक्रवर्ती आचार्य सुमति सागर
जी महाराज साथ में विराज मान हैं पूज्य आचार्य
बिमल सागर जी एवं उपाध्याय भरत सागर जी महाराज
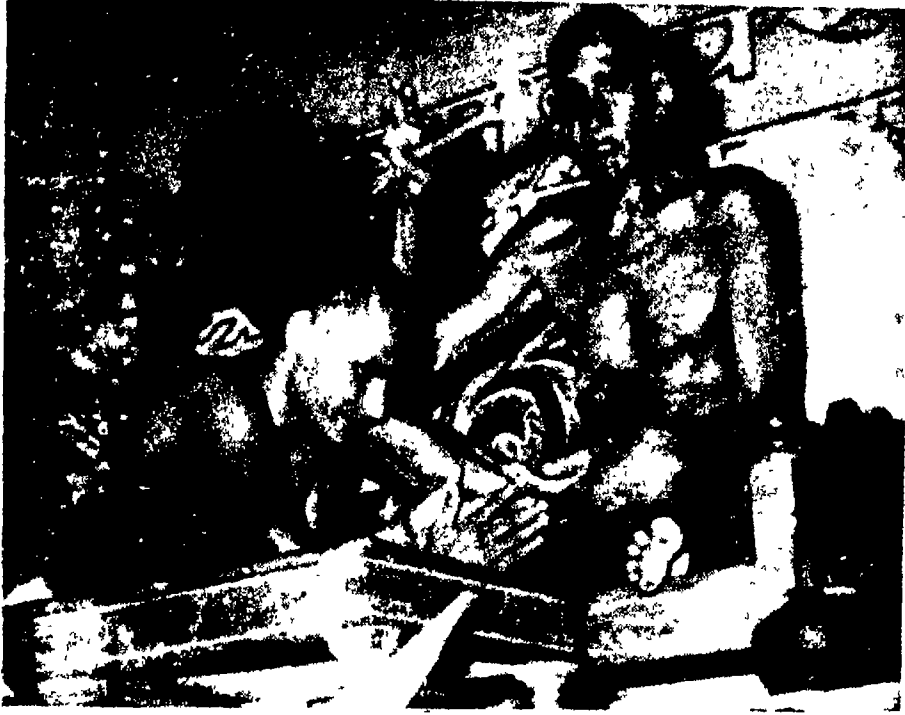
पू० आचार्य श्री से आशीर्वाद लेते हुए पू० क्षु० सन्मतिसागर जी महाराज

श्रीमती सरयू दफ्तरी जी को आशीर्वाद देते हुए आचार्य श्री, साथ में
उपाध्याय भरतसागर जी एवं क्षु० सन्मति सागर जी महाराज

नीरा (महा०) में आचार्य श्री की जन्म जयन्ती पर सम्बोधित करते हुए श्री शरद पंवार (वर्तमान मुख्यमंत्री महाराष्ट्र शासन) मंच पर आसीन हैं श्री चैनरूप जी बाकलीवाल एवं श्री एम. के. गांधी आदि

उप मुख्य मंत्री (म.प्र शासन) श्री शिवभानु सिंह सोलंकी को आशीर्वाद देते हुए पू. आ. श्री

म. प्र. के पूर्व राज्यपाल श्री सी एम. पुनाचा एवं उनकी धर्मपत्नी को

आशीर्वाद देते हुए पू. आचार्य श्री

ससंघ आचार्य श्री
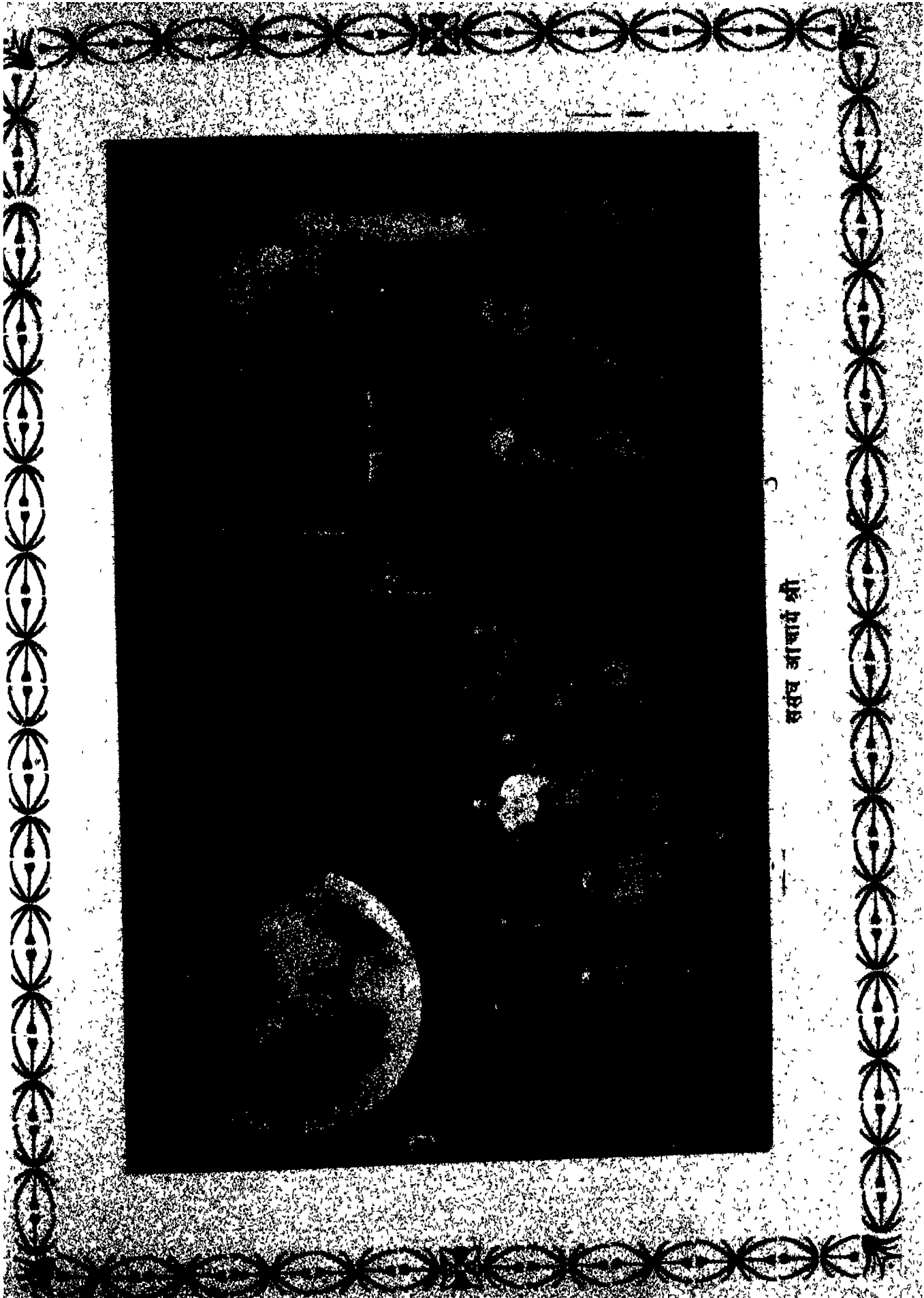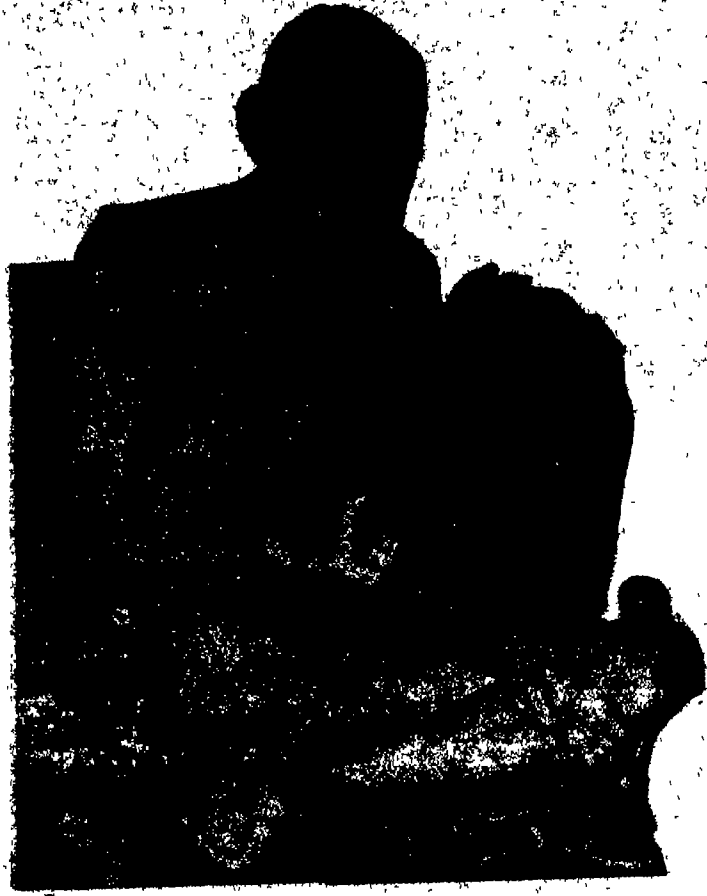
आशीर्वाद प्रदान करते हुये
१०८ आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज

नीरा वर्षा योग के अवसर पर पू० आचार्य श्री के समक्ष केशलोंच करते हुये उपाध्याय श्री भरत सागर जी

श्री श्रीपाल जी देहली वाले(सपत्नीक) पू० आचार्य श्री से आशीर्वाद लेते हुये ।

श्री दि० जैन सिद्ध क्षेत्र कलकत्ता की ? स्याद्वाद विद्यालय के उद्घाटन के अवसर पर आशीर्वाद प्रदान करते हुये आचार्य श्री एवं उपाध्याय श्री

संघ सहित

परम पूज्य आचार्य श्री

आचार्य श्री के सानिध्य में संघ संचालिका ब्र० विमाबाई दिवे का सम्मान
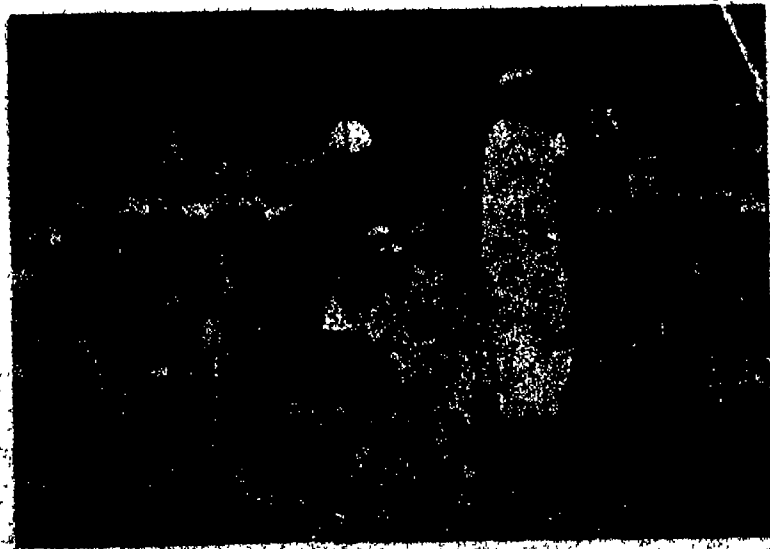
आचार्य श्री के सानिध्य में व्याख्यान

पू० आ. श्री बोरीबली (बम्बई) में प्रवचन करते हुए

पू० आचार्य श्री के समक्ष श्री फल अर्पित करते हुए एक भक्त
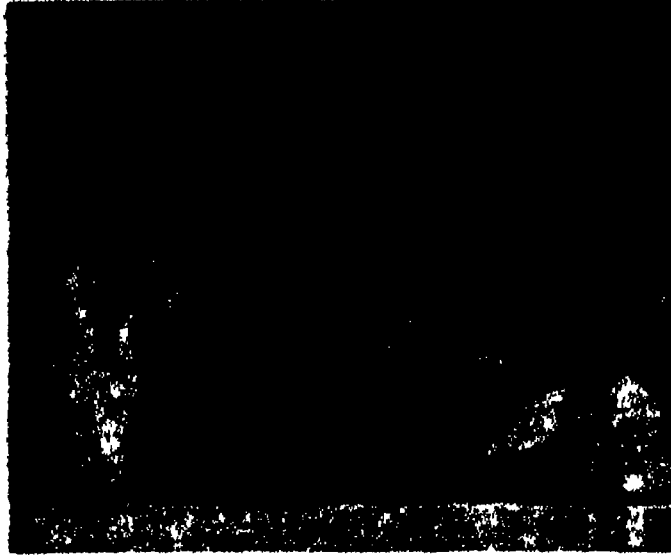
आ० के सानिध्य में व्याख्यान देते हुये
पं० सुमति चन्द शास्त्री (मुरैना) म० प्र०

ससंघ आचार्य श्री

व्रत देते हुये परम पूज्य आचार्य श्री

मुनि भक्त सेठ रिखबलाल जी को आशीर्वाद देते हुए
आचार्य श्री

श्री अजितकुमार जी शाहदरा देहली को आशीर्वाद देते हुए आचार्य
श्री एवं क्षु० श्री सन्मतिसागर जी महाराज

पू० आचार्य श्री के सानिध्य में 'मुक्ति पथ की ओर' पुस्तक का प्रकाशन करा कर सहयोगी बने श्रीमान साहु पन्नालाल जी औरंगाबाद वाले

मुरैना में आशीर्वाद प्रदान करते हुये आचार्य श्री समक्ष हैं पं० मक्खनलाल जी शास्त्री इत्यादि
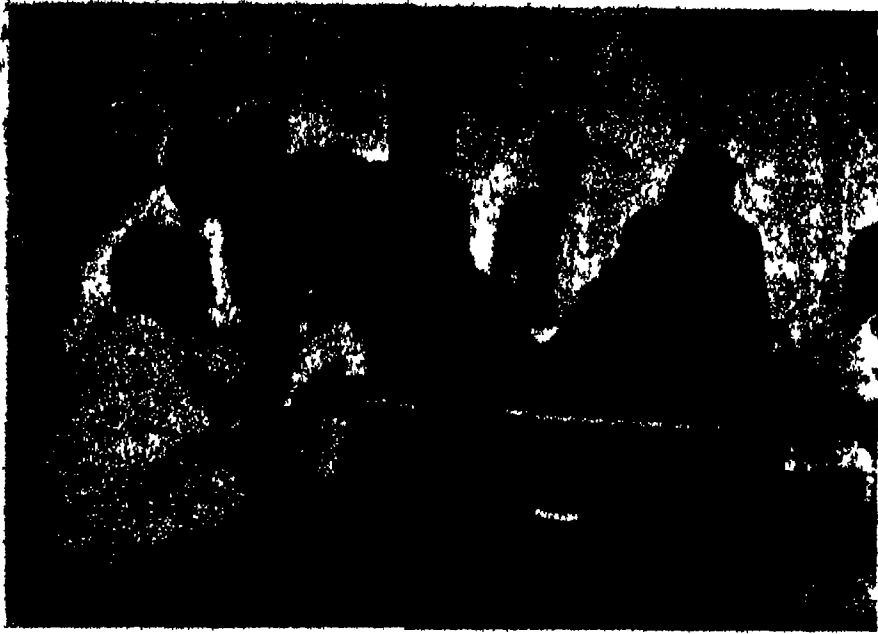
वात्सल्य मूर्ति आ० श्री एक बालक को आशीर्वाद देते हुए।

श्री राजेन्द्र कुमार जैन एवं श्री महेन्द्र कुमार जैन सफदरपुर–देहली
वालों को आशीर्वाद देते हुए आचार्य श्री।

दिगम्बर जैन समाज शकरपुर–देहली के बीच आचार्य एवं उपाध्याय श्री

श्री दिगम्बर जैन समाज शाहदरा देहली वालों को आशीर्वाद देते हुए आचार्य श्री

श्री शान्तीलाल जी ग्रीन पार्क देहली वालों को आशीर्वाद देते हुए पूज्य आचार्य श्री पास में बैठे हैं क्षुल्लक सन्मति सागर जी महाराज
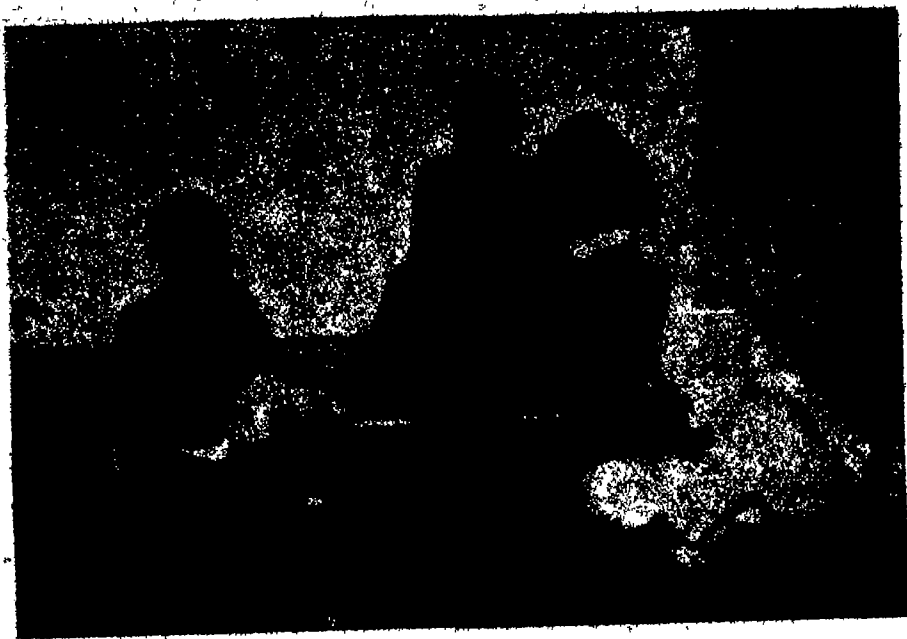
वैयावृत्ति करते हुए क्षु० सन्मति सागर जी महाराज

नीरा (महाराष्ट्र) वर्षायोग में आचार्य श्री के सानिध्य में अपने विचार व्यक्त करते हुए डा० श्री कुलभूषण लोखडे सोलापुर

विहार में आचार्य श्री

केशलोंच का एक दृश्य

श्री १०८ आचार्य विमलसागर जी महाराज अभिनन्दन ग्रंथ
के विषय में चिन्तनरत
पूज्य क्षुल्लक ज्ञानानन्द जी महाराज

शुभकामना एवं विनयाञ्जली

शुभ कामना

परम पूज्य चारित्र चक्रवर्ती
श्री १०८ आचार्य सुमतिसागर जी महाराज

वात्सल्यमूर्ति आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज से अनेक भव्यात्मायें उपकृत हैं। जब आपका संघ प्रथम बार मुरैना पधारा था तब घर पर चौका अवश्य लगता था परन्तु मैं आहार नहीं देता था, मात्र साधुओं को लाना ही मेरा कर्तव्य था। एक दिन आ० श्री का हाथ जोड़कर पड़गाहन किया और उसी दिन से नियम, व्रत, मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर होने के भाव जागृत हो गये। आचार्य श्री के अभिनन्दन में ग्रन्थ का प्रकाशन गौरव की बात है।

परम पूज्य श्री १०८ आचार्य पार्श्वसागर जी महाराज

शत-शत नमन हमारा

रोम रोम से निकले गुरुवर नाम तुम्हारा,
ऐसा दो वरदान कि फिर ना पाऊँ जन्म दुबारा ॥ टेक ॥

ग्राम कोसमा जन्मे क्वांर बदी सप्तम को,
जन जन के मन हर्षे खुशियाँ छाईं सबको।
बिहारी लाल के दरवाजे पर बजने लगा बधावा
मात कटोरी के नन्दन को शत-शत नमन हमारा ॥ १ ॥

मात कटोरी जाये दुर्गा बुआ खिलाए,
नेमीचन्द कहलाये पंडित पदवी पाए।
जिला मुरैना में पाई इन निर्मल ज्ञान की धारा,
विमल सिन्धु गुरुवर को शत-शत नमन हमारा ॥ २ ॥

गुरुवर की ये भक्ति दे सकती है मुक्ति,
विषय भोग भोगनि से मन की करें विरक्ति।
संयम धारण करके भव से करे किनारा,
विमल सिन्धु गुरुवर को शत-शत नमन हमारा ॥ ३ ॥

सोनागिर जी आए गुरु महावीर कीर्ति जी पाए,
दीक्षा ले हरषाये मन में मोद मनाये।
तप, ज्ञान, ध्यान, संयम की बहने लागी धारा,
विमल सिन्धु गुरुवर को शत-शत नमन हमारा ॥ ४ ॥

पार्श्व सागर जी गाये रोम रोम हर्षाये,
गुरु से लगन लगाये हो जाए भवपारा।
उपदेशामृत पान कराकर जैन धर्म हरषाया,
विमल सिन्धु गुरुवर को शत-शत नमन हमारा ॥ ५ ॥

हे गुरु मेरे उर बसो

जो अपने सद्गुणों के कारण सम्पूर्ण विश्व में विख्यात हैं, परमोपकारी, एकान्त की धधकती ज्वाला में सम्यग्ज्ञान की वर्षा करने वाले, अध्यात्म वेत्ता, सदुपदेशी, आत्मकल्याण में संलग्न, सत्य एव अहिंसा धर्म के पालक हैं, ऐसे गुरुवर श्री १०८ आचार्य विमल सागर जीमहाराज हम सबके हृदय कमल में विराजमान हों, ऐसी हम शुभकामना करते हैं।

ससंघ श्री १०८ आचार्यकल्प स्याद्वाद
विद्याभूषण सन्मतिसागर
'ज्ञानानन्द' जीमहाराज

प० पू० श्री १०८ उपाध्याय ज्ञानसागर जी महाराज

स्वपरोपकारी करुणानिधि आचार्य विमलसागर जी महाराज को कौन नहीं जानता ? जिनकी मनमोहक वीतरागी छवि पतित आत्माओं को भी पावन मोक्षमार्ग दिग्दर्शित कराती है। ऐसे आचार्य श्री के अभिनन्दन में भ० भा० श्री स्याद्वाद विद्वत् परिषद ने जो ग्रंथ का प्रकाशन किया है वह परम गौरव की बात है।

चिर जीवन की शुभ कामनाओं के साथ चरणों में शत-शत अभिनन्दन! अभिनन्दन! अभिनन्दन।
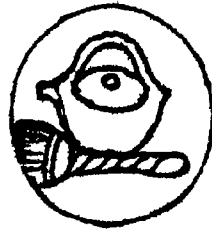
श्री १०५ आर्यिका सुपार्श्वमती माता जी

परम पूज्य आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज इस कलिकाल में युग के अनुकूल जैन धर्म के प्रचार प्रसार में निरन्तर वृद्धि कर रहे हैं। उनके विशाल संघ द्वारा देश के कोने-कोने में स्याद्वाद एवं अनेकान्तमय धर्म का शंखनाद किया जा रहा है। मेरी कामना है कि आचार्य प्रवर दीर्घायु होकर समाज, जाति एवं धर्म का कल्याण करते रहें।

卐

आ० श्री विमलसागर जी महाराज को समर्पित

श्री १०५ गणिनी आर्यिका ज्ञानमती माता जी

यह जानकर परम प्रसन्नता हुई है कि वात्सल्यमूर्ति, आचार्य रत्न विमलसागर जी महाराज के अभिवन्दनार्थ एक अभिनन्दन ग्रंथ श्री स्याद्वाद शिक्षण परिषद् की ओर से परम पूज्य श्री १०८ स्याद्वाद विद्याभूषण जी महाराज के निर्देशन में तैयार हो रहा है।

हमारी यही भावना है कि दिखावटी सामग्री की अपेक्षा इसमें सैद्धान्तिक लेखों की बहुलता हो जिससे आचार्य श्री के गौरव में चार चाँद लग सकें।

आचार्य श्री के वात्सल्य से सभी परिचित है। हमारी यही कामना है कि वे चिरायु होकर मार्गदर्शन देते रहें।

ससंघ

श्री १०८ आचार्य सुमतिसागर जी महाराज

आ० श्री विमलसागर जी महाराज को समर्पित विनयाञ्जलि

श्री १०५ आर्यिका अभयमती माता जी

जिनका सिंह समान पराक्रम
दृढ़ता धैर्य अगम्य है ॥

जिनका चारित्र संयम तप बल
साहस शौर्य अदम्य है ॥

जिन्हें मात्र मोक्ष जाने का
ध्येय बनाना इष्ट है ॥

जिन्हें न कोई बाधक बनकर
करता विघ्न अनिष्ट है ॥

अचल ध्यान में आत्म साधना
करते जो निष्काम है ॥

सिद्धों की श्रेणी में जिनका
आने वाला नाम है ॥

श्री आचार्य विमलसागर को
बारम्बार प्रणाम है ॥

卐

श्री १०५ आर्यिका कीर्तिमती माता जी

परम पूज्य श्री १०८ आचार्य विमलसागर जी महाराज के दर्शन करते ही मन प्रमुदित हो जाता है। उनके वात्सल्यपूर्ण सम्बोधन सुनते ही सारे दुःख दूर हो जाते हैं। आचार्य श्री के अभिनन्दन में जो ग्रंथ का प्रकाशन हो रहा है वह परिषद् समाज एवं साधुसंघ सभी के लिए गौरव की बात है।

आ० श्री विमलसागर जी महाराज को समर्पित

पू० श्री १०५ ऐलक श्रुतभूषण जी महाराज

अभिनन्दन की प्रथा भारत में प्राचीन है परन्तु अभिनन्दन हर व्यक्ति का नहीं किया जाता उन्हीं का किया जाता है जिन्होंने अभिनन्दनीय अनेकों कार्य समाज देश एवं स्वयं के लिए किए हों ऐसे ही व्यक्तियों में से एक महापुरुष है पूज्य आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज जिनके अभिनन्दन में श्री स्याद्वाद विमल ज्ञान पीठ द्वारा अभिनन्दन ग्रंथ का प्रकाशन किया जा रहा है हमारी यही कामना है कि आचार्य श्री सभी प्रकार के भेदभावों को भुला-कर प्राणीमात्र को सन्मार्ग का उपदेश देते रहें।

आ० श्री विमलसागर जी महाराज को समर्पित

पू० श्री १०५ ऐलक मंगलभूषण जी महाराज

लोक में चार मंगल है, जिनमें साधुओं का स्थान महत्वपूर्ण है। ऐसे साधुओं में आचार्य पद से सुशोभित आचार्य श्री विमल सागर जी का नाम विख्यात है। चारों अनुयोगो के माध्यम से निरपवाद जिनवाणी का उपदेश प्राणी मात्र के लिए वह देते आ रहे हैं, उनका यह अभिवन्दन अगणित भव्यात्मओं के लिए अनुकरणीय बना रहे यही मेरी शुभकामना है।
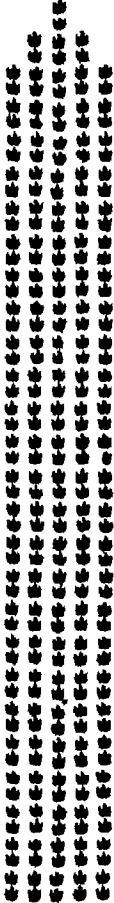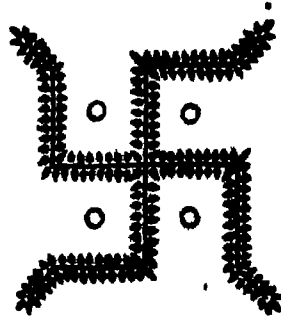
आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज को समर्पित

श्री १०५ क्षु० वर्धमान सागर जी

पूज्य आचार्य श्री १०८ विमलसागर जी महाराज के दर्शन पहली बार मुरैना में किए, परन्तु उनके स्वभाव को तो हम विद्यार्थी अवस्था से ही जानते हैं। वात्सल्य तो आपका स्वाभाविक गुण है। उनके अभिनन्दन में श्री स्याद्वाद शिक्षण परिषद्, अभिनन्दन ग्रंथ का प्रकाशन कर रही है यह परिषद् के लिए गौरव की बात है।

卐

आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज को समर्पित

श्री १०५ क्षु० कामविजयनन्दि जी महाराज

बालब्रह्मचारी, संघनायक, चारित्र शिरोमणी, परम पू० आ० श्री विमल सागर जी का नाम हर जिह्वा पर गौरव के साथ रहता है। उनके गुणों की प्रशंसा पूरा ग्रंथ लिखकर भी नहीं की जा सकती। भारत के मुनिसंघों में उनका नाम अग्रणी है। वर्तमान में आपसे चिरदीक्षित हिन्दुस्तान में शायद ही कोई आचार्य हो। हमारी यही कामना है कि आप जैसी वात्सल्यमूर्ति चिरकाल तक हमारे बीच बनी रहे।
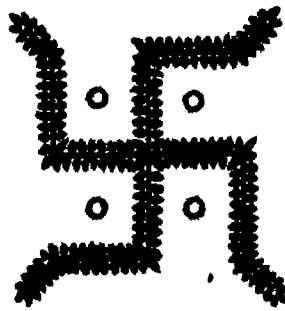
आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज को समर्पित

श्री १०५ क्षु० आदिभूषण जी महाराज

जिनके आशीर्वाद से असम्भव को संभव बना देने वाली अनेक आश्चर्य जनक घटनाये हुई हैं, जिनके वात्सल्य भाव को प्राप्त कर नर-नारी उपकृत हो जाते है, ऐसे ज्ञान, ध्यान और तपस्या में रत बहुमुखी चारित्र के धनी आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज के चरणों में मेरा कोटि कोटि नमन ।

आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज को समर्पित

श्री १०५ क्षु० अजितभूषण जी महाराज

परम गौरव का विषय है कि आचार्य श्री १०८ विमल सागर जी महाराज के अभिवन्दन में एक विशाल ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। आचार्य श्री का सौम्य मुखमंडल देखकर हर एक भक्त का मुखमंडल खिल उठता है। हमारी यही शुभ कामना है कि आचार्य श्री का सदुपदेश सदैव जन-जन को प्राप्त होता रहे।

आ० श्री विमलसागर जी महाराज को समर्पित

श्री १०५ क्षु० ध्यानभूषण जी महाराज

परम कृपानिधान, वात्सल्यमूर्ति, सन्त शिरोमणी आचार्य श्री १०८ विमल सागर जी महाराज तन में, मन में, वचन में रहिए एकर्णि भाव' के साक्षात् प्रतिबिम्ब हैं। जिनकी वीतरागी छवि को निहारकर भक्तगण उनके जैसा बनने की भावना का ध्यान करने लगते हैं। ऐसे परम पूज्य आचार्य श्री के चरणों में उनके सुदीर्घ जीवन की कामना करता हूँ ताकि उनके माध्यम से विश्व कल्याण होता रहे।
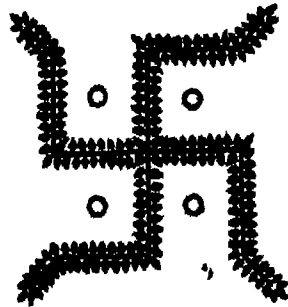
आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज को समर्पण

श्री १०५ क्षुल्लिका शान्तिमती माता जी

परम पूज्य श्री १०८ आचार्य विमलसागर जी महाराज बाल ब्रह्मचारी से क्रमशः क्षुल्लक, ऐलक और मुनि अवस्था को प्राप्त हुए। जिन्होंने संसार की असमता को जानकर वीतरागता की ओर दृष्टि मोड़कर, अकाम के प्रति निष्ठा रखकर, दुखी प्राणियों के उद्धार के लिए णमोकार मंत्र जपने की प्रेरणा दी, ऐसे गुरुवर को मेरा बारम्बार नमोस्तु है।
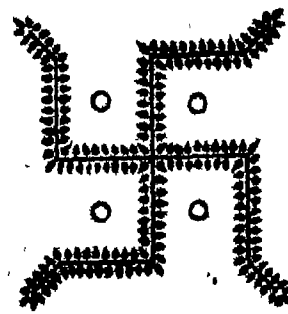
धर्मपथ प्रदर्शक

छह आवश्यक, पंचमहाव्रत, पंच समिति आदि मूलगुणों के धारक, एवं वात्सल्य गुण से युक्त हैं गुरुवर श्री १०८ आचार्य विमल सागर जी महाराज। परम वीतरागी मुद्रा के धारक, परिग्रह त्यागी गुरुवर हम संसारी प्राणियों को चिरकाल तक धर्ममार्ग बताते रहें, इसी भावना के साथ आचार्य श्री के चिरायु होने की कामना करती हूं।

ब्र० सुशीला बाई जैन
संचालिका
श्री १०८ आचार्य सुमति सागर त्यागी व्रती आश्रम
श्री दि० जैन सिद्धक्षेत्र, सोनागिर (म०प्र०)

आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज को समर्पित

कोटिशः नमन

धर्म प्रभावना एवं सम्यग्ज्ञान के प्रसार में अग्रणी तीर्थों के जीर्णोद्धार के प्रति सजग, उपदेश एवं आशीर्वाद से वात्सल्य की गंगा बहाने वाले दिगम्बर धर्म के सजग प्रहरी श्री १०८ विमलसागर जी को हमारा कोटिशः नमन ।

—समस्त ब्रह्मचारी बन्धु

ब्रह्मचारी आश्रम, सोनागिर

आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज को समर्पित

गुरुवर को बारम्बार नमन

परम पूज्य श्री १०८ आचार्य विमलसागर जी महाराज बाल ब्रह्मचारी से क्रमश: क्षुल्लक, ऐलक और मुनि अवस्था को प्राप्त हुए। जिन्होंने संसार की असमता को जानकर वीतरागता की ओर दृष्टि मोड़कर, अकाम के प्रति निष्ठा रखकर, दुखी प्राणियों के उद्धार के लिए णमोकार मंत्र जपने की प्रेरणा दी, ऐसे गुरुवर को मेरा बारम्बार नमोस्तु है।

जिनकी कीर्ति कीर्ति रूपी ध्वजा सुशिष्यों रूपी हवा से दिग्दिगान्तरों में फहरा रही है समता वात्सल्य जैसे श्रेष्ठ गुण जिनमें हैं, ऐसे आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज के दर्शन जो व्यक्ति एक बार कर लेता है वह विस्मरण नहीं कर पाता।

सन्मार्ग दिवाकर आचार्य श्री चिरायु हों

इसी कामना के साथ—

ब्र० सुनीता शास्त्री एवं
समस्त ब्रह्मचारिणी बहिनें
ब्रह्मचारिणी आश्रम सोनागिर

श्री सिद्ध क्षेत्र सोनागिर जी में स्थित १००८ श्री अनग भगवान

अटल बिहारी वाजपेयी
संसद सदस्य

६, रायसीना रोड, नई दिल्ली
पिन-११०००१
दूरभाष : ३८५१६६

शुभ भावना

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आचार्य विमलसागर जी के अभिनन्दन में एक ग्रंथ प्रकाशित किया जा रहा है जिसका विमोचन शीघ्र होगा।

मैं आचार्य श्री की सेवा में अपना विनम्र प्रणाम निवेदित करता हूँ और आशा करता हूँ कि समाज को सात्विक बनाने में उनका योगदान इसी तरह मिलता रहेगा।

स्याद्वाद के सिद्धान्त ने मुझे आकृष्ट किया है। मैं उसके बारे में अधिक जानने का प्रयास कर रहा हूँ।

शुभ कामनाओं सहित,

अटल बिहारी वाजपेयी

डाल चन्द्र जैन
संसद सदस्य
(लोकसभा)

९९, मीना बाग,
नई दिल्ली।

शुभ कामना

आचार्य श्री १०८ विमलसागर जी महाराज हमारे समाज के ऐसे आचार्य हैं जिनका सम्मान और शिक्षा, सिर्फ जैन समाज तक ही नहीं बल्कि समाज में सभी वर्ग उतने ही आदर और भक्ति से माने जाते हैं। आचार्य श्री हमारे समाज की अमूल्य निधि हैं। हम भगवान जिनेन्द्र देव से प्रार्थना करते हैं कि वह स्वस्थ और दीर्घायु हों। आचार्य श्री से जो एक बार मिलता है वह उनका भक्त हो जाता है चाहे वह किसी भी समाज का क्यों न हो।

शुभकामनाओं के साथ,

भवदीय
डाल चन्द्र जैन

विद्याचरण शुक्ल
संसद सदस्य
(लोक सभा)

१, विलिंग्डन क्रिसेंट,
नई दिल्ली-४

शुभ कावना

आपका पत्र मिला, धन्यवाद । श्री स्याद्वाद विमल ज्ञानपीठ की ओर से श्री १०८ आचार्य विमल सागर जी अभिनन्दन ग्रंथ के विमोचन का समाचार जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई । इस शुभ अवसर पर एवं आपकी संस्था के उद्देश्यों की सफलता हेतु कृपया मेरी शुभकामनाएं स्वीकार करें ।

भवदीय
विद्याचरण शुक्ल

राजेन्द्र प्रसाद शुक्ल

अध्यक्ष

मध्य प्रदेश विधान सभा

२, सिविल लाइन्स, भोपाल

फोन :

कार्यालय : ५५१६४९

निवास : ५४०२६४

५४०२७४

मान्यवर,

श्री स्याद्वाद विमल ज्ञानपीठ के द्वारा श्री १०८ आचार्य कल्प स्याद्वाद विद्याभूषण सन्मति सागर जी महाराज द्वारा सम्पादित आचार्य विमलसागर जी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता हुई।

मैं आचार्य श्री विमल सागर जी के दीर्घायु होने की कामना करता हूँ और आशा करता हूँ कि उनके प्रति कृतज्ञ समाज द्वारा श्रद्धा व्यक्त करने के लिये प्रकाशित यह अभिनन्दन ग्रंथ प्रेरणादायी एवं शोधपूर्ण सामग्री प्रदान करेगा।

हार्दिक शुभ कामनाओं सहित

भवदीय

राजेन्द्र प्रसाद शुक्ल

कैलाश जोशी
नेता प्रतिपक्ष,
मध्यप्रदेश विधान सभा,

बी. ३० (७४ बंगले)
स्वामी दयानन्द नगर,
भोपाल
दूरभाष- ५५१५६०
५५१५३५

शुभ कामना

श्री १०८ आचार्य विमलसागर जी अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन स्याद्वाद विमल ज्ञान पीठ सोनागिर द्वारा किया गया है। जिसका विमोचन जून १९८९ में होने जा रहा है।

मेरा विश्वास है कि अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित सामग्री में महाराज श्री के अमृत मय उपदेशों से धर्म प्रेमी भाई बहिन लाभान्वित होंगे।

मैं इस प्रयास के लिये ज्ञानपीठ की सराहना करते हुए आयोजन की सफलता की कामना करता हूँ।

भवदीय
कैलाश जोशी

आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज को समर्पित

विमलं शरणं गच्छामि

परम पूज्य श्रद्धामूर्ति जिनोपासक श्रमणाचार्य १०८ विमलसागर जी महाराज के श्री चरणो में प्रणाम कर हर मानव की भावना होती है— 'विमल शरण गच्छामि'। मैं आचार्य श्री की शरण मे इसलिए जाना चाहता हूँ क्योंकि गुरु का जो स्वरूप शास्त्रकार ने वर्णित किया है वह उनमें दिखाई देता है -

> रत्नत्रय विशुद्धं सन् पात्रस्नेही परार्थकृत् ।
> परिपालित धर्मो हि भवाब्धि तारको गुरुः ॥

अर्थात् जो रत्नत्रय मे परिपूर्ण है, सज्जनहै, वात्सल्य प्रदान करने वाले है, स्वयं धर्म का पालन करते है तथा दूसरो से कराते है, ससार समुद्र से पार करते है वे गुरु कहलाते है।

आचार्य श्री का जीवन तपोमय है। साधु के लिये ध्यान और अध्ययन बताया गया है, आचार्य श्री उसी में निरत रहते है। विशाल सघ होने पर भी ऐसा कभी नही देखा गया कि उनकी साधना मे कोई शिथिलता या भटकाव आया हो। आचार्य की जिनमुद्रा भविष्य मे साक्षात् जिन बने, इसी शुभभावना के साथ धर्माचरण के प्रेरणास्रोत आचार्य श्री के सहस्रायु होने की कामना करता हूँ।

जिनचरणोपासक—

प्रो. डा. सुरेन्द्र जैन 'भारती'
सयोजक– साहित्य ससद
बुरहानपुर (म प्र)
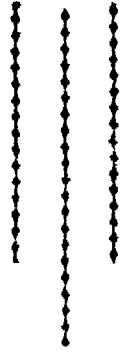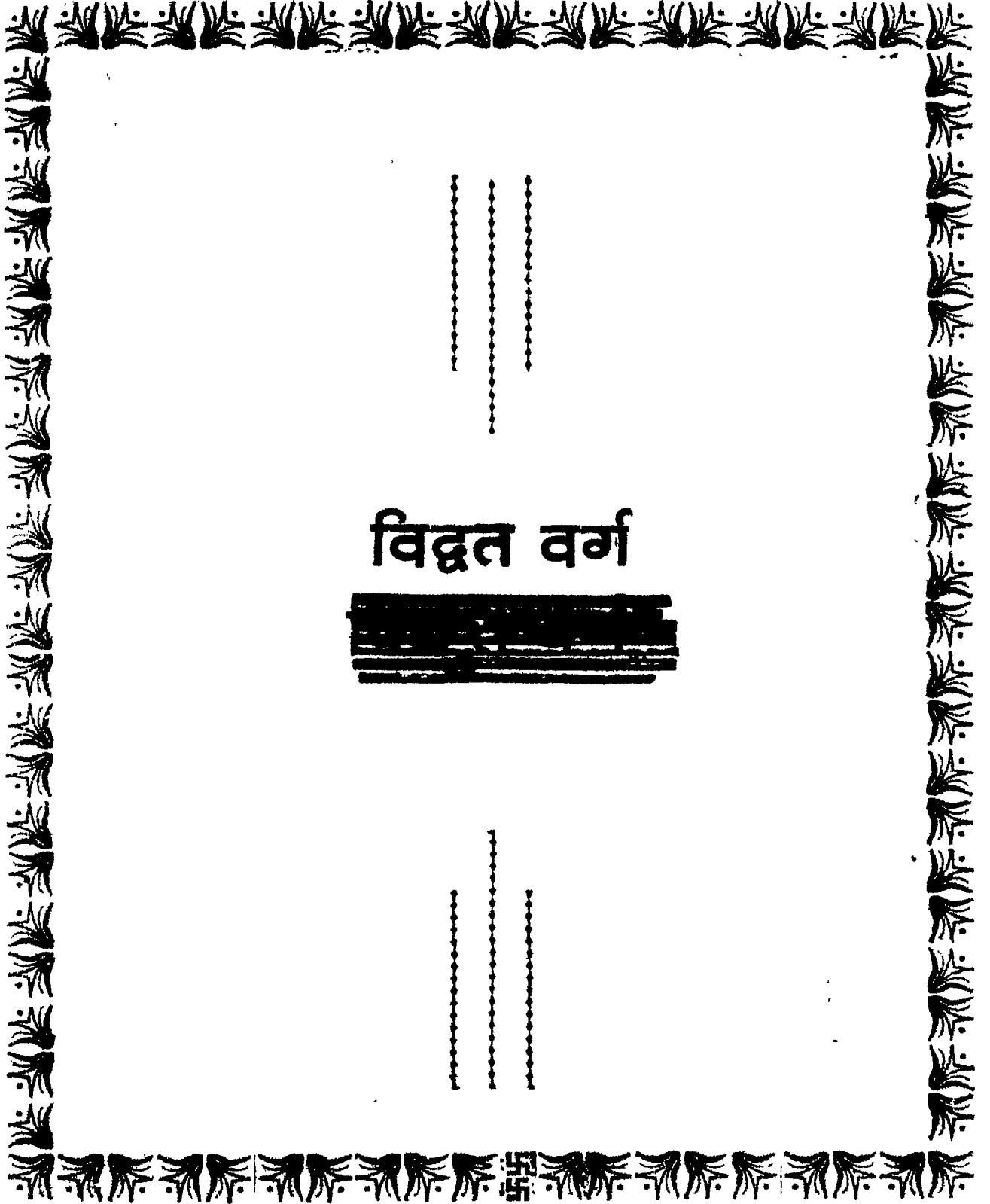
विद्वत वर्ग
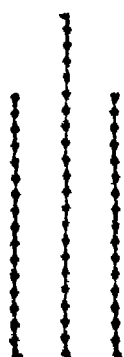
आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज को समर्पित

शुभ कामना

श्री १०८ आचार्य विमलसागर जी महाराज अपने विभिन्न ज्ञान के लिये प्रसिद्ध हैं। जैनधर्म के मन्त्र आदि बनाकर पथभ्रान्त गृहस्थों को कुदेवों की श्रद्धा से बचाते है। वचन सिद्धि भी आपको प्राप्त है ऐसा कहा जाता है। वचन सिद्धि का फल प्राप्त करने वाले भक्त जन आपकी ओर श्रद्धा विनत हो जाते है। आजीविका भ्रष्ट तथा रोग ग्रस्त मनुष्य भी आपके पास पहुँचते है तथा अपनी भवितव्यता के अनुसार फल प्राप्त करते है। यही कारण है कि आपके पास भक्त जनों की भीड़ लगी रहती है कई बार आपके दर्शनो का लाभ प्राप्त हुआ है।

आप चिरायु हों, ऐसी कामना करता हूं।

विनीत

प० पन्नालाल साहित्याचार्य

सागर (म० प्र०)

आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज को समर्पित

शुभ कामना

सन्मार्ग दिवाकर परम पूज्य आचार्य विमलसागर जी महाराज दि० जैन समाज की एक अनुपम निधी है। बाल ब्रह्मचारी और मुरैना महाविद्यालय के स्नातक आचार्य श्री का पूर्ण जीवन साधुओं की वैयावृत्ति और उनकी सेवा में ही व्यतीत हुआ है।

उनके अनन्यतम शिष्य पूज्य क्षुल्लक सन्मति सागर जी महाराज (वर्तमान श्री १०८ आचार्य कल्प स्याद्वाद विद्याभूषण सन्मतिसागर जी महाराज) ने एक दीर्घ काल तक आचार्य श्री के सानिध्य में ज्ञान और तप की विशेष आराधना की।

पूज्य क्षु० जी द्वारा संस्थापित स्याद्वाद शिक्षण परिषद जो देश में एक अद्वितीय संस्था है उसको आचार्य श्री ने विशेष सम्बल प्रदान किया और उनके हृदय स्पर्शी आशीर्वाद से यह संस्था फल फूल रही है और जन सेवा में अग्रसर है पूज्य क्षु० जी की कामना थी कि आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज का अभिनन्दन ग्रन्थ उच्च कोटि के निबन्धों से परिपूर्ण सम्पादित किया जाय और प्रकाशित किया जाय।

बड़े हर्ष की बात है कि पूज्य क्षु० जी की परिकल्पना क्षुल्लक अवस्था में तो नहीं अपितु अब उनके आचार्य कल्प मुनिराज स्वरूप में साकार हो रही है।

मैं इस हेतु लेखकों सम्पादकों व्यवस्थापकों सहयोगियों आदि को बहुत बहुत धन्यवाद देता हूँ और हार्दिक बधाई देता हुआ परम पूज्य सन्मार्ग दिवाकर श्री १०८ आचार्य विमल सागर जी महाराज के दीर्घ जीवन की तीर्थंकर देव से विनम्र प्रार्थना करता हूं।

इस ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य कल्प सन्मति सागर जी महाराज के उज्जवल भविष्य एवं दीर्घ जीवन की कामना करता हूं।

पं. सुमति चन्द शास्त्री, मुरैना
(प्रधान सम्पादक-स्याद्वाद ज्ञानगंगा)
एवं समस्त ज्ञानगंगा परिवार
सोनागिर (म० प्र०)

आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज को समर्पित

शांति प्रदाता

जो सामायिक, स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और व्युत्सर्ग रूप छह परम आवश्यकों का पालन कर अपने रत्नत्रय को पावन बनाते हुए मोक्षमार्ग की ओर निरन्तर अग्रसर हो रहे हैं साथही अपने अनुगामी श्रावकों को भव्य मोक्षमार्ग का दिग्दर्शन करा रहे हैं। ऐसे परोपकारी सन्त आचार्य श्री १०८ विमल सागर जी महाराज को मेरा प्रणाम।

—दामोदरप्रसाद जैन (प्रधानाध्यापक)
अ० भा० श्री स्याद्वाद शिक्षण परिषद्
नंगानंग दि० जैन सं० मा० विद्यालय
सोनागिर (दतिया) म० प्र०

(१) दिगम्बर जैन साधु सदा देते रहते हैं केवल आहर के समय कुछ लेते हैं।

(२) दिगम्बर जैन साधु मोह निद्रा में सोये प्राणियों को जगाते हैं।

(३) दिगम्बर जैन साधु का मोहान्धकार नष्ट हो जाता है अतः उन्हें सम्यग्दर्शन के साथ-साथ सम्यग्ज्ञान की उपलब्धि हो जाती है चारित्र तो उनके पास है ही। फलतः सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनों एक साथ प्रतिभासित हो जाते हैं।

(४) दिगम्बर जैन साधु मोक्ष पथ के पथिक होते हैं।

(५) दिगम्बर जैन साधु के जीवन में चारों अनुयोग समाहित हो जाते हैं।

(६) दिगम्बर जैन साधु विषय और कषायों की आशा से रहित, आरंभ और परिग्रह रहित तथा ज्ञान, ध्यान और तप की आराधना में लीन रहते हैं।

(७) दिगम्बर जैन साधु मोक्षमार्ग के सच्चे पथप्रदर्शक होते हैं।

(८) दिगम्बर जैन साधु स्वकल्याण के साथ-साथ पर का कल्याण भी करते रहते हैं।

(९) दिगम्बर जैन साधु का दर्शन शुभ शकुन माना गया है।

(१०) दिगम्बर जैन साधु तन की शुद्धि पर कम, मन व आत्मा की शुद्धि पर विशेष ध्यान देते हैं।

(११) आसन्न भव्यता, कर्म हानि, संज्ञीपना और परिणामों की विशुद्धि रूप अन्तरङ्ग और प्रशम, संवेग, अनुकंपा व आस्तिक्य रूप बाह्य चिन्ह यदि कहीं देखे जा सकते हैं तो वे दिगंबर जैन साधुओं में ही देखे जा सकते हैं।

(१२) जैन धर्म चारित्र रूप है, बात रूप नहीं इसे दिगम्बर जैन साधुओं ने सिद्धकर दिया है।

(१३) दिगम्बरत्व धारण करने वाला जीव कुगतियों के बंध से बच जाता है।

(१४) दिगम्बर जैन साधु चलती-फिरती पाठशाला है इनसे जो चाहे जब चाहे सीखे।

(१५) महात्मा गांधीजी ने कहा था "नग्नता मुझे स्वयं प्रिय है"।

(१६) राजा भर्तृहरि ने भी दिगम्बर जैन मुनि बनने की भावना की थी।

(१७) दिगम्बर जैन मुनि के दर्शन कर सम्यग्दृष्टि जीव प्रसन्न हो उठता है वह सोचता है अहो! यह वही मुद्रा है जिसे मैं धारण करना चाहता हूँ।

(१८) साधु होना महत्वपूर्ण है पर उससे महत्वपूर्ण है साधुत्व। वह सभी में नहीं पाया जाता।

आ० श्री विमलसागर जी महाराज को समर्पित

शतशः नमन

उपर्युक्त गुणों में से अधिकांश आचार्य विमलसागर जी महाराज में पाये जाते हैं। आचार्य श्री करुणा के तो आगार हैं।

वे नवदीक्षार्थी को तभी देते हैं जब वह संघ में रहने की प्रतिज्ञा करे। विशेषतः उनकी अनुकंपा से लाख-लाख जैन जनता उपकृत हुई है। ऐसे दिगम्बर जैनाचार्य श्री विमलसागर जी महाराज के चरणों में शतशः नमन।

साधुचरण चञ्चरीकः-

डॉ० मूलचन्द जैन शास्त्री

एम०ए०, पीएच० डी० सनावद (म० प्र०)

आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज को समर्पित

शत-शत वंदन

जिनका व्यक्तित्व अद्भुत प्रतिभा संपन्न है। जो दया वात्सल्य सरलता की प्रतिमूर्ति हैं। उनकी दृष्टि और चेहरे में ऐसा आकर्षण झलकता है, जो श्रद्धावनत बना देता है। समाज सेवा तथा धर्म प्रभावना जिनके जीवन का लक्ष्य है। जो हितमित मृदु प्रिय भाषी हैं। समभाव, संयम और ज्ञान के जो भंडार हैं। जिनका यश विख्यात है। ऐसे अनेक गुणवान विभूषित आचार्य श्री विमलसागर जी के चरणों में शत-शत वंदन कर दीर्घायु की मंगल कामना के साथ श्रद्धासुमन समर्पित करता हूँ।

विनम्र

पं. जीवनलाल शास्त्री

आयुर्वेदाचार्य

महाविद्यालय, ललितपुर (उ० प्र०)

चिरायु होवें आचार्य श्री

परम पूज्य आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज इस कलिकाल में युग के अनुकूल जैन धर्म के प्रचार प्रसार में निरन्तर वृद्धि कर रहे हैं। उनके विशाल संघ द्वारा देश के कोने-कोने में स्याद्वाद एवं अनेकान्तमय धर्म का शंखनाद किया जा रहा है। मेरी कामना है कि आचार्य प्रवर दीर्घायु होकर समाज, जाति एवं धर्म का कल्याण करते रहें।

विनम्र—

पं. बिहारीलाल मोदी शास्त्री
अध्यक्ष पार्श्व ज्योति मंच
बड़ा मलहरा (छतरपुर) म. प्र.

प्रधान सम्पादक
पार्श्व ज्योति पाक्षिक
बिजनौर (उ० प्र०)

शत - शत नमन

जो दर्पण की तरह स्वच्छ, आकाश की तरह निर्लेप, वायु की तरह निसङ्ग, कठोर तपस्वी एवं साधुओं के मार्ग दर्शक हैं, ऐसे श्री १०८ आचार्य विमलसागर जी महाराज हम सबके आराध्य बने रहकर चिरकाल तक स्याद्वाद-अनेकान्त रूप सम्यग्ज्ञान की धर्मध्वजा फहराते रहें। इसी भावना के साथ तपःपूत आचार्य श्री के चरणों में मेरा शत-शत नमन।

डॉ० रमेशचन्द जैन
जैन दर्शनाचार्य, डी. लिट्.
जैन मन्दिर के पास
बिजनौर (उ. प्र.)

卐

मनोभिलाषा

श्रेयोमार्ग के पथिक प्राचीन साधु एवं आचार्य परम्परा के श्रेष्ठ संवाहक सन्मार्ग दिवाकर, तपोनिष्ठ, गुणों के सागर, सत्पथदर्शक, पूज्य गुरुवर्य श्री विमल सागर जी महाराज स्व-पर कल्याण हेतु सुदीर्घजीवी होकर अहिंसामयी जैन धर्म का प्रचार-प्रसार करते हुए 'सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय' मंगलकारी अमृतवाणी की वर्षा करते रहें तथा भौतिकता से भ्रमित मानवों को सन्मार्ग दर्शाते हुए तृष्णा—संतप्त प्राणियों को शीतल धर्म-पीयूष का पान कराते रहें, ऐसी मेरी मनोऽभिलाषा है ।

विनम्र—

पं. अभयकुमार शास्त्री

बीना (म. प्र.)

आदर्श श्रमण आचार्य श्री

आचार्य कुन्द कुन्द देव ने अपने प्रवचनसार में श्रमण के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है—

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो ।
सम लोट्ठ कंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥

अर्थात् जिसे शत्रु और मित्र समान है, सुखदुख समान हैं, प्रशंसा और निन्दा के प्रति जिसको समता है, जिसे लोष्ठ और सुवर्ण समान है तथा जीवन-मरण के प्रति जिसको समता है, वह श्रवण है।

उपर्युक्त श्रमण का सही स्वरूप हमें आचार्य श्री की मुद्रा एवं जीवनचर्या में साक्षात् प्रति बिम्बित दिखाई देता है। उपसर्गों पर विजय प्राप्त कर जन–जन में वात्सल्य बिखेरने वाले आचार्य श्री का अधिकांश समय श्री णमोकार मंत्र की माला जपते ही व्यतीत होता है। ज्ञान, ध्यान, तपस्या और स्वपरोपकार में रत श्रमणोपासक आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज के प्रति मैं नमोस्तु करता हुआ, उनके चिरजीवी होने की कामना करता हूं।

श्रद्धावनत

डा० नरेन्द्रकुमार जैन, शास्त्री

(निर्देशक — पार्श्व ज्योति मंच)

सनावद (म० प्र०)

शुभ भावना

मुझे यह जानकार कि इसयुग के महान जैन संत चारित्र चूडामणि महान तपस्वी वात्सल्य दिवाकर, निमित्त ज्ञान शिरोमणि परम पूज्य श्री १०८ आ० विमल सागरजी महाराज का अभिवंदन ग्रन्थ जिसे आचार्य कल्प स्याद्वाद विद्याभूषण मुनि सन्मतिसागर महाराज ने सम्पादित किया है और जिसे सोनागिर सिद्धक्षेत्र स्थित सुप्रसिद्ध संस्था श्री स्याद्वाद विमल ज्ञान पीठ ने प्रकाशित किया है। छप कर तैयार हो गया है, बड़ी खुशी हुई। हम इस ग्रन्थ का अभिवंदन करते हुये संपादन कर्ता महा मुनि आ० क० श्री सन्मति सागर जी महाराज का और प्रकाशन कर्ता स्याद्वाद विमल ज्ञान पीठ सोनागिर का आभार मानते हैं और भगवान से प्रार्थना करते हैं कि महान आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज चिरायु हों। ताकि उनका महान कल्याणकारी सदुपदेश व आशीर्वाद युग युगों तक मिलता रहे।

चरण सेवक—

पं० राजकुमार शास्त्री

निवाई (राज०)

आ० श्री विमलसागर जी महाराज को समर्पित

प्रभावक-आचार्य

श्री १०८ सन्मार्ग दिवाकर आचार्य विमलसागर महाराज के पावन चरणों में नमस्कार नमोऽस्तु करता हुआ यह भावना करता हूँ कि "मेरे कब होय वा दिन की सुघरी तन बिन वसन असन बिन वन में निवसौं नासा दृष्टि धरी" । श्री आचार्य विमलसागर जी द्वारा

सिद्धक्षेत्रेसु सर्वत्र कृतामहती प्रभावना ।
येनतं विमलाचार्य सन्मार्ग दिवाकरः ॥

अर्थ– जिनके द्वारा अनेक सिद्धक्षेत्रों पर महान जैन शासन की धर्म प्रभावना हो रही है और जो सम्यक् मार्ग को प्रकाशित करने में सूर्य के समान है, ऐसे श्री १०८ आचार्य विमलसागर जी महाराज जयवन्त हों, शुभंभूयात् ।

—पं० शिखरचन्द जैन (प्रतिष्ठाचार्य)
भिण्ड (म.प्र.)

卐

मेरे आराध्य गुरुवर

श्री स्याद्वाद शिक्षण परिषद् सोनागिर (म. प्र.) द्वारा 'आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज अभिनन्दन ग्रंथ' का प्रकाशन अपने आप में स्तुत्य कार्य है, मैं इस अवसर पर अपनी हार्दिक शुभ कामना व्यक्त करता हूं।

दिगम्बर मुनियों को २८ मूलगुण पालन करने का विधान मूलाचार में बताया गया है—

पंचय महव्वयाइं समिदीओ पंच जिणवरुद्दिट्ठा।
पंचेविंदियरोहा छप्पि य आवासया लोओ॥
आचेलकमण्हाणं खिदिसयणमदंत घसणं चेव।
ठिदिभोयणेयभत्तं मूलगुणा अट्ठवीसा दु॥

अर्थात् पांच महाव्रत, पांच समिति, पांच इन्द्रियों का निरोध, छह आवश्यक क्रियायें, केशलोंच, आचेलक्य, अस्नान, क्षिति शयन, अदंत-धावन, स्थिति और एक भक्त, ये अट्ठाईस मूलगुण जिनेन्द्रदेव ने कहे हैं।

उपर्युक्त मूलगुणों के धारक जो आचार्य श्री हैं, मेरा उनको नमस्कार है।

दीर्घायुष्य हेतु शुभ भावनाओं के साथ—

गुणानुरागी—
डा० अशोक कुमार जैन
एम० ए०, डी० फिल०, जैनदर्शनाचार्य
पिलानी (राज०)

विशेष महानुभाव

आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज को समर्पित

शुभ कामना

विश्वन्द परम पूज्य आचार्य श्री १०८ विमल सागर जी को कौन नही जानता उनके वात्सल्य एवं आर्शीवाद से सारा विश्व परीचित हैं और मेरे ऊपर तो जो आपकी कृपा दृष्टि है वह वचना तीत है ऐसे पूज्य परोपकारी सन्त का अभिनन्दन ग्रन्थ पू. सन्मति सागर जी महाराज के नेतृवत में श्री स्याद्वाद शिक्षण परिषद ने प्रकासित किया है यह गौरव की बात है ।

आचार्य श्री सतायू हों यही मेरी शुभ कामना है ।

पन्नालाल सेठी

डीमापुर

आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज को समर्पित

शत-शत नमन

जिनके उपदेशों को सुनकर इस असार संसार के अनन्त प्राणी अपने दुःखों को भूलकर मानसिक शान्ति प्राप्त करते है ऐसे गुरुवर्य सन्मार्ग दिवाकर श्री १०८ आचार्य विमल सागर जी महाराज को मेरा शत शत नमन है ।

ब्र० सन्तोष जैन

शुभ भावना

जिनके पावन चरणों की वन्दना से भक्तों के क्लेश दूर हो जाते है । जिनकी वाणी से उपदेशामृत का पान करने से भक्तों के हृदय निर्मल हो जाते हैं, ऐसे गुरुवर श्री विमल सागर जी महाराज को मेरा शत शत प्रणाम है ।

ब्र० विमल कुमार जैन

आ० श्री विमलसागर जी महाराज को समर्पित

शुभ कामना

परम पू० सन्मार्ग दिवाकर आचार्य श्री १०८ विमलसागर जी महाराज का आशीर्वाद अनेक वर्षों से मुझे प्राप्त है माला फ्लोर मिल, परतापुर मेरठ में संसघ पधार कर आपने पंच कल्याणक महोत्सव कराकर तो हमारे पूरे परिवार पर महती कृपा की जिसे कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। अ० भा० श्री स्याद्वाद शिक्षण परिषद द्वारा पू० सन्मति सागर जी महाराज के साम्पादकत्व में प्रकाशित होने वाला ,अभिनन्दन ग्रंथ' एक गौरव का विषय है। हमारी यही भावना है कि इस ग्रंथ के माध्यम से आचार्य श्री की कीर्ति देश देशान्तर में विख्यात रहे।

भवदीय

सुरेन्द्र कुमार जैन एवं समस्त परिवार

अध्यक्ष श्री स्या० शिक्षण परिषद

माला फ्लोर मिल परतापुर मेरठ (उ० प्र)

शुभ कामना

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है, कि १०८ आचार्य कल्प स्याद्वाद विद्याभूषण श्री सन्मति सागर जी महाराज द्वारा सम्पादित श्री स्याद्वाद विमल ज्ञानपीठ की ओर से एक महान एवं अभूतपूर्व ग्रन्थ श्री १०८ आचार्य विमल सागर जी अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन हो रहा है।

यदि उक्त महान ग्रन्थराज का नियमित रूप से स्वाध्याय करके तदनुसार आचरण करेंगे तो आचार्य श्री का अथक प्रयास श्रावक एवं साधु सभी के लिए सम्यकदर्शन की प्राप्ति में निश्चित रूप से साधक हो सकता है।

आचार्य श्री संस्था एवं भव्य आत्माओं के हेतु सदैव समर्पित रहे है। इस महान ग्रन्थ का सम्पादन करना ही अपार श्रद्धावान, ज्ञानवान और चरित्रवान होने का द्योतक है।

मैं कामना करता हूँ कि यह महान ग्रन्थ आज इस पंचम दु:,खमा काल में स्वाध्याय, मनन, श्रवण एवं चिंतवन करने वाले सभी जीवों में दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थिरता बनाने का कार्य करेगा।

भवदीय

— डॉ० रमेशचन्द जैन

स्ट्रीट-१ मार्कनगर, मुरार- ग्वालियर (म० प्र०)

कष्ट निवारक आचार्य श्री

परम कृपानिधान, परमपूज्य १०८ आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज के चारित्र के विषय में जो कुछ लिखा जाए, थोड़ा है। आचार्य श्री के सानिध्य में अनेक श्रद्धालु अपनी दुखभरी पुकार लेकर आते आचार्य श्री कष्ट निवारण का उपाय बताकर एवं आशीर्वाद देकर जन जन का परम कल्याण करते हैं, ऐसे परम सन्त के प्रति नमोस्तु करता हुआ मैं उनके शतायु होने की कामना करता हूं, ताकि उनके आशीर्वाद से जन-जन का कल्याण होता रहे।

गुलाबचन्द जैन पटना वाले
सागर (म०प्र०)
अधिष्ठाता
श्री ब्र० आ० स्या० दि० परिषद सोनागिर

पूज्य आचार्य श्री के प्रति

तन भी कोमल, मन भी कोमल, कोमलता की मूरत है।
जिनकी मधुर छवि में दिखती आदिनाथ की सूरत है।
जिनकी सेवा में निशदिन चहुँ विधि के प्राणी रहते हैं।
उन आचार्य श्री के चरणों में हम शत–२ वन्दन करते हैं।

अष्टविंशति मूलगुणधारक, सन्मार्ग दिवाकर निमित्त ज्ञानशिरोमणी, परम तपस्वी, वात्सल्य की अद्वितीय मूर्ति, स्वपर कल्याण में निरत, पू० आ० श्री विमलसागर जी के प्रति अ० भा० स्याद्वाद शिक्षण परिषद द्वारा प्रकाशित श्री विमलसागर अभिनन्दन ग्रन्थ के अवसर पर उनके कुशलरत्नत्रय पूर्वक चिरायु होने की मंगल कामना करता हुआ उन्हीं आ० श्री के चरण कमलों का भौंरा बन पद्मरज से अभिभूत होकर सर्वश्रेष्ठ मुक्तिपथ प्राप्त करने की भावना करता हूँ।

गुरुभक्त
पं. पवन कुमार शास्त्री 'दिवान'
"विधानाचार्य" ललितपुर (उ० प्र०)
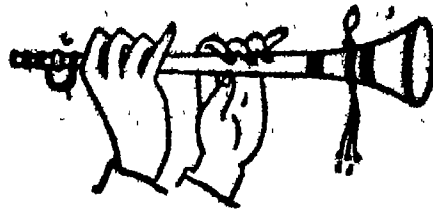
आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज को समर्पित

शुभ कामना

जिनके पावन चरणों की वन्दना से भक्तों के क्लेश दूर हो जाते हैं। जिनकी वाणी से उपदेशामृत का पान करने से भक्तों के हृदय निर्मल हो जाते हैं ऐसे गुरुवर श्री विमल सागर जी महा-राज को मेरा बारम्बार प्रणाम है।

विनीत

श्रीपति जैन

अध्यक्ष श्री स्याद्वाद शिक्षण परिषद

सोनागिर

आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज को समर्पित

शुभ भावना

परम पूज्य क्षमामूर्ति श्री १०८ आचार्य विमल सागरजी महाराज में मुनियों के अनुरूप क्षमागुण अपनी अलौकिक वैभवता के साथ विद्यमान है। सभी जीवों के प्रति दयाभाव रखने वाले गुरुवर के चरणों में नमन का भाव रखता हुआ मैं उनके अनन्त जीवन के लिए शुभकामना करत हूं।

विनीत
सोहन लाल सेठी
मंत्री श्री स्याद्वाद शिक्षण परिषद
सोनागिर

शुभ भावना

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है, कि १०८ आचार्य कल्प स्याद्वाद विद्याभूषण श्री सन्मति सागर जी महाराज द्वारा सम्पादित श्री १०८ आचार्य विमलसागर जी 'अभिनन्दन ग्रंथ' का प्रकाशन हो रहा है।

मैं कामना करता हूँ कि यह महान ग्रंथ आज इस पंचम काल में स्वाध्याय, मनन, श्रवण एवं चिंतवन करने वाले सभी जीवों में दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थिरता बनाने का कार्य करेगा।

विनीत

अशोक कुमार शास्त्री
देलवारा (ललितपुर) उ० प्र०

आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज को समर्पित

शुभ कामना

जिनके पावन चरणों की वन्दना से भक्तों के क्लेश दूर हो जाते हैं। जिनकी वाणी से उपदेशामृत का पान करने से भक्तों के हृदय निमल हो जाते हैं, ऐसे गुरुवर श्री विमल सागर जी महाराज को मैं बार-बार प्रणाम करता हुआ दीर्घायु होने की कामना करता हूँ।

विनीत

कुन्दनलाल जैन

निर्देशक- श्री स्या० शि० परिषद्

खुरई (सागर) म० प्र०

आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज को समर्पित

शुभ भावना

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि अ० भा० स्याद्वाद शिक्षण परिषद् द्वारा आचार्य श्री १०८ विमलसागर जी महाराज के अभिवन्दनार्थ 'अभिवन्दन ग्रंथ' का प्रकाशन किया जा रहा है। आचार्य श्री के वात्सल्य से सभी परिचित है।

हमारी यही शुभ भावना है कि परिषद् से प्रकाशित होने वाले इस ग्रंथ का भक्तगण स्वाध्याय कर ज्ञानार्जन करे और महाराज श्री की दीर्घायु होने की कामना करें।

विनीत

प्रेमचन्द कुल्फी वाले

योजना मंत्री

अ० भा० स्याद्वाद शिक्षण परिषद्, सागर

आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज को समर्पित

शुभ कामना

परम कृपानिधान, परम पूज्य १०८ आचार्य विमलसागर जी महाराज के चारित्र के विषय मे जो कुछ लिखा जाए, थोड़ा है। आचार्य श्री के सानिध्य मे अनेक श्रद्धालु अपनी दुखदर्द भरी पुकार लेकर आते हैं। आचार्य श्री आशीर्वाद देकर जन-जन का परम कल्याण करते है। ऐसे परम सत के प्रति मेरा बारम्बार नमन।

विनीत

नेमीचन्द जैन

संयुक्त मंत्री स्या० शि० परिषद् सागर

आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज को समर्पित

शत--शत नमन

जैन परम्परा में दिगम्बर मुनि अपने चारित्र के कारण जन-जन द्वारा पूजे जाते हैं। निर्मल चारित्र का धनी व्यक्ति ही परमात्म पद की ओर बढ़ सकता है, परमात्म पद को प्राप्त कर सकता है। परमात्म पद प्राप्ति के लिए ज्ञान, ध्यान और तपस्या के माध्यम से मुनि जन अपने चारित्र की शुद्धि करते हैं। जो चारित्र के धनी हैं, ज्ञान से गम्भीर हैं, ध्यान से विभूषित हैं, रत्नत्रय के प्रतीक हैं, ऐसे परम पूज्य श्री १०८ सन्मार्ग दिवाकर आचार्य विमलसागर जी महाराज को मेरा शत – शत नमन है।

बाबूलाल जैन (अम्बाह वाले)

संरक्षक

श्री अ० भा० स्याद्वाद शिक्षण परिषद

सोनागिर (म० प्र०)

आ० श्री विमल सागर जी महाराज को समर्पित

卐

परम योगी

जैन धर्म को जब हम आगम के परिप्रेक्ष्य देखते हैं तो उसमें योग और ध्यान का विशेष महत्व सर्वत्र दिखाई देता है। बिना योग और ध्यान के साधु चर्या चल नहीं सकती। योग और ध्यान से परमार्थ पद का लक्ष्य बनाने वाले गुरुवर्य आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज को हम सबका सत्-सत् बार नमन है।

योगाचार्य फूलचन्द जैन
एवं समस्त योगसंस्थान परिवार
अ० भा० श्री स्याद्वाद शिक्षण परिषद्
सोनागिर

आ० श्री विमलसागर जी महाराज को समर्पित

सन्मार्ग प्रदर्शक

यह जानकर परम प्रसन्नता हुई कि जिस ग्रन्थ की तैयारी पिछले अनेक वर्षों से की जा रही थी, वह छपकर तैयार है और "परम पूज्य आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ" नाम से उसे सुशोभित किया गया है।

वात्सल्य मूर्ति आचार्य श्री १०८ विमलसागर जी महाराज देश के कोने-कोने में विहार करके स्वपरोपकार में रत हैं, ऐसे आचार्य श्री के अभिनन्दन में अनेकों ग्रन्थ भी प्रकाशित किए जायें तो भी वह कम ही है। देहली-शकरपुर पधारकर आपने सन्मार्ग पर लगाया, तदर्थ हम सपरिवार आपके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए यही शुभकामना करते हैं कि आप चिरायु होकर जन-जन को सन्मार्ग बताते रहें।

कोटिशः नमन के साथ-

—राजेन्द्र कुमार जैन
केन्द्रीय वरिष्ठ उपाध्यक्ष
अ. भा. श्री स्या. शिक्षण परिषद सोनागिर (दतिया) म. प्र.

आ० श्री विमल सागर जी महाराज को समर्पित

卐

शतशः नमन

जैन धर्म के दिगम्बर स्वरूप के धारक,
साधु संघ के कुशल आचार्य, जन-जन के
द्वारा पूज्य अनेक श्रावकों के दीक्षा प्रदान
कर संयम की ओर अग्रसर करने वाले
स्वपरोपकारी श्री १०८ आचार्य विमलसागर जी
महाराज को मेरा कोटि कोटि शत-शत नमन

डा० अरुण कुमार जैन
पहाड़गढ़ जि० मुरैना
(म० प्र०)
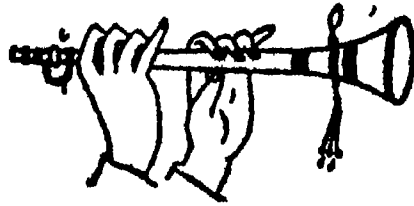
आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज को समर्पित

अनुकरणीय चारित्र

श्री १०८ आचार्य विमल सागर जी महाराज वर्तमान साधु परम्परा के एक उज्ज्वल नक्षत्र हैं समस्त मानव समूह के उद्धार के लिऐ उनके उपदेश एव उनका चारित्र अनुकरणीय है। ईश्वर से प्रार्थना है कि वह चिरायु हों ताकि उन जैसे दिगम्बर स्वरूप के दर्शन होते रहें।

डॉ० भागचन्द 'भागेन्दु'
एवं समस्त शोध संस्थान परिवार
अ० भा० श्री स्याद्वाद शिक्षण परिषद्
सोनागिर (म० प्र०)

आ० श्री विमल सागर जी महाराज को समर्पित

卐

मन्त्री

जगनिक शोध संस्था

महोबा (उ० प्र०)

क्षमामूर्ति गुरुवर

परम पूज्य क्षमामूर्ति श्री १०८ आचार्य विमल सागर जी महाराज में मुनियों के अनुरूप क्षमागुण अपनी अलौकिक वैभवता के साथ विद्यमान है। सभी जीवों के प्रति दयाभाव रखने वाले गुरुवर के चरणों में नमन का भाव रखता हुआ मैं उनके अनन्त जीवन के लिए शुभकामना देता हूँ।

'अभिनन्दन ग्रंथ' का प्रकाशन कर अ० भा० स्याद्वाद शिक्षण परिषद् ने लोकोपकारी कार्य किया है, जो श्लाघनीय है। संस्था भविष्य में भी ऐसे ही महनीय कार्य करती रहे, ऐसी मेरी शुभ भावना है

सद्भावनाओं सहित—

गुणानुरागी

डॉ० वीरेन्द्र 'निर्झर'

अध्यक्ष

हिन्दी विभाग—सेवासदन महाविद्यालय,

बुरहानपुर (म० प्र०)

शुभ कामना

जो अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य के धारक बनकर अपने दिगम्बर स्वरूप के माध्यम से परम वीतरागता का सन्देश देते है, ऐसे परम पूज्य करुणानिधि श्री १०८ आ० विमल सागर जी महाराज चिरायु हों।

विनीत

वासुदेवशरण मनोज कुमार जैन

मर्दोवनगर, दिल्ली—११००६२

आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज को समर्पित

करूणा के सागर

सन १९५८ की बात है। मैं सपत्नीक सम्मेद शिखर वन्दनार्थ गया था। मधुवन में दुबले पतले किन्तु प्रखर तेजस्वी एवं प्रतापी मुनिराज के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अपार जन-समूह के मध्य उनका प्रवचन भी सुना। हृदय श्रद्धा से भर गया था। पुनः कुछ वर्षों बाद टूण्डला में श्री महेन्द्रसागर सेठ द्वारा चौराहे पर निर्मित मन्दिर पर उन्हीं महाराज श्री को आचार्य पद ग्रहण करते हुये दर्शन करने का अवसर मिला। वहीं महाराज जी का चातुर्मास भी था। पं० श्री माणिकचन्द 'कौन्देय' व श्री लालाराम जी शास्त्री आदि विद्वान वहाँ समुपस्थित थे। मैंने वहाँ आचार्य श्री से दो जिज्ञासाओं का समाधान प्राप्त किया। अन्त में श्रवण-बेलगोला में १९८१ में महामस्तकाभिषेक के समापन पर १५ जून को उन्हीं आचार्य श्री के प्रसन्न मुद्रा में पहले से अधिक स्वास्थ्यपूर्ण स्थिति में दर्शन कर प्रसन्नता हुई।

उपरोक्त वर्णन के लक्ष्य हैं, परम पूज्य सन्मार्ग दिवाकर, चारित्र चूड़ामणि १०८ आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज। वे दिगम्बर संत परंपरा में अति उल्लेखनीय व्यक्तित्व के धनी व निज के साथ पर के हित को भी प्रधानता देने वाले महर्षि हैं। विशद निमित्त ज्ञान से दूसरों के कष्टों को जानकर निवारण करने में रुचि रखते हैं। मूलसंघ के श्रावक अंश के लिये तो करुणा के सागर ही हैं। विद्याओं के भंडार हैं। मैं उन चरणों की शत शत वन्दना करता हुआ दीर्घ जीवन की कामना करता हूँ।

विनम्र— पं. शिवचरण लाल जैन
मैनपुरी (उ.प्र.)

आ० श्री विमलसागर जी महाराज को समर्पित

श्रद्धा सुमन

श्री १००८ भगवान महावीर की परम्परा में होने वाले अनेकानेक दिगम्बर आचार्य में श्री १०८ आचार्य वर्य, वात्सल्य मूर्ति, करुणासागर तपोनिधि, चतुर्विधसंघ का सम्यक्प्रकार से संवर्धन करने में कुशल अनेकानेक भव्यों को सत्मार्ग पर अग्रसर करने वाले, स्वपरोपकाररत ध्यानाध्यान में तत्पर, दुःखियों को हस्तावलम्बनदेने वाले, पृथ्वी के समान क्षमाभाव से अलंकृत, दिगम्बर चर्या में सिंह वृत्ति वाले, समुद्र के समान गम्भीर, पर्वत के समान साधु चर्या में अटल-अचल, चन्द्रमा के समान सभी को आनंददायक, अग्नि के समान अंतरंग के विकारों को भस्म करने वाले, धर्म प्रभावना में सबसे उत्तम, सम्यग्रत्नत्रय से विभूषित, द्वय प्रकार की विमलता से सुशोभित; ऐसे आ० रत्न विमलसागर जी के परमपावन चरण कमलों में सहज सुख की प्राप्ति हेतु बारम्बार नमन-वंदन नमोऽस्तु ।

दर्शनाभिलाषी

रतन लाल जैन

इन्द्र भवन – तुको गंज

इन्दौर

श्रमण संस्कृति के अग्रणी प्रवर्तक, कलिकाल
में दुःखित मानवों को अक्षय सुख का
मार्ग प्रदर्शित करने वाले परम पूज्य
आचार्य श्री १०८ विमलसागर जी
महाराज के पाद–पद्मों में
त्रिकाल नमोस्तु ।

देवेन्द्र जैन
अ० भा० स्याद्वाद शिक्षण परिषद्
शाखा मुरार

शुभ भावना

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि अ० भा० स्याद्वाद शिक्षण परिषद् द्वारा आ० श्री १०८ विमलसागर जी महाराज के अभिवन्दनार्थ 'अभिवन्दन ग्रंथ' का प्रकाशन किया जा रहा है। आचार्य श्री के वात्सल्य से सभी परिचित हैं।

हमारी यही शुभ भावना है कि परिषद् से प्रकाशित होने वाले इस ग्रंथ का भक्तगण स्वाध्याय कर ज्ञानार्जन करें और आत्म-कल्याण मे लगे महाराज श्री दीर्घायुष्य प्राप्त करे।

— नेमीचन्द जैन

कोषाध्यक्ष (केन्द्रीय परिषद्)

अ० भा० स्याद्वाद शिक्षण परिषद्, सोनागिर (म० प्र०

फर्म— श्रीलाल जैन ऑयल मिल, मुरार – ग्वालियर (म० प्र०
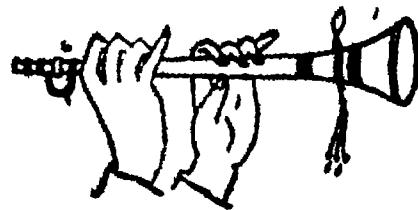
आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज को समर्पित

अभिनन्दन ग्रन्थ में अनेकशः अभिवन्द्य आचार्य श्री १०८ विमलसागर जी मेरी दृष्टि में विमलता के बहुमुखी स्तोत्र हैं। वे मलिनता को खोज और खोज कर निकालने के प्रखर हैं। उनमें सूर्य सी तेजस्वता है और चन्द्र सी शीतलता है। उनके संक्षिप्त सार गर्भित आशीर्वादों और लघुकायी प्रवचनों के श्रवण कराने का सौभाग्य मुझे मिला है। वे निरभिमानी, मिलनसार, धर्मविद, व्यवहारिक आचार्य हैं। उनका अध्ययन अनुभव-अभ्यास सराहनीय है। वे संघ के लिए जहाँ प्रबल प्रशासक हैं, वहाँ संघ के प्रति उनका अमित वात्सल्य भाव भी है।

उनकी कृतज्ञता-विद्वता-वत्सलता और सर्वांगीण उन्नति का भाव भी अपूर्व है वे स्वयं एक बहुमुखी लोक हितैषी प्राणवान संस्था हैं। उनके कार्य कलापों के विषय में जितना लिखा जावे उतना ही थोड़ा है। वे संघ की मनोज्ञ प्रतिमा हैं और संघ के लिए प्राणवान सक्रिय सहयोगी है। आत्महित के साथ लोक हित में भी वे प्रवीण हैं। अपने देश और समाज में वे एक ही शीर्षस्थ सुमेरु हैं वे बाहर व्यस्त हैं और भीतर आश्वस्त 'दैनिक जीवन के छह आवश्यकों में वे सक्रिय हैं। वे चलते फिरते सिद्ध हैं।

उनके दैनिक जीवन की सत्प्रवृत्तियों से, उनके पर्वतवत् श्रेष्ठतर विचारों से लगता है कि वे प्रतिक्षण प्रतिपल श्रमणत्व की सुखद बंसी बजा रहे हैं—

न च राजभयं न च चोर भयं – न च वृत्तिभयं न वियोग भयं।
इह लोक सुखं परलोक सुखं – श्रमणत्वमिदं रमणीय तरम्।।

अर्थात् श्रमण को न राजा का भय है और न चोर का। श्रमण को न आजीविका का भय है और न मनुष्य के वियोग का भय है। श्रमण का इस लोक और परलोक के सुख पर अधिकार है, अतएव श्रमणत्व सुन्दरतर है।

आचार्य श्री अपने श्रमणत्व को सार्थक करने के लिए, श्रमण संस्कृति का प्रचार-प्रसार करने के लिए चिरायु और शतायु हों तथा उनके जीवन में वह महत्वपूर्ण दिवस भी आवे, जिससे उन्हें श्रमणत्व के लिए भी श्रम करने की आवश्यकता नहीं रहे, उनकी दिव्यात्मा अर्हन्त और सिद्ध बन सके; उनके प्रति मेरी यही विनम्र विनयांजलि है।

विनयावनत

पं० लक्ष्मीचन्द 'सरोज'
एम० ए० बी० एड०
२६, मालवी कालोनी, जावरा (म० प्र०)

आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज को समर्पित

शुभ कामना

जो प्रासुक मार्ग से दिन में चार हाथ भूमि को देखकर चलते हैं, शास्त्र श्रवण करते हैं, संसारी जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं, ऐसे वात्सल्यमूर्ति परम पूज्य आचार्य श्री १०८ विमल सागर जी महाराज का रत्नत्रय वृद्धि को प्राप्त हो, ऐसी मेरी शुभ कामना है।

भवदीय
श्री कपूरचन्द जैन, संयुक्तमंत्री
श्री अ. भा. स्याद्वाद शिक्षण परिषद्
सोनागिर (म. प्र.)
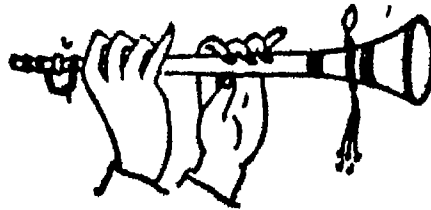
आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज को समर्पित

शांति प्रदाता

जिनके उपदेशों को सुनकर इस असार संसार के अनन्त प्राणी अपने दुःखों को भूलकर मानसिक शान्ति प्राप्त करते है, ऐसे गुरुवर्य सन्मार्ग दिवाकर श्री १०८ आचार्य विमलसागर जी को हम सबका प्रणाम है।

समस्त परीक्षा बोर्ड परिवार
श्री स्याद्वाद शिक्षण परिषद् परीक्षा बोर्ड
सोनागिर (दतिया) म० प्र०

श्री गुप्ता जैसवानी एण्ड कम्पनी
चार्टर्ड एकाउन्टेन्ट
दाल बाजार, लश्कर–ग्वालियर (म० प्र०)

शुभ कामना

जो राग–द्वेष से रहित हैं, ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्र इन चार गुणों में तल्लीन होकर स्व–पर उपकार में रत हैं, ऐसे परम पूज्य सन्मार्ग दिवाकर श्री १०८ आचार्य विमलसागर जी महाराज को हमारा बारम्बार नमन।

आचार्य श्री दीर्घायु होकर विशुद्ध चारित्र के अनुगामी बने रहकर मोक्ष को प्राप्त करें, ऐसी हमारी शुभकामना है।

विनीत

राम मोहन गुप्ता
एम० एस सी० एफ० सी० ए०

गुरुदेव शरण जैसवानी
बी० काम० एफ० सी० ए०

आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज को समर्पित

हम यही भावना करते हैं

परम पूज्य १०८ आचार्य विमल सागर जी महाराज के चिरजीवी होने की कामना करते हुए हम सब चाहते हैं कि हमारे हृदय में भी आचार्य श्री की तरह विनम्रता, वात्सल्यता एवं विश्व बन्धुत्व की भावना जागृत हो।

समस्त स्याद्वाद विमल ज्ञानपीठ
प्रिंटिंग प्रेस परिवार
सोनागिर, दतिया (म.प्र.)

आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज को समर्पित

जैसा देखा वैसा पाया

आचार्य श्री १०८ विमल सागर जी महारज को मैंने प्रथमबार टून्डला (जिला—आगरा) के चातुर्मास के समय देखा था। उस समय आचार्य श्री को भारतवर्षीय जैन समाज द्वारा आ० महावीर कीर्ति जी की सहमति से आचार्य श्री पद से विभूषित किया था। वैसे आचार्य श्री का जन्म स्थान कोसमा (एटा) उ० प्र० और मेरे जन्म स्थान की दूरी केवल ५ किलो मीटर है। मेरे स्वर्गीय पिता जी उनके सहपाठी रह चुके हैं। आचार्य श्री निमित्त ज्ञानी हैं एवं उनका सहज ज्ञान किसी भी व्यक्ति की भावनाओं को पूर्व में जान लेता है। आचार्य श्री के गुणों का वर्णन करना सूरज को दीपक दिखाने के बराबर है। मैं आचार्य श्री के शतायु होने की कामना करता हूं।

शत–शत वन्दन के साथ नमन।

छोटे लाल जैन

एम० ए०, एल. एल० बी०

वरिष्ठ अनुभाग अधिकारी,

उपाध्यक्ष :— श्री प० पु० दिगंबर जैन मन्दिर सोनागिर दतिया (म० प्र०)

निवास :— ६११ मसीहागंज, सीपरी बाजार, झांसी (उ० प्र०)

आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज को समर्पित

शुभ कामना

जिनके पावन चरणों की वन्दना से भक्तों के क्लेश दूर हो जाते हैं। जिनकी वाणी से उपदेशामृत का पान करने से भक्तों के हृदय निर्मल हो जाते हैं, ऐसे गुरुवर श्री विमलसागर जी महाराज को मेरा बारम्बार प्रणाम है।

विनीत
कोमलचन्द जैन (सब इन्जीनियर)
परवारी मोहल्ला, छतरपुर (म० प्र०)

मुनि पुंगव आ. विमलसागर जी

विमल का अर्थ होता है मल रहित निर्मल, निष्कलंक, अमल धवल। आत्मा पर अनादि काल से राग-द्वेष कषाय अज्ञान मिथ्यात्व भाव रूपी मैल चढ़ा है, इस मैल को जो सर्वथा नष्ट कर देते है वे परमात्मा कहलाते हैं। आत्मा से परमात्मा बनने के लिए मुनिधर्म को धारण करना ही होता है, तपस्या करनी ही पड़ती है। जैसे मकान के अन्दर जाने के लिए दरवाजे में से प्रवेश करना होता है। उसी प्रकार मुक्ति मंदिर में जाने के लिए मुनि मार्ग एक दरवाजे की तरह है।

जिन्हे मानव पर्याय मिली है और जिनको निकट भविष्य में परमात्म पद प्राप्त होने वाला है, ऐसी आत्मायें ही मानव पर्याय में आत्मकल्याण की ओर आगे बढ़ती हैं उन आत्माओं से एक आत्मा आचार्य विमलसागर जी महाराज भी है। आ० श्री जी के संघ में २०/२५ पीछी धारी सदैव बने ही रहते हैं। आप ज्योतिष, गणित, मन्त्रविद्या के प्रसिद्ध आचार्य हैं। मंत्रशास्त्र पर आपकी प्रगाढ़ रुचि है, और मन्त्रों के माध्यम से रोगी दु:खी जनता के दु:ख दूर करते हैं।

आप अध्यात्म के ज्ञाता हैं उपदेश मे निश्चय-व्यवहार निमित्त उपादान, द्रव्यार्थिक नय पर्यायार्थिकनय पर अनेकान्तात्मक दृष्टिसे प्रवचन करते हैं आप ज्ञानी ध्यानी विद्वान आचार्य है।

निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि मोक्षमार्ग का नेता, धर्म का प्रणेता होता है। निग्रन्थ मुनि विश्व के गुरू कहलाते हैं, वे मोक्षमार्ग पर स्वय चलते है और भव्य जीवो को उस पर चलने की प्रेरणा देते हैं। निर्ग्रन्थ दिग० मुनि के लिये जीव मात्र समान होते हैं और सभी जीवो का समान रूप से कल्याण करते हैं। बारह कषायों के उपशमन होने के कारण तद्रूप रागद्वेष न होने से परिणामों में सहज वीतरागता रूप समता उत्पन्न होती है इसी समभाव या समता भाव के कारण उनकी दृष्टि में जीव-मात्र समान होते हैं वे अपने ऊपर उपसर्ग कर्ता को भी समान भाव से देखते है। वे कृतघ्नी और अनुपकारी पर क्षमा भाव रखते हैं। उनके लिए शत्रु-मित्र श्मशान भूमि-रग महल, निन्दक-प्रशसक आदि सभी समान है।

पूज्य आचार्य विमल सागर जी महाराज का जीवन बाल्य काल से ही त्याग-तपस्या एवं साधना पूर्ण रहा है जगत मे समय समय पर ऐसी विशिष्ट पुण्यशाली भाग्यशाली आत्मायें भी उत्पन्न होती है जो अपनी आत्मा को ज्ञान ज्योति से प्रकाशित कर ससारी आत्माओ को प्रकाश पुंज से भर देती है। धन्य है ऐसी आत्माओं को, ऐसी आत्मायें विश्व वन्दनीय होती हैं।

अभिनन्दन के इस मागलिक अवसर पर हम पूज्य विमलसागर जी महाराज के चरणों में शतश: श्रद्धा के भाव भीने सुमन अर्पित करते हुए गौरव का अनुभव करते हैं।

शैलेश डी. कापड़िया
सम्पादक— दि. जैनमित्र सूरत

शुभकामना

सम्पूर्ण विश्व के लिये जो आदर्श हैं, ऐसे सन्मार्ग दिवाकर, वात्सल्य शिरोमणि, स्वपरोपकारी, करुणानिधि, परमपूज्य आचार्यरत्न श्री १०८ विमलसागर जी महाराज के प्रति भला कौन होगा जो शुभकामना अर्पित न करे। हर मुनिभक्त की भावना है कि आपकी रत्नत्रय रूपी बगिया मुक्तिफल प्राप्त होने तक पल्लवित होती रहे।

पूज्य आचार्य श्री के अभिवन्दनार्थ 'अभिवंदन ग्रंथ' में तन-मन-धन से सहयोग देने का संकल्प इन महानुभावों ने किया है—

१ श्री मान् सेठ श्रीपति जी अजमेर
२ ,, आर० के० जैन बम्बई
३ ,, ताराचन्द सैलम
४ ,, चम्पालाल जी पांडिचेरी
५ श्री राजेन्द्र प्रसाद महेन्द्र कुमार जैन शकरपुर–देहली
६ श्री प्रकाशचन्द्र जैन सासनी
७ ,, मांगीलाल जी शान्तिलाल जी छावड़ा डीमापुर
८ ; माणिकचन्द्र जी पालीवाल कोटा
९ ,, नेमीचन्द जी चूड़ीवाल पाटन
१० ,, मीठालाल जी अहमदाबाद
११ ,, वीरेन्द्र कुमार जी अहमदाबाद
१२ , राधेश्याम जी क्याली अहमदाबाद
१३ ,, दयाचन्द जी अहमदाबाद
१४ ,, देव कुमार मिश्रीलाल टोंग्या बड़नगर
१५ ,, हीराचन्द कस्तूरचन्द टोंग्या बड़नगर
१६ ,, गौरीलाल राजेशकुमार सेठी डीमापुर
१७ ,, मेघराज जी पाटनी डीमापुर
१८ ,, नाथूलाल जी जैन मन्दसौर
१९ , हरिश्चन्द्र अशोक कुमार जैन आगरा
२० , नंदालाल दिलीप कुमार जैन मन्दसौर
२१ ,, कपूरचन्द प्रकाशचन्द सावला भवानीमण्डी
२२ ,, लक्ष्मणलाल जी कस्तूर चन्द जी पांड्या बम्बई वाले झालरापाटन
२३ ,, राजमल जी गंगवाल मिश्रोली
२४ " बाबूलाल जी ठेकेदार कोटा
२५ ,, विजयकुमार जैन कटक
२६ ,, श्रीमती बसन्ती देवी गया
२७ ,, श्रीमान् रमेशकुमार टोंग्या भानपुरा

१ श्री हुकुमचन्द जी साहबजाज इन्दौर
२ श्री सतीशचन्द जी कलकत्ता
३ श्री निर्मल कुमार सेठी लखनऊ
४ श्री नेमीचन्द जी मुरार
५ श्री टीकमचन्द जी शांतिचन्द जी देहली
६ श्री त्रिलोक चन्द जी कोठारी कोटा
७ श्री कैलाशचन्द जी जैन कलकत्ता
८ श्री अशर्फीलाल सुभाषचन्द जैन इन्दौर
९ श्रीमती कमलाबाई पाण्ड्या सनावद
१० श्री विमल कुमार जी अजमेरा कोटा
११ श्री प्रकाशचन्द जी कोटा
१२ श्री गणेशीलाल जी रानीवाला कोटा
१३ श्री उग्रसेन वीरेन्द्र कुमार जैन आगरा
१४ श्री सुरेशचन्द जी मन्दसौर
१५ श्री अतीन्द्रकुमार जी "
१६ श्री इन्दौरी लाल जी "
१७ श्री केसरवाले मामा जयपुर
१८ श्री सुदर्शनलाल पुष्पेन्द्र कुमार जी
१९ श्री सुरेश गांधी मन्दसौर
२० श्री रामरतन जी पन्नालाल जी मन्दसौर
२१ श्री महावीर बस सर्विस इन्दौर
२२ श्री नाथूलाल जी सावला भवानीमण्डी
२३ श्री डा० सभपति प्रतापगढ़ वाले मन्दसौर
२४ श्री सुन्दरलाल मथुरालाल जी पाटनी मिश्रोली
२५ श्री देवचन्द जैन राजाबाजार नई दिल्ली
२६ श्री सुरेशचन्द्र जैन देहली
२७ श्री आदेश कुमार जन
२८ श्रीमती मोहनबाई भवानीमण्डी
२९ श्रीमती कंचनबाई ध० प० श्री मोतीलाल जी मिश्रोली

*

२८ श्रीमती निर्मलाबाई धनकुमार जी कासली-
वाल बड़नगर
२९ श्रीमान् कवरूमल जी इन्दौर
३० ,, शिखरचंद जी जैन आगरा
३१ ,, बाबूलाल महेन्द्र कुमार जोशी इन्दौर
३२ अनन्त जैन कागजी लखनऊ
३३ श्रीमती मैनाबाई धर्मपत्नी श्री ज्ञानचन्द जैन
(ज्ञानचन्द मैनाबाई ट्रस्ट महेश्वर-खरगौन)
३४ श्रीमती रामकली जी धर्मपत्नी श्री वासुदेव
प्रसाद जैन राजाखेड़ा वाले शकरपुर
नई दिल्ली
३५ श्री नरेश कुमार जैन हांगकांग
३६ ,, डा० दिलीपभूषण जैन फिरोजाबाद
३७ ,, रघवर दयाल नागेन्द्र जैन गोटावाले
३८ ,, अमोलकचन्द्र जी सावला
३९ ,, जम्बूप्रसाद जैन डिप्टी डायरेक्टर इण्डस्ट्रीज
४० ,, शकरलाल रमेशचन्द जैन
४१ ,, रिखबदास प्रदीकुमार जैन
४२ ,, दीपचन्द प्रद्युम्न कुमार जैन
४३ ,, कन्याणमल जैन इम्फाल
४४ श्रीमती मीनाकुमारी महेशचन्द्र जैन
४५ ,, जतनबाई बड़नगर
४६ श्री पूरन चन्द्र जैन फिरोजाबाद
४७ ,, महावीर प्रसाद जैन पाटनी डीमापुर
४८ ,, मितरसेन इण्डस्ट्रीज मेरठ
४९ ,, विनोदचन्द जैन भड़ौच
५० ,, अमृतराय जी सलम
५१ ,, जयकुमार गांधी मन्दसौर
५२ ,, चन्द्रकुमार बाकलीवाल मन्दसौर वाले कोटा
५३ ,, राधामोहन जौहरीलालजी जैन फिरोजाबाद
५४ ,, भागचन्द अशोककुमार जैन गांधी नगर
फिरोजाबाद
५५ ,, भागचन्द्र जी रेडियो वाले फिरोजाबाद
५६ " अमीरचन्द अशोक कुमार जैन नई बस्ती
फिरोजाबाद
५७ " माणिकचन्द नेमकुमार जैन फिरोजाबाद
५८ श्रीमती बसन्ती देवी ध० प० श्री मूलचन्द जी
सेकरा वाले फिरोजाबाद

आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज को समर्पित

परोपकारी गुरुवर्य

जो प्रासुक मार्ग से दिन में चार हाथ भूमि को देखकर चलते हैं, शास्त्र श्रवण करते हैं, संसारी जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं, ऐसे वात्सल्यमूर्ति परम पूज्य आचार्य श्री १०८ विमल सागर जी महाराज को मेरा कोटि-कोटि नमन।

गुरुभक्त
राजेशकान्त जैन, एम. काम.
श्री स्याद्वाद शिक्षण नंगानंग दि० जैन सं०।प्रा०।मा० वि०
सोनागिर (म. प्र.)
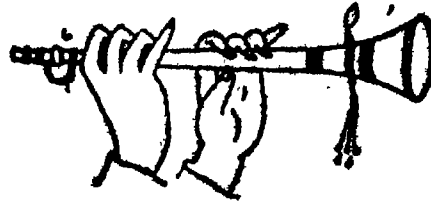
आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज को समर्पित

सम्यग्ज्ञान प्रसारक

जिन्होंने आत्मोन्नति के लिए दिगम्बर मुनि का भेष धारण कर सत्य, अहिंसा, वात्सल्य को अपने जीवन में उतार कर कठोर तपस्चर्या करते हुए जन जन के उपकार हेतु उपदेशामृत के माध्यम से ज्ञान की अवरल धारा बहाकर कल्याण का मार्ग प्रशस्त कराया है ऐसे परम पूज्य सन्मार्ग दिवाकर श्री १०८ आचार्य विमलसागर जी महाराज को प्रणाम करते हुए यह कामना करते हैं कि सम्य-ग्ज्ञान के प्रसार हेतु आपका आशीर्वाद हमे सदैव प्राप्त होता रहेगा।

समस्त कार्यकारिणी कमेटी
श्री अ० भा० स्याद्वाद शिक्षण परिषद्
सोनागिर (म० प्र०)

आचार्य श्री को समर्पित
भक्ति पुष्प

आचार्य विमल के सुमिरण से, मिटता मिथ्यात्व अंधेरा।
हो वन्दन गुरुवर मेरा ।।टेक।।

तुमरे चरणों में देश-देश के, भक्त निरन्तर आते।
तुमरी अमृत वाणी सुनकर के, मन्त्र मुग्ध हो जाते ।।
हो सौम्य छवि चारित्र मूर्ति, मन को विषयों से फेरा
हो वन्दन गुरुवर मेरा......

हो स्याद्वाद की मूर्ति, कभी एकान्त पास ना लाते।
अज्ञान तिमिर को हटा आप, संशय मत भेद मिटाते ।।
हो निर्विकार ना कछू संग, निज में ही डाला डेरा।
हो वन्दन गुरुवर मेरा......

फहरा के ध्वजा धर्म की, तुम सोते से जगत जगाया।
यथा जात तो रूप पूर्ण, अपने को सुखी बनाया ।।
कर आत्म निरीक्षण ज्ञान लीन हो मोह रिपु को फेरा।
हो वन्दन गुरुवर मेरा......

'सन्मति' पाने को शान्ति सुधा, तुमरे चरणों शिर नाता।
आशीष पूर्ण दो गुरुवर जोडूँ, निज आतम से नाता ।।
ना और भावना एक यही, हो भेष दिगम्बर मेरा।
हो वन्दन गुरुवर मेरा......

आचार्य विमल के सुमिरण से मिटता मिथ्यात्व अँधेरा।
हो वन्दन गुरुवर मेरा......

—ज्ञानानन्द

कीर्ति स्तम्भ

कीरति जिनकी सारे विश्व में छाई हुई है,
सरस्वती जिनके कण्ठ में समाई हुई है।
छवि वीतरागी हर मन को भाई हुई है,
ऐसे विमल चरण मम दृष्टि आई हुई है ॥१॥

प्रभावना जिनके निमित्त से धर्म की हो रही है,
मिथ्यात्व दृष्टि जिनकी देशना खो रही है।
समता स्वरूप लखि, मुक्ति प्रमुदित हो रही है,
ऐसे ऋषि चरण में भावना खो रही है ॥२॥

सन्मार्ग सारे विश्व को जिनने दिखाया,
डूबते पतित आत्माओं को किनारे लगाया।
मोह मत्सर क्रोध जिनने भगाया,
ऐसे विमल चरण में ज्ञानानंद आया ॥३॥

संघ अनुशासन जिनका कड़ा है।
भारत में मुनि संघ जिनका बड़ा है।
चारित्र रत्न कर में जिनके घड़ा है,
ऐसे विमल चरण में सन्मति खड़ा है ॥४॥

उपाध्याय मुनि भरत से जिन संघ ज्ञानी,
माता ऋषि दिखत हैं नित आत्म ध्यानी।
चित्रा विचित्र भक्ति जिसकी सुहानी,
आशीष दो मुनि वश, बन जाऊँ ज्ञानी ॥५॥

—ज्ञानानन्द

विमल गुणगान

रचयिता—श्री मु० माताजी

हे गुरु महान गौरवनिधान,
　　संयम निधान सद्गुण सुधाम ।
हे तापस वर शिव सतत् ध्यान
　　शत् शत् प्रणाम, शत् शत् प्रणाम ॥

हे विमल विमल मति देन हार
　　हे संघ शिरोमणि सुहृद विचार ।
हे विमल सिंधु तुम गुरु महान,
　　शत् शत् प्रणाम, शत् शत् प्रणाम ॥

तुम बाल ब्रह्मचारी महान
　　भव्य कमल बोधक आस्वान ।
हे विमल सिंधु तुम गुरु महान,
　　शत् शत् प्रणाम, शत् शत् प्रणाम ॥

हे भव्य जीव संबोधकर-
　　हस्तावलम्ब भव सिंधुतार ।
हे धर्म प्रचारक सुगुण निधान,
　　शत् शत् प्रणाम, शत् शत् प्रणाम ॥

तुम देश देश में कर विहार,
　　कीना अतीव सुधर्म प्रचार ।
हे रत्नत्रय की मूर्ति महान,
　　शत् शत् प्रणाम, शत् शत् प्रणाम ॥

विमल स्तवन

श्री १०५ क्षु. अनंतमती जी

आ – आध्यात्मिक पद के अधिनेता
चा – चारित्र निधि के गुरु विजेता।
र्य – यतिवर विमल सिन्धु दुखहारी
नितप्रति नमन त्रिकाल हमारी ॥ टेक ॥

श्री – श्रीश: पद के पाने वाले,
ए – एकरूप को ध्याने वाले,
क – कलह क्रोध हटाने वाले
सो – सोलह कारण भाने वाले,
आ – आगम रूप दर्शाने वाले,
ठ – ठारह दोष नशाने वाले
यतिवर विमल ... . हमारी ॥ १ ॥

सत् – सत् पथ मार्ग फैलाने वाले,
मा – मायाचार भगाने वाले
र – राग द्वेष को हरने वाले
ग – गर्व परिणति हटाने वाले
यतिवर विमल .... हमारी ॥ २ ॥

दि – दिनकर सम कान्ति के धारक,
वा – वाचा से सब के ही हारक,
क – कंचन सम देही के धारक,
र – रत्यारत्य विचार के हारक.
यतिवर विमल ... . हमारी ॥ ३ ॥

वि – विशुद्ध परिणति रमने वाले,
म – ममता छो समता को धारे,
ल – लखकर निजगुण विमल कहाये,
यतिवर विमल .... हमारी ॥ ४ ॥

सा – सागर सम शुचि निर्मल मन है,
ग – गर्जन गौ का जिनके मुख है,
र – रत्नत्रय के पूरित धन है,
जी – जीवन सूर्य सदा विकसित है,
यतिवर विमल सिन्धु दुखहारी।
नितप्रति नमन त्रिकाल हमारी ॥

卐

रचयिता-बिहारीलाल मोदी शास्त्री, बड़ा मलहरा (म.प्र.)

आचार्य हमारे मुनिवर प्यारे, जग से न्यारे चरण नमूँ ।
महाव्रतधारे, सब अघटारे, भवदधि तारे तरण नमूँ ॥
विषयवनक्षारे कषायनिवारे, दोषनटारे सूरि नमूँ ।
दया सु धारें, ममत विडारे जिय रखवारे गुणन नमूँ ॥
आगम ज्ञाता, उपदेश सु दाता, शान्ति प्रदाता शरण गहूं ।
विमल सु सागर, सब गुण आगर, समतासागर, चरण नमूँ ॥

आतमध्याता हरत असाता ज्ञान प्रदाता शरण लहूँ ।
पाप नमाता, धर्म लखाता, सुव्रत दाता सुखन भजूँ ॥
द्वादश तप धारे, धर्म दसारे पंचाचारे चरन नमूँ ।
षडावश्यक पाले, गुप्तिन साधे, सब सहारे चरण नमूँ ॥
आगमज्ञाता उपदेश सुदाता, शान्ति प्रदाता शरण लहूँ ।
विमल सु सागर, सब गुण आगर, समतासागर चरण नमूँ ॥

धर्मोपदेशक, भवदु:खमेटक, आगम लेखक तुम्हें नमूँ ।
तत्व विचारक, सम्यग्धारक, करुणाकारक मुनिन नमूँ ॥
भवभोग विरागी, आतमपागी, विषयन त्यागी चरण नमूँ ।
विषयेन्द्रीक्षारक, समितीधारक, शील सुपालक गुणन नमूँ ॥
रत्नत्रयधारी, शिवमग चारी, पर उपकारी गुरुन नमूँ ।
"लालबिहारी" शरण तिहारी, विरद उचारी चरण नमूँ ॥

सौ सौ बार नमन है

हास्यकवि–श्री हजारी लाल जैन 'काका'
सकरार (झाँसी) उ० प्र०

चौथा काल वर्तने लगता हो जाता जिस ओर गमन है,
संघ सहित आचार्य विमल सागर को सौ सौ बार नमन है।

संयम और साधना द्वारा सदा ज्ञान की ज्योति जलाई;
युगदृष्टा बनकर के जिनने अंधकार में राह दिखाई।
सत्यं शिवं का होता हरदम जिनकी वाणी में दर्शन है,
संघ सहित आचार्य विमलसागर को सौ सौ बार नमन है॥

जिनके अंतर में बहती है, वात्सल्य भाव की धारा,
इच्छायें पूरी कर देते, जो निमित्त ज्ञान के द्वारा।
जिनके दर्शन से हो जाता सभी तरह का पाप शमन है,
संघ सहित आचार्य विमलसागर को सौ सौ बार नमन है॥

ऐसे परम पूज्य गुरुवर के चरण कमल में शीश झुकायें,
इनके पद चिन्हों पर चलकर मानव जीवन सफल बनायें।
'काका' तभी सफल हो सकता अपना ये मानव जीवन है,
संघ सहित आचार्य विमल सागर को सौ सौ बार नमन है॥

अमल विमल के चरण कमल में, शत शत बार नमन है

ममता मोह मयी जजालों से, जिसने नाता तोड़ लिया,
पचेन्द्रिय तन के भोगों से, जिसने मुखड़ा मोड़ लिया।
दर्शन ज्ञान मयी आतम से, जिसने नाता जोड लिया,
ऐसा स्वच्छ वदन है जिनका, जैसा शुभ्र गगन है।
अमल विमल के चरण कमल मे, शत शत बार नमन है।
स्याद्वाद गगा से जिसने, सारे जग को नहलाया है,
महावीर की जिनवाणी को, जिसने घर घर पहुँचाया है,
मोक्षमार्ग के प्रशस्त पथ पर, जिसने कदम बढ़ाया है;
पाप पक से कलुषित मन को, उनकी वाणी चन्दन है।
अमल विमल के चरण कमल में, शत शत बार नमन है।
पंच महाव्रत दुर्द्धर तप से तन को खूब तपाया है,
निर्मल, अमल विमल वाणी के, द्वारा संयम हमें सिखाया है
भूले भटके अटके मन को, स्थिर शान्त बनाया है,
परम पूज्य आचार्य विमल का, करता जग वन्दन है।
अमल विमल के चरण कमल में, शत शत बार नमन है॥

मोदी बिहारी लाल जैन शास्त्री
मवामलहरा (म० प्र०)

* गुरु गुणगान *

जिन्हों का दर्श करने को, सभी प्राणी तरसते हैं।
हरषते नाम सुनसुनकर, यही वे सच्चे साधु हैं॥

जगाते पामरों को भी, बताते सत्य शिव मारग।
मिटाते फूट आपस की, यही वे सच्चे साधु हैं॥

सौम्य मुस्कान सूरत है, सरल मृदु बैन बोले हैं।
कपट अभिमान नहीं इनके, यही वे सच्चे साधु हैं॥

नहीं अटवी भयानक है, नहीं मरघट डरावन हैं।
नहीं अहि व्याघ्र की शंका, यही वे सच्चे साधु हैं॥

अनेकों भव्य जीवों को, लगाया सत्य मारग में।
दिखाया मार्ग शांति का, यही वे सच्चे साधु हैं॥

सहें हिम धूप की बाधा, न डर तूफान वर्षा का।
अकम्पन आत्मा जिन की, यही वे सच्चे साधु हैं॥

परीक्षा की कसौटी पर, साधुपन को परख करके।
सभी ने सिर नवाया है, यही वे सच्चे साधु हैं॥

— प्र. क.— पवनकुमार शास्त्री 'दीवान'

जैन स्टोर

सावरकर चौक— ललितपुर (उ० प्र०)

卐

सोनागिर परिचय

परिशिष्ट—

सिद्धक्षेत्र सोनागिर जी पर स्थित दार्शनिक स्थलों की नामावली एवं अन्य विशेषतायें

१ श्री १००८ चन्द्रप्रभु भगवान का विशाल चमत्कारिक जिनबिम्ब मंदिर नं० ५७ में विद्यमान है।
२ श्री पंच परमेष्ठी स्तूप।
३ ज्ञान गुदड़ी स्थल (एक विशाल चट्टान जहां पर ज्ञानियों की ज्ञान चर्चा होती थी)।
४ प्राचीन ज्ञान साधना स्थल (जहा आचार्यगण शिष्यों को अध्ययन कराते थे)।
५ श्री चन्द्रप्रभु जी के मंदिर के पीछे पत्थर की चट्टान की खदान में विशाल गुफा।
६ अन्य गुफायें (जहाँ मुनि वृन्द ध्यानाध्यन करते थे।)
७ श्री चन्द्रप्रभु जी मंदिर के समक्ष चौक में विशाल ४३ फुट उत्तुंग मानस्तम्भ दर्शन।
८ इसी विशाल मानस्तम्भ के समीप कमलाकार शिखरयुक्त विशाल समवशरण जिन मंदिर।
९ इसी समवशरण जिनालय के नीचे संग्रहालय जिनमें अनेकों खंडित जिनबिम्ब विद्यमान हैं।
१० मंदिर नं० ५७ के पथ में ३० फुट उत्तुंग विशाल धर्मचक्र कीर्ति स्तम्भ।
११ बाजनी शिला यह शिला ७ फुट लम्बी, ४ फुट चौड़ी ३ फुट मोटी। यह शिला देवों द्वारा ध्यानस्थ मुनियो पर परीक्षा लेने हेतु डाली गई, वह उसी में समाहित हो गये। शिला में शरीराकार गड्ढे है। इस शिला को पत्थर से बजाने पर घंटे की ध्वनि सुनाई पड़ती है।
१२ नारियल कुण्ड—नारियल आकार का यह कुण्ड सदैव जल से परिपूर्ण रहता है जिसके जल को श्रद्धापूर्वक लगाने से चर्मरोग शांत हो जाते है।
१३ पर्वतराज पर एक मनोहर पावापुर जल मन्दिर भी विद्यमान है।
१४ तीर्थराज सम्मेद शिखर की २० टोंको की रचना अत्यन्त पुण्य प्रेरणा दायक निर्मित है।
१५ सिद्धक्षेत्र गिरनार की ५ टोंकों की रचना भी अत्यन्त रुचिकर है।
१६ प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ की निर्वाण भूमि कैलाश पर्वत की रचना अति दर्शनीय है।
१७ विभिन्न मन्दिरों में निर्मित बहुविध कलायें अत्यन्त दर्शनीय है।
१८ हाथी दरवाजा तथा चन्द्रप्रभु मंदिरमें मकराने फर्शमे स्थित कलात्मक डिजाइन चित्ताकर्षक है।
१९ परकोटा की प्राचीनता भी दर्शनीय है।
२० मंदिरों की वन्दना के स्वच्छतायुक्त मार्गों के दृश्य दृष्टिगोचर योग्य हैं।
२१ पंचमेरु चक्की मंदिर विशेष लुभावना है।
२२ अनेक मंदिरों में विद्यमान संवत् ३३५ से संवत् १९४० तक के प्रतिष्ठित अनेक जिनबिम्ब १ फुट से १० फुट ऊंचे तक नासाग्र दृष्टि युक्त दर्शनीय हैं।
२३ बादाम कुण्ड भी हमेशा जल से परिपूर्ण रहता है।
२४ श्री राजुल जी की गुफा भी दर्शनीय है।
२५ श्री चन्द्रप्रभु मंदिर के प्रांगण में आ० कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी भुसपाटिया विद्यमान है।
२६ मंदिर न० ५७ के बाहरी प्रांगण के समीप अत्यन्त आकर्षक २४ तीर्थंकरों के जिनबिम्ब वंदनीय हैं।

—०—

श्री सिद्धक्षेत्र सोनागिर में तलहटी के जिन मन्दिरों की नामावली

प्राचीन १६ | नवीन ६ | कुल २२

		मन्दिर का नाम	प्रबन्धक
१		मंदिर श्री रोडमल जी पांड्या लश्कर–ग्वालियर	तेरापंथी कोठी, पंचायत खंडेलवाल लश्कर
२		मंदिर श्री किशनलाल जी गंगवाल	,,
३	,,	खिमरौली वाला	खैरोली पंचायत
४	,,	मौ वालों का सेठ प्यारेलाल जी	मौवाली खरौआ पंचायत
५	,,	सेठ हीरालाल जी एटा वालों का	पद्मावती पुरवाल पंचायत
६	,,	मोतीलाल कजोड़ीमल, बहादुरसिंह	तेरापंथी कोठी पंचायत
७	,,	सेठ गोकुलचन्द जी ग्वालियर वालों का	लोकमनदास जी आदि जैसवाल पंचायत, ग्वालियर-मुरार
८	,,	भट्टारक श्री हरेन्द्रभूषण संस्थान गादीवाला	बरैया पंचायत संस्थान
९	,,	,, ,,	,,
१०	,,	गुलाबचन्द गनेशीलाल जैन मुरार वालों का	स्वयं का परिवार
११	,,	अमोल पचायत का	बरैया पंचायत संस्थान
१२	,,	करैया वालों का	,,
१३	,,	सेठ गुन्दीलाल जी वैसाखिया झांसी वालों का	पंचायत झांसी
१४	,,	भट्टारक जी महाराज दिल्ली वालो का	सिद्धक्षेत्र कमेटी नेतृत्व अ० भा० जै० तीर्थ रक्षा कमेटी बम्बई
१५	,,	भट्टारक जिनेन्द्रभूषण जी ग्वालियर वालों का	बीस पंथी खण्डेलवाल पंचायत चम्पाबाग लश्कर
१६	,,	भगवानदास जी	श्री छीतरमल जी राजाखेड़ा वाले
१७	,,	आचार्य जी वाला	त्यागी व्रती आश्रम
१८	,,	आ० सुमतिसागर त्यागीव्रती आश्रम	,,
१९	,,	छात्रावास प्रांगण स्थित	अ. भा. त्या. शि. परिषद ट्रस्ट
२०	,,	प्रेस प्रांगण स्थित	,,
२१	,,	स्याद्वाद नगर स्थित	,,
२२	,,	चन्द्र नगर विशाल धर्मशाला	सिद्धक्षेत्र सोनागिर कमेटी

सोनागिर जी में स्थित धर्मशालाओं की नामावली

क्र.	धर्मशाला नाम	प्रबन्धक वर्तमान कमेटी
१	श्री भट्टारक जिनेन्द्रभूषण जी महाराज संस्थान गादी ग्वालियर	श्री दि. जैन बीस पंथी खंडेलवाल पंचायत चम्पाबाग मंदिर लश्कर
२	श्री हरेन्द्रभूषण जी संस्थान	श्री संस्थान गादी बरैया पंचायत
३	श्री पचायत खमरौली वालों की	श्री खमरौली पचायत
४	श्री प्यारेलालजी मौ वालों की	श्री खरौआ पंचायत मौ (भिण्ड)
५	मंदिर श्री रोडमलजी पांड्या लश्कर	श्री दि. जैन तेरहपंथी पचायत खंडेलवाल पुरानी सहेली लश्कर
६	मंदिर श्री किशनलालजी गंगवाल	श्री दि. जैन तेरहपंथी पचायत खंडेलवाल नई सहेली लश्कर, वर्तमान में पुरानी सहेली पंचा.
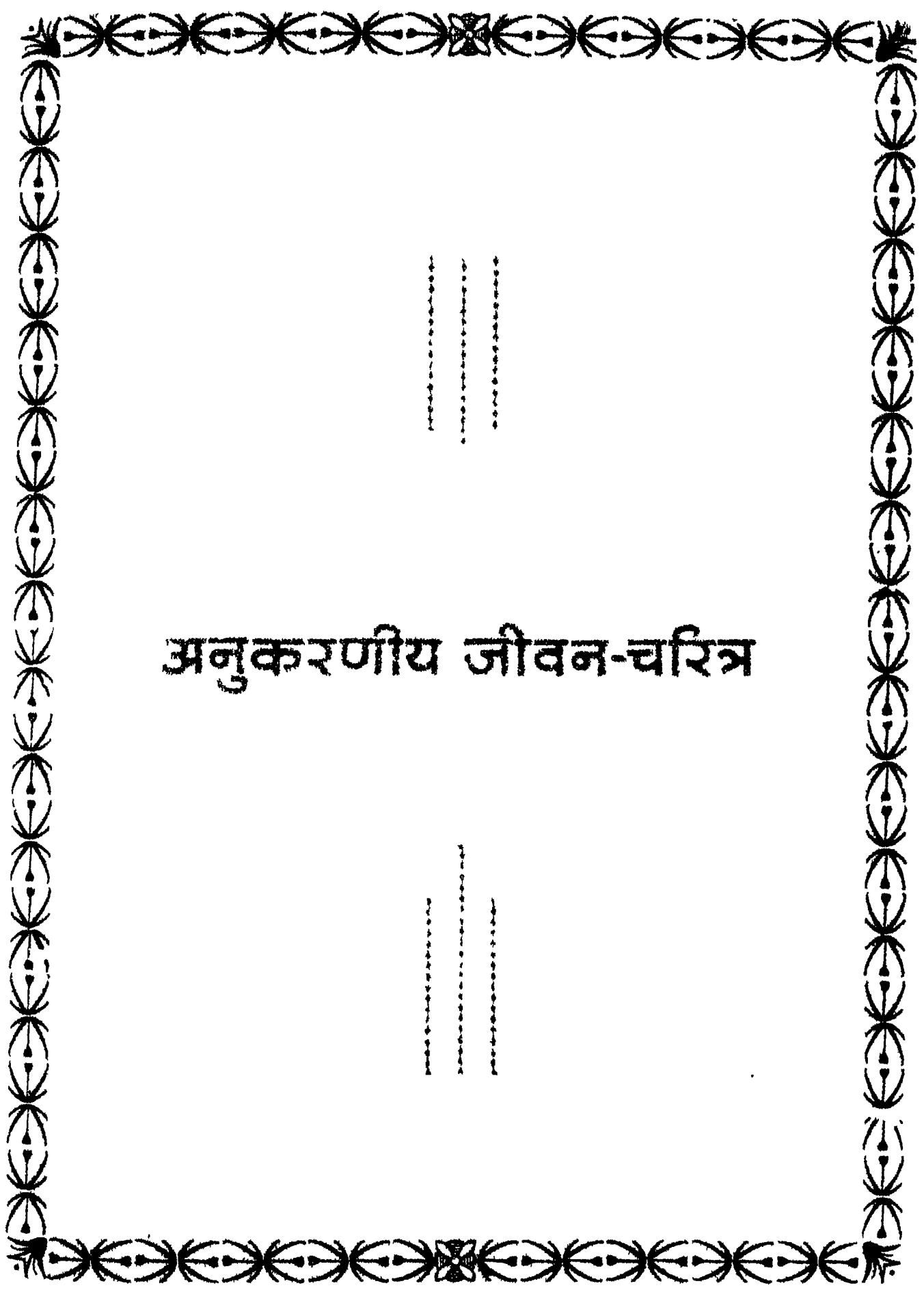
७	धर्मशाला श्री एटा वाली मंदिर की	श्री पद्मावती पुरवाल पंचायत एटा
८	धर्मशाला मंदिर श्री सेठ गुलजारीलाल की	श्री सिद्ध क्षेत्र कमेटी सोनागिर
९	धर्मशाला सेठ श्री गुन्दीलालजी बैसाखिया झांसी वाले	श्री झांसी समाज पंचायत
१०	धर्मशाला श्री पंचायत	श्री करैया पंचायत तत्वाव
	करैया वालों की	भट्टारक हरेन्द्रभूषणजी
११	धर्मशाला श्री गोकलचन्दजी मंदिरवालों की	श्री जैसवाल पंचायत मुरार ग्वालियर
१२	धर्मशाला श्री राजाखेड़ा मन्दिर की	छीतरमल जी राजाखेड़ा
१३	धर्मशाला श्री गनेशीलाल मुरारवालों की	स्वयं का परिवार
१४	धर्मशाला श्री भट्टारक जी महाराज दिल्ली वालों की	सिद्धक्षेत्र कमेटी सोनागिर
१५	धर्मशाला स्टेशन सोनागिर सेठ	सिद्धक्षेत्र कमेटी सोनागिर
	श्री गुरुमुख राय अमोलक जी रानीवालों की	”
१६	धर्मशाला बिरधीचन्द जी मक्खनलाल जी झांसी	”
१७	नरवरनी वाली चबूतरा युक्त	”
१८	श्री बैजनाथ जी सरावगी कलकत्ता वालों की (वर्तमान में क्षतिग्रस्त है)	”
१९	श्री वीर विद्यालय (वर्तमान में पुलिस चौकी विद्यमान है)	”
२०	श्री बाबा वाली नाम से प्रचलित है	”
२१	श्री चन्द्रनगर स्थित विशाल धर्मशाला के नाम से प्रख्यात	”
२२	श्री सेठ कालपी वालों की	”
२३	एटावालों की	श्री पद्मावती पुरवाल कमेटी ”
२४	श्री स्याद्वाद शिक्षण परिषद्	श्री स्याद्वाद शिक्षण परिषद्
२५	भिण्ड वालों की	श्री भिण्ड पंचायत
२६	लम्बेचू समाज	श्री लम्बेचू समाज पंचायत
२७	आ० सुमतिसागर त्यागीव्रती आश्रम	श्री त्यागीव्रती आश्रम कमेटी
२८	परमागम मंदिर	श्री टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर
२९	भूमि श्री श्यामीराम जी आगरा वालों की	
	निर्माणाधीन कमरा	श्री सिद्धक्षेत्र कमेटी सोनागिर
३०	चबूतरा निर्माण कार्य कमेटी के पास की	
	धर्मशाला झांसी (परिक्रमा मार्ग)	”
३१	भूमि वास्ते वर्कशाप टंकी नल की	
	(१ बीघा मार्ग स्टेशन सोनागिर जिसमें बोरिंग हो चुकी है)	”

—मिश्रीलाल पाटनी (मंत्री)
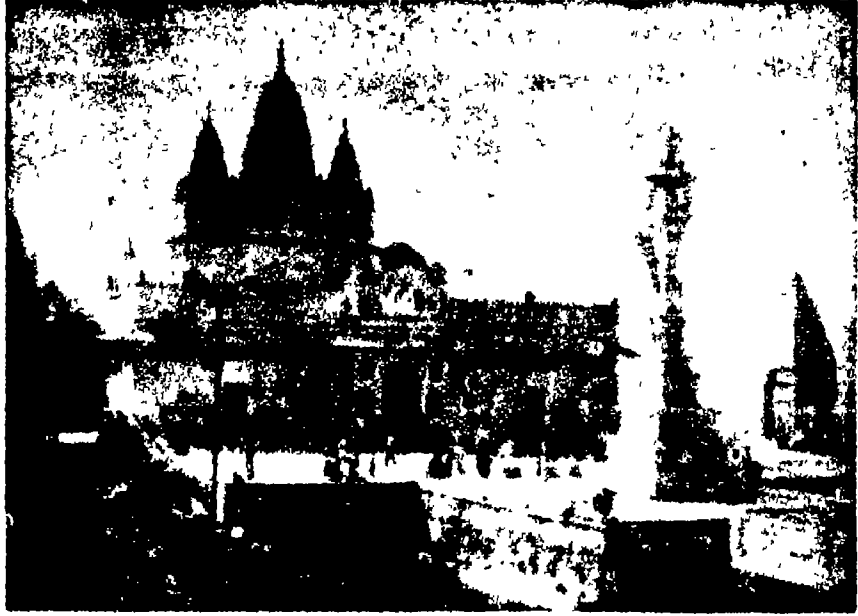
पर्वतराज सिद्धक्षेत्र सोनागिर

अनुकरणीय जीवन-चरित्र

आचार्य विमल सागर जी महाराज : जीवन रेखा—

—डॉ सुरेन्द्र जैन, भारती
बुरहानपुर (म० प्र०)

संसार में तीन तरह के लोग पाए जाते हैं—(१) जो जन्म से ही महान होते हैं (२) जो महान बनते हैं और (३) जिन पर महानता थोप दी जाती है या जो अपने लिये महान मान लेते हैं। प्रथम श्रेणी के मनुष्यों में तीर्थंकर, द्वितीय श्रेणी में साधु-संत, महापुरुष एवं तृतीय श्रेणी में हम सब आते हैं। यहाँ मैं द्वितीय श्रेणी में आने वाले एक ऐसे साधु के विषय में लिखने का साहस कर रहा हूं जो प्राकृतिक वेश का धारी है, पंचेन्द्रिय विषयों का विजेता है, आरम्भ परिग्रह से रहित साधु परम्परा का आदर्श साधक है छहढालाकार पंडितप्रवर दौलतरामजी की— ।

अरि मित्र महल मसान कंचन काँच निंदन थुति करन ।
अर्घावतारन असिप्रहारन में सदा समता धरन।।

भावना को जीवन में चरितार्थ किया है। सत्य-अहिंसा की ध्वजा को संपूर्ण भारत वर्ष में फहराने वाले जैन पाठशाला, विद्यालयों, औषधालयों आदि के माध्यम से जन-जन का उपकार करने वाले, वात्सल्य व करुणा की प्रतिमूर्ति, धर्मात्मा जनों के मन को आनंदित कर भक्ति रस का रसास्वादन कराने वाले शान्तपरिणामी हैं, यदि यह प्रश्न किया जाए कि इतने अधिक गुणों का धारक कौन सन्त है तो एक नाम सबकी जबान पर प्रकट हो जायेगा और वह नाम है—परम तपस्वी, सन्मार्ग दिवाकर, स्वपरोपकारी १०८ आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज।

अपनी अविरल साधना के बल पर जन-जन के द्वारा पूजनीय १०८ आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज का सम्पूर्ण जीवन वृत्त कैसा है? इस विषय में जिज्ञासुओं के समाधान हेतु मैं उनका जीवन परिचय दे रहा हूं, जो इस प्रकार है—

जन्मावतरण —

भारत वर्ष की पुण्य धरा पर अवतरण के लिये व्याकुल रहने वाले देवताओं की तरह एक भावी देवता ने भी स्वतंत्र भारत के उत्तर प्रदेशस्थ एटा जनपद के अन्तर्गत जलेसर कस्बे के कोसमा ग्राम को अपनी जन्मस्थली के रूप में चुनकर पिता श्री बिहारी लाल जी की सहधर्मिणी श्रीमती कटोरी देवी की कुक्षि को पवित्र किया। इस होनहार बालक को अपनी गोद में समेट लेने वाला वह शुभ दिन था आश्विन कृष्णा सप्तमी संवत् १९७३।

संस्कारों की झलक दिखी मुखमण्डल पर—

मां कटोरी ने नवजात बालक का मुख दर्शन कर तृप्ति की एक गहरी सांस ली और देखा कि मन्द मन्द मुस्करा रहा बालक मानों कह रहा है—मां ! मैं तुम्हारा नन्दन हूं अवश्य किन्तु शीघ्र ही जग का नन्दन बन जाऊंगा ब्रह्ममुहूर्त में जन्मा हूं ब्रह्मा बने बिना रहूंगा नहीं । गर्भ में ही रहकर पर्यूषण पर्व की आराधना की है मैंने एक दिन जग देखेगा कि दस धर्म समाहित है मुझमें । बालक की मौन इच्छा आज बलवती दिख रही है महाराज में—क्षमा, मार्दव, सरलता, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग आकिंचन व ब्रह्मचर्य की दसों दिशायें मानों समाहित होकर एकाकार हो गई हैं । 'जैसी मा की भावना वैसी ही सन्तान' वाली सूक्ति चरितार्थ हो गई क्योंकि जैसे संस्कार गर्भ में पाए थे वे प्रकट हुए बिना नहीं रह सके ।

नामकरण—

बालक के गौर मुखमण्डल के प्रकाश से प्रकाशवान घर-बाहर सर्वत्र एक ही चर्चा है बड़ा सुन्दर बालक पाया है कटोरी ने । पिता कहते मेरा बेटा तो सूरज है भोर में जन्म ले ही कौन सकता है सूरज के सिवा ? खुशियां मनाई जा रही हैं बिहारी के आंगन में बधाईयां हो रही हैं, जन-जन प्रफुल्लित है । नाम क्या रखें बालक का, चिन्ता है पिता के मन में ? सहसा स्मरण हो आया—बालक तो नेमीश्वर जैसा है और नाम रख दिया गया—नेमी, और नेमी से हो गया नेमीचन्द ।

नेमी चले देवदर्शन को—

परम्परागत रूप से जब बालक घर से बाहर ले जाते हैं तो सबसे पहले देवमन्दिर ही ले जाते हैं । बालक नेमी को भी जिनेन्द्र देव का दर्शन कराया गया । टेक दिया माथा बालक नेमी का माता ने पकड़कर । जब मन्दिर से वापस जाने लगे तो रो दिया बालक मानों कह रहा हो—हे भगवन् मैं आपकी शरण में ही रहना चाहता हूँ ।

माता का वियोग—

अब नेमी हो गए ६ माह के । किलकारी भरने लगे हैं पालना भी हाथ-पांव के चंचल करतबों से परेशान है और नेमी भी कहते हैं मेरा मुझे स्वीकार नहीं बार-बार स्वतः उछल पड़ते हैं । माता दूध पिलाकर छोड़ती है तो आंगन में घुटनों के बल चल-चलकर घर के सभी सदस्यों का मनोरंजन करते रहते हैं । माता नेमी की बाल सुलभ क्रीडाओं को देखकर प्रमुदित हैं सोचती हैं धन्य हो गया मेरा जीवन । दुःख की घड़ी आते देर नहीं लगी और चल बसी माता इस असार संसार से ६ माह के नेमी को छोड़कर बालक भी क्या सोचता, क्या करता—

चलती नही इन्सान की हालात के आगे ।
हाथों की लकीरों में छुपी बात के आगे ।।

मा के वियोग के बाद पिता एवं फुआ दुर्गा देवी ने पालन पोषण किया ।

आ० शान्तिसागर जी की शरण में---

आज नगर के लोग कहां जा रहे हैं ? क्या फिरोजाबाद ? क्या कहा---आचार्य शान्ति सागर आए हैं, मुनि हैं ? मैं भी जाऊँगा दर्शन करने, देखूंगा मुनि कैसे होते हैं ? तरह-तरह की जिज्ञासायें मन में लिए अकेला चल पड़ा नेमी फिरोजाबाद की ओर । पहुँचा फिरोजाबाद, देखा मुनिवर को, नंगे हैं । मैं भी बनूंगा ऐसा, न वस्त्रों की चिन्ता, न घर की । स्वत: झुक गया शीश गुरु चरणों में यह क्या ! जेब में भरा हुआ मूंगफली, चना, गुड़ आदि सभी स्वत: समर्पित हो गया गुरु चरणों में मानों नीचे गिरे पदार्थ कह उठे हे प्रभो ! यह सब नश्वर हैं, शाश्वत है आपका यह स्वरूप, उपादेय है मेरे लिये आपके चरणों का सानिध्य । बालक का भोलापन निहारकर आचार्य श्री 'चिरंजीवी भव धर्मवृद्धिरस्तु' कहे बिना नही रह सके । धन्य हो गया बालक--पाकर गुरुवर का आशीर्वाद ।

यज्ञोपवीत संस्कार

आचार्य श्री शान्ति सागर जी महाराज की शान्त मुद्रा के दर्शन से परिणामों में शान्ति प्रकट हो गई है ऐसे बालक नेमी ने सोचा कि अब सभी दर्शनार्थ भक्त महाराज श्री से व्रत ले रहे है क्यो न मै भी यज्ञोपवीत ले लूं । दृढ़ निश्चयी बालक बोल उठा---महाराज हमें भी यज्ञोपवीत दे दीजिये । साश्चर्य गुरुवर भी बालक की भव्यता को पहचान गए, फिर भी परीक्षा आवश्यक समझी अत: क्रमश: संघस्थ सात साधुओं के पास भेजा सबने बालक को निरुत्साहित ही किया । अन्त में दृढ़ संकल्पी बालक भी आचार्य श्री से तुनक मिजाजी में बोला---

गुरुवर ! जो यज्ञोपवीत नही लेना चाहते हैं, उन्हें तो आप जबरन देते है मै सहर्ष लेना चाहता हूं तो मुझ धकेलते हैं इसका क्या कारण है ?

गुरुवर प्रसन्न हो उठे । बालक का संकल्प देखकर बोले बेटा ! यह मात्र धागा नही रत्नत्रय का प्रतीक है, इसके बिना श्रावक देवपूजा,-पुरुषार्थ का अधिकारी नहीं होता--कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र की उपासना कभी मत करना ।

आचार्य श्री से यज्ञोपवीत संस्कारित होकर आशीर्वाद पाया और मन में गांठ-बांध ली गुरू आदेशित वचनों के पालन की ।

मंत्र णमो णमोकार--

बचपन से ही बालक नेमी पर अपने पिता एवं फुआ के वात्सल्य का अनुपम प्रभाव पड़ा । बालक नेमी किसी से न झगड़ता, जो भी कार्य करे बिना णमोकार मंत्र पढ़े

नहीं करता । अटूट श्रद्धा थी णमोकार मंत्र में नेमी की । यह श्रद्धा आज भी जारी है ।

चलो चलें पाठशाला —

हरेक पिता चाहते है कि मेरा बच्चा पढ़ लिखकर योग्य व्यक्ति बने, यही भावना बालक नेमी के पिता में भी थी, अतः उन्होंने गांव की पाठशाला में नेमीचन्द का प्रवेश करा दिया । बालक पूर्ण जिज्ञासा के साथ अध्ययन करने लगा और प्रारम्भिक शिक्षा यहीं से पूर्ण की ।

शरीर माद्यं खलु धर्मसाधनम्—

किसी भी व्यक्ति के लिये आवश्यक है कि वह स्वस्थ विचार रखता हो तथा शरीर से भी स्वस्थ हो । बालक नेमीचन्द भी साथी बालकों के साथ विभिन्न खेल खेलते । तैराकी में विशेष रुचि रखते । गिल्ली डंडा, लम्बी कूद में आपको विशेष योग्यता हासिल थी अतः खिलाड़ियों में भी शीर्षस्थ रहते । यहां यह कहावत चारितार्थ हो सकती है 'कि जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा' जो सागर तैर सकता है वह चाहे तो भवसागर भी पार कर सकता है । जो बचपन से खिलाड़ियों में शीर्ष पर था आज साधुओं के शीर्ष पर है आचार्य के रूप में ।

मोरेना विद्यालय—

प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त कर लेने पर नेमीचन्द को जैन विद्यालय मोरेना में प्रवेश कराया गया । अध्ययन में विशेष रुचि न होते हुए भी आपने शास्त्री परीक्षा अच्छे अंकों से उत्तीर्ण की । उनकी इस सफलता का श्रेय था उस भक्ति को जो उनकी श्री णमोकार मंत्र के प्रति थी । उत्तर लिखने से पूर्व कापी के शीर्ष पर लिखा जाता—

णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आइरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्वसाहूणं ।।

कर्म क्षेत्र में प्रवेश विद्यादानी के रूप में—

शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद अपनी योग्यता के बल पर पं० नेमीचन्द शास्त्री के नाम से जाने जाने वाले पं० जी ने कर्म क्षेत्र में प्रवेश करने का निश्चय किया और प्रधानाध्यापक के रूप में विद्यादान करने लगे । अपनी योग्यता के बल पर उक्त पद का पूर्ण निर्वाह करते हुए वे सत्य के प्रति एक निष्ठ एवं अनुशासन प्रिय बने रहे ।

स्वाध्यायी पंडित जी—

पंडित नेमीचन्द जी ने अपने जीवन को सुन्दर बनाने के लिये स्वाध्याय करना

प्रारम्भ कर दिया ताकि वे जैनत्व के स्वरूप को भली भांति समझ सकें। स्वाध्याय के बल पर ही आपने बुद्धि का परिष्कार कर विशिष्ट तर्क शक्ति पा ली थी।

पंडितों का साहचर्य

निरन्तर विकास के पथ पर अग्रसर पं० जी सत्संगति में विश्वास रखते हैं उनके शिष्य भी विद्या-ज्ञान सम्पन्न थे। उनकी विद्वत् मण्डली में प्रमुख थे—श्री अयोध्या प्रसाद जी, श्री ज्ञानचन्द जी, श्री लाला पदमचन्द जी आदि।

तर्क शक्ति से विजयी

पं०नेमीचन्द जी ने अपने ज्ञान एवं चिन्तन के बल पर अद्भुत तर्क शक्ति हासिल करली थी। 'विमल वैभव' में एक ऐसी ही घटना का वर्णन आया है—एक बार पं० जी की आर्य समाजियों से शास्त्रार्थ जैसी स्थिति बन गई मूर्ति पूजा को लेकर पं० जी के अकाट्यतर्क ने मूर्ति पूजा की बात सिद्ध करके दिखादी। आर्यसमाजी पंडितों ने अपनी विभिन्न शंकायें रखीं और समाधान चाहा।

ज्ञान की पराकाष्ठा

आर्य समाजियों के प्रश्न निम्न प्रकार थे

१—ऐसा भोजन चाहिए जो किसी खत का बोया नहीं हो, किसी अन्न का भी नहीं हो और जिस अग्नि में वह पकाया गया हो वह अग्नि न कोयले की हो, न लकड़ी की, न ही गैस—स्टोव आदि किसी प्रकार की हो और पेट भी भर जाय ?

२—पानी ऐसा चाहिए जो न कुए का हो, न नल का, न बावड़ी, न सागर, न तालाब या कुण्ड का ही हो और प्यास भी बुझ जाए ?

३—जिस वस्तु से यह भोजन परोसा जाए वह वस्तु भी चम्मच आदि न हो ?

४—भोजन का ग्राहक न देव हो, न नारकी हो, न तिर्यञ्च हो और न ही मनुष्य ?

संचित ज्ञान प्रस्फुटित हो उठा, समाधान के स्वर स्वतः निसृत होने लगे पं० नेमीचन्द जी के—

ज्ञानरूपी भोजन अपनी आत्मा से आत्मा में ही उत्पन्न कर समता रूपी जल का सिंचन कर अनुभव रूपी चम्मच से आस्वादन करता हुआ योगी निरन्तर ऐसे भोजन का पान करता हुआ कभी भी अघाता नहीं है।

उत्तर से संतुष्ट होकर वे विद्वान भी पं०जी के ज्ञान का लोहा माने बिना नहीं रहे ।

प्रतिष्ठाचार्य के रूप में पं० जी

सम्यक् ज्ञान का प्रचार प्रसार करने जैन संस्कृति की अक्षुण्ण परम्परा को बनाए रखने के उद्देश्य से पं जी ने धार्मिक विधि विधानों को शास्त्रोक्त रीति से कराना प्रारम्भ कर दिया और अल्प समय में ही इस क्षेत्र में प्रतिष्ठा प्राप्त करली ।

जैन धर्म की रक्षा में तत्पर

जैन धर्म एवं धर्मायतनों की रक्षा के लिये पं० जी सदैव तत्पर रहते थे । एक बार उत्तर प्रदेश के केम्हई ग्राम मे एक जिनमन्दिर के निर्माण पर व्यवधान डाल रहे अन्यमतियों को मंत्र शक्ति के बल से पराजित कर जैनमंत्रों की शक्ति एवं जिनभक्ति का साक्षात् उदाहरण प्रस्तुत किया ।

सच्ची श्रद्धा से राख भी दवा बन गई

सर्वगुण सम्पन्न पं० जी अपने क्षेत्र में सेवाभाव से वैद्य का कार्य भी करते थे । आसपास के ग्रामीण अपना रोग बताते, वैद्य जी जो भी दवा देते ले जाते और सेवन करते ही स्वस्थ हो जाते । एक बार भोजन बनाते समय एक वृद्धा बुखार की दवा लेने आई मां के प्रति आदर एवं सेवा भाव जागृत हो उठा और कुछ नहीं सूझा तो णमोकार मंत्र पढ़कर राख की दो पुड़िया बांध दी । दृढ़ श्रद्धा वाली वृद्धा उसके सेवन करते ही स्वस्थ हो गई । धन्य हैं वैद्य जी और धन्य है उनकी मंत्रभक्ति ।

वस्त्र व्यवसायी के रूप में

विलक्षण व्यक्तित्व के धनी पं० जी अब वस्त्र व्यवसाय करने लगे थे । सुगठित शरीर तो था ही अतः साइकिल पर कपड़ा लादकर गांव-गांव कपड़ा बेचने जाने लगे । आकर्षक व्यक्तित्व एवं मृदुभाषी होने के कारण इस क्षेत्र में भी सफलता मिलने लगी ।

संयमी बिना ब्रेक की साईकिल पर

विपरीत धारा मे नाव चलाने वाले कुशल नाविक की तरह यद्यपि पं० जी का जीवन संयमी था लेकिन फक्कड़ इतने थे कि बिना ब्रेक की साइकिल पर यात्रा करते हुए महीनों गुजार दिए । कौन जानता था कि आज जो बिना ब्रेक (असंयम) के गाड़ी चला रहा है भविष्य में पग-पग पर संयम के बन्धन को स्वीकार कर देश-और समाज के बीच एक आदर्श प्रस्तुत करेगा ।

सम्मेद शिखर जी की यात्रा पर

'एक बार वन्दे जो कोई ताहि नरक पशु गति न होई' रूप अनन्तानन्त जीवों की सिद्धभूमि श्री सम्मेद शिखर जी की वन्दनार्थ पं जी अपनी बिना ब्रेक की साइ-किल पर ही दृढ़ इच्छा शक्ति के बल पर चल दिए और रास्ते की विभिन्न बाधाओं को झेलते हुए तीर्थ वन्दना कर महान पुण्य संचयकर अपने जीवन को कृतार्थ किया ।

प्रकट भया दाढ़ी वाला

तीर्थ वन्दना से वापिस लौटने पर पं० जी की साइकिल खराब हो गई। कोई दुकान न दिखाई दी तो पं० जी णमोकार मंत्र पढ़ते हुए जंगल में आगे बढ़ने लगे अचानक उन्हें एक दाढ़ी वाला बाबा और साइकिल की दुकान दिखाई दी पं० जी के निवेदन करने पर उसने साइकिल सुधार दी। पं०जी कुछ आगे बढ़े कि ध्यान आया कि पंप तो दुकान पर ही छूट गया है। पं०जी वापिस लौटे तो देखकर आश्चर्य चकित रह गये क्योंकि न अब वहां दुकान थी न ही दाढ़ी वाला बाबा मात्र यथास्थान रखा था—पंप। तीर्थ वन्दना का साक्षात् फल देख लिया था पं० जी ने और श्रद्धा बलवती हो गई थी तीर्थों के प्रति उनकी। जिन तीर्थों की वन्दना के प्रभाव से ऐसे चमत्कार होते हैं उन तीर्थों को मेरा नमस्कार है।

नेमीश्वर के चरणों में नेमीचन्द

पं० नेमीचन्द जी के भाव एक बार श्री दि० जैन सिद्ध क्षेत्र गिरनार जी की वन्दना के हुए। नेमीश्वर भगवान की चरण रज मस्तक पर लगाने के लिये व्याकुल आप संकल्प पूर्वक यात्रा करते हुए गिरनार जी पहुंचे। भावातिरेक के साथ वन्दना की। मन में अवश्य सोचा होगा —काश मैं भी नेमीश्वर बन पाता।

बदल दी राह एक कहावत ने

युवा नेमीचन्द एक बार अपने पिता के पास आकर प्रमादवश बिना झाड़े ही जमीन पर बैठ गये तब अकस्मात् ही पिता बोल पड़े—कुत्ते भी जमीन साफ करके बैठते हैं ? पिता की कही बात मन में घर कर गई अब युवा नेमी को पं० नेमीचंद समझाने लगे—मेरे द्वारा जीवों की हिंसा हो रही है यदि मेरा ऐसा ही हिंसक व्यवहार रहा तो मैं प्रबल पाप का भागीदार बनूंगा मेरे द्वारा अहिंसाणुव्रत का पालन कैसे हो सकेगा ? हे भगवान् वह दिन कब आए जब मैं पूर्ण अहिंसाव्रती बनूं।

श्रमण से श्रमणत्व की ओर

जिसने जिनवाणी का ज्ञान अर्जित किया है, संसार की असार दशा को देखा है, मोक्ष सुख के महत्व को जाना है, ऐसे श्री नेमीचन्द के भाव बाह्य दृष्टि से हटकर अन्त र्दृष्टि की ओर जाने को छटपटाने लगे। कविवर भूधरदास जी की यह भावना उनके

हृदय में बैठने लगी

कब गृह वास सौं उदास होय वन सेऊं
वेऊं निज रूप गति रोकूं मन करी की।

रहिहों अडोल एक आसन अचल अंग
सहिहों परीषह शीत घाम मेघ झरी की।।

सारंग समाज कब धौं खुजै है आनि
ध्यान दल जोर जीतूं सेना मोह अरि की।

एकल विहारी जथाजात लिंगधारी कब
होऊं इच्छाचारी बलिहारी हौं वा घरी की।।

व्रताचरण की ओर

संसार से उदासीन रूप परिणाम हो जाने पर पं० नेमीचन्द जी ने गुरुओं की शरण में जाना ही उचित समझा । निर्मल परिणामों के साथ आप पू० आचार्यकल्प चन्द्र सागर जी महाराज के पास पहुँचे वहां आपने जीवनोपयोगी व्रत ग्रहण किए । अनन्तर पू० वीरसागर जी महाराज के समीप पहुँचकर उनसे २ प्रतिमा एवं आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया । ग्रहण किए व्रतों से आ रही परिणामों की निर्मलता को जानकर आपने सप्तम प्रतिमा के व्रत ग्रहण किए ।

उत्कृष्ट श्रावक की मंजिल पर

ब्रह्मचर्य व्रत पालन करते हुए पं० जी स्वाध्याय, सामायिक, साधुओं की वैया वृत्ति, आदि शुभ कार्यों को करते हुए विभिन्न तीर्थ यात्रायें कर ध्यान साधना करते हुए सुप्रसिद्ध श्री दि० जैन सिद्ध क्षेत्र चूलगिरी—बावनगजा (बड़वानी) पहुँचे और वहां परम पूज्य १०८ आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी महाराज से आषाढ़ शुक्ल ५ सं २००७ को क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की । छूट गया सम्पूर्ण परिग्रह, दिगम्बरत्व में बाधक रह गये मात्र २ वस्त्र चादर और लँगोटी । दीक्षा गुरु ने बावनगजा के भ० आदिनाथ का स्मरण कर नाम दिया १०५ क्षु० श्री वृषभसागर जी महाराज । पं० जी से क्षुल्लक जी बने । आपको लोग 'इच्छामि' कहकर आपके समान बनने की चाह करने लगे ।

वृषभ बने सुधर्म

विहार कर रहे हैं क्षुल्लक वृषभसगार जी चल रही है अविरल साधना पूर्ण अप रिग्रह की ओर जाने की धर्म की बात सोचते-सोचते आ ही गई धर्मपुरी आचार्य श्री के समक्ष नतमस्तक खड़े हो कह उठे क्षुल्लक जी—प्रभो ! अब इस चादर का भार असह्य हो गया है कृपया मुझे ऐलक दीक्षा दे दीजिए । मन से पूर्ण संकल्पी जानकर चारित्र धर्म की रक्षा के लिये आचार्य श्री ने सम्वत् २००७ की माघ सुदी १२ को धर्मपुरी में ही ऐलक दीक्षा प्रदान की और अब क्षुल्लक वृषभसागर जी हो गए श्री १०५ ऐलक सुधर्मसागर जी । इस प्रकार धर्मपुरी में जन्म हुआ सुधर्मसागर जी का ।

पूर्ण श्रमणत्व की प्राप्ति

ज्ञान ध्यान तप और मंत्र साधना में लीन ऐलक सुधर्मसागर जी को बार-बार आचार्य कुन्दकुन्ददेव की वाणी—पडिवज्जइ सामण्णं जदि इच्छदि दुक्ख परिमोक्खं हृदय पटल पर गूंजती हुई सुनाई दे रही है । सोच रहे हैं—

> एकाकी निस्पृहो शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बर :
> कदाहं सम्भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षम : ।

अर्थात् मैं एकाकी, निस्पृह, शान्त पाणि पात्र वाला दिगम्बर और कर्मों को जड़ से उखाड़ने में समर्थ कब हो सकूंगा । उनका यह चिन्तन दिगम्बरत्व की प्राप्ति के लिये बेचैन हो उठता है । आत्मसाधना करते हैं किन्तु लँगोटी भी दृष्टि में है अतः पूर्ण वीत-

रागता नहीं आ पाती । आ गये विहार करते हुए भ० चन्द्रप्रभु के चरण कमलों से पावन श्री दि० जैन सिद्ध क्षेत्र सोनागिर जी में, वन्दना की तीर्थ की और तीर्थंकर भगवान के दिगम्बर स्वरूप का स्मरण किया । स्मरण हो गया मुनिवर नंग और अनंगकुमार का और ठान ली मन में मुनिदीक्षा की । आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी महाराज ने भी आपकी साधना को देखकर तीर्थराज सोनागिर जी में ही फाल्गुन सुदी ६ सं २००६ को मुनिदीक्षा प्रदान की और आपका नाम श्री १०८ विमलसागर जी महाराज रखा । पूर्ण श्रमण बनकर आप धर्मध्यान करते हुए अविकल आत्मोत्थान में रत रहकर मोक्ष से निकटता स्थापित कर रहे हैं पूर्ण श्रमण के रूप में आपको मेरा शत-शत नमोऽस्तु है ।

शुभ चिन्ह

शास्त्र कारों ने महा पुरुषों में विभिन्न शुभ लक्षणों का होना स्वीकार किया है । आचार्य श्री भी शुभ चिन्हों से विभूषित हैं । दाहिने पैर में पद्मचक्र, हृदय में श्रीवत्स शरीर में विभिन्नतिल, कांचनवर्ण आदि उनकी महानता को सिद्ध करते हैं । संघ के प्रति वात्सल्य श्रावकों के प्रति सन्मार्गदृष्टा का भाव और निरीह प्राणियों के प्रति करूणाभाव आपके चिन्हों की सार्थकता प्रकट करता है ।

ज्ञान-ध्यान और तपस्यारत

श्रावक अवस्था में ही जो पाण्डित्य के धनी हैं, ऐसे आचार्य श्री अष्टों णमोकार मंत्र का ध्यान करते हैं । आहार, विहार और नीहार के समय को छोड़ दें तो बाकी समय वे आपको माला जपते ही दिखाई देते हैं । दीक्षा के बाद से अब तक सैकड़ों उपवास कर चुके हैं और विराम का नाम समाधिस्थ होने तक नहीं आयेगा ।

संघ

अपने जैसा निर्मल सभी को बना लेने की भावना रखने वाले आचार्य श्री के लगभग शताधिक शिष्य -प्रशिष्य है । आपके योग्यतम शिष्यों में युवाचार्य श्री पुष्पदन्त सागर जी उपाध्याय श्री भरतसागर जी, आर्यिका स्याद्वादमती माता जी, आ० विजयामती-जी के नाम उल्लेखनीय हैं । वर्तमान में आपके संघ में लगभग ३० पीछी हैं ।

तीर्थ यात्रा—साधु के चरण जहाँ भी पड़ते हैं वह स्थान तीर्थ हो जाता है' ऐसी लोक मान्यता है । अपने विहार के माध्यम से आचार्य श्री ने अपनी पगधूलि से हजारों स्थानों को पवित्र किया । स्वयं भी अनगिनत तीर्थों की वन्दना की और जीर्ण -शीर्ण हो रहे तीर्थों के उद्धार हेतु नर-नारियों को प्रेरित किया, जिसका सुफल तीर्थों की सुरक्षा के रूप में सामने है ।

उपाधियाँ

मुनि श्री १०८ विमलसागर जी महाराज को सन् १९६० सं० २०१७ में टूण्डला में विद्वत्समुदाय ने पू० आ० महावीरकीर्ति जी की सहमति से आचार्य पद प्रदान किया । सन् १९६३ में बाराबंकी में चातुर्मास के बीच चारित्र चक्रवर्ती पद प्रदान किया गया ।

सन् १९७९में सोनागिर जी में श्री १००८ नंगानंग कुमार जी की मूर्तियों की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के समय ज्ञान कल्याणक के दिन ज्ञान दिवाकर श्री [illegible] जी महाराज ने जनभावना देखते हुए 'सन्मार्ग दिवाकर' के पद से अलंकृत करने का प्रस्ताव रखा जिसका समर्थन परम श्रद्धेय सम्यक्ज्ञान प्रसार योजना के पुरोधा क्षुल्लक श्री ज्ञानानन्द जी महाराज ने रखा सभी भक्तों ने इसी नाम से आचार्य श्री की वन्दना की । आपके अन्य गुणों को देखकर आप वात्सल्यमूर्ति, करुणानिधि, स्वपरोपकारी भक्तों द्वारा स्वयमेव कहे जाने लगे ।

जिस प्रकार समुद्र के संपूर्ण जल को अंजुलि में नहीं बांधा जा सकता उसी-प्रकार गुरुवर आ० विमलसागर जी के गुणों का वर्णन लेखनी से नहीं लिखा जा सकता हाँ इतना अवश्य है कि उन जैसी विभूतियों से यह धरा सदा पावन रही है और भविष्य में रहेगी । इस लेख में अज्ञानतावश हुई त्रुटियाँ मेरी हैं और अच्छाईयाँ आपकी अस्तु गुणानुरागी बनकर आत्म कल्याण करें । अन्त में मेरी शुभ कामना जीवन में चरितार्थ हो इसी कामना के साथ—

हे श्रमण ! तुम्हारी वाणी के अमृत रस का हम पान करें ।
विष दूर विषमता का होवे समरस जीवन निर्माण करें ॥
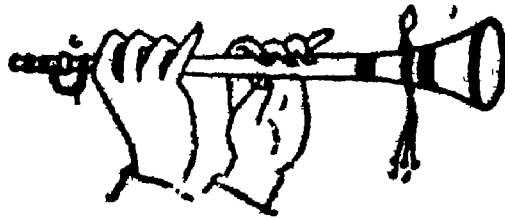
संस्मरण एवं प्रेरक-प्रसंग

शुजालपुर

मुनि श्री विमल सागर का मंगल पदार्पण शुजालपुर में हुआ पर वहां अहिंसा - व्रत के धारी करुणा दीप को जब यह ज्ञात हुआ कि इस शहर में भैंसों की बलि दी जाती है तो चीत्कार कर उठा उनका करुणामयी मन । श्रमण संस्कृति के उस सजग प्रहरी ने दया अहिंसा का सन्देश दे दृढ़ निश्चय से अन्न-जल का त्याग कर दिया । उन तीर्थंकर नेमिनाथ की तरह जीव दया का करुणामयी पाठ पढ़ाया । सम्पूर्ण जैन अजैन भाई अहिंसा प्रचार का व्रत ले अहिंसा प्रचार करने लगे सम्पूर्ण नगर में जियो और जीने दो का नारा गुन्जायमान हो गया ।

यह था मुनिश्री का प्रथम चातुर्मास और उनकी अहिंसामयी देशना ।

गुरु-शिष्य मिलन

सन् उन्नीस सौ चौसठ बाल्य काल से गुरु भक्ति की अटूट साधना के धनी आचार्य श्री के लिये १९६४ का वर्ष एक गौरवशाली वर्ष था । भगवान आदिनाथ की सर्वोत्तम ऊंची मूर्ति को अपने अंचल में समेटे मालवा प्रदेश की भूमि धन्यात्मा हो गयी होगी जब उसके आंगन में इन गुरु शिष्य का मंगल मिलन हुआ होगा उस समय का वर्णन करना इस जड़ लेखनी के सामर्थ्य के बाहर है । जब आचार्य विमल सागर ने तपोमूर्ति गुरुवर आचार्यरत्न महावीर कीर्ति महाराज के चरणों की रज को मस्तक पर लगा अपने को धन्यात्मा माना । मन मुग्ध हो वे अपने तपोमूर्ति गुरु की सौम्य छवि को अपलक निहार रहे थे मानों गुरु दर्शन से तृषित वर्षों प्यासी आत्मा की प्यास आज ही पूर्ण करना चाह रहे हों ।

अजमेर

हिन्दू मुसलिम और जैन तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध संगम स्थल नगरी में आचार्य श्री के विशाल संघ की भव्य व्यवस्था थी । इस शहर में आचार्य श्री का सानिध्य पा उनके जैसा बनने का भाव ले बालक छोटेलाल जिसकी वय मात्र उन्नीस वर्ष की थी आगे आया और क्षुल्लक दीक्षा लेने को कहने लगा । ज्ञान के भण्डार आचार्य श्री ने बालक के दृढ़ निश्चय को देख भव्य समारोह में क्षुल्लक दीक्षा दी उस शान्ति पिपासु बालक को नाम दिया शान्ति सागर ।

बहुरे स्वांग में देखो

भारत की इस पुण्य भूमि पर दोनों ही प्रकार के मानव स्वरूप मिलते हैं । कहां वह नव दीक्षित अल्प वय क्षु० शान्तिसागर जिनकी दीक्षा को १९ दिन ही हुवे थे और कहां वर्ष लोलुपी नीच वृत्ति के मनुष्य । वह गांव अजमेर के समीप नागेलाव ग्राम के नाम से जाना जाता है । आचार्य श्री के द्वारा दीक्षित क्षु० शान्तिसागर प्रातः

शौच के लिये गये थे कि नीच वृत्ति एवं लोलुपी मानवों के एक समूह ने उन्हें घेर लिया और उनके पास से कुछ न मिलने पर बौखला कर इन्हें एक गहरे कुयें में डाल दिया । लेकिन वे क्षु० जी तनिक भी न घबराये उनके पैरों में नीचे पानी कम होने पर मछलियां उन्हें खा रही थी और नागराज अपना विशाल फन फैलाये था । वे लीन थे आत्म ध्यान में पंच परमेष्ठी के स्वरूप में । ७ घण्टे व्यतीत हो चुके थे । नव दीक्षितक्षु० शान्तिसागर को संघ में ना पाकर संघ में,जैन समाज में कोलाहल मच गया ।

समाज तुरन्त उन ज्ञान मनीषी आचार्य श्री के सम्मुख आया वे बड़े शान्त गम्भीर थे उन्होंनें कहा घबराओ मत क्षु० जी जीवित हैं उन्हें गहरे स्थान में खोजो किन्हीं ने उन्हें गहरे स्थान में डाल दिया है ।

चारों ओर खोज शुरू हुई ग्रामवासियों ने कुयें में क्षुल्लक जी को जीवित पा उनका उद्धार किया और आचार्य श्री के प्रति कोटिशः कृतज्ञता व्यक्त की । वर्तमान में यह क्षुल्लक ज्ञानमूर्ति उपाध्याय भरतसागर के नाम से प्रसिद्ध हैं और आचार्य विमल-सागर जी महाराज के संघ के एक सुदृढ़ कीर्ति स्तम्भ है ।

चांदनपुर गांव

चैत सुदी १३ सन् १९६९ उस तीर्थंकर महावीर के जन्म कल्याण का पावन दिवस था । चांदनपुर की उस अतिशय पुण्य भूमि की गौरवगाथा म गौरव म झिल-मिलाता एक गौरव पृष्ठ जुड़ा जब चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज के विशाल संघ का तपोमूर्ति आचार्यरत्न श्री धर्मसागरजी महाराज के विशाल संघ के साथ मंगल मिलन हुआ । ७७ त्यागियों श्रमण संस्कृति के प्रसारको के इस मंगल मिलन से यह पावन माटी निखर उठी । इस विशाल संघ के मुनि वृन्द और त्यागियो का आचरण और तपस्या देख श्रावक मन झूम उठे । दोनो संघो में व्यवहार चर्या निस्पृही आचरण सब में एक उत्कृष्ट सौन्दर्य बोध के दर्शन होते थे ।

जैन संस्कृति की दुर्दशा

सन् १९७८ को आचार्य श्री ने अपने मंगल पदार्पण से ग्वालियर नगरी को पवित्र किया । आचार्य श्री संघ सहित ग्वालियर नगर के मध्य स्थित जैन संस्कृति का वृहद् खजाना दुर्ग (गोपाचल)के दर्शन के लिये पधारे ।

हाय! हाय! जैन संस्कृति की इतनी दुर्दशा देख उस निर्मोही निस्पृही सन्त के मुख से यहां की दुर्दशा देख हाय निकल ही गयी । किस प्रकार की अमूल्य हमारी संस्कृति है और उसकी इतनी दुर्दशा है । स्मरण रहे कि यहां भगवान पार्श्वनाथ की ४२ फीट ऊंची पद्मासन प्रतिमा है जो अन्यत्र दुर्लभ है । आचार्य श्री ने समाज को आगे आकर यहां के विकास व जीर्णोद्धार करने पर बल दिया ।

जैन संस्कृति के श्री वर्द्धक

आचार्य श्री जैन संस्कृति की दुर्दशा पर दुःख व्यक्त करने वाले ही नहीं बल्कि जैन संस्कृति के श्रीवर्द्धक भी हैं । सन् १९७८ में आपने बुन्देल खण्ड का प्रवेशद्वार

तपोभूमि पावन सिद्धक्षेत्र सोनागिर जी पर चातुर्मास किया तो यह देखा कि यहां युवा अवस्था में राज त्याग कर निर्वाण प्राप्त करने वाले मुनिराज नंगकुमार और अनंग कुमार के प्रतीक रूप चरण तो हैं परन्तु उनके स्वरूप का दर्शन कराने वाली मूर्तियां नहीं हैं। आपकी प्रेरणा मात्र से यह स्थान आज नंग-अनंग कुमार, मुनिराजों की पावन मूर्ति से सुशोभित है।

सागर से किस लिये आये ?

सोनागिर सिद्धक्षेत्र में आचार्य श्री के केशलोंचों का भव्य समारोह विशाल एकत्रित जन समूह का उमड़ता सैलाब इस पावन अवसर पर क्षु० सन्मति सागर जी एवं क्षु० गुणसागर जी का भी पदार्पण हुआ जैसे ही क्षु० सन्मति सागर जी ने आचार्य श्री के दर्शन किये आपने मानों उनकी अन्तर हृदय की बात पढ़ ली हो।

सागर से किसलिये आये हो ?

फिर स्वयं क्षु० जी के उत्तर देने से पहले ही बोल उठे—

इसीलिये आये हो कि स्याद्वाद ज्ञान जन-जन में कैसे फैलाया जाय यही आपकी समस्या है तो यह आपकी भावना अवश्य पूरी होगी।

गद्‌गद् हो उठे क्षुल्लक जी ज्ञान प्रसार का दृढ़ संकल्प ली हुई उनकी भावना को आचार्य श्री का आशीर्वाद मिल गया उन्हें लगा अब जैन दर्शन का प्रसार स्याद्वाद के माध्यम से अवश्य होगा। इसी पावन भूमि पर क्षु० सन्मति सागर जी ने आचार्य श्री से आशीर्वाद पाकर स्याद्वाद संस्कृत महाविद्यालय की स्थापना की।

सन्मार्ग दिवाकर

दिसम्बर १९७९ में सोनागिर की पावन तपोभूमि में पंचकल्याणक महोत्सव का सुन्दर भव्य आयोजन हुआ इस अवसर पर ज्ञानकल्याणक दिवस पर्व पर त्यागियों व मुनियों के समूह द्वारा आपको सन्मार्ग दिवाकर के पद पर सुशोभित किया। भव्य सभा में लाखों श्रावकों द्वारा आपकी सन्मार्ग दिवाकर कह वन्दना की गयी। सन्मार्ग दिवाकर पद का प्रस्ताव उपाध्याय श्री भरतसागर जी ने और समर्थन क्षु० ज्ञानानन्द जी ने किया।

बिना कहे जान गये

गौरवशाली भूमि मालथौन में आचार्य श्री ससंघ विराजमान हो धर्मामृत बरसा रहे थे। अनायास आचार्य श्री के दर्शन के लिये दो ऐलक, ऐलक दर्शन सागर जी, ऐलक शील सागरजी पधारे।

क्यों, यह लंगोटी क्यों पहन रखी है ? तुम हमारे पास मुनि बनने आये हो।

अवाक् से रह गये दोनों ही ऐलक, विस्मय से उनके कंठ रुद्ध हो गये, वे कहने लगे आचार्य श्री निमित्त ज्ञानी हैं हमने ऐसा सुन रखा था आज साक्षात् अन्तर्यामी की तरह आपका ज्ञान देखकर तो अपने मनोभावों को जान लिया। ज्योतिष मनीषियों की भांति आपने भविष्य की घोषणा कर दी।

बाद में आचार्य श्री ने दोनों को अतिशय क्षेत्र बावनगजा में मुनि दीक्षा दी और युगल ऐलक को मुनि पुष्पदन्त सागर व मुनि भूतबली सागर नाम दिया ।

बड़वानी

यह वही बड़वानी है जहाँ आचार्य श्री ने अपने गुरुवर आचार्य महावीर कीर्ति की वंदना की थी । इस पावन धरा पर आचार्य श्री के प्रथम शिष्य आचार्य पार्श्व सागर ने आपकी भावभक्ति से वंदना की । गुरु शिष्यों के संघों का मिलान कराने का गौरव इस पावन भूमि को पुनः मिला ।

दोनों संघों के श्रमण परम वीतरागी होकर भी सहज भाविक अनुरागी थे ।

ऐलाचार्य से चर्चा

प्रशान्त वेला श्रवणबेलगोला की पावन रमणीक भूमि पर महामस्तकाभिषेक का विशाल और महान भव्य आयोजन युगपुरुष ऐलाचार्य विद्यानन्द जी महाराज व कर्मयोगी स्वस्ति भट्टारक चारू कीर्ति जी के कुशल दिशा निर्देशन में अपनी गौरवगाथा स्वर्णाक्षरों में अंकित करा एक ऐतिहासिक प्रसंग का रूप ले चुका था ।

श्रमण संस्कृति के शुभ दर्पण दिगम्बरता एवं वीतरागता के साकार मूर्तिरूप सौम्यता सहजता की प्रतिमा ऐलाचार्य विद्यानन्द एवं स्नेह-विवेक से आप्लावित परम ज्योतिर्मय तपः पूत शरीर निर्मलता के आगार परमतत्व ज्ञानी सन्मार्ग दिवाकर वात्सल्य मूर्तिमान आचार्य विमलसागर के मंगल मिलन पर दिशायें भी भावों लेरिक हो प्रफुल्लित हो उठी । चर्चा के दौरान ऐलाचार्य विद्यानन्द जी महाराज के मुख से भावपूर्ण शब्दों में निकला कि यदि वात्सल्य शिरोमणि आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज यहा चातुर्मास करें तो मैं भी अपना चातुर्मास यहीं करूंगा ।

बस स्नेह से आप्लावित आचार्य श्री ने उन श्रमण संस्कृति के जागरुक प्रहरी को अपनी स्वीकृति दे डाली और सारे वातावरण में स्नेहाश्रित भाव की लहर जनमानस के हृदयपटल पर अंकित हो गयी अपनी अविस्मरणीय अमिट छाप छोड़ने के लिये ।

श्वेताम्बर स्थानकवासी

आचार्य श्री के पास भक्तों के उमड़ते सैलाब में पंथवाद और जाति भेद का कही अता-पता नहीं रहता है । अशान्त मानव मन आचार्य श्री की सौम्य मूर्ति से प्रभावित हो उनका होकर रह जाता है । भारत की महानगरी बम्बई के निवासी भाई कान्तिलाल जैन (श्वेताम्बर स्थानकवासी) ने आचार्य श्री का तपमूर्ति स्वरूप लखकर आचार्य श्री से दिगम्बर मूर्तियों के पचकल्याणक हेतु विनम्र प्रार्थना की ।

जैन संस्कृति के श्री वर्द्धन के प्रतीक आचार्य श्री ने उनकी निर्बाध भक्ति देख अपनी स्वीकृति देकर वात्सल्य भाव का परिचय दिया । इस सम्पूर्ण भव्य आयोजन की विशेषता यह रही कि श्रमण संस्कृति के विस्तारक के सान्निध्य में रह वह महान श्रावक भक्ति विभोर हो झूम उठा और स्वयं ने पंचकल्याण में इन्द्र आदि की भूमिका को साकार कर दिगम्बर श्वेताम्बर के समन्वयीकरण को एक नया आयाम दिया ।

आत्मार्थी सिंह

अभी मुनि दीक्षा को कुछ वर्ष ही बीते थे । संघ छोटे से रूप में था साथ में एक ऐलक महाराज थे । ग्रीष्म ऋतु का मौसम था मिर्जापुर गांव में सूर्य प्रातः जल्दी ही अपनी तपन दिखाना आरम्भ कर देता था । अतः मुनि श्री विमलसागर ने सोचा कि जल्दी विहार करना ठीक रहेगा परन्तु वहां के श्रद्धालु जनों ने विनय की कि महाराज यहां एक नरभक्षी सिंह आता है । अतः आप देर से विहार करिये पर वे आत्मार्थी सिंह थे वे ध्यान में लीन हो गये अनायास एक श्वालगण दौड़ता हुआ आया—महाराज आप तो हमारे प्राणों की रक्षा कीजिये । सिंह आपकी तथा मेरी ओर चला आ रहा है । वे णमोकार मंत्र के चिन्तवन में लीन साधना में बैठे थे । तपोबल के प्रभाव से वह राक्षसी वृत्ति युक्त सिंह उनके चरणों में नतमस्तक हो वापस लौट गया । ऐसा प्रतीत होता था कि अदृश्य शक्तियों ने उसे प्रभावित किया जिससे उसकी राक्षसी वृत्ति उस करुणामूर्ति दया सागर के सम्मुख पराजित हो गयी ।

मानों उस कोमल मृदु मयूर पीछी के स्नेहसिक्त दुलार के आगे मस्तक झुकाकर अपने को कृतार्थ मान रहा हो ।

नहीं होंय झूठे मुनि के बैना

ज्योतिष शास्त्र के महा ज्ञाता महामान्त्रिक शिरोमणि के रूप में आप विख्यात हैं । निर्ग्रन्थ वेशधारी निस्पृही साधु के मुख से निकले वचन सत्य ही होते हैं । आगमानुसार ऐसा विधान है । वे निर्विकार भाव से अपनी मनोहारी मुख मुद्रा में सहज ही बातों को कह डालते थे । सन् १९६१ की बात है आचार्य श्री संघ सहित पावन भूमि श्री सम्मेदशिखर जी से राजगृही की ओर विहार कर रहे थे कि उन परम तत्वज्ञानी की दृष्टि अनायास आकाश की ओर चली गयी । सहसा ही उसी समय आकाश में बिजली सी चमकी । अनायास ज्योतिष मनीषी और कुशल भविष्य वक्ता की भांति उनके मुख से निकला इस वर्ष ऐसी घोर बाढ़ आयेगी घोर गांव के गांव बह जायेंगे ।

कहते हैं कि ठीक दो माह बाद पटना आरा दानापुर आदि शहरों, गांवों में ऐसी बाढ़ आयी कि सारा भूभाग जल मग्न हो गया अनेकों लोग बेघर हो गये और लोगों को हवाई जहाज के माध्यम से भोजन पहुंचाया गया ।

पहुंच नहीं पाओगे

शिखर जी में आचार्य श्री ध्यान लग कर भव्य जीवों को बोध रहे थे तभी आपके दर्शनार्थ रायसाहब सेठ चांदमलजी गोहाटी वाले पधारे । आचार्य श्री ने उन्हें नश्वर संसार का उपदेश दे उन्हें त्यागमय जीवन जीने की प्रेरणा देते हुये दो प्रतिमा लेने को कहा परन्तु सेठ जी कहने लगे कि मैं अभी नहीं लेता मैं तो २५०० वें महावीर निर्वाण महोत्सव के आयोजन पर दिल्ली में लूंगा । तो अन्य जनता पर भी त्याग धर्म का प्रभाव पड़ेगा ।

आचार्य श्री ने मन्द-मन्द रहस्यमयी मुस्कान बिखेरते हुये कटु सत्य उगल दिया कि तुम उस को जाने तो वहां पहुंच भी नहीं पाओगे ।

संसार मोही मानव मन को उस निर्मोही साधक की सत्य वाणी से ठेस तो लगी परन्तु संसार मोह छोड़ वह व्रत लेने को तैयार न हुये । फलतः थोड़े ही दिनों बाद २५०० सौ निर्वाण महोत्सव के एक माह पूर्व वे दिवंगत हो गये ।

राजगृही

सन्मति के चरण कमलों से पावन राजगृही की पवित्र भूमि में वात्सल्य शिरोमणी स्नेह वात्सल्य की अपूर्व वर्षा करते हुए धर्मोपदेश दे रहे थे कि अनायास कातर नेत्रों से आंखों में अश्रु नीर लिये हुये एक वृद्धा ने गुरुवर के चरणों में आ प्रणाम कर कहा——

गुरुदेव मेरा इकलौता पुत्र गुम हो गया है मिलेगा या नहीं ? पुत्र वियोग का आघात सहन करना मेरे लिये असहनीय हो गया है मेरे तो अब चारों ओर घोर अंधेरा छा गया है ।

उन वात्सल्य सागर ने तुरन्त ही उस वृद्धा से कहा——

मां जी तुम रविवार को नमक मत खाओ पानी छानकर पियो तथा रात्रि में भोजन कभी नहीं करो सत्य है कि तुम्हारा पुत्र मेरे होते इसी चातुर्मास में वापस आ जावेगा ।

ठीक एक माह पश्चात् मां जी का पुत्र सकुशल घर लौट आया । आज भी वह मां जी उन वात्सल्य मूर्ति के श्री चरणों में अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करती है ।

इन्दौर

मध्यप्रदेश का उन्नत नगर । स्थान-स्थान पर श्रमण संस्कृति की अलख जगाता हुआ भव्य जीवों को सद्‌मार्ग बताता हुआ तप का साधक महा तपस्वी दृढ़ संकल्पी मुनि विमलसागर का नगरागमन होता है । हर्षोल्लास में जनमानस झूम उठता है । कुछ ही दिवस पश्चात् आहार शुद्धि पर मुनि श्री नियम लेते हैं । प्रथम दिवस अनेक अनेक स्थानों पर भ्रमण करते हैं परन्तु विधि नहीं मिलती दो दिवस – तीन दिवस चार – – –दिवस – – समाज चिन्तित श्रद्धालु भक्तजन चितातुर विचार मग्न बैठे विचार कर रहे हैं पड़गाहन के लिये अनेकों विधियां बनाई जा रही हैं परन्तु मुनि श्री शान्ति भाव से निर्विकारी हो वापस लौट रहे हैं । निरन्तर आठ दिवस व्यतीत हो गये श्रावकों को कोई उपाय ही समझ नहीं आ रहा । आह । रे ! मानव कहां तो भोजन का कीड़ा बना हुआ है और कहां वह महा मानव जो ८ दिन के उपरान्त भी शान्त जैसे तैसे विधि मिली पर यह क्यों भावावेश में श्रद्धालु भक्तजनों के हाथों से घबराहट में कलश गिर जाने से मुनि श्री का आहार न हो सका । यह सबके लिये दुःखद घटना बन गयी और मुनि श्री धन्य हैं उनका तपोबल जिससे उनका सम्पूर्ण मुख मण्डल देदीप्यमान हो रहा था वे निर्मल हृदयी शान्तचित्त हो मन्दिर जी में वापस लौट आये । नवें दिन पुण्यशाली गुरुभक्त कुंवरलाल कासलीवाल के यहां नियम मिलने पर मुनि श्री समता भाव से रसहीन भोजन ग्रहण कर रहे थे ।

आचार्य पद

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मा नाम्

मन वचन कर्म की एक सूतता महान स्वस्थ व्यक्तित्व का सृजन करती है। मुनिवर विमल सागर व्यक्तित्व में इसी प्रकार की एक सूतता लिये हुये अनेकान्त धर्म की अजस्र धारा बहा रहे हैं अपनी जीवन दृष्टि एवं दर्शन को वे आचरण में ला रहे है। ऐसे ही समय में उनका विहारों की नगरी टूण्डला में मंगल आगमन होता है। सन् १९६१ — — का वर्षा योग — — — — टूण्डला की पावन भूमि आपके चारित्र शिरोमणी, तपोमूर्ति, विज्ञजनीं, बहुमुखी व्यक्तित्व को देखकर प्रफुल्लित हो उठती है। वहा ८. श्रावक जन आपके पास आ विनय भक्ति से आचार्य पद ग्रहण करने की स्वीकृति चाह रहे थे। विनयमूर्ति उनकी विनय को वात्सल्य भाव से स्वीकार नहीं करते, अपने को असमर्थ पा वह विद्वत्समुदाय आपके गुरुवर आचार्य श्री महावीर कीर्ति के पास जाते हैं उनसे आज्ञा पाकर (मगसर वदी २ सं° २०१८) शुभ लग्न में न्यायाचार्य पण्डित माणिकचन्दजी कौन्देय धर्मरत्न पण्डित लालाराम जी शास्त्री विशाल जनमानस के सम्मुख मुनि श्री से आचार्य पद स्वीकार करने की विनय करते हैं। गुरु की आज्ञा व विद्वज्जनो के हृदयाभाव को देख कर आप निर्लिप्त भाव से आचार्य पद को सुशोभित करते हैं।

अकृपण हंसी

आचार्य की अकृपण हंसी सहज ही स्नेहासिक्त भाव से। सहल हो या क्रूर सभी मानवों को चुम्बक सदृश आकर्षित कर लेती है। लेकिन पूर्णत: निष्काम, अनीह, अनिकेत एवं अनुद्विग्न। यों भी नहीं कि हंसी में गंभीरता से किनारा कर ले सो गम्भीर रहते हुये विनोदी हो लेते हैं। अधिकार और कर्तव्य, व्यवहार और निश्चय सब द्वन्दों के बीच निर्द्वन्द बने रहने में उन्हें आनन्दानुभूति होती है।

पल प्रति पल स्निग्ध मुस्कान बिखेरता प्रफुल्लित चेहरा तपोबल से दैदीप्यमान रह बरबस मोह लेता है मानव मन को।

मेरा कोई नहीं

हर समय भीड़ — — न सुबह एकान्त न शाम को एकान्त — — सुबह से शाम तक तन रोगी मन रोगी धन रोगी मानवों का जमघट। चारों ओर इन्हीं से घिरे मूर्तिमान स्वपरोपकारी आचार्य श्री से एक जिज्ञासु मानव मन पूछ बैठा कहने लगा। पूज्यवर आप तो हर समय इन्हीं से घिरे रहते हैं आपका स्वाध्याय मनन चिन्तन किस समय होता होगा। आपके भक्तगण तो आपको कभी एकान्त में नहीं रहने देते।

क्षणभर में ही सहज मुस्कान बिखेरता उनका मुख मण्डल अपने में बांध लेता है। वे कहते हैं कि जिस समय सारा संसार सोता है दिगम्बर साधु आत्मलीन हो अध्यात्म क्रीड़ा में मग्न हो जाते हैं।

आचार्यों ने कहा है

जो सुत्ते व्यवहारे सो जाई जाग दे सकज्जौम्म ।

जो जागदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे ।।

मेरा कोई भक्त नहीं और भई मैं तो अनेकान्ती हूं एकान्त तो मिथ्या है हंस देते हैं ।

वास्तविकता यह है कि क्षितिज के भ्रम की तरह दूर से रह कर किसी का व्यक्तित्व नहीं जाना जा सकता । आपका समीप्य पा मानव आत्म विभोर हो जाता है । आपकी अलौकिक चर्या देख जब रात्रि को ध्यानस्थ योगी रूप में आपके परम ध्यानी स्वरूप को देखता है ।

—अभिमान जैन

शुभकामना और संस्मरण

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई है कि तपोनिधि करुणा की मूर्ति परम पूज्य १०८ आचार्य विमल सागर जी के सम्मान में एक अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित होने जा रहा है जिसका विमोचन जून १९८९ में होने जा रहा है । इस पुनीत अवसर पर मैं आचार्य श्री को विनयांजली अर्पित करते हुए शतायु होने की कामना करता हूँ ।

आचार्य श्री १०८ विमल सागर जी महाराज की मुझ पर महती कृपा रही है सिद्ध क्षेत्र सोनागिर जी पधारने पर उनसे जिस योजना के बारे में निवेदन किया महाराज ने बड़ी प्रसन्नता से उसकी स्वीकृति प्रदान की तथा उनके आशीर्वाद एवं मार्ग दर्शन से वह योजना सफलता पूर्वक सम्पन्न हुई । जैसा कि पिछले चातुर्मास पर नंगानंग कुमारों की विशाल एवं भव्य मूर्तियों का चन्द्र प्रभु स्वामी के मन्दिर के प्रांगण में विराजमान कराकर सुन्दर छत्री में स्थापना तथा उसी पंचकल्याणक प्रतिष्ठा का बृहद आयोजन । इसी प्रकार वर्तमान में चन्द्र प्रभु मन्दिर के आगे विशाल चबूतरों का निर्माण एवं उस पर खड्गासन चौबीसी की स्थापना कार्य जो भी चल रहा है वह रोचक है । सोनागिर सिद्ध क्षेत्र के प्रति आचार्य श्री की विशेष रुचि एवं लगाव है । उनके आशीर्वाद एवं प्रेरणा से क्षेत्र पर अनेक कल्याण कारी योजनाएँ सम्पन्न होंगी ।

यहां एक और घटना का उल्लेख करना आवश्यक समझता हूं जो इस बात का द्योतक है कि आचार्य श्री अजैनों को भी जो दुःख निवारण का मार्ग बताते रहते हैं उसमें दिगम्बर जैन धर्म एवं समाज को कितना लाभ पहुंचता है । घटना उस समय की है जब १०८ आचार्य सुमतिसागर जी के शिष्य १०८ मुनि श्रुतसागर जी की सल्लेखना हो रही थी जिसका प्रचार जैन व अजैनों में बहुत हुआ था उस समय अजैन समाज से ऐसी मांग उठी थी कि यह आत्म घात है तथा इसे रोका जाना चाहिये । शासन पर दबाव पड़ने पर भोपाल से आई० जी० पुलिस ग्वालियर को यह आदेश आया कि जैन समाज से कह कर मुनि को आहार करा देवें अन्यथा उन्हें दतिया के हास्पिटल ले जाकर वहां आहार करा दिया जावे । आई० जी० पुलिस ने इस संबंध में सोनागिर कमेटी को सूचना दी जिस पर कमेटी का एक डेपूटेशन जिसमें मेरे पिताजी श्री केसरीमल जी गंगवाल, फूलचन्द जी जैन [illegible] तथा श्री कोमलचन्द जी [illegible] आदि लोग आई० जी० पुलिस ग्वालियर से उनके कार्यालय में मिले आई० जी० पुलिस ने शासन का आदेश डेपूटेशन को बताया । डेपूटेशन ने उन्हें बताया कि सल्लेखना एक धार्मिक क्रिया है यह आत्मघात

नहीं है । इससे मृत्यु को बिना क्लेश के सहर्ष आलिंगन किया जाता है । दिग-म्बर जैन मुनि नियम के बड़े पक्के होते हैं जिन्हें किसी प्रकार से छिपाया नहीं जा सकता सौभाग्यवश हमारी इस चर्चा के समय वहां पर भी गंगा सेवक शर्मा सी० आई० सुपरिटेन्डेण्ट भी वहां मौजूद थे जो आचार्य श्री के परम भक्त हैं । उन्होंने डेपूटेशन की बात की पुष्टि की तथा आई० जी० पुलिस को दिगम्बर जैन संतों की महानता के संबंध में अपनी स्वयं की बीती घटना जो आचार्य विमल सागर जी से संबंधित थी, बड़े सुन्दर ढंग से बताई जो निम्न प्रकार है ।

बात उस समय की है जब आचार्य श्री का संघ पहली बार ग्वालियर आया था । उन्होंने बताया कि उस समय वह इन्स्पेक्टर पुलिस थे जब ग्वालियर से संघ विदा हुआ तो उनकी ड्यूटी पनिहार तक संघ को पहुंचाने की लगी जब संघ पनिहार पहुंच गया और मेरी वहां से वापिस आने से पहले इच्छा हुई कि पहले महाराज के दर्शन करता चलूं जब महाराज के दर्शन करने पहुंचा तो महाराज ने उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा (त्रिपाठी बैठ जाइयेगा) वह त्रिपाठी के सम्बोधन से ही बहुत चौंके क्योंकि उनको त्रिपाठी के नाम से कोई नहीं जानता था सब लोग शर्मा जी ही कहते थे । वह वहां बैठ गये । महाराज ने कहा कि त्रिपाठी जी आज कल आप परेशान हैं आपकी धर्म पत्नि का कल पेट का आपरेशन होने वाला है किन्तु उनका पेट अच्छा नही है और वह बिना आपरेशन के ठीक हो जावेगी । आप कल आपरेशन न कराकर दुबारा डाक्टर से चैक करा लेना साथ ही उन्होंने दूसरी भविष्यवाणी और की कि आपका द्वितीय पुत्र कुल दीपक होगा । शर्मा जी ने बताया कि उनके लिए यह दोनो बाते अप्रत्यासित थीं । और उन्होने यह सोचकर कि संत की बात को मानना चाहिये ये डा० धारकर जो कि ग्वालियर के सबसे प्रसिद्ध डा थे उनसे निवेदन कर दूसरे दिन के लिये आपरेशन की तारीख दे दी गई दूसरे दिन डा० साहब ने आपरेशन के पहले मरीज को चैक किया तो बोले आपरेशन की आवश्यकता नहीं मैं दवाई लिखे देता हूं उससे ठीक हो जावेगी और हुआ भी ऐसा ही । इस प्रकार शर्मा जी ने बताया कि महाराज जी ने दूसरी बात जो मेरे द्वितीय पुत्र के संबंध में कही थी वह भी बड़ी अटपटी थी क्योंकि द्वितीय पुत्र पढ़ने लिखने में बहुत लापरवाह था तथा वे उससे परेशान थे किन्तु उन्होंने बताया कि महाराज की यह बात भी पूर्ण सिद्ध हुई और उनका वह पुत्र अच्छा सराहनीय कार्य कर रहा है । आचार्य विमल सागर जी की उन्होंने बड़ी प्रशंसा की तथा उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रगट करते हुए अपार भक्ति प्रगट की इस कथन का आई० जी० पुलिस पर गहरा प्रभाव पड़ा, आई० जी० पुलिस ने डेपुटेशन से कहा– कि जैन समाज में धार्मिक क्रिया में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न हो इसका पूरा प्रयत्न करूंगा तथा शासन से निवेदन कर इस आदेश को रद्द कराऊंगा । उनके प्रयत्न से शासन को अपना आदेश वापिस लेना पड़ा । इस घटना से पता चलता है कि आचार्य श्री के द्वारा किस प्रकार से धर्म की रक्षा होती है और जैन अजैन सभी उनसे कृत्–कृत्य होते हैं ।

अन्त में एक बार पुनः आचार्य श्री विमलसागर जी के प्रति अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करते हुए श्री १००८ जिनेन्द्र देव से यही प्रार्थना करता हूं कि आचार्य श्री के द्वारा जन कल्याण का कार्य निर्बाध चलता रहे और जैन समाज को उनका आशीर्वाद तथा मार्ग दर्शन प्राप्त होता रहे।

—माणिक चन्द गंगवाल
ग्वालियर (म. प्र.)

卐
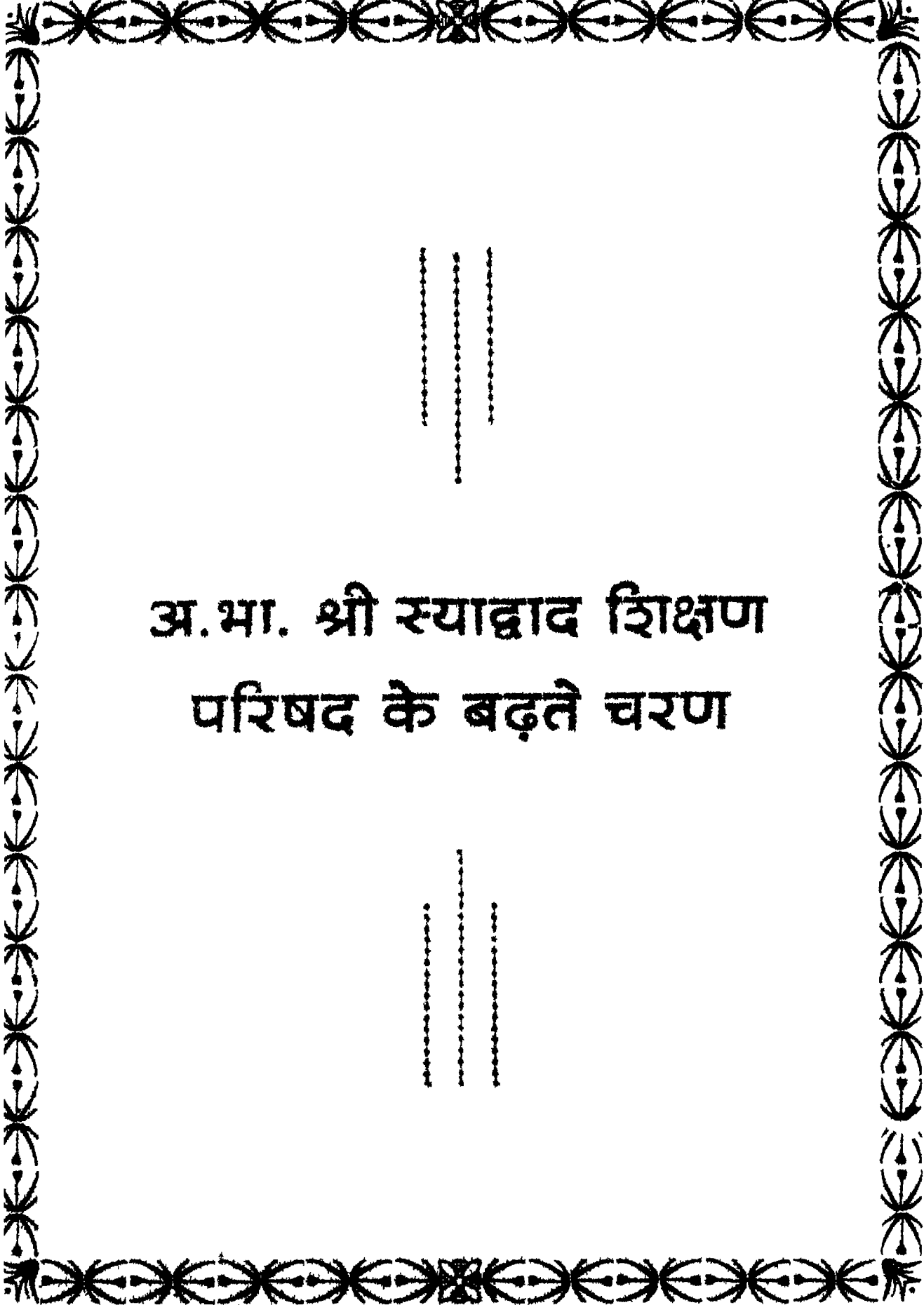
आचार्य श्री और वर्षायोग

परम पूज्य सन्मार्ग दिवाकर चारित्र चक्रवर्ती श्रमणोत्तम निमित्त-ज्ञानभूषण श्री १०८ आचार्य विमलसागर जी महाराज के चातुर्मास निम्न लिखित स्थानों पर सम्पन्न हुए—
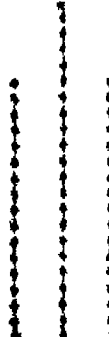
क्र०	स्थान	सन्	वि. संवत्	तत्कालीन दीक्षापद उपाधि
१	बड़वानी जी	१९५०	२००७	क्षुल्लक
२	इन्दौर	१९५१	२००८	ऐलक
३	भोपाल	१९५२	२००९	ऐलक
४	गुनौर	१९५३	२०१०	मुनि अवस्था
५	ईसरी	१९५४	२०११	
६	पावापुरी	१९५५	२०१२	
७	मिर्जापुर	१९५६	२०१३	
८	इन्दौर	१९५७	२०१४	
९	फल्टण	१९५८	२०१५	
१०	पन्ना	१९५९	२०१६	
११	टूण्डला	१९६०	२०१७	आचार्य पद
१२	मेरठ	१९६१	२०१८	
१२	ईसरी	१९६२	२०१९	
१४	बाराबंकी	१९६३	२०२०	चारित्र चक्रवर्ती पद से गुरु-शिष्य साथ में विभूषित

१५ बड़वानी	१९६४	२०२१	
१६ कोल्हापुर	१९६५	२०२२	
१७ सोलापुर	१९६६	२०२३	
१८ ईडर	१९६७	२०२४	
१९ सुजानगढ़	१९६८	२०२५	
२० दिल्ली (पहाड़ी धीरज)	१९६९	२०२६	
२१ श्री सम्मेद शिखर जी	१९७०	२०२७	
२२ श्री राजगृही जी	१९७१	२०२८	
२३ श्री सम्मेद शिखरजी	१९७२	२०२९	
२४ श्री सम्मेद शिखरजी	१९७३	२०३०	निमित्त — ज्ञानभूषण पद
२५ श्री सम्मेद शिखरजी	१९७४	२०३१	युगल आचार्य चतुर्विध गुरु-शिष्य
२६ श्री राजगृहीजी	१९७५	२०३२	
२७ श्री सम्मेद शिखरजी	१९७६	२०३३	
२८ श्री टिकैतनगर	१९७७	२०३४	
२९ श्री सोनागिरजी	१९७८	२०३५	
३० श्री सोनागिरजी	१९७९	२०३६	सन्मार्ग दिवाकर
३१ नीरा	१९८०	२०३७	
३२ श्री गोम्मटेश्वर बाहुबली श्रवणबेलगोला	१९८१	२०३८	(ऐलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द जी के साथ)
३२ बम्बई पोदनपुर बोरीवली	१९८२	२०३९	
३४ औरंगाबाद (सोना मंगल कार्यालय)	१९८३	२०४०	करुणानिधि
३५ गिरनारजी	१९८४	२०४१	आचार्य श्री १०८ निर्मल सागर जी के साथ
३६ लोहारिया	१९८५	२०४२	वात्सल्यमूर्ति, अतिशय योगी
३७ फिरोजाबाद	१९८६	२०४३	
३८ जयपुर	१९८७	२०४४	
३९ सोनागिर	१९८८	२०४५	

अ.भा. श्री स्याद्वाद शिक्षण परिषद के बढ़ते चरण

अखिल भारतीय श्री स्याद्वाद शिक्षण परिषद्, सोनागिर जिला-दतिया (म. प्र.)

परिचय—

सागर नगर में जन्म हुआ परिषद् का जब-तब कुछ भी नहीं था। सिवा एक सक्रिय दिमाग के और एक अदम्य इच्छा के कि "सम्यक्ज्ञान का प्रसार करना ही ऽऽऽ है।" कोई सहयोग दे ऽऽऽ तो ठीक, न दे ऽऽऽ तो ठीक। लोग जुड़े---जुड़ने लगे। जिन्हें अच्छा लगा, जुड़ते चले गये। यह जुड़ने का क्रम आज भी जारी है।

आज तकरीबन बारह बरस की उम्र वाली हो गई है परिषद्। जिस दिन इसका जन्म हुआ था (गुरुवार ता० १ दिसम्बर १९७७ को) तब से आज तक किस-किस को, कब-कब कहां-कहां और कितनी-कितनी परेशानियां और आफतें झेलनी पड़ी—इसका बयान करना मुश्किल है। उनका एक-एक दिन के रोड़ों का लेखा-जोखा तैयार कर पेश किया जाय तो कोई तुक नहीं बैठती। कौन पढ़ेगा और कौन सुनेगा? लोग अशिष्टता और मानेंगे। बुराई पे उनका यहीं पटाक्षेप करते हैं और शिष्टता को प्रणाम। पैदाइश के बाद परिषद् की व उसकी शाखाओं प्रशाखाओं की क्रमश: किन्तु द्रुत वृद्धि हुई है। यूं कहना चाहिये कि मजबूत डालियों व प्रशाखाओं सहित एक विशाल वृक्ष स्थापित हो चुका है। आंधी पानी से अब हिलने वाला नहीं है। जिसकी सघनता शनै-शनै किन्तु निरन्तर बढ़ रही है। छाया तो मिलती ही थी, अब फल भी लगने शुरू हो गये हैं और पकने भी। वर्तमान में परिषद् की स्थिति इस प्रकार है—

१— आज परिषद् की तकरीबन २०० शाखायें भारत भूमि पर व विदेशों में सक्रियता से कार्यरत हैं।

२— सम्यग्ज्ञान के प्रसारार्थ करीबन २०० शिविर अभी तक लगाये जा चुके हैं। जो "श्री स्याद्वाद शिक्षण एवं प्रशिक्षण शिविर" के नाम से प्रसिद्ध है। इनमें जिनागम का, व्याकरण व न्याय का, पूजा—विधान प्रतिष्ठा विधियों का, शारीरिक योगाभ्यास का—उनके अभिलाषियों को यथा योग्य शिक्षण-प्रशिक्षण दिया गया है। शिविर में भाग लेने वालों की उम्र ९ से ९९ वर्ष तक रही है।

३— सिद्धक्षेत्र सोनागिर जी में स्वामी-प्रसी ब० बहिनों को रहने व रत्नत्रय की साधना हेतु "श्री स्याद्वाद ब्रह्मचारिणी आश्रम" नाम से आश्रम है। जो परिषद् द्वारा संचालित है एवं पिछले ९ वर्षों से अभी तक बराबर कार्यरत है। इस समय २० विदुषी ब्रह्मचारिणी बहिनें इसकी सुविधाओं का लाभ ले रही हैं। ये समाज के आमन्त्रण पर पर्यूषण पर्व तथा शिविरों में विभिन्न नगरों में जाकर ज्ञान दान भी करती [illegible] रही हैं। कुमारी ब्र० सुनीता शास्त्री इसकी प्रमुख हैं।

४— सिद्धक्षेत्र सोनागिर जी में कक्षा १ से ८ तक की शिक्षा हेतु एक विद्यालय परिषद् द्वारा चलाया जा रहा है जो म० प्र० शासन से स्थायी मान्यता प्राप्त है। पिछले १० वर्षों से बराबर चल रहा है। प्रवेश सबको खुला है। शिक्षा बिल्कुल मुफ्त और अच्छी दी जाती है। शासकीय पाठ्यक्रम के साथ-साथ जैन धर्म की पुस्तकें भी अनिवार्यतः सब बच्चों को पढ़ाई जाती हैं। विद्यालय इस नाम से है—"श्री स्याद्वाद शिक्षण नंगानंग दिगम्बर जैन संस्कृत प्राथमिक-माध्यमिक विद्यालय, सोनागिर (जिला-दतिया) म० प्र०" वात्सल्य मूर्ति सन्मार्ग दिवाकर श्री १०८ आचार्य विमलसागर जी महाराज एवं चारित्र चक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य सुमतिसागर जी महाराज के शुभाशीर्वाद से श्री १०५ क्षु० सन्मतिसागर जी महाराज (वर्तमान में आचार्यकल्प १०८ श्री स्याद्वाद विद्याभूषण सन्मतिसागर 'ज्ञानानन्द' जी महाराज) द्वारा इस विद्यालय की स्थापना हुई थी।

५— सन्मार्ग दिवाकर श्री १०८ आचार्य विमलसागर जी महाराज एवं चारित्र चक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य सुमतिसागर जी महाराज के शुभ आशीर्वाद से तथा श्री १०५ क्षु० सन्मतिसागर जी महाराज की प्रेरणा से सोनागिर में एक छात्रावास स्थापित है। इसमें कक्षा ४ से ८ तक के जैन छात्रों के रहने की एवं नाश्ता-भोजन आदि की निःशुल्क सुविधा दी जा रही है। छोटे बालकों को पूजन-प्रक्षाल सिखाने व नैतिक-कर्तव्यों की आदत डालने व धार्मिक शिक्षा देने की उत्तम व्यवस्था की गई है। इस समय ३३ छात्र इसमें प्रसन्नता से रह रहे है। परिषद् यह छात्रावास पिछले ६ वर्षों से बराबर चला रही है।

६— परिषद् द्वारा एक परीक्षा बोर्ड संचालित है। जो परीक्षायें आयोजित कर योग्य विद्यार्थियो को नैतिक शिक्षा, विशारद, शास्त्री आदि उपाधियां प्रमाण-पत्र प्रदान करता है। पिछले १० वर्षों से बराबर कार्यरत है। वर्तमान में इसका संचालन कार्यालय सोनागिर में "श्री स्याद्वाद परीक्षा बोर्ड सोनागिर"—इस नाम से है। वर्तमान में श्री पं० वीरेन्द्र कुमार जैन आगरा इसके संचालक हैं।

७— शरीर एवं मन की निरोगता के लिये संस्था द्वारा "श्री स्याद्वाद योग संस्थान" चलाया जा रहा है। इसमें इच्छुकों को योग-विद्या प्रायोगिक रूप से निःशुल्क सिखलाई जाती है। इसका संचालन कार्यालय—सटई मार्ग, जैन धर्मशाला के पास छतरपुर (म० प्र०) में है। संचालक है—श्री फूलचन्द जी योगाचार्य।

८— जिनागम पर शोध की महती जरूरत देखकर परिषद् द्वारा सोनागिर जी में "श्री स्याद्वाद शोध संस्थान" की स्थापना की गई है। स्थापना श्री १०८ आचार्य देशभूषण जी महाराज के सानिध्य में क्षु० श्री सन्मतिसागर जी महाराज ने कराई थी। दमोह म० प्र० के श्री डा० भागचन्द जी 'भागेन्दु' इस संस्थान के डायरेक्टर हैं। इसके माध्यम से अब तक ४ शोधकर्ता अपने अपने शोध प्रबन्ध तैयार कर जैन विषयों पर पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त कर चुके हैं जबकि ६ अन्य रिसर्च स्कालर जैन विषयों पर डाक्टरेट हेतु शोधरत हैं। एक शोध ग्रंथ भी मुद्रण हेतु प्रेस में है।

९– जैन धर्म [illegible] सुरुचि एवं परिशुद्धता सहित सुन्दरता से छपाई हो सके उसके लिये परिषद् द्वारा सोनागिर में एक प्रिंटिंग प्रेस लगाया गया है। इसका उद्घाटन दि० ३०-३-८२ को हुआ था। आज इसमें दो सेट मोनो टाइप कास्टर के, एक सुपर आटोमेटिक सिलेन्डर प्रिंटिंग मशीन, दो अच्छी सेमी आटोमेटिक प्रिंटिंग मशीनों सहित नाना टाइप फाउंटों व ब्लाकों का अच्छा खासा स्टाक है। अच्छा स्टाफ भी है। परिषद् द्वारा प्रकाशित पुस्तकें व ग्रंथ अब इसी में मुद्रित हो रहे हैं। वस्तुतः प्रेस समाज की ही है, और भारत भर में फैली जैन समाज को आमंत्रित करती है, कि जैन धर्म सम्बन्धी आपका छोटा-बड़ा कोई भी छपाई का काम हो—यहां भेजें मार्केट रेट से निश्चित ही कम दाम में और उत्तम कोटि का करके आपको दिया जावेगा। प्रेस में श्री आर० के० जैन साहब आदि का सहयोग सराहनीय रहा है।

१०– परिषद् द्वारा एक साहित्य समिति भी संचालित है जो पिछले १० वर्षों से निरालस्य कार्यरत है। वह जैन वाङ्मय के विभिन्न पहलुओं को भली प्रकार उजागर कर सके ऐसे प्राचीन व नवीन मौलिक ग्रंथों तथा टीकाओं को उद्भट विद्वानों से आमंत्रित करती है। आवश्यकतानुसार विशिष्ट-विशिष्ट विषयों पर उनसे मौलिक रचनायें भी आमंत्रित करती है। प्राप्त सामग्री का संपादन व प्रकाशन करती है। अभी तक छोटी-बड़ी लगभग ३४ पुस्तकें ग्रंथ यह समिति प्रकाशित कर चुकी है। द्वादशांग श्रुत को प्रगटाने वाला एक बृहद् [illegible]र का ग्रंथ प्रकाशन योजना में समाहित है।

११– नित नवीन विचारों समाचारों का आदान प्रदान हो सके, इसके लिये एक मासिक पत्रिका परिषद् द्वारा प्रकाशित [illegible] जाती है। नाम है,—'स्याद्वाद ज्ञानगंगा'। आज इसकी २५०० प्रतियां प्रतिमाह छप रही हैं। श्री सुमतिचन्द जी शास्त्री, मुरैना इसके प्रधान संपादक हैं। इसका संपादन प्रकाशन एवं मुद्रण तीनों सोनागिर से ही होते हैं।

१२– स्याद्वाद नामक एक छह पृष्ठीय अखबार भी यहीं से (सोनागिर से) संपादित एवं मुद्रित हो रहा है। इसे परिषद् की डीमापुर (नागालैण्ड) शाखा पिछले ५ वर्षों से बराबर प्रकाशित करती आ रही है। इसके वर्तमान प्रधान संपादक श्री पं० उत्तमचन्द जी शास्त्री डीमापुर हैं।

१३– धर्म में उच्च शिक्षा हेतु परिषद् ललितपुर (उ० प्र०) में एक महा विद्यालय चला रही है जिसमें सिद्धान्त शास्त्री, आचार्य तथा बी. ए. एम. ए. की उपाधियों हेतु विद्यार्थियों को अध्ययन की विशिष्ट सुविधायें व मार्ग दर्शन दिया जा रहा है। पिछले ५ वर्षों से यह कार्यरत है। इसका नाम श्री स्याद्वाद सिद्धांत संस्कृत महा विद्यालय ललितपुर (उ० प्र०) है।

१४– श्री सिद्धक्षेत्र सोनागिर जी की तलहटी में एक समवसरण व उपचारक [illegible] [illegible] (डॉ० [illegible] शास्त्री द्वारा प्रदत्त) जमीन पर परिषद् द्वारा 'स्याद्वाद उद्यान' [illegible] किया जा रहा है। [illegible] वृक्षों व लताओं से सुरम्य [illegible] के साथ [illegible]

अभी ८ पक्के कमरे बनवाये जा चुके हैं जिनमें उत्कृष्ट त्यागी व्रती विद्वान् [illegible] रहकर अपनी रत्नत्रय साधना कर सकते हैं इसका नाम स्याद्वाद मधु आश्रम है । इस मधु आश्रम का निर्माण परम पूज्य आचार्य कल्प स्याद्वाद विद्याभूषण सन्मतिसागर जी महाराज की प्रेरणा से परिषद् के स्थाई संरक्षक श्रीमान् सेठ बाबूलाल जी के सुपुत्र श्री राजेन्द्र प्रसाद महेन्द्र कुमार जैन [illegible] वालों ने अपने बाबा श्री ब० [illegible]लाल जी मधु की पुण्य स्मृति में कराया है ।

१५– अति पावन सम्मेदशिखर पर्वतराज के निकट ही सड़क के किनारे तेरह बीघा जमीन क्रय कर ली गई है जिसमें परिषद् के निजी विद्यालय भवन हेतु २०×२० फुट साइज के विशाल ७ पक्के कमरे बनकर लगभग तैयार होने को हैं । जबकि इसी साइज के विशाल ७ कमरों का निर्माण कार्य लिन्थ लेविल तक हो चुका है । कुल २१ कमरे इसमें बनेंगे । तथा प्राइमरी, मिडिल व हाई स्कूल की कक्षायें इसमें लगाई जावेंगी । इस विद्यालय भवन का निर्माण श्री आर० के० जैन साहब के विशिष्ट सहयोग से हो रहा है ।

१६– क्रमांक १५ में वर्णित परिषद् की निजी भूमि पर ही 'ब्रह्मचारिणी आश्रम' की दुमंजिली बिल्डिंग बन रही है । अभी तक मंजिल के दो हाल और १२ कमरे बनते जा रहे हैं । दोनों मंजिलों में कुल ४ हाल व २४ कमरें बनेंगे । श्री ब्र० सुनीता शास्त्री की प्रेरणा से इसका निर्माण श्री दिगम्बर जैन समाज, डीमापुर (नागालैण्ड) के सौजन्य से हो रहा है ।

१७– क्रमांक १५ में वर्णित भूमि पर ही चारित्र चक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य सुमतिसागर जी महाराज की विशिष्ट प्रेरणा एवं शुभाशीर्वाद से एक विशाल जिनालय 'त्रिलोक मन्दिर' का निर्माण होना है । मन्दिर के निर्माण स्थान का भूमि पूजन व नींव न्यास चतुर्विध मुनिसंघ के सानिध्य में संस्थापक महोदय की प्रेरणा से दिनांक १० मार्च १९८८ को पद्मश्री श्री धर्मचन्द जी पाटनी, इम्फाल वालों के कर कमलों से सम्पन्न हो चुका है ।

१८– परिषद् की योजनानुसार क्रमांक १५ में वर्णित १३ बीघा जमीन पर विद्यालय, ब्रह्मचारिणी आश्रम, त्रिलोक मन्दिर, छात्रावास, गेस्ट हाउस, वृद्ध आश्रम, ध्यान-केन्द्र, वाचनालय, प्रवचन हाल के लिये सुविधायुक्त भवनों का निर्माण होगा । इस कारण इस पवित्र भूमि का नाम 'स्याद्वाद नगर' रख दिया गया है ।

निर्माण सम्बन्धी इस महत् कार्य के लिये आगरा के श्री नेमीचन्द जैन इन्जीनियर आर्कीटेक्ट का विशिष्ट मार्ग दर्शन प्राप्त हो रहा है ।

१९– उक्त स्याद्वाद नगर में लगी हुई [illegible] मिट्टी वाली अति उपजाऊ [illegible] बीघा जमीन और है । जो परिषद् की ही सम्पत्ति है ।

२०– महाराज श्री की प्रेरणा से तेरापंथी कोठी के समीप [illegible] द्वारा प्रदत्त भूमि पर सम्मेदशिखर जी में ही २१ कमरे और [illegible]

भवन मोराजी सागर में रखने का तय किया है । योजना को गति प्रदान करने हेतु श्री मेघचन्द जी जैन स्टूडेन्ट हैण्डस सागर वालों को संयोजक का संयुक्त भार नियुक्त किया है ।

स्याद्वाद ज्ञान प्रसार योजना का विधिवत् उद्घाटन ११-६-८० को सागर नगर में परिषद् के उपाध्यक्ष श्री सि. जीवनकुमार जी की अध्यक्षता में श्री मोतीलाल जी डोलक छाप बीड़ी वालों के कर कमलों द्वारा हो चुका है । इस अवसर पर ज्ञान दीप श्री डा० ताराचन्द जी ने प्रज्वलित किया । ज्ञान प्रसार योजना को साकार करने हेतु इस वर्ष में १ करोड़ रुपये का फण्ड एकत्रित करने की योजना बनाई गई । जिसमें करीबन ७ लाख रुपये की स्वीकृतियां उद्घाटन के समय प्राप्त हो गई हैं ।

२४— परिषद् ट्रस्ट ने श्री दिग० जैन पंचायत ललितपुर द्वारा प्रदत्त क्षेत्रपाल जी की २।। एकड़ भूमि पर, 'स्याद्वाद नगर' का निर्माण शुरू कर दिया गया है । अभी तक विद्यालय भवन के २०-२० फीट के ६ हाल बन चुके हैं जिसमें वर्तमान में परिषद् शाखा ललितपुर स्याद्वाद बाल संस्कार केन्द्र एवं पूर्व माध्यमिक विद्यालय चला रही है इसमें जिन मन्दिर छात्रावास महाविद्यालय भवन, औषधालय धर्मशाला आदि के निर्माण की भी यथा शीघ्र योजना है ।

२५— परिषद् की चन्देरी (म.प्र.) शाखा एक बाल संस्कार स्कूल अंग्रेजी मीडियम से चला रही है ।

२६— एत्मादपुर (उ.प्र.) में श्री दिगम्बर जैन समाज एत्मादपुर द्वारा प्रदत्त विशाल भूमि पर श्री १०८ मुनि संभवसागर जी महाराज की स्मृति में श्री स्याद्वाद विमल भारती नाम से एक शिलान्यास परिषद् की संयुक्त मंत्राणी श्री ब्र० सुशीला शास्त्री के करकमलों द्वारा हो चुका है । महाराज श्री के समाधि स्थल पर एक विशाल छत्री का निर्माण श्री ब्र० चिन्ता बाई दिगे संघ संचालिका सन्मार्ग दिवाकर श्री १०८ आचार्य विमलसागर जी महाराज संघ के सहयोग से हो चुका है वर्तमान में विद्यालय भवन के ६ हाल निर्मित हो चुके हैं एवं १० कमरों की नींव भरी पड़ी है । विशाल जिनबिम्ब का शिलान्यास भी पूज्य आ० श्री विमलसागर जी महाराज के आशीर्वाद एवं मु० 'ज्ञानानन्द जी' महाराज वर्तमान आचार्य कल्प स्या० विद्याभूषण सन्मतिसागर जी महाराज की प्रेरणा से श्री महावीर प्रसाद जी देहली वालों द्वारा हो चुका है । वर्तमान में इसकी व्यवस्था श्री विद्याराम जी एवं श्री कैलाश चन्द जी तथा एत्मादपुर शाखा के निष्ठावान सहयोगी कार्यकर्ता देख रहे हैं । आगे अनेकों निर्माण इस में प्रस्तावित हैं ।

२७— परि. की भोपाल शाखा भोपाल के निकट सूखी सेवनिया में ४० एकड़ भूमि पर शीघ्र ही 'स्याद्वाद अहिंसा स्थली' निर्मित करने जा रही है । जिसमें विद्यालय, महाविद्यालय, छात्रावास, वाचनालय तथा आवासीय भवनों की व्यवस्था करना प्रायोजित है । विशेष जानकारी परिषद् के भोपाल शाखा कार्यालय [illegible] स्कूल के पास भोपाल (म.प्र.) से प्राप्त की जा सकती है ।

विहार करते हुए क्षुल्लक जी सोनागिर आये, यहां परम पूज्य श्री १०८ आचार्य विमलसागर जी महाराज एवं परम पूज्य श्री १०८ आचार्य सुमतिसागर जी महाराज के समक्ष दर्शन हेतु अपनी सब विनय बताकर 'ज्ञान प्रसार' की मनोभावना और परिषद् की क्रिया कलापों को जानकर आचार्यों ने विचारा—अहो, यह कल्याण के योग्य है, फिर वात्सल्यमूर्ति वीतरागी इन महान संतों ने शुभाशीर्वाद देते हुए कुछ ऐसी कृपा दृष्टि की कि जो परिषद् को साक्षात् अमृत बन गई। परिषद का कार्यालय उसी समय (जनवरी १९७९ में) सागर से सोनागिर लाया गया। सोनागिर ही गतिविधियों का केन्द्र बन गया फिर जो बहुमुखी हुई प्रगति हुई है उसका संक्षिप्त वर्णन ऊपर किया ही है। परिषद का मात्र १० वर्ष में यह सकल विस्तार इस अलौकिक अमृत वृष्टि का ही फल जानें। वास्तव में यह वात्सल्यमयी संतों की कृपा दृष्टि जहां-जहां और जिस-जिस पर पड़ी है वही धन्य हो गये हैं। इन करुणामय वीतरागी महाविभूतियों के चरणों में शत्-शत् नमन है।

२४— सर्व श्री १०८ आचार्य विमल सागर जी महाराज, आचार्य सुमति सागर जी महाराज, आचार्य विद्यानन्द जी महाराज, आ० विद्यासागर जी महाराज, आ० पार्श्वसागर जी महाराज, आ० कल्याण सागर जी महा०, आ० कल्प स्याद्वाद विद्याभूषण सन्मति सागर जी महा०, उपाध्याय भरतसागर जी महा०, उपाध्याय ज्ञानसागर जी महा०, मुनि श्री क्षमासागर जी महाराज, मुनि श्री सुधासागर जी महा० आदि अनेकों संतो का इस परिषद को शुभाशीर्वाद प्राप्त है।

२५— एक विशाल नगर मान लो भोपाल सरकारी व ट्यूबलाइटों से जगमग-जगमग हो रहा है घर दुकानों कारखानों में छोटी बड़ी मशीनें धनधना रही हैं। हरेक मुस्करा रहा है इसी समय कहीं दूर किसी कोने में बैठा जेनेटर चुपचाप अपनी बिजली देना बन्द कर दे तो भोपाल की सारी जगमगाहट गति शीलता व होठों की मुस्काहट ठप्प हो जायेगी। कुछ यही हाल इस परिषद का बन पड़ा है। परिषद द्वारा जहां-जहां जो-जो भी क्रिया कलाप व गतिविधियां हो रही हैं उन सबके पीछे सुप्रसिद्ध 'श्री १०५ क्षु० सन्मतिसागर जी महाराज' को ही जानिये इनकी प्रेरणा शक्ति के अभाव में बाकी सब कुछ मात्र बिजली की फिटिंग है।

१७-२-७२ को तीर्थराज श्री सम्मेद शिखर पर श्री १०८ आचार्य सुमति सागर जी महाराज से क्षुल्लक दीक्षा लेकर जिन्होंने श्री सन्मति सागर नाम ज्ञानार्जन प्रसार एवं साम्यता से सार्थक कर दिया ऐसे क्षु० श्री सन्मति सागर जी को उनके भक्त गण एवं संस्था के अधिकारी मुनि दीक्षा न लेने के लिये बाध्य करते रहे परन्तु क्षु० श्री न मालूम किस भावना को संजोये हुए मात्र मूक मुस्कराहट से मानो यह स्वीकार करते रहे परन्तु पिछले एक वर्ष पूर्व से ही आपने घोषित कर दिया था कि मुझे अपनी साधना एवं आराधना में विशेष समय व्यतीत करना है अतः किसी भी समय मुनि दीक्षा हो सकती है इसी सन्दर्भ में आपने कुछ महत्वपूर्ण घोषणायें सोनागिर जी पंचकल्याणक महोत्सव में दि० १०-३-८८ को की थीं।

विमल वैभव

ज्ञानदिवाकर श्री १०८ उपाध्याय भरतसागर जी महाराज द्वारा लिखित एवं श्री १०५ क्षु० सन्मतिसागर 'ज्ञानानन्द' जी महाराज द्वारा सम्पादित इस विमल वैभव में सन्मार्ग दिवाकर श्री १०८ आचार्य विमलसागर जी महाराज के जीवन चरित का यथार्थ विवेचन किया गया है। संघस्थ साधुओं / साध्वियों का सचित्र परिचय, आचार्य श्री और ७१ पुष्प, आचार्य श्री की पूजा-आरती आदि भी इस कृति के महत्वपूर्ण अंग हैं। श्रावक से श्रमणत्व की ओर अग्रसर होने वाले मानवों को यह कृति अवश्य पढ़ना चाहिए।

मुक्ति पथ की ओर

पू०श्री १०५ क्षु० सन्मतिसागरजी द्वारा लिखित इस ग्रंथ में मुक्ति पथ के पथिकों को दिशा बोध देने का प्रयास किया गया है। तीन अध्यायों में विभक्त इस ग्रंथ के प्रथम अध्याय में शुभाशुभ कर्म, अष्टमूलगुण, सप्त व्यसन, रात्रि भोजन, श्रावक की दिनचर्या, पंच परमेष्ठी के स्वरूप, मूलगुण, दशधर्म आदि का वर्णन किया गया है।

द्वितीय अध्याय में श्रावक के छह आवश्यक—देवपूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय संयम, तप और दान आदि का विवेचन करते हुए सच्चे सुख की प्राप्ति कैसे हो संयमी कैसे बनें, आत्म सुख की प्राप्ति कैसे हो आदि पर सारगर्भित सुविस्तृत रोचक शैली में विवेचन दिया गया है।

तृतीय अध्याय में चतुर्गति दुख विवेचन कषाय मिथ्यात्व सम्यग्दर्शन प्रकृति आदि विषयों पर विवेचन करते हुए सम्यग्दर्शन के अंगो, गुणों एवं दोषों पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

आगमोक्त विवेचन एवं सरलता को देखते हुए यह ग्रंथ आबाल वृद्ध के स्वाध्याय चिन्तन एवं आत्मोत्थान के लिये परम उपादेय है। इसकी उपयोगिता इसी से सिद्ध होती है कि अभी इसके चतुर्थ संस्करण में ५००० प्रतियां प्रकाशित हुई थी वह भी समाप्त हो चुकी है।

तत्वार्णव

अ०भा०श्री स्याद्वाद शिक्षण परिषद् के औरंगाबाद शिविर में उपाध्याय श्री भरतसागर जी आर्यिका श्री स्याद्वादमती माता जी एवं क्षु० श्री सन्मतिसागर जी महाराज द्वारा जीवादि ७ तत्वों पर दिए गए व्याख्यानों को इस कृति में आर्यिका श्री स्याद्वादमती माता जी द्वारा संकलित एवं क्षु० श्री सन्मतिसागर जी महाराज द्वारा सम्पादित किया गया है। सात तत्वों के स्वरूप, उनकी स्थिति, संसार एवं मोक्ष मार्ग में उनकी भूमिका जानने के लिये तत्वों के सागर इस तत्वार्णव ग्रंथ को अवश्य पढ़ना चाहिए।

पुण्य-पाप शतक

चारित्र चक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य सुमतिसागर जी महाराज के पट्टाचार्य शिष्य श्री १०८ मुनि स्याद्वाद विद्याभूषण सन्मति सागर जी महाराज द्वारा विचरित इस शतक में महाराज श्री ने जीव के शुभ अशुभ और शुद्ध उपयोग की स्थिति को सरल और सुबोध पद्यात्मक रूप देकर समझाने का प्रयास किया है। भ०पार्श्वनाथ, कमठ, राम, सीता, आदिनाथ, बाहुबली, चन्दना आदि के उदाहरण समाहित कर कृति के मूल कथ्य को समझाने में महाराज श्री पूर्ण सफल हुए है। कृति के सम्पूर्ण पद्य आगम का

ज्ञान कराने वाले हैं यथा—

पुण्योदय में हँसता मानव
पापोदय में रोता है ।
इन दोनों में सम्यक् दृष्टि
साम्य भाव नहीं खोता है ।।

दस धर्म

(दस भाग) स्याद्वाद केसरी परम पूज्य क्षु० सन्मति सागर 'ज्ञानानन्द' जी महाराज द्वारा दशलक्षण पर्व के दस दिनों में प्रत्येक दिन उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन एवं ब्रह्मचर्य धर्म पर दिए गए व्याख्यानों का दस भागों में सुन्दर संकलन किया गया है । अब तक दस धर्म पर जितनी भी पुस्तकें निकली हैं उनमें यह सर्वोत्तम कही जा सकती हैं । दसों भाग पुस्तकाकार रूप से लें तो पर्यूषण पर्व पर श्रावकों एवं प्रवचनकार विद्वानों को धर्म का मर्म समझने समझाने में सरलता होगी ।

सोलह कारण भावनायें

पू० क्षु० सन्मतिसागर 'ज्ञानानन्द' जी महाराज द्वारा लिखित इस कृति में सोलह कारण भावनाओं की व्याख्या की गई है । प्रारम्भ में ही भावना भवनाशिनी दुर्भावना भव वर्धिनी कहकर ग्रंथ की उपादेयता सिद्ध कर दी है । जिन महान आत्माओं ने इन सोलह कारण भावनाओं का अनुचिन्तन कर तीर्थंकर पद को प्राप्त किया उन्हीं के पद चिन्हों पर चलते हुए हमें भी आत्मसुधार करना चाहिए, यही ग्रंथ की मूल भावना है ।

स्याद्वाद वाटिका

स्याद्वाद वारिधि पू० क्षु० सन्मतिसागर 'ज्ञानानन्द' जी महाराज द्वारा लिखित स्याद्वाद वाटिका में स्याद्वाद और अनेकान्त (जैनसिद्धान्त द्वय) रूपी दो पुष्प अपनी सम्पूर्ण आभा एवं पराग के साथ ज्ञान की खोज में विहरण कर रहे हैं और अज्ञान की खोह में भटक रहे प्राणियों को अपना मन्तव्य प्रकट कर रहे हैं । लेखन शैली ऐसी है मानो सिद्धान्त ही कह उठे हैं कि जो वस्तु मे विद्यमान अनन्त धर्मों को युगपत् स्वीकार करे उसे अनेकान्त कहते हैं और किसी वस्तु के प्रति जो सात भंगिमाओं से विचार करता है वह स्याद्वाद है । निमित्त उपादान, निश्चय और व्यवहार, शुभोपयोग शुद्धोपयोग, दैव और पुरुषार्थ, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान जैसे विषयों पर वर्तमान में चल रही एकान्त धारणाओं का निरसन कर अनेकान्त की ध्वजा फहरा कर भावगम्य सुबोध समाधानपरक शैली में स्याद्वाद वाटिका लिखकर महाराज श्री ने बहुत बड़ा उपकार किया है । तत्व जिज्ञासुओं एवं शोधार्थियों के लिये यह ग्रंथ विशेष उपयोगी है ।

छहढाला

कविवर पं दौलतराम जी कृत छहढाला पर पू० श्री १०५ क्षु० सन्मतिसागर जी ने विस्तृत टीका लिखकर इस ग्रंथ के कलेवर में महनीय वृद्धि की है । पू० महाराज श्री ने प्रश्नोत्तर परक टीका करके ऐसा कोई भी प्रश्न नहीं छोड़ा है जिसका उत्तर सहित समावेश इसमें न हो । शिविरार्थियों के लिये उपयोगी यह पुस्तक जो भी पढ़ेगा वह अध्यात्म सरिता में निमग्न हुए बिना नहीं रह सकता । ग्रंथ की उपादेयता इसी से असंदिग्ध हो जाती है कि अल्प समय में ही इसकी हजारों प्रति स्वाध्यायी बन्धुओं के हाथों में पहुंच चुकी हैं ।

स्वयम्भू

परम पूज्य क्षु० सन्मतिसागर जी महाराज द्वारा संकलित इस कृति में महाराज श्री ने मंगलाष्टकम्, आप्तमीमांसा (देवागम स्तोत्रम्), स्वयम्भू स्तोत्रम् (श्रीमत्समन्त भद्राचार्य विरचितम्) का संकलन किया है। नित्य स्वाध्याय एवं वर्तमान चौबीस तीर्थंकरों के स्तवन के लिये यह ग्रंथ परम सहायक है। निस्सन्देह इस कृति के माध्यम से आत्मकल्याण के इच्छुक श्रावकों त्यागीवृन्दों मुनिवरों को भावनायें निर्मल बनाने में प्रेरणा मिलेगी।

मधुपिंगल

परम पू०क्षु० सन्मतिसागर 'ज्ञानानन्द' जी महाराज द्वारा लिखित इस उपन्यास में महाराज श्री ने मधुपिंगल नामक चारित्र के माध्यम से संसार की असारता का चित्रण किया है। यज्ञ में होने वाली हिंसा किस प्रकार जीव को कुगति की ओर ले जाती है इसका यथार्थ चित्रण किया है।

प्रसंगवशात् मुनिचार्या एवं स्वयंवर प्रथा आदि पर भी विस्तृत प्रकाश डाला गया है। यथार्थ बोध से युक्त इस उपन्यास में भाषा-शैली की मधुरता के कारण पाठक इसे आद्यन्त पढ़े बिना नहीं रहता।

सन्मार्ग दिवाकर श्री १०८ आचार्य विमलसागर जी महाराज चित्र-कथा

पूज्य क्षु० सन्मतिसागर 'ज्ञानानन्द' जी द्वारा रचित एवं श्री विक्रम वैभव झांसी द्वारा चित्रांकित इस चित्र कथा में आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज का जीवन-चरित्र अंकित किया गया है। पू० ऐलक शान्तिसागर जी (वर्तमान उपाध्याय श्री भरतसागर जी) का कुयें में गिराना एवं निकाले जाना, मुनिदीक्षा, श्री पन्नालाल सेठी का हृदय परिवर्तन, क्षु०सन्मतिसागर जी को ज्ञान प्रसार हेतु शुभाशीर्वाद आदि अनुकरणीय घटनाओं को आत्मसात् किए हुए इस चित्र कथा में पं० नेमीचन्द से आचार्य विमलसागर बनने तक की कथा का रोचक चित्रण किया गया है। नयी पीढ़ी को दिगम्बरत्व के वैभव का दिग्दर्शन कराने में भी रचनाकार सफल है।

श्री स्याद्वाद शिक्षण नवनीत (प्रथमखण्ड)

स्याद्वाद वारिधि क्षु० श्री १०५ सन्मतिसागर ज्ञानानन्द जी महाराज द्वारा लिखित यह ग्रंथ जिनागम का नवनीत ही है। श्री णमोकार मंत्र, अतिशय, प्रातिहार्य, अनन्त चतुष्टय, तीर्थंकर, मूलगुण, द्वादश तप, दस धर्म, पंचाचार, त्रिगुप्ति, षट्आवश्यक, ११ अंग १४ पूर्व, पंच समिति, श्रमण के सप्त गुण, कुदेव-कुशास्त्र, कुगुरु, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु मिथ्यात्व, कषाय, आस्रव, राग, मोक्ष, सम्यग्दर्शन, निश्चय-व्यवहार, तत्व, निमित्त उपादान, प्रमाण, द्रव्य, पर्याय, अनेकान्त, स्याद्वाद, जैनधर्म आदि पारिभाषिक शब्दों की सुन्दर व्याख्या प्रश्नोत्तर रूप में कर मोक्ष मार्ग में इनकी उपादेयता को सिद्ध करने का कार्य किया है। जैनत्व से परिचय पाने के लिये यह नवनीत वास्तव में नवनीत ही नहीं घृत भी है।

यह पुस्तक प्रश्नोत्तर रूप में है अतः विगत दस वर्षों से संस्था द्वारा आयोजित शिविरों में युवा वर्ग को इस पुस्तक के माध्यम से शिक्षित किया जाता है। इसके ३ भाग और हैं।

मेरी जीवन कहानी

पू० १०५ क्षु० श्री सन्मति सागर 'ज्ञानानन्द' जी महाराज द्वारा लिखित इस काव्य कृति को छहढाला की तरह द्वादश ढाला नाम दिया गया है । बारह ढालों में जीव की निगोद अवस्था से लेकर मुक्त अवस्था तक की कहानी को सुन्दर काव्य-भावप्रसूनों के माध्यम से वर्णित किया है । संसार त्याग के इच्छुक एवं मुक्ति श्री को वरण करने के लिये व्याकुल मनुष्य यदि इस कहानी के अनुकूल आचरण करते हैं तो वे निस्संदेह अपने लक्ष्य में सफल होंगे । जैन तत्वों की जानकारी देने वाली यह पुस्तिका भक्ति रस का आस्वादन कराने में समर्थ है और होगी ऐसा मेरा विश्वास है । इस पुस्तक को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि हम स्वयं अपनी कहानी पढ़ रहे हैं ।

श्री विमल भक्ति संग्रह

पू० १०५ क्षु० श्री सन्मति सागर ज्ञानानन्द जी महाराज द्वारा सम्पादित इस ग्रंथ में महाराज श्री ने दिगम्बर मुनियों, आर्यिकाओं, त्यागियों, व्रतियों के निमित्त संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में निबद्ध विभिन्न स्तोत्रों, भक्तियों, प्रतिक्रमण, दीक्षा विधि, आचार्यपद प्रदान विधि, वर्षायोग स्थापन विधि आदि का संग्रह किया है ।

आत्मकल्याण के मार्ग में निरन्तर अग्रसर हो रहे साधुओं की चर्या में सहयोगी इस ग्रंथ में कौन सी क्रिया कब करनी चाहिए, प्रतिक्रमण प्रायश्चित, विनय भक्ति आदि शुद्ध हों इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है । अब तक प्रकाशित भक्ति संग्रहों में यह सर्वाधिक शुद्ध एवं एक ही स्थान पर विभिन्न पाठों के मिल जाने से विशेष उपयोगी हो गया है । संग्रह को देखने पर 'गागर में सागर' की कहावत चरितार्थ हो जाती है । इसकी उपयोगिता तो इसी से सिद्ध हो चुकी है कि प्रत्येक मुनि-संघ में यह कृति अवश्य पायी जाती है ।

विनती संग्रह

पूज्य क्षु० सन्मतिसागर 'ज्ञानानन्द' जी महाराज द्वारा सम्पादित इस कृति में मेरी भावना, आलोचना पाठ, बारह भावना, भक्तामर स्तोत्र, कल्याण मन्दिर स्तोत्र, जिन सहस्रनाम स्तोत्र, महावीराष्टक स्तोत्र, सामायिक पाठ, जिनवाणी स्तुति सहित लगभग २६ भक्ति पाठों का संकलन किया गया है । भौतिक चकाचौंध से हटकर आध्यात्मिक दिशाबोध प्राप्त करने एवं वैराग्योत्पत्ति में यह पुस्तक संसार समुद्र को पार करने के लिये जहाज के समान है । संवेग की स्थिति बनाने के लिए इस पुस्तक में संग्रहीत भावनाओं का अनुचिन्तन आवश्यक है ।

स्याद्वाद बाल गंगा

परम पू० १०५ क्षु० श्री सन्मति सागर 'ज्ञानानन्द' जी महाराज द्वारा लिखित इस बालोपयोगी पुस्तक में णमोकार मंत्र, परमेष्ठी, तीर्थंकर, जीव, तत्व धर्म, देव-शास्त्र-गुरु, मिथ्यात्व, सम्यग्दर्शन, निमित्त-उपादान, नय, द्रव्य, अनेकान्त, स्याद्वाद आदि के स्वरूप एवं भेदों को सरलतम शब्दों द्वारा समझाने का सफल प्रयास किया है । जिनवाणी के ज्ञान की प्राप्ति के लिये भूमिका के रूप में यह एक सार्थक पुस्तक है ।

श्री स्याद्वाद नैतिक शिक्षा (भाग १-२)

पू० १०५ क्षु० सन्मति सागर ज्ञानानन्द जी महाराज द्वारा लिखित इन दो भागों में महाराज श्री ने बालक-बालिकाओं को नैतिक पथ का अवलम्बन कराने के उद्देश्य से बालसुलभ जिज्ञासाओं को शान्त करने का सफल प्रयास किया है । लघु

कथाओं, कविताओं एवं वार्तालाप के माध्यम से मद्य, मांस, जुआ, असत्य आदि से होने वाली हानियों को समझाया है ।

'हम भक्त नहीं भगवान बनेंगे' के असद् प्रचार के खिलाफ 'भक्तों से भगवान बनेंगे' रचना यथार्थ बोध के लिये सार्थक है । पुस्तक भले ही बालकों को ध्यान में रखकर लिखी गई है किन्तु आबालवृद्ध सभी के कल्याण में सहायक है ।

अद्भुत शक्ति

श्री १०५ आर्यिका स्याद्वादमती माताजी द्वारा लिखित इस पुस्तक में नारियों के उत्थान के लिए उनमें छिपी शक्ति का ज्ञान कराने का प्रयास किया है । विभिन्न उदाहरणों से सिद्ध किया गया है कि नारी किसी भी रूप में पुरुष से कम नहीं है ।

एक सुप्रसिद्ध महिला द्वारा महिलाओं के विषय में लिखे जाने से विषय के प्रति पूरा न्याय हुआ है । पुरुष पढ़े तो अच्छा किन्तु महिलाओं को इसे अवश्य पढ़ना चाहिए ।

नर कृत शास्त्रों के ये बन्धन
हैं सब नारी ही को लेकर ।
इसीलिए सारी सुविधायें
पहले ही कर बैठे नर ।।

जैसे आरोपों से पुरुष समाज को मुक्ति तभी मिल सकती है जब नारी वर्ग स्वयं अपनी शक्ति को प्रकट करे ।

स्याद्वाद बाल शिक्षा (भाग—१, २, ३, ४)

सुप्रसिद्ध लेखिका श्री १०५ आर्यिका स्याद्वादमती माताजी द्वारा लिखित एवं पू० १०५ क्षु० सन्मति सागर 'ज्ञानानन्द' जी महाराज द्वारा सम्पादित स्याद्वाद बाल शिक्षा के चारों भाग शिविरार्थियों को ध्यान में रखकर प्रश्नोत्तर शैली में सहजता से लिखे गये हैं । जिनागम की जानकारी, आवश्यक कर्त्तव्य एवं जैनधर्म सम्बन्धी जिज्ञासाओं को शान्त कर धर्मज्ञान प्राप्त करने के लिए यह अनुपम पुस्तकें हैं ।

पगडंडी

श्री १०५ क्षु० अनेकान्त सागर जी महाराज द्वारा लिखित और श्री १०५ क्षु० सन्मति सागर जी महाराज द्वारा सम्पादित इस कृति में बताया गया है कि जिस प्रकार पगडंडी से चलकर व्यक्ति राजमार्ग को पा लेता है उसी प्रकार भक्त भी यदि साधना पथ रूपी पगडंडी पर चले तो सिद्धालय तक पहुँच सकता है । वैज्ञानिक तर्कों के सहयोग से लिखित इस कृति में मुक्ति का जिज्ञासु कौन ? साधना में मन का स्थान कार्य और कारण निर्देश, धर्म के लिए ज्ञान और विवेक, धर्म का अनेकान्तात्मक रूप, भेदविज्ञान, वाणी का मूल्य, संगति एवं क्षेत्र का प्रभाव, भौतिक विज्ञान और वीतराग विज्ञान, अरहंत, सिद्ध परमेष्ठी और हम, क्या हम सिद्धालय नहीं जा सकते ? जैसे महनीय और मननीय विषयों का सुन्दर चित्रण किया गया है ।

अनमोल रत्न

श्री १०५ क्षुल्लिका अनंगमती माताजी द्वारा लिखित एवं श्री १०५ क्षु० सन्मति सागर 'ज्ञानानन्द' जी महाराज द्वारा सम्पादित इस कृति में लेखिका ने अनादिनिधन णमोकार मंत्र का स्वरूप, पाठ निर्धारण, णमोकार मंत्र का अचिन्त्य प्रभाव, व्रतविधान,

माहात्म्य, स्तवन आदि पर तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुतीकरण कर श्री णमोकार मंत्र की महत्ता सिद्ध करने का महत् कार्य किया है । ध्यान के लिए मुद्रा की अनिवार्यता पर भी प्रकाश डाला गया है ।

प्रारम्भ में उपाध्याय श्री १०८ भरत सागर जी महाराज द्वारा लिखित 'पंच-परमेष्ठी और ध्यान' तथा क्षु० सन्मति सागर जी द्वारा लिखित 'ध्यान के लिए' लेख ग्रंथ को गरिमा प्रदान करने में सहायक बनते हैं ।

ध्यानाग्नि कर कर्मकलंक सबै दहे नित्य निरंजन देव स्वरूपी हो गये" जैसे उद्धरणों से ग्रंथ की रोचकता में अभिवृद्धि हुई है ।

वीरप्रभु की अन्तर्व्यथा

श्री मान् पं०निहालचन्द जैन एम०एस-सी०बीना (म० प्र०)द्वारा अपनी भावपूर्ण कलात्मक शैली में लिखित इस काव्य कृति में २४ वें तीर्थंकर भगवान महावीर के जन्म से निर्वाण पर्यंत के रोचक एवं हृदयग्राही प्रसंगों को समाहित किया गया है । वर्तमान की धर्म विमुख हो रही समाज पर किए गए तीखे व्यंग्य भी प्रेरक बन सकते हैं जैसे—

> वीर का आमंत्रण स्वीकारने
> कोई गौतम नहीं दिखता ।
> श्रेणिक डूब गया राजनीति में ।
> लगता है—
> सरन्ध्र आत्मा से चू गई चेतना
> ठिठुरती आत्मा संत्रस्त है—अपनी ग्लानि से
> युद्धों की अन्तहीन दारुणता—पोंछने
> पृथ्वी पर—
> महावीर का मसीहा—
> उतरता नहीं दिखता ।

आलाप पद्धति

श्रीमद् देवसेनाचार्य विरचित इस ग्रंथ की हिन्दी टीका सुप्रसिद्ध पं० स्व० श्री रतनचन्द जी मुख्तार ने की थी उसी ग्रंथ को परम पूज्य श्री १०८ 'उपाध्याय मुनि ज्ञानसागर जी ने सम्पादन करके इस पुस्तक की उपयोगिता में वृद्धि की है । आलाप पद्धति से तात्पर्य है बातचीत करने का तरीका । वस्तु स्वरूप को प्रमाण और नय के द्वारा समझा जा सकता है अतः इन दोनों के ज्ञान की परम आवश्यकता है । प्रस्तुत ग्रंथ में नय विवक्षा का सुन्दर विवेचन किया गया है । विद्वानों, मुमुक्षुओं के लिये यह ग्रंथ पठनीय एवं मननीय है ।

विमल गौरविका

लेखक श्री अजित कुमार जैन । प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने सन्मार्ग दिवाकर श्री १०८ आचार्य विमल सागर जी महाराज का गोरवमयी जीवन चरित लिखकर अपनी लेखनी को पवित्र किया है । जीवन चरित के साथ-साथ लेखक ने जो प्रेरक प्रसंग दिए हैं उनसे कृति की महत्ता बढ़ गई है ।

स्याद्वाद ज्ञानगंगा (मासिक)

सन्मार्ग दिवाकर परम पूज्य श्री १०८ विमलसागर जी महाराज के आशीर्वाद एवं पू० मु० सन्मति सागर जी (वर्तमान में आचार्यकल्प १०८ श्री स्याद्वाद विद्याभूषण जी) महाराज के मार्गदर्शन में श्री अ० भा० स्याद्वाद शिक्षण परिषद् के द्वारा प्रकाशित 'स्याद्वाद ज्ञानगंगा' परिषद् की मासिक मुख पत्रिका है । विगत १० वर्षों से प्रकाशित हो रही इस पत्रिका के नयनाभिराम मुद्रण, उत्कृष्ट विचारोत्तेजक लेखों, प्रेरक प्रसंगों कहानियों, नीति वाक्यों, स्वास्थ्य वर्द्धक उपायो, कविताओं एवं जैन सिद्धान्तों के सम्यक विवेचन युक्त लेखों के कारण यह मासिक पत्रिका जैन समाज में प्रकाशित हो रही सभी पत्र-पत्रिकाओं में अपना शीर्ष स्थान रखती है ।

प्रत्येक वर्ष पर्यूषण, पर्व दीपावली, महावीर, जयन्ती आदि पर प्रकाशित होने वाले इसके विशेषांक स्वय मे एक शास्त्र ही होते है । देश-विदेश में चल रही धार्मिक एवं सामाजिक गतिविधियों की जानकारीयों के लिये यह पत्रिका स्वयं में एक दिव्य दर्पण है । वर्तमान मे इसके प्रधान सम्पादक श्रीमान् पं० सुमति चन्द शास्त्री मुरैना, प्रकाशक श्री सोहन लाल जी सेटी डीमापुर एवं प्रबन्धक सम्पादक श्री प० पवन कुमार शास्त्री दीवान ललितपुर है ।

जैन समाज के प्रत्येक सदस्य को यह पत्रिका अपने यहां मंगाकर धर्मलाभ एवं ज्ञानार्जन करना चाहिए ।

केन्द्रीय परिषद् द्वारा प्रकाशित उपर्युक्त साहित्य के अतिरिक्त भारत भर में फैली परिषद् की स्थापित २०० शाखाओं में से विभिन्न शाखाओं द्वारा जनोपयोगी विभिन्न कृतियां प्रकाशित हो चुकी हैं । जिनमें नीरा, सागर, ललितपुर, मण्डी बामौरा, छतरपुर डीमापुर आदि द्वारा प्रकाशित किया गया साहित्य उल्लेखनीय है ।

श्री १०८ आचार्य सुमतिसागर जी
त्यागी व्रती आश्रम सिद्धक्षेत्र सोनागिर की झलक

महानुभावो, सोनागिर जी सिद्धक्षेत्र में अनेकों गगन चुम्बी जिन बिम्ब होने के उपरांत भी यहां पर त्यागीव्रतियों के लिये साधना का अत्यन्त अभाव था। परम पूज्य, परम तपस्वी, समाधिस्थ श्री १०८ आचार्य विमलसागर जी महाराज की प्रेरणा से करीब ३० वर्ष पूर्व जैसवालजैनधर्मशाला राजाखेड़ा में एक त्यागीव्रती आश्रम प्रारम्भ हुआ था परन्तु एक दो वर्ष के बाद ही व्यवस्थापकों के अभाव में छिन्न-भिन्न हो गया।

आज से करीबन १४ वर्ष पूर्व उन्हीं पूज्य आचार्य विमल सागर महाराज जी के पट्टाचार्य शिष्य श्री १०८ आचार्य सुमतिसागर जी महाराज की प्रेरणा से राजाखेड़ा समाज एवं भट्टारक जी महाराज से भूमि प्राप्त कर सोनागिरजी में त्यागीव्रती आश्रम की स्थापना की गई। अब यहां पर अनेकों त्यागीव्रती निर्विघ्न रूप से धर्म साधना रत हैं तथा मुनि विजय सागर जी आदि अनेकों साधु संत अच्छी तरह से यहां पर समाधि को भी प्राप्त कर चुके हैं।

अखिल भारतीय श्री स्याद्वाद शिक्षण परिषद एवं श्री १०८ सुमतिसागर जी त्यागीव्रती आश्रम इन दोनों को मुनि दीक्षा लेने से पूर्व 'ज्ञानानन्द' जी महाराज एक रूप दे चुके हैं। परिषद एवं आश्रम इन दोनों की मूल समिति एक एवं व्यवस्था समिति भिन्न है तथा ये दोनों ही संस्था शुद्ध आम्नाय अनुसार पू० आचार्य सुमतिसागर जी महाराज के आशीर्वाद से समाज सेवा त्यागीव्रती वैयावृत्ती एवं ज्ञान प्रसार में अग्रणीय हैं।
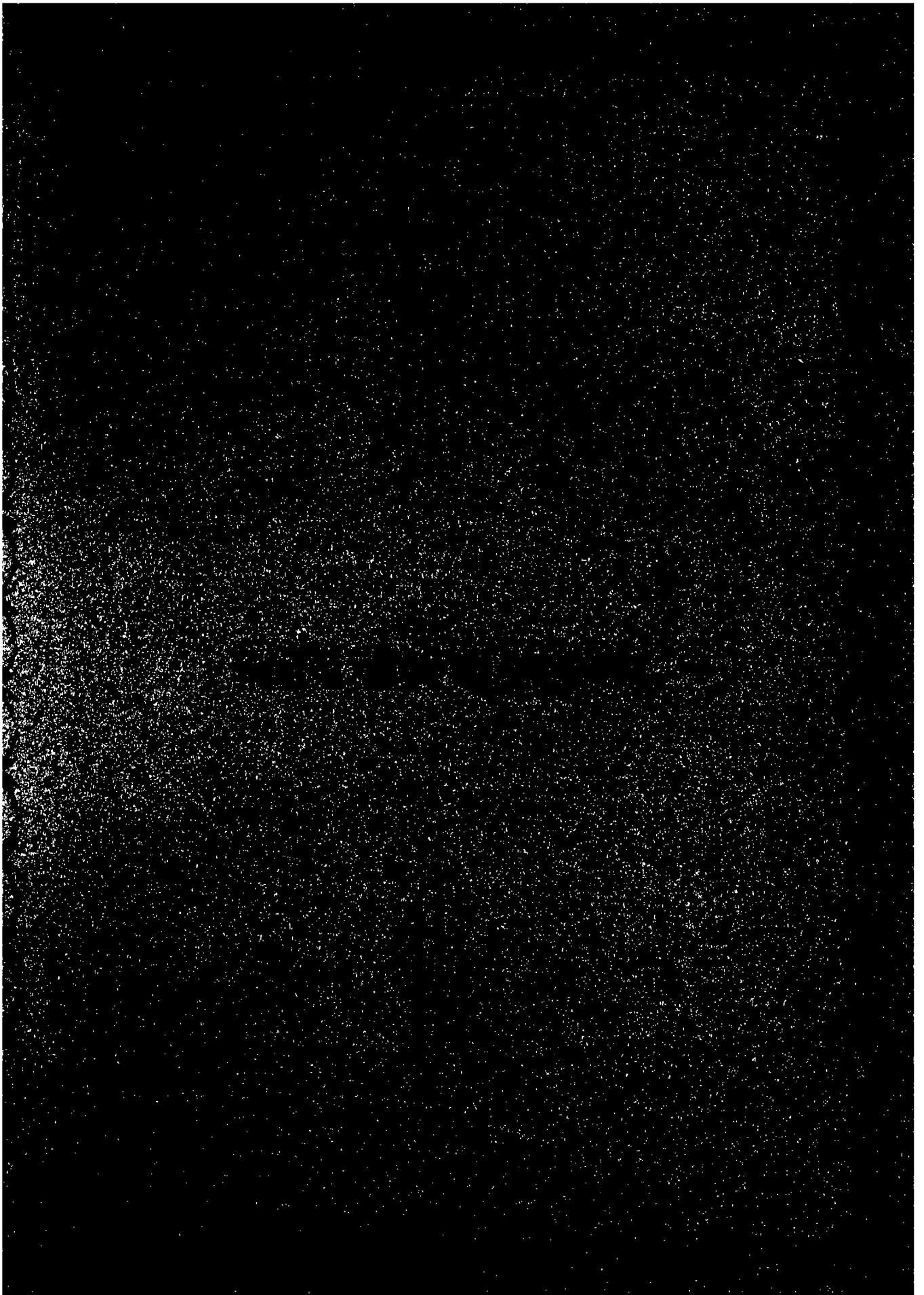
पू० आ० श्री परिषद के संस्थापक जी को ज्ञान प्रसार
हेतु अशीर्वाद देते हुये।

महाराज श्री के सानिध्य में ललितपुर विद्यालय के
स्थापना दिवस पर भाषण देती हुई परिषद की संयुक्त
महामंत्री सुनीता शास्त्री

केन्द्रीय परिषद अ. भा स्याद्वाद शिक्षण परिषद् के वरिष्ठ उपाध्यक्ष
श्री राजेन्द्र प्रसाद जैन शकरपुर देहली वालों को उन्ही के निवास
स्थान शकरपुर में आशीर्वाद देते हुए आचार्य श्री पास में बैठे हैं
उपाध्याय श्री भरत सागर जी एवं क्षु० सन्मतिसागर जी,
क्षुल्लक कामविजयनन्दि जी महाराज

संस्था के संरक्षक सेठ श्री बाबूलाल जी एवं पूर्व महामंत्री श्री चैनरूप जी
बाकलीवाल, दानवीर सेठ श्री रिखबलाल जी एवं उनकी श्रीमती जी
के करकमलों में, सोनागिर जी में अभिनन्दन पत्र
भेंट करते हुए।

पू० आचार्य श्री एवं श्री ज्ञानानन्द जी महाराज से केन्द्रीय परिषद् के युवाध्यक्ष
श्री महेन्द्र कुमार जैन देहली वाले, सम्यग्ज्ञान प्रसार हेतु परामर्श करते हुए

परिषद् की नीरा शाखा के महानुभाव पू० आचार्य श्री से आशीर्वाद लेते हुए

स्याद्वाद वाचनालय ललितपुर के उद्घाटन के अवसर पर पू० श्रुत सागर जी एवं पू० ज्ञानान्द जी महाराज के सानिध्य में ज्ञानदीप प्रज्वलित करते हुए निहाल चन्द जी चड़रउ वाले पास में खड़े हैं श्री सुन्दर लाल जी (अनौरा वाले) ललितपुर

पू०आ०श्री के सानिध्य में परिषद का अधिवेशन सम्बोधित करते हुए डा० कुलभूषण लोखंडे

स्याद्वाद नगर ललितपुर के शिलान्यास के अवसर पर ससंघ
क्षु० ज्ञानानन्द जी महाराज

श्री स्याद्वाद्नगर सोनागिर ब्रह्मचर्याश्रम के शिलान्यास के अवसर पर आश्रम
की प्रेरणास्रोत ब्र० सुनीता शास्त्री एवं अन्य बहने मंगल प्रार्थना करते हुये

आचार्य श्री से परामर्श करते हुये पं० सुमति चन्द्र शास्त्री

केन्द्रीय परिषद के वरिष्ठ उपाध्यक्ष श्री राजेन्द्र प्रसाद
जैन (देहली वाले) स्याद्वाद सि० सं० महाविद्यालय
स्थापना पर भाषण देते हुये
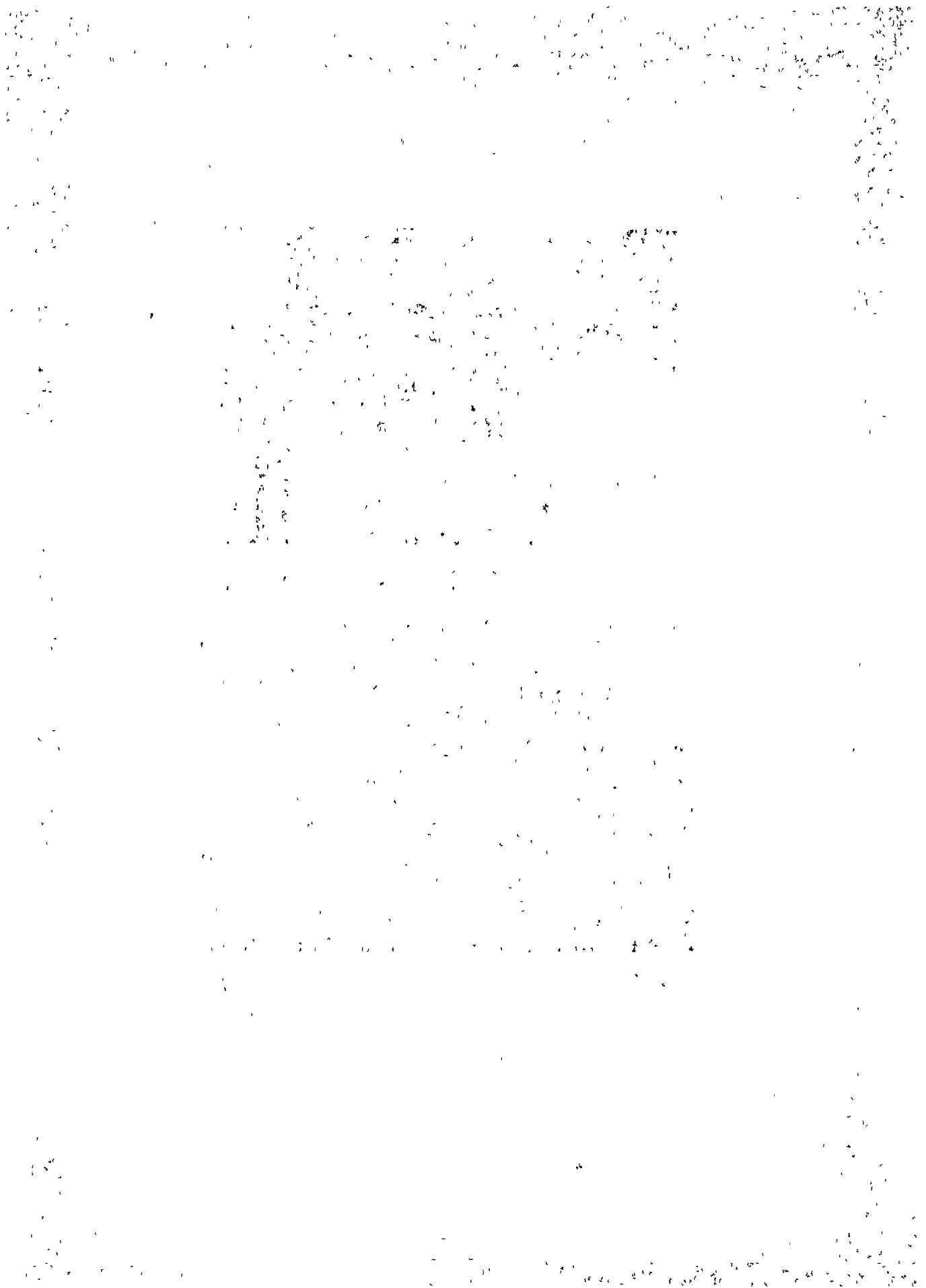
अ. भा. श्री स्याद्वाद शिक्षण परिषद् योग संस्थान के संचालक
योगाचार्य फूलचन्द जी जैन आचार्य श्री (ससंघ) के समक्ष
योग क्रियाओं का प्रदर्शन करते हुए
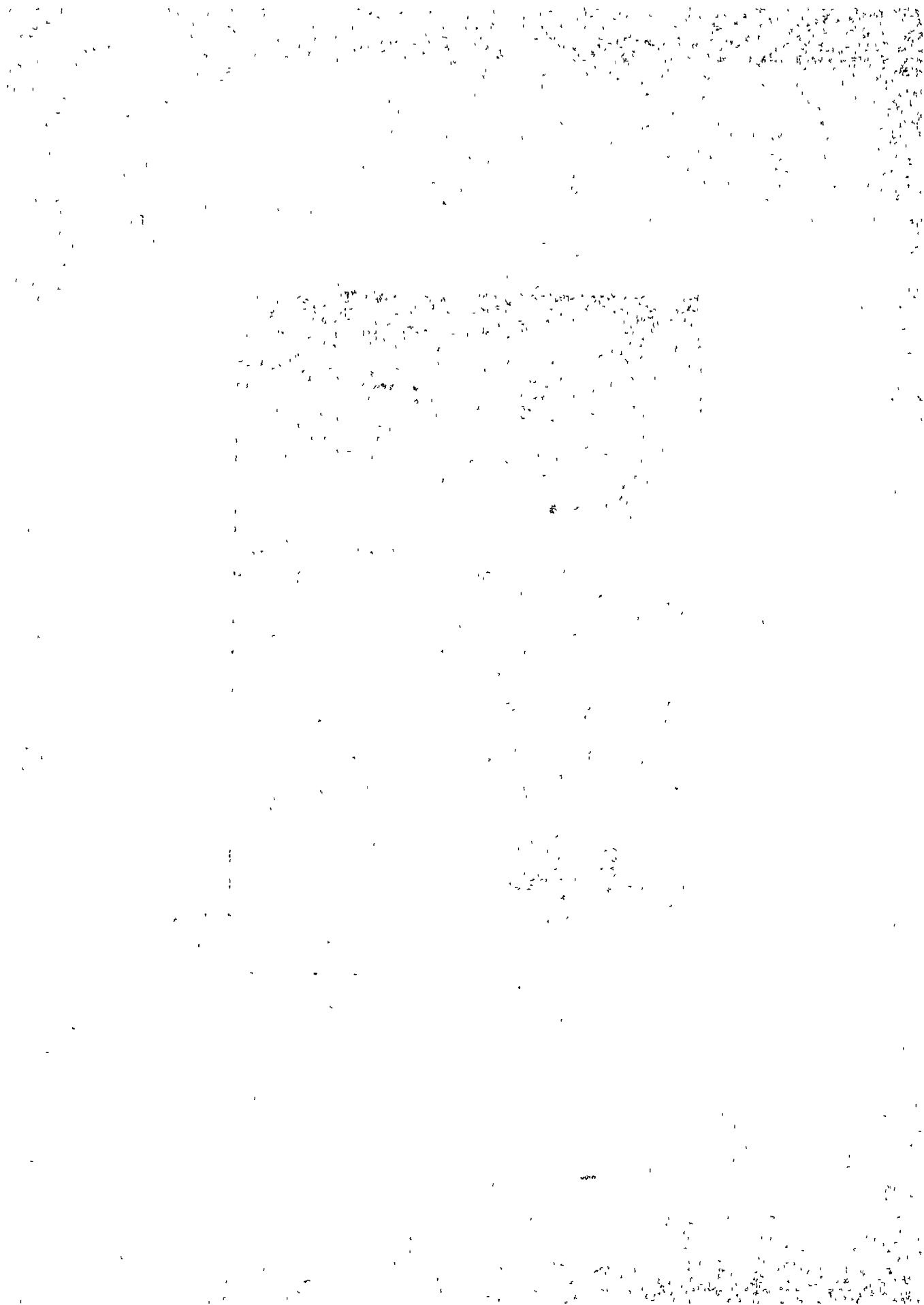
अ. भा. श्री स्याद्वाद शिक्षण परिषद् के अधिवेशन को
आचार्य श्री समक्ष सम्बोधित करते हुए क्षुल्लक सन्मतिसागर जी
महाराज पीछे केशलोंच करते हुए मुनि श्री ।
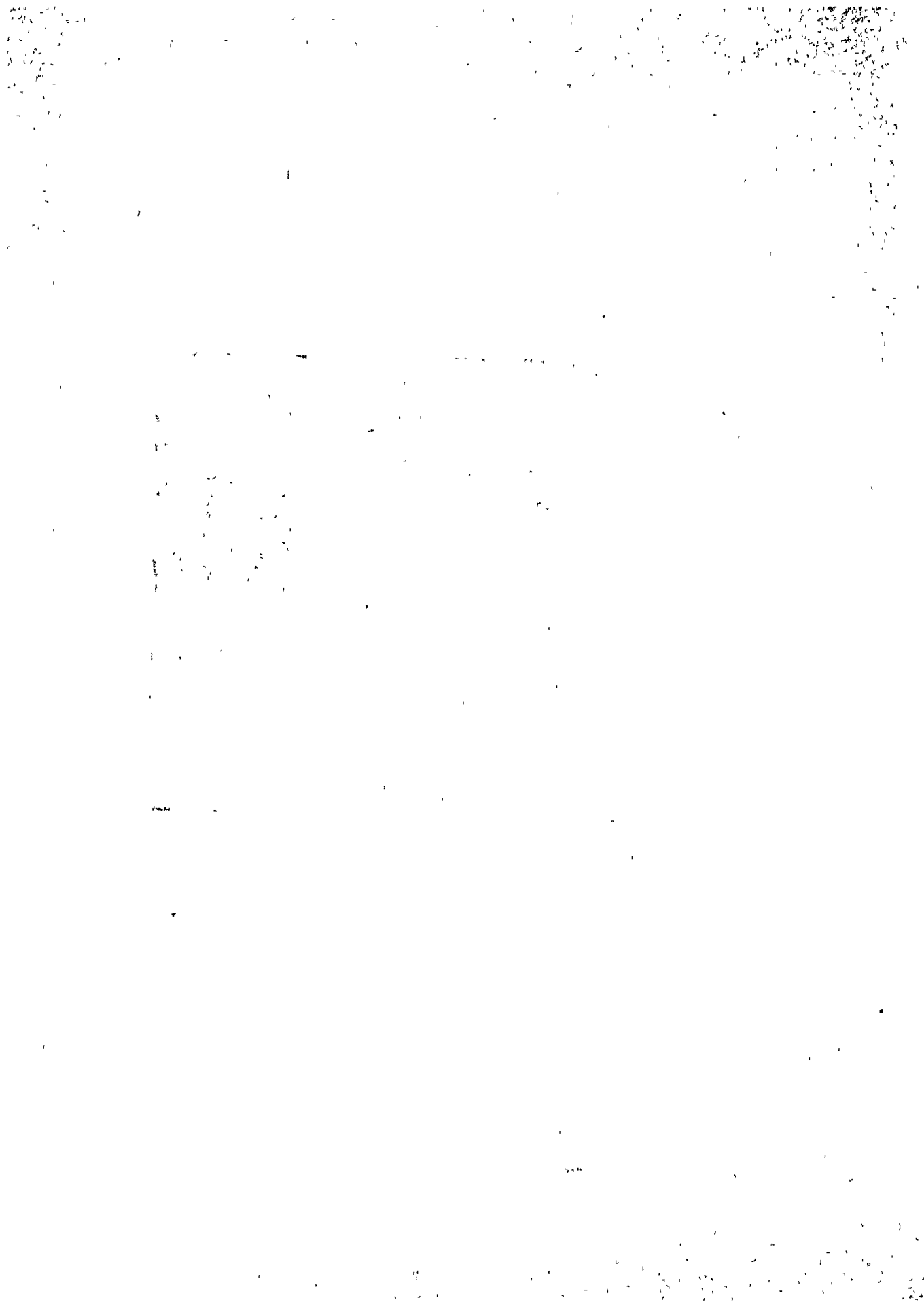
द्वितीय खण्ड

स्याद्वाद वाणी
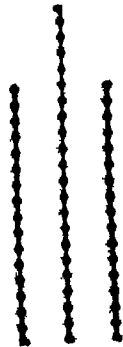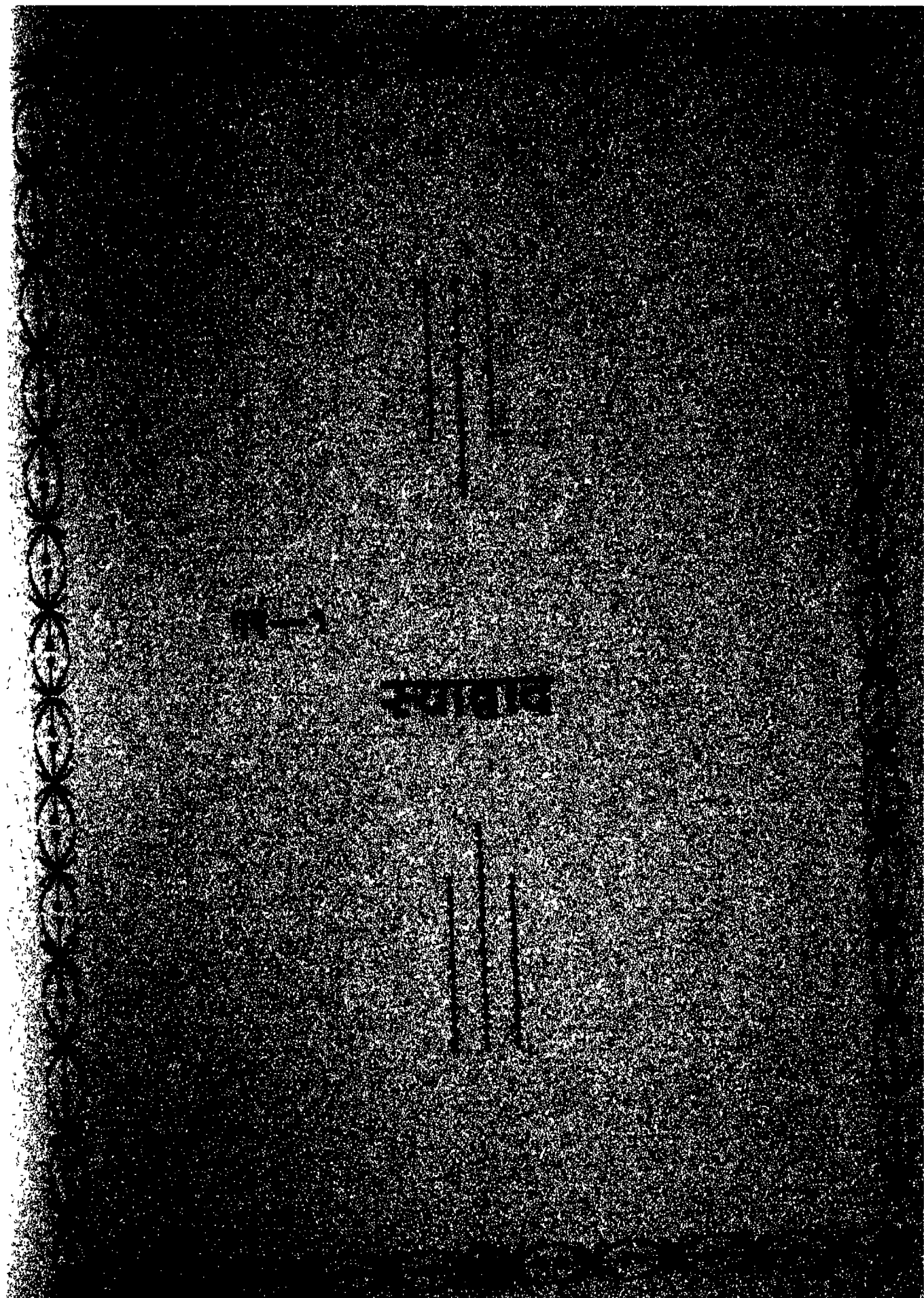
स्याद्वाद

है वस्तु तत्त्व जिसमें बहु धर्म पाए, स्याद्वाद के कथन से सबको बताए।
देवादि धर्म जिनगी नित शीश नाऊं, सिद्धान्तसार सन्मति संक्षेप गाऊं ।।

सहज रूप में बहता हुआ पानी जिस प्रकार समुद्र से मिलने को अविराम गतिशील रहता है, भय से त्रसित प्राणी निर्भय आस्पद पाने को जिस प्रकार व्याकुल रहता है बिछुड़ा हुआ बालक माँ या परिजनों से मिलने को बेचैन रहता है ठीक उसी प्रकार निकट भव्यात्मा अहर्निश सर्वोत्तम मोक्ष सुख प्रदाता धर्म को धारण करने के लिये व्याकुल रहता है, निरन्तर उसे जीवन में उतारने को प्रयत्नशील रहता है, परन्तु धर्म के परिज्ञान के अभाव में उसकी प्राप्ति कहां सम्भव है? अतः दुःख रूप संसार सागर से निकालकर अनन्त सुख स्वरूप शाश्वत परमानन्दमय मोक्ष महल तक पहुँचाने वाले सर्वतोभद्र अनन्त धर्मात्मक वस्तु स्वरूप का सर्वतोमुखी ज्ञान विशेष रूप से आवश्यक है। वस्तु स्वरूपी धर्म के परिज्ञान के लिये अनेकान्त एवं स्याद्वाद इन दो अमर सिद्धान्तों को समझना अनिवार्य है। जिस प्रकार पैरों के अभाव में मानव चल नहीं सकता, आंखों के अभाव में देख नहीं सकता, ठीक उसी प्रकार अनेकान्त एवं स्याद्वाद सिद्धान्त के अभाव में भव्यात्मा अनुभूति स्वरूप वीतराग धर्म को जानने में सक्षम नहीं हो सकता है।

जिज्ञासा —अनेकान्त एवं स्याद्वाद सिद्धान्त की यशोगाथा का अखिल विश्व में वायु के समान लहरा रही है। भक्ति श्री के प्रेमियों के बीच अनेकान्त एवं स्याद्वाद विशेष परिचर्चा का विषय बना हुआ है। वह उन सिद्धान्तमय अपना जीवन बनाने की जिज्ञासा से प्रतिक्षण खोज में तन्मय है।

आइये खोजने पर ज्ञान होगा कि अनेकान्त एवं स्याद्वाद किस वाटिका के महकते हुए पुष्प हैं। इनका माली एवं उपयोग क्या है तथा इस वाटिका के सिंचन कर्ता माली कौन है और इस बगीचे के संस्थापक कौन है?

अनेकान्त एवं स्याद्वाद भव्य धर्म निष्ठात्माओं के मन मयूर को आह्लादित करने वाले, परमानन्द स्वरूप अनन्त धर्मात्मक, निर्विकार, सुखद हितैषी, वीतराग, सत्य एवं अहिंसा धर्म रूपी बगीचे के मुस्कुराते हुए सुरभित दो पुष्प हैं, जो अनेकों कलियों से सुसज्जित हैं। इस बगीचे के माली हैं रागद्वेषादि विकार भावों से विमुक्त, सर्वज्ञ, वीतरागी, हितोपदेशी, जिनेन्द्र प्रभु के द्वारा प्रतिपादित मार्ग के अनुगामी, जन-जन के कल्याण एवं संरक्षण की भावना रखने वाले महापुरुष, परमज्ञानी, निजात्म एव जिनागम के ज्ञाता श्री गणधर स्वामी तथा पक्षपात रहित यथार्थ वस्तु स्वरूप को जानने वाले आचार्य आदि निरन्तर मुनि हैं। इस बगीचे की जड़ें मजबूत हैं, [illegible] नहीं है और कोई इसका

मूलत: विनाश भी करने में सक्षम नहीं है, हाँ, अगर कोई भाग काल की चपेट में आकर उजड़ भी जाता है तो सर्वज्ञ परम वीतरागी तीर्थंकर परमदेव वीतराग अनेकान्त धर्म रूपी बगीचे को अपनी जनकल्याणी निर्विकार वाणी से पुन: स्थापितकर देते है,जिसे पाकर भव्यात्माओं के मन मयूर नाच उठते है ।

अनेकान्त एवं स्याद्वाद, अपने आप में कोई द्रव्य नहीहै, स्वयं वस्तु या वस्तु स्वरूप भी नहीं है, अपने आप में चेतन एवं अचेतन विकल्पों से भी परे है, फिर भी ये सिद्धान्त महान सम्माननीय पद पर प्रतिष्ठित है। गणधर आचार्य ही नहीं, देवेन्द्र महामनीषी महापुरुष भी इनका यशगान करते है, सारे विश्व में आदर पा रहे है, घर घर में इनकी आरती उतारी जाती है, पूजा की जाती है, इसका भी कोई कारण अवश्य होगा ? खोजना पड़ेगा ?

पुष्प अपने आप में बगीचा नहीं है परन्तु बिना फूल के बगीचे की शोभा ही कहाँ है ? ठीक इसी प्रकार अनेकान्त एवं स्याद्वाद अपने आप कोई वस्तु नहीं है, परन्तु इन दोनो सिद्धान्तों के अभाव में वस्तु स्वरूप को समझना कठिन ही नहीं, असम्भव है ।

उपयोग—संसार, शरीर एवं भोगों की वासनाओं में उलझा हुआ मानव सुख एवं शान्ति की खोज मे भटक रहा है । ऐसे जिज्ञासु भव्यात्माओं के लिये तत्वज्ञ, परोपकारी, राग-द्वेष से रहित, जन-जन के कल्याण की भावना भाने वाले परम आराध्य स्व-पर हितैषी सर्वज्ञ देव, गणधर स्वामी तथा आचार्यों ने यथार्थ सुख एवं शान्ति का उपाय प्रतिपादन करते हुये कहा है कि वास्तविक आनन्द की प्राप्ति सर्व कर्म मल से रहित निर्विकार मोक्ष अवस्था मे होगी। मोक्ष प्राप्ति का क्या उपाय है ? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र इन तीनो की एकता। इन तीनो की प्राप्ति होगी भेद विज्ञान पूर्वक वस्तु स्वरूप को समझने के साथ, उसके यथार्थ श्रद्धान आचरण एवं भेद विज्ञान के बल से, स्वसंवेदन के साथ ।

वस्तु स्वरूप का ज्ञान अनेकान्त एवं स्याद्वाद के बिना सम्भव नहीं । इन दोनो सिद्धान्तो के अभाव मे ही मानव, मानव का शत्रु बना हुआ है, धर्म के नाम पर युद्ध हो रहे हैं, जगह-जगह विद्वेष की दीवारे खड़ी हो गयी है, समाजो एवं जन-जन के बीच विद्रोह फैल गया है। अखिल विश्व मे नहीं मिल पा रही है शान्ति क्षणमात्र को, भटक रहे है दिन-रात भोले प्राणी, अपने आपको भूलकर। ऐसी स्थिति मे शान्ति का बीजारोपण कराने मे अगर कोई सक्षम है, तो वह है अनेकान्त एवं स्याद्वाद जैसे महान गौरवशाली अमर सिद्धान्त । यही वस्तु स्वरूप को समझाकर एक दूसरे को गले से गले मिलाकर प्रेम करा सकते है । इन महान सिद्धान्तो के अभाव मे जन्म, जरा, मृत्यु के चक्कर में फंसकर अनादिकाल से स्वयं को भूलकर दु:ख, अशान्ति का उपार्जन करते आ रहे है, अब इनके स्वरूप को समझना आवश्यक ही है, अपने आपको समझने के लिये ।

सामञ्जस्य—इन दोनों सिद्धान्तो के बिना अनन्त धर्मात्मिक वस्तु स्वरूप को जाना नहीं जा सकता, कहा नहीं जा सकता, अत: अनेकान्त एवं स्याद्वाद सिद्धान्त के अन्दर विद्यमान परस्पर विरोधी अनन्त धर्मों की प्रधानता एवं गौणता की अपेक्षा से समझाता है, व्याख्या करता है, उनको बताकर परस्पर के विवाद मिटाता है, अत: यह सिद्धान्त वस्तु स्वरूप के परिज्ञान के लिये नीव की ईंट के सदृश है जैसे- नीव के बिना मकान का कोई अस्तित्व ही नहीं है, इसी प्रकार स्याद्वाद एवं अनेकान्त के अभाव में वस्तु स्वरूप का यथार्थ ज्ञान कराने का कोई उपाय ही नहीं है ।

अनेकान्त वस्तु में विद्यमान परस्पर विरोधी अनन्त धर्मों की सत्ता स्वीकार करता है, वह सभी धर्म

प्रमाण में स्पष्ट प्रतिबिम्बित होते है। स्याद्वाद शैली मे प्रमाण मे प्रतिबिम्बित पदार्थों म विद्यमान अनन्त धर्मों का अपेक्षा से वर्णन किया जाता है। यह विषय नय मालिका का है अत अनेकान्त एव प्रमाण इन दोनों में सामान्यत: कोई अन्तर प्रतिभासित नहीं होता है एव स्याद्वाद तथा नय चक्र यह दोनों भी अपेक्षा से एक कहे जा सकते है। सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते है एव प्रमाण के अश को नय कहते हैं। प्रमाण मे वस्तु में विद्यमान सभी विरोधी धर्म युगपद प्रतिभासित होते है और नय चक्र के द्वारा क्रम से उनकी विवेचना की जाती है, एक एक करके सभी धर्मों का ज्ञान कराया जाता है। इतना अवश्य है कि अनेकान्त प्रमाण मे प्रतिबिम्बित पदार्थो के अनन्त धर्मों को मौन रूप से स्वीकारता है, प्रमाण की तरह अनेकान्त में भेद-प्रतिभेद नही है और स्याद्वाद के मूल मे अस्ति, नास्ति दो ही भेद है, अपेक्षा मे सप्त हो जाते है, परन्तु यह बात नय के लिये नही क्योंकि उनकी सीमा नही। यद्यपि आचार्यों ने उनके भी मूल मे दो सप्तादि भेद-प्रति भेद किये है तथापि ज्ञान के जितने विकल्प होते है, उतने ही वास्तव मे नय है तथा विषय प्रतिपादन की प्रणाली भी कथंचित् भिन्न सी प्रतीत होती है। निक्षेप नय से एकान्त की भी सिद्धि सम्भव है। स्वामी समन्तभद्राचार्य ने स्वयंभू स्तोत्र मे कहा है—

अनेकान्तोऽप्यनेकान्त:, प्रमाण नय साधन.।
अनेकान्त : प्रमाणात्ते, तदे कान्तोऽर्पितोन्नयात्।

अनेकान्त भी प्रमाण और नय के साधनों को लिये हुए अनेकान्त स्वरूप है, प्रमाण की दृष्टि से अनेकान्त रूप सिद्ध होता है और विवक्षित नय की अपेक्षा से अनेकान्त में एकान्त रूप सिद्ध होता है।

विशाल दृष्टि —भारतीय दर्शन के समन्वयात्मक पक्ष का अनुशीलन करते समय जैन मनीषियो ने जिस सिद्धान्त को प्रतिष्ठापित किया है-वह है अनेकान्तवाद, जिसकी भित्ति पर समस्त जैनत्व स्थित है। इस वाद की उद्भावना मे समता एव सहिष्णुता की भावना विद्यमान है। भारत मे विभिन्न दर्शन साख्य, योग, मीमांसक, न्याय, वैशेषिक विभिन्न दर्शनों की नानारूपिणी सत्ता के एक पक्ष का विवेचन करते है किन्तु जैन धर्म का अनेकान्त सिद्धान्त अपेक्षाकृत कथन करके सभी धर्मो का मुख्य या गौण रूप मे कथन करता है। आचार्य हरिभद्र स्वामी का कथन भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है –

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेष कपिलादिषु।
युक्तिमद वचन यस्य, तस्य कार्य परिग्रह:।।

मेरा महावीर स्वामी के सम्बन्ध मे कोई पक्षपात नही है और कपिल आदि से मेरा कोई द्वेष नही है। जो युक्तिपूर्ण कथन है उसी को मै ग्रहण करता हू।

स्याद्वाद—वन्दना

सिद्धान्त की डगर पर, हमको दिखाना चलके।
यह धर्म है हमारा, धारेंगे ईश बढ़के ।।
एकान्तवाद तजकर भव कूप से बचेंगे।
दे स्याद्वाद माता-अमृत जु रस पियेंगे ।।

हैं देव शास्त्र गुरुवर, जितने भी पूज्य हमरे।
उनकी विनय करेंगे, काटेंगे पाप सगरे ।।
दुर्व्यसन से बचेंगे, सद आचरण करेंगे।
माता पिता की सेवा, गुरु वचन उर धरेंगे ।।

यूरोप चीन आदि, जितने, भी देश वासी।
रखि साम्य भाव सब पर, देवेंगे धर्म राशि ।।
दुखियों का दुःख हरने, हरदम खड़े रहेंगे।
हों सामने जो शत्रु, उनसे भी न डरेंगे ।।

कर्तव्य पूर्ण करने, मुक्ति सु पथ गहेंगे ।
मुनि भेष धार बन में, वसु कर्म से लड़ेंगे।
ले भेद ज्ञान आयुध, "सन्मति" सदा लखेंगे ।।
पार भाव को हटाके, मुक्ति रमा वरेंगे।।

卐 卐 卐

एकान्तवाद, मिथ्या है !
एकान्तवाद को शीघ्र तजेंगे, भक्तों से भगवान बनेंगे !
स्याद्वाद को ध्यायेंगे, मोक्ष लक्ष्मी पायेंगे !

पर्व—२

अनेकान्त
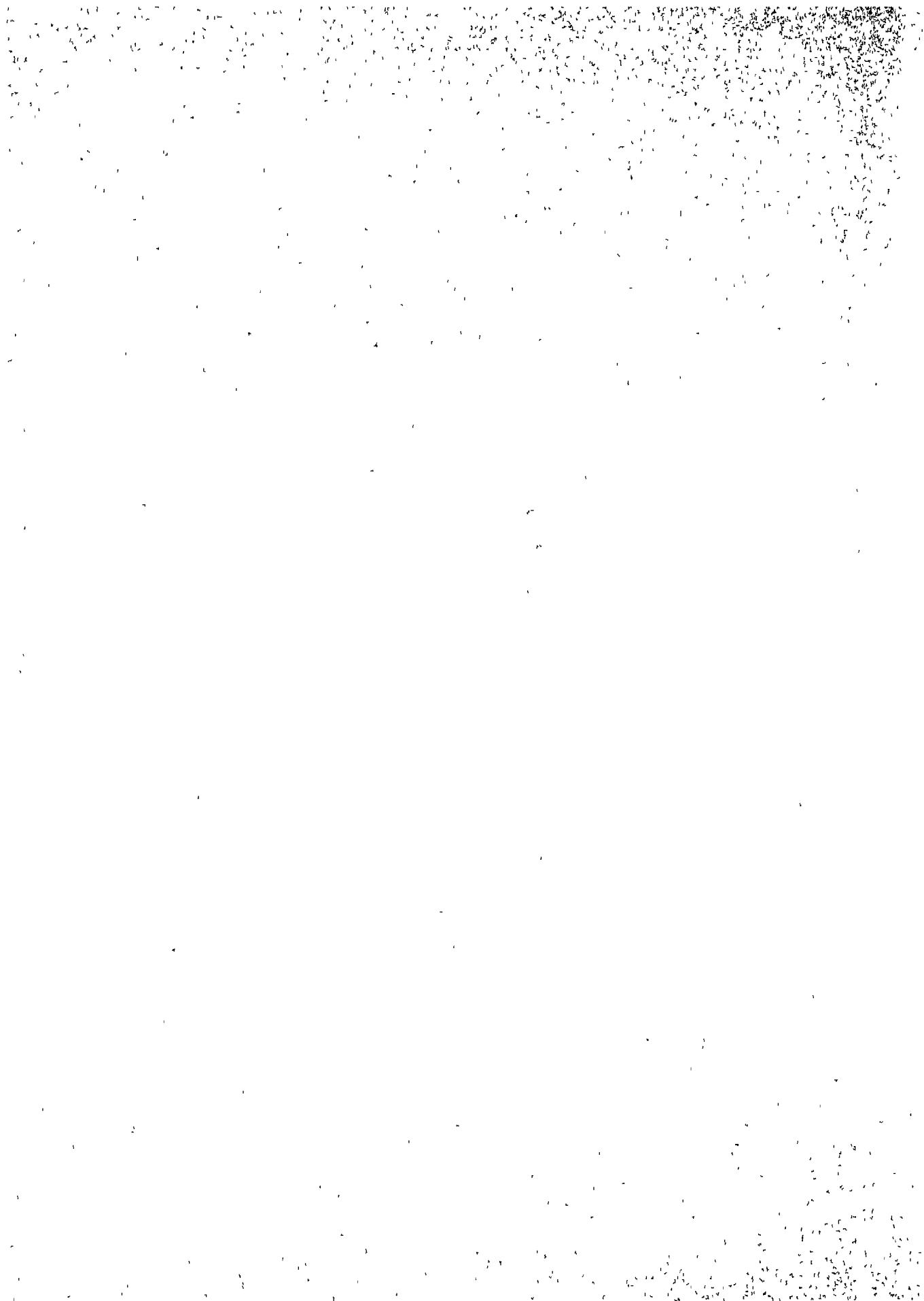
अनेकान्त

अनेकान्त शब्द की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार परिलक्षित होती है - अनेक: अन्ता: धर्मा: यस्य स अनेकान्त: अर्थात जो वस्तु मे विद्यमान अनंत धर्मों को युगपत् स्वीकार-ग्रहण करे, उसे अनेकान्त कहते है।

अनेकान्त शब्द दो शब्दों के सयोग से निष्पन्न हुआ है। अनेक एवं अन्त। अनेक का अर्थ एक से अधिक होता है तथा अन्त का अर्थ सहित या धर्म है, अर्थात् अनेक अन्तों से जो सहित हो, वह अनेकान्त है। जिस सिद्धान्त में, वस्तु में विद्यमान अनेकों धर्मों को युगपत् ग्रहण किया जाता है उसी का नाम अनेकान्त सिद्धान्त है।

प्रयोग:—लोक मे विद्यमान समस्त पदार्थों में परस्पर अविरोधी अनेकों धर्म निर्विवाद रूप से परिलक्षित होते है, जैसे कि एक मनुष्य में पिता, पुत्र, मामा, भान्जा, भतीजा, दादा, पोता, भाई, पति आदि अनेक प्रकार के सम्बन्ध रहते है। जिस प्रकार रसगुल्लों में मिठास, रग आदि एवं अग्नि में जलाना, प्रकाश करना, गर्मी देना, पाचनादि अनेक शक्तियां रहती है ठीक उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु मे गुणों की अपेक्षा नित्यता एवं पर्यायों की अपेक्षा अनित्यता, स्वचतुष्टय की अपेक्षा से अस्तित्व एवं पर चतुष्टय की अपेक्षा से नास्तित्व, पर संयोग की अपेक्षा से अशुद्धता एवं शुद्ध स्वरूप की अपेक्षा से शुद्धता आदि अनेकों धर्म विद्यमान हैं। इसी प्रकार सापेक्षता से वस्तु में अवस्थित अनेको धर्मों को ग्रहण करने वाले सिद्धान्त का नाम अनेकान्त है।

प्रत्येक धर्म अपने विपक्षी धर्म के साथ वस्तु में अवस्थित रहता है परन्तु यह बात पूर्ण सत्य है कि वस्तु के समस्त धर्मों को केवल जाना जा सकता है, उन्हें शब्दों मे युगपत् प्रगट करना शक्य नही है क्योंकि एक समय में एक धर्म विशेष का शब्दो में ग्रहण किया जा सकता है। शब्दों में इतनी शक्ति नही है कि वह वस्तु में विद्यमान अनन्त धर्मों को युगपत् एक ही समय मे व्यक्त कर सके अत: किसी भी वस्तु का कथन करते समय उसके किसी एक धर्म को मुख्य एवं उसके विरोधी धर्म को गौण करके विवेचना की जाती है, उसका अभाव नहीं किया जाता।

समयसार की आत्म ख्याति टीका में कहा है:—

जो वस्तु तत्स्वरूप है, वह अतत्स्वरूप भी है। जो वस्तु एक ही है, वही अनेक भी है। जो वस्तु सत् है, वह असत् भी है जो नित्य है, वही अनित्य भी है, इस प्रकार एक ही वस्तु के वस्तुत्व के कारणभूत परस्पर विरोधी धर्म युगलों का प्रकाशन अनेकान्त है।[1]

१—सदसन्नित्यादि सर्वथैकान्त प्रतिपक्ष लक्षणो अनेकान्त:। देवागम अष्टशती।

स्यान्नाशि नित्य सदृशं विरूप, वाच्यं न वाच्य सदसत्तदेव।

विपश्चिता नाथ निपीत तत्वं, सुधोद्गतोद्गार परम्परेयम्॥

यदेव तत्तदेव अतत्, यदेवैकं तदेवानेक ।
यदेव सत् तदेवासत् यदेव नित्य तदेवानित्यमित्येक ।।
(समयसार आत्मख्याति टीका)

देवागम अष्टशती कारिका १०३ में कहा है—

वस्तु सर्वथा सत्‌ही है अथवा असत्‌ही है, नित्य ही है अथवा अनित्य ही है, इस प्रकार सर्वथा एकान्त के निराकरण का नाम अनेकान्त है। सभी एकान्तवादियों का समन्वय करने के लिए भगवान महावीर स्वामी ने अनेकान्तवाद के चार भेद बतलाये है। जिस अनेकान्त रूपी अमृत को पीकर विद्वानों के शिरोमणि प्रत्येक वस्तु को कथंचित्‌नित्य, अनित्य, कथंचित सामान्य, कथंचित् विशेष, कथंचित्‌वाच्य, कथंचित् अवाच्य, कथंचित् सत एव कथंचित् असत् प्रतिपादन करते है।

समन्वय:—हठाग्रह और मतान्धता के इसयुग में अनेकान्त सिद्धान्त ही मानव को सकीर्णता से ऊपर उठाकर दिशा बोध करा सकता है, संसार मे फैल रहे विभिन्न एकान्त वाद के विवादों को मिटाकर विश्व मे शान्ति का साम्राज्य स्थापित करा सकता है।

यह अनेकान्त धर्म समन्वय की पूंजी है। लोगों की बिखर रही विविध विचारधारा रूप मणियो को एक रूप में सँजोकर सबको एकता व संगठन के सूत्र मे पिरोकर सभी को सामंजस्य रूप से स्थापित करना इसका मुख्य लक्ष्य है। अनेकान्त धर्म वस्तु स्वरूप का यथार्थ ज्ञान कराना है कि जोआप कह रहे है उतना ही वस्तु स्वरूप नही है, इसके अतिरिक्त अनेक विशेषतायें व धर्म भी पाये जाते हैं। आचार्यों ने वस्तु को अनेक धर्मात्मिक मानकर सत्य को अनेक पहलुओं से समझने के लिये संकेत किया है। अनेकान्त के माध्यम से मानव अपने जीवन की विविध व्यग्रताओ मे भी सही मार्ग का अवलोकन कर सकता है अर्थात्‌यह सिद्धान्त उन समस्याओं का समाधान है, जो समस्याये पक्ष व्यामोह और दुराग्रह से समुद्‌भूत होती है। जैसे-धागे में पिरोई रत्नमाला को यदि दो व्यक्ति अपनी ओर खीचते है, तो उस खीचातानी में वह धागा टूटकर माला के दाने बिखर जाते है, ठीक इसी प्रकार जो पक्ष व्यामोह कोप्राथमिकता देते है, वस्तु स्वरूप सुन्दर माला को खीचातानी में ध्वस्त कर देते हैं, उसका उपयोग नही कर पाते, वस्तु स्वरूप से पर रहते हैं। अत: पक्षपात को दूर से ही त्याग कर स्वभावोपलब्धि की भावना समझने का प्रयत्न करना चाहिये।

वस्तु तत्व में धर्म अनेकों,
विविध रूप मे पाते है।
सापेक्ष कथन से वीतराग जिन,
भिन्न-भिन्न समझाते है।।
अत: विपक्षी दृष्टि कोण पर,
हे भवि मित्र विचार करो।
पक्षपात तज अनेकान्त मय,
पूर्ण सत्य स्वीकार करो।।

स्याद्वाद अरु अनेकान्त को, बहुजन एक बताते हैं।
भेद वाच्य वाचक का इसमें, मित्रों तुम्हें दिखाते है ।।१।।

अनेकान्त वस्तु धर्मों को, सत्ता में स्वीकार करें।
स्याद्वाद सापेक्ष दृष्टि से, सभी धर्म विख्यात करें ।।२।।

अनेकान्त सिद्धान्त वस्तु में अवस्थित सभी धर्मों को स्वीकार करता है किन्तु उन्हें बताने में सक्षम नहीं है। अब प्रश्न यह उठता है कि वस्तु में विद्यमान परस्पर विरोधी अनन्त धर्मों को समझने का माध्यम क्या है? सर्वज्ञ, वीतरागी, हितोपदेशी जिनेन्द्र भगवान ने वस्तु तत्व की व्याख्या करने के लिये उसमें विद्यमान अनन्त विपक्षी धर्मों का प्राणीमात्र को परिज्ञान कराने के लिये अभेद्य किले के सदृश सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। यह स्याद्वाद एक ऐसा सिद्धान्त है, जो वस्तु में विद्यमान समस्त धर्मों को सापेक्ष दृष्टि अर्थात् कौन धर्म किस अपेक्षा से वस्तु में विद्यमान है यह स्पष्ट रूप से बता देता है, छद्मस्थ प्राणियों को भी नयावलम्बन से समझा देता है। जिससे मन में उत्पन्न होने वाले समस्त विकल्प समाप्त हो जाते हैं, वस्तु स्वरूप का ज्ञान सर्वमुखी हो जाता है, किसी भी प्रकार के विवादों को स्थान प्राप्त नहीं होता है।

भेद.—कतिपय मनीषियों की दृष्टि में अनेकान्त एवं स्याद्वाद पर्यायवाची है, दोनों में कोई अन्तर नहीं है, एक ही है, परन्तु विचारधारा का सामजस्य आचार्यों की मान्यता से संभव नहीं है। दोनों सिद्धान्तों में उन्होंने स्पष्ट रूप से अन्तर प्रतिपादित किया है। अनेकान्त वाच्य है एवं स्याद्वाद वाचक है अर्थात् अनेकान्त वस्तु में विद्यमान परस्पर विरोधी अनेक धर्मों को स्वीकार करता है तथा स्याद्वाद किस अपेक्षा से कौन-कौन धर्म विद्यमान है, यह स्पष्ट करके व्याख्या करना करता है। अतः प्रमाण एवं नय के समान दोनों में अन्तर है, एक नहीं है।

स्याद्वाद शब्द.—स्याद्वाद शब्द का निर्माण कैसे हुआ और उसका अर्थ व्याकरण के अनुसार क्या है? यह समझ लेना भी आवश्यक है?

स्यात् और वाद इन दो शब्दों के संयोग से स्याद्वाद शब्द निष्पन्न हुआ है। स्यात् एक अव्यय शब्द है अस् धातु का रूप नहीं है। इसका अर्थ कथञ्चित् अर्थात् किसी अपेक्षा से है, इससे स्पष्ट होता है कि स्यात् शब्द का प्रयोग जहाँ भी होता है, वहाँ वह बात उतनी ही नहीं बल्कि कुछ और भी है। जो विषय प्रतिपादित है, वह एक अपेक्षा से है, दूसरी अपेक्षा का विषय अन्तर्निहित है, गौण है, अवशेष है।

किसी दृष्टिकोण या अपेक्षा से किसी बात का कहना अर्थात् सापेक्ष कथन ही स्याद्वाद है।

'स्यात्' किसी अपेक्षा से वाद सिद्धान्त या कथन। किसी दृष्टिकोण या अपेक्षा से किसी बात का कथन करना इसी का नाम स्याद्वाद है, अर्थात् सापेक्ष कथन ही स्याद्वाद है।

विश्व में अवस्थित वस्तुओं में विद्यमान अनेक धर्मों को शब्दों द्वारा युगपत् व्यक्त करने का प्रयत्न किया जाये तो एक समस्या उत्पन्न हो जाती है क्योंकि वस्तुओं में उपस्थित परस्पर विरोधी अनेक धर्मों को युगपद् शब्दों द्वारा कैसे व्यक्त किया जाए? शब्द अनेक अर्थवाची होकर भी एक प्रसंग में एक ही धर्म का विवेचन करने में सक्षम होते हैं अतः बिना अपेक्षा के किसी भी प्रकार शब्दों द्वारा वस्तु स्वरूप की विवेचना करना शक्य नहीं है, इसीलिये परम हितैषी वीतरागी दिगम्बराचार्यों ने वस्तु में विद्यमान अनेक धर्मों को सापेक्ष रूप से स्पष्ट बताने के लिये स्यात् शब्द से युक्त सर्वज्ञ प्रणीत स्याद्वाद सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

अकलंक स्वामी ने लघीयस्त्रय में लिखा है—

अनेकान्तात्मकार्थं कथनं स्याद्वाद :

अनेकान्तात्मक—अनेक धर्म विशिष्ट वस्तु का कथन करना स्याद्वाद है।

स्यात् शब्द—स्वामी समन्तभद्राचार्य आप्तमीमांसा में लिखते हैं —

स्याद्वाद सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्त चिद्विधः ॥ आप्त मीमांसा १०४॥

कथन के साथ स्याद्वाद शब्द का प्रयोग करने से सर्वथा एकान्त दृष्टि का परिहार हो जाता है ? स्याद्वाद में वस्तु के अनेक धर्मों का कथन होने के कारण उसे अनेक धर्मवाद अथवा अनेकान्तवाद कहते हैं। जब अनन्त धर्मों पर दृष्टि रहती है, तब उसे सकलादेश परिपूर्ण दृष्टि कहते हैं, जब एक धर्म को प्रधान एवं शेष धर्मों को गौण बना दिया जाता है, तब उसे विकलादेश अपूर्ण दृष्टि कहते हैं ?१ विकलादेश की नय दृष्टि और सकला देश को प्रमाण दृष्टि कहते हैं। जीव में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुण विद्यमान हैं। जब प्रतिपादक की विवक्षा दृष्टि अनन्त गुणों पर केन्द्रित रहती है, तब स्यात् शब्द के साथ जीव पद का प्रयोग उसके अनन्त धर्मों को सूचित करता है। इसलिये अकलंक स्वामी ने लिखा है– 'स्यात् जीव एव' ऐसा कथन होने पर स्यात् शब्द अनेकान्त (अनेक धर्मयुक्त) को विषय करता है। 'स्यात् अस्त्येव जीव' इस वाक्य में स्यात् शब्द जीव के अस्तित्व गुण की प्रधानता से कथन करता है। इस प्रकार स्यात् शब्द द्वारा अनेकान्त और एकान्त का बोध हो जाता है।

भगवान स्याद्वादी हैं:—वस्तु के अनन्त धर्मों का जिन एकान्तवादियों को परिज्ञान ही नहीं है वे स्याद्वाद सिद्धान्त का प्रतिपादन करने में सक्षम कैसे होते ? भगवान ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों ने श्रेष्ठ साधना के फलस्वरूप सर्वज्ञता के सूर्य को प्राप्त किया और उसके प्रकाश में स्याद्वाद सिद्धांत का परिचय अखिल विश्व के अगणित भव्यात्माओं को दिया। इसलिये अकलंक देव ने लघीयस्त्रय ग्रंथ के प्रमाण प्रवेश प्रकरण के प्रारम्भ में तीर्थंकरों को पुन; पुन: स्वात्मोपलब्धि के लिये प्रमाण करते समय स्याद्वादी शब्द से समलकृत किया है।२

अकलंकदेव विरचित लघीयस्त्रय ६२। पृ०२१।

इस स्याद्वाद अमर सिद्धान्त के आधार पर महापुराणकार भगवज्जिनसेनाचार्य जिनेन्द्र भगवान में सर्वज्ञता का सद्भाव सूचित करते हैं। जिनेन्द्र वृषभनाथ कास्तवन करते हुए कहते हैं,३ हे ईश आपकी सार्वत्रिकी वाणी की पवित्रता आपके सर्वज्ञपने को सिद्ध करती है, इस जगत में इस प्रकार का महान वचन वैभव अल्पज्ञों में परिलक्षित नही होता।

१– उपयोग श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंश्रितौ।
स्याद्वाद: सकलादेश: नया विकलसकथा॥ अकलंक देव विरचित लघीयस्त्रय ।६२।

२– स्याज्जीव एव इत्युक्तेऽनेकान्तविषय: स्याच्छब्द:। स्यादस्त्येव जीव. इत्युक्ते एकान्तविषय: स्याच्छब्द:"।

लघीयस्त्रय पृ० ६२

(३) सार्वज्ञं तव वक्तीश वच: शुद्धिरशेषगा।
न हि वाग्विभवो मन्दधियामस्तीह पुष्कल :।।१३३
वक्तृप्रमाण्यतो देव वच : प्रामाण्यमिष्यते।
न ह्य शुद्धतराद्वक्तु : प्रभवन्त्युज्जवला गिर : ॥ १३४
सप्त भंग्यात्मिकेयं ते भारती विश्व गोचरा।
अनन्त तीर्तिममलां त्वय्युद्भावयितुं क्षमा।। १३५

भगवद् जिनसेनाचार्य विरचित महापुराण, पर्व ३३

प्रभो ! वक्ता की प्रामाणिकता से वचन की प्रामाणिकता मानी जाती है, अपवित्र वक्ता के द्वारा उज्ज्वल वाणी उत्पन्न नहीं होती है।

आपकी विश्व विषयिणी सप्त भंग रूप भारती आप में विशुद्ध आप्त प्रतीति को उत्पन्न करने में समर्थ है।

कवि धनंजय कहते हैं--२ जिस प्रकार ज्वर मुक्त व्यक्ति का बोध उसके स्वर विशेष के द्वारा होता है उसी प्रकार स्याद्वाद वाणी के द्वारा जिनेन्द्र--भगवान की निर्दोषता का ज्ञान होता है।

अपेक्षा---वाणी के द्वारा एक साथ परिपूर्ण सत्य का प्रतिपादन करना संभव नहीं है, इसलिये जिस धर्म का वर्णन किया जाता है, वह प्रधान होता है और अन्य गौण रहते हैं नष्ट नहीं होते हैं। एकान्त दृष्टि में अन्य गौण धर्मों को वस्तु से पृथक् कर उन्हें अस्तित्वहीन बना दिया जाता है, इसलिये मिथ्या एकान्त दृष्टि के द्वारा सत्य का सौंदर्य समाप्त हो जाता है।

अनेकान्त सिद्धान्त के प्रकाण्ड आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं---(१) जिस प्रकार दधि मन्थन कर मक्खन निकालने वाली ग्वालिन अपने एक हाथ से रस्सी के एक छोर को सामने खींचती है तो उसी समय वह दूसरे हाथ के छोर को शिथिल कर पीछे पहुँचा देती है पर छोड़ती नही है पश्चात् पीछे गये हुए छोर को मुख्य बनाकर रस्सी के दूसरे भाग को पीछे ले जाती है इस प्रकार आकर्षण एवं शिथिलीकरण क्रियाओं द्वारा दधि में से सारभूत तत्व मक्खन को प्राप्त करती है। अनेकान्त दृष्टि विवक्षित धर्म को मुख्य एवं अन्य को गौण स्वीकार करती है। इस प्रक्रिया के द्वारा वह तत्वज्ञान रूप अमृत को प्राप्त करती है।

संखिया को जन साधारण की भाषा में प्राणघातक बताया है, वैद्यराज की दृष्टि में उसके विपरीत प्राण रक्षक कहा गया है, इन परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले वक्तव्यों में भी स्याद्वाद सिद्धान्त से विरोध नहीं आता। समझने के लिये देखिये यदि मनमानी मात्रा में बिना योग्य अनुपात के संखिया खाया जाये तो प्राणघातक है। चतुर चिकित्सक के तत्वावधान में यथाविधि सेवन करने पर वही शुद्ध संखिया रोग निवारक है। इसीलिये उसे एक दृष्टि से प्राणरक्षक कहना भी ठीक है, दूसरी दृष्टि से प्राण घातक कहना भी सत्य ही है।

एक तीन इंच लम्बी रेखा खिंची है, उसे न तो हम छोटी कह सकते हैं और न बड़ी। उसका छोटापन अथवा लम्बापन सापेक्ष है, पाँच इंच वाली रेखा ऊपर खींचने पर वह तीन इंच वाली रेखा छोटी कही जायेगी और दो इंच मान वाली तीसरी रेखा खींचने पर वह तीनइंच की रेखा बड़ी कही जायेगी। इसी प्रकार वस्तु स्वरूप के विषय में समझना। समन्वयकारी, परस्पर में मैत्री रखने वाली दृष्टियों से वस्तु का स्वरूप यथार्थ समझ में आता है, अपेक्षाओं के दर्पण में एक वस्तु अनेक प्रकार प्रतिबिम्बित होती है।

१--नानार्थमेकार्थमदस्त्वदुक्तं हितं वचस्ते निशमय्य वक्तुः।
निर्दोषता के न विभावयन्ति ज्वरेण मुक्तः सुगमः स्वरेण।
कवि धनंजय विरचित विषापहार -- २६

२--एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्व मितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थान नेत्रमिव गोपी ॥ पु० सि० उपाय २२५ ॥

स्याद्वाद की सप्त भंगिमा— अब हमें स्याद्वाद के उन नेत्रों को समझना है जिनके माध्यम से वस्तु स्वरूप का छद्मस्थों को समग्र ज्ञान होता है। स्याद्वाद के सात भंग है। पदार्थ के किसी धर्म के सापेक्ष कथन को स्याद्वाद कहते हैं। प्रत्येक वस्तु में प्रत्येक धर्म को अधिक से अधिक सात प्रकार से कहा जा सकता है, इसका कारण है कि उस वस्तु में धर्म सम्बन्धी केवल सात प्रकार की जिज्ञासा मन में उत्पन्न हो सकती है। प्रत्येक भंग के साथ स्यात् निपात लगाना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि यह सभी सापेक्ष कथन है, साथ मे एव (ही) का एवं भी का प्रयोग अनिवार्य है क्योंकि उस अपेक्षा में वस्तु उस रूप ही है, अन्य रूप नही।

वस्तु के अस्तित्व गुण को प्रधान मानने पर सद्भाव सूचक दृष्टि समक्ष आती है और जब प्रतिषेध, निषेध किये जाने वाले धर्म मुख्य होते हैं तब नास्ति नामक द्वितीय दृष्टि उदित होती है। वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से सत्स्वरूप है, वही वस्तु अन्य पदार्थों की अपेक्षा नास्ति रूप होती है। हाथी अपने स्वरूप की अपेक्षा सद्भाव रूप है लेकिन हाथी से भिन्न ऊंट, घोड़ा आदि गज से भिन्न वस्तुओं की अपेक्षा हाथी असद्भावात्मक है, यदि स्वरूप की अपेक्षा हाथी के सद्भाव के समान पररूप की भी अपेक्षा हाथी का सद्भाव माना जाए तो हाथी, ऊट, घोड़े आदि में कोई अन्तर नही रहेगा। जिस प्रकार ऊंट आदि हाथी से भिन्न पदार्थों की अपेक्षा गज को असद्भाव नास्ति रूप कहा जाएगा उसी प्रकार स्वरूप की अपेक्षा भी यदि गज नास्ति रूप हो जाए तो उसका सद्भाव नही रहेगा।

तत्वार्थ राजवार्तिक में आचार्य अकलक देव ने बताया है कि वस्तु का वस्तुत्व इसी में है कि वह अपने स्वरूप को ग्रहण करे और पर की अपेक्षा, अभाव रूप हो। इन विधि और निषेध रूप दृष्टियों को अस्ति और नास्ति, इस प्रकार भिन्न-भिन्न दो धर्मों द्वारा बताया है।

जिस प्रकार चतुष्टय स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल,स्वभाव की अपेक्षा वस्तु अस्ति रूप है और पर चतुष्टय की अपेक्षा नास्ति रूप है परन्तु अस्ति-नास्ति धर्मों को एक साथ वचनों से नही कहा जा सकता है अत: वाणी की असमर्थता के कारण अवक्तव्य, अनिर्वचनीय रूप भी वस्तु कही गयी है। इस विषय में एकान्तवादी वस्तु को सर्वथा अनिर्वचनीय अर्थात् कथन योग्य नहीं है, यह मानते हुये परिहासपूर्ण आलाप करते हैं। इसी कारण स्वामी समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में लिखा है अवाच्यता रूप एकान्त मानने पर वस्तु अवाच्य रूप है एवं अनिर्वचनीय है।

गणित शास्त्र के Low of permutation and combination नियमानुसार अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य इन तीनों भंगों में चार संयुक्त भंग बनकर सप्तभंगी दृष्टि का उदय होता है। नमक, मिर्च, खटाई इन तीनों स्वादों के संयोग से चार और स्वाद उत्पन्न होंगे। नमक, मिर्च, खटाई, नमक मिर्च, नमक खटाई, मिर्च खटाई, नमक, मिर्च और खटाई, इस प्रकार सात स्वाद सिद्ध हुए। इसी प्रकार अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य इन तीन भंगों से संयोगी भङ्ग निर्मित हो जाते हैं। इस सप्त भंगी न्याय की परिभाषा करते हुए जैनाचार्य लिखते हैं— प्रश्नवश एक वस्तु में अवरोध रूप से विधि निषेध अर्थात् अस्ति, नास्ति की कल्पना सप्तभंगी कहलाती है। आचार्य विद्यानन्दि ने अपनी अष्ट सहस्री टीका में लिखा है कि सप्त प्रकार की जिज्ञासा मन में उत्पन्न हो सकती है। इसका भी कारण यह है कि उसका विषय रूप वस्तु धर्म सप्त प्रकार है, सप्तविध जिज्ञासा के कारण सप्त प्रकार के प्रश्न होते हैं, अनन्त धर्मों के सद्भाव होते हुये भी प्रत्येक धर्म में विधि की अपेक्षा सप्तभंगिमा अनन्त धर्मो की अपेक्षा माननी होगी।

सप्त भंग—अनन्त धर्मात्मक वस्तु स्वरूप की विवेचना स्याद्वाद सिद्धान्त सप्त प्रकार से करता है, इन्हीं प्रकारों को सप्त भंगी के नाम से आगम में समादर प्राप्त है, जिस प्रकार आंख एवं पैरों के अभाव में आदमी देखने व चलने में सक्षम नही है, उसी प्रकार सप्तभंगो के अभाव में स्याद्वाद सिद्धान्त भी पंगु, अंधे एवं गूंगे के सदृश कहा जा सकता है। शरीर की

महिमा जिस प्रकार चेतना से होती है, उसी प्रकार स्याद्वाद सिद्धान्त की भी गरिमा सप्तभंगी से है। उन सप्त भंगों के नाम निम्न प्रकार हैं:—

(१) स्याद् अस्ति एव।
(२) स्याद् नास्ति एव।
(३) स्याद् अस्ति-नास्ति एव।
(४) स्याद् अवक्तव्य एव।
(५) स्याद् अस्ति अवक्तव्य एव।
(६) स्याद् नास्ति अवक्तव्य एव।
(७) स्याद् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य एव।

इन सप्त भंगों का संक्षिप्त अर्थ निम्न प्रकार पूर्वाचार्यों ने प्रतिपादित किया है—

स्याद् अस्ति एव– किसी अपेक्षा से वस्तु है ही।

स्याद् नास्ति एव —किसी अपेक्षा से वस्तु है ही नहीं।

स्याद् अस्ति-नास्ति एव —किसी अपेक्षा से वस्तु है ही, किसी अपेक्षा से वस्तु है ही नहीं।

स्याद् अवक्तव्य एव—एक अपेक्षा से वस्तु का एक साथ कथन ही नहीं किया जा सकता है।

स्याद् अस्ति वक्तव्य एव – वस्तु है परन्तु एक अपेक्षा से इसका कथन ही नहीं किया जा सकता है।

स्याद् अस्ति अवक्तव्य एव – वस्तु नहीं है परन्तु एक अपेक्षा से उसका कथन ही नही किया जा सकता है।

स्याद् अस्ति—नास्ति अवक्तव्य एव – वस्तु है भी और नहीं भी है परन्तु एक अपेक्षा से कथन करने योग्य ही नही है।

तू पर में क्यों भरमाता है।

निज के गुण निज में हैं चेतन, तू पर में क्यों भरमाता है।

पर से दृष्टि को फेर ज़रा,

मिल जाये गुणों का सिंधु भरा।

निज में खोजा इनको जिसने,

पाया है शिव पद को उसने।

शिव मिलता है निज गुण से, रे क्यों इनको ठुकराता है।

निज के गुण......

जो गुण स्वभाव है सिद्धों में,

वह ही तेरे में छिपा हुआ।

हैं राग रहित अनुपम वे तो,

तू राग रंग में रंगा हुआ।

तज राग द्वेष क्रोधादि सभी, इनके कारण दुःख पाता है।

कर्तापन से मुख मोड़ सदा,

मिथ्यात्व भाव को दूर भगा।

प्रगटा के दर्शन ज्ञान चारित्र,

शुद्धातम को निज मान सगा।

ये हैं सच्चे सुख के कारण, तू क्यों इनको विसराता है।

पुरुषार्थ किया निज में जिसने,

केवल पद को पाया क्षण में।

सब तोड़ जगत के-दन्द फन्द,

सन्मति निज को ध्यायो निज में।

है ज्ञाता दृष्टा भाव अचल, पर में रम क्यों दुःख पाता है।

निजके गुण निज में हैं चेतन, तू पर में क्यों भरमाता है॥
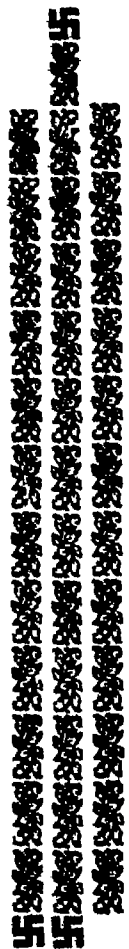
ग—१

सप्तभंगसिद्धि

सप्त भङ्ग सिद्धि

स्याद् अस्ति एव स्वचतुष्टय (स्व द्रव्य, क्षेत्र काल भाव) या अस्तित्व आदि गुणों की अपेक्षा वस्तु है ही। जैसे सत् स्वभाव की अपेक्षा वस्तु है ही। लोक व्यवहार में समझने के लिये अंजना पवनंजय की अपेक्षा उसकीपत्नी ही है।

स्याद् नास्ति एव –पर चतुष्टय एवं पर गुणों की अपेक्षा वस्तु है ही नही।

जैसे—अचेतन गुण की अपेक्षा जीव द्रव्य नही है, हनुमान की अपेक्षा अंजना पत्नि नहीं है।

स्याद् अस्ति-नास्ति एव –स्वचतुष्टय की अपेक्षा वस्तु है और पर चतुष्टय की अपेक्षा वस्तु नही है। जैसें–चेतन गुण की अपेक्षा जीव है और अचेतन गुण की अपेक्षा जीव नही है। अंजना पवनंजय की अपेक्षा पत्नि है किन्तु हनुमान की अपेक्षा पत्नि नही है।

स्याद् अवक्तव्य एव– स्व चतुष्टय की अपेक्षा वस्तु है, पर चतुष्टय की अपेक्षा वस्तु नहीं है परन्तु दोनों अपेक्षाओं का कथन वचनों द्वारा युगपत् सम्भव नही है। अतः वस्तु अवक्तव्य है।

जैसे – जीव में विद्यमान अस्तित्व-नास्तित्व, चेतन-अचेतन, भेद-अभेद आदि अनन्त गुण स्वभावों का युगपत् कथन-संभव नहीं होने सें वस्तु अवक्तव्य है, अंजना में विद्यमान मातृत्व और पत्नित्व धर्म की विवेचना युगपत् संभव नही है अतः अवक्तव्य है।

स्याद् अस्ति अवक्तव्य एव —स्व चतुष्टय की अपेक्षा वस्तु है परन्तु स्व-पर युगपत् चतुष्टय की अपेक्षा अवर्णनीय है। जैसे– जीव ज्ञान गुण की अपेक्षा ज्ञाता है परन्तु ज्ञान दर्शनादि या चेतन–अचेतनादि की युगपत् विवक्षा संभव नहीं होने से अवक्तव्य है। अतः अस्ति अवक्तव्य है। अंजना पवनंजय की अपेक्षा धर्म पत्नी है। परन्तु मातृत्व और पत्नित्व दोनों धर्मों की युगपत् विवक्षा संभव न होने से अवक्तव्य है।

स्याद् नास्ति अवक्तव्य एव —पर चतुष्टय की अपेक्षा वस्तु नहीं परन्तु स्व-पर युगपत् चतुष्टय की अपेक्षा वस्तु अवर्णनीय है। जैसे—अचेतन गुण की अपेक्षा जीव द्रव्य नही है परन्तु चेतन अचेतनादि गुणों की युगपत् विवक्षा संभव नही होने से अवक्तव्य है। अत. नास्ति अवक्तव्य है। अंजना हनु[illegible] की अपेक्षा पत्नि है नही परन्तु मातृत्व और पत्नित्व दोनों धर्मों की युगपत् विवक्षा संभव नहीं होने से अवक्तव्य है।

स्याद्– अस्ति–नास्ति अवक्तव्य एव-स्व चतुष्टय की अपेक्षा वस्तु है पर चतुष्टय की अपेक्षा वस्तु नही है, परन्तु स्व पर युगपत् चतुष्टय की अपेक्षा वस्तु अवर्णनीय है। जैसे—चेतन गुण की अपेक्षा जीव है, अचेतन गुण की अपेक्षा जीव नहीं है, दोनों की युगपत् विवक्षा संभव नही होने से वस्तु अवर्णनीय है, अंजना पवनंजय की अपेक्षा पत्नि है, हनुमान की अपेक्षा पत्नि नहीं है, परन्तु मातृत्व और पत्नित्व दोनों धर्मों की युगपत् विवक्षा संभव नहीं होने से अवक्तव्य है।

'ही' एवं 'भी'—स्याद्वाद सिद्धान्त के माध्यम से वस्तु स्वरूप की विवेचना करते हुए या वस्तु स्वरूप को समझने तथा समझाने के लिये ही एवं भी शब्दों का आचार्यों ने महत्वपूर्ण स्थान दर्शाया है। किसी स्थान पर ही का महत्व है तो किसी स्थान पर भी का महत्वहै। ही एवं भी का प्रयोग सम्यग्ज्ञान में उत्पन्न होने वाले संशय विपर्यय एवं अनध्यवसाय दोषों का निराकरण करने में हेतु है। कुछ लोगों ने स्याद्वाद को संशयवाद या अनिश्चितवाद समझ लिया है। ज्ञात होता है कि स्यात् शब्द के साथ में एव शब्द लगा हुआ है उसकी ओर उनकी दृष्टि नहीं गयी हुई है। ही और भी से नियामकता एवं सापेक्षता की सिद्धि होती है, अत : स्याद्वाद संशयवाद नहीं है, यथार्थवाद है।

जब किसी अपेक्षा से वस्तु की विवेचना की जाती है तब 'ही' शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे—जानने की अपेक्षा आत्मा ज्ञाता ही है, पुत्र की अपेक्षा आदमी पिता ही है।

जब अपेक्षा गौण रहती है तब 'भी' का प्रयोग किया जाता है। जैसे—आत्मा ज्ञाता भी है, दृष्टा भी है। मनुष्य पुत्र भी है, पिता भी है।

स्याद्वाद के दृष्टान्त द्वारा सिद्धि—सापेक्ष रूप स्याद्वाद सिद्धान्त को समझाने हेतु सुप्रसिद्ध दृष्टान्त हाथी के विषय में जात्यन्ध मनुष्यों का शास्त्रों में परिलक्षित है।

जात्यन्ध मनुष्यों ने एक दिन अपनी गोष्ठी में यह तय किया कि अपना जीवन निकला जा रहा है, परन्तु आज तक हाथी कैसा होता है, यह जानने से वंचित रहे हैं, । चलो हम सभी को आज तो हाथी का ज्ञान करना ही है। बस देर क्या थी? कौतुहल वश लाठी टेकते हुए, रास्ता टटोलते हुए पहुंच गये जहां हाथियों का निवास स्थान था। पीलवान से कहने लगे भैया जरा अपना हाथी तो बता दे कैसा होता है। उमंग भरी उत्कंठा को देखकर सहज स्वभाव से पीलवान ने सूरदासों को एक हाथीके पास खड़ा कर कह दिया कि यह है हाथी। अपने अपने हाथों से हाथीको सभीने एक साथ स्पर्श किया। हाथी के स्पर्श करते ही मन ही मन प्रफुल्लित हो उठे और कहने लगे लम्बी जिज्ञासा के उपरान्त आज समझ पाए हैं हाथी के स्वरूप को। एक दूसरे से कहने लगे कि हाथी को मैंने जान लिया। इसी बात को लेकर थोड़ासा शोरगुल परस्पर में हो उठा। उसकी समाप्ति हेतु सभी सूरदास एक स्थान पर बैठकर परस्पर में एक दूसरे को समझाने लगे।

एक बोला हाथी को मैंने देखा है। जैसे—हमारे घर के दरवाजे पर खड़े वृक्ष की पीड़ है या पोर का मोटा खम्भा है वैसा ही हाथी होता है।

पहले की बात काटते हुए दूसरा कहने लगा नहीं भाई तुमने हाथी को देखा ही नहीं। हाथी को मैंने अपने हाथों से जाना है। हाथी वृक्ष की पीड़ या तार के स्तम्भ जैसा नहीं होता, वह तो केले के स्तम्भ जैसा होता है।

तीसरे सूरदास जी से न रहा गया और अपने दोनों साथियों की बात काटते हुए कहने लगा कि हाथी को आप दोनों ने जाना ही नहीं है। उसके स्वरूप को अच्छी तरह से मैं समझ पाया हूं। हाथी, वृक्ष पीड़ एवं केले के स्तम्भ सदृश नहीं, अपितु जैसा अपने घर में धान कूटने का मूसल होता है, उसी प्रकार का हाथी होता है।

तीनों का विरोध करते हुए चौथे सूरदास ने कहा तुम तो कोरे गाल बजाते हो। हाथी को तो मैंने भली प्रकार समझा है, वह वृक्ष, पीड, केले, स्तम्भ एवं मूसल जैसा नहीं है, उसकी आकृति धान्य फटकने के सूप के समान होती है।

इतने में ही चारों का विरोध करते हुए एक सूरदास दीर्घ स्वर में कहने लगा। भाइयों? आप लोगों ने हाथी देखा ही नहीं। यहां बैठे हुए कोरी बकवास क्यों कर रहे हो? हाथी के स्वरूप को मैंने अच्छी तरह समझा है। वह द्वार झाड़ने के झाड़ू के समान करकरा होता है। वृक्ष, पीड़, केले, स्तम्भ, मूसल और सूप जैसा नहीं।

अंतिम सूरदास खड़ा होकर प्लुत स्वर में गौरव एवं विश्वास के साथ कहने लगा मेरे साथियो? आप सभी का कथन निराधार है। हाथी को भली प्रकार मैं समझ पाया हूं। आप लोग सब अपनी-अपनी बात वापिस ले लें। हाथी, वृक्ष, पीड़, केले, स्तम्भ, मूसल, सूप, एवं झाड़ू के समान है ही नहीं। यह आप सभी की कपोल कल्पित कल्पना है। हाथी का रूप तो जैसा अपना कंडा का पिटोरा होता है ठीक वैसा ही होता है।

एक दूसरे की बात सुनकर परस्पर विसंवाद की स्थिति उपस्थित हो गई। सभी सूरदास शोरगुल के साथ जोर-जोर से कहने लगे, हाथी को तो हमने जाना है, हमने जाना है, तुम तो सरासर झूठ बोल रहे हो। स्थिति तनावपूर्ण होती गई और धक्का मुक्की की नौबत आ खड़ी हुई।

यह तमाशा देखते हुये हाथी-मालिक ने कहा भाइयो ? परस्पर में व्यर्थ ही क्यों लड़-झगड़ रहे हो ? अपेक्षा से आप सभी का कहना सत्य है। शान्ति से सुनो, आपको मैं समझाता हूं।

आप सभी ने हाथी के एक-एक अंग को हाथ से टटोलकर उसे ही पूरा हाथी समझ लिया है, इसीलिये परस्पर में विवाद उपस्थित हो रहा है। हाथी के एक-एक अंग को पूरा हाथी नहीं कहा जा सकता। परस्पर में सभी अंगों अर्थात् पैर, सूंड़, दांत, कान, पूंछ, शरीर को मिला देने से हाथी का वास्तविक रूप समझ में आ जायेगा। एक-एक अंग की अपेक्षा आप सभी का कथन सत्य है, परन्तु एक-एक अंग पूर्ण हाथी नहीं है वह तो हाथी के अवयव हैं। ध्यान दो, मैं आप सभी की बात का स्पष्टीकरण कर रहा हूं–

पैरों की अपेक्षा हाथी वृक्ष की पीड़ या स्थूल स्तम्भ जैसा है।

सूंड़ की अपेक्षा हाथी केले के स्तम्भ के समान कहा जाता है।

श्याम लगे दांतों की अपेक्षा हाथी को मूसल सदृश कहा जा सकता है। कानों की अपेक्षा हाथी को धान्य फटकने के सूप के समान कहा जा सकता है।

पूंछ की अपेक्षा हाथी द्वार झाड़ने के समान कहा जा सकता है।

शरीर की अपेक्षा हाथी को कंडों के पिटारे के समान कहा जा सकता है।

अतः आप सभी लोगों का कहना एक एक अंग की अपेक्षा सत्य है। सभी सूरदास हस्ति मालिक को वाह वाह करके धन्यवाद देते हुए कहने लगे, बन्धुवर? हम लोगों ने चक्षुओं के अभाव में हाथी के एक अंग को ही हाथी समझ लिया, इसीलिये परस्पर में विवादास्पद स्थिति हो चुकी थी। आपने हमारा महान उपकार किया—हाथी के सही रूप को बताकर, जिससे हमारे विवादोंका हल तो हुआ ही, साथ ही हाथी का यथार्थ स्वरूप भी समझ में आ गया।

जिस प्रकार हाथी के एक-एक अवयव को ही संपूर्ण हाथी समझकर सूरदासों के बीच विवादास्पद स्थिति उत्पन्न हो चुकी थी, ठीक उसी प्रकार वस्तु स्वरूप मे विद्यमान अनन्त गुणों या अंगों में से किसी एक को पकड़कर सम्यग्ज्ञान नय रूप नेत्रों से विहीन अगणित एकान्तवादियों के बीच परस्पर में विवादास्पद तनावपूर्ण स्थिति उत्पन्न होती जा रही है। कोई कहता है द्रव्य शुद्ध ही है, कोई कहता है नित्य ही है, कोई कहता है अनित्य ही है। इस प्रकार स्याद्वाद रूप नयज्ञान में अन्ध एकान्त वादियों द्वारा विसंवाद आज भी स्थान-स्थान पर देखने में आ रहे है।

स्याद्वाद में नय प्रयोग:—इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि स्याद्वाद के सप्त भंग किसी कपोल कल्पना पर आधारित नहीं हैं, बल्कि मानव मन की तर्क मूलक प्रवृत्ति को संपूर्ण रूप से समाधान करने के लिये जैन धर्म की सुरक्षित वैज्ञानिक देन है। स्याद्वाद के सप्त भंगों के द्वारा वस्तु स्वरूप को समझने के लिये नय ज्ञान आवश्यक है। नयों को नयन भी कहते हैं। नेत्र दो होते हैं, वे आपस में झगड़ते नही हैं, बल्कि पदार्थ को देखने में सहायक बनते हैं। इसी प्रकार मूल में नय भी दो हैं, निश्चय एवं व्यवहार। ये नय वस्तु को समझाने में सहायक होते हैं। व्यवहार नय निश्चय नय का साधक होता है, विरोधी नही। यदि यह नय दूसरे की अपेक्षा से रहित होते हैं तो मिथ्या नाम पाते हैं। आगम में सापेक्ष नय को ही सम्यक् स्वीकार किया गया है। दोनों नयोंमें से किसी एक नय का अभाव स्वीकार नही किया जा सकता? कथनकी अपेक्षा एक को मुख्य और दूसरे को गौण किया जाताहै। यदि हम व्यवहार नय को नहीं मानते तो समयसार की टीका में आचार्य कहते हैं कि यदि व्यवहार नय को नहीं मानते तो तीर्थ का लोप हो जाता है तथा मोक्ष मार्ग का अभाव होने से मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा। यदि निश्चय को नही मानते हो तो वस्तु तत्व का ज्ञान नहीं होता है अथवा आत्मस्वभाव की उपलब्धि नहीं हो सकती अतः वस्तु स्वरूप को समझने तथा जैन धर्म की निजी निधि को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये

दोनो नयों का ज्ञान आवश्यक है नयों का स्वरूप एवं प्रयोजन न समझने से ही समाज में विभिन्न प्रकार के विसंवाद तथा विघटन की स्थिति उत्पन्न हो रही है। आचार्यों ने व्यवहार को साधन और निश्चय को साध्य कहा है।

जिस प्रकार नदी के दोनों तट एक दूसरे के प्रतिकूल होते हुए भी नदी में प्रवाहित होने वाले जल के लिये अनुकूल ही होते हैं। यदि दोनों तटों में से कोई एक तट हट जाये तो नदी अपना अस्तित्व खो देती है तथा आस पास के क्षेत्र को भी क्षतिग्रस्त कर देती है। इसी प्रकार निश्चय एवं व्यवहार में प्रतिकूल होते हुए भी प्रमाण स्वरूप नदी के लिये अनुकूल ही होते है। दोनों नयों में से एक का भी अभाव करने पर प्रमाण अर्थात् समस्त वस्तु स्वरूप को समझा ही नहीं जा सकता।

इस प्रकार नय के माध्यम से स्याद्वाद शैली के द्वारा अनेक धर्मात्मक वस्तु को समझकर उत्पन्न हुए एकान्तवाद के विवादों को दूर करना चाहिये। आचार्य प्रवर अकलंक देव यहाँ तक कहते हैं कि यदि वस्तु स्वरूप स्वयं अनेक धर्ममय न होता, और वह एकान्तवादियों की धारणा के अनुरूप होता तो हम उसी प्रकार वर्णन करते। जब अनेकान्त स्वरूप को स्वयं पदार्थों ने धारण किया है, तब हम क्या करें?

यदीदंस्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम् पदार्थ का स्वरूप लोकमत या लोकधारणा के आधार पर नही बदलता वह पदार्थ अपने सत्य सनातन स्वरूप का त्रिकाल में भी परित्याग नही करता। अविनाशी सत्य स्वयं अपने रूप में रहता है। हमारे अभिमत की अनुकूलता प्रतिकूलता का उसके स्वरूप पर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सारा जगत अपने विविध संगठित मतों के आधार पर भी पूर्वोदित सूर्य को पश्चिम में उदय प्राप्त नहीं बना सकता।

विभिन्न दर्शनिकों की मान्यतायें:—स्याद्वाद सिद्धांत से विमुख कुछ एकान्त दार्शनिक मान्यताओं का वर्णन करना उचित समझता हूं जिन्हें स्याद्वाद रूपी रसायन के संयोग बिना जीवन नहीं मिल सका है।

सांख्य दर्शन आत्मा को सर्वथा नित्य ही मानता है, और बौद्ध दर्शन आत्मा को सर्वथा अनित्य क्षणिक ही मानता है। इन दोनों दर्शनों की मान्यता में पूर्व पश्चिम का सा अन्तर है।

शंका—यदि आत्मा एकान्त से नित्य ही है तो नरक, देव, पशु, मनुष्य के रूप में परिवर्तन क्यों होता है? कूटस्थ नित्य में तो किसी भी प्रकार परिवर्तन अथवा हेर फेर नहीं होना चाहिए किन्तु परिवर्तन होता है अत: आत्मा को कूटस्थ नित्य मानना भ्रांति है, यदि आत्मा सर्वथा अनित्य ही है तो यह वस्तु नहीं है जो मैंने पहले देखी थी। ऐसा प्रत्यभिज्ञान नहीं होना चाहिये तथा लेन देन का व्यवहार सुख-दुख एवं कर्म का फल आदि कैसे सम्भव है? अत: सर्वथा अनित्य ही है, यह मान्यता भी दोषयुक्त है, एकान्त तथा भ्रांति है।

क्षणिकवादी बौद्धों के द्वारा मानी गयी वस्तु को सर्वथा अनित्यता का उत्तर देते हुए स्याद्वाद कहते हैं कि द्रव्य द्रष्टि से प्रत्येक आत्मा शास्वत है लेकिन पर्याय द्रष्टि से परिणमन स्वभाव वाला होने से उत्पाद व्यय करता हुआ विभिन्न पर्यायों को धारण करने वाला है। पर्याय क्षणिक भी होती है अत: शुद्ध अथ पर्यायार्थिक नय से यह कथन सत्य कहा जा सकता है, सर्वथा नहीं।

युक्त्यनुशासन में स्वामी समन्त भद्राचार्य का कथन है कि एकान्त रूप से क्षणिक तत्व मानने पर पुत्र की उत्पत्ति क्षण में माता का स्वयं नाश हो जायगा। दूसरे क्षण में पुत्र का प्रलय होने से सन्तति का भी अभाव मानना पड़ेगा। लोक व्यवहार से माता के विनाश के लिये प्रवृति करने वाला मातृघाती नहीं कहलायेगा। कुलीन महिला का कोई पति

---

१. "प्रतिक्षणं भंगिषु तत्पृथक्त्वान्, मातृघाती स्वपतिः स्वजाया दत्तग्रहो नाधिगत स्मृतिर्न, क्त्वार्थ सत्यं न कुलं न जातिः"
स्वामी समन्त भद्राचार्य विरचित युक्त्यनुशासन १६।

नहीं कहलायेगा। कारण-जिसके साथ विवाह हुआ दूसरे क्षण उसका भी विनाश होने से नवीन की उत्पत्ति होगी इस प्रकार पर स्त्री सेवन का उस व्यक्ति को प्रसंग आएगा। इसी नियमानुसार स्व स्त्री भी नहीं होगी, हिंसा, अहिंसा आदि का भी महत्व क्षणिक वाद में नहीं रहेगा।

धनी पुरुष किसी व्यक्ति को ऋण में धन देते हुए भी उस सम्पत्ति को बौद्ध तत्व ज्ञान के अनुसार पा नहीं सकेगा, क्योंकि ऋण देने के दूसरे ही क्षण साहूकार का नाश हुआ, लिखित साक्षी भी नहीं रही और न उधार लेने वाला बचा। शास्त्राभ्यास भी विफल हो जावेगा। कारण—स्मृति सदभाव क्षणिक तत्वज्ञान में नहीं रहेगा आदि दोष क्षणिकैकान्त की स्थिति संकटपूर्ण बना देते हैं।१

क्षणिक पक्ष में कारण से कार्य की उत्पत्ति के विषय में भी अव्यवस्था होगी। बौद्ध दर्शन की मान्यता के अनुसार (सर्वं क्षणिकं सत्वात्) कारण सर्वथा हो जायेगा और कार्य बिल्कुल नवीन होगा। इसलिये उपादान नियम की व्यवस्था नहीं होगी, उपादान का कोई अस्तित्व नहीं है। सूत के बिना भी सूती वस्त्र की उत्पत्ति होगी, सूतरूपी उपादान कारण का कार्य रूप वस्त्र परिणमन बौद्ध स्वीकार नहीं करता। असत् कार्यवाद स्वीकार करने पर आकाश पुष्प या खर विषाणकी तरह पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होगी। ऐसी स्थिति में उपादान नियम के अभाव होने पर कार्य की उत्पत्ति में कैसे संतोष होगा? असत् रूप कार्य की उत्पत्ति मानने पर तन्तुओं से वस्त्र उत्पन्न होता है और लकड़ी से नहीं होता, यह नियम नहीं पाया जायेगा।

आशय यह है कि कोई पदार्थ सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य नहीं होता, किन्तु परिणामी नित्य है। परिणामी नित्य का अर्थ है—प्रतिसमय निमित्तानुसार भिन्न भिन्न अवस्थाओं मे परिवर्तित होते हुए भी अपने स्वरूप का परित्याग नहीं करना और प्रति समय निमित्तानुसार परिवर्तन करते रहना यही द्रव्य का परिणाम कहलाता है। प्रत्येक द्रव्य में दो शक्तियां होती है। प्रथम जो तीनों कालों में शाश्वत है और दूसरी जो सदा विनाशीक है। शाश्वतता अर्थात् द्रव्यार्थिक अपेक्षा प्रत्येक वस्तु ध्रौव्यात्मक है। नश्वर अर्थात् पर्यायार्थिक अपेक्षा प्रत्येक वस्तु उत्पाद व्ययात्मक कहलाती है।

कोई अन्य विचारक बौद्ध दर्शन की मान्यता के विपरीत वस्तु को एकान्त रूप से नित्य मानते हैं। इस सम्बन्ध में समन्तभद्राचार्य युक्त्यनुशासन में लिखते हैं कि—

पदार्थों के नित्य मानने पर विक्रिया परिवर्तन का अभाव होगा और परिवर्तन होने पर कारणों का प्रयोग करना अप्रयोजनीय ठहरेगा इसलिये कार्य भी नहीं होगा, बंध भोग तथा मोक्ष का भी अभाव होगा। इस प्रकार सर्वथा नित्यत्व मानने वालों का पक्ष अनंत दोषपूर्ण होता है। २

एकान्त नित्य सिद्धान्त मानते पर अर्थ क्रिया नहीं पायी जायेगी, पुण्य पाप रूप क्रिया का भी अभाव होगा, ऐसा आप्तमीमांसा में कहा है। ३

वस्तु स्वरूप की द्रष्टि से विचार किया जाय तो उसमें क्षणिकत्व के साथ नित्यत्व धर्म भी पाया जाता है। इस सम्बन्ध में दोनो द्रष्टियों का समन्वय करते हुए स्वामी समन्त भद्राचार्य लिखते हैं—

---

१. "न असत्सर्वथा कार्यं तन्मा जनि ख पुष्पवत्। मो पा दाननियामो भून्माऽऽश्वास: कार्य जन्मनि"
स्वामी समन्त भद्राचार्य विरचित आप्तमीमांसा ४२।

२. "भावेषु नित्येषु विकार हानेर्न, कारक व्यापृतकार्य युक्ति: न बंध भोगौ न च तद्विमोक्ष: समन्तदोषं मतमन्य दीयम्"
स्वामी समन्त भद्राचार्य विरचित युक्त्यनुशासन ८।

३. "पुण्यपाप क्रिया न स्यात् प्रेत्य भाव: फलं कुत: बन्ध मौक्षौ च तेषां न येषां त्वं नासि नायक:"
स्वामी समन्त भद्राचार्य विरचित आप्तमीमांसा ५०।

वस्तु नित्य है, कारण उसके विषय में प्रत्यभिज्ञान का उदय होता है। दर्शन और स्मरण ज्ञान का संकलन रूप ज्ञान विशेष प्रत्यभिज्ञान कहलाता है। जैसे— वृक्षको देखकर कुछ समय के अनन्तर यह कथन करना कि यह वही वृक्ष है जिसे हमने पहले देखा था। यदि वस्तु नित्य न मानी जाय तो वर्तमान में वृक्ष को देखकर पहले देखे गये वृक्ष सम्बन्धी ज्ञान के साथ सम्मिश्रित ज्ञान नहीं पाया जायेगा। १

यह प्रत्यभिज्ञान अकारण नहीं होता, उसका अविच्छेद पाया जाता है। दूसरी दृष्टि से (अवस्था की दृष्टि से) तत्व को क्षणिक मानना होगा, कारण वही प्रत्यभिज्ञान नामक ज्ञान का पाया जाना है। क्षणिक तत्व को माने बिना वह ज्ञान नहीं बन सकता, कारण-इसमें काल का भेद पाया जाता है। पूर्व और उत्तर पर्याय में प्रवृत्ति का कारण कालभेद अस्वीकार करने पर बुद्धि में दर्शन और स्मरण की संकलन रूपता का अभाव होगा। प्रत्यभिज्ञान में पूर्व और उत्तर पर्याय बुद्धि का संचरण कारण पड़ता है।

सुवर्ण की दृष्टि से कुण्डल का कंकड़ रूप में परिवर्तन होते हुए भी कोई अन्तर नहीं है इसलिये स्वर्ण की अपेक्षा उक्त परिवर्तन होते हुए भी उसे नित्य मानना होगा, पर्याय की दृष्टि से उसे अनित्य कहना होगा, क्योंकि कुण्डल पर्याय का क्षय होकर कंकड़ अवस्था उत्पन्न हुई है। इसी तत्व को समझते हुये आप्त मीमांसा में स्वर्ण के यह नाश और मुकुट निर्माण रूप पर्यायों की अपेक्षा अनित्य मानते हुए स्वर्ण की दृष्टि से उसी पदार्थ को नित्य भी सिद्ध किया है, यह आप्त-मीमांसाकार के शब्द हैं। २

वेदान्तवादी अद्वैत तत्व का समर्थक एक ब्रह्म द्वितीयं नास्ति कथन द्वारा द्वैत तत्व का निषेध करता है इस विषय पर विचार किया जाय तो इस पक्ष की दुर्बलता को जगत का अनुभव स्पष्ट करता है। यदि सर्वत्र एक ही ब्रह्म का साम्राज्य हो तब जब एक का जन्म हो, उसी समय अन्य का मरण नहीं होना चाहिये।

एक के दु:खी होने पर उसी समय दूसरे को सुखी नहीं होना चाहिये किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। जब किसी का जन्म है, उसी समय अन्य का मरण आदि होता है। ३

किन्हीं वेदान्तियों का कथन है कि जिस प्रकार एक बिजली का प्रवाह सर्वत्र विद्यमान रहता है फिर भी जहां बटन दबाया जाता है, वहां प्रकाश हो जाता है, सर्वत्र नहीं। इसी प्रकार एक व्यापक ब्रह्म के होते हुये भी किसी का जन्म किसी का मरण आदि होना न्यायोचित है।

इस समाधान पर सूक्ष्म विचार किया जाय तो इसकी सदोषता स्पष्ट हो जाती है। बिजली का अविच्छिन्न प्रवाह देखकर भ्रम से विद्युत को सर्वत्र एक समझते हैं, यथार्थ में विद्युत एक नहीं है। जैसे पानी के नल में प्रवाहित होने वाला जल बिन्दु पुंग रूप है। एक-एक बिन्दु पृथक्-पृथक् है, समुदाय रूप पर्याय होने के कारण वह एक माना जाता है, यही न्याय बिजली के विषय में जानना चाहिये। जलते हुये बिजली के और बुझे हुए बल्ब की विद्युत में प्रवाह की दृष्टि से एकत्व होते हुए भी सूक्ष्म दृष्टि से अन्तर है। भ्रमवश सदृश को एक माना जाता है। नाई के द्वारा पुन: पुन: बनाये जाने वाले में पृथकता होते हुए भी एकत्व की भ्रांति होती है। इसी प्रकार ब्रह्म द्वैतवादी का एकत्व भी भ्रांति होती है।

---

१. "नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञानान्नाकस्मात्तदविच्छिदा क्षणिकं काल भेदात्ते बुद्धय संचर दोषत:" आप्तमीमांसा ५६।

२. घटमौलि सुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिष्वयम् शोक प्रमोदमाध्यस्थ्यं, जनोयाति सहेतुकम्" स्वामी समन्त भद्राचार्य विरचित आप्तमीमांसा ५९।

३. यदैवैकोऽश्नुते जन्म जगंनिमृत्युं सुखादिवा तदैवान्योन्यविरुद्धंया भिन्ना: प्रत्यगभंगिन: पं० प्रवर आशाधर जी विरचित अनगार धर्मामृत पृ १०६।

अद्वैत तत्व के समर्थन में कहा जाता है 'माया के कारण भेद प्रतीति अपरमार्थ रूप में हुआ करती है, यह ठीक नहीं है, कारण भेद को उत्पन्न करने वाली माया यदि वास्तविक है तो माया और ब्रह्म का द्वैत उत्पन्न होता है यदि माया अवास्तविक है, तो खर विषाण के समान वह भेद बुद्धि को कैसे उत्पन्न कर सकेगी ?

अद्वैत के समर्थन में कोई उक्ति दी जाती है तो हेतु तथा साध्य रूप द्वैत आ जायेगा। कदाचित् हेतु के बिना वचन मात्र से अद्वैत प्ररूपण ठीक माना जाय तो उसी न्याय से द्वैत भी सिद्ध होगा। १

अद्वैत शब्द जब द्वैत का निषेध परक है तो वह स्वयं द्वैत के सद्भाव को सूचित करता है। निषेध किये जाने वाले पदार्थ के अभाव में निषेध नहीं किया जाता। अतः अद्वैत शब्द की दृष्टि से द्वैत तत्व का सद्भाव असिद्ध नहीं होता। २

एक मार्मिक शंकाकार कहता है—

यदि वास्तविक द्वैत को स्वीकार किये बिना अद्वैत शब्द नही बन सकता तो वास्तविक एकान्त के अभाव में उसका निषेधक अनेकान्त शब्द भी नहीं हो सकता। ३

इसके समाधान में आचार्य विद्यानन्द कहते हैं कि हम सम्यक् एकान्त से सद्भाव को स्वीकार करते हैं वह वस्तुगत अन्य धर्मों का लोप नहीं करता। मिथ्या एकान्त अन्य धर्मों का लोप करता है अतः सम्यक् एकान्त रूप तत्व इस चर्चा मे बाधक नहीं है।

पुण्य पाप रूप कर्म द्वैत, शुभ अशुभ फल द्वैत, इह लोक, परलोक रूप लोक द्वैत, विद्या अविद्या रूप द्वैत तथा बंध मोक्ष रूप द्वैत का अभाव हो जायगा। ४

समन्तभद्राचार्य इस द्वैत अद्वैत एकान्त के विवाद का निराकरण करते हुए कहते हैं—

सत्सामान्यात्तु सर्वैक्यं पृथक् द्रव्यादिभेदतः ३४।

सामान्य सत्व की अपेक्षा सब एक है, द्रव्य, गुण, पर्याय आदि की दृष्टि से उनमें पृथकपना है। इस दृष्टि से एकत्व का समर्थन होता है, साथ ही अनेकत्व भी पारमार्थिक प्रमाणित होता है।

कुछ अज्ञानवादी सर्वथा ज्ञान के अभाव को मुक्ति मानते हैं। आत्मा मुक्त हो जाता है तब भी ज्ञान युक्त रहता है। जैनाचार्य कहते हैं कि आत्मा से ज्ञान कभी अलग नहीं होता। प्रवचनसार में कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि "ज्ञानमेव आत्मा" अर्थात् ज्ञान ही आत्मा है और यही बात आचार्य देवसेन स्वामी ने आलाप पद्धति में कही है कि ज्ञान के बिना आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं रहता, फिर ज्ञान के अभाव में आत्मा को कैसे स्वीकार किया जा सकता है? हां, मतिज्ञान आदि चार क्षायोपशमिक ज्ञानों का अभाव होने पर ही मुक्ति होती है इस अपेक्षा से उनका कथन सत्य हो सकता है। नियत एकान्तवादी की मान्यता है कि जो होना है वह निश्चित है, कुछ भी करने धरने की भावना मिथ्या है। जबकि कार्य की सिद्धि पुरुषार्थ की आधार शिला पर आधारित है। कुछ विषय लोलुपी एकान्तवादियों की मान्यता है कि शरीर ही जीव है, कहते भी हैं—

---

१. "हेतोरद्वैत सिद्धिश्चेत् द्वैतं स्यात् हेतु साध्ययोः हेतुना चेद्विना सिद्धि द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम्"। स्वामी समन्त भद्र विरचित आप्तमीमांसा २६।

२. "अद्वैतशब्दः स्वाभिधेय प्रत्यनीक परमार्थापेक्षो नञ्पूर्वाखण्डपदत्वात् अहेत्व भिधानवत्"। अष्टसहस्री पृ० १६१।

३. "अद्वैतं न विना द्वैतात् अहेतुरिव हेतुना संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यात् ऋते क्वचित्" आप्तमीमांसा २७।

४. "कर्म द्वैतं फल द्वैतं लोकद्वैतं चनो भवेत् विद्याऽविद्या द्वयं न स्यात् बंध मोक्षं द्वयं तथा" आप्तमीमांसा २५।

यावत् जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः । ।

जब तक जीना है, खाओ पिओ मजा उड़ाओ । घर में नहीं है तो कर्ज लेकर ऐश करो । शरीर के नष्ट हो जाने पर पुनः संसार में आगमन सम्भव नहीं है ।

जैनाचार्यों के मत में शरीर एवं आत्मा दोनों अत्यन्त भिन्न द्रव्य हैं । मात्र उपचार से शरीर के संयोग को जीव कहा जाता है और विषय कषायों के सेवन से तो भव भवान्तरों में दुःख ही मिलेंगे । एक शरीर छूटने पर तत्क्षण दूसरा शरीर मिल जाता है । इस प्रकार विभिन्न एकान्त मतों को स्याद्वाद अपने में समाहित कर आपस में होने वाले विवादों को जड़ मूल से उखाड़ फेंकता है ।

सापेक्षः—सापेक्ष रूप स्याद्वाद को समझना सरल ही नहीं सरलतम है । एक मनुष्य को देखिये वह कितने सम्बन्धों से जुड़ा रहता है, जो कि परस्पर विरोधी प्रतीत होने पर भी उसमें यथार्थ रूप से पाये जाते हैं । जैसे कि वह पिता भी है और पुत्र भी है, मामा भी है और भान्जा भी होता है और बहनोई भी, पति भी होता है और भाई भी । इन विपक्षी धर्मों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि एक ही मनुष्य में इतने अधिक विरोधी धर्म किस प्रकार सम्भव हैं ?

शान्ति से विचार करने पर विरोधी प्रतीत होने वाले सम्बन्ध भी सहज में समझ में आ जाते हैं । जैसे मनुष्य अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र है, तो वही अपने पुत्र की अपेक्षा पिता भी है, अपने भान्जे की अपेक्षा से मामा है तो वही अपने मामा की अपेक्षा भान्जा भी है, अपने बहनोई जी की अपेक्षा से साला है तो अपने साले की अपेक्षा से बहनोई भी है, अपनी विवाहिता धर्म पत्नी की अपेक्षा पति है तो अपने भाई बहिन की अपेक्षा भाई भी है । इसी प्रकार विश्व के समस्त पदार्थ वह जड़ हों या चैतन्य सभी में विरोधी धर्म परिलक्षित होते हैं । जैसे दूध को ही देखिये वह लाभदायक भी है और हानिप्रद भी, एक स्वस्थ व्यक्ति के लिये वह परम लाभदायक है और वही दूध एक अतिसार के रोगी के लिये महान हानिकारक है ।

आत्माः—अन्य पदार्थों की तरह हमारे आत्मा में भी अगणित विरोधी धर्म दृष्टिगोचर होते हैं । जैसे—आत्मा शुद्ध भी है और अशुद्ध भी, अखण्ड अभेद रूप भी है और खण्ड-खण्ड भेद रूप भी, संसारी भी है और सिद्ध भी, खाता पीता भी है और निराहार भी, जन्म मरण से सहित भी है और रहित भी, आत्मा के ऊपर कर्मों का प्रभाव पड़ता भी है और नहीं भी पड़ता है, आत्मा ज्ञानी भी है और अज्ञानी भी, आत्मा कर्ता, भोक्ता भी है और अकर्ता, अभोक्ता भी है, एक आत्मा का दूसरे आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं भी है और है भी, शरीरादि पर द्रव्य आत्मा के नही भी है और है भी, आत्मा वीतरागी भी है और रागी भी है इत्यादि ।

परम वीतरागी सर्वज्ञ प्रणीत स्याद्वाद सिद्धान्त से विमुख कतिपय महानुभाव आत्मा के अन्दर विद्यमान अनेक धर्मों को लेकर विसम्वाद करते हैं, अगर वह पक्षपात से विमुख होकर स्याद्वाद दृष्टि से आत्मस्वरूप का अवलोकन करें तो सभी अपेक्षाओं से आत्मतत्व परिलक्षित होने लगेगा । इनमें से कुछ महत्वपूर्ण पहलूओं को स्याद्वाद दृष्टि से यहां रखने का प्रत्यन कर रहा हूं ।

शुद्धः—शान्ति, स्वचतुष्टय, सद्भाव एवं राग द्वेषादि पर संयोग विभाव भावों के अभाव की अपेक्षा से आत्मा शुद्ध, बुद्ध, निरञ्जन, निर्विकार भी है ।

अशुद्धः—पुद्गल द्रव्य के संयोग एवं रागद्वेष क्रोधादि कषायों तथा विभाव परिणति आदि विकार भावों की अपेक्षा आत्मा अशुद्ध भी है ।

भेद रूपः—ज्ञान दर्शनादि अनन्त गुणों की अपेक्षा या गुण, व्यञ्जन पर्यायों की अपेक्षा या संज्ञा, संख्या लक्षणादि की अपेक्षा से आत्मा भेद रूप है ।

अभेद रूप:—गुण, पर्याय एवं संज्ञा संख्या लक्षणादि में प्रदेश भेद नहीं है, इस अपेक्षा से आत्मा अखण्ड, अभेद एक स्वरूप है।

संसारी:—आस्रव बंध के कारण अष्ट कर्मों के चक्कर में फंसा हुआ रागी, द्वेषी, मोही, लोभी जन्ममरणादि के निर्वचनीय दु:खों को उपार्जन करने वाला होने की अपेक्षा एवं पंच परावर्तन रूप परिभ्रमण की अपेक्षा से आत्मा संसारी है।

सिद्ध:—संसार परिभ्रमण के कारण अष्ट कर्म एवं रागद्वेषादि विभाव भावों के अभाव की अपेक्षा एवं विशुद्ध ज्ञा-कितादि अनन्त गुणों की उपलब्धि की अपेक्षा आत्मा सिद्ध, मुक्त तीन लोक के अन्तिम भाग में अनन्त निर्विकार गुणों के साथ परमानन्द में विलीन है।

खाता-पीता:—क्षुधा वेदनीय कर्म के उदय में, संयोगी अवस्था आहार पानी प्रत्यक्ष रूप से इच्छापूर्ति के लिये ग्रहण करता देखा जाता है, इस आत्मा से आत्मा खाता-पीता है तथा आत्मा अरूपी है, रस रूपादि से रहित है, ज्ञानामृत का पान करने वाला है, पुद्गल द्रव्य के संयोग से रहित है, उस अपेक्षा से आहार पानी का अभाव है।

जन्म-मरण:—विभाव व्यञ्जन पर्यायों की अपेक्षा आयु कर्म के कारण जन्म मरण होता है। नवीन शरीर की उत्पत्ति जन्म एवं पूर्ण शरीर के वियोग को मरण कहते हैं तथा अपने अखण्ड अविनाशी ज्ञायक भाव की अपेक्षा से आत्मा जन्म, मरण के दु:खों से पूर्णतया विमुक्त है।

कर्म-प्रभाव:—राग द्वेष विभाव परिणति से परिणति शरीर सहित आत्मा के ऊपर कर्मों का पूर्ण प्रभाव पड़ता है वह ससार के सभी कार्य जैसे—जन्म-मरण खाना-पीना, सोना जागना, जाना-आना, उठना बैठना आदि। कर्म संयु-क्त भेद विज्ञान सहित आत्मा के ऊपर कर्मों का ही पूर्ण प्रभाव रहता है, वह जैसे नचाते हैं, वैसे ही नाचना पड़ता है। पुण्य, पाप, शुभाशुभ सामान्य सुखदुख यह सभी कर्मकृत है। नरक-स्वर्ग आदि पर्यायें भी कर्माश्रित हैं, संसार अवस्था की सभी पर्यायें एवं गुणस्थान तथा २० प्ररूपणादि सभी कार्यों के द्वारा परिचालित है।

इतना अवश्य है जो महापुरुष कर्मों की बेड़ियों में जकड़ा हुआ भी सम्यक्त्वाचरण एवं संयमाचरण भेद विज्ञान रूप व्यवहार-निश्चय रत्नत्रय को पुरुषार्थ करके अनेक कठिनाईयों के बीच रहकर भी धारण कर लेता है। उस ज्ञानी पुरुषार्थी महापुरुष की कर्मरूपी बेड़ी सहज में टूटकर नीचे गिर जाती है, अर्थात् कर्म निर्जरित हो जाते हैं। उसके लिये कर्म अकिं-चित्कर जैसे हो जाते हैं अर्थात् संसार अवस्था में आत्मा के ऊपर कर्मों का प्रभाव रहता है एवं मुक्त अवस्था में आत्मा कर्मों से सर्वथा अप्रभावी है।

ज्ञानी:—निगोद अवस्था में भी जीव के पर्याय नाम का मति श्रुत ज्ञान निवारण रहता है। उस अपेक्षा से एव केवलज्ञान शक्ति से निहित होने के कारण या सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा से तथा ज्ञान आत्मा का विशेष गुण होने के कारण आत्मा ज्ञानी है एवं अल्पज्ञान या मिथ्याज्ञान की अपेक्षा या पूर्ण ज्ञान के अभाव (केवल ज्ञान के अभाव) की अपेक्षा अज्ञानी भी है।

कर्ता-भोक्ता:—व्यवहार नय या निमित्त की अपेक्षा से आत्मा, अहिंसा हिंसा, मारना-बचाना, संयोग-वियोग, सुख-दुख, जन्म-मरण, लाभ-हानि, रक्षक-भक्षक, लड़ाई-झगड़े, मेल-मिलाप, शादी विवाह आदि अनेक कर्मों का कर्ता है एवं अच्छे तथा बुरे स्वकृत कर्मों के फलों को भी संयोग अवस्था में भोगने वाला है। निश्चय नय की अपेक्षा से आत्मा उपयोग का कर्ता है, पर द्रव्यों का कर्ता नहीं है तथा पारमार्थिक भाव की अपेक्षा से द्रष्टिपात किया जाय तो कर्तापने का आत्मा में अभाव है, वह तो ज्ञाता द्रष्टा है।

संबंध:—संयोग एवं निमित्तों की अपेक्षा आत्मा का अन्य भव्यात्माओं एवं द्रव्यों से सम्बन्ध है। जैसे उपचारित असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा तीर्थंकर केवली वीतराग भगवान बोलते हैं उनकी सर्वतोभद्र वाणी को ही जिन वाणी

कहते हैं। स्वजाति असद्भूत उपचरित नय की अपेक्षा से प्रियागना इष्ट मिष्ट परिजन आदि को चेतन कहा जाता है। विजाति असद्भूत उपचरित नय की अपेक्षा से सोना, चांदी, धन, मकान, दुकानादि जड़ वैभव को जीव का कहा जाता कहने में भी आता है कि यह मेरा मकान है, यह मेरा वैभव है। स्वजाति विजाति की अपेक्षा से देश राज्यादि को मनुष्य अपना कहता है, अतः व्यवहारिक दृष्टिकोण की अपेक्षा से आत्मा के अनेकों प्रकार के भिन्न द्रव्यो से सम्बन्ध देखे जाते है। सद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा से ज्ञानादि गुणों एवं मति ज्ञानादि पर्यायों से सम्बन्ध है तथा परम यथाख्यात नय की अपेक्षा से किसी का किसी से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नही है। द्रव्य कर्म, भाव कर्म एवं नोकर्मों से भी शुद्ध जीव का सम्बन्ध नहीं है। विभाव परिणति की अपेक्षा से आत्मा रागी, द्वेषी मोही, लोभी, क्रोधी मानी कहलाती है। वास्तव में परम पारिणामिक भाव की अपेक्षा से सिवाय चैतन्य भाव के आत्मा का किसी से सम्बन्ध नही है।

समन्वय में स्याद्वाद:—इस स्याद्वाद शैली का लौकिक लाभ यह है कि जब हम अन्य व्यक्ति के दृष्टि बिन्दु को समझने का प्रयत्न करेंगे तो परस्पर के भ्रम मूलक दृष्टिजनित विरोध विभाव का अभाव हो, भिन्नता में एकत्व की सृष्टि होगी। आधुनिक युग में यदि स्याद्वाद शैली के प्रकाश मे भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय वाले प्रगति करें तो बहुत कुछ विरोध का परिहार हो सकता है।

संसार में जो लोग अपनी बात का मंडन व दूसरे की बात का खंडन करने में अपने पांडित्य का प्रदर्शन करते है वे वास्तव में वस्तु स्वरूप से अनभिज्ञ होते हैं।

जैनाचार्यों ने कहा है कि प्राणियों को केवल तर्क के सहारे अपनी बात का आग्रह नहीं करना चाहिये, अपितु दूसरों की बात भी सुनने की आदत डालनी चाहिए, जिससे वास्तविकता का निर्णय हो सके। आज लोग प्राय: अपने मत की प्रशंसा करने में तथा दूसरों के मत की निन्दा करने मे ही अपनी विद्वता समझते है, परन्तु ऐसा करना वस्तु स्वरूप की अवहेलना करना है।

वास्तव में सत्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिये मानवो को असत्य को भी जानना होता है। जैसे—कोई जौहरी हीरे तथा कांच की परख जानता है तभी तो वह उनके भेद को जानने मे सफल होता है, अथवा धवल वस्त्र के पास काला वस्त्र अपने काले रंग का ज्ञान सहज में करा देता है। परन्तु जो लोग एक बात को जानते हैं, और अन्य को नहीं, तो उन्हे सर्वांग ज्ञान कैसे होगा? अर्थात् नहीं।

एकान्त दृष्टि से तत्व की वास्तविकता का अवलोकन नही हो सकता है, इसीलिये महापुरुषों ने एकान्तवाद को मिथ्यात्व तथा हठवाद बताया है। वस्तुत: एकान्त दृष्टिकोण मनुष्यों मे परस्पर में मनमुटाव उत्पन्न कराता है तथा विध्वंसकारी व दुरभिमान का जनक होता है अत: अनेकान्त धर्म का आश्रय लेकर मानवों को दूसरों की दृष्टि को सर्वथा असत्य नहीं बताना चाहिए।

मानवों को अपनी दृष्टि समीचीन बनाने हेतु सत्वेषु मैत्री सिद्धान्त की भावना अपनानी चाहिए। इसका मन्तव्य यह है कि जगत के समस्त प्राणी मेरे मित्र समान हैं। ऐसी भावना करने मे मानव के सर्व प्रकार के मानसिक द्वन्द, व्यथाएँ व शल्य दूर हो जायेंगे और समता भाव की जागृति होकर दृष्टि सम्यक् बन जायेगी। संसार में जो जन विशाल दृष्टि रखते है, वे संकीर्णता की अंधियारी मे नही भटक सकते है। उनके हृदय में प्राणिमात्र के प्रति सहानुभूति रहती है। सारांश यह है कि मानव के सामने जब तक संकीर्णता की दीवार रहती है, तब तक उसे आगे की वस्तु नहीं दिखती, उस दीवार को तोड़ने से ही मानव विशाल दृष्टि संपन्न होता है।

स्याद्वाद सहिष्णुता की शिक्षा देता है तथा विशाल हृदय और विशाल मस्तिष्क बनाने का आदर्श विवेकी जनों के सामने उपस्थित करता है। वह सिखलाता है कि आप सच्चे हो और आपका धर्म सच्चा है परन्तु याद रखो, दूसरों को

खं—२

जिज्ञासा

मिथ्या मत समझो। यहां पर भी आंशिक सत्यता है। ऐसे स्याद्वाद सिद्धांत के प्रति यदि प्राणियों में श्रद्धा की भावना उदित हो जाय, तो धर्मान्धता, अनुदारता अशान्ति और विद्वेष आज ही संसार में समाप्त होकर मानवों के बीच आपस में प्रेम की भावना बन सकती है।

जैन दर्शन में स्याद्वाद का वही स्थान है, जो मन्दिर में मूर्ति या कलश का है। मन्दिर सुन्दर होने पर जब तक उसमें मूर्ति और कलश सुशोभित नहीं होते, तब तक वह शोभा को प्राप्त नही होता। उसी प्रकार जैन दर्शन रूपी मन्दिर पर जब तक स्याद्वाद रूपी कलश नहीं होता, तब तक जैन दर्शन पूर्णतया को प्राप्त नहीं होता, तथा मानव अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता।

अत: जिस प्रकार शरीर में आत्मा का, मन्दिर में देव का, साधु संघ में आचार्य का, न्यायालय में न्यायाधीश का, कक्षा में शिक्षक का, ध्यान में ध्येय का, मनुष्य में वचन का तथा भोजन में नमक का जो स्थान होता है वही स्थान जैन-दर्शन में अनेकान्त और स्याद्वाद का है। इनको समझे बिना वस्तु का यथार्थ स्वरूप नहीं जाना जा सकता है, तथा यथार्थ वस्तु तत्व को जाने बिना यथार्थ सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र की प्राप्ति नहीं हो सकती। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की विशुद्धि के बिना, ध्यान की स्थिरता हुए बिना आत्मतत्व की प्राप्ति नही होती। आत्मतत्व की प्राप्ति हुए बिना शाश्वत शान्ति नहीं मिल सकती तथा शाश्वत शान्ति के अभाव में मोक्ष सुख नही प्राप्त होता है—

अत: यही निष्कर्ष है कि स्याद्वाद और अनेकान्त मोक्ष की प्राप्ति कराने में कारण भूत अमूल्य रत्न है।

जिज्ञासा नं १:—कोई कहता है कि कार्य की सिद्धि निमित्त से होती है, कोई कहता है निमित्त तो अकिञ्चित्कर है, कार्य की सिद्धि उपादन से होती है?

समाधान:—कार्य की सिद्धि निमित्त से होती है या उपादान से यह विषय वाद विवाद का नहीं है, समझने का है। जिसकी जैसी दृष्टि होती है वस्तु व्यवस्था भी उसे वैसी ही प्रतीत होती है। जिनकी दृष्टि उपादान की ओर है उनका कहना है कि कार्य की सिद्धि उपादान से होती है एवं जिनकी दृष्टि निमित्त की ओर है उनका कहना है कि कार्य की सिद्धि निमित्त से होती है। निमित्त या उपादान इन दोनों में से किसी एक से कार्य की सिद्धि मानना यह मिथ्या मान्यता है, एकान्तवाद तथा अज्ञान कषाय पूर्ण हठाग्रता है।

निमित्त एवं उपादान की परिभाषा भी यहां अपेक्षित है। वस्तु में जो कार्यरूप परिणमन करने की योग्यता है, उसे उपादान कहते हैं एवं जिसकी सहायता से कार्य की सिद्धि होती है, उसे निमित्त कहते है।

उपादान के अभाव मे निमित्त कुछ भी करने मे सक्षम नही है। जैसे अगर कोई स्त्री बंध्या है, तो पुरुष के संयोग से भी पुत्र उत्पन्न करने में सक्षम नही है, घानी मे कितना भी पेरा जाय परन्तु रेती से तेल निकलना संभव नहीं है, पानी को मथने पर नवनीत की उपलब्धि संभव नही है, आदि।

निमित्त के अभाव में उपादान अकेला कुछ भी कार्य करने में सक्षम नही है। जैसे पुत्रोत्पन्न की योग्यता होने पर भी पुरुष संयोग के अभाव में महिला पुत्र को जन्म देने मे सक्षम नही है, तिल में तेल एवं दूध में मक्खन है परन्तु यन्त्र की सहायता के बिना उपलब्धि संभव नहीं, मिट्टी में घट तथा आटे में रोटी बनने की योग्यता है परन्तु कुम्भकार आदि एवं रसोइया आदि के अभाव में न तो आज तक घट बना न रोटी ही। इसी प्रकार सर्वत्र चिन्तवन करने पर प्रतीत होगा कि कार्य की सिद्धि न तो अकेले उपादान से ही संभव है, न अकेले निमित्त से ही संभव है।

स्याद्वाद की दृष्टि से कहा जा सकता है कि स्वयं की योग्यता की अपेक्षा से कार्य की सिद्धि उपादान से होती है एवं सहयोगी कारणों की अपेक्षा कहा जा सकता है कि कार्य की सिद्धि निमित्त से होती है।

कार्य की सिद्धि, यथार्थ में देखा जाय तो आगमानुसार योग्य उपादान एवं निमित्त इन दोनों की सहायता से होती है। इस बात की सिद्धि अनेकों विश्व विख्यात दिगम्बराचार्यों ने अपने अपने लोकप्रिय ग्रंथों में की है।

कुन्दकुन्द स्वामी के शब्दों में देखिये—

सम्मत्तस्य णिमित्तं जिणसुत्तं तस्य जाणया पुरुषा :

सम्यक्त्व उत्पन्न होने का निमित्त कारण जिनवाणी तथा जिनवाणी के ज्ञानी पुरुष हैं।

श्लोक वार्तिक में कहा है—कार्यकाल में एक एक क्षण पहले से रहते हुए कार्योत्पत्ति में सहायता करने वाले अर्थ को निमित्त कारण कहते हैं।

कारण के बिना कार्य नहीं होता—

मिथ्यादर्शन आदि पूर्वोक्त आस्रव के हेतुओं का निरोध हो जाने पर नूतन कर्मों का आना रुक जाता है, क्योंकि कारण के अभाव से कार्य का अभाव होता है।

(रा वा)

कारण के बिना कहीं भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि वैसा होने में अति प्रसंग दोष आता है।

(ध० पु० १२)

नैसर्गिक प्रथम सम्यकत्व का भी पूर्वोक्त कारणों से उत्पन्न हुए सम्यकत्व में ही अन्तर्भाव कर लेना चाहिये, क्योंकि जाति-स्मरण और जिनविम्ब दर्शनों के बिना उत्पन्न होनेवाला प्रथम नैसर्गिक सम्यकत्व असंभव है।

(ध पु ६)

कारण के बिना तो कार्यों की उत्पत्ति होती नहीं इसलिये जितने कार्य हैं उतने उनके कारण रूप कर्म भी हैं, ऐसा निश्चय कर लेना चाहिये।

(ध पु ७)

उचित निमित्त के सानिध्य में ही द्रव्य परिणमन करता है—

जिसने पूर्वावस्था को प्राप्त किया है, ऐसा द्रव्य भी जो कि उचित बहिरंग साधनों के सानिध्य के सद्भाव में उत्तर अवस्था से उत्पन्न होता है वह उत्पाद से लक्षित होता है।

(प्र सा ९२)

उपादान की योग्यता के सद्भाव में भी निमित्त के बिना कार्य नहीं होता—

जीव के संपूर्ण प्रदेशों में क्षयोपशम की उत्पत्ति स्वीकार की है। परन्तु ऐसा मान लेने पर भी जीव के संपूर्ण प्रदेशों के द्वारा रूपादिकी उपलब्धि का प्रसंग भी नहीं आता है। क्योंकि रूपादि के ग्रहण करने में सहकारी कारण रूप बाह्यनिवृत्ति जीव के संपूर्ण प्रदेशों में नही पायी जाती है।

(ध १)

जिज्ञासा नं २ :—किसी का कहना है कि कार्य की सिद्धि पुरुषार्थ साध्य है, किसी की मान्यता है कि कार्य की सिद्धि 'भवितव्यता' होनहार या भाग्य के अनुसार या समय आने पर स्वयमेव होती है ?

समाधान:—बुद्धिपूर्वक योग्य पुरुषार्थ करनेपर समय के अनुसार ही कार्य की सिद्धि होती है, मात्र पुरुषार्थ या भवितव्यता से कार्य की सिद्धि मानना एकान्त एवं मिथ्या मत की पुष्टि होती है।

संसार में दो प्रकार के आदमी दृष्टिगत होते हैं एक ऐसे जिनका समय मात्र चर्चा में ही व्यक्त होता है करना कुछ भी नहीं चाहते एक ऐसे भी हैं जिनका उद्देश्य विवादों में उलझना नहीं वह तो अपने इष्ट की प्राप्ति के लियेप्रतिक्षण प्रयत्नशील रहते हैं।

कार्य की सिद्धि पुरषार्थ भाग्य य भवितव्यता से होती है, ज्ञानी मानव इन बातो में समय नहीं गवांता विश्व का प्रत्येक मानव भलि प्रकार से जानता है कि हाथ पैर चलाये बिना जब मुख में रोटी का आना भी संभव नहीं है तो अन्य कार्यों के लिये भाग्य भरोसे बैठे रहना विवेकशीलता नहीं है ।

श्री पंडित प्रवर टोडर मल जी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक में कहा है कि धर्म कार्य के लिये तो भवितव्यता के अधीन बैठे हैं और सांसारिक कार्य में दिन रात एक कर जुटे हैं अगर तेरा भवितव्यता पर विश्वास है तो सर्वत्र भाग्य भरोसे बैठ,, सो ऐसा देखने में आता नही अत: जैसे लौकिक कार्यों में धनादि कमाने में दिन रात एक करके आदमी लगा रहता है उससे भी अधिक श्रम के साथ ज्ञानी पुरुष मोक्षमार्ग रूप कार्य की सिद्धि में तन्मय होकर तीनों योगो की इकाग्रता से जुट जाता है ।

नीतिकारों ने भी कहा है—

उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः

मनचाहे कार्यों की सिद्धि उद्यम अर्थात सबल पुरुषार्थ करने पर ही होती है

बिना पुरुषार्थ के आज तक विश्व में किसी भी कार्य की सिद्धि न हुई है; न हो रही है,, न भाविकाल में ही संभव है । हमारे परोपकारी आचार्यों ने अनेकों ग्रंथो कि रचना की है, उन सभी में मोक्षसुखप्राप्ति के लिये रत्नत्रय एवंभेद विज्ञान रूप पुरुषार्थ की ही बात की है चाहे वह किसी भी अनुयोग के ग्रंथ है ।

अध्यात्म योगी श्री अमृत चन्द्र स्वामी ने तो पुरषार्थ सिद्ध उपाय इस नाम से एक ग्रंथ की ही रचना कर दी है अत: कार्यों कि सिद्धि में पुरुषार्थ की सिद्धि का ही महत्व माना जाता है भवितव्यता का नहीं, क्योंकि भवितव्यता क्या है यह यह छद्मस्थो के ज्ञान का विषय नही है उनके लिये तो पुरुषार्थ ही करना चाहिये पुरुषार्थ करने पर कार्य में सफलता न मिलने पर भवितव्यता का अवलम्बन व्याकुल परिणामों को रोकने के लिये किया जाता है, जैसे किसी का इकलौता लड़का बीमार है तो क्या उसका पिता कहेगा कि बचना होगा तो बच जायेगा पड़ा रहने दो ऐसा स्वप्न में भी नहीं बिचारेगा । वह तो उसका इलाज कराने मे समय आने पर अपना घरबार भी बेचने को तत्पररहेगा । अगर इतना सब कुछ करने पर भी वह नही बचा तो विचार करेगा कि होनहार बालक बलवान है ।

वास्विकता यह है कि कार्य कि सिद्धि पुरुषार्थ एवं भवितव्यता दोनों की अनुकूलता में ही होती है स्याद्वाद से निमित की अपेक्षा भवितव्यता दोनों की अनुकूलता में ही होती है यह कहा जाता है कि योग्यता कि अपेक्षा भवितव्यता होनहार आदि से कार्य की सिद्धि मानी जाती है ।

कार्य की सिद्धि में पुरुषार्थ की प्रधानता है इस बात की पुष्टि अनेकों आचार्यों ने की है—

प्रवचनसार गाथा ।८८। की मूल टीका में कहा गया है— जो जिनेन्द्र के उपदेश को प्राप्त करके मोह-राग- द्वेष को हनता है वह अल्पकाल में सर्व दुखो से मुक्त होता है इसलिये सम्पूर्ण प्रयत्न पूर्वक मोह का क्षय करने के लिये मैं पुरुषार्थ का आश्रय ग्रहण करता हूं ।

कुरल काव्य के ६२वें सर्ग के १० श्लोक में भी कहा है । जो भाग्य के चक्र के भरोसे न रहकर लगातार पुरुषार्थ किया जाता है वह विपरीत भाग्य के रहने पर विजय करता है ।

परमात्म प्रकाश की गाथा ।।२७।। की मूल टीका में कहा है, जिस परमात्मा को देखने से शीध्र ही पूर्व उपार्जित कर्म चूर्ण हो जाते हैं उस परमात्मा को देह में बसते हुए भी हे योगी ! तू क्यों नहीं जानता ।

ज्ञानार्णव ३५ वें सर्ग के २७ वें श्लोक में भी कहा है— नष्ट हुआ प्रमाद जिनका ऐसे मुनीन्द्र उत्कृष्ट विशुद्धता सहित होते हुए तप के द्वारा अनुक्रम से गुण श्रेणी निर्जरा का आश्रय करके बिना पके कर्मों को भी पकाकर स्थिति पूर्ण हुए बिना ही निर्जरा करते हैं ।

पुरुषार्थ के भेद—

आत्मा को परमात्मा बनाने के लिये जो विवेक पूर्वक प्रयत्न किया जाता है, या चेष्टा करना पुरुषार्थ है। इसके चार भेद हैं— धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की सामान्य विवेचना निम्न प्रकार है—

१– धर्म पुरुषार्थः—

मोक्ष प्राप्ति के उद्देश्य से राग- द्वेष की प्रवृति कम करते हुए देव, शास्त्र, गुरू के अवलम्बन से अणुव्रतों और महाव्रतों का परिपालन करते हुए तन्मयता के साथ में चारों आराधनाओं की प्रयत्न पूर्वक सिद्धि करना धर्म पुरुषार्थ है।

यह धर्म पुरुषार्थ मोक्ष महल की नींव है, नींव के अभाव में बना हुआ मकान तूफानों में ध राशायी हो जाता है, अधिक समय रुक नहीं सकता। यथार्थता तो यह है कि नींव के अभाव में ऊपर चिनाई चलना ही असंभव है अतः इसी प्रकार धर्म रूपी नींव के अभाव में काम पुरुषार्थ और भोग पुरूषार्थ नहीं कहे जा सकते, मात्रवासना और इन्द्रिय लम्पटता ही नाम पायेंगे। दीवारों के अभाव में छत का अस्तित्व ही कहां है ? इसी प्रकार जहां प्रारम्भिक तीन पुरुषार्थों का अभाव है, वहा मोक्ष पुरुषार्थ का प्रसंग ही नहीं है। महल की मंजिल को पाने के लिये सीढ़ियां चाहिये और उनमें भी प्रथम सीढ़ी का अस्तित्व विशेष आवश्यक है क्योंकि सभी सीढ़ियों की वही आधार शिला है। इसी प्रकार धर्म पुरुषार्थ रूपी सीढ़ी अपने आप में सुदृढ़ है तो काम, भोग , मोक्ष, रूपी सीढ़ी भी उसके आधार से अवस्थित रह सकती है।

अतः प्रारम्भिक भूमिका में छठवें गुणस्थान पर्यन्त धर्म पुरुषार्थ की विशेष उपादेयता है। निश्चय नय से आत्म स्वरूप की ओर झांकने पर सभी पुरुषार्थ अनुपयोगी जैसे प्रतीत होते हैं।

धर्म पुरुषार्थ के विषय में भगवती आराधना एवं मूलाचार में "एओ चेव सुभोणवरि सव्व मोक्खायरो धम्मो"— कहा है—धर्म पुरुषार्थ ही पवित्र है और वही सर्व सौख्यो का दाता है।

काम और मोक्ष पुरुषार्थ शरीर और इंद्रिय पोषण के लिये ही उपयोगी है। मोक्ष मार्ग में इन दोनो पुरुषार्थों की कोई भी उपयोगिता नही है बल्कि पुरुष जब तक अर्थ और काम पुरुषार्थ में निमग्न रहता है तब तक मोक्ष मार्ग से विमुख रहता है।

अर्थ पुरुषार्थ में :— नीति और न्याय पूर्वक धर्म प्रभावना और परिवार पालन के लिये धन वैभव संग्रह करने का प्रयत्न अर्थ पुरुषार्थ है। इस पुरुषार्थ के अभाव मे श्रावक धर्म का यथार्थरूप में परिपालन संभव नहीं है। मुनि धर्म स्वरूप साधना की अपेक्षा यह पुरुषार्थ हेय है।

काम पुरुषार्थ :—वंश परम्परा चलाने के उद्देश्य से नीति, न्याय पूर्वक शादी- विवाह आदि करना काम पुरुषार्थ के अन्तर्गत है। लोक व्यवहार एवं सामाजिक दृष्टि से इसका अपना महत्व है। परन्तु वीतराग मार्ग में यह हेय है अनुपयोगी है, बाधक है।

भगवती आराधना और मूलाचार में अर्थ और काम पुरुषार्थ की हेयता निम्न प्रकार प्रदर्शित की है।

अर्थ पुरुषार्थ और काम पुरुषार्थ अशुभ है (गाथा १८१३) इस लोक के दोष और परलोक के दोष अर्थ पुरुषार्थ से मनुष्य को भोगने पड़ते हैं। इसलिये अर्थ अनर्थ का कारण है। मोक्ष प्राप्ति के लिये यह अर्गला के समान है। (गाथा नं० ।।१८१४)

यह काम पुरुषार्थ अपवित्र शरीर से उत्पन्न होता है। इससे आत्मा हल्की होती है। इसकी सेवा से आत्मा दुर्गति में दुख पाती है। यह पुरुषार्थ अल्पकाल में ही उत्पन्न होकर नष्ट होता है और प्राप्त करने में कठिन है। (गाथा नं १८१५)

मोक्ष पुरुषार्थ—मोक्ष मोहनीय आदि अष्ट कर्मों का क्षय करने के लिये एवं आत्मा को परमात्मा बनाने के लिये, नर को नारायण बनाने के लिये, रत्नत्रय के साथ जो अष्ट भूमि में आकर स्वभाव में अवस्थित रहने का प्रयास किया जाता है इसी का नाम मोक्ष पुरुषार्थ है ।

शाश्वत् मोक्ष सुख की प्राप्ति के लिये यह मोक्ष पुरुषार्थ ही साक्षात् कारण है, समर्थ है, भव्य आत्माओं को उपादेय है। मोक्ष पुरुषार्थ के अभाव में पूर्व प्रतिपादित तीनों पुरुषार्थ मुक्ति सुन्दरी की प्राप्ति में अस्तित्व हीन हैं ।

मोक्ष पुरुषार्थ के विषय में आचार्य प्रणीत अनेक ग्रंथों में विवेचना मिलती है । प्रवचनसार में—

यदि श्रमण कर्ता, कर्म, करण और कर्म फल आत्मा है ऐसा निश्चय वाला होता हुआ अन्य रूप परिणमित नहीं हो, तो वह शुद्धात्मा को उपलब्ध करता है ।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय में कहा है–जिस समय भले प्रकार पुरुषार्थ की सिद्धि को प्राप्त उपर्युक्त अशुद्ध आत्मा सम्पूर्ण विभावों के पार को प्राप्त करके अपने निष्कंप चैतन्य स्वरूप को प्राप्त होता है तब यह आत्मा कृतकृत्य होता है ।

जिज्ञासा नं ३ :— एक ओर कहा जाता है कि व्यवहार नय उपादेय है तो दूसरी ओर से आवाज आती है कि व्यवहार नय तो मोक्षमार्ग मे सर्वथा हेय ही है, मात्र निश्चय नय ही उपादेय है ?

समाधान :—कोई भी नय अपने आप मे वस्तु नहीं है इसलिये नय न तो हेय है, न उपादेय । दोनों ही नय वस्तु स्वरूप को जानने के लिए माध्यम है।

खेद कि बात तो यह है कि जिन नयों की विवेचना आचार्यों ने वस्तु स्वरूप को समझने के लिए की है हमने आज उसे वाद-विवाद का विषय बना लिया है। जिन्हें आचरण के नाम पर कुछ भी करना नही है एवं भोले प्राणियों की दृष्टि मे धर्मात्मा भी बनना जरूरी है अन्यथा समाज में पूंछ कैसे होगी ? ऐसे ख्याति प्रिय प्रमादि जन ही कोरे पाण्डित्य का [illegible] पहनकर भोली आत्माओं को गुमराह करते रहते है। अनावश्यक ही निश्चय व्यवहार की चर्चा में लोगों को [illegible] उल्लू सीधा करते है ।

आइये, मोक्ष मार्ग में कौन नय हेय है और कौन नय उपादेय । यह समझने से पूर्व नय एवं परिभाषाओं को समझने का प्रयत्न करें ।

नय:— आचार्यों ने नयो की परिभाषा अनेक प्रकार से की है । उनमे से श्री देवसेन स्वामी के अनुसार निम्न प्रकार है :—

सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं तद अवयवा नय: —

अर्थात सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते है एवं सम्यग्ज्ञान के अंशों को नय कहते हैं। और भी कहा है । —

प्रमाणेन वस्तु संगृहीतार्थैकांशो नय:, श्रुत विकल्पो वा, ज्ञातुरभिप्रायो वा नय:, नानास्वभावेभ्यो व्यावृत्य एकस्मिन्स्वभावे वस्तु नयति प्राप्नोतीति वा नय: ।

अर्थ —प्रमाण के द्वारा ग्रहण किये वस्तुस्वरूप में से एक अंश को ग्रहण करने वाले ज्ञान को नय कहते हैं, श्रुत ज्ञान के विकल्पों को नय कहते हैं, जानने वाले के अभिप्राय को नय कहते हैं, अथवा जो अनेकों स्वभाव से हटाकर किसी एक स्वाभाव में वस्तु को प्राप्त कराता है, वह नय है ।

सर्वार्थ सिद्धि मे (१।३३) में कहा है—

अनेकान्तात्मक वस्तु में विरोध के बिना हेतु की मुख्यता से साध्य विशेष की यथार्थता से प्राप्त कराने में समर्थ प्रयोग को नय कहते हैं ।

तत्वार्थाधिगम भाष्य में भी कहा है— जीवादीन् पदार्थान् नयन्ति प्राप्नुवन्ति कारयन्ति साधयन्ति निर्भासयन्ति निर्वर्तयन्ति, उपलम्भयन्ति, व्यञ्जयन्ति इति नयः । अर्थात् जीवादि पदार्थों को जो लाते हैं, प्राप्त कराते हैं बनाते हैं, उपलब्ध कराते हैं, प्रगट कराते हैं, अवभाष कराते हैं, वे नय हैं ।

स्याद्वाद मंजरी में कहा गया है—नीयते एक देश विशिष्टोऽर्थः । प्रतीतिविषयमाभिरिति नीतयो नयाः—जिस नीति के द्वारा एक देश विशिष्ट पदार्थ लाया जाता है, अर्थात प्रतीति के विषय को प्राप्त कराया जाता है, उसे नय कहते हैं ।

सर्वार्थ सिद्धि उपाय में पूज्यपाद आचार्य कहते हैं— वस्तन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हेत्वर्पणात्साध्य विशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रवणः प्रयोगो नयः— अनेकान्तात्मक वस्तु में विरोध के बिना हेतु की मुख्यता से साध्य विशेष की याथार्थता को प्राप्त कराने में समर्थ प्रयोग को नय कहते हैं ।

प्रवचनसार में अमृतचन्द स्वामी तात्पर्य वृत्ति में लिखते हैं— वस्त्वेकदेशपरीक्षा तावन्नयलक्षणं— वस्तु की एकदेश परीक्षा नय का लक्षण है ।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में स्वामी कार्तिकेय ने कहा है ।

नाना धर्मों से युक्त भी पदार्थ के एक धर्म को ही नय कहता है, क्योंकि उस समय उस ही धर्म की विवक्षा है, शेष धर्म की विवक्षा नहीं है ।

आप्त मिमांसा में कहा है—सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधतः । स्याद्वाद प्रविभक्तार्थ विशेषव्यञ्जको नयः । १०६ ।

साधर्मी का विरोध न करते हुए साधर्म्य से ही साध्य को सिद्ध करने वाला तथा स्याद्वाद से प्रकाशित पदार्थों की पर्यायों को प्रगट करने वाला नय है ।

(धवला पु, ९)

नयति इति नयः :—जो श्रोताओं को वस्तु के प्रति ले जाये वह नय है ।

नयों की प्रमाणता के विषय में आचार्यों का मत है कि—

सापेक्ष नय सम्यक् निरपेक्ष नय मिथ्याः :— एक नय दूसरे नय की अपेक्षा को स्वीकार करने वाला है तो वह नय सम्यक् है और अगर एक नय दूसरे नयकी अपेक्षा को गौण रूप से स्वीकार नहीं करता तो वह नय मिथ्या है । अतः सभी नय अपेक्षाकृत ही होते है यह बात अपने मन में अच्छी तरह से अवस्थित कर लेना है ।

निश्चय नयः :— आलाप पद्धति के अनुसार— अभेदानुपचारितया वस्तु निश्चीयत इति निश्चयः । अभिन्न व अनुपचरित जो नय वस्तु का निश्चय करे वह निश्चय नय है ।

और भी कहा है—

अभेद को निश्चयः :— जो नय वस्तु को अभेद रूप से ग्रहण करता है उसे निश्चय नय कहते हैं ।

सद्भूत ग्राह्यं निश्चयः :— वस्तु के असंयोगी धर्म को ग्रहण करने वाले नय को निश्चय नय कहते हैं ।

प्राप्यको को निश्चयः :—अपने लक्ष्यभूत वस्तु के यथार्थ स्वरूप की उपलब्धि निश्चय नय है, निश्चय नय की आचार्यों ने अनेकों परिभाषायें की हैं । वह सब भिन्न प्रतीत होते हुए भी एक हैं । इनमें मूल बात समझने की यह है कि निश्चय नय का कार्य अनेकों वस्तुओं का संयोग होने पर भी वस्तु की स्वतंत्र सत्ता को अभेद रूप से बताना जैसे संसारी आत्मा का कर्मों से, शरीर से कोई संबंध नहीं होता है । कर्म तथा शरीर जड़ है, आत्मा चेतन है,

रागादि विभाव भाव भी आत्मा के नहीं हैं, आत्मा तो ज्ञायक स्वभावी है। जहां उपलब्धि को निश्चय कहा है वहां लक्ष्य साध्य की अर्थात् ज्ञानी आत्माओं की अपेक्षा मोक्षमार्ग या स्वरूप की प्राप्ति को लक्ष्य बनाकर कहा है। इसी अपेक्षा से निश्चय नय को सद्भूत भी कहते हैं ।

व्यवहार नय :—"भेदोपचारितया वस्तु व्यवन्हियत इति व्यवहार:" जो नय भेद और उपचार से वस्तु का कथन करता है, वह व्यवहार नय है ।

और भी कहा है—

भेद को व्यवहार::—अभेद वस्तु तत्व का जो गुण पर्याय आदि भेद रूप से ज्ञान कराए, वह व्यवहार नय है।

कारण सो व्यवहारो— निश्चय स्वरूप की प्राप्ति में जो कारण है वह व्यवहार है। जैसे—निश्चय से वीतरागता धर्म है। उस वीतराग धर्म की प्राप्ति के लिये जो भी उपाय किए जाते हैं; वह सभी व्यवहार हैं। कहीं-कहीं संयोगी अवस्था का ज्ञान कराने वाले नय को व्यवहार नय कहते हैं। जैसे—जीव के चार या दश प्राण हैं, जीव का जन्म मरण होता है, जीव खाता पीता है, जीव राग, द्वेष, क्रोध, मोहादि करता है, धर्म द्रव्य सभी को चलने में सहायक होता है, अधर्म द्रव्य सभी को रोकने में सहायक होता है, जीव बोलता है एवं चलता-फिरता है, तीर्थंकर भगवान अखिल विश्व को जानते देखते हैं और भव्यात्माओं के लिये धर्मोपदेश करते हैं । भगवान की वाणी चार बार खिरती है। जीव धर्मात्मा या पापात्मा है, संसारी या मुक्त है, अणुव्रत, महाव्रत, धर्मकर्मादि, गुणस्थान, जीव समास, संस्थान आदि निगोद से लेकर मोक्ष तक की विवेचना करने वाला, रत्नत्रय आदि सभी क्रियाओं के साथ अनन्त गुणों से विभूषित आत्म तत्व का परिज्ञान कराने वाला व्यवहार नय है। निश्चय नय तो वस्तु को अखण्ड रूप से बताता है, वह छद्मस्थों के लिये अनुपयुक्त है। सामान्य ज्ञानी आत्माओं के लिये व्यवहार नय ही परमोपयोगी एवं प्रयोजनीय है। अध्यात्म योगी श्री कुन्द-कुन्द स्वामी ने अपने ग्रंथराज समयसार में कहा है—

सुद्धो सुद्धादेसो, णायव्वो परम भावदरसीहिं ।
ववहार देसिदा पुण, जे दु अपरमेट्ठिदा भावे ।।१२(स०)

व्यवहार नय भी भूमिकानुसार प्रयोजनीय है । सर्वथा निषेध करने योग्य नहीं है इसलिए इसका उपदेश है जो शुद्धनय तक पहुंच कर श्रद्धावान तथा पूर्ण ज्ञान चरित्रवान हो गये उनको तो शुद्ध नय का उपदेश करने वाला शुद्ध नय जानने योग्य है और जो जीव अपरम भाव अर्थात् श्रद्धा, ज्ञान और चरित्र के पूर्ण भाव को नहीं पहुंच सके तथा साधक अवस्था में ही ठहरे हुए हैं वे व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य हैं। अर्थात् वीतराग चारित्र में निमग्न श्रेणी में चढ़ने वाले मुनिराजों के लिये परम शुद्धनय प्रयोजनीय है एवं साधक दशा में छटवें गुणस्थान तक व्यवहार नय प्रयोजनीय है, उपादेय है। निश्चय नय के अभाव में तीर्थफल एवं व्यवहार नय के अभाव में जिन तीर्थ का (अणुव्रत-महाव्रत-आदि रूप मार्ग का) लोप हो जायेगा। इस संदर्भ में विशेष भाव निम्न प्रकार है:— संयत मनुष्य का अभेदात्म परम समाधि में तल्लीन होकर रहता है उस समय वह शुद्ध निश्चय नय का आश्रय करने वाला है, किन्तु उससे नीची अवस्था में क्या संयत, क्या संयतासंयत और क्या असंयत सम्यग्दृष्टि । ये सभी व्यवहार नय में प्रवृत्त रहते हैं। उसके बिना उनका निर्वाह नहीं हो सकता एवं क्षयोपशम ज्ञान का धारी संयमी मनुष्य भी जब तक समाधि में स्थिर है तब तक वह शुद्धोपयोगी है किन्तु इतर काल में वह शुभोपयोगी होता है, पर संयतासंयत और असंयत सम्यग्दृष्टि तो शुभोपयोगी ही होते हैं, क्योंकि उनकी तो शुद्धोपयोग तक पहुंच भी नहीं है ।

मोक्षमार्ग में शुद्धोपयोग की अपेक्षा निश्चय नय एवं शुभोपयोग की अपेक्षा व्यवहार नय प्रयोजनीय है, उपादेय है ।

कहा भी है—

. जइ जिण मयं पवज्जह ता मा ववहार णिच्छए मुयह ।
एक्केण विणा छिज्जई तित्थं अण्णेण उण तच्चं ।।३।।

यदि जिनमत का रहस्य प्राप्त करना चाहते हो, तो व्यवहार और निश्चय नय इन दोनों में से किसी को मत भूलो, क्योंकि व्यवहार नय को छोड़ देने से अभीष्ट सिद्धि का मूल कारण जो तीर्थ है, वह नष्ट हो जाता है और निश्चय नय को भुला देने पर समुचित वस्तु तत्व ही नहीं रह पाता है ।

स्याद्वाद सिद्धांत रूप दर्पण में मोक्षमार्ग में अपेक्षाकृत दोनो ही नय कार्यकारी प्रतिविम्बित होते हैं। ज्ञान की अपेक्षा दोनों नय चतुर्थ गुणस्थान में भेदाभेद वस्तु को वताने में, जानने में प्रयोजनीय है। आचरण की अपेक्षा व्यवहार नय प्रयोजनीय है, स्वरूप तन्मयता की अपेक्षा निश्चय नय प्रयोजनीय है। एक नय के कथन के समय द्वितीय नय गौण रहता है, उसका अभाव नही होता। अगर अभाव मान लिया जायेगा तो एक नय द्वारा प्रतिपादित वस्तु स्वरूप सर्वथा मिथ्या माना जायेगा। व्यवहार नय के अभाव में निश्चय नय मिथ्या है एवं निश्चय नय के अभाव में व्यवहार नय मिथ्या है। और भी नयों के अनेकों भेद है। वे सभी सापेक्ष सत्य है।

अतः मोक्षमार्ग में व्यवहार नय को हेय और मात्र निश्चय नय को उपादेय मानना आगम विरुद्ध है या मात्र व्यवहार उपादेय और निश्चय नय हेय है ऐसा कहना प्रमाद या कषाय युक्त पन्थ की ही पुष्टि है। आगम विरुद्ध मान्यता अनंत संसार भ्रमण का कारण है। इसलिये पक्षपात को छोड़कर अपनी दृष्टि अपनी ओर मोड़कर मोक्ष मार्ग में अपेक्षाकृत दोनों ही नयों को उपादेय समझकर अपने पदानुसार आचरण करना श्रेयस्कर है। वास्तव में नय हेय-उपादेय नहीं हैं, ज्ञेय है।

पूर्वाचार्यों ने नयों की हेयोपादेयता एवं ज्ञेयता के विषय में अनेक ग्रंथों मे विवेचना की है।

नय केवल ज्ञेय है उपादेय नही—

नय पक्ष से रहित जीव समय से प्रतिबद्ध होता हुआ दोनों ही नयों के कथन को मात्र जानता है, किन्तु नयपक्ष को किंचित् मात्र भी ग्रहण नहीं करता। (स० सार १४३)

परमार्थ से निश्चय व व्यवहार दोनों ही विकल्प रूप होने से हेय है—

जैसे जीव में कर्म बंधा है जो ऐसा एक विकल्प करता है, वह यद्यपि जीव में कर्म नहीं बंधा है ऐसे एक पक्ष को छोड़ देता है, परन्तु विकल्प को नही छोड़ता, जो जीव में कर्म नहीं बंधा है, ऐसा विकल्प करता है वह पहले जीव में कर्म बंधा है इस पक्ष को यद्यपि छोड़ देता है परन्तु विकल्प को नही छोड़ता। जो जीव में कर्म कथंचित् बंधा है और नहीं भी बंधा ऐसा उभय रूप विकल्प करता है वह दोनों ही पक्षों को नहीं छोड़ने के कारण विकल्प को नहीं छोड़ता है (अर्थात् व्यवहार या निश्चय इन दोनों में से किसी एक नय का अथवा उभय नय का विकल्प करने वाला यद्यपि उस समय अन्य नय का पक्ष नहीं करता पर विकल्प तो करता ही है) समस्त नय पक्ष का छोड़नेवाला ही विकल्पों को छोड़ता है और वही समयसार का अनुभव करता है। (स० सा० १४२ की टीका)

प्रत्यक्ष अनुभूति के समय निश्चय व्यवहार के विकल्प नहीं रहते—

नय चक्र में कहा है कि आत्मा जब तक व्यवहार व निश्चय के द्वारा तत्व का अनुभव करता है, तब तक उसे परोक्ष अनुभूति होती है, प्रत्यक्ष अनुभूति तो नय पक्षों से अतीत है। (एव आत्मा यावद्व्यवहार निश्चयाभ्यां तत्वानुभूतिः तावत्परोक्षानुभूतिः। प्रत्यक्ष अनुभूति नय पक्षातीत :)

अमृतचन्द आचार्य नयों की व्याख्या करते हुए लिखते है—

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्यतत्त्वेनभवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फल मविकलं शिष्यः।।

जो जीव व्यवहार और निश्चय नय के द्वारा वस्तु स्वरूप को यथार्थ रूप से जानकर मध्यस्थ होता है अर्थात् उभय नय के पक्ष से अतिक्रान्त होता है, वही शिष्य उपदेश क सकल फल को प्राप्त होता है।

कोई भी नय मिथ्या नही है—नयचक्रवृत्ति मे कहा है—

णहु णय पक्खो मिच्छातपिय णेयंतदव्वसिद्धियण।
सियसद्दसमारूढ जिणवयणविणिग्गय सुद्धं।।

नय पक्ष मिथ्या नही होता, क्योंकि वह अनेकान्त द्रव्य की सिद्धि करता है। इसलिये स्यात् शब्द मे चिह्नित तथा जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदिष्ट नय शुद्ध है।

कषायपाहुड मे भी कहा है—

णिययवयणिज सच्चा सव्वणया परवियालणे मोहा।
ते उण ण दिट्ठ समग्रो विभयइ सच्चेव अलिए वा। ११७।

ये सभी नय अपने विषय के कथन करने मे समीचीन हैं, और दूसरे नयों के निराकरण करने में मूढ़ हैं। अनेकान्त रूप समय के ज्ञाता पुरुष यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है इस प्रकार का विभाग नही करते है।

जिज्ञासा न० ८:—चतुर्थ गुणस्थान मे शुद्धोपयोग एवं स्वरूपाचरण चारित्र होता है। यह बात एक ओर सबके मन में जमाई जा रही है, तो दूसरी ओर से भाषित हो रहा है कि शुद्धोपयोग का शुभारम्भ सप्तम गुणस्थान से होता है तथा स्वरूपाचरण यथाख्यात चारित्र का पर्यायवाची है वह ग्यारहवे गुणस्थान मे होता है, चतुर्थ गुणस्थान में तो सम्यक्त्वाचरण चारित्र ही होता है ?

समाधान:—शुभोपयोग एवं शुद्धोपयोग संसार शरीर, भोगों से विरक्त आत्माओं के लिये स्वानुभूति, परमानन्द, चैतन्य विलास तथा कैवल्य चित्-चमत्कार ज्योति को जाग्रत कराने वाले हैं, परन्तु इस दुःषम काल के रागी, द्वेषी, मोही, असंयमी, आचरणविहीन शब्द ज्ञान के माध्यम से धर्मात्मा कहलाने वाले कतिपय लोगों ने इनको चर्चा के माध्यम से विवाद का विषय बना लिया है। जिनके पास शुभोपयोग शुद्धोपयोग एवं स्वरूपाचरण (यथाख्यात) चारित्र है या जो भव्यात्मा इनकी ओर उन्मुख हैं उनके पास चर्चा एवं वाद विवादों के लिये समय का सर्वथा अभाव है। वह तो आगम के आलोक में अनुभव प्रत्यक्ष त्रिलोक सुन्दरी मोक्ष लक्ष्मी का वरण करने के लिये प्रतिक्षण कटिबद्ध रहते हैं।

लीजिये, वाद विवाद की दृष्टि से नही, वस्तु व्यवस्था को समझने के लिये आगम प्रमाण से स्वरूपाचरण चारित्र, शुद्धोपयोग, शुभोपयोग आदि को समझने का प्रयत्न करें।

शुद्धोपयोग:—शुद्ध विशिष्ट: श्रमण: परम मुनि शुद्धोपयोगी भणित: । अर्थात् वीतरागी मुनियों को शुद्धोपयोगी कहते हैं ।

शुद्धस्य उपयोग: इति शुद्धोपयोग: । अर्थात् राग-द्वेष विभाव भावों से रहित शुद्धात्माओं के ज्ञान दर्शन रूप उपयोग को शुद्धोपयोग कहते हैं ।

शुद्धे उपयोग: इति शुद्धोपयोग: । समस्त पर पदार्थों को छोड़कर राग द्वेष रहित अपनी विशुद्ध आत्मा में ही उपयोग का रहना शुद्धोपयोग है ।

शुद्धोपयोग का स्वरूप कुन्दकुन्द स्वामी ने निम्न प्रकार प्रतिपादित किया है:—

सुविदिद पयत्थ सुत्तो संजम तव संजुदो विगद रागो ।
समणो सम सुह दुक्खो भणिदो सुद्धोव ओगोत्ति ।। १४ ।।

अर्थ—भली भांति जान लिया है निज शुद्ध आत्मा आदि स्व-पर पदार्थों और सूत्रों को जिसने, जो संयम युक्त और तपयुक्त है, रागरहित है, समान है सुख दु:ख जिसको ऐसा श्रमण शुद्धोपयोगी कहा गया है ।

श्री जयसेनाचार्य ने तात्पर्य वृत्ति टीका में भी कहा है—भले प्रकार पदार्थ और सूत्रों को जानने वाले अर्थात् संशय, विमोह विभ्रम रहित होकर जिसने अपने शुद्धात्मा आदि पदार्थों को और उनके बताये जाने वाले सूत्रों को जाना है, दृढ़ श्रद्धान किया है, संयम और तप संयुक्त हैं अर्थात् जो बाह्य में द्रव्येन्द्रियों से उपयोग हटाते हुए और पृथ्वी आदि छ: कायों की रक्षा करते हुए तथा अंतरंग में अपने शुद्ध आत्मा के अनुभव के बल से अपने स्वरूप मे अवस्थित हैं तथा बाह्य व अंतरंग बारह प्रकार के तप के बल से काम, क्रोध आदि शत्रुओं से जिसका प्रताप खंडित नहीं होता है और जो अपने शुद्ध आत्मा की भावना के बल से सर्व रागादि दोषों से रहित हैं, सुख दु:ख में समभाव हैं अर्थात् विकार रहित समाधि से उत्पन्न तथा परमानन्द सुखरस में लवलीन ऐसी निर्विकार स्वसंवेदन रूप जो परम कला है, उसमें लीन, इष्ट-अनिष्ट इन्द्रियों के विषयों में हर्ष विषाद को त्याग देने से समता भाव के धारी हैं । इन गुणों से सहित ही परम मुनि शुद्धोपयोग स्वरूप कहे गये हैं ।

शुभोपयोग:—शुभस्य उपयोग: इति शुभोपयोग: ।

विषय कषायों से रहित आत्मानुमुखी दृष्टि के साथ तत्वज्ञान, पंच परमेष्ठियों में भक्ति अणुव्रत-महाव्रतों में निश्चल प्रवृत्ति करने वाले एवं देव, शास्त्र, गुरु तथा आत्मीय गुणों में विशेष अनुराग रखने वाले श्रावक या साधक मुनिराजों के उपयोग को शुभोपयोग कहते हैं ।

शुभोपयोग का लक्षण कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रवचनसार में निम्नप्रकार प्रतिपादित किया है—

देवदजदि गुरु पूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु ।
उववासा दिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा ।।६९।।

जो जाणदि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे ।
जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स ।। १५७ ।।

अर्थ—देव, गुरु और यति की पूजा में तथा दान में एवं सुशीलों में और उपवासादिक में लीन आत्मा शुभोपयोगी आत्मा है । जो जिनेन्द्रों (अर्हन्तों) को जानता है, सिद्धों तथा अनगारों की श्रद्धा करता है (पंच परमेष्ठी में अनुरक्त है) और जीवों के प्रति अनुकम्पा युक्त है उसके वह शुभ उपयोग है ।

श्री जयसेनाचार्य ने भी कहा है—जो साधु सर्व रागादि विकल्पों से शून्य परम समाधि अथवा शुद्धोपयोग रूप परम सामायिक स्थिति में रहने में असमर्थ है उसके शुद्धोपयोग के फल को पाने वाले केवलज्ञानी अरहंत सिद्धों में जो भक्ति है तथा शुद्धोपयोग के आराधक आचार्य, उपाध्याय, साधु में जो प्रीति है यही शुभोपयोगी साधुओं का लक्षण है।

बृहद्द्रव्य संग्रह, मूलाचार, भगवती आराधना, समयसार आदि ग्रन्थो में मिथ्यात्व के त्याग पूर्वक सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप प्रवृत्ति एवं मोक्षमार्ग के अनुगामी देव, शास्त्र, गुरु, परमेष्ठी, नव देवताओं में भक्ति रूप उपयोग को तथा श्रावकों की अपेक्षा दान, पूजा, दया, करुणा आदि रूप उपयोग को शुभोपयोग कहते हैं।

प्रवचनसार टीका में कहा भी है—

गृहस्थापेक्षया यथासम्भव सराग सम्यक्त्व पूर्वक दान पूजादि शुभानुष्ठानेन
तपोधनापेक्षया, मूलोत्तर गुणादि गुणादि शुभानुष्ठानेन परिणतः शुभो ज्ञातव्यः।

श्रावकों की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन के साथ दान पूजा आदि शुभ क्रिया एवं मुनिराजों की अपेक्षा रत्नत्रय की विशुद्धि के साथ मूलगुण और उत्तर गुणों में उपयोग वही शुभोपयोग है।

समयसार में भी कहा है—"प्रतिक्रमणाद्यष्ट विकल्प रूपः शुभोपयोगः" प्रतिक्रमण आदिक अष्ट विकल्प (प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारण, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि) रूप शुभोपयोग है।

शुद्धोपयोग सहित ही शुभोपयोग कार्यकारी है:—

शुभोपयोगिनां हि शुद्धात्मानुरागयोगिचारित्रतया समाधिगत शुद्धात्मवृत्तिषु श्रमणेषु वन्दन नमस्काराभ्युत्थानानुगमन प्रतिपत्ति प्रवृत्तिः शुद्धात्म वृत्ति त्राणनिमित्ता श्रमापनयन प्रवृत्तिश्च न दुष्येत्। एवमेव शुद्धात्मानुराग योगि प्रशस्त चर्यारूप उपवर्णितः शुभोपयोग तदयं शुद्धात्मा प्रकाशिकां समस्त विरति मुपेयुषा राग संयोगेन शुद्धात्मनोऽनुभवात् क्रमतः परम निर्वाण सौख्य कारणत्वाच्च मुख्यः। (प्र० सा० २४७, २५४)

अर्थात् शुभोपयोगियो के शुद्धात्मा के अनुराग युक्त चारित्र होता है। इसलिये जिन्होंने शुद्धात्म परिणति प्राप्त की है ऐसे श्रमणों के प्रति जो वन्दन-नमस्कार अभ्युत्थान-अनुगमन रूप विनीत वर्तन की प्रवृत्ति तथा शुद्धात्म परिणति की रक्षा के निमित्तभूत जो श्रम दूर करने की (वैयावृत्यादि रूप) प्रवृत्ति है वह शुभोपयोगियों के लिये दूषित नहीं है। इस प्रकार शुद्धात्मानुराग युक्त प्रशस्त परिचर्या रूप जो यह शुभोपयोग वर्णित किया गया है वह शुभोपयोग शुद्धात्म की प्रकाशक सर्व विरति को प्राप्त श्रमणों के कषाय कण के सद्भाव के कारण गौण होता है, परन्तु गृहस्थों के मुख्य है, क्योंकि राग के संयोग से शुद्धात्मा का अनुभव होता है और क्रमशः परम निर्वाण सौख्य का कारण होता है।

यथाख्यात या स्वरूपाचरण चारित्र:—

यथा—वस्तु स्वरूप है जैसा :

ख्यात—कहा गया अर्थात् आत्मा का जैसा स्वरूप है उसकी उपलब्धि होना, उसमें आचरण करना यथाख्यात चारित्र है। स्वरूप—अपने स्वरूप में, आचरण—आचरण करना, तन्मय होना। स्वरूप की उपलब्धि का होना स्वरूपाचरण चारित्र है, इसी को निश्चय चारित्र या वीतराग चारित्र भी कहते हैं।

कतिपय आगम ज्ञान से विमुख लोगों की मान्यता है कि स्वरूपाचरण चारित्र और यथाख्यात ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं, परन्तु आगम ज्ञान के आलोक में झांकने पर स्पष्ट हो जाता है कि यथाख्यात चारित्र को ही स्वरूपाचरण चारित्र कहा जा सकता है। इन दोनों की परिभाषा आगम आधार से निम्न प्रकार है—

स्वरूपाचरण:—प्रवचनसार गाथा ७ की टीका में श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने लिखा है—

स्वरूपे चरणं चारित्रम् स्वसमय प्रवृत्तिरित्यर्थः।
तदेव वस्तु स्वभावत्वाद्धर्मः, शुद्ध चैतन्य प्रकाशनमित्यर्थः।

अर्थ:—स्वरूप में चरण करना सो स्वरूपाचरण चारित्र है। स्व समय में प्रवृत्ति करना अर्थात् अपने स्वभाव में तन्मय रहना इसका अर्थ है।

और भी कहा है—

कर्मादान क्रियारोधः स्वरूपाचरणं च यत्।
धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात्सैष चारित्र संज्ञकः॥

जो कर्मों की आश्रव रूप क्रिया का रोधक है वही स्वरूपाचरण है, वही चारित्र नामधारी है, वही धर्म है। स्वरूपाचरण चारित्र की व्याख्या प्रामाणिक ग्रंथों में अलग से नहीं की गई है। यथाख्यात चारित्र की विवेचना में ही स्वरूपाचरण अन्तर्निहित है। यह आगम प्रामाणिक यथाख्यात चारित्र की परिभाषा से स्पष्ट हो रहा है—

यथाख्यात चारित्र:—सर्वार्थ सिद्धि में श्री पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है—

यथात्मस्वभावोऽवस्थितस्तथैवाख्यातत्वात्। जिस प्रकार आत्मा का स्वभाव अवस्थित है उसी प्रकार यह कहा गया है, इसलिये इसे यथाख्यात कहते हैं

और भी कहा है—

उवसंते खीणे वा असुहे कम्मम्हि मोहणीयम्हि।
छदुमत्थो व जिणो व जहखाओ संजओ साहू॥

अर्थात् अशुभ रूप मोहनीय कर्म के उपशान्त अथवा क्षीण हो जाने पर जो वीतराग संयम होता है उसे यथाख्यात संयम कहते हैं।

बृहद्द्रव्य संग्रह में भी कहा है—

यथा सहजशुद्धस्वभावत्वेन निष्कम्पत्वेन निष्कषायमात्मस्वरूपं
तथैवाख्यातं कथितं यथाख्यातचारित्रमिति।

जैसा निष्कंप सहज शुद्ध स्वभाव से कषाय रहित आत्मा का स्वरूप है वैसा ही आख्यात् अर्थात् कहा गया है सो यथाख्यात चारित्र है।

उपयोग:—अंतरंग एवं बाह्य निमित्तों से उत्पन्न होने वाले जीव के परिणाम को उपयोग कहते हैं। सर्वार्थसिद्धि में कहा भी है—

उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायी परिणामः उपयोगः।

रा. वा. में भी कहा है—जिसके सन्निधान से आत्मा द्रव्येन्द्रियों की रचना के प्रति व्यापार करता है ऐसे ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं। उस पूर्वोक्त निमित्त के अवलम्बन से उत्पन्न होने वाले आत्मा के परिणाम को उपयोग कहते हैं।

धवला में भी कहा है—

स्वपर ग्रहण परिणाम : उपयोग :

उपयोग के आचार्यों ने तीन भेद किए हैं। अशुभोपयोग, शुभोपयोग एवं शुद्धोपयोग।

प्रथम गुणस्थान से तृतीय गुणस्थान पर्यन्त घटता हुआ अशुभोपयोग है, चतुर्थ गुणस्थान से षष्ठम गुणस्थान पर्यन्त बढ़ता हुआ शुभोपयोग है, एवं सप्तम गुणस्थान से १२ वें गुणस्थान पर्यन्त बढ़ता हुआ शुद्धोपयोग है, तथा तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग का फल है। इस प्रकार गुणस्थानों में उपयोग को जयसेनाचार्य, ब्रह्मदेव सूरि एवं वीरसेन स्वामी आदि अनेकों आचार्यों ने सिद्ध किया है—

> मिथ्यात्व - सासादनमिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभोपयोग : तदनन्तर असंयत सम्यग्दृष्टि : देशविरत-प्रमत्तसंयत गुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभोपयोग :, तदनन्तरमप्रमत्तादिक्षीणकषायान्तगुणस्थानषट्के तारतम्येन शुद्धोपयोग :, तदनन्तर सयोग्ययोगीजिन गुणस्थानद्वये शुद्धोपयोग : फल मितिभावार्थ : ।

शुभोपयोग, शुद्धोपयोग, यथाख्यात या स्वरूपाचरण चारित्र इन सभी की आगम प्रमाण व्याख्या से विवेकी महानुभावों का यह समाधान सहज में ही हो गया होगा कि स्वरूपाचरण एवं शुद्धोपयोग सप्तम गुणस्थान से आरम्भ होता है या चतुर्थ गुणस्थान से।

वास्तविकता यह है कि चतुर्थ गुणस्थान में आत्मानुमुखी दृष्टि, वस्तु स्वरूप का श्रद्धान एवं भेदज्ञान के साथ में जो स्वसंवेदन होता है, वह शुभोपयोग का परिणाम है, शुद्धोपयोग का नहीं। दान-पूजा आदि शुभ क्रिया का नाम ही शुभोपयोग नहीं है। शुद्धोपयोग में निमित्त भूत स्वरूपानुमुखी दृष्टि का नाम शुभोपयोग है। अत : चतुर्थ गुणस्थान से षष्टम गुणस्थान तक के भेदविज्ञानी आत्माओं के शुभोपयोग ही होता है, शुद्धोपयोग एवं स्वरूपाचरण चारित्र का चतुर्थ गुणस्थान में अभाव है। कुन्दकुन्द स्वामी के अनुसार चतुर्थ गुणस्थान वर्ती सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्वाचरण चारित्र होता है। जिसकी विवेचना उन्होंने चारित्र पाहुड में की है—

> तं चेव गुणविसुद्धं, जिणसम्मत्तं सुमुक्खठाणाय।
> जं चरइ णाणजुत्तं, पढमं सम्मत्त चरण चारित्तं ॥

वह जिन सम्यक्त्व अर्थात् अरहंत जिनदेव की श्रद्धा निःशंकित आदि गुणों से विशुद्ध हो, उसका यथार्थज्ञान के साथ आचरण करे, वह प्रथम सम्यक्त्वाचरण चारित्र है। वह मोक्षस्थान के लिये होता है।

शुद्धोपयोग का शुभारम्भ सप्तम गुणस्थान से एवं यथाख्यात चारित्र का शुभारम्भ ग्यारहवें गुणस्थान से होता है। इस बात की सिद्धि पूर्वाचार्यों की विवेचनानुसार हो चुकी है। अतः चतुर्थ गुणस्थान में दर्शन एवं चारित्र मोहनीय की सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम से शुभोपयोग होता है, इसी के कारण ४१ प्रकृतियों की बंधव्युच्छित्ति चतुर्थ

गुणस्थान में हो जाती है। टोडरमल जी ने अपने मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रंथ में कहा है कि—विषय कषायों की ओर से दृष्टि को मोड़कर शुद्धात्म स्वरूप के चित्त को शुद्धोपयोगी कहो तो कहो। परमात्म प्रकाश में भी इस बात की सिद्धि की है।

शुद्धोपयोग या सम्यक्त्वाचरणचारित्र या ४१ प्रकृतियों की बंधव्युच्छित्ति तथा रागद्वेष, स्वभाव उपादेय रूप श्रद्धा की अपेक्षा से चतुर्थ गुणस्थान में वीतरागता का शुभारम्भ अर्थात् मोक्षमार्ग रूप महल का शिलान्यास हो जाता है। चतुर्थ गुणस्थान में रहने वाले पंचेन्द्रिय भोगोपभोग आदि की अपेक्षा से, सम्यग्दृष्टि को रागी तथा देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति, आत्मश्रद्धा की अपेक्षा से पाक्षिक श्रावक भी कहते हैं।

सम्यक्त्वाचरण, संयमाचरण, यथाख्यात स्वरूपाचरण यह चर्चा एवं विवाद के विषय नहीं है। स्वात्मुखी दृष्टि होने पर सहज में जो आचरण दृष्टिगत होता है वही विभिन्न चरित्रों के नाम से कहा जाता है। अतः यथाशक्ति सम्यक चारित्र का पालन करते हुए मोक्षमहल की ओर बढ़ते चलें विवादों में उलझकर मोक्ष मार्ग में कंटक न बिखेरें।

जिज्ञासा नं ५:—एक ओर से कहा जाता है कि अशुद्ध पर्याय अशुद्ध द्रव्य से एवं शुद्ध पर्याय शुद्ध द्रव्य से होती है, तो दूसरी ओर से नारे लगाए जाते हैं कि द्रव्य तो त्रिकाली शुद्ध है, अशुद्धि मात्र पर्याय में ही आती है ?

समाधान:—जिस अपेक्षा से द्रव्य शुद्ध है उस अपेक्षा से उसकी पर्याय भी शुद्ध है एवं जिस अपेक्षा से द्रव्य अशुद्ध है उस अपेक्षा से उसकी सभी पर्याय भी अशुद्ध हैं। शुद्ध द्रव्य की शुद्ध एवं अशुद्ध द्रव्य की अशुद्ध पर्यायें होती हैं। ऐसा नहीं है कि द्रव्य तो त्रिकाली शुद्ध रहे और उसकी पर्याय मात्र अशुद्ध हो।

द्रव्य एवं पर्याय के विषय में वाद विवाद सर्वथा निरर्थक ही हैं, अप्रयोजनीय ही हैं। मोक्ष मार्ग में चर्चा एवं वाद विवादों का स्थान ही नहीं है। उसमें तो सम्यक् आचरण की महिमा है। सम्यग्ज्ञानी अध्यात्म-आगम, श्रद्धालु होता है; अपने निराधार मनगढ़न्त तर्क एवं अनुमानों से वस्तु स्वरूप की व्याख्या नहीं करता। सर्वज्ञ देव ने जिस वस्तु का स्वरूप जिस अपेक्षा से जैसा प्रतिपादित किया है वह उसी प्रकार स्वीकार करता है, क्योंकि जिनेन्द्र भगवान अन्यथा वादी नहीं होते।

कुछ भाइयों के मन में द्रव्य एवं पर्याय के सम्बन्ध में कुछ भ्रांतियां पैदा हो चुकी हैं। अपनी मान्यताओं का आगम से मेल मिलाकर मिथ्या मान्यताओं का परित्याग करना ही श्रेयस्कर है, आगम विरुद्ध मान्यता एवं कषायों की पुष्टि मोक्षमार्ग में बाधक है।

द्रव्य एवं पर्याय के स्वरूप की जो विवेचना आगम के आधार से प्रस्तुत है उसे समझ कर मन की भ्रांति दूर करने का प्रयत्न करें।

द्रव्य:—सद्द्रव्य लक्षणं—द्रव्य का लक्षण सत् है।

उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्—सत् उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य से सहित है। आचार्य उमा स्वामी एवं देवसेन स्वामी द्वारा प्रतिपादित इस द्रव्य के लक्षण से मन का परिपूर्ण भ्रम निर्मूल हो जाता है। द्रव्य का लक्षण सत् कहकर सत् को अर्थात् द्रव्य को उत्पाद व्यय एवं ध्रौव्य से युक्त बताया है।

द्रव्य की व्युत्पत्ति करते हुए आलाप पद्धति में बताया है—

द्रव्यस्य भावो द्रव्यत्वम् निज-निज प्रदेश समूहैरखण्ड वृत्या स्वभाव विभाव पर्यायान् द्रवति द्रोष्यति अदुद्रुवदिति द्रव्यम् ॥९७॥

अर्थ—जो अपने-अपने प्रदेश समूह के द्वारा अखंडपने से अपनी स्वभाव-विभाव पर्यायों को प्राप्त होता है, होवेगा, या हो चुका है। वह द्रव्य है उस द्रव्य के भाव को ही द्रव्यत्व कहते हैं।

पर्याय:—पर्येति इति पर्याय: या क्रमवर्तिन: पर्याय: :—

द्रव्य के परिणमन अर्थात् एक के बाद एक बदलती हुई अवस्थाओं को पर्याय कहते हैं।

गुण विकार: पर्याय:—गुणों के कार्य अर्थात् स्वभाव-विभाव रूप परिणमन को पर्याय कहते हैं। अत: द्रव्य एवं पर्याय यह दोनों अलग-अलग नहीं, मात्र कथन में हैं। द्रव्य एवं पर्याय दोनों एक ही हैं, द्रव्य के बिना पर्याय नहीं एवं पर्याय के बिना द्रव्य नहीं।

पंचास्तिकाय में इसी बात को कहा है—

> पज्जय विजुदं दव्वं, दव्व विजुत्ताय पज्जया णत्थि।
> दोण्हं अणण्ण भूदं, भावं समणा परूविंति ।।१२।।

पर्याय से रहित द्रव्य एवं द्रव्य से रहित पर्याय नहीं होती, यह दोनों अनन्यभूत हैं, ऐसा श्रमणों ने कहा है।

द्रव्य सामान्य है और पर्याय विशेष है। वस्तु स्वभाव सामान्य विशेषात्मक है, एक को दूसरे से रहित मानने के सींग समान निरर्थक बताया है। यह बात सर्वथा निराधारहै कि जीव द्रव्य शुद्ध ही है। आचार्यों के मतानुसार एवं आगमानुसार जीव तथा पुद्गल यह दोनों द्रव्य शुद्ध तथा अशुद्ध दोनों प्रकार के हैं एवं शेष चार द्रव्य शुद्ध ही हैं। वृहद् द्रव्य संग्रह एवं पंचास्तिकाय आदि ग्रंथों में भी कहा है। संयोग एवं विभाव की अपेक्षा जीव पुद्गल दोनों को अशुद्ध कहा है। द्रव्यार्थिक के दश भेद बताते हुए आलाप पद्धति में तीन भेदों को अशुद्ध द्रव्य के बताया है। जन्म-मरण करते हुए संसार अवस्था में सभी जीव द्रव्य अशुद्ध हैं। कर्म रहित सिद्ध अवस्था में सभी जीव द्रव्य शुद्ध हैं। संसारी भव्य जीव द्रव्य शुद्ध नहीं हैं, परन्तु भव्य जीव द्रव्यों में शुद्ध बनने की शक्ति है। वह रत्नत्रय रूप पुरुषार्थ करके शुद्ध मोक्ष शाश्वत सुखमय अवस्था (पर्याय को) प्राप्त कर सकते हैं। अत: शक्ति की अपेक्षा संसारी जीव को भी शुद्ध कहा जा सकता है। एवंभूत नय की अपेक्षा से संसारी जीव को भी अशुद्ध कहा जा सकता है।

सारांश यह है कि जिस समय जो जैसा द्रव्य है उस समय उसकी वैसी ही पर्याय होती है। द्रव्य को त्रिकाली शुद्ध मानकर मात्र पर्याय में अशुद्धि मानना हमारी भूल है, आगम प्रतिकूल है, मोक्षमार्ग की अवहेलना है, एकान्त मिथ्यात्व एवं संसार का दृढ़ बन्धन है। अत: स्याद्वाद दृष्टि से द्रव्य एवं पर्याय के स्वरूप को समझकर पुरुषार्थ के पैर मजबूत कर शुद्धद्रव्य एवं शुद्ध पर्याय की प्राप्ति के लिये गमन कर देना है इसी क्षण, इसी पल, अगर ज्ञानानन्द रसास्वादन करने की भावना है तो।

जिज्ञासा नं ६:—एक ओर से कहा जाता है कि एक क्षण के बाद व्यय होगा कौन सी पर्याय का प्रादुर्भाव होगा, यह कुछ भी पता नहीं है। दूसरी ओर से सुनने में आता है कि पर्याय तो क्रमबद्ध ही है। जो पर्याय जिस समय आना है वही आयेगी निश्चिन्त रहो ?

समाधान:—आगम के अनुसार पर्याय क्रमबद्ध नहीं है, क्रमवर्ती है। भवितव्यता का आश्रय भी नियतिवाद का पोषक [illegible] है। भगवान महावीर ने तो सम्यक् पुरुषार्थ करने का उपदेश दिया है।

जिस समय जो होना है वही होगा, जिस पर्याय को आना है वही आयेगी, क्योंकि पर्याय क्रमबद्ध है, यह मान्यता स्याद्वाद सिद्धान्त से विपरीत है। पर्याय क्रमबद्ध नहीं है, क्रमवर्ती है। त्रिकाल के पर्यायों की [illegible] [illegible] [illegible]

व्यता की आधीनता स्वीकार कर पुरुषार्थ से विमुख हो जाना यह सर्वथा मोक्ष मार्ग के विपरीत एकान्त नियतवाद का पोषण है। इस विषय में आगम के अनुसार समझकर स्वयं की बुद्धि विवेक से निर्णय लेना है, किसी की कपोल कल्पित कल्पनाओं में नहीं उलझना है।

आचार्यों ने किसी भी शास्त्र में यह नहीं लिखा है कि जो होना है वह स्वयमेव होगा, आप निश्चित होकर बैठो। उन्होंने तो विशेष बल पुरुषार्थ के ऊपर ही दिया है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रवचनसार में संबोधन करते हुए कहा है कि हे भव्यात्माओं ? अगर सुख चाहते हो, तो मुनि दीक्षा ग्रहण करो।

देखिये, उन्हीं के शब्दों में गाथा एवं टीका निम्न प्रकार है—

एवं पणमिय सिद्धे, जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे।
पडिवज्जदु सामण्णं, जदि इच्छदि दुक्ख परिमोक्खं ॥२०१॥

टीका—जैसे दुःखों से मुक्त होने के लिये मेरी आत्मा ने अरहंतों, सिद्धों, आचार्यों उपाध्यायों तथा साधुओं को वंदनात्मक नमस्कार करके विशुद्ध दर्शन ज्ञान प्रधान साम्यनामक जिन यति मार्ग को, जिसका इस ग्रंथ में कथित दो अधिकारों की रचना द्वारा कथन किया गया है, स्वयं अंगीकार किया गया है। उसी प्रकार दूसरों का आत्मा भी यदि दुःखों से मुक्त होने का इच्छुक है, तो उसे अंगीकार करे। उस यति धर्म को अंगीकार करने का जो यथानुभूत मार्ग है उसकी प्रेरणा करने के लिये हम खड़े हुए हैं।

इसी प्रकार सभी आचार्यों ने पुरुषार्थ का ही उपदेश दिया है, भवितव्यता का नहीं। कार्य के शुभारम्भ में पुरुषार्थ ही प्रधान है एवं अन्त में भाग्य या भवितव्यता को स्वीकार किया है।

क्रिया की अपेक्षा से पुरुषार्थ ही प्रधान है एवं कार्य की सफलता या असफलता में अभिमान या निराशा न अधिकार कर ले, इस अपेक्षा भाग्य या भवितव्यता को स्वीकार किया है। अतः पुरुषार्थ सक्रिय है एवं भवितव्यता श्रद्धा का विषय है।

पुरुषार्थ की अपेक्षा पर्यायें अनियत हैं एवं भवितव्यता की अपेक्षा पर्यायें नियत हैं या स्वभाव अर्थ पर्याय की अपेक्षा पर्यायें नियत हैं। व्यञ्जन या विभाव पर्यायों की अपेक्षा अनियत हैं। यह भी कह सकते हैं कि केवली भगवान त्रिकाली ज्ञाता हैं अतः उनके ज्ञान में जैसा-जैसा होता है, वैसा ही झलकता है। इस अपेक्षा से भी सभी पर्यायें नियत कहीं जा सकती हैं तथा छद्मस्थ ज्ञानियों की अपेक्षा सभी अनियत हैं, पता नहीं कब क्या होगा ?

सारांश यह है कि केवली भगवान के ज्ञान की अपेक्षा भाग्य या भवितव्यता स्वीकार करनी है तथा भगवान के ज्ञान में क्या आया है, यह हमारे ज्ञान का विषय नहीं है। अतः भगवान ने हमारे लिये निरन्तर मोक्षमार्ग के अनुरूप पुरुषार्थ करने का उपदेश दिया है। अतः हमें निरन्तर रत्नत्रय की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिए।

कार्य की सिद्धि के लिये आचार्यों ने पांच कारण बताये हैं। पुरुषार्थ, निमित्त, काललब्धि, भवितव्यता एवं स्वभाव का परिणमन। इन पांचों में आचार्यों ने पुरुषार्थ को प्रधान बताया है। अतः मोक्ष सुख प्रेमी स्वाश्रयी आत्माओं को भाग्य भरोसे न रहकर प्रतिक्षण सम्यक् पुरुषार्थ करना चाहिए, तभी निर्वाण प्राप्त परमात्मा बनते आये हैं। एक क्षण के बाद क्या होगा यह कौन जानता है, इसलिये प्रतिक्षण प्रयत्नशील रहना ही हमारा धर्म है, कर्तव्य है।

का संस्थान रखेगा तो दूसरी ओर से कहा जाता है कि वर्तमान में सच्चे मुनिराज त्यागी व्रतियों का सद्भाव नहीं है। काल दोष के कारण कोई मुनि बन ही नहीं सकता जो भी त्यागीव्रती मुनि बनते हैं वह मात्र वेषधारी हैं मोक्षमार्गी नहीं ?

समाधान:—मोक्ष मार्गी यतीश्वर पंचम काल के अन्त समय तक पूर्णतया सम्यक्चारित्र का पालन करते हुए निर्विवाद रूप से मोक्ष मार्ग का उपदेश देंगे। अगर किसी की यह मान्यता है कि पंचम काल में भाव लिंगी मोक्षमार्गी मुनि राजों का अभाव है तो उनकी मान्यता भ्रम मूलक जिनागम के विरुद्ध है। श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने भी कहा है कि मुनिराजों का अस्तित्व इस दुःषम काल में भी रहेगा।

देखिये कुन्दकुन्द स्वामी के शब्दों में ही लीजिये—

> अज्जवि तिरयण सुद्धा अप्पा झाएवि लहइ इंदत्तं।
> लोयंतिय देवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति।।७७।।

अर्थ—अभी इस पंचम काल में भी जो मुनि सम्यक्दर्शन ज्ञान की शुद्धता युक्त होते हैं वे अपनी आत्मा का ध्यान कर इन्द्र पद अथवा लौकान्तिक देव पद को प्राप्त करते हैं और वहां से चयकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ:—कोई कहते है कि अभी इस पंचम कल में जिन सूत्र में मोक्ष होना कहा नहीं इसलिए ध्यान करना तो निष्फल खेद है। उसको कहते हैं कि हे भाई ! मोक्ष जाने का निषेध किया है और शुक्ल ध्यान का निषेध किया है परन्तु धर्म ध्यान का निषेध तो किया नहीं। अभी भी जो मुनि रत्नत्रय से शुद्ध होकर धर्म ध्यान में लीन होते हुए आत्मा का ध्यान करते हैं वे मुनि स्वर्ग में इन्द्रपद को प्राप्त होते हैं अथवा लौकान्तिक देव एक भवावतारी हैं उनमें जाकर उत्पन्न होते हैं। वहां से चय कर मनुष्य हो मोक्ष पद को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार धर्म ध्यान से परम्परा मोक्ष होता है तब निषेध क्यों करते हो ? जो निषेध करते हैं वे अज्ञानी मिथ्यादृष्टि हैं उनको विषय कषायों में स्वच्छन्द रहना है इसलिये ऐसा कहते हैं।

उपर्युक्त प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि भावलिंगी मुनिराजों का सद्भाव इस दुःषम पंचम काल में भी विद्यमान है। ऋद्धिधारी मनः पर्यय ज्ञानी शुक्लध्यानी आदि वीर तप को तपने वाले मुनिराजों का अभाव इस भारत क्षेत्र में अवश्य देखा जा रहा है परन्तु शुभोपयोगी भावलिंगी यतीश्वरों का पूर्णतः सद्भाव है।

पूर्वाचार्यों ने मुनिराजों को पांच भेदों में विभक्त किया है। पुलाक बकुश कुशील निर्ग्रन्थ और स्नातक। इनमें से वर्तमान में मात्र पुलाक मुनिराज परिलक्षित हो रहे हैं। पुलाक संज्ञा उन मुनिराजों की है जो अपने मूलगुणों का भी पूर्णतया परिपालन करने में सक्षम नहीं हैं परन्तु धर्मध्यान में तन्मय रहते हैं।

पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थ सिद्धि में निम्न प्रकार प्रतिपादित किया है—

> उत्तर गुण भावनापेतमनसो व्रतेष्वपि क्वचित्कदाचित्परि-
> पूर्णता मपरि प्राप्नुवन्तोऽविशुद्ध पुलाक सादृश्यात्पुलाका उच्यन्ते।।

जिनका मन उत्तर गुणों की भावना से रहित है जो कहीं पर और कदाचित् व्रतों में भी परिपूर्णता को नहीं प्राप्त होते हैं वे अविशुद्ध पुलाक (तुच्छ धान्य) के समान होने से पुलाक कहे जाते हैं शेष चार प्रकार के मुनिराज मूलगुण उत्तर गुण एवं परिणामों की विशुद्धि की अपेक्षा पूर्णतया निर्दोष परिलक्षित होते हैं।

उपरोक्त प्रमाणों से ही पंचम काल में भावलिंगी मुनिराजों की सिद्धि नहीं है अपितु वर्तमान में परम तपस्वी वीतरागी, आरम्भ परिग्रह से पूर्णतया मुक्त, सल्लेखना समाधि करने वाले, आक्षेपवादी, रत्नत्रय से विशुद्ध मुनिराजों के दर्शन प्रत्यक्ष रूप में हुए हैं जिनमें शांतिसागरजी, विजयसागर जी, सुपार्श्वसागर जी, जयसागर जी, चारित्र सागर जी आदि के नाम आलोचनापूर्ण तथा सल्लेखना समाधि में उल्लेखनीय हैं। और भी अनेकों आचार्य, मुनिराज आगम के अनुसार चर्या एवं तपस्या में निमग्न हैं जिनका आदर्श हम सबसे छिपा नहीं है।

श्री कुन्दकुन्द आदि जितने भी आचार्य हुए हैं, वह सभी पंचम काल के ही आचार्य हैं। पंचम काल में मुनिराजों का अभाव मानने से सभी पूर्वाचार्यों का अभाव सिद्ध होगा। अतः यह मान्यता सर्वथा मिथ्या ही है कि वर्तमान काल में सच्चे मुनिराज त्यागी व्रती नहीं हैं।

आगम प्रमाण एवं प्रत्यक्ष प्रमाण से यह सिद्ध हुआ कि वर्तमान में शुभोपयोगी, मोक्षमार्गी, भावलिंगी मुनिराज त्यागीव्रती हैं एवं पंचम काल के अन्त समय तक विद्यमान रहेंगे।

जितने मुनिराज एवं त्यागीव्रती हैं, वह सभी भाव लिंगी हैं, यह भी नहीं कहा जा सकता तथा सभी द्रव्यलिंगी हैं यह भी नहीं कहा जा सकता। ख्याति लाभ पूजा की भावना से रंजित अगर कोई वेशधारी साधु है तो उसे यथार्थ साधुओं की गणना में समाहित नहीं किया जा सकता, परन्तु संसार शरीर, भोगों से विरक्त होकर आरम्भ-परिग्रह से परे रत्नत्रय की साधना में जो निमग्न हैं भले ही उनकी चर्या में कुछ दोष परिलक्षित हों, फिर भी उन्हें आगम प्रमाण से भावलिंगी मोक्षमार्गी मुनिराज मानने में किसी प्रकार का दोष नहीं है। अतः चारित्र विरोधी प्रमाद एवं कषाय से युक्त जैन भाइयों को कपोल कल्पित कल्पनाओं पर विश्वास न कर यतिवरों का पूर्ण सम्मान कर स्वयं यथा शक्ति नियम व्रतों को ग्रहण करके मुक्ति पथ की ओर अग्रसर होने के लिये प्रयत्नशील रहना है।

जिज्ञासा नं ६ :— जैन समुदाय की आवाज एक ओर से सुनाई पड़ती है कि अणुव्रत-महाव्रत अर्थात् सम्यक् चारित्र, दान, पूजा, जिनेन्द्र भक्ति, तीर्थ वन्दनादि आत्म स्वरूप को पवित्र करने वाले पवित्र पुण्य बन्ध एवं परम्परा से मोक्ष सुख के कारण हैं, तो दूसरी ओर शोर है कि व्रत, संयम, देव, शास्त्र गुरु की पूजन भक्ति आदि शुभ क्रियाओं से पुण्य का बन्ध होता है और पुण्य संसार बंध का कारण दुःख रूप, हेय, विष्टा के समान छोड़ने योग्य है।

समाधान :—मोक्ष लक्ष्मी के प्रेमी सम्यग्ज्ञानी अध्यात्मवादियों के शुभोपयोग रूप जिनेन्द्र भक्ति, दान पूजा आदि तथा अणुव्रत, महाव्रत, गुप्ति आदि पुण्य बंध के साथ-साथ संवर निर्जरा एवं परम्परा से मोक्ष के कारण हैं तथा षष्ठम् गुणस्थान तक की भूमिका तक शुभोपयोग ही होता है। अतः पुण्य भी सर्वथा ठीक नहीं है, सम्यग्दृष्टि का पुण्य आत्मस्वरूप को पवित्र करने वाला है।

संसार शरीर भोगों से विरक्त होकर आत्म स्वरूप की अभिरुचि के साथ-साथ यथा योग्य अणुव्रत एवं महाव्रत तथा आगमोचित दान, पूजा आदि समस्त शुभ कर्मों को आचार्यों ने मोक्ष का हेतु बताया है, क्योंकि इन शुभोपयोग क्रियाओं से संसार संबंधी विषय वासनाओं का परित्याग एवं मोक्षमार्ग का सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र से प्रीति होती है। अतः महाव्रत आदि जो सम्यक्चारित्र रूप पुण्य है वह वर्तमान की भूमिका में पूर्णतया उपादेय है।

आइए, [illegible] अपनी जिज्ञासा शमन करें, जिससे यह परिज्ञान सहज में ही हो जायेगा कि अणुव्रत महाव्रतादि रूप पुण्य हेय है या उपादेय।

पुण्य :— आत्म स्वरूप को पवित्रता के सांचे में ढालने वाली प्रक्रिया का नाम पुण्य है। पूज्यपाद स्वामी के शब्दों में पुण्य की व्याख्या निम्न प्रकार अंकित है—

"पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्"

अर्थात् जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है वह पुण्य है।
पंचास्तिकाय में श्री कुन्दकुन्द स्वामी के शब्दों में देखिए—

सुहपरिणामो पुण्णं, असुहो पावंति हवदि जीवस्स ।
दोण्हं पोग्गल मेत्तो, भावो कम्मत्तणं पत्तो ॥१३२॥

अर्थात् जीव के शुभ परिणाम पुण्य हैं और अशुभ परिणाम पाप हैं, उन दोनों के द्वारा पुद्गल मात्र भाव कर्मपने को प्राप्त होते हैं (अर्थात् जीव के पुण्य-पाप भाव के निमित्त से साता-असाता वेद-नीय आदि पुद्गल मात्र परिणाम व्यवहार से जीव का कर्म कहे जाते हैं)।

और भी कहा है—

"दानपूजाषडा-वश्यकादि रूपो जीवस्य शुभ परिणामो भाव पुण्यं"

अर्थात् दान, पूजा षडावश्यकादि रूप जीव के शुभ परिणाम भाव पुण्य हैं।

उपर्युक्त पूर्वाचार्यों के अनुसार पुण्य की परिभाषा से यह सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टि भव्यात्मा का पुण्य परम्परा से मुक्ति का कारण है, इसे सर्वथा संसार का कारण हेय, तथा विष्ठा के समान त्याज्य बताना आगम से विपरीत दुराग्रह पूर्ण मान्यता है। स्याद्वाद की दृष्टि से मोक्षरूप स्थिरता एवं यथाख्यात चारित्र, आत्मस्वरूप में रमण वीतराग चारित्र की अपेक्षा से पुण्य रूप क्रियाओं को गौण किया जा सकता है और जो अल्पज्ञानी आत्मा, मात्र पुण्य रूप क्रियाओं से ही मोक्ष सुख की प्राप्ति मानते हैं, उनके लिए शुक्ल ध्यान या वीतराग चारित्र के बिना मुक्ति संभव नहीं है। इस अपेक्षा से यह कहा है कि जब तक पुण्य करते रहोगे, तब तक मोक्ष सुख की प्राप्ति संभव नहीं, पुण्य को छोड़ कर वीतराग स्वरूप में रमण करने पर ही मोक्ष सुख की प्राप्ति सम्भव है।

वास्तविकता यह है कि पुण्य रूप आचरण करने का उपदेश तो सर्वत्र परिलक्षित है, परन्तु पुण्य को छोड़कर पाप रूप क्रियाओं का उपदेश विश्व के किसी भी साहित्यकार की दृष्टि से इष्ट नहीं है। इसका भी कारण यह है कि पुण्य भूमिका के अनुसार बुद्धि पूर्वक किया जाता है एवं अबुद्धि पूर्वक मोक्ष में बढ़ते हुए भव्यात्माओं की अपेक्षा से सहज में छूट जाता है, छोड़ना नहीं पड़ता है। अतः पुण्य को हेय बताकर उसे छोड़ने का उपदेश सर्वथा मिथ्या है। वर्तमान काल की भूमिका में तो पुण्य रूप शुभो-पयोग ही हमारा परमोपकारी है। इतना अवश्य समझ लेना है कि पुण्य मोक्ष मार्ग में सहयोगी तो है, परन्तु पूर्णतः मुक्ति दिलाने में सक्षम नहीं। अतः पदानुसार पुण्य रूप आचरण करते हुए वीतराग चारित्र में तन्मय होने का परिपूर्ण पुरुषार्थ करना चाहिए। जिस प्रकार फूल के बिना फल की उत्पत्ति सम्भव नहीं, ठीक उसी प्रकार पुण्य रूप फूल के बिना पवित्र मोक्ष फल की उत्पत्ति भी असम्भव है। जिस प्रकार फल की पूर्णता हो जाने पर फूल सहज में मुरझाकर फल से छूट जाता है, ठीक उसी प्रकार मोक्ष सुख फल की प्राप्ति होने पर ये पुण्य रूप फूल सहज रूप में छूट जाता है।

अत :—संसार वर्धक पांचों इन्द्रिय सम्बन्धी-विषय भोग, राग-द्वेष एवं मिथ्यात्व कषाय आदि से विरक्त होना ही व्रत है।

तत्त्वार्थसूत्र में भी उमास्वामी ने व्रत की परिभाषा इस प्रकार की है—

"हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्योविरतिर्व्रतम्"

संसार परिवर्धक हिंसा आदि दुष्कृत्यों से विरक्त होना ही व्रत है ।

स्याद्वादप्रकाश टीकानुसार—"व्रतं कोऽर्थः ? सर्व निवृत्ति परिणामः ।" अर्थात् सर्व निवृत्ति के परिणाम को व्रत कहते हैं । बृहद्द्रव्य संग्रह टीकानुसार—

निश्चयेन विशुद्ध ज्ञान दर्शन—स्वभावनिजात्म तत्त्व भावनोत्पन्न सुख सुधास्वादबलेन समस्त—शुभाशुभ रागादि विकल्प निवृत्तिर्व्रतम्, व्यवहारेण तत्साधकं हिंसानृतस्तेयाब्रह्म परिग्रहाच्च यावज्जीव निवृत्ति लक्षणं पंचविधं व्रतम् ।

अर्थात् निश्चय नय से विशुद्ध ज्ञान और दर्शन रूप स्वभाव का धारक जो निज आत्म तत्त्व उसकी भावना से उत्पन्न जो सुख रूपी अमृत उसके आस्वाद के बल से सम्पूर्ण शुभ तथा अशुभ राग आदि विकल्पों से रहित होना जो व्रत है; और व्यवहार से उस निश्चय व्रत को साधने वाला हिंसा, अनृत (झूठ) चोरी, अब्रह्म और परिग्रह से जीवन पर्यन्त रहित रूप लक्षण का धारक पांच प्रकारका व्रत है ।

पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित व्रत शब्द की व्याख्या से पूर्णतः यह सिद्ध होता है कि व्रत हेय नहीं, मोक्ष मार्ग का अनुसरण करने वाले भव्यात्माओं के लिए ग्राह्य है, आचरणीय है, उपादेय है ।
श्रावक एवं यतिवरों की अपेक्षा व्रतों को दो भेदों में विभाजित किया है। श्रावकोचित व्रतों को अणुव्रत एवं श्रमणोचित व्रतों को महाव्रतों के नाम से उल्लिखित किया है । अणुव्रतों में एक देश पापों से विरक्ति एवं मोक्षमार्ग में अनुरक्ति है तथा महाव्रतों में पूर्णतया पापों से विरक्ति एवं मोक्षमार्ग में अनुरक्ति है । व्रतों की पूर्णता का दूसरा नाम चारित्र भी है । चारित्र को भी कुन्दकुन्द स्वामी ने धर्म की संज्ञा दी है—

"चारित्तं खलु धम्मो" यथार्थ चारित्र ही धर्म है । इस चारित्र के अभाव में किसी भी प्रकार मोक्षमार्ग संभव ही नहीं है । इस चारित्र की आचार्यों ने दो प्रकार से व्याख्या की है, निश्चय एवं व्यवहार ।

राग द्वेष की निवृत्ति स्वरूप आत्मा की जो वीतराग परिणति है वह निश्चय चारित्र है, एवं वीतराग परिणति का कारण विषय कषायों का त्याग, महाव्रत आदि व्यवहार चारित्र है । सम्यग्दर्शन ज्ञान के साथ इस चारित्र की आचार्यों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है और मुक्ति मिलन के लिए अद्वितीय कारण बताया है । सम्यक्चारित्र के विषय में सभी पूर्वाचार्यों का एकमत है कि सम्यक्चारित्र से ही मोक्ष सुख की प्राप्ति सम्भव है । चारित्र की महिमा बताते हुए [illegible] सुभाषित में कहा है—

सज्ज्ञानमत्र क्षपति भावि कर्म सद्वृत्तमस्तार्जित पूर्वकर्म ।
सम्यक्त्वमेतद्द्वय पुष्टि हेतुरिति त्रयं स्यात् कथनं सदैव ॥२२०॥

अर्थात् सम्यग्ज्ञान भावी कर्मों का क्षय करता है, सम्यक्चारित्र समस्त पूर्व संचित कर्मों का नाश कर देता है, और सम्यग्दर्शन इन दोनों की पुष्टि का हेतु होता है । इस प्रकार "सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः" सूत्रकार का आशय अक्षरशः सिद्ध होता है ।

और कहा भी है—

"न चारित्रात् परं तपः," यत् सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञान गुणे सति सम्यक्चारित्र [illegible] ।

चारित्र से बढ़कर कोई तप नहीं, यह जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है, वे दोनों चारित्र के मित्र हैं ।

सागार धर्मामृत में भी कहा है—

> आराध्य चरणमनुपममनादि मिथ्या दृशोऽपियत् क्षणतः ।
> दृष्टा विमुक्तिभाजस्ततोऽपि चारित्रमत्रेष्टम् ॥ (सागारधर्मामृत)

अधिक कहने से क्या ? जो अनादि मिथ्यादृष्टि है, उन्होंने भी इस अनुपम सम्यक्चारित्र का पालन कर क्षण में मुक्ति प्राप्त की है । अतः चारित्र सर्वोपरि इष्ट है, मोक्ष सुख का कारण है, भव्यात्माओं के लिए उपादेय आचरणीय है ।

समिति एवं गुप्ति भी प्रमादादि दूषणों से आत्म स्वरूप की रक्षा करने के लिए हैं । जिस प्रकार खेत की रक्षार्थ किसान बाड़ी लगाकर जानवरों से रक्षा करता है, उसी प्रकार सम्यक्चारित्र रूपी खेत की विषय कषाय प्रमादादि विकारों से संरक्षण हेतु महा मुनिराज समिति गुप्ति आदि मूल गुणों का परिपालन करते हैं ।

सम्यग्दृष्टि अणुव्रती एवं महाव्रतियों के मोक्ष मार्ग रूप आचरण को सर्वथा संसार का ही कारण मानना आगम के विपरीत मान्यता है, इतना अवश्य है कि सम्यग्दृष्टि पुण्य फल में लीन नहीं होता तथा पुण्य के प्रताप से स्वर्गादिक सम्पदा को भी नहीं चाहता ।

भक्ति—"गुणेषु अनुरागः भक्तिः" पूज्य महापुरुषों के आत्म गुणों में सहज अनुराग का होना ही भक्ति है ।

जिनेन्द्र भगवान की भक्ति आत्मशक्ति को जाग्रत करने के लिए परमामृत है, भक्त को भगवान बनाने की रसायन है । क्षत्र चूड़ामणी के शुभारम्भ में कहा है—

> श्री पतिर्भगवानपुष्यात्, भक्तानां वा समीहितम् ।
> यद् भक्ति शुल्कतामेति, मुक्ति कन्या कर ग्रहे ॥

सर्वतो भद्र श्रीपति भगवान की भक्ति रूप शुल्क जो भक्त अदा कर देगा, वह मुक्ति सुन्दरी का कर अपने कर में ग्रहण कर लेगा ।

महावीराष्टक में भी पढ़ते हैं—

> यदर्चाभावेन प्रमुदितमना दर्दुर इह,
> क्षणादासीत्स्वर्गी गुणगणसमृद्धः सुखनिधि ।
> लभन्ते सद्भक्ताः शिव सुख समाजं किमु तदा,
> महावीर स्वामी नयन पथ गामी भवतु नः ॥४॥

पूजन भक्ति की भावना से एक मेंढक स्वर्ग में समृद्धिधारी देव हो गया तो कोई मनुष्य सच्ची भक्ति से मोक्ष सुख प्राप्त कर ले तो क्या आश्चर्य की बात है ?

की सम्पत्ति का स्वामी हूं, तो कभी कहता है कि मेरा प्रभाव अखिल विश्व में व्याप्त है, मेरी कीर्ति-पताका के समान लहरा रही है, मेरा मुकाबला करने वाला विश्व में है ही कौन ? कभी परिजनों का अभिमान करता है तो कभी प्रियतमा के प्रेमपाश में बंध कर उसे आत्म विभूति, अपने से अभिन्न मानकर विषय वासना में विलीन हो जाता है। अपने स्वभाव को भूलकर क्रोधादि कषाय एवं दुर्व्यसन सेवन में दुराचारी बनकर अज्ञानता में न जाने कितने कुकृत्य एवं अनर्थ कर बैठता है, जिनके कारण वर्तमान पर्याय में सर्वत्र निन्दा होती है और मरणोपरांत दुर्गति में जाकर सागरों पर्यन्त दुःसाध्य वचनातीत वेदना को, अनेकों प्रकार के दुःखों को सहन करना पड़ता है। इन सभी दुरभिमानों एवं विषय वासना का त्याग किये बिना जीवन में सुख शांति सम्भव ही नहीं है।

जिस प्रकार पानी ढाल (नीचे) की ओर सहज में ही बहता जाता है और एक दिन खारे समुद्र में विलीन होकर अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को खो बैठता है। बहते हुए पानी को यदि बांध बांधकर रोक दिया जाय और नहरों के द्वारा जिस दिशा में ले जाया जाय, जा सकता है। बगीचे एवं धान्य की सिंचाई के काम आ सकता है, ठीक इसी प्रकार पानी की तरह अज्ञानी आत्मा विषय, कषाय, पापाचार रूप नालों की ओर बहा जा रहा है, समय आने पर निगोद रूप दुःख सागर में डूब जायेगा, सागरों पर्यन्त जन्म-मरण के दुःख उठायेगा। यदि यह आत्मा भेद ज्ञान रूप संयम के बांध में बंध जाये और विषय वासना तथा पापाचार रूप कुमार्ग का त्याग कर दे तो सम्यग्ज्ञान रूप नहर से चारित्र रूप बगीचा स्वानुभूति, निजानन्द रूपी महक से महक उठेगा, मोक्ष प्रेमी आत्माओं को प्रिय बन जाएगा।

मिथ्यात्व एवं कुत्सित पुरुषों की संगति से जिन विषय कषायों, आरम्भ परिग्रहों को अपनाया है उसे देव शास्त्र, गुरुओं के समागम, उनके सदोपदेशों से पर समझ कर, मोक्षमार्ग में बाधक समझ कर छोड़ दिया जाता है। विषयुक्त भोजन के ज्ञात होने पर ज्ञानी पुरुष तत्क्षण परित्याग कर प्राण रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आसक्ति विष युक्त पदार्थों का त्याग आत्म स्वभाव की रक्षार्थ विवेकी महानुभाव यत्न पूर्वक कर देते हैं।

भगवान महावीर स्वामी की दिव्यदेशना के अनुसार स्याद्वाद सिद्धांत विभूषित पूर्वाचार्यों ने भी सर्वत्र विषय कषायों के त्याग का ही उपदेश दिया है। विषय कषाय एवं बुरी वासनाओं का त्याग बिना किए स्वयमेव हो जावेगा, यह बात दिगम्बराचार्यों के मत से सर्वथा विरुद्ध है, प्रमाद एवं विषय कषायों की पुष्टि है, जिनाज्ञा का खंडन है, अवर्णवाद है, उल्लंघन है।

अमृतचन्द्राचार्य ने पुरुषार्थ सिद्धि उपाय में कहा है कि उपदेश कर्ता को सर्व प्रथम समस्त आरम्भ परिग्रह के त्याग रूप मुनि बनने का उपदेश देना चाहिये। छहढाला में भी कहा है (तातें इनको तजिये सुजान) (बहिरातमता हेय जान तज) समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है पापप्रणा-लिकाभ्योविरत, अर्थात् पांच पाप के परनाले हैं, इनसे विरक्त होना चाहिये। नीतिकारों ने भी कषाय त्याग का उपदेश दिया है— 'तस्मात् क्रोधं विवर्जयेत्' अर्थात् क्रोध अनर्थों का कारण है, इसलिए उसका त्याग करना चाहिए।

तात्पर्य :— परम शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से सिवाय ज्ञानादि अनन्त गुणों के आत्मा का किसी भी चेतन-अचेतन पदार्थ से कोई संबंध नहीं है। आत्मा ने पर पदार्थों को ग्रहण ही नहीं किया है। वह तो मात्र ज्ञाता दृष्टा है। जिस अपेक्षा से पर को ग्रहण करने वाला आत्मा नहीं है, उस शुद्ध नय की अपेक्षा से त्याग करने वाला भी आत्मा नहीं है।

अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव में सम्यक्त्वाचरण चारित्र अविरत सम्यग्दृष्टि के रहता है, जिसके कारण निःशंकितादि अष्ट अंगों से विभूषित तथा पच्चीस दोषों से विमुक्त होता है। अन्याय, अभक्ष्य सेवन एवं माया, मिथ्या, निदान इन तीनों शल्यों से रहित है फिर भी व्रती नहीं कहलाता क्योंकि हिंसादि पापों का पूर्ण रूप से त्याग नहीं किया है, विषय वासनाओं से विरक्त नहीं हुआ है इसलिए अविरत सम्यग्दृष्टि कहलाता है तथा विषय विरक्ति के अभाव में प्रतिसमय आस्रव बन्ध होता रहता है।

अविरत सम्यग्दृष्टि की परिभाषा सिद्धांत ग्रंथ जीव काण्ड में निम्न प्रकार प्रतिपादित है—

णो इंदियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे चावि ।
जो सद्दहदि जिणुत्तं, सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥२९॥

अर्थात् जो पांचों इंद्रियों के भोगों से विरक्त नहीं है, एवं त्रस स्थावर जीवों की हिंसा से भी विरक्त नहीं है परन्तु जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित तत्त्व का श्रद्धान करते हैं वह अविरत सम्यग्दृष्टि है।

कुन्दकुन्द स्वामी ने भी नियमसार में कहा है—
अत्तागम तच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं ।

अर्थात् सच्चे देव एवं वीतराग प्रभु द्वारा प्रतिपादित आगम के अनुसार तत्त्वों का यथावत् श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन की विशद विवेचना मुक्ति पथ की ओर में की है, विशेष समझने को उसमें देख लेना।

बन्ध :—कषाय एवं योग के निमित्त से कर्म प्रदेशों का आत्म प्रदेशों के साथ मिल जाना यही बन्ध है। बन्ध चार प्रकार का होता है। प्रकृति बन्ध, प्रदेश बन्ध, स्थिति बन्ध एवं अनुभाग बन्ध।

बन्ध के विषय में श्री नेमीचन्द सिद्धांत चक्रवर्ती ने लिखा है—

पयडिट्ठिदि अणुभागप्पदेस भेदादु चदुविधोबन्धो ।
जोगा पयडि पदेसाठिदि अणुभागा कसायदो होंति ॥

अर्थात् प्रकृति एवं प्रदेश बन्ध योगों के तथा स्थिति और अनुभाग बन्ध कषाय के निमित्त से होता है कुन्दकुन्द स्वामी ने बन्ध के प्रत्यय चार एवं उमास्वामी ने बन्ध के पांच प्रत्यय निम्न प्रकार प्रतिपादित किए हैं।

भोग :—पांचों इंद्रिय एवं मन से पदार्थों का राग भाव से सेवन करना भोग है। इनभोगोपभोगों के चक्कर में फंसा भव्यात्मा भी तब तक कर्मों का क्षय नहीं कर पाता जब तक भोगों से विरक्त नहीं हो जाता, क्योंकि पूर्वाचार्यों ने विषय भोगों को संसार का ही कारण बताया है। भोगों में आसक्त अच्छे-अच्छे ज्ञानी महानुभाव भी बरबाद हो जाते हैं। छत्रचूड़ामणि में कहा भी है—

विषयासक्त चित्तानां गुणः को वा न नश्यति ।

अर्थात् विषय भोगों में लीन पुरुष के सभी गुण समाप्त हो जाते हैं। राजा सत्यंधर को कौन नहीं जानता ? जिसको विषयासक्त होकर राज्य के साथ-साथ अपने प्राणों को भी अर्पण कर देना पड़ा था।

भोगों के विषय में नीतिकारों ने भी कहा है—"भोगो न भुक्ता वयमेव भुक्ता" अर्थात् मैंने भोगों को नहीं भोगा, प्रत्युत भोग मुझे संसार में भुगताते गये ।

एक-एक इंद्रिय विषय के लम्पटी जीव इन्द्रिय लम्पटता में अपने प्राण खो बैठते हैं । देखिए, स्पर्शन लम्पटी हाथी कामान्ध होकर बनावटी हथिनी की ओर दौड़ता है फलतः आच्छादित अखाड़े में गिरकर पराधीन हो जाता है, प्राण भी दे देता है ।

रसना लम्पटी मीन मांस या आटे के स्वाद में काँटे में मुख फँसा प्राण खो बैठती है, जाल में फँस जाती है ।

घ्राण इन्द्रिय लम्पटी भौंरा ने कमल में बन्द होकर अपने प्राण दे दिये उसकी कथा प्रसिद्ध है ।

चक्षु इन्द्रिय लम्पटी पतंगा दीपक के प्रकाश को इष्ट समझकर उस पर अर्पण होकर अपनी आहुति दे देता है, प्राण खो बैठता है ।

कर्णेन्द्रिय लम्पटी हिरण संगीत सुनने में तन्मय होकर अपना तन शिकारी को समर्पण कर देता है ।

एकेन्द्रिय विषयासक्त प्राणियों की यह दुर्दशा है तो सम्यग्दृष्टि पाँचों इंद्रियों के विषय भोगों में आसक्त रहकर कर्म निर्जरा किस प्रकार कर सकता है? अर्थात् सम्यग्दृष्टि के भोग भी बन्ध के ही कारण हैं, यह बात अलग है कि सम्यग्दृष्टि जीव को भोगों में मिथ्यादृष्टिवत तीव्र आसक्ति नहीं होती इसलिये अनन्त संसार का उत्कृष्ट बन्ध नहीं होता । उसके कोटा-कोटी के अन्दर ही कर्मों का बन्ध होता है, इससे अधिक नहीं । अतः भोग तो बन्ध के ही कारण हैं, निर्जरा के कारण नहीं ।

प्रश्न :—कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार निर्जराधिकार के शुभारम्भ में सम्यग्दृष्टि के भोगों को निर्जरा का कारण बताया है, क्या वह यथार्थ नहीं है?

उत्तर—कुन्दकुन्द स्वामी ने वीतराग सम्यग्दृष्टि के भोगों को निर्जरा का कारण बताया है, सराग, अविरति, चतुर्थ गुणस्थानवर्ती व्यवहार सम्यग्दृष्टि के भोगों को निर्जरा का कारण नहीं बताया है । जयसेनाचार्य एवं अमृतचन्द्राचार्य ने टीकाओं में स्पष्ट खुलासा कर दिया है कि वीतरागी सम्यग्दृष्टि के भोग निर्जरा के कारण हैं और वीतराग सम्यग्दर्शन सप्तम गुणस्थान में होता है, चतुर्थ गुणस्थान में नहीं ।

प्रश्न :—वीतराग सम्यग्दृष्टि के भी भोग होते हैं क्या?

उत्तर :—वीतराग सम्यग्दृष्टि के मन एवं इंद्रियों के अवलम्बन से होने वाले मति श्रुतज्ञान में निर्विकार भाव से जो स्पर्श, रस, गंध रूप पदार्थों का प्रतिबिम्बित होना, उनका ध्यान एवं चिन्तवन रत्नत्रय के माध्यम से आत्मस्वरूप में रमण करना ही भोग है और ऐसे भोग से निर्जरा मानने में बाधा आती नहीं । अतः सामान्य सम्यग्दृष्टि के भोग निर्जरा के कारण नहीं हैं, ध्यानी में आरूढ़ वीतरागी सम्यग्दृष्टि को बुद्धिपूर्वक ध्यान रूप भोग को निर्जरा का कारण मानने में स्याद्वाद सिद्धान्त से कोई बाधा नहीं आती ।

निर्जरा :—आत्मा के साथ निबद्ध कर्मों का निर्जीव होना ही निर्जरा है । यह निर्जरा दो प्रकार की है, सविपाक और अविपाक । सविपाक निर्जरा सभी प्राणियों के प्रतिक्षण होती आ रही है, परन्तु उसका मोक्ष मार्ग में कोई प्रयोजन नहीं । दूसरी अविपाक निर्जरा है वह पुरुषार्थ साध्य है उसी का मोक्ष मार्ग में महत्व है । कहा भी है—

पहली सबके होय नहीं कुछ सरे काज तेरा ।
दूजी करे जु उद्यम करके मिटे जगत फेरा ॥

आचार्य उमा-स्वामी ने ग्रन्थराज तत्वार्थसूत्र में लिखा है—"तपसानिर्जरा च" निर्जरा सम्यक् भेद-विज्ञान पूर्वक किये तप के द्वारा होती है । विषय भोगों से निर्जरा मानना आगम का महान अवर्णवाद है । गुप्ति पूर्वक संवर के साथ होने वाली कर्म निर्जरा ही मोक्ष महल की ऊंचाई तक आत्मा को पहुँचाने में सक्षम है ।

विशेष :—उपर्युक्त प्रमाणों एवं परिभाषाओं से यह अच्छी तरह से सिद्ध हो चुका है कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि के भोग बन्ध के ही कारण हैं, निर्जरा के कारण नहीं । सम्यग्दृष्टि के इकतालीस कर्म प्रकृतियों की बन्ध व्युच्छित्ति अवश्य होतीहै और बन्ध भी तीव्र नहीं होता है, क्योंकि जितने अंशों में राग कम हो जाता है उतने अंशों में बन्ध का अभाव एवं निर्जरा का सद्भाव मानने में बाधा नहीं है, परन्तु सर्वथा नहीं । श्रद्धा की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि को कर्म बंध इष्ट नहीं है, हेय है, भोग भी हेय हैं, निर्जरा मोक्ष रूप स्वयं का स्वभाव ही उपादेय है ।

सारांश यह है कि रत्नत्रय युक्त योग ही निर्जरा एवं मोक्ष के कारण हैं, भोग नहीं । भोगों से तो बंध ही होता है ।

भोग हेतु संसार के, योग हेतु निर्वाण ।
ज्ञानी निज में रमणकर, बनता है भगवान ॥

जिज्ञासा नं० १२ :—कुछ लोगों की मान्यता है कि समयसार का वर्णित विषय श्रावकोपयोगी नहीं है, वह तो मुनिराजों का ग्रंथ है, श्रावकों को छूना नहीं चाहिए, वहीं कुछ का कहना है कि समयसार जो भी पढ़ेगा, उसका कल्याण होगा । समयसार सबसे पहले पढ़ना चाहिए, जड़ की क्रिया जड़ में होती है, आत्मा की आत्मा में, यह जान लो निश्चित ही मोक्ष सुख की प्राप्ति हो जायगी ?

समाधान :—व्यवहार रत्नत्रय की पूर्णता से विभूषित सौभाग्यशाली भव्यात्मा ही समयसार रूप आचरण करने में सक्षम है अतः मूलतः उन्हीं के मनन चिन्तन, का ग्रंथ है । समयसार ग्रंथ के माध्यम से कुन्दकुन्द स्वामी ने अपने उन शिष्यों को उपदेश, मार्गदर्शन दिया है जो संयमाचरण चारित्र, अट्ठाईस मूलगुणों के परिपालन में पूर्णतया निपुण होकर शरीराश्रित क्रिया को मोक्ष सुख प्राप्ति का कारण मानने लगे थे ।

समयसार :—शुद्ध, चैतन्य, अखण्ड, अनन्त गुण विभूषित, टंकोत्कीर्ण, ज्ञायक स्वभावी आत्मा ही समयसार है ।

प्रवचनसार, नियमसार, योगसार, रयणसार आदि अनेकों ग्रंथों की रचना कुन्दकुन्द देव ने की है। इन सभी ग्रंथों का शिरोमणि ग्रंथराज समयसार है, इसमें कथा सत्य तथागुप्त की अनुभूत चरितार्थ है। द्रव्य कर्म, भाव कर्म एवं नोकर्मों से रहित परम विशुद्ध आत्म स्वरूप की विवेचना निश्चय नय की प्रधानता से की है। अध्यात्म ग्रंथ होने पर भी स्याद्वाद सिद्धांत का ध्यान रखा है, व्यवहार नय से जीव का स्वरूप क्या है, यह भी बताया है।

समयसार में अनेकों स्थान पर साधु, मुनि एवं ज्ञानी शब्द से सम्बोधन किया गया है, श्रावक शब्द का पूरे समयसार में समावेश ही नहीं परिलक्षित होता।

पुण्य-पाप, सुशील, कुशील दोनों को आत्मा का विभाव होने के कारण संसार का कारण कहा है, प्रतिक्रमण को विषकुम्भ कहा है। यह सब इसलिए नहीं कहा कि प्राथमिक भूमिका में पुण्य पाप को समान समझ कर मनमानी करो, प्रतिक्रमण को छोड़कर स्वच्छंद विचरण करो। कहने का अभिप्राय यह है कि पुण्य पाप दोनों तो विभाव हैं, चैतन्य आत्मा तू अपने शुद्धोपयोग स्वरूप में तन्मय हो जा, ताकि प्रतिक्रमण करना ही न पड़े। प्रतिक्रमण तो प्रमत्त अवस्था का परिणाम है, अप्रमत्त से प्रमत्त होने को अपराध बताया है।

कहने का अभिप्राय यह है कि समयसार शुद्धोपयोग की भूमिका का उपदेश देने वाला ग्रंथ है। अतः शुद्धोपयोग में तन्मय होने को लालायित साधकों को समयसार परमामृत है।

लाभ—समयसार के पठन पाठन से आत्मा का नयातीत क्या स्वरूप है, निश्चय नय से रत्नत्रय का क्या स्वरूप है इत्यादि के साथ नव पदार्थों का निश्चय नय से विवेचन तथा स्वसमय एवं पर समयरत आत्माओं के स्वरूप का ज्ञान होता है। मूलतः मैं कौन हूँ, इस वास्तव शब्दों में ज्ञान हो जायगा, श्रद्धान एवं आंशिक आचरण भी सम्भव है।

हानि—समयसार को पढ़कर अगर कोई अपने आपको शुद्ध, बुद्ध, निरञ्जन निर्विकार सिद्ध समान परमात्मा मानने लगे, शब्दों से अकर्ता, अभोक्ता बने दुनिया को सुनाए कि मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ और विषयों में आनन्द मनाए, आत्मा जन्म, जरा, मृत्यु एवं रोग, शोक शरीरादि से परे है यह उपदेश सुनाए एवं रोग तथा मृत्यु से भयभीत होकर डाक्टरों की, हास्पिटल की शरण ले, सम्यक् आचरण को छोड़कर नियम व्रतों को तोड़कर स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने वाले के लिए महान घातक है, भव दुःखों का कारण है। अतः समयसार को पढ़कर स्वच्छन्द बनना नरक निगोद का कारण है, एवं दिगम्बर वीतरागी शुद्धोपयोगी ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा में मुनि बन कर निमग्न हो जायेगा तो परमानन्द का कारण है।

समयसार पढ़कर बनारसीदास जैसे विशेष ज्ञानी विद्वान भी विचलित हो गए वे स्वच्छन्दी बनकर अपने आपको सिद्ध समान मानने लगे थे।

देखिए उन्हीं के शब्दों में—

क्रिया को रस मिट गयो, भयो न आतम स्वाद।
भई बनारसि की दशा, यथा ऊंट को पाद॥

जब बनारसीदास जैसे महान विद्वान् समयसार को पढ़कर बह सकते हैं तो सामान्य लोगों की तो बात ही क्या है । अभी वर्तमान में भी आत्मा को शुद्ध बुद्ध अपने आपको ज्ञाता दृष्टा कहने वाले आचरण भ्रष्ट अनेकों देखने को मिल सकते हैं । एक भाई ने मेरे लिए बताया कि मेरी बहिन ने जब आर्यिका दीक्षा ली तब मैंने अज्ञान दशा में आहार पपौरा जी में आचार्य शिवसागर जी से सप्तम प्रतिमा के व्रत ले लिए थे समयसार का प्रवचन सुनने पर ज्ञात हुआ कि व्रत ग्रहण करना तो अज्ञानियों का काम है आत्मा तो ज्ञायक व्रत से युक्त है उसे ही समझ यही महाव्रत है, उसी से मुक्ति मिलेगी । जब से सप्तम प्रतिमा के क्रियाकाण्ड को छोड़ दिया तभी से मैं ज्ञानी बन गया, वास्तव में वस्तु के स्वरूप को समझा है ऐसा अनेकों भाई कहते हैं, पहले सभी ढोंगी पाखंडी कहते थे । ऐसे और भी एक नहीं अनेकों उदाहरण हैं, समयसार को पढ़कर स्वच्छन्दी बनने के । जो नियम से पूजन भक्ति करते थे, उन्हें अब बन्ध का कारण कहकर छोड़ बैठे हैं और अन्याय अभक्ष्य का सेवन करते हुए कहते हैं कि जड़ की क्रिया का कोई सम्बन्ध नहीं है ।
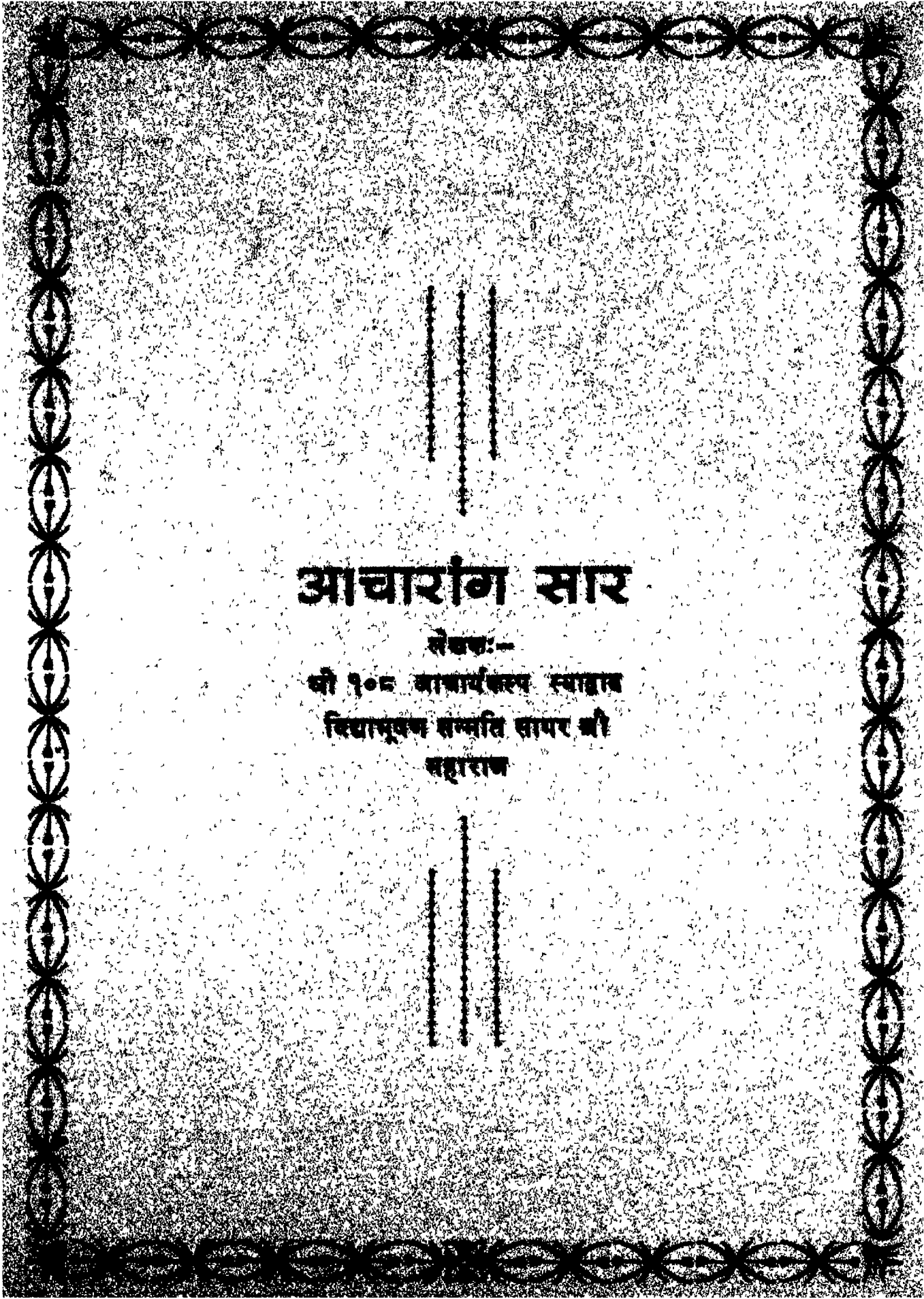
आचार्यों ने प्राथमिक भूमिका में अध्यात्म ग्रंथ पढ़ने का निषेध किया है । सबसे पहले अपने कुलाचार रूप आचरण को करने का उपदेश है । तदन्तर श्रावक या मुनि पद के अनुसार आचरण करने का उपदेश है । इसी के साथ-साथ वीतराग चारित्र अध्यात्म ग्रंथों के अनुसार स्वानुभूति भेद विज्ञान आत्मस्मरण का उपदेश है ।

पात्रता के अभाव में कार्य की सिद्धि सम्भव नहीं । सिहनी का दूध जैसे स्वर्ण पात्र में ही अवस्थित रह सकता है, उसी प्रकार अध्यात्म शास्त्रों का उपदेश भी भाव लिंगी मुनिराज रूपी पात्र में ही टिक पाना सम्भव है ।

प्रश्न :—क्या समयसार का पठन पाठन सर्वथा त्याज्य है ?

उत्तर :—सामान्य गृहस्थों को समयसार का पठन-पाठन सर्वथा त्याज्य है एवं जो श्रावक श्रावकाचार में निपुण हैं, साधु समागम में रहकर नय एवं प्रमाण से चारों अनुयोगों के स्वरूप को समझने लगे हैं वह अगर संसार शरीर भोगों से विरक्त होकर समयसार का पठन-पाठन करें तो उपयोगी बन सकता है अन्यथा अनुभव विहीन मात्र शब्द ज्ञान का ही कारण बन सकता है, आत्मज्ञान एवं आचरण का नहीं ।

आचारांग सार

लेखकः—

श्री १०८ आचार्यकल्प स्याद्वाद
विद्याभूषण सन्मति सागर जी
महाराज

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

आचारांग सार

लिखक—श्री [illegible]

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं,
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं

तंत्र तत्त्व सद् ध्यान कर, वन्दू चरण जिन सार।
श्रवण श्रद्धा है उभयंत्र, जिन वाङ्मय आधार॥
किया संकलन भाव से, निज बुद्धि अनुसार।
दुर्जिजन चूक सुधारिके, पढ़ो स्व-पर हितकार॥

श्री मद् जिनेन्द्र भगवान महावीर सर्वज्ञ एवं सर्व दृष्टा थे, उनकी ओंकार रूप दिव्य ध्वनि भव्यात्माओं के हितार्थ गूंज उठी। तीर्थंकर भगवान की ओंकार रूप दिव्यध्वनि में विश्व के समस्त पदार्थों की विवेचना निहित थी परन्तु सामान्य प्राणी उसकी व्याख्या करने में सक्षम नहीं थे, यही कारण था कि भगवान महावीर को केवलज्ञान होने के छयासठ दिवस पर्यन्त दिव्यध्वनि नहीं खिरी। देवेन्द्र ने सुयोग्य गौतम इन्द्रभूति को समवसरण में उपस्थित किया।

विराजमान जिनेन्द्र प्रभु की अलौकिक वीतराग मुद्रा का अवलोकन करते ही वह नतमस्तक हो गया। वीतराग भाव से परिपूरित हो स्वयं भी निर्ग्रन्थ बन गया और उसी समय भव्यात्माओं के हितार्थ दिव्यध्वनि रूपी अमृत वाणी सर्वाङ्ग से प्रस्फुटित हो उठी। यही ओंकार रूप दिव्यध्वनि द्वादशांग रूप जिनवाणी अर्थात् स्याद्वाद प्रणाली के नाम से जानी जाती है।

द्वादश अङ्गों के नाम गोम्मटसार जीव काण्ड में निम्न प्रकार बताए हैं—

आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, व्याख्याप्रज्ञप्त्यङ्ग, उपासकाध्ययनाङ्ग, अन्तःकृद्दशाङ्ग अनुत्तरौपपादिकदशाङ्ग, प्रश्नव्याकरणाङ्ग, विपाकसूत्राङ्ग, दृष्टिवादाङ्ग। (१)

श्रुतज्ञान के इन द्वादश अङ्गों में से यहां पर आचाराङ्ग की विवेचना आगम के आधार से संकलित की जा रही है।

१— आयारं सुद्दयडं ठाणं समवायणामधेयं च।
वक्खापण्णत्ती णाहस्स धम्मकहा॥
तोवासयअज्झयणं अंतयडं णुत्तरोववाददसं।
पण्हाणं वायरणं विवायसुत्तं च पदसंखा॥ ३५६–३५७ गो. जीव काण्ड

आचाराङ्ग— गुणिमुनि जन का आचरण, मोक्षमार्ग अनुसार ।
जिन गणधर वर्णन किया, आचाराङ्ग निहार ॥

निरुक्ति— आचरन्ते मोक्षमार्गमाराधयन्ति अस्मिन्ननेनेति वा आचारः

अर्थात् मुनिराज के आचरण एवं मोक्षमार्ग आराधना की जिसमें विवेचना हो उसे आचाराङ्ग कहते हैं। विशेष रूप से धवला में कहा है—

प्रश्न— किस तरह आचरण करें ? किस तरह बैठें ? किस तरह शयन करें ? किस तरह भोजन करें ? किस तरह आलाप करें ? जिससे पापबंध न हो । (१)

उत्तर— यत्नाचारपूर्वक आचरण करें, यत्नाचार पूर्वक बैठें, यत्नाचार पूर्वक शयन करें, यत्नाचार पूर्वक भोजन करें यत्नाचारपूर्वक बातचीत करें जिससे पापों का बंध नहीं हो । (२)

इन सभी बातों के साथ मुनिराजों के अन्तरङ्ग एवं बाह्य आचरण की जिसमें विवेचना है वह आचाराङ्ग है ।

मूलतः आचाराङ्ग में मोक्षमार्ग पर आरूढ़ आचार्य उपाध्याय, एवं तपस्वी साधुओं के परिपूर्ण आचरण अर्थात् व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, नैमित्तिक क्रिया, तप, भावना, प्रायश्चित्त आहार आदि क्रियाओं का विवेचन है ।

शब्दार्थ—आ+चार+अंग=आचाराङ्ग
आङ् उपसर्ग पूर्वक चर् धातु से चलने आचरण करने के अर्थ में आंशिक स्वरूप प्रकट करने वाला ज्ञान आचाराङ्ग कहलाता है ।

यथार्थ—निश्चय नय से अपने आत्मस्वरूप में जो निर्विकल्प समाधि को बताने वाला तथा व्यवहारनय से इसे प्राप्त कराने वाला सभी शरीराश्रित आचार भी आचाराङ्ग है ।

भावार्थ—सर्वज्ञ वीतराग प्रणीत जैन सिद्धान्त में आत्मिक स्वाश्रित्व एवं स्वावलम्बन की शिक्षा देने वाला यह आचाराङ्ग है ।

आगमार्थ—सर्वज्ञ प्रणीत मोक्षमार्ग के योग्य आचरण का प्रतिपादन करने वाला आचाराङ्ग है ।

आचार्य—जिसके माध्यम से विपरीत श्रद्धान आचरण मिटे व मोक्षमार्ग प्रकट हो वही आचाराङ्ग है ।

---

१. कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कधं सए, कधं भुंजीज्ज भासेज्ज जदं पावं ण बंधई ।
२. जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सए, जदं भुंजीज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बंध बज्झई ॥ धवला १-९९
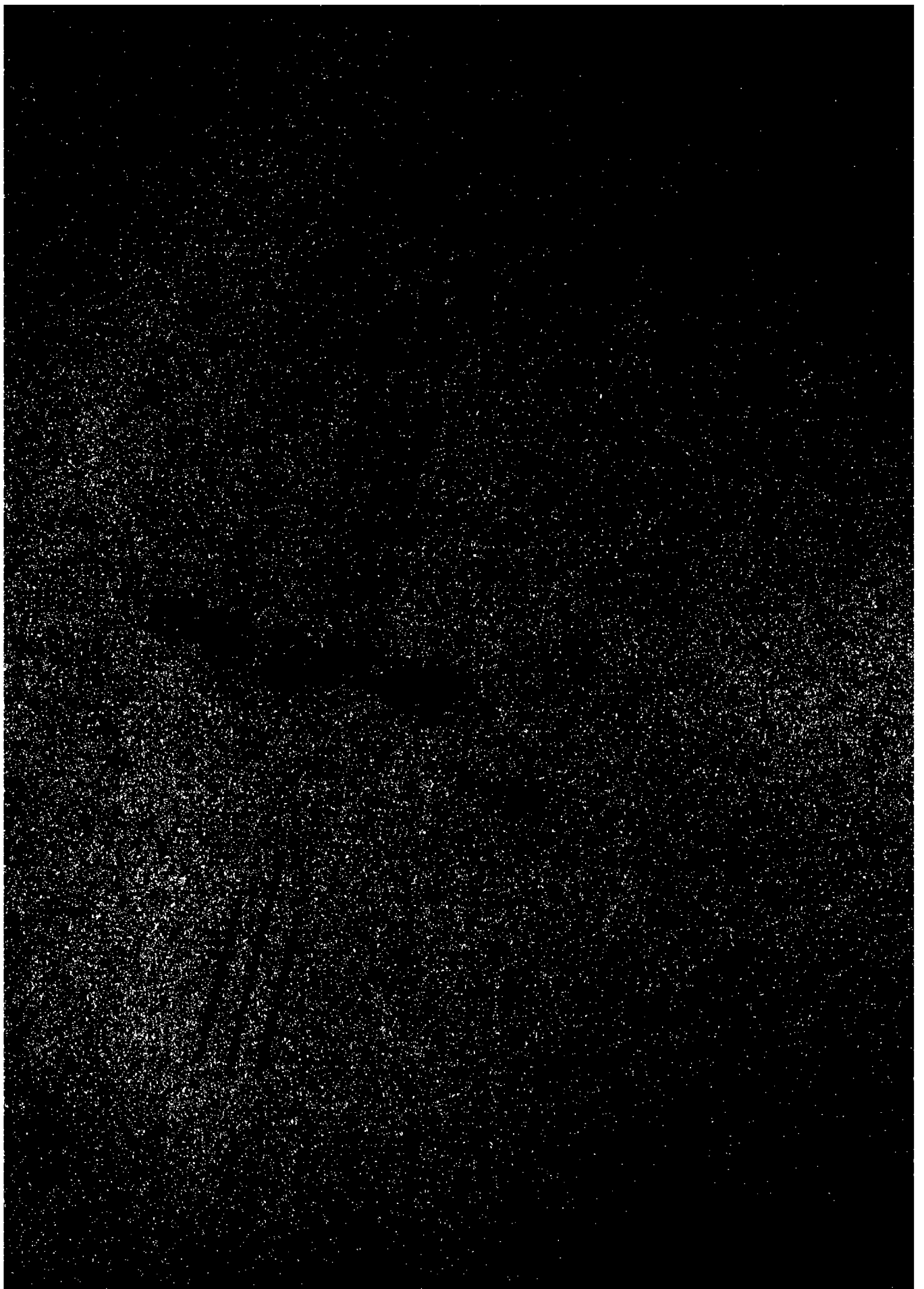
—: जैनेश्वरी दीक्षा :—

सम्यग्ज्ञान रूप जल से पर असत्य भाव धुल चुके हैं, वस्तु व्यवस्था को समझकर जिसके हृदय में तत्व निर्णय हो चुका है, संसार चक्र एवं परिजनों की स्वार्थ लीला अच्छी तरह से जिसकी समझ में आ चुकी है, ऐसा भव्यात्मा संसार, शरीर और भोगों से विमुख होकर स्वरूप के सम्मुख आने को तत्पर है तथा जिसे विभाव से विराम एवं स्वभाव से अनुराग हुआ है, वह भव्यात्मा अहर्निश चिन्तवन करता है—कि अनादि काल से विषय वासना में आसक्त होकर जन्म-मरण के भीषण दुःखों को सहन करना पड़ रहा है। राग-द्वेष रूप विभाव परिणति के कारण आत्मा में विकारी भावों की गंदी नाली बहती आ रही है, जिसके कारण स्वरूप की आत्मिक सुगंध नहीं मिली है। जिस शरीर को अपना समझकर उसी की चिन्ता, देख-भाल, साज-सज्जा, शृंगार, वस्त्राभूषण पहनाने में मस्त रहा और कभी स्वप्न में भी विचार नहीं किया कि जड़ तो जड़ है, चेतन के निकलने के अनन्तर मिट्टी के पुतले को मिट्टी में ही मिल जाना है; जितने भी अनर्थ किये हैं वह सभी एकत्व बुद्धि के कारण ही किये हैं। अगर शरीर की दशा पूर्व से ही ज्ञात होती तो स्वप्न में भी इसकी ओर झांक कर नहीं देखता। अब शरीर की किंचित भी चिन्ता नहीं करूंगा। इसे तो चिता पर जल कर भस्म हो जाना है। ज्ञानामृत भोजन कराऊंगा, जिससे अजर-अमर पद प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाऊंगा, परमानन्द की प्राप्ति हो जायेगी, मैं वास्तव में ही ज्ञानानन्द बन जाऊंगा।

मैं अब तक पंचेन्द्रिय जन्य भोगों को ही अपना कर्तव्य समझ कर उनमें लीन होता रहा। जिस प्रकार कुत्ता हड्डी चबाते समय अपनी ही दाढ़ से निःसृत रक्त के पान में आनन्द मानता है, उसी प्रकार मैं भी स्वभाव का घात कर विषय कषाय के कल्पित क्षणिक आनन्द को आत्मीय आनन्द मानकर विषयों में रस लेकर अपने आपको खोता रहा। मैं मन-वचन-काय की चंचलता एवं विषय भोगों के रस में अपने आप को भुलाकर आज तक चारों गतियों एवं चौरासी लाख योनियों में वचनातीत दुःखों को सहन करता आ रहा हूं। कहा भी है—

भोगों को क्या भोगा हमने भोग हमें भुगताय गये।
तपते रहे तपों को हम क्या तप ही हमको ताय गये॥
सोचा करते काल काट लें काल ही हमको काट गया।
तू तो तृष्णा भई न बूढ़ी हमें बुढ़ापा चाट गया॥[1]

कुटुम्बीजन, परिजन आदि स्वार्थ के ही साथी हैं। "मतलब सधे सब साथ छोड़ें चाहे जावो भाड़ में,, मतलब सध जाने पर सब साथ छोड़ देते हैं। रागान्ध होकर, स्वार्थी संसार को नहीं समझकर

---

१. भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता: तपो न तप्ता वयमेव तप्ता: ।
तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा:, कालो न यातो वयमेव याता: ॥ वैराग्य शतक

अहर्निश पर चिन्ता में, दूसरों के सुधार में एवं उनकी व्यवस्था में लगा रहा । अपने विषय में कभी विचार भी नहीं किया । जबकि सत्य यही है कि "कमला चलत न पैंड जाय मरघट तक परिवारा, ।। अपने अपने सुख को रोवें पिता पुत्र दारा ।।" संसार में कोई किसी से यथार्थ प्रीति नहीं करता । मैं भी अब किसी से प्रीति नहीं रखूंगा, सिवाय निज आत्म स्वरूप के ।

जिसके मन में वैराग्य सागर हिलोरें ले रहा है, जो संसार, शरीर, भोगों के स्वरूप को समझकर उनसे विमुख एवं मुक्ति सुन्दरी पर आसक्त हो चुका है, वह भव्यात्मा लोक व्यवहार की मर्यादा के अनुसार अपने कुटुम्बीजनों से जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करने की आज्ञा विनय पूर्वक मांगता है । कदाचित् वे आज्ञा न दें तो मोही परिजनों को आगम ज्ञान से वस्तु स्वरूप समझाकर, योग्य वीतरागी दिगम्बर गुरु के समीप जाकर, सविनय करबद्ध नतमस्तक होकर मुनि दीक्षा ग्रहण करने की याचना करता है ।

अध्यात्म योगी आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने भी प्रवचनसार ग्रन्थ के चारित्राधिकार में लिखा है—

श्रामण्यार्थी बंधुवर्ग से पूछकर बड़ों से तथा स्त्री और पुत्रों से मुक्त होकर ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार को, अंगीकार कर जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करता है ।(१)

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने भी इसी गाथा की टीका में इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है :—

जो जीव मुनि होना चाहता है, वह पहले अपने कुटुम्ब के लोगों से विरक्त होकर उन्हें सम्बोधित करता है भो ! मेरे शरीर सम्बन्धी भाई बन्धुओ ! मेरा आत्मा तुम्हारा नहीं है ऐसा तुम निश्चय कर समझो मेरी आत्मा में ज्ञान-ज्योति प्रकट हुई है, इस कारण मुझे अपना आत्मस्वरूप ही अनादि भाई बन्धु प्रतीत हो रहा है । अहो ! इस जन के शरीर के तुम माता–पिताओं इस जन का आत्मा तुमने उत्पन्न नहीं किया, यह तुम निश्चय समझो । इसलिये तुम मेरे इस आत्मा के विषय में ममता भाव छोड़ो, यह आत्मा अनादि ज्ञान ज्योति कर प्रगट हुआ है । अपना आत्म स्वरूप ही माता-पिता पद को प्राप्त है । इस जन के शरीर का मन हरने वाली हे स्त्री ! तू इस जन के आत्मा को नहीं रमण कराती, यह निश्चय से जान । इस कारण इस आत्मा से ममत्व भाव छोड़ दे । यह आत्मा ज्ञान-ज्योति कर प्रगट हुआ है । इसलिये अपनी अनुभूति रूप स्त्री के साथ रमण स्वभावी है । इस जन के शरीर के पुत्र इस जन के आत्मा से उत्पन्न नहीं हुआ, यह निश्चय से जान । इस कारण इसमें ममता भाव छोड़ । यह आत्मा ज्ञान-ज्योति कर प्रकट हुआ है । इसलिये अपने आत्मा का यह आत्मा ही अनादि से पुत्र है और वह उसको प्राप्त होता है । इस प्रकार माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि कुटुम्ब से विदा लेता है तथा इसके बाद सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूप को देखता है, जानता है, अनुभव करता है । अन्य समस्त ही व्यवहार भावों से अपने को भिन्न

१. आपिच्छ बंधुवग्गं, विमोचिदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं ।
आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं ।। प्रवचनसार २०२
हिन्दी टीका प्रवचनसार

मानता है और परभाव रूप सभी शुभाशुभ क्रियाओं को हेयरूप जानता है। उन्हें अंगीकार नहीं करता है। लेकिन वही सम्यग्दृष्टि जीव पूर्व बंधे हुये कर्मों के उदय से अनेक प्रकार के विभाव स्वरूप परिणमता है तो भी उन भावों से विरक्त है। वह यह जानता है कि जब तक इस अशुभ परिणति की स्थिति है, तब तक यह विभाव परिणति अवश्य होती है। इस कारण वह आकुलता रूप भावों को नहीं प्राप्त होता है। सम्यग्दृष्टि जीव तो सकल द्रव्य, भाव रूप विभाव भावों की श्रद्धा तभी त्याग कर चुका, जब इसके स्व-पर विवेक रूप भेद विज्ञान प्रकट हुआ था और तभी टंकोत्कीर्ण निज स्वरूप भी अङ्गीकार कर चुका था। इसलिये सम्यग्दृष्टि को न तो कुछ त्यागने को रहा है और न ही कुछ स्वीकार करने को ही है। परन्तु वही सम्यग्दृष्टि जीव चारित्रमोह के उदय से शुभभाव रूप परिणमन करता है, उस परिणमन की अपेक्षा त्यागता है और अंगीकार भी करता है। यही कथन दिखलाते हैं। प्रथम ही शुभ त्यागों की परिपाटी के क्रम से अशुभ परिणति की हानि होती है, उसके बाद धीरे-धीरे शुभ परिणति भी छूटती जाती है। इस कारण पहले तो वह गृहवास कुटुम्ब का त्यागी होता है। पीछे शुभ राग के उदय से व्यवहार रत्नत्रय रूप पञ्चाचारों को अङ्गीकार करता है। यद्यपि ज्ञान भाव से समस्त ही शुभाशुभ क्रियाओं का त्यागी है, परन्तु शुभराग के उदय से ही पंचाचारों को ग्रहण करता है। उसकी रीति बतलाते हुये आचार्य कहते हैं—काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, अर्थ, व्यञ्जन, तदुभय रूप आठ प्रकार के ज्ञानाचार मैं तुझको जानता हूं कि तू शुद्धात्म स्वरूप का निश्चय करके स्वभाव नहीं है तो भी मैं तबतक तुझे अङ्गीकार करता हूं जब तक कि तेरे प्रसाद से शुद्धात्म स्वरूप को प्राप्त न हो जाऊं। अहो! निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टित्व, उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना रूप दर्शनाचार तू शुद्धात्मा का स्वरूप नहीं, ऐसा मैं निश्चय से जानता हूं। तो भी तुझको तब तक स्वीकार करता हूं, जब तक तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को प्राप्त न हो जाऊं। अहो! मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति के कारण पांच महाव्रत, तीन गुप्ति, पांच समिति रूप तेरह प्रकार के चारित्राचार मैं जानता हूं कि निश्चय से शुद्धात्मा का स्वरूप नहीं है, तथापि मैं तब तक तुझे अङ्गीकार करता हूं, जब तक कि तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को प्राप्त न होऊं। अहो! अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति परिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्ति, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान रूप बारह प्रकार का तपाचार मैं निश्चय से जानता हूं कि शुद्धात्मा का स्वभाव नहीं है, परन्तु फिर भी तुझको मैं जब तक स्वीकार करता हूं, जब तक मैं तेरे प्रसाद से शुद्ध स्वरूप को प्राप्त न हो जाऊं। अहो! समस्त आचार की प्रवृत्ति बढ़ाने में स्वशक्ति को प्रकट करने वाले वीर्याचार, मैं निश्चय से जानता हूं कि शुद्धात्मा का स्वरूप नहीं है, परन्तु तो भी मैं तुझको तब तक अङ्गीकार करता हूं, जब तक कि तेरे प्रसाद से मैं शुद्धस्वभाव को प्राप्त न हो जाऊं। इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य रूप पांच प्रकार के आचारों को अङ्गीकार करता है।

[illegible] की आज्ञा [illegible] है। [illegible] न करें और [illegible] में [illegible] से विरक्त हो और [illegible] कोई विशेष समस्या

न हो तो बिना स्वजनों की आज्ञा के भी सभी के समक्ष दीक्षा ले सकता है। मोही परिजन एवं समाज वाले दीक्षा नहीं लेने देंगे—इस भय से अगर कोई छिपकर चोरी से एकान्त में मुनि दीक्षा लेता है तो वह सर्वथा अनुचित व सर्वत्र निन्दनीय है आचार्य की कीर्ति के स्थान पर अपकीर्ति का कारण है, दीक्षार्थी को शान्ति के स्थान पर अशान्ति उत्पन्न कराने में कारण है। अतः दीक्षा कभी भी बिना आज्ञा के नहीं लेनी चाहिये और न कभी किसी आचार्य को परिवार एवं समाज की आज्ञा के अभाव में दीक्षा देनी ही चाहिये।

अगर वैराग्य यथार्थ है तो विश्व में कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो किसी को दीक्षा लेने से रोक सके। छुपकर दीक्षा लेने वालों का वैराग्य यथार्थ नहीं है, वे मात्र ख्याति-लाभ के वशीभूत होकर दीक्षा लेना चाहते है या अन्य कोई कमी के कारण समाज को अन्धकार में रखना चाहते हैं। मोक्षमार्ग के वैराग्य भाव को देख कर महान रागी भी क्षणिक वैराग्य में आ जाते हैं और कह देते हैं कि आप खुशी से दीक्षा ले लीजिये, हम भी आपके मार्ग का अनुसरण करेंगे।

मुनि दीक्षा का पात्र— स्वरूप को समझकर यथाशक्ति आत्मोत्कर्ष करने की क्षमता पंचेन्द्रिय सैनी प्रत्येक आत्मा के अन्दर निहित है, परन्तु जैनेश्वरी दीक्षा लेकर मुनिराज बनने के लिये विशेष योग्यताओं की आवश्यकता है। योग्यताओं के अभाव में, देखा-देखी, भावावेश में आकर अगर कोई मुनिवेश धारण कर ले तो धर्म को कलंकित ही करेगा; मोक्षमार्ग के स्थान पर संसार मार्ग को वृद्धिगत करेगा; ख्याति-लाभ के लोभ से ली हुई दीक्षा सुख एवं शान्ति के स्थान पर दुःख एवं अशान्ति का ही अनुभव कराएगी।

लोक में भी कहावत है—

मूड़ मुड़ायें तीन गुण, सिर की मिट जाए खाज।
खाने को लड्डू मिलें, लोग कहें महाराज।

कहने का आशय यही है कि योग्यता के अभाव में मुनि दीक्षा नहीं लेनी चाहिये और न आचार्य को देनी ही चाहिये।

दीक्षार्थी की सर्वश्रेष्ठ पात्रता है—संसार-शरीर-भोगों से परिपूर्ण विरक्त भाव। वैराग्य के अभाव में सभी पात्रता, अपात्रता के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। साङ्गोपाङ्ग, लोक प्रशंसनीय, कुलीन सज्जातीय अर्थात् क्षत्रिय, ब्राह्मण एवं वैश्य कुल में उत्पन्न महानुभाव ही जैनेश्वरी दीक्षा के पात्र हैं। जिन कुलों में परम्परा से लोकनिन्दनीय कार्य होते हों ऐसे कुलों में उत्पन्न भव्यात्मा अणुव्रत (क्षुल्लक दीक्षा) लेकर मोक्षमार्गी तो बन सकते है परन्तु जैनेश्वरी दीक्षा के पात्र नहीं हैं। जैनेश्वरी दीक्षा के लिये वीरता एवं पात्रता की आवश्यकता है। तभी रत्नत्रय धर्म का परिपालन कर मुक्ति सुन्दरी को वरण कर सकते हैं।

दीक्षा प्रदाता :—यह प्रश्न प्राय: करके मोक्षार्थी आत्माओं के मन में सहज ही उत्पन्न होता रहता है कि दीक्षा किस गुरु से लेनी चाहिये ? इसका समाधान आगम में मिलता है। दीक्षा देने के पात्र वे ही आचार्य होते हैं जो पूर्णत: आरम्भ परिग्रह से मुक्त होकर पञ्चाचारों का निर्दोष परिपालन करते हों। द्वादशाङ्ग रूप आगम के साथ-साथ लोक व्यवहार के भी ज्ञाता हों, भूत, भविष्य का ज्ञान, निमित्त ज्ञान के आधार पर रखते हों।

दीक्षा देने वाले आचार्य का कर्तव्य है कि दीक्षार्थी की पहले पूर्णतया परीक्षा करें। दीक्षार्थी लोक निन्दनीय कार्य करके तो नहीं आया है, पागल या अति अल्पाधिक आयु वाला तो नहीं है, घर से झगड़कर या किसी का कर्ज लेकर तो नहीं आया है, अङ्गहीन या दीक्षा के लिये आवश्यक योग्यताओं का अभाव तो नहीं है, दीक्षार्थी की प्रकृति संयम के अनुकूल है या नहीं, दीक्षार्थी को पूर्ण वैराग्य है या नहीं, कहीं देखा देखी या ख्याति लाभ के व्यामोह में आकर तो दीक्षा नहीं लेना चाहता। इस प्रकार समस्त बातों की पूर्ण जानकारी के बाद ही परिवार एवं समाज तथा साधु समूह की आज्ञा लेकर आचार्य योग्य पात्र को जैनेश्वरी दीक्षा प्रदान करते हैं। अगर कोई आचार्य शिष्य बढ़ाने की भावना से या ख्याति लाभ की भावना से अपात्र को दीक्षा देते हैं तो वह अपराध है, क्योंकि अयोग्य पात्र स्वयं तो डूबेगा ही, साथ में परमवीतराग, परम पावन धर्म को भी कलंकित करेगा।

लोक व्यवहार में निपुण आचार्यों के द्वारा दीक्षार्थी के विषय में उसके ग्रामवासी या कुटुम्बीजनों से समस्त जानकारी की जाती है कि दीक्षार्थी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कुल का है, साङ्गोपाङ्ग है, राजा तथा लोक के विरोध से रहित है तथा परिजनों एवं मोह का परिपूर्ण त्याग करके ही मोक्षमार्ग पर चलने को कटिबद्ध हुआ है।(१)

जो यतिधर्म का स्वयं तथा सहवासी सभी मुनिराजों से साम्यभाव से निर्दोष पालन कराते हुये तप, ध्यान रत्नत्रय, वात्सल्य तथा समता आदि सर्व श्रेष्ठ गुणों से परिपूर्ण है, उत्तम कुलीन अतिशय सुन्दर, रूपवान तथा प्रौढ़ आयु से विभूषित है, सभी समाज एवं श्रमणों के लिये विशेष प्रिय है, अध्यात्म व्यवहार में कुशल है, ऐसे आचार्य ही दीक्षा देने के पात्र हैं।

प्रार्थना—सभी आडम्बर परिग्रह से विमुख मुक्ति श्री को वरण करने को कटिबद्ध, भेद ज्ञान से सुसंस्कारित भव्य रत्नत्रय रूपी सुमाला धारण करने के लिये सविनय श्री गुरु के चरणों में निवेदन करता है कि हे! तारण तरण गुरुदेव आज तक मैं अपने वैभव को भूलकर पर-पदार्थों में ममत्व भाव के कारण अनादि काल से दुःख सहन करता आ रहा हूं। अब आपकी असीम कृपा से वस्तु स्वरूप समझ में आया है, अनन्त गुणों के अतिरिक्त विश्व में तिलतुषमात्र भी मेरा पर वस्तु से नाता नहीं है। स्वयं का नाता स्वयं से जोड़ने के लिये भगवन्! आप कृपा कर जैनेश्वरी दीक्षा प्रदान कर मुझे कृतकृत्य कीजिये।

---

१. [illegible]

वीरनन्दि आचार्य ने भी कहा है—

मोक्षमार्ग में अग्रणी, शिष्यों को दुःख समुद्र से उबारने में प्रवीण, स्वपरोपकारी, मनोगत अभिप्राय को अच्छी तरह से समझने वाले मुनि श्रेष्ठ आचार्य के चरणों में नतमस्तक होकर दीक्षार्थी प्रार्थना करता है कि हे स्वामिन्! जिसमें तिलतुष मात्र भी परिग्रह तथा विषय कषाय नहीं है ऐसी परम वीतरागी जैनेश्वरी दिगम्बरी मुनि दीक्षा देकर मुझे कृतकृत्य कीजिये। संसार के स्वरूप को मैंने अच्छी तरह से समझ लिया है, अब स्वयं के स्वरूप को समझने को कटिबद्ध हुआ हूं।(१)

दीक्षार्थी के संकल्प एवं विरक्त भावना के विषय में कुन्दकुन्दस्वामी ने लिखा है—

अनेक गुणों से शोभायमान जो आचार्य हैं, उनके पास जाकर दीक्षार्थी पुरुष पहले तो नमस्कार करता है। उसके बाद शुद्धात्म तत्व के साधक आचार्य को हाथ जोड़कर विनती करता है कि प्रभो मैं संसार से भयभीत हुआ हूं मुझको शुद्धात्म तत्व की सिद्धि के लिये जैनेश्वरी दीक्षा दीजिये।

जो पुरुष मुनि होना चाहता है, वह चिन्तवन करता है कि परद्रव्य मेरा नहीं है और मैं भी किसी पर द्रव्य का नहीं हूं क्योंकि कोई भी द्रव्य अपना स्वरूप छोड़कर किसी से मिलता नहीं, सब जुदे जुदे हैं। इसलिये संसार में नो-कर्म, द्रव्यकर्म, भावकर्म रूप समस्त परभाव हैं, उनसे मेरा कुछ भी नाता नहीं है। मैं सबसे भिन्न अविनाशी टंकोत्कीर्ण चैतन्य वस्तु मात्र हूं। पर वस्तु से परिपूर्ण अलगाव के लिये मैं परम दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर स्वयं में रमण करूंगा। (२)

दीक्षा नक्षत्र— जिनसेनाचार्य ने कहा है— दीक्षा प्रदाता आचार्य का कर्तव्य है कि दीक्षा से पूर्व ही दीक्षार्थी की राशि के अनुसार शुभ लग्न एवं मुहूर्त में शुभ नक्षत्रों का पूर्ण ध्यान रखें ताकि दीक्षार्थी को विशेष अनिष्ट संयोग न मिलें।(३)

भरणी, उत्तराफाल्गुनी, मघा, चित्रा, विशाखा, पूर्वभाद्रपदा तथा रेवती ये सब नक्षत्र मुनि दीक्षा के लिये शुभ हैं।(४)

किन नक्षत्रों में किनको दीक्षा प्रदान करनी चाहिये, इसका संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार है—

---

१. नत्वा तमीशं विनतार्तिभार्त, विज्ञापितात्मीय मनोगतार्थः।
संज्ञानपेक्षां मम देहि दीक्षां, दयामयीं भो यति वल्लभेति ॥२॥ आचारसार—८

२. समणं गणि गुणड्ढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं।
समणेहिं तं पि पणदो पडिच्छ मं चेदि अणुगहिदो ॥३॥
णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि।
इदि णिच्छिदो जिदिंदो जादो जधजादरूवधरो ॥४॥ प्रवचनसार २०२ – २०४

३. प्रशस्त तिथि नक्षत्र योगलग्न ग्रहांश के।
निर्ग्रन्थाचार्यमाश्रित्य दीक्षा ग्राह्या मुमुक्षुणा ॥

४. भरण्युत्तरफाल्गुन्यौ मघाचित्रा विशाखिका।
पूर्वाभाद्रपदा भानि रेवती मुनिदीक्षणे ॥

रोहिणी, उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपद स्वाति एवं कृत्तिका इन पांच नक्षत्रों में मुनि दीक्षा नहीं होनी चाहिये।(१)

अश्विनी, पूर्वाफाल्गुनी, हस्त, स्वाति, अनुराधा, मूल, उत्तराषाढ़ा, श्रवण, शतभिषक् एवं उत्तराभाद्रपद ये दस नक्षत्र आर्यिका दीक्षा के लिये शुभ माने गये हैं। (२) (३)

भरणी, कृत्तिका, पुष्य, आश्लेषा, आर्द्रा और पुनर्वसु इन नक्षत्रों में आर्यिका दीक्षा शुभ नहीं है।(४)

पूर्वाभाद्रपदा, मूल, धनिष्ठा, विशाखा एवं श्रवण नक्षत्रों में क्षुल्लक दीक्षा श्रेष्ठ मानी गयी है। (५)

दीक्षा विधि—दीक्षा हो शुभ योग में, राग-द्वेष मद छोड़।
सहज स्वानुभव सुख मिले, रत्नत्रय गुण जोड़॥

जैनेश्वरी दीक्षा देव, शास्त्र एवं गुरु की साक्षी से, शुभयोग में, आगम में प्रतिपादित विधि-विधान के साथ, योग्य पात्र को सुयोग्य आचार्य के कर-कमलों द्वारा सर्वसम्मति से प्रदान की जाती है। किसी भव्यात्मा का अन्तिम समय हो और उसकी भावना मुनि दीक्षा ग्रहण करके समाधि मरण करने की हो तो दीक्षा की पूर्ण विधि आवश्यक नहीं है। मात्र देव, शास्त्र, गुरु की साक्षी में वस्त्र त्याग कराकर मन्त्रों के साथ अट्ठाईस मूलगुणों को ग्रहण करा देना चाहिये।

पूर्व योजनाबद्ध रीति से प्रभावना के साथ जो दीक्षा समारोह मनाया जाता है, उसकी विधि का उल्लेख आगमानुसार यहाँ प्रतिपादित किया जाता है—

दीक्षा ग्रहण क्रिया—दीक्षार्थी को पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख करा के बैठावें, फिर सिद्धभक्ति, योगभक्ति पूर्वक केशलौंच करावें तथा दिगम्बर बना कर पिच्छी-कमण्डलु एवं शास्त्र देकर नाम की घोषणा करें। तदनन्तर व्रत, समिति आदि अट्ठाईस मूलगुणों की स्थापना करें।(६)

(१) अथ दीक्षा ग्रहण क्रियायां सिद्धभक्ति कायोत्सर्गं करोमि।
(२) अथ दीक्षा ग्रहण क्रियायां योगिभक्ति कायोत्सर्गं करोमि।

---

१. रोहिणी चोत्तराषाढा उत्तराभाद्रपत्तथा। स्वातिः कृत्तिका सार्द्धं वर्ज्यैते मुनिदीक्षणे॥

२. अश्विनी-पूर्वफाल्गुन्यौ हस्तस्वात्यनुराधिकाः। मूलं तथोत्तराषाढा श्रवणः शतभिषक् तथा॥

३. उत्तराभाद्रपच्चापि दशैते विशदाशयाः। आर्यिकाणां व्रते योग्यान्युक्तानि शुभहेतवः॥

४. भरण्यां कृत्तिकायां च पुष्ये श्लेषार्द्रयोस्तथा। पुनर्वसौ च नो दद्यु रार्यिकाव्रतमुत्तमाः॥

५. पूर्वभाद्रपदा मूलं धनिष्ठा च विशाखिका।
श्रवणाद्येषु दीयन्ते क्षुल्लकाः [illegible]॥ [illegible]पुराण — १६-१२०

६. सिद्ध योगि बृहद्भक्ति पूर्वकं लिङ्गमर्प्यताम्।
[illegible]॥

(३) अनन्तरं लोचकरणं नामकरणं नाग्न्य प्रदानं, पिच्छि प्रदानं च ।

(४) अथ दीक्षा निष्ठापन क्रियायां सिद्धभक्तिः कायोत्सर्गं करोम्यहं ।

पांच महाव्रत, पांच समिति, पंचेन्द्रिय निरोध, षडावश्यक, भूशयन, अदन्तधावन, स्थितभोजन, एकाहार, केशलुञ्चन, नग्नत्व, अस्नान, इन अट्ठाइस मूलगुणों को दीक्षार्थी में स्थापित करते हुए, संक्षेप से शीलादि सहित आचार्य प्रतिक्रमण करें । (१)

बृहद् दीक्षा विधि—पूर्व दिन में भोजन के समय बर्तनों को छोड़ने की क्रिया करके तथा खड़े-खड़े अपने हाथों में आहार लेकर चैत्यालय में आवे, उसके बाद बृहद् प्रत्याख्यान, प्रतिष्ठापन करने के लिये सिद्ध और योगभक्ति पढ़ें । इसके बाद गुरु के पास आकर उपवास सहित प्रत्याख्यान को ग्रहण करके आचार्य भक्ति, शान्ति भक्ति और समाधि भक्ति को पढ़कर गुरु को नमस्कार करें ।(२)

इसके बाद दीक्षा देने के विधान में दीक्षा को दिलाने वाले माता-पिता आदि तथा क्षुल्लकादि की दीक्षा में इन्द्र इन्द्राणी आदि गणधरवलय पूजादिक को यथाशक्ति करावें । इसके बाद दीक्षा दिलाने वाले दीक्षित को विशेष स्नान आदि कराके यथायोग्य अलंकार युक्त करके बहुत उत्सव के साथ चैत्यालय में लावें । वह दीक्षार्थी देव, शास्त्र, गुरु की पूजा करके वैराग्य भावना में तत्पर होकर सब कुटुम्बी जनों से तथा अन्य जनों से क्षमा याचना करके गुरु के सम्मुख उपस्थित हो । (३)

इसके बाद गुरु के आगे तथा संघ के सम्मुख दीक्षा लेने के लिये याचना करे । गुरु की आज्ञा के अनुसार सौभाग्यवती महिलाओं के द्वारा पूर्व निर्मापित सर्वतोभद्र चौक (स्वस्तिक) के ऊपर श्वेत वस्त्र को ढककर वहां पूर्व दिशा में पद्मासन से बैठें और गुरु उत्तर दिशा की ओर मुख करके संघ से पूछकर लोंच की क्रिया करें ।(४)

केशलुञ्चन क्रिया—बृहद् दीक्षा के समय लोंच को स्वीकार करने की क्रिया में पूर्वाचार्य आदि का उच्चारण करके सिद्धभक्ति और योगभक्ति को करके—

---

१. व्रतसमितीन्द्रियरोधाः पंचपृथक क्षिति शयोरदावर्णः ।
स्थिति सकृदशन लुञ्चावश्यक षटके विचेलतास्नानम् ॥
इत्यष्ट विंशति मूलगुणान् निक्षिप्य दीक्षिते ।
संक्षेपेण सशीलादीन् गणी कुर्यात्प्रतिक्रमम् ।

२. पूर्वदिने भोजन समये भाजनतिरस्कार विधिं विधाय आहारं गृहीत्वा चैत्यालये आगच्छेत् । ततो बृहत्प्रत्याख्यान प्रतिष्ठापने सिद्धयोगभक्ति पठित्वा गुरुपार्श्वे प्रत्याख्यानं सोपवासं गृहीत्वा, आचार्यः शान्ति,, समाधि भक्तिं पठित्वा गुरोः प्रणामं कुर्यात् ।

३. अथ दीक्षादाने दीक्षादातृजना शांतिक गणधरवलय पूजादिकं यथाशक्ति कारयेत् । अथ दाता तं स्नानादिकं कारयित्वा यथायोग्यालंकारयुक्तं महामहोत्सवेन चैत्यालये समानयेत् । स देव,शास्त्र, गुरु पूजां विधाय वैराग्य भावना परः सर्वैः सह क्षमां कृत्वा गुरोरग्रे तिष्ठेत् ।

४. ततो गुरोरग्रे संघस्याग्रे दीक्षार्थं च याच्ञां कृत्वा तदाज्ञया सौभाग्यवती स्त्री विहित स्वस्तिकोपरि श्वेत वस्त्रं प्रच्छाद्य तत्र पूर्वदिशाभिमुखः पर्यंकासनं कृत्वा आसते गुरुरुत्तराभिमुखो भूत्वा संघाष्टकं संघं च परिपृच्छ्य लोचं कुर्यात् ।

॥ प्रतिक्रमण संग्रह दीक्षा विधि ॥

मंत्र—ॐ नमोऽर्हते भगवते प्रक्षीणाशेष कल्मषाय दिव्य तेजोमूर्तये श्रीशान्तिनाथाय शांतिकराय, सर्वविघ्नप्रणाशनाय, सर्वरोगाय मृत्युविनाशनाय, सर्वपरकृतक्षुद्रोपद्रवविनाशनाय, सर्वक्षामडामरविनाशनाय ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा अमुकस्य (दीक्षित व्यक्ति का नाम) सर्व शान्तिं कुरु कुरु स्वाहा । इत्यनेन मंत्रेण गंधोदकं त्रिः परिषिच्य मस्तकं वामहस्तेन स्पृशेत् ततो दध्यक्षतगोमय दुर्वांकुरान् मस्तके वर्धमान मंत्रेण निक्षिपेत्।

ऊपर लिखे हुये मंत्र से गन्धोदक को तीन बार मंत्रित करके दीक्षित के सिर पर निक्षेपण करें। इसके बाद मस्तक को बांये हाथ से स्पर्श करें । इसके बाद दही, अक्षतादि, गोमय, दूर्वा को दीक्षित के मस्तक पर आगे लिखे हुये „वर्धमान मंत्र„ को पढ़कर निक्षेपण करें ।

मंत्र—ॐ नमो भयवदो वड्ढमाणस्स रिसहस्स च जस्स चक्कं जलंतं गच्छइ आयासं, पायालं, लोयाणं, भूयाणं, जये वा; विवादे वा, थंभणे वा, रणंगणे वा, रायंगणे वा, मोहणे वा सव्वजीवसत्ताणं अपराजिदो भवदु रक्ख- रक्ख स्वाहा —(वर्धमान मंत्र:) ।

इसके बाद पवित्र भस्म (राख) के पात्र को लेकर „ॐ णमो अरहंताणं रत्नत्रय पवित्रीकृतोत्तमांगाय ज्योतिर्मयाय मतिश्रुतावधिमन: पर्यय केवलज्ञानाय अ सि आ उ सा स्वाहा ।„ इत्यादि मंत्र को पढ़कर सिर पर कपूर से मिली हुई भस्म को डालकर " ॐ ह्रीं, श्रीं क्लीं ऐं अर्हं अ सि आ उ सा स्वाहा ।„ मंत्र को पूरा पढ़कर पहले केशों का लुञ्चन करें । अन्त में बृहद् दीक्षा लोंच निष्ठापन क्रिया में पूर्वाचार्य आदि पाठ को पढ़कर सिद्ध भक्ति को करें । इसके बाद दीक्षार्थी सिर को धोकर गुरु को नमस्कार कर वस्त्राभूषणादि को छोड़कर वहीं ठहरकर दीक्षा के लिये गुरु से याचना करे । फिर गुरु सिर पर 'श्री' लिखकर ॐ ह्रीं अर्हं अ सि आ उ सा स्वाहा „ इत्यादि मंत्र का १०८ बार जाप्य देने की शिष्य को आज्ञा देवें इसके बाद गुरु उस दीक्षित की अंजुलि में केशर कपूर आदि से "श्री" लिखें । इसके आगे की क्रिया नीचे लिखे अनुसार करनी चाहिये ।

'श्री, की चारों दिशाओं में रयणत्तय आदि गाथा को पूरा पढ़कर पूर्वदिशा में ३ (रत्नत्रय सूचक) दक्षिण में २४ (चौबीस तीर्थंकरों का सूचक) पश्चिम में ५ (पंचपरमेष्ठी सूचक) और उत्तर में २ (चारण ऋद्धि के युगल का सूचक) अंक लिखें । इसके बाद सम्यग्दर्शनाय नम:, सम्यग्ज्ञानाय नम:, सम्यक्चारित्राय नम: आदि मंत्र का उच्चारण करते हुये चावलों से अञ्जलि को भरते हुये, नारियल या सुपारी को उस पर रख कर सिद्ध भक्ति, चारित्रभक्ति और योगभक्ति को पढ़कर व्रतादिक देवें । (१)

---

१. तत: पवित्र भस्मपात्रं गृहीत्वा ॐ णमो अरहंताणं रत्नत्रय पवित्रीकृतोत्तमांगाय ज्योतिर्मयाय मतिश्रुतावधिमन: पर्यय केवलज्ञानाय अ सि आ उ सा स्वाहा ।

इमंमंत्रं पठित्वा शिरसि कर्पूरमिश्रितं भस्म परिक्षिप्य " ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं अ सि आ उ सा स्वाहा ।

अनेन मंत्रेण केशोत्पाटनं कृत्वा पश्चात ॐ ह्रां अर्हद्भ्यो नम:, ॐ ह्रीं सूरिभ्यो नम:, ॐ ह्रूं पाठकेभ्यो नम:, इत्युच्चार्य गुरु स्वहस्तेन पञ्चवारान् केशान् उत्पाटयेत् । पश्चादन्य: कोऽपि लोचावसाने बृहद्दीक्षायां लोचनिष्ठापन क्रियायां पूर्वाचार्येत्यादिकं पठित्वा सिद्धभक्तिं कुर्यात् । तत: शीर्षं प्रक्षाल्य गुरुभक्तिं कृत्वा वस्त्राभरण यज्ञोपवीतादिकं परित्यज्य तत्रैवावस्थाय दीक्षां याचयेत् । ततो गुरु शिरसि श्रीकारं लिखित्वा " ॐ ह्रीं अर्हं अ सि आ उ सा ह्रीं

गाथा—वदसमिदिंदियरोधो लोचावासय मचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयण मेयभत्तं च ॥

ऊपर लिखी गाथा को पढ़ कर समयानुसार उसकी व्याख्या करके तथा शिष्य को २८ मूलगुणों का स्वरूप बतलाकर „सम्यक्त्वपूर्वकं दृढ़व्रतं सुव्रतं समारूढं ते भवतु„ आदि मंत्र को तीन बार उच्चारण करके दीक्षित को व्रत ग्रहण करावें। उसके बाद शान्ति भक्ति पढ़ें। तदनन्तर शुभाशीष देकर अञ्जलि में रखे हुये तंदुलादिक को दीक्षित के माता–पिता को दिलवाकर निम्नलिखित षोडश संस्कारों का आरोपण करें। (१)

अथ षोडश संस्कारारोपणं—

१ इस मुनि में सम्यग्दर्शन नामक प्रथम संस्कार प्रकट होवें।
२ इस मुनि में सम्यग्ज्ञान नामक द्वितीय संस्कार प्रकट होवें।
३ इस मुनि में सम्यक्चारित्र नामक तृतीय संस्कार प्रकट होवें।
४ इस मुनि में बाह्य तथा आभ्यन्तर १२ प्रकार के तप नामक चतुर्थ संस्कार प्रकट होवें।
५ इस मुनि में चार प्रकार के वीर्य (ज्ञान दर्शन, चारित्र तप) के संस्कार प्रकट होवें।
६ इस मुनि में आठ प्रवचन माता (५ समिति, तीन गुप्ति) के संस्कार प्रकट होवें
७ इस मुनि में आठ प्रकार की शुद्धि के संस्कार की स्थापना होवे।
८ इस मुनि में सम्पूर्ण प्रकार के परीषहों को जीतने के संस्कार प्रकट होवें।
९ इस मुनि में तीनों योगों (मन, वचन, काय) के असंयम की निवृत्ति शीलता के संस्कार प्रकट होवें ।

स्वाहा" अनेन मंत्रेण जाप्यं १०८ दद्यात्। ततो मुखवस्त्रमपनीय केशर कपूर श्रीखंडेन श्रीकारं कुर्यात्।
श्री कारस्य चतुर्दिक्षु ॥ रयणत्तयं च वंदे चउवीसं जिणं च तहा वंदे।
पंचगुरूणां वंदे चारण चरणं तहा वंदे ॥
इति पठन् अङ्कान् लिखेत्। पूर्वे ३, दक्षिणे २४, पश्चिमे ५, उत्तरे २, इति लिखित्वा सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्राय नमः, इति पठन् तंदुलैरञ्जलिं पूरयित्वा उपरि नालिकेरं पूगीफलं च धृत्वा सिद्धचारित्रयोगभक्तिं पठित्वा व्रतार्पणं दद्यात्।

१. इति पठित्वा तद्व्याख्यां विधाय-कालानुसारेणेति शिष्य पञ्चमहाव्रत पञ्च समित्यादि पठित्वा "सम्यक्त्वपूर्वकं दृढ-व्रतं सुव्रतं समारूढं ते भवतु" इति त्रीन् वारान् उच्चार्य व्रतानि दत्वा ततः शान्ति भक्तिं पठेत्। ततः आशीर्वादं पठित्वा अञ्जलिस्थं तंदुलादिकं दाते दापयित्वा।

१. अयं सम्यग्दर्शन संस्कार इह मुनौ स्फुरतु।
२. अयं सम्यग्ज्ञान संस्कार इह मुनौ स्फुरतु।
३. अयं सम्यक्चारित्र संस्कार इह मुनौ स्फुरतु।
४. अयं बाह्याभ्यन्तर तपः संस्कार इह मुनौ स्फुरतु।
५. अयं चतुरङ्गवीर्य संस्कार इह मुनौ स्फुरतु।
६. अयं अष्टमातृ संस्कार इह मुनौ स्फुरतु।
७. अयं शुद्धयष्टकावष्टंभ संस्कार इह मुनौ स्फुरतु।
८. अयं अशेष परीषहजय संस्कार इह मुनौ स्फुरतु।
९. अयं त्रियोगासंयम निवृत्तिशीलता संस्कार इह मुनौ स्फुरतु।

१० इस मुनि में तीनों प्रकार के करणों (मन, वचन, काय) के असंयम की निवृत्तिशीलता के संस्कार प्रकट होवें ।

११ इस मुनि में दस प्रकार के असंयम की निवृत्ति शीलता के संस्कार प्रकट होवें ।

१२ इस मुनि में चार प्रकार की संज्ञाओं (आहार, भय, मैथुन, परिग्रह) के निग्रह शीलता संस्कार प्रकट होवें ।

१३ इस मुनि में पांच इन्द्रियों (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण) के जयशीलता के संस्कार प्रकट होवें ।

१४ इस मुनि में दस प्रकार के धर्म (उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्य) को धारण करने के स्वभाव के संस्कार प्रकट होवें ।

१५ इस मुनि में अठारह हजार शील के संस्कार प्रकट होवें ।

१६ इस मुनि में चौरासी लाख उत्तर गुणों के रक्षण के संस्कार प्रकट होवें ।

इस प्रकार प्रत्येक मंत्र का उच्चारण करके दीक्षित के सिर पर लवङ्ग-पुष्पों का क्षेपण करें ।(१)
ॐ णमो अरिहंताणं,, ॐ परमहंसाय,, इत्यादि संवौषट् तक पूर्ण मंत्र बोलकर दीक्षित के मस्तक पर हस्तादि से आशीर्वाद देवें । इसके बाद अपनी गुरु परम्परा को पढ़ कर अमुक से तुम अमुक नाम वाले शिष्य हो, ऐसा कह कर संयमादि के उपकरणों को देना चाहिये ।(२)

,,ॐ णमो अरिहंताणं,, इत्यादि मंत्र को बोलकर दीक्षित को पिच्छी अर्पण करें । पिच्छी देने की क्रिया छह काय के जीवों की रक्षा करने के लिये कोमलता आदि गुणों से युक्त होने के कारण दी जाती है (३) तथा

,,ॐ णमो अरहंताणं,, इत्यादि मंत्र का उच्चारण करके मतिज्ञानादि की प्राप्ति के लिये ज्ञान के उपकरण शास्त्र देवें ।(४)

---

१०. अयं त्रिकरण संयम निवृत्तिशीलता संस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
११. अयं दशासंयम निवृत्तिशीलता संस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
१२. अयं चतुःसंज्ञा निग्रह शीलता संस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
१३. अयं पंचेन्द्रिय जयशीलता संस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
१४. अयं दशधर्म धारण शीलता संस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
१५. अयं अष्टादश सहस्रशीलता संस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
१६. अयं चतुरशीति लक्ष संस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
१. इति प्रत्येक मुच्चार्य शिरसि लवङ्ग पुष्पाणि क्षिपेत् ।
२. णमो अरहंताणं इत्यादि ॐ परमहंसाय परमेष्ठिने हं सं हं ह्रां ह्रं ह्रीं ह्रौं ह्रः [illegible] नमः जिनं स्वापयामि [illegible] [illegible] मस्तके न्यसेत् । अथ पूर्वाचार्य पंक्ति [illegible] [illegible] त्वं शिष्य इति कथयित्वा संयमाद्युपकरणानि [illegible] ।
३. "ॐ णमो अरिहंताणं" [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] पिच्छोपकरणं गृहाण [illegible] ।
४. "ॐ णमो [illegible]" [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । इदं ज्ञानोपकरणं [illegible] [illegible] ।

,ॐ, णमो अरिहंताणं ,, इत्यादि मंत्र को बोलकर कमण्डलु को बायें हाथ से उठाकर शिष्य को देवें । बाह्य और अभ्यन्तर मल की शुद्धि करने के लिये यह शौच का उपकरण दिया जाता है । (१)

तदनन्तर समाधि भक्ति को पढ़ना चाहिये । इसके बाद नवदीक्षित, गुरु भक्ति से गुरु को प्रणाम करके तथा अन्य मुनियों को भी प्रणाम करके तब तक वहीं बैठता है, जब तक कि व्रत का आरोपण नहीं होता है, तब तक अन्य मुनि प्रतिवंदना भी नहीं करते । इसके बाद दीक्षा दिलाने वाले प्रमुख व्यक्ति उत्तम फलों को आगे रख कर उन नवदीक्षित मुनि को नमोऽस्तु कहकर प्रणाम करते हैं ।(२)

इसके पश्चात् उस पक्ष में या द्वितीय पक्ष में या श्रेष्ठ मुहूर्त में व्रतारोपण करना चाहिये । उस समय रत्नत्रय की पूजा करके पाक्षिक प्रतिक्रमण का पाठ पढ़ना चाहिये, एवं पाक्षिकनियमों के ग्रहण करने के पूर्व व्रत, समिति आदि का पाठ पढ़ा जाना चाहिये, पूर्वलिखित २८ मूलगुणों का आरोपण करना चाहिये तथा दीक्षित को उपवासादिक तप करने के लिये आदेश देना चाहिये तथा दीक्षा दिलाने वाले को भी शक्त्यानुसार व्रत देना चाहिये । इस व्रतारोपण क्रिया के बाद अन्य मुनिगण उस दीक्षित मुनि को प्रतिवंदना करें । (३)

अथ मुखशुद्धि मुक्त करणे विधि—तेरह, पांच या तीन कच्चोलिकाओं (अञ्जलियों) में लोंग, सुपाड़ी आदि रखकर उन अंजलियों को गुरु के आगे रक्खें । मुखशुद्धि मुक्त करण पाठ क्रिया आदि पाठ पढ़कर सिद्ध भक्ति, योगी भक्ति, आचार्य भक्ति, शान्ति भक्ति, समाधि भक्ति पढ़कर मुखशुद्धि ग्रहण करें ।(४)

क्षुल्लक दीक्षा विधि— अथ लघुदीक्षायां सिद्ध, योगि, शांति, समाधि भक्ति पठेत् "ओं ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हम् नमः" अनेन मन्त्रेण जाप्यं २१ अथवा १०८ वारं दीयते ।

अन्यच्च विस्तारेण लघु दीक्षाविधि :—अथ लघुदीक्षानेतृजनः पुरुषः स्त्री वा दाता संस्थापयति यथायोग्यमलंकृतं कृत्वा चैत्यालये समानयेत्, देवं वन्दित्वा सर्वैः सह क्षमां कृत्वा गुरोरग्रे च दीक्षां याचयित्वा तदाज्ञया सौभाग्यवती स्त्रीविहितस्वस्तिकोपरि श्वेतवस्त्रं प्रच्छाद्य तत्र पूर्वाभिमुखः पर्यंकासनो गुरुश्चोत्तराभिमुखः संघाष्टकं, संघं च परिपृच्छ्य, लोचं कुर्यात् । अथ तद्विधिः—(बृहद्दीक्षायां) लोचस्वीकारक्रियायां पूर्वाचार्येत्यादिकमुच्चार्य सिद्ध-योगिभक्ति कृत्वा-

---

१. कमण्डलु वामहस्तेन उद्धृत्य "ॐ णमो अरहंताणं" रत्नत्रयपवित्री करणाणाय बाह्याभ्यन्तर मलशुद्धाय नमः भो अन्तेवासिन् ! इदं शौचोपकरणं गृहाण गृहाणेति ।

२. तत्पश्चात् समाधिभक्तिं पठेत् । ततो नवदीक्षितो मुनिर्भक्त्या गुरुं प्रणम्य अन्यान् मुनीन् प्रणम्योपविशति यावद् व्रतारोपणं न भवति तावदन्ये मुनयः प्रतिवंदनां न ददति ततो दातृप्रमुखजना उत्तम फलानि अग्रे निधाय तस्मै नमोऽस्त्विति प्रणामं कुर्वन्ति ।

३. ततस्तत्पक्षेद्वितीये पक्षे वा सुमुहूर्ते व्रतारोपणं कुर्यात् । तदा रत्नत्रयपूजां विधाय पाक्षिक प्रतिक्रमण पाठः पठनीयः । तत्र पाक्षिकनियमग्रहण समयात् पूर्वं व्रत समितीत्यादि पठ्येत तथा पूर्वव्रतादि दद्यात् नियमग्रहण समयं यथायोग्यं एकं तपोदद्यात् (पल्यविधानादिकं) दातृ प्रभृति श्रावकेभ्योऽपि एकं एकं तपोदद्यात ततोऽन्ये मुनयः प्रतिवन्दनां ददति ।

४. त्रयोदशसु पंचसु त्रिषु वा कच्चोलिकासु लवङ्ग-पूगफलादिकं निक्षिप्य ताः कच्चोलिकाः गुरवग्रे स्थापयेत् । मुख शुद्धि मुक्तकरण पाठक्रियाद्युच्चार्य सिद्ध-योगि, आचार्य, शान्ति, समाधि भक्तिं विधाय ततः पञ्चाङ्गमुखशुद्धिं गृह्णीयात्

बोलकर दीक्षित के मस्तक पर पुष्पाक्षतादिक क्षेपण करें। बाद में पवित्र भस्म पात्र को लेकर „ओं णमो अरिहंताणं„ रत्नत्रयपवित्रीकृतोत्तमांगाय ज्योतिर्मयाय अतिकुतावधिमन:पर्यय केवलज्ञानाय अ सि आ उ सा स्वाहा„ मन्त्र को पढ़कर सिर पर कपूर मिश्रित भस्म को डालकर „ओं ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं अ सि आ उ सा स्वाहा„ मन्त्र से प्रथम केशोत्पाटन करके (१) ओं ह्रीं अर्हद्भ्योनमः (२) ओं ह्रीं सिद्धेभ्योनमः (३) ओं ह्रूं सूरिभ्योनमः (४) ओं ह्रीं पाठकेभ्योनमः (५)ओं ह्रीं सर्वसाधुभ्योनमः। इन पांच मंत्रों का उच्चारण करते हुये गुरु अपने हाथ से पांच बार केशों को उखाड़े, इसके बाद पूर्वाचार्यादि पाठ पढ़ कर लघु सिद्धभक्ति करें। इसके बाद सिर को गंधोदक से धोकर गुरु दीक्षित के मस्तक पर ,श्री, कार लिख कर ओं ह्रीं अर्हं अ सि आ उ सा ह्रीं स्वाहा इस मंत्र का १०८ बार जाप्य करावें। इसके बाद दीक्षित के हाथ में ,श्री, कार लिखकर पूर्व में ३ का अंक, दक्षिण में २४, पश्चिम में ५ तथा उत्तर में २ का अंक लिखें। इसके बाद „सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यग्चारित्राय नमः„ मंत्र बोलकर दीक्षित की अञ्जुलि में चावल और श्रीफल तथा सुपारी रखकर (१) सिद्ध-भक्ति और (२) योगिभक्ति पढ़ें। इसके बाद „दंसणवयसामाइय„—गाथा को तीन बार पढ़ कर और उसका अर्थ यथासमय समझाकर गुर्वावली को पढ़कर व्रतारोपण करें तथा—

धर्मः सर्व सुखाकरो हितकरो धर्मं बुधाश्चिन्वते,
धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं, धर्माय तस्मै नमः ॥
धर्मान्नास्त्यपरः सुहृद्भवभृतां, धर्मस्य मूलं दया,
धर्मे चित्तमहं दधे प्रतिदिनं हे धर्म ! मां पालय ॥

इस श्लोक को बोलकर दीक्षित से माता की झोली में अञ्जली की सामग्री अर्पण करा देवें। इसके आगे पीछी, शास्त्र और कमण्डलु को ऊपर लिखे मंत्र बोलकर ग्रहण करावें। इसके बाद दीक्षित अपने संघ में आचार्य तथा सर्व संघ के मुनियों को नमोऽस्तु तथा क्षुल्लक एवं ऐलक आदि को इच्छामि करे।

आर्यिका दीक्षा विधि—मोक्षमार्ग पर चलने का अधिकार महिला समाज को भी है, परन्तु उनके पूर्ण निर्दोष जैनेश्वरी दीक्षा संभव नहीं है। आध्यात्मिक सन्त श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने भी इसका निषेध किया है, फिर भी नारी समाज में उपचार से दीक्षा की विवेचना आगम में है, जिसमें एक आर्यिका दीक्षा है जो उपचार से महाव्रती कहलाती है, एवं एक क्षुल्लिका दीक्षा है, जो अणुव्रती कहलाती है।

ये दोनों दीक्षायें पूर्वकथित विधान के अनुसार आर्यिका संघ की गणिनी प्रदान करती है। विशेषवयोवृद्ध दीर्घदीक्षित आचार्य भी प्रदान कर सकते हैं।

विशेष—श्रावक के जो दीक्षान्त संस्कार होते हैं, वह भी देव, शास्त्र, गुरु की साक्षी में होते हैं। जिनमें अष्ट मूलगुणों के परिपालन एवं सप्त व्यसन के त्याग की प्रतिज्ञा की जाती है। श्रावक मोक्ष-मार्ग पर चलने का अभ्यास करने के लिये प्रथम प्रतिमा से ग्यारह प्रतिमाओं तक के व्रतग्रहण करते हैं। वह भी किसी योग्य आचार्य मुनिराज से या अपने से श्रेष्ठ व्रती से देव, शास्त्र, गुरु की साक्षी से सामान्य विधि विधान से ही ग्रहण करता है।

समाधि के समय विशेष योग्यता एवं संस्कारों की आवश्यकता नहीं है । समय देखकर कार्य किया जाता है, तत्क्षण भी व्रत या दीक्षा प्रदान की जा सकती है ।

संघ में आचार्य आवश्यक है—नीतिकारों ने कहा है (अनायका विनश्यन्ति नश्यन्ति बहुनायका:)—अर्थात् जिस संघ का कोई एक कुशल संचालक (नायक) न हो, वह नष्ट हो जाता है और जिस संघ में हर व्यक्ति अपने आपको संचालक (नायक) समझे तो वह संघ भी नष्ट हो जाता है । अतः रत्नत्रय से विभूषित प्रतिक्षण मुक्ति-पथ की ओर जिनके चरण बढ़ते चले जा रहे हैं, ऐसे वीतरागी सर्व संग से रहित यतिवरों में भी एक विशेष योग्य, मुनि-चर्या-अनुशासन में कुशल, मार्ग द्रष्टा, संचालक होता है । इसे ही आचार्य या सूरि के नाम से जाना जाता है । आचार्य के अभाव में अल्पज्ञ मुनि निर्दोष मूलगुणों को पालन करने में सक्षम नहीं हो पाते ; आचार्य के अभाव में यथायोग्य मार्ग-दर्शन नहीं मिल पाता । अतः मुनि-समुदाय में परम्परागत एक आचार्य की नियुक्ति नियमित रूप से होती है ।

आचार्य पद स्थापना विधि—शुभमुहूर्ते दाता शांतिकं गणधरवलयार्चनं च यथाशक्ति कारयेत् । ततः श्रीखंडादिना छटादिकं कृत्वा आचार्यपदयोग्यं मुनिमासयेत् । आचार्यपदप्रतिष्ठापन क्रियायां इत्याद्युच्चार्य सिद्धाचार्य भक्तिं पठेत ॐ हूं परमसुरभिद्रव्यसन्दर्भ परिमलगर्भ तीर्थाम्बुसम्पूर्ण—सुवर्णकलश पंचकतोयेन परिषेचयामीति स्वाहा ।। इति पठित्वा कलशपञ्चकतोयेन पादौ परिसेचयेत् । ततः पंडिताचार्यो „निर्वेद सौष्ठ„ इत्यादि महर्षिस्तवनं पठन् पादौ समन्तात् परामृश्य गुणारोपणं कुर्यात् । ततः ॐ हूं णमो आइरियाणं आचार्य परमेष्ठिन् । अत्र एहि एहि संवौषट्, आह्वाननं, स्थापनं, सन्निधिकरणम् । ततश्च „ॐ हूं णमो आइरियाणं धर्माचार्याधिपतये नमः । अनेन मंत्रेण सदृगुना चन्दनेन पादयो रुपरितिलकं दद्यात् । ततः शान्ति समाधि भक्ति कृत्वा गुरुभक्त्या गुरुं प्रणम्य उपविशति । ततु उपासकास्तस्य पादयोरष्टतयीमिष्टिं कुर्वन्ति । पश्चाच्च गुरुभक्तिं दत्वा प्रणमन्ति । स उपासकेभ्य आशीर्वादं दद्यात् ।

मंत्र—ॐ ह्रां ह्रीं श्रीं अर्हम् हं सः आचार्याय नम : ।

आचार्यवाचना मंत्र । अन्यच्च ।

मंत्र—ॐ ह्रीं श्रीं अर्हम् हं सः आचार्याय नमः । आचार्यमन्त्र ।

अर्थ—शुभमुहूर्त में दाता शांतिमंडल तथा गणधरवलय विधान की पूजा करावें । तदनंतर केशरादि से छींटे देकर, चावलों से स्वस्तिक बनाकर तथा उसके ऊपर पाटे को बिछा कर वहां पर आचार्य पद के योग्य मुनि को पूर्वदिशा की ओर मुख कराकर बिठावें । आचार्य पद प्रतिष्ठापन क्रियायां इत्यादि पद पढ़कर सिद्धभक्ति तथा आचार्यभक्ति को पढ़ कर नीचे लिखे हुये ॐ हूं से लेकर स्वाहा तक पूरा मन्त्र बोल कर पांच कलशों के प्रासुकजल से आचार्य के पाद प्रक्षालन की क्रिया करें । तदनन्तर पंडिताचार्य, निर्वेद सौष्ठ, इत्यादि महर्षि स्तवन को अथवा आचार्य भक्ति को पढ़ते हुये पैरों को चारों तरफ से [illegible] करके गुणारोपण करें । इसके बाद ॐ हूं णमो आइरियाणं से लेकर नमः तक मंत्र को पूरा बोलकर कपूर सहित चन्दन से दोनों पैरों में तिलक लगावें । इसके बाद शान्ति और समाधि भक्ति को पढ़कर तथा गुरुभक्ति से गुरु को प्रणाम करके

बैठ जावें । तदनन्तर सर्व श्रावक अष्ट द्रव्य से उन नवीन आचार्य की पूजा करके संघस्थ अन्य मुनि उन नवीन आचार्य की गुरुभक्ति (लघु आचार्य भक्ति) करें और आचार्य उनको यथायोग्य आशीर्वाद देवें ।

इति आचार्य पददान विधि

„—ऊं ह्रां ह्रीं श्रीं अर्हं हं सः आचार्याय नमः

आचार्य वाचना मन्त्र अन्यच्च ।

ओं ह्रीं श्रीं अर्हं हं सः आचार्याय नमः; आचार्यमन्त्र ।

उपाध्याय विधि— जिस प्रकार एक प्रधानमंत्री अपने राज्य के विशेष कार्यों को विशिष्ट महानुभावों को विभाजित कर देता है ठीक इसी प्रकार (संघ नायक आचार्य अल्पज्ञ साधुओं को विशिष्ट तत्वज्ञान कराने के उद्देश्य से ११ अंग १४ पूर्व के ज्ञाता योग्य मुनिराज को उपाध्याय पद प्रदान करते हैं ।

शुभमुहूर्ते दाता गणधरवलय+अर्चनं द्वादशाङ्ग श्रुतार्चनं कृत्वा तदुपरि पट्टकं संस्थाप्य तत्र पूर्वाभिमुखं तमुपाध्यायपदयोग्यं मुनिमासयेत् । अथोपाध्याय पदस्थापन क्रियायां पूर्वाचार्येत्याद्युच्चार्य सिद्ध श्रुतभक्तिं पठेत् । तत आह्वानादि मंत्रानुच्चार्य शिरसि लवंग पुष्पाक्षतं क्षिपेत् । तद्यथा— ओं ह्रौं णमो उवज्झायाणं, उपाध्यायपरमेष्ठिन् अत्र एहि एहि संवौषट आह्वाननं, स्थापनं, सन्निधीकरणं ततश्च ॐ ह्रौं णमो उवज्झायाणं, उपाध्यायपरमेष्ठिने नमः" इदं मंत्र सहेतुना शिरसि न्यसेत् । ततश्च शान्ति समाधि भक्ति पठेत् । ततः स उपाध्यायो गुरुभक्तिं दत्वा प्रणम्य दाते आशिषं दद्यादिति ।

शुभमुहूर्त में दाता, गणधरवलय की तथा द्वादशाङ्गश्रुत की पूजा करावें । तदनन्तर केशरादि से छींटे देकर, चावलों से स्वस्तिक बनाकर तथा उसके ऊपर पाटे को बिछाकर वहां पर उपाध्याय पद के योग्य मुनि को पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठावें और आचार्य स्वयं उत्तर की ओर मुख करके बैठें । इसके बाद उपाध्याय पद की स्थापन क्रिया में पूर्वाचार्यादि पाठ को पूरा बोल कर सिद्धभक्ति तथा श्रुतभक्ति को पढ़े । इसके बाद नीचे लिखे हुये आह्वानन मंत्र को पढ़कर उपाध्याय के सिर पर लौंग, पुष्प और अक्षत को क्षेपण करे इसके बाद, ऊं ह्रौं णमो उवज्झायाणं, उपाध्याय परमेष्ठिने नमः इस मंत्र को बोलकर कपूर तथा चन्दन से सिर पर उपाध्याय पद की परिस्थापना करे । तत्पश्चात् शान्ति और समाधि भक्ति को पढ़े । इसके बाद उपाध्याय, गुरुभक्ति (आचार्य भक्ति) पढ़ कर आचार्य को प्रणाम करे और संघ तथा दाता द्वारा नमस्कार करने पर उन्हें यथायोग्य आशीर्वाद देवे ।

पर्व २

मूल गुण परिसर

महाव्रत, अहिंसा महाव्रत

* महाव्रत *

महाव्रत—योगत्रय से परिपूर्ण पाप निवृत्ति रूप व्रतों को महाव्रत कहते हैं, इसके विषय में ,,आचार्य प्रभाचन्द्र,, जी ने इस प्रकार कहा है—

महान जो व्रत है वह महाव्रत है। संकल्प पूर्वक किया गया नियम व्रत है। पूर्णतया त्याग होने के कारण, महापुरुषों के द्वारा पाले जाने के कारण तथा महाकार्य सिद्ध होने के कारण इसे महाव्रत कहते हैं। (१)

महा शब्द का अर्थ प्रधान है। व्रत शब्द का अर्थ पापों से निवृत्ति है। मोक्ष प्राप्ति हेतु हिंसादि पांच पापों के त्याग को व्रत कहते हैं।
तीर्थंकरादि मोक्षगामी अनन्तानन्त महान आत्माओं ने अपने जीवन में इन व्रतों को धारण करके मोक्ष सुख प्राप्त किया है, इसलिये ये महाव्रत कहलाते हैं।

१. महत् व्रतं च महाव्रतम् अभिसंधिकृतो हि नियमो व्रतम्। [illegible]
[illegible] महद्भिः [illegible] महाव्रत मित्युच्यते ॥
र० क० श्रा० टीका ७२

पंच महाव्रत

मूलगुण परिवार में पंच महाव्रतों का प्रथम स्थान है। मकान में जो स्थान नींव का होता है, शून्यों में जो स्थान अंक का होता है, शरीर में जो स्थान आत्मा का होता है, मूलगुणों में वही स्थान पंच महाव्रतों का है। इन पंच महाव्रतों की पूर्णता ही चारित्र है तथा तीर्थंकरादि महानपुरुष भी इन पंचमहाव्रतों रूपी मुकुट को जीवन में अवधारण कर मुक्ति श्री का वरण करते हैं। इन व्रतों की विवेचना मूलाचार में निम्न प्रकार है—

हिंसा का पूर्णतया त्याग, यथार्थ भीलना, किंचित मात्र भी पर वस्तु का ग्रहण नहीं करना, मनोवचन से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना, एवं परिग्रह का परिपूर्णतया त्याग करना ये पांच महाव्रत हैं। (१)

अहिंसा महाव्रत—सभी व्रतों में अहिंसा प्रधान है अतएव उसका सर्वप्रथम स्थान रखा गया है। अन्य व्रतों का पालन उसके पालनार्थ है। जिस प्रकार धान्य के रक्षार्थ खेत के चारों ओर बाड़ी लगायी जाती है, उसी प्रकार सत्यादि व्रतों के द्वारा अहिंसाव्रत का रक्षण होता है। जैन आगम की विशेषता यही है कि उसमें विशुद्ध रीति से अहिंसा के परिपालन को धर्म कहा है। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये सब इस अहिंसा धर्म के परिकर हैं।

मुनिराज मन, वचन, काय, एवम् कृत, कारित, अनुमोदना से एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त किसी भी प्राणी को किञ्चित् मात्र भी कष्ट नहीं पहुंचाते, किसी से रागद्वेष नहीं करते, सभी के प्रति साम्य भाव रखते हैं, इसलिये वे अहिंसा महाव्रत से सुशोभित रहते हैं।

मूलाचार में लिखा है—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस ये छह काय के जीव कहे जाते हैं। काय, गुणस्थान, मार्गणा, जीवसमास, कुलकोटि एवं योनि आदि अनेकों प्रकार से जीवों का स्वरूप समझकर बैठने, उठने, सोने, गमन करने, आहार करने, हाथ-पांव फैलाने, संकुचित करने, बोलने, विहार करने आदि अनेक क्रियाओं में होने वाली जीवहिंसा से पूर्णतया बचना अहिंसा महाव्रत है। (२)

---

१. हिंसा विरदि सच्चं अदत्त परिवज्जणं च बंभं च
संग विमुत्तीय तहा महव्वया पंच पण्णत्ता मूलाचार ॥४॥

२. कायेंदियगुणमग्गण कुलाउजोणीसु सव्वजीवाणं।
णाऊण य ठाणादि सु हिंसादि विवज्जणमहिंसा ॥ मूलाचार ७

बंध, परिताप, वर्णन इत्यादि करना सामान्यतः अनेक प्रकार से एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीवों की हिंसा और इसके विपरीत सभी प्राणियों के प्रति साम्यभाव रखना अहिंसा है। कायोत्सर्ग, ईर्यापथ आदि करते समय भी मुनिराज यत्नपूर्वक गमनागमन करते हैं, अतः वे पूर्ण अहिंसक होते हैं।

परिभाषा—राग-द्वेष आदि विभावों, विकृतियों का उद्भव न होने देना ही अहिंसा है और रागादि की उत्पत्ति हिंसा है। (१)

श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में कहा है—

जिस जीव के परिणाम हिंसा रूप हो जाते हैं, चाहे वह हिंसा का कोई कार्य न करें तो भी वह जीव उदयकाल में हिंसाफल को भोगेगा और जिस जीव के शरीर से किसी कारणवश हिंसा तो हो गई, परन्तु परिणामों में प्रमाद भाव नहीं आया तो वह हिंसा के फल को भोगने का पात्र नहीं होगा। (२)

यहां पर परिणामों की विशेषता बताई है। प्रमाद एवं कषाय ही दोनों के जनक हैं। अगर कोई मुनिराज यत्नाचार पूर्वक चार हाथ जमीन देख कर विहार कर रहे हों, सहसा ही कोई जीव उनके पैर तले आकर मर जाये तो भी मुनिराज अहिंसा महाव्रत के धारी ही हैं, क्योंकि उनके हृदय में किञ्चित् भी प्रमाद नहीं है। अतः प्रमाद ही हिंसा है और अप्रमादपूर्वक राग-द्वेष का अभाव ही अहिंसा है।

बृहत् स्वयंभूस्तोत्र में नेमिनाथ भगवान की स्तुति करते हुये कहा है कि जगत में विदित है कि जीवों की अहिंसा परम ब्रह्मस्वरूप है। जिस आश्रम की विधि में लेशमात्र भी आरम्भ है वहां अहिंसा नहीं होती है। करुणासागर प्रभो ? आपने हिंसा के कारण उभय प्रकार के परिग्रह को छोड़कर निर्ग्रन्थ वेश स्वीकार किया है। अतः विकृत वेश तथा परिग्रह में रत न हुये। (३)

इससे यह स्पष्ट होता है कि अहिंसा का मूल आधार रागादि विकारों का न होना है।

आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है—जीवों का संहार हो या न हो, यदि अयत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति है तो अवश्य हिंसा है। सावधानी पूर्वक प्रयत्न करने वाले साधु को हिंसा के निमित्त से बंध नहीं होता है। (४)

---

१. रागादीण मणुप्पा अहिंसकत्तेति देसिदं समये।
तेसिं चे उप्पत्ती हिंसेति जिणेहि णिद्दिट्ठा ॥ ज० ध० ४, १, स २

२. अविधायापि हि हिंसा हिंसाफल भाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसा हिंसाफल भाजनं न स्यात् ॥ पुरुषार्थ ५१

३. अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ।
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः ॥ बृ० स्व० स्तो० ११९

४. मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स ॥ प्र० सा० ३/१७

अकलंक स्वामी ने भी कहा है—ईर्या समिति-अर्थात् गमनागमन में सावधानी रखने वाले साधु के अपने पैर के उठाने पर, उनके चलने के स्थान में आकर कोई छोटा प्राणी दबकर मर भी जाये तो भी उसके निमित्त साधु को रंचमात्र भी बंध नहीं कहा है। कारण जैसे अध्यात्म शास्त्र मे मूर्छा (ममत्व परिणाम) को परिग्रह कहा है, वैसे यहां भी रागादि परिणाम को हिंसा कहा है (२)

अतएव उमा स्वामी जी ने हिंसा की परिभाषा में—„प्रमत्त योगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा„ (त०-सू०-अ०—७, सूत्र—१३) प्रमत्त योग से प्राणों का घात करना हिंसा कहा है। प्रमत्त योग अर्थात् योग कषाय भाव है तो जीव-वध न होते हुये भी हिंसा है। कारण यहां आत्मा की विशुद्ध मनोवृत्ति का घात होता है। यदि प्रमत्तयोग नहीं है तो जीव-घात होते हुये भी हिंसा का दोष नहीं है।

इस प्रकार भाव के आधीन यदि हिंसा अहिंसा की स्थिति न होती और जीव घात को ही हिंसा का मूलाधार माना जाता तो साधक जगत के किस स्थल में आकर निर्वाण की साधना करते।(३)

इस संबंध में यह कथन बड़ा महत्वपूर्ण है कि बाह्य वस्तुओं के द्वारा सूक्ष्म हिंसा का भी दोष नहीं आता। कारण उसका सम्बन्ध भावों के साथ है। किन्तु भावों की निर्मलता के सम्पादन हेतु निमित्त भूत हिंसा के आयतनों/साधनों का त्याग करना चाहिये। (४)

अमृतचन्द्र स्वामी ने भी कहा है—अभिमान, भय, घृणा, हास्य अरति, शोक, काम क्रोधादि सब हिंसा के ही नामान्तर हैं।(५)
और अहिंसा श्रेष्ठ रसायन है जो अमृतत्व का कारण है।(६)

"पाणादिवादादो वेरमणं" अर्थात् प्राणघात के त्यागने को अहिंसा महाव्रत कहते हैं।

सम्पूर्ण त्रस तथा स्थावर जीवों के सम्यक् प्रकार संरक्षण के लिये उन जीवों का सद्भाव और उन की उत्पति को जानना आवश्यक है केवल मात्र अहिंसा का नाम लेने से महाव्रत का पालन नहीं हो सकता।

---

२. उच्चालिदम्हि पादे इरिया समिदस्स णिग्गमट्ठाणे।
आबाधेज्ज कुलिंगो मरेज्जतं जोगमासेज्ज॥
णहि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिदो समए।
मुच्छ परिग्गहोत्ति य अज्झप्प पमाणदो भणिदो॥ त० रा० वा०॥
३. विष्वग्जीव चिते लोके क्व चरन् कोप्यमोक्षयत।
भावैक साधनौ बन्ध मोक्षौ चेन्न भविष्यताम॥ सागर धर्मामृत॥
४. सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तु निबन्धना भवति पुंसः।
हिंसायतन निवृत्तिः परिणाम विशुद्धये तदपि कार्या॥ ४९॥पु० सि०। ४९
५. अभिमान भय जुगुप्सा हास्यारति शोक - काम कोपाद्याः।
हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि च सरकसन्निहिताः॥पु सि०॥६४
६. अमृतत्वहेतुभूतं परममहिंसारसायनं लब्ध्वा॥पु० सि०॥ ७८

कुरल काव्य में लिखा है—„अहिंसा सब धर्मों में श्रेष्ठ है„। सत्य का स्थान उसके बाद है। नेक मार्ग वही है जिसमें इस बात का ध्यान रखा जाता है कि छोटे से छोटे जानवरों को भी मारने से किस तरह बचाया जाय। तुम्हारी जान जाने के समय किसी की भी जान मत लो। जिन लोगों का जीवन हत्या पर निर्भर है, समझदार लोगों की दृष्टि में वे मुर्दाखोरों के समान हैं। अहिंसा के परिपालन हेतु जैन धर्म में मद्य, मांस, मधु एवं अन्य अभक्ष्य पदार्थों का सेवन वर्जित है। जैन मुनि तो „मांस„ शब्द श्रवण मात्र से आहार लेना बंद कर देते हैं। वे परम कारुणिक अपनी प्रत्येक चेष्टा में जीव रक्षा का ध्यान रखते हैं, उनकी दृष्टि में अहिंसा धर्म प्रधान है।

हिंसा के १०८ कारण—इस अहिंसक के सौरभ उद्यान की शोभा को नष्ट करने वाले १०८ कारण हैं : उन कारणों का परित्याग करने से वह जीव पूर्ण अहिंसक बन सकता है। हिंसा के भाव क्रोध-मान-माया-लोभ रूप हैं। वे मन, वचन, काय से उत्पन्न होते हैं। इनमें कृत, कारित तथा अनुमोदना का सम्बन्ध पाया जाता है, वे प्रत्येक भेद समरंभ, समारंभ तथा आरम्भ रूप उपभेदों से युक्त हैं। (१)

क्रोधादि चतुष्टय में मन, वचन, काय का गुणा करने से १२ भेद होते हैं। उनमें कृत कारित अनुमोदना का गुणा होने पर ३६ की संख्या आती है। इसमें समरम्भादि तीन भेदों का गुणा करने से १०८ हिंसा के द्वार ज्ञात होते हैं। इस प्रकार से १०८ भेद बनते हैं।
कहा गया है :—

समरंभ समारंभ आरंभ, मन, वच तन कीने आरंभ।
कृत कारित मोदन करके, क्रोधादि चतुष्टय धरिके॥
सात आठ जु इन भेदनतें अघ कीने पर छेदनतें।
तिनकी कहुं कोलों कहानी, तुम जानत केवलज्ञानी॥

इन १०८ पाप-संचय के निरोध के लिये जिनेन्द्र की १०८ मणिका वाली जाप जपी जाती है, क्योंकि उन आस्रवों के कारणों के लिये जिनेन्द्र का स्मरण संवर रूप है। महाव्रती मुनि १०८ प्रकार के हिंसादि पापों का त्याग करते हैं जिससे दिगम्बर मुनियों के नाम के आगे १०८ का अंक लिखने की पद्धति पायी जाती है। तथा गुणों या व्रतों की अपेक्षा भी मुनिराजों के नाम से पूर्व १०८ लिखने की परम्परा है। जिसकी विवेचना निम्न प्रकार है—

२८ मूलगुण, २२ परिषह, १० धर्म, १२ तप, १२ भावना, १३ प्रकार चारित्र, षटकाय के जीवों की रक्षा एवं पंचाचार का पालन।

[illegible]
[illegible]
र० क० श्रा० टीका — । ७२

अहिंसा के द्वारा ही विश्व में सुख का साम्राज्य स्थापित हो सकता है। हिंसा के कारण नरक की दुनिया बसायी जा सकती है। ज्ञानार्णव में लिखा है—इस जगत में जीवों को दुःख, शोक, भय के कारण दुर्भाग्यादि का वर्णन होता है, यह सब हिंसा से ही समझना चाहिये। हिंसा के त्याग से जीव क्षणभर में आश्चर्यप्रद उन्नति कर सकता है। (१)

शास्त्रों का हार्द अहिंसा— आचार्यों का कथन है कि समस्त सिद्धान्तों का हृदय, सर्व शास्त्रों की उत्पत्ति का स्थान तथा व्रत गुण एवं शील आदि का पुंजीभूत सार अहिंसा है। (२)

अहिंसा की रक्षा के लिये जिन भगवान ने पंचविध भावनाओं का प्रतिपादन किया है। वे इस प्रकार हैं—राग-द्वेष परिणामों के निग्रह रूप मनोगुप्ति, वाणी के निग्रह रूप वचन गुप्ति, गमन संबंधी सावधानी ईर्या समिति, पुस्तक आदि धर्म के साधनों का यत्नाचार पूर्वक उठाना तथा रखना, आदान—निक्षेपण समिति, आलोकित पान भोजन— शोध कर भोजन का ग्रहण करना इन पांच भावनाओं से अहिंसा महाव्रत का रक्षण होता है (३)

अनगार धर्मामृत में लिखा है—आत्मा के निर्मल भावों को क्षति पहुंचाने के कारण असत्य सम्भाषण, चोरी आदि का भी हिंसा में अन्तर्भाव है। अल्पज्ञानियों के लिये उस अहिंसा का असत्यादि के त्याग रूप पंचविध निरूपण किया है। (४)

यदि कोई पूछे जैन मुनि जब अहिंसा महाव्रत धारण करते हैं, छोटे बड़े सभी जीवों पर दया भाव रखते हैं, तब वे अपने भोजन में उस दूध को क्यों ग्रहण करते हैं, जिसकी उत्पत्ति रक्त और मांस से होती है? दूध पीना और मांस से घृणा करना आश्चर्य प्रद विसंगति की बात है? तो इसका उत्तर निम्न प्रकार है—

यह बड़ा भारी भ्रम है कि दूध की उत्पत्ति मांस से अथवा रक्त से होती है। आयुर्वेद शास्त्र का कथन है कि भोज्य पदार्थ उदर में पहुंचने के बाद श्लेष्माशय को प्राप्त करके द्रव रूप होते हैं। पश्चात् पित्ताशय में पहुंच कर इनका परिपाक होता है और वे वाताशय को प्राप्त होते हैं। पश्चात् उनका वायु के द्वारा विभाजन होते हुये खल भाग तथा रस का रक्त, मांस, मेद, मज्जा तथा शुक्र रूप से क्रमशः परिणमन होता है। (५)

---

१. यत् किंचित् संसारे शरीरिणां दुःख शोक भय बीजम्।
दौर्भाग्यादि समस्तं तद्धिंसा संभवं ज्ञेयम् ॥८ १२०

२. सर्वेषां समयानां हृदयं गर्भश्च सर्वशास्त्राणाम्।
व्रत गुण शीलादीनां पिण्डः सारोपि चाहिंसा ॥

३. वाङ्मनो गुप्तीर्यादान निक्षेपण समित्यालोकितपान भोजनानि पञ्च ॥ त० सू० अ० ७।

४. आत्महिंसन हेतुत्वाद्धिंसैवा सूनृताद्यपि। भेदेन तद्विरत्युक्तिः पुनरज्ञानुकम्पया ॥ ४. ३६
आत्मपरिणाम हिंसन हेतुत्वा त्सर्वमेव हिंसैतत्। अनृतवचनादि केवल मुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥४२ ॥

५. आहार परिणामादि कवलाहारो हि ग्रस्तमात्रः श्लेष्माशयं प्राप्य श्लेष्मणा द्रवीकृतमविकमधुरि भवति। ततः पित्ताशयं प्राप्य पच्यमान आम्लीकृत अशुचिरेव भवति। ततो वाताशयं प्राप्य वायुना विभज्यमानः खलरस भावेन भिद्यते। खलभागो मूत्रपुरीषादि मलविकारेण विविच्यते। रस भागः शोणित मांस। मेद मज्जा शुक्र भावेन परिणमते ॥
राजवार्तिक पृ० १२८ ॥

भावप्रकाश नाम के आयुर्वेदिक ग्रन्थ में लिखा है—कि रस बनने के बाद रुधिर बनता है तथा रुधिर के बाद मांस बनता है, मांस के बाद मेद, मेद के बाद हड्डी, हड्डी के बाद मज्जा, मज्जा के बाद शुक्र निर्मित होता है।(१) वाग्भट्ट के अष्टाङ्ग हृदय में लिखा है—कि रस के बाद रक्त बनता है, रक्त के बाद मांस, मांस के बाद मेद, पश्चात् हड्डी, इसके बाद मज्जा, अनन्तर वीर्य बनता है।(२)

गौ दूध को गोरस कहते हैं, उसे कोई गोरक्त के नाम से नहीं कहता है। रक्त के साथ स्पर्श होने पर शुद्धता के हेतु विशेष स्वच्छता की जाती है। ऐसा व्यवहार गौ दुग्ध के प्रति नहीं होता। दूध रस है, रस के बाद वह रक्त बनता है, रक्त के बाद उसका मांस रूप में परिणमन होता है, इसलिये गौ दूध को रक्त या मांस मानना अविचारपूर्ण बात है। गाय के शरीर में दूध रहता है तथा मांस भी रहता है किन्तु वस्तु स्वरूप की यह विचित्रता है कि दूध शुद्ध और मांस अशुद्ध है। सर्प के मस्तक में मणि रहती है, वह तो विष के विकार को दूर करती है किन्तु उसके पास में रहने वाला विष प्राणों का घातक है। विष वृक्ष के पत्ते प्राण प्रदान करते हैं और उसकी जड़ प्राणों का विनाश करती है। यद्यपि दोनों वृक्ष के ही अङ्ग हैं। इसी प्रकार दूध और मांस एक ही शरीर में पाये जाते हैं, दूध की थैली पृथक् रहती है, इसलिये मांस हेय है और दूध पीने योग्य है।(३)

अतीन्द्रिय पदार्थों के ज्ञाता जिनेन्द्र भगवान ने अपने प्रत्यक्ष ज्ञान में देखा है कि दूध और मांस में इतना ही अन्तर है, जितना अमृत और विष में।

एक बात यह भी विचारणीय है कि दूध के दुहने से गाय का शरीर क्षीण नहीं होता। यदि उसका दूध दुहा न जाए तो उसे पीड़ा का अनुभव होता है। दूध के दुहने से गाय को शान्ति मिलती है। गाय घास, खली आदि जो पदार्थ खाती है वे ही गोरस में परिणत होते हैं। इस कारण उन पदार्थों की गंध आदि दुग्ध में देखी जाती है। ये बातें मांस के विषय में चरितार्थ नहीं होतीं।

जब बालक अस्वस्थ होता है, तब माता को औषधि देने से उसका दूध पीने वाला शिशु स्वस्थ हो जाता है। यदि दूध के सेवन को मांस भक्षण का पाप जबरदस्ती माना जाए तो मनुष्य को शिशुकाल में माता का दूध पीने के कारण स्वभावतः मांसाहारी मानना होगा। किन्तु अनुभव यह बताता है कि मनुष्य के दांतों की रचना आदि मांसाहारी प्राणियों के समान नहीं है। जिस तरह हाथी शाकाहारी है उसी प्रकार मनुष्य भी प्राकृतिक रूप से शाकाहारी है। इसलिये दूध सेवन में मांसाहार की कल्पना करना पूर्णिमा को अमावस्या मानना है।

---

१. [illegible]
[illegible] कारिका २०।१
२. [illegible]
[illegible] सूत्र । ६२ ॥
३. [illegible]

तमिल भाषा की महत्वपूर्ण रचना नीलकेशी में इस सम्बन्ध में बड़ी महत्वपूर्ण चर्चा आयी है, जिसका उपयोगी अंश प्रकाण्ड दार्शनिक प्रो० ए० चक्रवर्ती ने अपनी भूमिका में लिखा है—

आहार शास्त्र की दृष्टि से दूध को सात्विक भोजन माना गया है किन्तु मांस तामसी भोजन कहा गया है । जिस प्रकार आम आदि वृक्षों में लगने वाले फल रस भरे होते हैं उनमें रुधिर रूप परिणमन नहीं होता है । इस प्रकार गाय के द्वारा ग्रहण किया गया भोजन विशेष शैली में आकर धवल वर्ण वाले रस रूप परिणत होता है । इसलिये दूध और मांस में समानता देखना हंस और कौए में वर्ण साम्य मानने सदृश भूल भरी बात होगी ।

पं० प्रवर आशाधर जी कहते हैं कि—दिगम्बर मुनि और संयमी श्रावक हड्डी, मांस, रक्त, मदिरा, पीप आदि अपवित्र वस्तुओं को देखकर आहार का त्याग करते हैं। किसी भोज्य में मांस की कल्पना उठने पर उसे त्याज्य कहा है ।(१)

अतएव दूध की शुद्धता निर्विवाद है, जैन आचार्यों का कथन है कि अड़तालीस मिनिट के भीतर दूध को अच्छी तरह गरम कर लेना चाहिये, अमर्यादित अशुद्ध दूध के सेवन करने से व्रत में दूषण आता है, ऐसी जिन भगवान की आज्ञा है, क्योंकि अड़तालीस मिनिट के बाद सम्मूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति होती है ।

समाधि में हिंसा नहीं— जैन मुनियों की अहिंसा के विरुद्ध , एक तार्किक कहता है कि जैन मुनि अपने जीवन को समाधि मरण के द्वारा समाप्त कर देते हैं। इसलिये आत्म हत्या करने के कारण उन्हें अहिंसा व्रती कैसे मानना चाहिये ? यह प्रश्न अज्ञानता मूलक है । समाधिमरण में आत्मघात को देखना सती साध्वी महिला को कुलटा समझने सदृश है । समाधिमरण का लक्ष्य आत्मा का घात नहीं है । समाधिमरण में महान निर्मलता, विलक्षण शान्ति तथा प्रसन्नता का सद्भाव पाया जाता है । जब साधु देखता है कि मैंने जीवन भर संयम की साधना की, व्रतों का पालन किया और अब मेरी शरीर रूपी नौका जीर्ण होने के कारण डूबने को है, तब वे इस जीर्ण नौका सदृश शरीर की सम्हाल करने में अपने अमूल्य क्षणों का अपव्यय न कर अपने अनन्त गुणों की राशि रूप आत्मा की रक्षा के लिये उद्यत हो जाते हैं, वे अपने प्रत्येक क्षण का आत्म साधना में उपयोग करते हैं और संयम घातक शरीर की सेवा में अपना समय और शक्ति नष्ट नहीं करते हैं ।

पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है कि—,,समाधिमरण को प्राप्त साधक के रागद्वेष मोहादिक नहीं होते । इससे उन्हें आत्मघात का दोष नहीं लगता है । विष, शस्त्रादि से राग-द्वेष मोहादिक कषाय के वशीभूत होकर अज्ञानी जीव जो प्राण घात कर लेते हैं, उसे आत्म घात कहते हैं (२)

---

१. दृष्ट्वार्द्रचर्मास्थि सुरामांसासृक्पूय पूर्वकम् । —सा० ध० ।४।३१
इदं मांस मिति दृष्टसंकल्पे चाशनं त्यजेत् ।।सा ध।४।३२।।

२. रागद्वेष मोहाविष्टस्य हि विषशस्त्राद्युपकरण प्रयोग वशादात्मानं घ्नतः स्वघातो । भवति न सल्लेखनां प्रतिपन्नस्य रागादयः सन्ति ततो नात्मवधदोषः ।।७ -२२ । सर्वार्थसिद्धि

ऐसी स्थिति में समाधिमरण और आत्मघात में उतना ही अन्तर है, जितना कि जैन रत्नत्रयधारी निस्पृही मुनिराज और पापोदय को प्राप्त महालोलुपी भिखारी में। एक उत्कृष्ट व्रतों का पुञ्ज है तो दूसरा जघन्य अज्ञता का अत्यन्त रूप है। समाधिमरण का महत्त्व हृदयङ्गम न करने के कारण उसका भ्रामक अनुवाद आत्महत्या (Suicide) किया जाता है। पश्चिम के विद्वान समाधिमरण की महत्ता को नहीं जानते हैं। स्वर्गीय बैरिस्टर श्री चंपतराय जी ने विदेश में धर्म-प्रचार का कार्य बंद करके जब भारत की ओर प्रस्थान किया, (क्योंकि विदेश में उनका स्वास्थ्य अनुकूल नहीं रहा था) तब उन्होंने यह कहा था—अब मेरी बीमारी काबू के बाहर हो गयी है। पश्चिम के लोग समता भाव सहित प्राणोत्सर्ग करना नहीं जानते हैं। समाधिमरण की लालसा से मैं तीर्थंकरों की पुण्यभूमि भारत में लौटकर आया हूं। मेरा लक्ष्य परिपूर्ण समाधिमरण करने का है, जीवन लीला समाप्त होने के पूर्व अपनी आत्मा को मोह रहित वीतराग बनाकर आगामी भव सम्बन्धी श्रेष्ठ सम्बल प्राप्त करना है। जिससे मैं जन्म-मरण के चक्कर से मुक्त हो सकूं। तीर्थंकर भगवान का कथन है कि यदि एक बार भी कोई जीव सम्यक् प्रकार समाधि सहित प्राणों का विसर्जन करने की परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया तो अधिक से अधिक आठ भव के भीतर वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

अहिंसा के पक्ष में लगाये गये दोषों का निराकरण देख श्लोकवार्तिक ग्रन्थ में मांस भक्षण के अनुरागी बौद्ध पुनः जैन मुनियों की अहिंसामय वृत्ति पर अपने तर्क द्वारा इस प्रकार प्रहार करते हैं, यदि हम पर मांस भक्षण करने में जीवघात होने का आक्षेप है तो वही आक्षेप क्या जैन मुनियों पर नहीं आता है? जो मयूर पंखों के द्वारा तैयार की गई पिच्छी को प्रयोग में लाते हैं, क्योंकि उन पंखों की प्राप्ति के लिये उन मयूरों की हिंसा अनिवार्य है। यह आक्षेप बालू की दीवाल के समान धक्का लगते ही धराशायी हो जाता है, कारण मयूर पंख पुञ्ज के धारण करने पर रञ्च मात्र भी हिंसा नहीं होती है। मयूर पक्षी समय आने पर अपने पंखों को स्वयं छोड़ देता है, जिस प्रकार शिशिर ऋतु के पश्चात् प्रायः सभी वृक्ष पत्तों को छोड़ कर नवीन कोंपलों को धारण करते हैं। इसी प्रकार मयूर भी पुराने पंखों को छोड़ देते हैं, क्योंकि प्रकृति के द्वारा उन्हें सौन्दर्य पुञ्ज नवीन पंख प्राप्त होते हैं। मयूर पंखों की प्राप्ति के लिये मयूर को किञ्चित् मात्र भी पीड़ा नहीं पहुंचायी जाती। शिकारी लोग पंखों को लाकर बेचते हैं, उन्हें धार्मिक श्रावक उचित मूल्य पर लेकर पिच्छी बनाकर अहिंसा धारी मुनिगणों को समर्पित करते हैं।

कदाचित् कोई पापी जीव मयूरों का घात कर लोभ वश पंखों को लाकर बाजार में बेचें तो उनमें लगे हुये रक्त आदि दूषणों को देख कर उनको लेना तो दूर, उनको छूना भी दयामय साधु अकल्याणकारी मानेगा। इस दृष्टि से मयूर पंख सम्बन्धी आक्षेप जैन दृष्टि को तनिक भी क्षति नहीं पहुंचा सकता। शंकाकार का प्रयास जल के बिलोने से मक्खन के प्राप्ति सरीखा उपहास पूर्ण है। जैन मुनि का जीवन सर्वतोभावेन अहिंसा मय है।

मयूर पिच्छिका रखने का कारण अहिंसा की प्रतिज्ञा का विशेष निर्वाह करना है। उसके द्वारा छोटे-छोटे जीवों का रक्षण होता है। मयूर के पंखों की पिच्छी में पांच प्रकार की विशेषतायें

हैं। वह धूलि को नहीं ग्रहण करती है। दूसरी बात यह पसीना आदि से मलिन नहीं होती। तीसरी विशेषता है मखमलके समान कोमलता, (उसको आंखों के भीतर डालने पर भी कष्ट नहीं होता, इससे उसकी मृदुता का बोध होता है) चौथा गुण सुकुमारता का है, वह व्याघ्र चर्म आदि के समान बीभत्स रूप नहीं होती और पांचवी बात यह है कि वह बिल्कुल हल्की रहती है। इसलिये वह साधु को अहिंसा की साधना में बहुत लाभदायक होती है।(१)

मंत्र लक्षण शास्त्र में भी पिच्छिका के गुण इस प्रकार बतलाए हैं —

छत्र, चँवर और मंत्रादि की सिद्धि के लिये इसका व्यवहार होता है एवं पिच्छी की पूर्ण उपयोगिता जीव रक्षण के लिये ही है।(२)

इस विषय में मूलाचार में लिखा है एकेन्द्रियादि जीव सूक्ष्म होते है, चर्म चक्षुओं के द्वारा सहज देखने में नहीं आते। इसलिये जीवों के रक्षण हेतु साधु मयूर पिच्छिका का उपयोग करते हैं अतः पिच्छी के अभाव में साधुपना संभव नहीं है। (३)

पिच्छी जीव दया का उपकरण है और कमण्डलु पवित्रता का उपकरण है। इसलिये वे बाह्य होते हुये भी आत्म शुद्धि के साधन हैं। राग, मोह अथवा आत्मिक दुर्बलता को वे नही जगाते हैं। मुनियों के पास ज्ञान के साधन के रूप में शास्त्र भी रहते है, जिनके अध्ययन से आत्मा में दूषित विचार उत्पन्न नहीं होते हैं एवं भेदविज्ञान की वृद्धि प्रतिक्षण होती रहती है। मुनिराज एकत्व भावना को धारण करते हुये पिच्छी कमण्डलु आदि में अनुराग नहीं करते हैं किन्तु जो मुनि उन ज्ञान, संयम तथा शुचिता के साधनों में केवल सुन्दरता से आसक्त होते हैं, वे आत्म कल्याण से वंचित रहते हैं।

गुणभद्र स्वामी की यह उक्ति बड़ी सुन्दर है– हे आत्मन्! मनोज्ञ स्त्री आदि के विषय में मोह त्याग करता हुआ तू संयम के साधन कमण्डलु आदि में क्यों आसक्त होता है? क्या कोई बुद्धिमान रोग के भय से भोजन का त्याग कर केवल इतनी औषधि खायेगा कि उसे अजीर्ण रोग हो जाए। (४)

इसलिये संयम के साधनों द्वारा अहिंसा भाव का संरक्षण होनेसे उनका धारण करना आवश्यक कहा है। इस अहिंसा धर्म के द्वारा मुनि का जीवन पवित्र होता है और हृदय में आनंद की धारा प्रवाहित होती है। यह अहिंसा सम्पूर्ण सद्‌गुणों की जननी है, समस्त मूलगुणों में प्रधान है। मुनिराज स्वभावतः ही पूर्ण अहिंसा महाव्रत से सुशोभित रहते हैं। जो भी निकट भव्यात्मा अपना जीवन अहिंसा महाव्रत मय बनाएगा वह अविलम्ब शाश्वत सुखानुभूति में निमग्न हो जायेगा।

---

१. रजसेदाणमगहणं मद्दव सुकुमालदा लहुत्तं च।
   जत्थेदे पंचगुणा तं पडिलिहणं पसंसंति ॥ मूलाचार ॥१९॥

२. छत्रार्थं चमरार्थं च रक्षार्थं सर्वं देहिनां।
   मंत्र मंत्र प्रसिद्ध्यर्थं पञ्चैते पिच्छि लक्षणं ॥ मं० ल० शा०

३. पडिलेखणमंतरेण न साधुः ॥ मूलाचार ॥

४. रम्येषु वस्तु वनितादिषु वीतमोहो। मुह्येद् वृथा किमिति संयमसाधनेषु ॥
   धीमान् किमामयभयात्परिहृत्य भुक्तिं। पीत्वौषधिं व्रजति जातुचिदप्यजीर्णम् ॥ आत्मानुशासन २२८॥
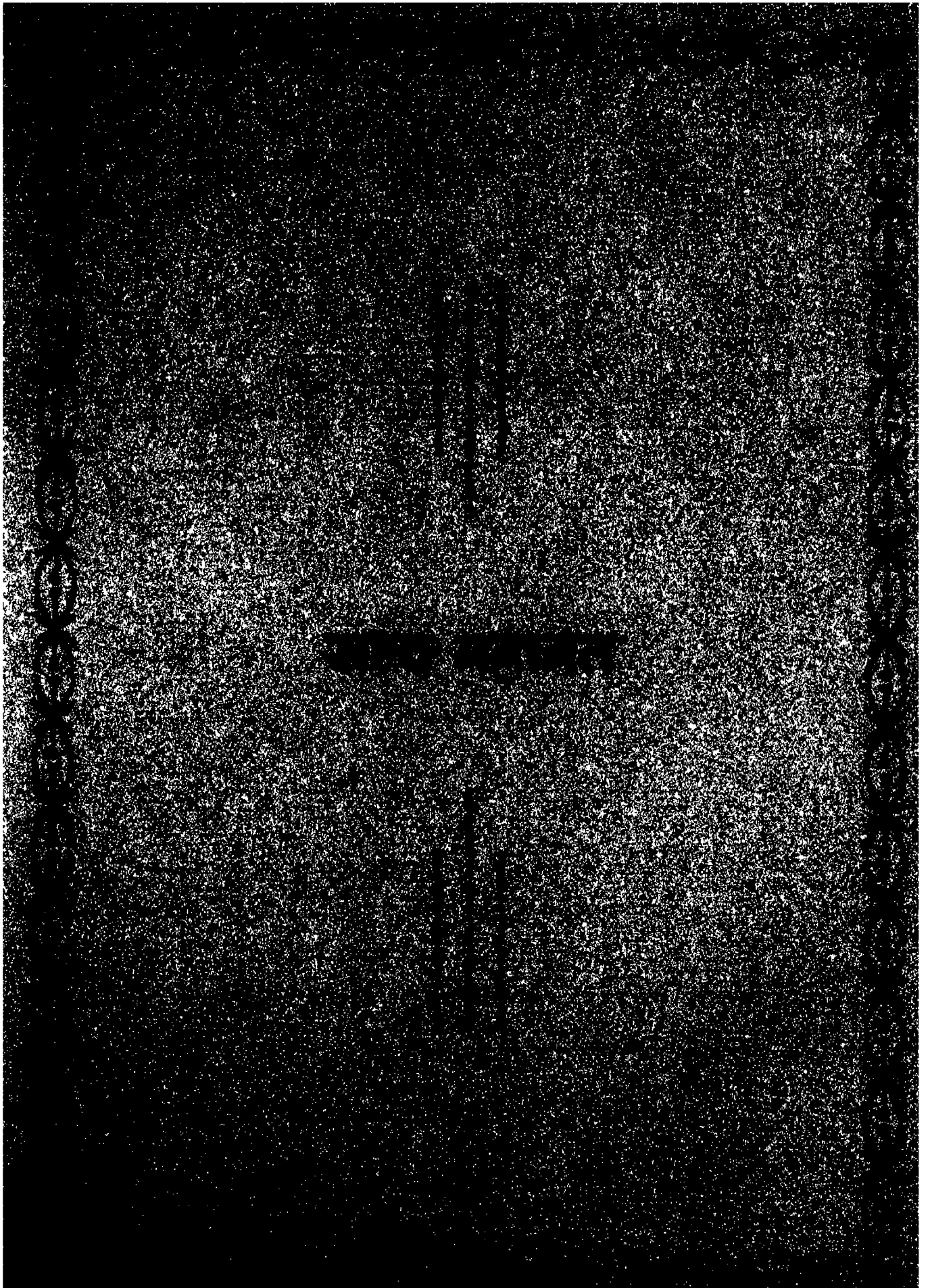
प्रेम का विघात करने वाले, भय जनक, खेदप्रद, वैर, शोक, तथा कलह के उत्पादक आदि स्व-पर संतापकारी वचन सत्य होने पर भी अप्रिय वचन कहलाते हैं। इनमें प्रमत्त योग पाया जाता है। अत: यह असत्य वचन कहे जाते हैं इनके साथ निश्चय से हिंसा का संबंध होता है।

शाब्दिक दृष्टि से जो बात जैसी है उसे उसी प्रकार से कहना सत्य है किन्तु यदि वह अहिंसा के विरुद्ध है तो तात्त्विक दृष्टि से असत्य मानी जायेगी। उदाहरणार्थ—एक शिकारी हिरण को मारने की भावना से जंगल में खोजता फिर रहा है। कोई सत्य वादी उसे बता दे तो इससे शाब्दिक सत्य का रक्षण प्रतीत होते हुये भी अहिंसा का पोषण नहीं होता क्योंकि कथन सावद्य है। आत्म परिणामों का घात तथा प्राणियों का संहार होने से उस सत्य की असत्य के समान स्थिति होगी। अतएव वह सत्य ही सच्चा और कल्याणकारी होगा, जो अहिंसा की नींव पर टिका हो।

स्वभाव ही सत्य है—तत्व दृष्टि से देखा जाय तो स्वभाव को सत्य और विभाव या विकृति को असत्य कहा जा सकता है। अहिंसा और आत्मविजय के पथ में विभाव की विभीषिका से बचकर स्वभाव की अविनश्वर एवं अपराजेय अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है। स्वभाव रूप सत्य स्थिति की उपलब्धि के लिये रत्नत्रय का मार्ग अपनाना होगा। दिगम्बरत्व के द्वारा सत्य स्वरूप की अभिव्यंजना होती है। जिस प्रकार मेघादि के आवरण आने पर सूर्य का दर्शन नहीं होता है, उसी प्रकार वस्त्रादि परिग्रह का आवरण रहने से शुद्ध आत्मतत्व की उपलब्धि नहीं हो पाती है। श्रेष्ठ सत्य की साधना के लिये दिगम्बरत्व तथा वीतरागता को हृदयंगम करना अनिवार्य है। शीतादि की बाधा न सह सकने के कारण असमर्थ व्यक्ति वस्त्र धारणकरते हैं। जो आत्मा विकार-विजेता है, दुर्बल तथा दूषित भावों से दूर है, वे निरावरण सत्य रूप दिगम्बर मुद्रा को धारण करते हैं। पूर्णतया दिगम्बर हुये बिना जीवन में सत्य की प्रतिष्ठा कैसे होसकती है? सत्य का एकनिष्ठ उपासक निरावरण सत्य रूप दिगम्बर मुद्रा को धारण करता है। विविध वेषभूषा से अपने असली स्वरूप को ढकना असत्य की पूजा कही जायेगी। जो आत्मा तत्वज्ञान के अमृत सिन्धु में निमग्न हैं तथा सत्य का साक्षात्कार कर रहेहैं, वे तो वाणी का आश्रय छोड़कर मौन द्वारा सत्य की उपलब्धि करते हैं। इसका कारण यह हैं कि दृश्यमान जगत चक्षु इन्द्रिय के गोचर होता है और वह रूप को ग्रहण करती है। रूप पुद्गल का गुण है, जीव का नहीं। जीव का स्वरूप ज्ञान है, वह चक्षु इन्द्रिय गोचर नहीं। अतएव जो रूपी पदार्थ नयन गोचर होता है, वह ज्ञान शून्य पुद्गल है। ज्ञानमय आत्मा दृष्टि गोचर नहीं होता। ऐसी स्थिति में नयन गोचर ज्ञान शून्य वस्तु के साथ वार्तालाप करना तत्वज्ञानी को अयोग्य दिखता है।

कहा है—सत्पुरुष विनय रहित मिथ्या भाषी, धर्म-विरोधी वचन पूछें जाने पर अथवा बिना पूछें भी नहीं बोलते हैं।(१)

---

१. भासं विणय विहूणं धम्म विरोहि विवज्जए वयणं।
पुच्छिदमपुच्छिदं वा ण वि ते भासंति सप्पुरिसा॥

ऐसी परिस्थिति में मुनिराज योग्य अथवा अयोग्य वस्तुओं को नेत्रों के समक्ष आने पर देखते हुये भी अंध सदृश रहते हैं तथा कर्णेन्द्रिय के द्वारा योग्य अथवा अयोग्य बातों को श्रवण करते हुये भी मूक सदृश रहते हैं, मानो उनके नेत्र, कर्ण तथा जिह्वा का अभाव हो । मुनिराज कभी भी लौकिक विकथा नहीं करते ।(१)

उनका जीवन पूर्णतया धर्म से संबंधित हो गया है । लौकिक विकथाओं को पढ़ने से धर्म का रक्षण संभव नहीं और संक्लेश द्वारा आर्त ध्यान, रौद्र ध्यान की वृद्धि होती है, अतः प्रयत्न पूर्वक लौकिक विकथाओं के चक्कर से वे स्वयं को पूर्णतया बचाते हैं ।

मुनिराज किस प्रकार की कथा करते हैं, इस संबंध में आचार्य कहते हैं —मुनिराज ऐसी कथा करते हैं जिनमें जिनेन्द्र भगवान के द्वारा भाषित तत्त्वार्थ है अर्थात् जो रत्नत्रय धर्म का प्रतिपादन करती है, तथा कल्याणकारिणी एवं हितकारिणी है, जो धर्म से संयुक्त है, आगम तथा विनय से सहित है तथा जो परलोक में जीव को सुख पहुंचाने वाली है । यह सत्य व्रत जितना लोक पूजित और कल्याणकारी है, उतना ही कठिन भी है । यदि साधक में अपनी प्रतिज्ञा कोप्राणप्रण से निर्वाह करने की दृढ़ भावना नहीं होती है तो इस पवित्र व्रत से डिगना सरल बात हो जाती है । जैसे बाजार में पीतल और स्वर्ण दोनो ही बिकने आते हैं । पीतल को तो कोई न काटता है, न गरम करता है, न कसोटी पर कसता है किन्तु स्वर्ण की प्रामाणिकता की परीक्षा किये विना उसका आदान प्रदान नहीं होता है ।

इसी प्रकार सत्यमहाव्रत स्वीकार करते ही मानों प्रकृति प्रलोभनों तथा संकटों को परीक्षार्थ लाकर उपस्थित करती है । प्रायः उन विपरीत परिस्थितियों के समक्ष बड़े-बड़े लोग भी विचलित हो जाया करते हैं, और न्याय मार्ग को छोड़ कर मोह पथ में प्रवृत्ति करते है । किन्तु सत्य-महाव्रती अपने प्राणों की भी चिन्ता न कर अपनी प्रतिज्ञा का सम्यक् परिपालन करते हैं । विपत्ति के समय भी वे वीतराग आत्म शक्ति का अवलम्बन ले उस संकट के समय को सहर्ष बिताते हैं । सत्य के प्रताप से विपत्ति की घटा दूर होती है और अंत में ,,सत्यमेव जयते,, का जयघोष होता है । ,,सांच को आंच का क्या भय,, यह कहावत भी प्रख्यात ही है ।

अकलंक स्वामी लिखते हैं—'सत्यवाचि प्रतिष्ठिताः सर्वा गुणसम्पदः' सत्य वाणी में सम्पूर्णगुण रूपी सम्पत्ति प्रतिष्ठित है । किसी व्यक्ति के पास धन न हो, विद्या न हो, लोक में सम्मान पाने की सामग्री न हो, किन्तु यदि उसके पास सत्य की निधि है, तो शत्रु तक उसकी प्रतिष्ठा करते हैं ।

वास्तविकता यह है कि सर्व व्रतों में प्राण-संचार सत्य के द्वारा होता है । इस सत्य के अभाव में बड़े-बड़े व्रत भी प्राण शून्य रहते हैं ।

---

१. अच्छीहिं य पेच्छंता कण्णेहिं य बहुविहाइ सुणमाणा ।
अत्थंति मूय भूया ण ते करंति हु लोइय कहाओ ॥

इस सत्य को जीवन में आत्मसात् करने के लिये स्याद्वाद सिद्धान्त की उपयोगिता का विशेष महत्त्व है। एकान्तवाद के धरातल पर सत्य का पौधा नहीं पनपता है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कहते हैं—अन्य दर्शनों का प्रतिपादन सर्वथा (एकान्त) कथन करने से असत्य होता है। जिनेन्द्र वाणी कथंचित् सापेक्ष होने से, अपेक्षा से कहने के कारण ही सत्य होती है।[1]

सत्य के प्रकार —वस्तु का स्वरूप अनन्त धर्मात्मक है उसका एकान्त रूप से प्रतिपादन करने से सत्य धर्म का लोप होता है अतः सत्य की सम्यक् प्रतिष्ठा स्याद्वाद शासन के सापेक्ष कथन करने में है। इस सत्य के धवला में दस भेद किये गये हैं[2]। उनके उदाहरण इस प्रकार निरूपित किये गये हैं —

१ सचेतन और अचेतन द्रव्य के गुण आदि से निरपेक्ष ही व्यवहार के लिये जो संज्ञा की जाती है, उसे नाम सत्य कहते हैं। जैसे—ऐश्वर्यादि गुणों के न होने पर भी किसी का नाम 'इन्द्र' रखना नाम सत्य है।

२ पदार्थ के नहीं होने पर भी रूप की मुख्यता से जो वचन कहे जाते हैं, उसे रूप सत्य कहते हैं। जैसे चित्र लिखित पुरुष इत्यादि में चैतन्य और उपयोगादिक रूप अर्थ के नहीं रहने पर भी पुरुष इत्यादि कहना रूप सत्य है।

३ मूल पदार्थ के नहीं रहने पर भी कार्य के लिये जो शतरंज क्रीड़ादि में हाथी-घोड़ा आदि की स्थापना की जाती है उसे स्थापना सत्य कहते हैं।

४ सादि और अनादि भावों की अपेक्षा जो वचन बोले जाते हैं, उसे प्रतीत्य सत्य कहते हैं।

५ लोक में जो वचन संवृत्ति अर्थात् कल्पना के आश्रित बोले जाते हैं, उन्हें संवृत्ति सत्य कहते हैं। जैसे-पृथ्वी आदि अनेक कारणों के रहने पर भी जो पंक अर्थात् कीचड़ में उत्पन्न होता है उसे पंकज कहते हैं इत्यादि।

६ पद्म, मकर, हंस, सर्वतोभद्र और क्रौंच आदि रूप व्यूह रचना आदि में सचेतन अथवा अचेतन द्रव्यों के विभागानुसार विधिपूर्वक रचना विशेष के प्रकाशक जो वचन हैं, उन्हें संयोजना सत्य कहते हैं।

७ आर्य और अनार्य के भेद से बत्तीस देशों में धर्म, अर्थ और काम के प्राप्त कराने वाले वचन को जनपद सत्य कहते हैं।

८ ग्राम, नगर, राजा, गण, पाखण्ड, जाति और कुल आदि के धर्मों का उपदेश करने वाले जो वचन हैं, उन्हें देश सत्य कहते हैं।

---

१. परसमयाणं वयणं , मिच्छं खलु होइ सव्वहा वयणा ।
जेणाणं पुण वयणं , सम्मं खु कहंचि वयणादो ॥ गो० कर्म० ८९५

२. दशविधः सत्य सद्भावः नाम रूप स्थापना प्रतीत्य
संवृति-संयोजना जनपद देशभाव समय सत्य भेदेन । धवला टीका ॥

आज्ञा है । सर्वप्रथम साधु का कर्त्तव्य है कि आत्म स्वरूप को वाणी के अगोचर चिन्तवन करते हुये मौन धारण करें, किन्तु सदा ऐसा करने में असमर्थ होने पर सुनृत सत्य, हितकारी तथा प्रिय वाणी बोलें । मुनिराज स्वयं सत्य स्वरूप होते हैं, अतः वे सहज स्वभाव से ही सत्य महाव्रत के परिपालक होते हैं ।
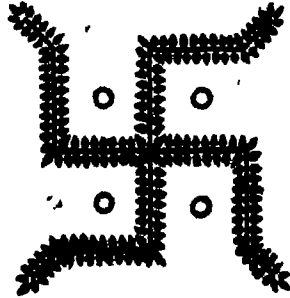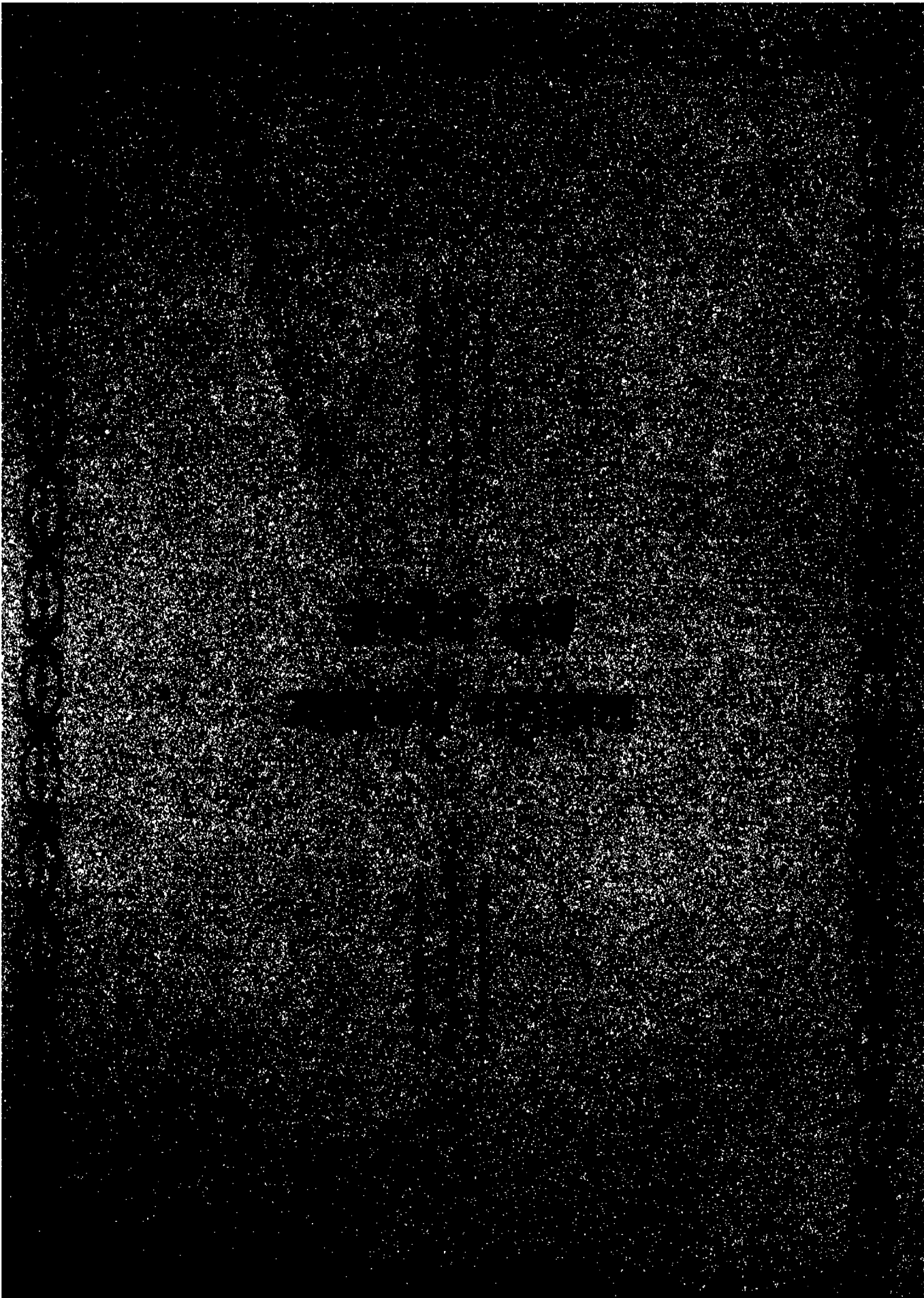
अचौर्य महाव्रत

यतीश्वरों के मन में पर वस्तु को स्वप्न में भी ग्रहण करने की भावना नहीं होती । वे तो निज शुद्ध आत्म स्वरूप के अतिरिक्त तिल तुषमात्र भी पर वस्तुओं को स्वयं की नहीं मानते । जीवन में पर वस्तु के ग्रहण का सर्वथा अभाव होने से मुनिराज अचौर्य महाव्रत के परिपूर्ण परिपालक होते हैं । मूलाचार ग्रन्थ में भी इस प्रकार विवेचना है– गांव, शहर, बगीचा, मार्ग, पर्वत, वन इत्यादि स्थान में पड़े हुये, भूले हुये और रखे हुये किसी भी पदार्थ को ग्रहण नहीं करते और दूसरों ने जिनका संग्रह किया है, ऐसे क्षेत्र, घर, धन, धान्य,पुस्तक, उपकरण, छात्र, शिष्य, आदि को भी स्वीकार नहीं करते, क्योंकि यह सभी पर द्रव्य हैं ।जो पदार्थ दिया नहीं गया है तथा जिस पदार्थ को लेने के लिये आज्ञा नहीं है ऐसे पदार्थों को ग्रहण करने की मन में अभिलाषा नहीं करना यही अचौर्य महाव्रत है ।१

मुनिराज अन्य पर वस्तुओं की तो बात ही क्या, भोजन भी गृहस्थ के यहां अपने हाथ से उठाकर ग्रहण नहीं करते । उठाने की बात तो दूर, भोज्य पदार्थों के लिये संकेत भी नहीं करते । उनका अडिग विश्वास है कि पर वस्तु मेरी नहीं है, न हो सकेगी, न थी । अतः पर वस्तु को ग्रहण करने की भावना के उद्भव होने का प्रश्न ही नहीं है । वे जल और मिट्टी भी बिना दिये किसी के कुएं या खेत से ग्रहण नहीं करते । धन्य हैं ऐसे महा मुनीश्वर ।

परिभाषा—तत्त्वार्थसूत्रकार ने कहा है– „प्रमत्त योग पूर्वक अदत्त वस्तु का ग्रहण करना चोरी है„ ।२

इसमें मुख्य शब्द अदत्त वस्तु का ग्रहण करना है ।

आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—बिना दिये गये धन - धान्यादि रूप परिग्रह को कषाय भाव पूर्वक ग्रहण करना चोरी है, वही बंध का हेतु होने से हिंसा भी है । इसमें आत्मा की पवित्र मनोवृत्ति का नाश होता है ।३

---

१. गामादिसु पडिदाइं अप्पप्पहुदि परेण संगहिदं । णादाणं परदव्वं अदत्त परिवज्जणं तं तु ॥ मूला चार । ७ ।

२. अदत्तादानं स्तेयम् ॥ त० सू० ७।१५ ॥

३. अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्त योगाद्यत् । तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात् ॥पु० सि० ॥ (१०२)

अचौर्य व्रत में अदत्त वस्तु का त्याग है और अपरिग्रह व्रत में परिग्रह मात्र का त्याग है, चाहे वह दत्त हो अथवा अदत्त । अतएव अपरिग्रह में अचौर्य गर्भित होता है ।

तात्त्विक दृष्टि से यह कथन निर्दोष है कि अपरिग्रह में अचौर्य का समावेश किया जाता है । अचौर्य व्रत में गृहस्थ को न्याय पूर्वक प्राप्त सम्पत्ति को रखने का अधिकार है किन्तु अपरिग्रह महाव्रत में कोई भी सम्पत्ति नहीं रखी जा सकती है । चोरी के मूल में न्यायपूर्ण तृष्णा या लोभ का अभाव नहीं है । अचौर्य व्याप्य है और अपरिग्रह व्यापक है, इसलिये अपरिग्रह में अचौर्य उसी तरह समाविष्ट होता है जिस तरह सहस्र में शत् का अन्तर्भाव होता है ।

चोरी में हिंसादि दोष :—अनगार धर्मामृत में कहा है कि अन्य दोषों से युक्त पुत्र को माता-पिता अपना आश्रय देते हैं किन्तु चोरी की कालिमा से श्याम मुख वाले सुत को अपने समीप नहीं रहने देते।१ इस चोरी के कारण मनुष्य में विद्यमान सद्गुण दूर हो जाते हैं और वह अनेक पाप प्रवृत्तियों का केन्द्र बन जाता है।

कर्मों का ग्रहण चोरी है :—महान तार्किक श्री अकलंक देव ने एक सुन्दर प्रश्न उपस्थित कर उसका समाधान किया है । प्रश्न यह है कि जब अदत्त का ग्रहण चोरी है, तब दूसरों के द्वारा नहीं दिये गये ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों का ग्रहण क्यों न चोरी कहा जायेगा ? आचार्य कहते हैं कि यह शंका ठीक नहीं है । जिस मणि- मुक्ता का स्वर्ण आदि के विषय में लेना देना रूप प्रवृत्ति-निवृत्ति संभव है, उनके विषय में स्तेय की भावना बनती है अत: कर्म के विषय में चोरी का प्रसंग नहीं आता है, कारण उनका लेना देना संभव नहीं है ।

पुन: शंकाकार कहता है—वंदना आदि के निमित्त से धर्म का ग्रहण होता है इसलिये वह "प्रशस्त स्तेयंप्राप्नोति" प्रशस्त चोरी कही जायेगी ।

यह शंका भी ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रश्न का उत्तर दिया जा चुका है कि जहां आदान-प्रदान संभव है, वहां ही चोरी कही जा सकती है ।२

दिगम्बर मुनियों की चर्या में दोष नहीं है :— शंकाकार कहता है कि साधु सड़क, गली आदि पर आते हैं-जाते हैं, इसलिये उन पर अदत्त के आदान रूप चोरी का दोष नहीं आवेगा—क्या ?

आचार्य कहते हैं—साधु पर दोष न लगने का कारण यह है कि सड़क आदि सामान्य रूप से सभी के गमनागमन के लिये हैं । यदि अवरुद्ध स्थान विशेष में द्वार आदि [illegible]

१. दोषान्तर जुषं जातु माता पित्रादयो नरम् ।
संग्रहन्ति न तु स्तेयमषी कृष्ण मुखंक्वचित् ॥ अ० ध० ।४।५०

२. यद्यविशेषेण अदत्तस्यादानं स्तेय मुच्यते कर्माष्ट विधं अन्येनाऽदत्तमाददानस्य स्तेयं प्राप्नोतीति ? नैष दोष:, येषु मणिमुक्ता हिरण्यादिषु दानादानयो: प्रवृत्तिनिवृत्ति सम्भव: तेष्वेव स्तेयस्योपपत्ते:, तेन कर्मणि नास्ति प्रसंग: । वन्दनादि निमित्त धर्मादानात् स्तेय प्रसंग इति चेन्न उक्तत्वात् ।
उक्तमेतत् दानादान संभवो यत्र तत्र स्तेय प्रसंग इति । त० रा० वा० ७।१५

होगा तो उसको खोलकर साधु प्रवेश नहीं करेगा । इस प्रसंग में यह बात विशेष ध्यान देने की है कि अदत्त का प्रयत्न पूर्वक आदान करना स्तेय है । जहां प्रमाद का अभाव होगा, वहां चोरी का दोष नहीं लगेगा । मुनियों को संयम, ज्ञान आदि के उपकरणों के दिये जाने पर ही अचौर्य महाव्रती उन्हें ग्रहण करते हैं । अनगार धर्मामृत में लिखा है कि इंद्रादिक अर्थात् देवेन्द्र, नरेन्द्र, वसतिका के स्वामी क्षेत्राधिष्ठित देवता तथा साधर्मियों द्वारा श्रामण्य के साधन अर्थात् अध्ययन, कायशुद्धि व संयमादि के कारण, वसतिका, राख, मृत्तिकादि, पिच्छी, व्रती का आसन, शास्त्र कमण्डलु आदि विधि पूर्वक दिये जाने पर मुनियों को लेना चाहिये ।१

जो पदार्थ धर्म के साधन रूप हैं, ऐसे उपकरण नरेन्द्रादिक के द्वारा दिये जाने पर मुनिराज आगमानुसार प्रवृत्ति करें ।२

पञ्च भावनायें—इस व्रत में स्थिरता के लिये निम्नलिखित भावनायें प्रतिपादित की गई हैं ।

शून्यागार अर्थात् गुफा, वृक्ष की खोह आदि में निवास करना । विमोचितावास अर्थात् दूसरों के द्वारा छोड़े हुये स्थान में निवास करना । परोपरोधाकरण अर्थात् अपने स्थान पर आने वाले अन्य प्राणियों को नहीं रोकना, अन्यथा स्थान पर ममत्व होने से चोरी का दोष लगेगा । भैक्ष्यशुद्धि अर्थात् आचार शास्त्रानुसार निर्दोष आहार ग्रहण करना । सधर्माविसंवाद अर्थात् सधर्मियों के साथ यह मेरा है, यह तेरा है इस प्रकार ममत्व-मूलक विवाद नहीं करना । (३) इन पांच भावनाओं से अस्तेय व्रत में दोष नहीं आता है और इनके प्रसाद से यह जीव रत्नत्रय रूप निधि को प्राप्त करता है । जो जीव स्वयं चोरी करता है, वह अन्य व्यक्ति को यह कैसे कह सकता है कि तुम चोरी न करो । जो न्याय चाहता है, उसको स्वयं न्याय पूर्ण प्रवृत्ति करनी उचित है । मलिन हाथ वाला दूसरे से स्वच्छता की आशा न करें । इस दृष्टि से जब यह जीव चाहता है कि कर्म चोरों द्वारा इसकी रत्नत्रय निधि लूटी न जाये तो यह आवश्यक है कि यह दूसरों की वस्तुओं को चुराने के कलंक से पूर्णतया मुक्त हो । ऐसी महत्व पूर्ण स्थिति अस्तेय महाव्रत द्वारा उत्पन्न होती है । दिगम्बर मुद्रा में इसका निर्दोष रीति से पालन होता है ।

१. वसति विकृतिबर्हीसी पुस्तक कुण्डी पुरस्सरं श्रमणैः ।
श्रामण्य साधनमकारतु विधिना ग्राह्यमिन्द्राद्यैः ।।अ०ध० ।४ ।५४

२. [illegible] ।
[illegible] ।।अ०ध० ।४।५५।

३—. शून्यागार विमोचितावास परोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्मा-
विसंवादाः पञ्च ।त०सू०७।६

ब्रह्मचर्य महाव्रत

आत्मोन्मुखी मुनिराजों की चर्या ही ब्रह्मचर्य है। संसार, शरीर, भोगों से विरक्त दिगम्बर मुनिराजों के मन से इन्द्रिय जन्य वासना मूलतः विनष्ट हो चुकी है। अखिल विश्व की नारी समाज को देखकर लेश मात्र भी राग नहीं होने से एवं अलौकिक वस्तु स्वरूप का चिन्तन करते हुये स्व स्वरूप में ही निरन्तर रमण करने के कारण सहज रूप में ब्रह्मचर्य महाव्रत से वे अलंकृत रहते हैं। मूलाचार ग्रन्थ में निम्न प्रकार लिखा है– वृद्धा, बालिका और तरुण स्त्रियों को माता, पुत्री और बहिन के समान समझना, यह त्रैलोक्य पूज्य ब्रह्मचर्य है।१। स्त्रियों के फोटो, भित्ति पर बने हुये स्त्रियों के आकार, चित्र, मिट्टी, पाषाण इत्यादिक से बनी हुई स्त्री-मूर्ति अर्थात् मनुष्य, देवांगना और तिर्यञ्चनी इनके प्रतिबिम्ब देखकर उनके ऊपर अनुरक्त नहीं होना यह ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का संरक्षण करने के लिये स्त्री-कथा का त्याग करना चाहिये तथा उनमें माता, सुता और बहिन का संकल्प रखना चाहिये। स्त्रियों के सरस भाषण, मृदु स्पर्श, नृत्यगीत, प्रेम से तिरछा देखना इत्यादिकों में अभिलाषा नहीं रखना, यह त्रैलोक्य पूज्य ब्रह्मचर्य महाव्रत है। इस व्रत के नौ, इक्यासी और एक सौ बासठ भेद होते हैं।

ब्रह्मचर्य महाव्रत की महिमा अकथनातीत है। जो भी एक बार आत्म स्वरूप में रमण कर लेता है, वह कृतकृत्य हो जाता है। मोक्ष-लक्ष्मी आकर उसके गले में परमानन्दरूपी वरमाला पहना देती है जिससे वे सभी कर्मों से मुक्त हो कृतकृत्य अर्थात् निज शुद्धात्म स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं।

परिभाषा—ब्रह्म शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ है—"ब्रह्मणि आत्मनि चरणमिति ब्रह्मचर्य,, ब्रह्म में अर्थात् आत्मा में लीन होना ब्रह्मचर्य है।

अहिंसादि गुण जिसके पालन करने पर बढ़ते हैं, वह ब्रह्म कहलाता है।२। अथवा परम ब्रह्म नामक निज शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न सुखामृत से तृप्त होने के कारण उर्वशी, तिलोत्तमा, रंभा आदि देवकन्याओं द्वारा भी जिसका ब्रह्मचर्य खण्डित न हो सके, वह परम ब्रह्म कहलाता है।३ जीव ब्रह्म है, जीव ही में जो मुनि की चर्या होती है उसको देह की सेवा रहित ब्रह्मचर्य समझना चाहिये।४

१—. मादुसुदाभगिणीव य दट्ठूणित्थित्तियं च पडिरूवं। इत्थिकहादिणियत्ती तिलोयपुज्जं हवे बंभं ॥मूला ८॥

२—. अहिंसादयो गुणा यस्मिन् परिपाल्यमाने बृंहन्ति वृद्धिमुपयान्ति तद् ब्रह्म। भ०आ०वि०।

३—. परम ब्रह्मसंज्ञनिज शुद्धात्म भावनासमुत्पन्न सुखामृत तृप्तस्य सत् उर्वशी [illegible] ब्रह्मचर्यव्रतं न खण्डितं स परम ब्रह्म भण्यते। द्र०सं०टी०१४।

४—. जीवो बंभा जीवम्मि चेव चरिया हविज्ज जा जदिणो [illegible]

रावण ने सीता के रूप पर मुग्ध होकर उसका हरण किया था, उससे आज तक संसार में रावण की कितनी अपकीर्ति हुई तथा हो रही है, इसके सिवाय वह जीव नरक में भी दुःख उठा रहा है। रावण कितना प्रतापी, बुद्धिमान्, विद्यावान्, गुणवान् था किन्तु पर स्त्री आसक्ति के कारण उसके गुण इस प्रकार नष्ट हो गये जैसे अग्नि की लौ में गिरते हुये पतंगे (पतंगा) के प्राण नष्ट हो जाते हैं।

पौराणिक कथन है कि महाराज सत्यंधर अपनी महारानी विजया में अधिक आसक्त हो गये थे। इस विषयासक्ति के कारण उन्होंने काष्ठांगार को मंत्री बना, उसे राज्य का भार सौंपकर स्वयं विजया के दास बन गये। स्वार्थसिद्धि का अवसर देख काष्ठांगार ने राजा का वध कर दिया और स्वयं राज्य का अधिकारी बन बैठा। स्त्री सम्बन्धी राग द्वारा उत्पन्न होने वाले अनर्थ का वर्णन करते हुये वादीभसिंहसूरि लिखते हैं—स्त्री के राग वश जीव बड़े-बड़े राज्य का त्याग करते हैं, प्राणों तक को छोड़ते हैं, रागी पुरुष ऐसी कौन सी चीज है जिसका त्याग नहीं करते हैं।१ और भी कहा है—

विलास—स्त्री सम्पर्क के द्वारा प्राप्त सुख के विषय में यदि यह विचार किया जाय कि वह क्या है? कैसा है? कितना है? कहां है? तो ज्ञात होगा, कि वह अविचारित रम्य लगता है। यथार्थ में वह दुःसह है, कठिनता से सहन करने योग्य है।२

पाहुड दोहा में लिखा है—हे जीव! इन्द्रियों के सम्बन्ध में ढीला मत बन, दो से दोष का निवारण कर। एक तो जीभ को वश में कर और दूसरे स्पर्शन को वश करते हुये पर स्त्री का त्याग कर।३

नारी—स्त्रियों के देखने मात्र से, सहवास से, हास्य विनोद से अच्छे-अच्छे महापुरुष भी विचलित हो जाते हैं।

गृहस्थ होते हुये भी अपने शीलमय उज्ज्वल जीवन द्वारा सम्पूर्ण विश्व को चकित करने वाले श्रावक शिरोमणि श्रेष्ठि सुदर्शन का प्रसङ्ग भी महत्त्वपूर्ण है। रानी के द्वारा अनेक काम कुचेष्टा करने के उपरान्त भी श्रेष्ठि सुदर्शन अपने व्रत में दृढ़ रहे और आरोपों की सजा में शूली भी सिंहासन बन गया।

इस प्रकार कुटिल प्रवृत्ति वाली स्त्रियों के जाल से बचकर शीलरत्न की रक्षा करने वाला मानव पुरुषोत्तम बनता है।

जितेन्द्रिय—कितना अद्भुत, कितना पवित्र और कितना प्रबोधप्रद चारित्र इन मुनीन्द्रों का है, जो श्रेष्ठ वैराग्य के शिखर पर आरूढ़ हो मुक्ति वधू के स्वामी हुए गये। [illegible] और

१— अविलसिताः पूरोऽर्धराज्यं प्राणानप्युज्झति। तद्भिक्षता हि किं मुञ्चति, मुञ्चति रागिणः। क्ष० चू० [illegible]
२. किं कीदृशं कियत्क्वेति विचारे सति दुःसहम्।
अविचारितरम्यं हि रागान्धानां सर्वं सुखायितसुखम्। क्ष० चू० १। १। ७३।
३. [illegible]

शरीर मलजन्य है, मल का कारक है, अशुभ से युक्त रहता है, यह अत्यन्त दुर्गन्ध बीभत्स है ।१ इस प्रकार विचार कर वह स्त्री-सेवन से विरक्ति धारण करता है । उस ब्रह्मचारी की महिमा में सागार धर्मामृत का कथन बड़ा महत्वपूर्ण है ।

आत्मा को आगम में अचिन्त्य शक्तिशाली कहा है । यह वास्तविक बात है, प्रशंसा वाक्य नहीं है । कारण अपने ब्रह्मस्वरूप में चर्या करने वाला आत्मा ही विश्व विजेता काम को जीतता है ।२ संसार के सभी जीवों को मैथुन संज्ञा ने संत्रस्त कर रखा है । मनुष्य, देव, विद्याधर, तिर्यंच आदि सभी काम वासना के आधीन हैं । जिनेन्द्रवचन में प्रवृत्ति करने वाले मुनिराज उस काम को पूर्णतया जीत लेते हैं । अंगना के प्रेमपाश से पूर्णतया मुक्त रहने वाले वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर ये पांच तीर्थंकर पञ्च बालयति के नाम से विख्यात हैं । उन पांच तीर्थंकरों की पूजा में यह पढ़ा जाता है ।

"श्री वासुपूज्य मल्लि नेमि पारस वीर अति । नमो मन, वच, तनधर प्रेम पांचों बालयति ।।"

जो व्यक्ति पुरुष हो या स्त्री, इस शीलरत्न का संरक्षण करेगा, वह अपने नर जन्म को कृतार्थ करेगा । जैसे एक अंक के होते हुए शून्यों का मूल्य है और एक के अभाव में शून्यों का कुछ भी मूल्य नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत होने पर ही सर्वगुणों में प्रतिष्ठा आती है उसके अभाव में सभी व्रत गुण शून्य हो जाते हैं ।

समीचीन समाधि रूप अग्नि के द्वारा दग्ध किया गया साधु का राग रूपी पारा स्त्री की वाणी रूपी सिद्धौषधि के बल से पुनः जीवित हो जाता है अतः स्त्री के विषय में बहुत सावधानी रखना ज्ञानी का कर्तव्य है ।३

—सामान्य विवेचन

शील की रक्षा के उपाय —कोई किसान श्रम कर अपने खेत को विपुल धान्य से हरा भरा करता है किन्तु यदि उसने खेत की रक्षा न की तो उस बेचारे के किये कराए पर पानी फिर जाता है और अन्त में उसे पश्चात्ताप करना पड़ता है । इस प्रकार इस दुर्धर असिधारा व्रत के रूप से विख्यात ब्रह्मचर्य के रक्षण के निमित्त आगम प्रसिद्ध नव बाड़ों पर ध्यान न दिया, तो प्रमाद के पशु इस शील की सद्य फली फलित खेती को खाकर नष्ट कर देंगे । कहा भी है—

---

१. मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतगन्धि बीभत्सम् ।
पश्यन्नङ्गमनङ्गाद् विरमति यो ब्रह्मचारी सः ।। र० श्रा० । १४३ ।

२. अचिन्त्य शक्तिरात्मेति श्रुतिर्वस्त्वेव न स्तुतिः ।
[illegible] जयतीदं [illegible] ।। सा० ध० ।। ७।१७

३. [illegible] ।
[illegible] पुनः [illegible] सिद्धौषधिवत् ।। [illegible]

अपरिग्रह महाव्रत

स्वामी समन्तभद्र ने श्रावकों के परिमित परिग्रह व्रत का नाम इच्छा परिमाण व्रत भी रखा है। वे लिखते हैं—धन-धान्य आदि दस प्रकार के परिग्रह को मर्यादित करके उससे अधिक वस्तु के संग्रह के विषय में निस्पृह-वृत्ति को धारण करना परिमित परिग्रह व्रत है। इसे इच्छा परिमाण नाम से भी कहते हैं।(१)

परिग्रह का पूर्ण या आंशिक तथा उचित रूप त्याग तब ही होगा जबकि जीव की मूर्च्छा कम होगी। परमार्थ दृष्टि से देखा जाए तो तब तक उसका मूर्च्छित रहना स्पष्टतया सिद्ध होता है जब तक संसार है। मूर्च्छा उस अवस्था को कहते हैं जिसमें अपने-पराये का कोई भी भान नहीं रहता।

जिस समय मनुष्य सुख-दुःख की संवेदना शून्य बनकर काष्ठ की भाँति हो जाता है उसे मोह या मूर्च्छा कहते हैं इसके छह भेद कहे हैं।(२)

शरीर शास्त्रोक्त मूर्च्छा के साथ भी परिग्रह के पर्यायवाची मूर्च्छा भाव का साम्य है। आत्मा मोहनीय कर्म के कारण अपने असली सुख को भूल गया है। आत्म स्वरूप का इतना विस्मरण हो गया है कि इस शरीर को ही आत्मा मानकर शरीर के ह्रास विकास में आत्मा का क्षय तथा उन्नति समझता है। जब आत्म विस्मृति हुई तब शरीर को ही आत्मा सदृश अनुभव किया, पश्चात् पुत्र, भार्या, धन, धान्य, मकान आदि के साथ भ्रम के ताने बाने द्वारा अत्यन्त आत्मीय भाव स्थापित किया। वट का बीज लघु होता है किन्तु वृक्ष के रूप में उसका विकास होने पर आश्चर्य होता है कि लघुतम बीज इतना बड़ा वृक्ष कैसे बन सका। इसी प्रकार ममत्व का लघु बीज शरीर में आत्म-बुद्धि से प्रारम्भ होकर शरीर के उत्पन्न करने में निमित्तों को जनक और जननी मानता है, साथ में उत्पन्न होने वालों को भाई और बहिन समझता है। जनक और जननी के भाई बहिनों तथा उनके माता-पिता आदि को भी अपना बनाता है, फिर अपने द्वारा अन्य को पुत्र-पुत्री और उनकी संतति आदि को भी उसी प्रकार अपने मोह जगत की मंजुल कड़ियां मानता है। इस प्रकार रिश्तेदारी, आत्मीयता आदि का भाव बनता है। शरीर को सुख देने वाले भोज्यपदार्थ विश्राम देने वाले भवन आदिक तथा अन्य आनंददायिनी सामग्री के साथ ममता का सम्बन्ध जोड़ता है तथा विपरीत और अनिष्ट वस्तुओं के साथ अनिष्टता (द्वेष) का सम्बन्ध जोड़ता है। इस तरह शरीर और आत्मा के ऐक्य का पाश बुन कर सम्पूर्ण विश्व के साथ मोह का बंधन पैदा करता है। पंचाध्यायीकार का कथन है कि यह अपने स्वरूप का नाश कर सम्पूर्ण विश्व को मोह वश अपना मानता है। यद्यपि यह विश्व से पूर्णतया पृथक् है, फिर भी इस जीव को अपने आत्म वैभव की बात विस्मृत सी लगती है। "अनंत भवों से यह जीव पर पदार्थों में मूर्च्छित हो रहा है अतः स्व की उपलब्धि का कार्य पीड़ाप्रद प्रतीत होता है"। इसका कारण भी कुन्दकुन्द स्वामी ने बताया है कि" काम भोग विषय

---

१. धन धान्यादि ग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निस्पृहता।
परिमित परिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि ॥ र० श्रा० ६१ ॥

२. सुख-दुःखानवबोधान्नरः पतित काष्ठवत्।
मोहो मूर्च्छेति कथ्यते षड्विधा सा प्रकीर्तिता ॥ जैन रत्नाकर ॥

नग्न होने से कार्यसिद्धि नहीं होती, भाव से नग्न होना चाहिये। इसके अलावा और बाह्य निमग्नत्व के द्वारा कर्म प्रकृतियों के अनुभाग का नाश होता है। परिणामों में अशुद्धता होते हुये भी जो बाह्य परिग्रह का त्याग करता है, तो ऐसे शुद्ध भाव से विहीन मुनि बाह्य परिग्रह का त्याग क्या करेगा ?

बाह्य सामग्री का अभाव तो निर्धन पापी जीवों के भी पाया जाता है किन्तु उनके अन्तरङ्ग मूर्च्छा की प्रचुरता वश पाप का संचय होता है। लंगोटी लगाकर बाबाजी बनने वाले उक्त जीवन की तुलना लंगोटी मात्र औपचारिक परिग्रही ग्यारह प्रतिमाधारी श्रावक से नहीं हो सकती। एक हिंसा का साक्षात् साधक है तो दूसरा अहिंसा संयम का उज्ज्वल आराधक है अतः अन्तरङ्ग मूर्च्छा परिणाम को परिग्रह की संज्ञा दी है।

गृहस्थ वन में जाने पर भी वह गृहस्थ कहलायेगा, कारण उसके अन्तःकरण में घर के प्रति ममता विद्यमान है और मुनि आहार आदि के निमित्त घर में जावे तो भी उनको गृहस्थ नहीं कहेंगे, कारण उनके मूर्च्छा का अभाव है।

जिस मुनि के मूर्च्छा का सद्भाव है, उससे मूर्च्छा रहित गृहस्थ को जिनागम में महान् माना गया है।

महान् तार्किक दिग्गजाचार्य समन्तभद्र स्वामी लिखते हैं—

मोहभाव रहित गृहस्थ मोक्षमार्गी है, किन्तु मोही मुनि मोक्षमार्गी नहीं है। मोही मुनि की अपेक्षा निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है।(१)

वास्तविक परिग्रह तो मूर्च्छा परिणाम है। बाह्य परिग्रह को उपचार से परिग्रह मानते हैं। कारण उसके निमित्त से अन्तरङ्ग में मूर्च्छा का उदय होता है। यदि अन्तरङ्ग में मूर्च्छा भाव है तो यह जीव पूर्णतया परिग्रही है और जब तक यह परिग्रह है तब तक जीव यथार्थ आनंद और शान्ति से वञ्चित रहता है। इस परिग्रह संज्ञा की जागृति के अनेक कारणों का आगम में अनेक आचार्यों द्वारा वर्णन किया गया है।

मूर्च्छा के कारण—प० पू० आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कहते हैं—

परिग्रह के साधनों का दर्शन करने से, उनका चिंतन करने से, परिग्रह के प्रति मूर्च्छा भाव वाले व्यक्तियों के सतत् सामीप्य से तथा तीव्र कषाय की उदीरणा होने से परिग्रह संज्ञा (परिग्रह विषयक अभिलाषा) उत्पन्न होती है।(२)

---

१. गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥र० श्रा० ३३॥

२. उवयरण दंसणेण य तस्सुवजोगेण मुच्छियाए य।
लोहस्सुदीरणाए परिग्गहे जायदे सण्णा ॥ जी० का० १३८ ॥

परिग्रह की इस मंद आराधना से जीव का विवेक भाव नष्ट हो जाता है। यह लाखों करोड़ों की संपत्ति का संचय कर अपने को लखपति, करोड़पति मानता है और बनाता भी है। परमार्थतः देखा जाए तो यह जीव रत्नत्रय का अधिपति है, लक्ष्मपति आदि की पदवी चैतन्य पुञ्ज आत्मा को कैसे उपयुक्त होगी किन्तु यह मूर्छित जीव शरीर को आत्मा मान इतनी बड़ी खतरनाक भूलों पर भूल करता आ रहा है कि पुद् गल के संग्रह को आत्म द्रव्य का संग्रह अनुभव करता है और इस कारण अन्त में "बह्वारंभ परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः" के नियम के अनुसार वह नरकायु को प्राप्त करता है, जहाँ अनुकूल वस्तुओं का सदा ही अभाव रहता है एवं भयंकर दुःखों को सहन करना पड़ता है।

अतः परिग्रह के द्वारा थोड़े समय तक कुछ ही सांसारिक कार्य बनते हैं। सदैव ही अपनी कामनाओं को पूर्ण करूंगा या कर रहा हूँ यह सोचना बहुत बड़ा भ्रम है। लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से परिग्रह का संचय हो जाने के उपरांत भी भोगान्तराय और उपभोगान्तराय के उदय की तीव्रता होने पर उन वस्तुओं को भोगने की सामर्थ्य नहीं रहती है।

अपरिग्रह वृत्ति—जिस लोभ कषाय की प्रेरणा से यह जीव धन दौलत का अंधाधुंध संग्रह करते हुये भी तृप्त नहीं होता, वह अपरिग्रह वृत्ति द्वारा क्षणमात्र में तृप्त हो जाता है। स्वामी समन्तभद्र ने लिखा है कि भगवान अनंतनाथ तीर्थंकर ने सर्व संग परित्याग द्वारा तृष्णा की बाधा को दूर किया था। उन्होंने कहा है—

हे आर्य! आपने महान् श्रम रूप जल से परिपूर्ण तथा भय रूप तरङ्ग राशि संकुल अपनी विषय लालसा रूप नदी को अपरिग्रह रूप ग्रीष्मकालीन सूर्य की तीक्ष्ण किरणों से सुखा दिया अतएव आपका तेज उत्कृष्ट कान्ति युक्त है। तृष्णा रूपी नदी में जो अपरिग्रह रूपी जल है, वह महान् श्रम से पूर्ण है। परिग्रह के होने पर भय की वृद्धि होती है। इससे उसे भय रूपी तरङ्ग मालाओं से परिपूर्ण कहा है। तृष्णा रोग का उपाय अपरिग्रह वृत्ति ही है।(१)

आचार्य पुनः कहते हैं—प्रभो! यह तृष्णा रूपी नदी विलक्षण है यह तत्काल में तथा परिणाम में दुःख की योनि रूप है। इसको पार करना बड़ा कठिन है। किन्तु, सम्यग्ज्ञान रूपी नौका पर (जो अपरिग्रह संयुक्त है) बैठकर आपने इसे पार किया है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि तृष्णा के द्वारा तत्काल ही सच्चा निराकुलता रूप न सुख ही मिलता और न भविष्य में ही शांति की उपलब्धी होती है। उस पार जाने के लिये अपरिग्रह भाव रूप नौका का आश्रय लिए बिना अन्य उपाय नहीं है।

जो अपनी मानसिक दुर्बलता वश तृष्णा की अधीनता को छोड़ने में असमर्थ हैं वे यदि जिनेन्द्र भगवान को समाराधना करें तो उनकी कामना की पूर्ति में बाधा नहीं आ सकती। वीतरागी की आराधना

१. परिश्रमाम्बुर्भयवीचिमालिनी त्वया स्वतृष्णा सरिदार्य शोषिता।
असङ्ग घर्मार्क गभस्तितेजसा परं ततो निर्वृतिधाम तावकम्॥ वृ० स्व० स्तो/६८।

से मनोवांछित वस्तु का लाभ होता है ।

कवि [illegible] कहते हैं—

भगवान की कृपा [illegible] को उपार्जित अकिञ्चनता से प्राप्त होता है, वह समृद्धिशाली कुबेर आदि से नहीं मिलता है । जलविहीन उन्नत पर्वत से अनेक नदियाँ प्रवाहित होती हैं, किन्तु विपुल जलमय सिन्धु से एक भी नदी का उद्गम नहीं होता है ।(१)

परिग्रह के जाल में फंसाने वाली तृष्णा का कारण लोभ है । कवि बनारसी दास जी लिखते हैं —

लोभ मूल सब पाप को, दुःख को मूल सनेह ।
मूल अजीरन व्याधि को, मरन मूल यह देह ॥

अकलंक स्वामी का कथन है—परिग्रहवान् व्यक्ति मांस के टुकड़ों को लिये हुये पक्षी के समान है । जो उस मांस खण्ड के इच्छुक अन्य पक्षियों के कोप का शिकार होता है । इसी प्रकार लोक में परिग्रह वाले के प्रति दूसरे लोग द्वेष भाव धारण करते हैं । उस परिग्रह के अर्जन, रक्षण तथा विनाश से उत्पन्न बहुत से दोष प्राप्त होते हैं । इससे जीव की तृप्ति कभी भी नहीं होती । जैसे ईंधन से अग्नि की तृप्ति नहीं होती प्रत्युत वह प्रज्वलित होती है । लोभाभिभूत होने के कारण वह कृत्य और अकृत्य भी नहीं देखता, और मरकर अशुभ गति में जाता है । लोभी पुरुष की निन्दा भी होती है अतः इसका त्याग करना ही योग्य है ।(२)

परिग्रह की आसक्ति इस जीव को समस्त पापों में फंसा देती है । पं० प्र० आशाधर सूरि कहते हैं—

धन की आकांक्षा करने वाला व्यक्ति जीवों के वध में प्रवृत्त होता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, कुशील सेवन को तैयार हो जाता है । अखाद्य वस्तु को खाने में तत्पर रहता है तथा लज्जा की बात तो यह है कि अपेय शराब आदि को भी पीने लगता है । यह परिग्रह की तृष्णा जीव को सभी पापकर्मों में प्रवर्तित करती है । जो भी इस तृष्णा को जीत लेते हैं पूरा संसार उनका दास हो जाता है । नीतिकारों ने कहा है—

जो आशा के दास हैं वह सम्पूर्ण विश्व के दास हैं और आशा (तृष्णा) जिनकी दास है सम्पूर्ण विश्व उनका दास है ।(३)

इस परिग्रह का पूर्णतया त्याग महाव्रती मुनिराज ही करते हैं । अपरिग्रह व्रत की स्थिरता हेतु पांच भावनाओं का इस प्रकार वर्णन किया गया है—

स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु तथा श्रोत्र इन पांचों इन्द्रियों के विषयों में राग और द्वेष का परिहार करना परिग्रह त्याग व्रत की पांच भावनाएं हैं ।(४)

---

१. [illegible] ।
[illegible] ॥ [illegible] ॥

२. [illegible] ॥

३. [illegible] ॥ नीति श्लोक ॥

४. [illegible] ॥

इन भावनाओं के द्वारा ध्यानलाभ होता है, इस विषय में आचार्य कहते हैं—इन भावनाओं द्वारा मानसिक संस्कार शुद्ध रहने से प्रवृत्ति में मलिनता का पूर्णतया अभाव हो जाता है। अपरिग्रह महाव्रत के कारण साधु की सम्पूर्ण आकुलताओं का अभाव हो जाता है, आकुलता के अभाव को ही सुख कहते हैं। अतः अपरिग्रह व्रत के द्वारा महान् सुख की प्राप्ति होती है।

आचार्य कहते हैं—निस्पृहता की पुष्पवाटिका में रहने वाला योगी ही सम्पूर्ण विश्व के वैभव की पूर्णतया उपेक्षा करता है। जिनेन्द्र भगवान को केवलज्ञान लाभ के पश्चात् समवशरण का अचिन्त्य वैभव प्राप्त होता है, किन्तु वे उससे भी चार अंगुल ऊंचे अन्तरिक्ष में विराजमान रहते हैं। अपरिग्रहत्व का इससे उज्ज्वल आदर्श विश्व में कहां मिलेगा? जिस धर्म ने इस अपरिग्रह को जितना स्थान दिया है उसमें उतना ही यथार्थ सत्य है। तीर्थंकर महावीर प्रभु की देशना का प्राण अपरिग्रहत्व है। तेईस तीर्थंकरों की दिव्य वाणी में भी यही तत्त्व प्रकट हुआ था अतः जैनधर्म का मर्म अपरिग्रह भाव ही है। इसे अपनाने वाला अमृतत्व का अधिपति बनता है। इसे भुलाने वाला जन्म जरा मृत्यु के संताप से नहीं बच सकता सदैव पीड़ित रहता है।

कुछ लोग कहते हैं, अपरिग्रहत्व के पालनार्थ अहिंसात्मक जीवन की अनिवार्यता नहीं है। मांस भक्षी भी यदि धन आदि की आवश्यकताओं को अधिक न्यून कर डालें तो उसे भी अपरिग्रह व्रती कहा जाएगा, यह भ्रम है। अहिंसा माता की संतति—जैसे सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य है उसी प्रकार अपरिग्रह भी उसकी संतान है। अल्प सामग्री के कारण बाह्य दृष्टि से उसे अल्प परिग्रही कह सकते हैं किन्तु कषाय युक्त और महा मूर्छावान् होने के कारण वह महा परिग्रही माना जाएगा। अन्तरङ्ग की मूर्छा विहीनता से व्यक्ति दूसरे प्राणियों के प्राणों का हनन करने से विरत हुये बिना न रहेगा। जो जीव-वध में संलग्न है, उसके पास अपरिग्रहत्व का शब है, आत्मा नहीं है।

परिग्रह पिशाच—परिग्रह के मेघ, जीवन के नभ में मंडरा रहे हैं जिसके कारण चारों ओर अंधियारी ही दिखाई पड़ती है। अपरिग्रह का प्रभाकर जिस दिशा तथा जिस अंतःकरण में अपनी ज्योतिर्मयी रश्मियां पहुंचाएगा, वहां ही विपत्ति की निशा दूर होगी और जीवन मंगलमय बनेगा। अतएव पुद्गल के मोह में न फंस कर परिग्रह पिशाच रूपी जाल को काटने के लिये अपरिग्रहत्व की तेज कटार धारण करनी चाहिये। सच्चा सुख जड़ पुद्गल में नहीं है। उसका अक्षय भंडार आत्मा में है। अतः आत्मोन्मुखी बनने में ही जीव का कल्याण है। इस आत्मप्रकाश की प्राप्ति के हेतु ही जैन मुनि अन्तर्बाह्य दिगम्बरत्व को अपनाकर आकिंचन्यत्व के प्रसाद में निराकुलता पूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। धर्म विमुख जीवन से न सुख मिलता है और न परमपद की प्राप्ति होती है।

इस विषय में कार्तिकेयानुप्रेक्षा की यह बोधप्रद [illegible] महत्वपूर्ण है—

जो मनुष्य धन वैभव की आकांक्षा तो करता है, किन्तु वीतराग [illegible] धर्म के प्रति [illegible] नहीं रखता है, वह चिन्तन करे कि क्या बीज के अभाव में [illegible] की उत्पत्ति होती हुई [illegible] है?

★ समिति ★

मुक्ति श्री के स्नेही, शुभोपयोगी, राग-द्वेष विभावों को हेय समझकर रत्नत्रय की आराधना एवं वीतराग मार्ग में प्रतिक्षण गतिशील यतिवरों के अष्टाविंशति मूलगुणों में से ५ मूलगुणों की बात पूर्ण हो चुकी है। तदनन्तर पांच समितियों की विवेचना निम्न प्रकार है।

मुनिराजों की चर्या का अभिन्न अंग समितियां हैं। जिस प्रकार आठ अंगों के बिना सम्यग्दर्शन शोभित नहीं होता उसी प्रकार पांच महाव्रत, पंच समितियों के बिना सुशोभित नहीं होते। समीचीन रूप से मोक्ष मार्ग में गमन करने के लिये महाव्रत पैरों के समान हैं तो समितियां आंखों का काम करती हैं। सम्यक् निरीक्षण करते हुये गमन, आहार, उपकरण आदि का विवेकपूर्वक उपयोग एवं मलमूत्रादि का क्षेपण व्यवहार नय से समिति का लक्षण है एवं अन्तश्चक्षुओं द्वारा अपने स्वरूप का अवलोकन करते हुये हेयोपादेय के विवेक से पुरुषार्थ करना निश्चय नय से समिति का लक्षण है।

सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति करने का नाम समिति है।(१)

अभेद अनुपचार रत्नत्रय रूपी मार्ग पर परम धर्मी ऐसे (अपने) आत्मा के प्रति सम्यक् इति (गति) अर्थात् परिणति वह समिति है अथवा निज परम तत्व में लीन सहज परम ज्ञानादिक परम धर्मों की संहति (मिलन संगठन) वह समिति है।(२)

अपने स्वरूप में सम्यक् प्रकार से गमन अर्थात् परिणमन ईर्या समिति है। निश्चय नय से अपने स्वरूप का निरीक्षण करते हुये स्वयं में ही विहार करना ईर्या समिति है। उल्लेख है

मूलाचार, योगसार, आचारसार, धवला आदि ग्रन्थों में उल्लेख है कि मुनि महाराज अपने स्वरूप में ही तन्मय रहते हैं। अगर किसी विशेष परिस्थिति में गुरु आज्ञा से या श्रावकों के अनुग्रह पर दिनचर्या के अनुसार तीर्थवन्दना, धर्मप्रभावना, सामूहिक प्रतिक्रमण, शास्त्र प्रवचन- श्रवण, जिन बिम्ब दर्शन, आहार, संघ दर्शन एवं गुरु मिलन आदि अनेक शुभोपयोग

---

१. सम्यगिति समितिरिति। रा० वा० ९ अ०।

२. अभेदानुपचार रत्नत्रयमार्गेण परम् धर्मिणामात्मानं सम्यग् इति परिणतिः समितिः। अथवा निज परम तत्व निरत सहज परम बोधादि परम धर्माणां संहतिः समितिः। नियमसार वृति, ६१।

३. निश्चयेन तु स्वस्वरुपे सम्यगितो गतः परिणतः समितिः ॥ प्र० सा० । ता० वृ० ॥

अन्य क्रियायों हेतु तपस्वी मुनिराजों को विहार करना पड़ता है तो वेह यत्नाचार पूर्वक सूर्य के प्रकाशमें ऐसे प्रासुक मार्ग पर विहार करते हैं जो अन्य पशु अथवा वाहनादि के यातायात से प्रासुक हो चुका हो।१

जीवस्थान आदि की विधि को जानने वाले धर्मार्थ प्रयत्नशील साधु का सूर्योदय होने पर चक्षुरिंद्रिय के द्वारा दिखने योग्य मनुष्य आदि के आवागमन के द्वारा कुहरा, क्षुद्र जन्तु आदि से रहित मार्ग में सावधान चित्त हो शरीर संकोच करके धीरे-धीरे चार हाथ जमीन आगे देखकर पृथ्वीआदि के आरम्भ से रहित होना, गमन करना ईर्या समिति है।(२)

साधु द्वारा प्रासुक मार्ग पर युग प्रमाण भूमि को देखते हुए दिन के समय विहार करना ईर्या समिति है ।३।

मुनिराज समता करुणा एवं अहिंसा के आर्णव होते हैं वे प्रतिक्षण यह ध्यान रखते हैं कि कहीं मेरे निमित्तसे एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त किसी भी जाति के जीव को किसी प्रकार का कष्ट न हो। निश्चय नय की दृष्टि से आत्म अनंतज्ञानादि स्वभाव की धारक उसमें „सम„ भले प्रकार अर्थात् समस्त रागादि भावों का त्याग कर आत्मा में लीन होना, आत्मा का चिन्तन करना, तन्मय होना, अयन् (गमन) अर्थात् परिणमन करना समिति है ।(४)

प्राणी पीड़ा परिहार के लिए सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति करना समिति है ।(५)

गमनादि कार्यों में जैसी प्रवृत्ति आगम में प्रतिपादित की है वैसी ही प्रवृत्ति करना समिति है ।६)

व्यवहार से पांच समितियों के द्वारा सम्यक् प्रकार „इतिः„ अर्थात् प्रवृत्ति करना पंचसमिति है ।(७)

समिति के भेद —तत्त्वार्थसूत्र में समिति के पांच भेद कहे हैं (१) यथा ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ।

(१) ईर्या समिति (२) भाषा समिति (३) एषणा समिति (४) आदान - निक्षेपण समिति एवं (५) प्रतिष्ठापन समिति ।

इन समितियों से व्रतों का जन्म, पालन पोषण तथा उनको निर्मल रखने का कार्य होता है एवं यह जीव पाप बंध से बचता है अतः ये महाव्रत की रक्षिका हैं ।

---

१. फासुयमग्गेण दिवा जुगंतरप्पेहिणा सकज्जेण ।
जंतूणि परिहरंते णिरियासमिदि हवे गमणं ॥ मू० । १३

२. विदितजीवस्थानादिविधेर्मुनेर्धर्मार्थं प्रयतमानस्य सवितर्युदिते चक्षुषो विषयग्रहणसामर्थ्यमुपजाते मनुष्यादिचरणपातोपहतावश्याय - प्रायमार्गे अनन्यमनसः शनैर्न्यस्तपादस्य संकुचितावयवस्य युगमात्रपूर्वनिरीक्षणावहितदृष्टेः पृथिव्याद्यारम्भाभावात् ईर्यासमितिरित्याख्यायते । रा० वा० ९।५

३. फासुयमग्गेण दिवा अवलोगंतो जुगप्पमाणं हि ।
गच्छइ पुरदो समणो इरिया समिदी हवे तस्स ॥ नि० सा० ६१।

४. निश्चयेनानन्तज्ञानादि स्वभावे निजात्मनि सम् सम्यक् समस्त रागादि विभाव परित्यागेन ।
तल्लीनतच्चिन्तन तन्मयत्वेन , अयनं गमन परिणमनं समितिः । द्र० सं० टी० । ३५ ।

५. प्राणीपीडापरिहारार्थं सम्यगयनं समितिः । स० सि० । ९।२

६. सम्यक् श्रुत ज्ञान निरूपित क्रमेण गमनादिषु वृत्तिः समितिः ॥ भ०आ०टी० ११५ ।

७. व्यवहारेण पञ्च समितिसंवृत्तः पंचसमितिः । ?

ईर्या समिति—संसार मार्ग से विमुख अहर्निश मोक्षमार्ग पर विहार करने में निमग्न शुद्धोपयोगी एवं शुभोपयोग में हिलोरें लेने वाले मुनीश्वर तीर्थवंदना गुरुवंदना एवं धर्म संरक्षण हेतु सूर्योदय के दो घड़ी अनन्तर प्रासुक मार्ग पर चार हाथ भूमि देखते हुये गमनागमन करते हैं। बिना देखे भूमि पर एक भी कदम नहीं बढ़ाते। स्वयं चार हाथ भूमि का निरीक्षण करते हुये सभी प्रकार के प्राणियों पर दयाभाव रखते हुये विहार करते हैं। अगर उनको अपनी आंखों से चींटी आदि जीवों का दिखना बंद हो जाता है तो वे करुणासागर मुनिराज समाधि सल्लेखना रूपी जहाज पर आरूढ़ होकर विहार करते हैं अर्थात् सल्लेखना ले लेते हैं।

ईर्या समिति से विरुद्ध गमन करने वाले [illegible] प्रमादी साधु जीवघात से होने वाले पाप का बंध करके अनंत संसारी बनते हैं।

लोक व्यवहार में भी कहा है कि—

नीचे देखें तीन गुण जीव जन्तु बच जाय।
ठोकर भी ना लगे पड़ी वस्तु मिल जाय॥

जीव रक्षा, शरीर रक्षा आदि करते हुये चलते समय सम्मुख देखकर ही गमन करना चाहिए। अन्य ग्रन्थों में भी लिखा है— "दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं" आंखों से देखकर ही चलना चाहिए।

दिगम्बर जैन मुनियों की अहिंसात्मक साधना का सर्वसाधारण को प्रत्यक्षीकरण उनकी जीवरक्षामयी ईर्यासमिति गमन विषयक सावधानी से होता है अतः वे दिगम्बर मुनि धन्य हैं एवं परम प्रशंसनीय हैं क्योंकि वे ईर्या समिति का परिपालन करते हैं।

ईर्यापथ शुद्धि का स्वरूप—अनेक प्रकार जीव स्थान, योनिस्थान, जीवाश्रय आदि के विशेष ज्ञानपूर्वक प्रयत्न के द्वारा जिसमें जन्तु-पीड़ा का बचाव किया जाता है, जिसमें ज्ञान, सूर्य-प्रकाश और इन्द्रिय प्रकाश से अच्छी तरह देखकर गमन किया जाता है तथा जो शीघ्र, विलम्बित, सम्भ्रान्त, विस्मित, लीला विकार, अन्य दिशाओं की ओर देखना आदि गमन के दोषों से रहित गतिवाली है वह ईर्यापथ शुद्धि है।(१)

ईर्या समिति की विशेषताएं—मुनिराजों को स्थान बदलने पर छाया से धूप में जाते समय और धूप से छाया में आते समय शीत, और उष्ण जन्तुओं को बाधा न हो इसलिए शरीर प्रमार्जन करना चाहिए तथा सफेद या लाल रंग क्षेत्र में प्रवेश करना हो अथवा एक क्षेत्र से निकलकर दूसरे क्षेत्र में प्रवेश करना हो तो कटि प्रदेश से नीचे एक-सा अवयव पिच्छिका से प्रमार्जित करने चाहिए। ऐसी क्रिया न करने से विरुद्ध योनि संक्रम से पृथ्वीकायिक जीव और जलकायिक जीवों को बाधा होगी। परिस्थितिवश जल में प्रवेश करने से पूर्व [illegible]

---

१. ईर्यापथ शुद्धिः नानाविध जीवस्थानयोन्या [illegible] निरीक्षित देश गामिनी द्रुतविलम्बित संभ्रान्तविस्मित [illegible] तस्यां सत्यां संयम प्रतिष्ठितो भवति विभव इव सुनीतौ। रा० वा० [illegible]

एषणा समिति—ज्ञानामृत भोजन से सदैव तृप्त रहने वाले महान तपस्वी साधु क्षुधा वेदनीय कर्म के तीव्र उदय के कारण कुलीन श्रावक के घर अनासक्ति भाव से सदाचारपूर्वक निरीक्षण कर छयालीस दोषों से रहित आहार करने के कारण एषणा समिति का पालन करते हैं ।

छयालीस दोषों से रहित , कारण से सहित, नव कोटि से विशुद्ध और शीत-उष्ण आदि में आवश्यकतानुसार समता भाव से भोजन करना एषणा समिति है ।(१)

लक्षण—मुनिराज जो आहार लेते हैं वह उद्गमादि छयालीस दोषों से रहित निर्दोष होता है, असाता वेदनीय कर्म का उदय होने से उत्पन्न हुई क्षुधा को मिटाने के लिए मुनिराज आहार लेते हैं । बल और आयु वृद्धिंगत होने की इच्छा से वे आहार नहीं लेते हैं । दाता , परिजन एवं पात्र के लिए बनने वाले निर्दोष आहार को मुनिराज ग्रहण करते हैं । मन–वचन–काय, कृत–कारित–अनुमोदना से भी मुनिराज आहार बनाने के लिए श्रावकों को प्रेरित नहीं करते । वे इन नवकोटियों से निर्दोष आहार लेते हैं, शीत उष्ण, खट्टे-मीठे एवं रूक्ष-स्निग्ध आदि आहार में राग- द्वेष नहीं रखते । इस प्रकार मुनिराज एषणा समिति का पालन करते हैं ।

मुनियोंको उत्कृष्ट अहिंसात्मक साधना हेतु शुद्ध और निर्दोष आहार ही ग्रहण करना चाहिए अतएव आहार के विषय में मुनिराज सर्वथा अपनी अहिंसा दृष्टि को सजग रखते हैं एवं श्रावक द्वारा नवधा भक्ति पूर्वक दिये गये प्रासुक आहार को तपवृद्धि की भावना से ग्रहण करते हैं ।

नोट—(आहार सम्बन्धी विशेष विवेचना पिण्ड शुद्धि अधिकार के अन्तर्गत देखें)

एषणा समिति के अतिचार—उद्गमादि दोषों से सहित आहार लेना, ऐसे आहार को सम्मति देना, उसकी प्रशंसा करना, ऐसे आहार की प्रशंसा करने वालों के साथ रहना, प्रशंसादि कार्यों में दूसरों को प्रवृत्त कराना, एषणा समिति के अतिचार हैं ।

आदान निक्षेपण समिति—जीवदया हेतु ज्ञानोपधि, संयमोपधि, शौचोपधि आदि पदार्थ तथा उपर्युक्त पदार्थों से भिन्न चटाई, फलक, तृण वगैरह लेते एवं रखते समय प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति करने का नाम आदान निक्षेपण समिति है । (२)

लक्षण–शास्त्र, कमण्डलु आदि को ग्रहण करते एवं रखते समय साधु को स्थिर चित्त होकर प्रथम अपनी आँखों से अच्छी तरह देख कर फिर पीछी से प्रमार्जित कर ही शास्त्रादि को ग्रहण करना चाहिये और यदि रखना हो तो पहले अच्छी तरह देखते हुए पश्चात् पिच्छिका से शोध किये हुये स्थान

१–. छादालदोसदुट्ठं कारण जुत्तं विसुद्धणवकोडी ।
सीदादीसमभुत्ती परिसुद्धा एसणा समिदी ॥१३॥मू०

२–. कदकारिदाणुमोदण रहिदं तह पासुगं पसत्थं च ।
दिण्णं परेण भत्तं समभुत्ती एसणा समिदी ॥६३॥नियमसार

पर रखना चाहिए। रखने के पश्चात् यदि अधिक समय बीत गया हो तो सम्मूर्छन जीवों की उत्पत्ति की सम्भावना से पुनः उस रखे हुए शास्त्र आदि का आवश्यकी के निरीक्षण करना चाहिए।(१)

आदान-निक्षेपण समिति के पालयता मुनि चक्षु से भली भांति देख कर तथा पिच्छी से प्रमार्जन करके ग्रन्थ आदि वस्तुओं को स्थिर चित्त होकर ग्रहण करते हैं तथा इसी प्रकार अवलोकन कर प्रमार्जन के पश्चात् ही उस पदार्थ को रखते हैं। बहुत समय व्यतीत होने के पश्चात् पुनः देख कर ही आदान-निक्षेपण करते हैं। (२)

प्रतिष्ठापन समिति—रत्नत्रयरूप जल से सभी मलों का प्रक्षालन करने वाले परम पावन तपस्वी यतीश्वर शरीर जन्य मल-मूत्रादिक को जीव जन्तु रहित प्रासुक भूमि पर विसर्जित करते हैं। एकान्त स्थान, अचित्त स्थान, ग्राम-नगर से दूर तथा छेद रहित, चौड़ी, विस्तीर्ण, विसादि रहित सामान्य जन जिसकी निन्दा और विरोध न करें ऐसे स्थान में यत्नपूर्वक मलमूत्रादि का त्याग करना प्रतिष्ठापन समिति है। (३)

लक्षण—दावाग्नि से दग्ध प्रदेश, हल द्वारा जुता हुआ प्रदेश, श्मशान भूमि, खार सहित भूमि, लोग जहाँ रोकें नहीं ऐसे स्थानों पर ही मुनिराज मल-मूत्र का त्याग करें। विष्टा, मूत्र, कफ, नाक के मैल को तृण आदि से रहित प्रासुक भूमि में अच्छी तरह देखकर क्षेपण करें। रात्रि में आचार्य के द्वारा देखे गये स्थान को स्वयं देखकर मूत्रादि का क्षेपण करें। यदि वहाँ पर सूक्ष्म जीवों की आशंका हो तो बायें हाथ से स्पर्श करें यदि पहला स्थान अशुद्ध हो तो दूसरा या तीसरा स्थान देखें। किसी समय रोग पीड़ित होने पर अथवा शीघ्रता से अशुद्ध प्रदेश में मल छूट जाये तो वह प्रायश्चित का भागी नहीं है। आगम में जिस तरह प्रतिष्ठापन समिति का विवेचन किया गया है उसी प्रकार से उसका परिपालन करना प्रतिष्ठापन या व्युत्सर्ग समिति है (४)

जहां स्थावर या जंगम जीवों की विराधना न हो ऐसे निर्जन्तु स्थान पर मल-मूत्रादि का विसर्जन करना और शरीर का रखना व्युत्सर्ग समिति है (५)

१—. पोत्थइ कमंडलाइं गहणविसग्गेसु पयतपरिणामो।
आदावणणिक्खेवण समिदि होदित्ति णिद्दिट्ठा ॥१४ नि०॥

२—. आदाणे णिक्खेवे पडिलेहिय चक्खुणा पमज्जेज्जो।
दव्वं च दव्वठाणं संजमलद्धीए सो भिक्खू ॥३१९॥ मू० ॥

३—. एगंते अच्चित्ते दूरे गूढे विसालमविरोहे।
उच्चारादिच्चाओ पदिठावणियाहवे समिदी ॥१५॥मू०।

४—. वणदाहकिसिमसिकदे थंडिल्लेणुप्परोध वित्थिण्णे। अवगद जन्तु विवित्ते उच्चारादि विसज्जेज्जो ॥३२१॥मू०।
उच्चारं पस्सवणं खेलं सिंघाणयादियं दव्वं। अच्चित्तभूमिदेसे पडिलेहित्ता विसज्जेज्जो ॥३२२॥
रादो दु पमज्जित्ता पण्णसमणपेक्खिदम्मि ओगासे। आसंकविसुद्धीए अपहत्थगफासणं कुज्जा ॥
जदि तं हवे असुद्धं बिदियं तदियं अणुण्णवे साहू। लहुए अणिच्छयारे ण देज्ज साधम्मिए गुरुए ॥३२४॥
पदिठवणा समिदी वि य तेणेव कमेण वण्णिदा होदि। वोसरणिज्जं दव्वं दु थंडिले वोसरंतस्स ॥ ३२५ । मू०

५—. स्थावरजंगमानां च जीवानामविरोधेनांग मल निर्हरणं
शरीरस्य च स्थापनं उत्सर्ग समितिः ॥त० वा० ९।५

प्रतिष्ठापन शुद्धि का लक्षण—प्रतिष्ठापन शुद्धि में तत्पर संयत देश और काल को जानकर नख, रोम, नाक, थूक, वीर्य मूत्र तथा देह परित्याग में जन्तु बाधा का परिहार करके प्रवृत्ति करना चाहिए। (१)

प्रतिष्ठापन समिति के अतिचार—शरीर और जमीन को पिच्छिका से परिमार्जित न करना, मल-मूत्रादिक क्षेपण करने का स्थान न देखना इत्यादि प्रतिष्ठापन समिति के अतिचार है।(२)

समिति पालने का फल—स्नेह युक्त कमलिनी के पत्र पर जिस प्रकार जल लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार साधु सभी जीवों के मध्य समिति सहित विचरण करते हुये पाप से लिप्त नहीं होते। (३)
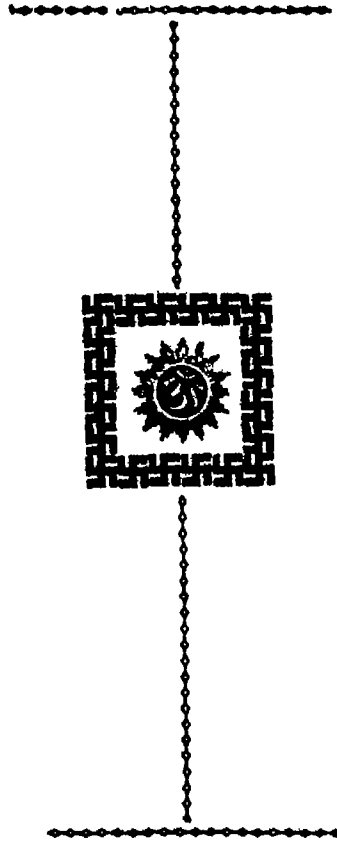
१—. प्रतिष्ठापन शुद्धि पर: संयत: नखरोमसिंघाणक निष्ठीवन शुक्रोच्चार
प्रस्रवणशोधनं देहपरित्यागे च विदित देशकालो जंतूपरोधमन्तरेण प्रयतते रा० आ० अ० ९।

२—. कायभूम्यशोधनं मल संपात देशा निरूपणादि पवनसे
निवेक विनकरादि सूत्क्रमे ण वृत्तिश्च प्रतिष्ठापनसमित्यतिचारः। भ० आ० टी०।१२०७।

३—. पउमणिपत्तं व जहा उदयेण ण लिप्पदि सिणेहगुणजुत्तं।
तहसमिदीहिं णलिप्पइ साधू काएसु इरियंतो ॥१२०१॥ भ० आ०।

इन्द्रिय निरोध

इन्द्रिय निरोध

महाव्रती मुनिराज स्वाभाविक इन्द्रिय विजेता होते हैं। इन्द्रियों को नहीं जीतने वाले कषाय रूपी अग्नि को शान्त करने में समर्थ नहीं होते। इसलिए क्रोधादि को जीतने के लिए इन्द्रियों का निग्रह आवश्यक है। जिन्होंने इन्द्रिय रूपी बंदर को ज्ञान रूपी बंधन में बांधकर वैराग्य के पिंजरे में बन्द कर दिया है वह श्रेष्ठ है। समन्तभद्रस्वामी कहते हैं "इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ आनन्द बिजली के समान चंचल है वह तृष्णा रूपी रोग को बढ़ाता है जिससे जीव निरन्तर संताप प्राप्त करता है। महामुनिराज ऐसा जानकर क्षणिक इन्द्रिय सुखों को छोड़कर आत्मिक सुख का आस्वादन करते हैं,, (१)

स्पर्शनइन्द्रिय विजय—अहर्निश स्वानुभूति रूप सुमणि को स्पर्श करने वाले महाव्रती यतीश्वर स्पर्शन इन्द्रिय जन्य कोमल—कठोर आदि भोगोपभोग में राग भाव नहीं रखने से स्पर्शन इन्द्रिय विजेता कहलाते हैं। सारा विश्व स्पर्शन इन्द्रिय का लम्पटी बनकर काम-भोग के वशीभूत हो अपने आपको मिटा रहा है। संयमी महापुरुषों ने इस दुर्निवार इन्द्रिय लम्पटता पर विजय प्राप्त की है। इस इन्द्रिय के वशीभूत हो हाथी जैसा महान् वन्य जानवर भी अपनी स्वतंत्रता खो बैठता है। इस स्पर्शन इन्द्रिय के वशीभूत अगणित राजा महाराजा ही नहीं, कई तपस्वी भी विचलित होकर ध्वस्त हो गये। इसका पूर्णतया निरोध मन-मतंग को बांधने वाले महान तपस्वी ही कर पाते हैं। स्पर्शन इन्द्रिय निरोध की बात करते हुये "मूलाचार में लिखा है"— चेतन और अचेतन पदार्थों से उत्पन्न हुये कठोर—मृदु, स्निग्ध—रुक्ष, हलका—भारी, शीत और उष्ण ऐसे आठ भेद जिसके हैं जो सुख और दुख दायक हैं। इस प्रकार के स्पर्श में मुनि-गण हर्ष-विषाद नहीं करते हैं। यह उनका स्पर्श इन्द्रिय विजय नामक मूलगुण है"। (२)

१—. शतह्रदोन्मेष चलंहि सौख्यं, तृष्णा मयाऽप्याऽयन-मात्रहेतुः ।
तृष्णाऽभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं, तापस्तदाऽऽयासयतीत्यवादीः ॥१३॥ बृ० स्वयंभू ॥

२—. जीवाजीव समुत्थे कक्कडमउआदि अट्ठभेद जुदे ।
फासे सुहेय असुहे फासणिरोहो असंमोहो ॥२१॥ मू०

रसनेन्द्रिय विजय—स्वानुभूति के परमानन्द रस का आस्वादन करने वाले महातपस्वी मुनिराज रसनेन्द्रिय के इष्ट-अनिष्ट लगने वाले समस्त पदार्थों के रसास्वादन रूप भाव से विमुख रहने के कारण रसनेन्द्रिय विजेता कहलाते हैं।

आहार करते समय खट्टा—मीठा, चरपरा, कडुवा—कषायला आदि रस वाले पदार्थों को, यतिवर बिना स्वाद लिए ग्रहण करते हैं । इसके अनेक प्रमाण आगम में मिलते हैं । एक मुनिराज को तो कड़वी तूमड़ी का भी आहार करा दिया गया था और उन्होंने स्वाद पर ध्यान न देकर शान्तभाव से उसे आहार में ले लिया ।

आज का मानव रसनेन्द्रिय का अत्यंत लोलुपी हो गया । वह जिव्हा इन्द्रिय की लोलुपता के कारण भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेक खो बैठा है, समय - असमय का भी ध्यान नहीं रह गया है । उसका पेट तो भोजन से भर जाता है, किन्तु रसना इन्द्रिय की तृप्ति के लिए मीठे-चरपरे पदार्थ चाहिए, मुख शुद्धि के नाम पर पान, पान-पराग आदि चाहिए । प्यास पानी से बुझती है, किन्तु रसना को रंगीन, खट्टा-मीठा पानी चाहिए । भोजन के अतिरिक्त चाट-पकौड़ी चाहिए । फलतः वह रोगी बना रहता है । पेट दवाओं से भरता रहता है, दवायें उसकी आयु चाट रही हैं । रसना की लोलुपता मनुष्य को चाट रही है । फिर भी सचेत नहीं होता । एक ओर चक्रवर्ती सुभौम फल की लोलुपता से नरक में गया, दूसरी ओर अतीन्द्रिय आनंद को प्राप्त यतीश्वर मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं । वे धन्य है जिन्होंने रसना इन्द्रिय पर विजय प्राप्त कर ली है । रसना इन्द्रिय निरोध की बात मूलाचार में इस प्रकार लिखी है—

मुनिराज सम्मूर्छनादि जीव रहित अर्थात् प्रासुक आहार लेते हैं । जो आहार सचित्त है अथवा जिसमें संमूर्छनादि जीव उत्पन्न हो रहे हैं । ऐसा आहार मुनियों के लिए ग्राह्य नहीं होता है। जिस आहार को लेने से पापास्रव होता है तथा लोक में निन्दा होती है उस आहार को भी मुनिराज ग्रहण नहीं करते हैं ।

आहार के पेय, खाद्य, स्वाद्य, लेह्य ऐसे चार भेद हैं—दूध, लस्सी आदि पेयाहार हैं । भात, पूड़ी, रोटी, लाडू, पेड़ा वगैरह खाद्य अशन हैं । इलायची लवंग वगैरह स्वाद्य हैं । रबड़ी, चटनी आदि लेह्य अशन है । तीखा, कडुवा, कषायला, अम्ल और मधुर ऐसे पांच रस आहार में रहते हैं । कोई आहार मनोहर होते हैं और कोई अप्रिय रहते हैं उपर्युक्त आहार दाता के द्वारा दिये जाने पर उसमें मुनिराज मूढता नहीं रखते हैं ।(१) मधुरादिक प्रिय आहार हमेशा मिलें और कटु आहार कभी भी नहीं मिले ऐसी इच्छा अर्थात् राग-द्वेष भाव मुनि मन में नहीं रखते हैं । यह उनका रसनेन्द्रिय निरोध नामक मूलगुण है ।

---

१. असणादि चदुवियप्पे पंचरसे फासुगम्हि णिरवज्जे ।
इट्ठाणिट्ठाहारे दत्ते जिब्भाजओ ऽगिद्धी ॥ २० ॥ मू०

घ्राणेन्द्रिय विजय—निज सुखात्म रूपी वाटिका में विकसित ज्ञानादि अनन्त गुण रूप पुष्पों की सुगन्ध में निमग्न रहने वाले परम तपस्वी मुनिराज को घ्राणेन्द्रिय के इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में स्वप्न में भी रागभाव नहीं होता है। विषय कषायों की दुर्गन्ध से वे कोसों दूर रहते हैं अतः वे घ्राणेन्द्रिय विजयी कहलाते हैं।

गुलाब मोगरादि के पुष्पों की सुगन्धि से सामान्य मानव का मन प्रमुदित होता है और मलादि की दुर्गन्ध से मन खिन्न हो जाता है परन्तु वे तपस्वी धन्य हैं जो सुगन्ध एवं दुर्गन्ध दोनों ही प्रकार के विकल्पों से परे हैं।

घ्राणेन्द्रिय निरोध के विषय में मूलाचार में लिखा है कुछ पदार्थों में स्वभावतः अच्छी और बुरी गन्ध रहती है और कुछ पदार्थों में अन्य पदार्थ के संयोग से अच्छी और बुरी गन्ध उत्पन्न होती है। अच्छी गंध सुख उत्पन्न करती है बुरी गंध दुखद होती है और उसमें द्वेष भाव होता है। कस्तूरी गोरोचन वगैरह सुगन्धित वस्तुएं हिरण्य, गाय आदि जीवों में उत्पन्न होती हैं अतः इनको जीवात्मक गन्ध कहते हैं और चंदनगंधादिक की गंध अचेतनात्मक है। इन दोनों में राग द्वेषादिक नहीं करना मुनीश्वरों का घ्राण इन्द्रिय निरोध नामक मूलगुण है।(१)

चक्षु इन्द्रिय विजय—अपने परमप्रिय अनन्तगुणरूपी कुटुम्बी जनों का अवलोकन करने वाले महातपस्वी मुनिराज चक्षु इन्द्रिय के विषय सचित्त एवं अचित्त, गोरे-काले आदि वर्ण वाले पदार्थों के प्रति राग-द्वेष मोह नहीं रखने से चक्षु इन्द्रिय विजेता कहलाते हैं।

आज का मानव रूप-रंग को देखने में ही आनंद मानता है। वह मनोहर रूपों में आसक्त होकर सर्वस्व खो बैठता है। राग-रंग में धर्म-कर्म सभी को भुला बैठता है। वे मुनिराज धन्य हैं जो रूप-रंग की ओर आंख उठाकर भी नहीं देखते।

इसके विषय में मूलाचार में लिखा है—जिनमें दर्शनोपयोगात्मक- चैतन्य है ऐसे देव- देवांगना, मनुष्यादिक सचित्त द्रव्यरूप पदार्थ हैं। जिनमें चैतन्य नहीं है ऐसे घटपटादि अचित्त द्रव्य हैं। इन चेतन - अचेतन पदार्थों के क्रिया, संस्थान, आकृति और वर्ण के भेदों में राग-द्वेष और अभिलाषा नहीं रखना मुनिराज का चक्षु इन्द्रिय निरोध अर्थात् नेत्र इन्द्रिय विजय नामक मूलगुण है।(२)

स्त्रियों की क्रिया, गीत, विलास, नृत्य कटाक्ष, अवलोकन और यद्वा-तद्वा प्रवृत्ति, उनके देह की सुन्दर आकृति अथवा व्यंगात्मक मुद्रा के प्रकारों को संस्थान कहते हैं। वर्ण-स्त्रियों के शरीर का गोर, श्यामादिक रंग ये सब इष्ट-अनिष्ट बुद्धि से देखकर जो राग द्वेष उत्पन्न होता है, उनका निराकरण करना वह चक्षु इन्द्रिय निरोध नाम का मूलगुण है। स्त्री-पुरुषों के अचेतन प्रतिबिम्ब मुद्रादिक देखकर उसमें भी राग-द्वेष के वश न होकर अभिलाषा रहित रहना चक्षु इन्द्रिय निरोध है।

---

२. पयडीवासणगंधे जीवाजीवप्पगे सुहे असुहे। रागद्देसाकरणं घाणणिरोहो मुणिवरस्स ॥ १६ ॥ मू०

१. सच्चित्ताचित्ताणं किरियासंठाणवण्णभेएसु। रागादिसंगहरणं चक्खुणिरोहो हव मुणिणो ॥ १७ ॥ मू०

कर्णेन्द्रिय विजय—निज शुद्धात्म स्वरूप चैतन्य प्रभु की आराधना में तल्लीन परम वीतरागी मोक्षमार्गी मुनिराजों को सप्त स्वरों से सम्बंधित राग-रंग, प्रशंसा-निन्दा, ख्याति, लाभादि के शब्द सुनकर हर्ष-विषाद नहीं होता है। वर्तमान युग में कर्णेन्द्रिय सम्बन्धी राग-रंग की चकाचौंध में सारा विश्व अपने स्वरूप को भूला हुआ है, व्यक्ति प्रशंसा के वचन सुन कर हर्ष से फूल जाता है। यथार्थता से शून्य, मात्र कर्णप्रिय वचन सुनना व्यक्ति को अभीष्ट है। वे मुनिराज धन्य हैं जिनके कानों तक जिनेन्द्र भगवान के वचनों के सिवाय अन्य वचनों की पहुंच ही नहीं है। मूलाचार में लिखा है—

षड्ज, ऋषभ, गांधार आदि सात स्वरों की ध्वनि सुनने से तथा वीणा और गदा वगैरह के चेतन-अचेतन, प्रिय-अप्रिय शब्द सुनने से, हृदय में राग-द्वेषादि विकार उत्पन्न होते हैं। उपर्युक्त स्वर शब्द सुनने की अभिलाषा मुनिराज के मन में उत्पन्न ही नहीं होती। वे स्वयं षड्जादि स्वर से गायन नहीं करते। यदि अन्य जन षड्जादि स्वरोच्चार करने लगें तो रागादि भाव से वे स्वर नहीं सुनते। इस प्रकार की प्रवृत्ति रखना कर्ण इन्द्रिय निरोध नाम का मूलगुण है।(१)

---

१. सड्जादिजीवसद्दे वीणादि अजीवसंभवे सद्दे।
रागादीण णिमित्ते तदकरणं सोदरोधो दु॥ १८ ॥ मू०।

षट् आवश्यक

षड् आवश्यक

"ण वसो अवसो अवसस्स कम्म आवस्सयं" ऐसी आवश्यक शब्द की निरुक्ति है। जो पर के आधीन नहीं है, वह अवश है। ऐसे व्यक्ति की क्रिया आवश्यक कहलाती है जैसे आशु गच्छति इति अश्वः अर्थात् जो शीघ्र दौड़ता है उसको अश्व कहते हैं। व्याघ्र आदि कोई भी प्राणी जो शीघ्र दौड़ सकते हैं वे सभी अश्व शब्द से संगृहीत होते हैं परन्तु अश्व शब्द प्रसिद्धि के वश होकर घोड़ा इस अर्थ में ही रूढ़ है। वैसे ही अवश्य करने योग्य जो कोई भी कार्य है वह आवश्यक शब्द से कहा जाना चाहिए। लौटना, करवट बदलना, किसी को बुलाना आदि कर्तव्य अवश्य करने पड़ते हैं परन्तु आवश्यक शब्द यहां सामायिकादि धर्म क्रियाओं में ही प्रसिद्ध है अथवा "आवासयन्ति रत्नत्रयमात्मनीति आवश्यकाः" जो आत्मा में रत्नत्रय का निवास कराते हैं, उनको आवश्यक कहते हैं।(१) अनगार धर्मामृत में भी कहा है कि जो इन्द्रियों के वश में अर्थात् अधीन नहीं होता, उसको अवश कहते हैं। ऐसे संयमी के अहो रात्रिक, में करने योग्य कर्मों का नाम ही आवश्यक है।

परिभाषा—अतएव व्याधि आदि से ग्रस्त हो जाने पर भी इन्द्रियों के वश न होकर दिन और रात के कर्म मुनियों को करने ही चाहिए, उन्हीं को आवश्यक कहते हैं।(२)

आचार सार में भी कहा है—स्वाधीन मुनि के अवश्य करने योग्य कार्य को आवश्यक कर्म कहा है अथवा जो क्रिया कषाय और इन्द्रियों के वश न होती हुई स्वाधीन है वह आवश्यक क्रिया है।(३)

मूलाचार में मुनियों के छह आवश्यकों की इस प्रकार परिगणना की गई है। समता, वंदना, स्तवन, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान तथा व्युत्सर्ग। ये छह आवश्यक क्रियायें नित्य करणीय हैं।(४)

छह आवश्यकों की व्याख्या

इष्ट-अनिष्ट वस्तु में राग-द्वेष का अभाव समता कहलाता है।

---

१. आवासकाख्यं आवश्यकापरनामधेयं। ण वसो अवसो अवसस्स कम्ममावस्सयं इति व्युत्पत्तावपि सामायिकादिष्वेवायं शब्दो वर्तते व्याधिदौर्बल्यादिना व्याकुलो भण्यते अवशः परवश इतियावत्। तेनापि कर्तव्यं कर्मेति। यथा आशु गच्छतीत्यश्व इति व्युत्पत्तावपि न सर्वत्राश्वो वर्तते। अश्वशब्दोपि तु प्रसिद्धिवशात् तुरग एव। एवं निशायामपि अवश्यं यत्किंचन कर्म [illegible]। अथवा आवश्यकानां [illegible] आवासयन्ति रत्नत्रयमात्मनीति अ०आ०?

२. अवृष्याख्यादि [illegible] तत्।
आवश्यकमवश्यस्य कर्माहोरात्रिकं मुनेः॥ अ० ध० । ८।१७६।

३. आवश्यक [illegible] कार्यमवश्यकरणीयता। मुनेः कर्मापि [illegible]॥ आ० सा०। पृ० १८४

४. समदा थवो य वंदण पडिक्कमणं तहेव णादव्वं। पच्चक्खाण विसग्गो करणीयावासया छप्पि॥ मू० २२।

समता—सम्यक्त्व गुण से विभूषित, अखिल विश्व में साम्यभाव रखने वाले, मोक्ष स्वरूप के हेतु, समाधि के साधक योगीश्वरों के मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का सहज स्वभाव समता का [illegible] सहज रूप में ही विद्यमान रहता है।

समता से विभूषित यतिजनों के हृदय से ममता सर्वदा के लिए विलुप्त हो जाती है। [illegible], महल-श्मशान, कंचन-कांच, जन्म-मृत्यु, लाभ—अलाभ आदि समस्त लौकिक कार्यों के संयोग-वियोग आदि में मुनिराज सहज समता भाव धारण करते हैं। आज का विश्व ममता की चपेट में राग-द्वेष, ईर्ष्या, आशा एवम् तृष्णा का दास बनकर क्षणिक शांति के लिए भी अहर्निश सर्वत्र भटक रहा है। फलस्वरूप अशांति और संक्लेश भावों के सिवाय कुछ भी हाथ नहीं लगता। धन्य है वे महर्षीश्वर! जो सारे विश्व को साम्य भाव से देखते हैं।

स्वरूप—मूलाचार में समता का स्वरूप इस प्रकार बताया है—जीवित (औदारिक वैक्रियकादि देह धारण करना) मरण, (प्राणी का प्राणों से वियोग होना), लाभ— (इच्छित वस्तु की प्राप्ति) अलाभ (इच्छित वस्तु की अप्राप्ति अर्थात् आहारादिक की प्राप्ति होना) अथवा वियोग में और अनिष्ट-संयोग होने पर शत्रु-मित्र, सुख-दुख, भूख—प्यास, शीत-उष्ण में समता भाव रखना सामायिक है।(१)

जीवित-मरण वगैरह में जो समान परिणाम राग-द्वेष, मोह-क्षोभ रहित भाव होना वह सामायिक है। त्रिकाल देव वंदना करना भी सामायिक व्रत है।

आचार सार में कहा है इन्द्रिय और मन को जीतने वाले ज्ञानियों को लाभ—अलाभ, सुख-दुख में जो साम्य भाव रहता है उसको सामायिक कहते हैं।

नियमसार में कुन्द कुन्द स्वामी ने बताया है कि अन्त:करण में साम्यभाव की प्रतिष्ठा नहीं होने पर सर्व प्रकार की कठोर तपश्चर्या भी इष्ट सिद्धि में समर्थ नहीं हो सकती है। कुन्द कुन्द आचार्य कहते हैं जो मात्र साम्य भाव से रहित श्रमणों के वन में निवास करने, स्वयं को कष्ट देने, अद्भुत उपवास करने, स्वाध्याय, मौन आदि से मोक्ष का लाभ नहीं हो सकता है अत: हे साधक! तुम समता देवी के मंदिर में अनाकुल आत्म तत्व की आराधना करो।

आचार्य मूलाचार में कहते हैं जो सर्व सावद्य का त्याग करता है, गुप्ति के द्वारा इन्द्रियों की अपने-अपने विषयों में गति को रोकता है उसकी सामायिक स्थायी होती हैं। राग-द्वेष की प्रचण्ड पवन जीवन-दीप में सदा चंचलता उत्पन्न करती है। इस पवन का वेग न्यून होने पर आत्मा में स्थिरता आती है। राग-द्वेष के पूर्णतया दूर हो जाने पर यह आत्मा क्षण मात्र में ही कैवल्य ज्योति से समन्वित हो परम ज्योति परमात्मा प्रभु बन जाती है।

---

१. जीवियमरणे लाहालाहे संजोय विप्पओगेय।
बंधुरि सुहदुक्खादिसु समदा सामाइयं णाम ॥ २३ । मू०

भेद—सामायिक के नाम, स्थापना, द्रव्य क्षेत्र, काल तथा भाव छह भेद कहे गये हैं। द्रव्य, क्षेत्र काल तथा भाव चार भेद भी कहे गये हैं। सचेतन-अचेतन वस्तुओं में राग-द्वेष का निरोध करना द्रव्य सामायिक है। नगर, खेट, कर्वट, पत्तन, द्रोणमुख और जनपद आदि में राग-द्वेष का निरोध करना अथवा अपने आवास स्थल में कषाय का निरोध करना क्षेत्र सामायिक है। बसन्त, ग्रीष्मादिक छह ऋतु रात्रि – दिवस, शुक्लपक्ष और कृष्ण पक्ष आदि काल के ऊपर राग-द्वेष रहित होना काल सामायिक है। सम्पूर्ण कषायों का निरोध, मिथ्यात्व का वमन, नयों के विषय में निपुणता सहित शुद्ध ज्ञान का उपयोग भाव सामायिक है।

फल—समता भाव का उद्देश्य आत्मा को पतन से बचा कर निर्वाण पद प्राप्त कराना है। साम्य भाव के नाम पर स्वेच्छाचारिता की ओर जाते हैं और पशुओं में पायी जाने वाली विवेक शून्य प्रवृत्तिकरने वाले दुर्वासनाओं के द्वारा आत्महित से वंचित होकर आत्म पतन के पथ पर दौड़ते हैं। पापाचार, भ्रष्ट जीवन की ओर ले जाने वाला साम्य का स्वप्न में भी स्पर्श नहीं कर सकता है। साम्यभाव तो मोह-क्षोभ से विहीन आत्मा के परिणाम का नाम है। (१) साम्यभाव वाला अपने और परमात्मा में सादृश्य देखकर अपनी आत्मा को उच्च बनाने का प्रयत्न करता है। इस साम्यदर्शन के द्वारा योगी गुण समृद्ध हो लोक शिखर पर समासीन हो सिद्धों की श्रेणी में सम्मिलित हो जाते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र जी तत्त्वोपलब्धी का मूल कहते हुये सामायिक को अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग पूर्वक करने की प्रेरणा देते हैं। समस्त पदार्थों में राग और द्वेष का त्याग करके साम्य के अवलम्बन से तत्त्वोपलब्धि के हेतुभूत सामायिक करनी चाहिए। (२) योगीन्द्र देव कहते हैं—जो आत्मा को जिनेन्द्र समान मानता है और जिनेन्द्र को जीव के समान जानता है, वह समवशरण में स्थित होता है और शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त करता है। (३)

और भी कहा है यह समताभाव रूप लक्षण सामायिक के लिए अनियत काल है अर्थात् जीवन पर्यन्त के लिए है और त्रिकाल देव वन्दना करने रूप सामायिक नियतकाल रूप है। (४)

अनाकुल चित्त साधु हाथ में पिच्छिका लेकर अंजुलि जोड़कर एकाग्रचित्त होकर सामायिक करते हैं। (५) यद्यपि निर्मोही यतिवरों का समता अभिन्न गुण है, इसी कारण रत्नत्रय नौका में बैठ कर संसार समुद्र को तैरकर सिद्धशिला तक पहुंच जाते हैं तथा समता के अभाव में ममता की संगति जो कोई कर लेते हैं वह भव सागर में गोते खाते हैं। समता के धनी मुनिराजों की सर्वत्र प्रशंसा, यश, ख्याति देखी और सुनी जाती है।

समता का अभिन्न अंग सामायिक है। निश्चय दृष्टि से मुनिवरों का प्रतिक्षण सामायिक में ही व्यतीत होता है फिर भी व्यवहारिक दृष्टि से वे त्रिकाल सामायिक करते हैं।

---

१. मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो। प्र० सा० ७।
२. रागद्वेष त्यागान्निखिल द्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य। तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम्। १४८ ॥पु०सि०उ०।
३. जीवा जिणवर जो मुणइ जिणवर जीव मुणेइ। सो समभावि परिट्ठियउ लहु णिव्वाणु लहेइ ॥२००। प० प्र० टी०॥
४. त्रिकाल देव वन्दना करणं च तत्सामायिकं व्रतं भवतीत्यर्थः। मू०। टी०। ४१।
५. पडिलिहिय अंजलिकरो उवजुत्तो उट्ठिऊण एयमणो। अव्वाखित्तो वुत्तो करेदि सामाइयं भिक्खू ॥ ५१८ ॥ मूलाचार।

वन्दना—वृषभादि चौबीस तीर्थंकर, भरतादि क्षेत्र के केवली, आचार्य, चैत्यालयादि को पृथक-पृथक क्रम से नमस्कार या गुणों का स्मरण करना वन्दना है। (१)

वन्दना के भेद—मूलाचार में इस वन्दना के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव छह भेद कहे गये हैं। (२)

(१) एक तीर्थंकर या सिद्ध आदि का नाम लेना नाम वन्दना है।३

(२) एक तीर्थंकर सिद्ध आचार्यादि के प्रतिबिम्बों की स्तुति स्थापना वन्दना है।४

(३) एक तीर्थंकर सिद्ध या आचार्यादि के शरीर की स्तुति द्रव्य वन्दना है।

(४) एक तीर्थंकर सिद्ध या आचार्यादि ने जिस स्थान से निःश्रयेस् पद प्राप्त किया है उस क्षेत्र की स्तुति करना क्षेत्र वन्दना है।

(५) एक तीर्थंकर सिद्ध आचार्यादि जिस काल में हुये हैं उस काल की स्तुति करना काल वन्दना है।

(६) एक तीर्थंकर सिद्ध आचार्यादि के गुणों की स्तुति करना भाव वन्दना है।
कृतिकर्म, चितिकर्म, पूजा कर्म और विनय कर्म ये सब वन्दना के ही नामान्तर है।

कृति कर्म—जिन परिणामों से या क्रियाओं से आठ प्रकार के कर्म करें वह कृतिकर्म है। अर्थात् पाप नाश के उपाय को कृतिकर्म कहते हैं।

अहोरात्रि के कृतिकर्म—चार प्रतिक्रमण के और तीन स्वाध्याय के ऐसे पूर्वान्ह के सात कृतिकर्म और अपरान्ह के सात कृतिकर्म ऐसे चौदह कृतिकर्म होते हैं अथवा पश्चिम रात्रि में प्रतिक्रमण के चार, स्वाध्याय के तीन और मध्यान्ह वन्दना के दो, इस प्रकार पूर्व कृतिकर्म चौदह हुये।५ रात्रि योग ग्रहण विसर्जन में योग भक्ति के दो और पूर्वरात्रि में स्वाध्याय के तीन इस प्रकार अपरान्ह क्रिया में चौदह कृतिकर्म होते हैं। अहोरात्रि के कुल मिलाकर अट्ठाईस कृतिकर्म होते हैं। यहां पर गाथा में प्रतिक्रमण और स्वाध्याय का ग्रहण उपलक्षण मात्र है इसलिये सभी क्रियायें इन्हीं म अन्तर्निहित हो जाती है।६

अन्यत्र भी कहा है—चार बार के स्वाध्याय के १२, त्रिकाल वन्दना के ६, दो बार के प्रतिक्रमण के ८ और रात्रि योग ग्रहण विसर्जन में योग भक्ति के २, ऐसे २८ कायोत्सर्ग साधु के अहोरात्र विषयक होते हैं।७ इनका स्पष्टीकरण यह है—

---

१. वंदना त्रिशुद्धि द्वयासना चतुः शिरोवनतिः द्वादशावर्तना ॥स०रा० । ६-२४॥

२. णामट्ठवणा दव्वेखेत्तेकाले य होदि भावेय। एसो खलु वंदणे णिरखेवो छब्विहो भणिदो ॥ मू० चा० ७-८७ ।

३. एयस्स तित्थयरस्स णमंसणं वंदणा णाम ॥क० पा० १ पु०॥

४. सिद्धाचार्यादि प्रतिबिम्बानांच स्तवनं वंदना निर्युक्ति । मू० टी० प्र० । ४३६ ।

५. चत्तारि पडिक्कमेण किदियम्मा तिण्णि होंति सज्झाए । पुव्वण्हे अवरण्हे किदियम्मा चोद्दसाहोंति
पश्चिमरात्रौ प्रतिक्रमणे मू० टी० प्र० । ४५५ ।

६. प्रतिक्रमण स्वाध्याय योरुपलक्षण त्वादिति अन्यान्यपि क्रिया कर्माण्यत्र वांत भवति ।

७. स्वाध्याये द्वादशेष्टा षड्वन्दने अष्टौ प्रतिक्रमे । कायोत्सर्गा योगभक्तौ द्वौ चाहोरात्रगोचराः ॥ अ० ध० ।८।७५।

त्रिकाल देव वन्दना में चैत्य भक्ति और पंचगुरु भक्ति सम्बन्धी दो-दो २×३=६, दैवसिक रात्रिक प्रतिक्रमण में सिद्ध, प्रतिक्रमण, निष्ठित करणवीर भक्ति और चतुर्विंशति तीर्थंकरभक्ति इन चार भक्ति सम्बन्धी चार-चार ४×२=८, पूर्वाह्न, अपराह्न पूर्व रात्रिक और अपर रात्रिक इन चार कालिक स्वाध्याय में, स्वाध्याय के प्रारम्भ में श्रुत भक्ति, आचार्यभक्ति एवं समाप्ति में श्रुत भक्ति ऐसे तीन भक्ति सम्बन्धी ४×३=१२ रात्रि योग प्रतिष्ठापन में योग भक्ति सम्बन्धी एक और निष्ठापन में योग भक्ति एक ऐसे २ इस तरह सब मिलाकर ६+८+१२+२=२८ कायोत्सर्ग किये जाते हैं।

कृतिकर्म का लक्षण—सामायिक- स्तवन पूर्वक-कायोत्सर्ग करके चतुर्विंशति स्तव पर्यन्त जो विधि है, उसे कृतिकर्म कहते हैं।[1] यथाजात मुद्राधारी साधु मन व काय की शुद्धि करके दो प्रणाम, बारह आवर्त और चार शिरोनति पूर्वक कृतिकर्म का प्रयोग करते हैं।(२)

अर्थात् किसी भी क्रिया के प्रयोग में पहले प्रतिज्ञा करके भूमि स्पर्श रूप पंचांग नमस्कार किया जाता है। जैसे—"अथ पौर्वाह्णिक स्वाध्याय प्रारम्भ क्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकल कर्मक्षयार्थं भाव पूजा वन्दनास्तव समेतं श्री श्रुतभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहम्" ऐसी प्रतिज्ञा करके पंचांग नमस्कार किया जाता है। पुनः णमो अरहंताणं से लेकर तावकालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि, पाठ बोला जाता है। इसे सामायिक स्तवन कहते हैं। इसमें णमो अरिहंताणं पाठ प्रारम्भ करते समय तीन आवर्त करके एक शिरोनति की जाती है, फिर कायोत्सर्ग करके पंचांग प्रणाम किया जाता है। पुनः थोस्सामि इत्यादि चतुर्विंशति स्तवन के प्रारम्भ में तीन आवर्त एक शिरोनति करके पाठ पूरा होने पर तीन आवर्त और एक शिरोनति होती है। इस प्रकार प्रतिज्ञा के अनन्तर प्रणाम और कायोत्सर्ग के अनन्तर प्रणाम ऐसे दो प्रणाम हुये। सामायिक स्तव के आदि, अंत में और थोस्सामि के आदि-अन्त में ऐसे तीन-तीन आवर्त चार बार करने से बारह आवर्त हुये तथा प्रत्येक में एक-एक शिरोनति अर्थात् चार शिरोनति होती हैं।

यह कृतिकर्म विधिवत् कायोत्सर्ग के माने गये बत्तीस दोष रहित होने चाहिये।

कृतिकर्म कब करें?—आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर कृतिकर्म पूर्वक नमस्कार करते हैं। अव्रती श्रावक, माता- पिता, असंयत गुरु, राजा, पाखंडी साधु, देशव्रती, अथवा नाग, यक्ष आदि देवों की वन्दना महाव्रती साधु नहीं करते हैं तथा पार्श्वस्थ आदि पांच प्रकार के चारित्र शिथिल मुनि की भी वन्दना नहीं करते हैं। वे रत्नत्रय से युक्त साधु अपने से दीक्षा या गुणों में श्रेष्ठ मुनियों की वन्दना करते हैं। विक्षिप्त चित्त हुये अथवा पीठ करके बैठे हुये, आहार या निहार करते हुये गुरुओं की मुनि वन्दना नहीं करते हैं। आलोचना के समय सामायिक आदि आवश्यक क्रियाओं के समय प्रश्न करने के पूर्व में, पूजाकाल में, स्वाध्याय के समय,

---

१. सामायिक स्तवपूर्वक कायोत्सर्गश्चतुर्विंशतितीर्थंकरस्तव पर्यन्तः कृतिकर्मेत्युच्यते – मू० चा० टी० पृ। ४४१।

२, दोणदं तु जधाजादं बारसावत्तमेवय। चदुस्सिरं तिसुद्धिं च किदियम्मं पउंजदे॥ मू० चा० ६०३।

स्वकृत क्रोधादि अपराधों की आचार्यादि के समक्ष एवं वन्दना के समय गुरु वन्दना की जाती है। जब मुनि वन्दना करते हैं, तब अन्य आचार्यादि साधु भी बड़े प्रेम से उन्हें पिच्छिका लेकर प्रतिवन्दना करते हैं। वन्दना करते समय गुरु से अनुज्ञा लेकर हे भगवान ! मैं वन्दना करता हूँ। ऐसी प्रार्थना करके पुनः मौन स्वीकृति प्राप्त कर विधिवत् वन्दना करते हैं। सभी क्रियाओं के आरम्भ में मार्गादि में देखने पर, सर्वत्र साधुओं में वन्दना-प्रतिवन्दना करते हैं।(१)

देव वन्दना में भी पूर्वोक्त विधि से कृतिकर्म करके "जयतु भगवान" इत्यादि चैत्य भक्ति का पाठ करते हुये साधु देववन्दना विधि करते हैं। देव वन्दना में योग्य काल, योग्य आसन आदि को भी समझना चाहिये।(२)

साधु समाधि के लिये सहकारी कारणभूत ऐसे योग्य काल, योग्य आसन, योगमुद्रा आवर्त और शिरोन्नति रूप बत्तीस दोष रहित कृतिकर्म को विनयपूर्वक करते हैं। (३)

योग्यकाल—पिछली रात्रि की तीन घड़ी और दिन की प्रारम्भ की तीन घड़ी ऐसे छह घड़ी (२ घंटे २४ मिनिट) काल पूर्वक वन्दना करते हैं। मध्याह्न से पहले की तीन घड़ी और पीछे की तीन घड़ी ऐसा छह घड़ी काल मध्याह्न वन्दना का है। यह उत्कृष्ट है। ऐसे ही चार-चार घड़ी (एक घड़ी = २४मिनिट) काल मध्यम काल है तथा दो दो घड़ी का काल जघन्य काल है। इस प्रकार तीनों संध्याओं में देव वन्दना के लिये योग्यकाल है।

योग्य आसन—वन्दना करने के लिये साधु जहां बैठते हैं, वह प्रदेश, पाटा, सिंहासन आदि योग्य आसन है। शुद्ध एकान्त, प्रासुक, प्रशस्त लोक और सम्मूर्च्छनादि जंतुओं से रहित, क्लेश के कारण भूत परीषह, उपसर्ग आदि से रहित तथा तीर्थंकर आदि के निर्वाण कल्याणक आदि से पवित्र प्रदेश ही उत्तम प्रदेश माने गये हैं। वन्दना योग्य पाटा, चटाई या तृण का आसन छिद्र रहित, घुन, खटमल आदि से रहित, निश्चल होना चाहिये। उस पर साधु पद्मासन, पर्यंकासन या वीरासन से बैठकर सामायिक करते हैं। दोनों पैर जंघाओं से मिल जाय, उसको पद्मासन कहते हैं, एक जांघ के ऊपर दूसरा पैर रखना पर्यंकासन है। दोनों जंघाओं के ऊपर दोनों पैरों के रखने को वीरासन कहते हैं।

वन्दना करने वाला मुनि खड़े होकर या बैठकर वन्दना करते है।

योग्य मुद्रा—मुद्रा के चार भेद हैं—

---

१. सर्वत्रापि क्रियारम्भे वन्दना प्रतिवन्दने।
गुरुशिष्यस्य साधूनां तथा मार्गादि दर्शने। अ० ध० ८।५५

२. सामायिकं णमों अरहंताणमिति प्रभृत्यथ स्तवनं।
थोसामीत्यादि जयदि भगवानित्यादि वन्दना युञ्ज्यात् ॥अ० ध०। ८।५६।

३. योग्यकालासन स्थानमुद्रावर्त शिरोनति।
विनयेन यथा जातः कृति कर्मामलं भजेत् ॥अ० ध० ८।७८।

(१) जिनमुद्रा, योग मुद्रा, वन्दना मुद्रा, मुक्ताशुक्ति मुद्रा। दोनों भुजाओं को लटकाकर दोनों पैरों में चार अंगुल का अन्तर रखकर कायोत्सर्ग से खड़े हो जाना जिन मुद्रा है। पद्मासन आदि में दोनों हथेली को चित्त रखकर बैठने पर योग मुद्रा होती है।

खड़े होकर दोनों कुहनियों को पेट के ऊपर रखने पर और दोनों करों को मुकुलित कमल के आकार बनाने पर वन्दना मुद्रा होती है। इसी तरह खड़े होकर कुहनियों को पेट के ऊपर रखकर दोनों हाथों की अंगुलियों को आपस में संलग्न कर लेने पर मुक्ताशुक्ति मुद्रा होती है।

जयति भगवान्—इत्यादि वंदना के समय वंदना मुद्रा होती है। णमो अरहंताणं आदि सामायिक दंडक और थोस्सामि इत्यादि चतुर्विंशति स्तवन के समय मुक्ता शुक्ति मुद्रा होती है। बैठकर कायोत्सर्ग करते समय योग मुद्रा और खड़े होकर करते समय जिनमुद्रा मानी गयी है।

सामायिक स्तवन उच्चारण के पहले मुक्ताशुक्ति मुद्रा से हाथों को मुकुलित बनाकर घुमाने से तीन आवर्त हुये, ऐसे ही दंडक के बाद तीन आवर्त, पुनः थोस्सामि स्तवन के आदि और अंत में तीन-तीन आवर्त इस प्रकार एक कायोत्सर्ग में बारह आवर्त होते हैं।

तीन-तीन आवर्तों के अनन्तर मुकुलित हाथों से संयुक्त मस्तक का झुकाना शिरोनति है वह सामायिक दण्डक के आदि अंत और थोस्सामि के आदि-अन्त में ऐसे चार बार होने से चार शिरोनति हो जाती हैं।

देववन्दना में चैत्यभक्ति बोलते हुये जिनेन्द्र देव की प्रदक्षिणा भी की जाती है। उसमें प्रत्येक प्रदक्षिणा में पूर्वादि चारों दिशाओं की तरफ प्रत्येक दिशा में तीन-तीन आवर्त और एक-एक शिरोनति की जाती है। इस प्रकार एक प्रदक्षिणा में बारह आवर्त, चार शिरोनति तथा तीन प्रदक्षिणा में छत्तीस आवर्त और बारह शिरोनति हो जाती हैं। अधिक आवर्त और शिरोनतियों में कोई दोष नहीं होता है।

चैत्य भक्ति, निर्वाण भक्ति और नंदीश्वर भक्ति करते समय चैत्यालय की प्रदक्षिणा भी की जाती है। वन्दना के ३२ दोष —

१ अनादृत—वन्दना में आदर भाव नहीं रखना।

२ स्तब्ध —आठ प्रकार के मद में से किसी के वशीभूत हो जाना।

३ प्रविष्ट—अर्हंतादि के अत्यन्त निकट होकर वन्दना करना।

४ परिपीड़ित—अपने दोनों हाथों से जंघाओं और घुटनों का स्पर्श करना।

५ दोलायित—झूले पर बैठे हुये के समान अर्थात् हिलते हुये वन्दना करना।

६ अंकुशित—अपने ललाट पर अपने हाथ के अंगूठे को अंकुश की तरह रखना।

७ कच्छप परिंगत—बैठकर वन्दना करते हुये कछुये के समान रेंगने की क्रिया करना।

८ मत्स्योद्वर्त—जिस प्रकार मछली एक पार्श्व से उछलती है, उसी प्रकार कटिभाग को उचका कर वन्दना करना।

९ मनोदुष्ट—मन में गुरु आदि के प्रति द्वेष धारण कर वन्दना करना अथवा संक्लेश युक्त मन सहित वन्दना करना।

१० वेदिका बद्ध—अपने स्तन भागों का मर्दन करते हुये वन्दना करना या दोनों भुजाओं द्वारा अपने दोनों घुटनों को बांध लेना।

११ भय दोष—सात प्रकार के भय से डरकर वन्दना करना।

१२ विभ्यतादोष—गुरु आदि से डरते हुये वन्दना करना।

१३ ऋद्धि गौरव—चातुर्वर्ण्य संघ मेरा भक्त हो जावेगा इस अभिप्राय से वन्दना करना।

१४ गौरव—अपना माहात्म्य आसन आदि के द्वारा प्रगट करके वन्दना करना।

१५ स्तेनित—आचार्य आदि से छिप कर वन्दना करना या कोठरी आदि के भीतर छिपकर वन्दना करना।

१६ प्रतिनीत—देवगुरु आदि के प्रतिकूल होकर वन्दना करना।

१७ प्रदुष्ट—अन्य के साथ द्वेष, वैर, कलह आदि करके पुनः क्षमा न कराकर वन्दनादि क्रिया करना।

१८ तर्जित—अन्यों को तर्जित कर, डर दिखाकर वन्दना करना अथवा आचार्यादि के द्वारा अंगुली आदि से तर्जित अनुशासित किये जाने पर यदि वन्दनादि नहीं करोगे तो संघ से निकाल दूंगा, ऐसी फटकार सुनकर वन्दना करना।

१९ शब्द दोष—वन्दना करते समय बीच में बातचीत करते जाना।

२० हेलित—वचनों द्वारा आचार्यों आदि का परा भव करके वन्दना करना।

२१ त्रिवलित—वन्दना करते समय कमर, गर्दन और हृदय इन अंगों में भंग वलि पड़ जाना या ललाट में तीन सल डालकर वन्दना करना।

२२ कुंचित—संकुचित हाथों से सिर का स्पर्श करना या घुटनों के बीच शिर रखकर संकुचित होकर वन्दना करना।

२३ [illegible]—आचार्यादि यदि देख रहे हों तो ठीक से [illegible], अन्यथा प्रमाद से दिशा-अवलोकन करते हुये वन्दना करना।

२४ अदृष्ट—आचार्यादि न देख सकें ऐसे स्थान पर जाकर अथवा भूमि-शरीरादि का पिच्छी से परिमार्जन न कर वन्दना में एकाग्रता न रखते हुये वन्दना करना या आचार्यादि के पीछे जाकर वन्दना करना।

२५ संघकर मोचन—यदि मैं संघ को कर-भाग वन्दना नहीं करूंगा, तो संघ मेरे ऊपर रुष्ट होगा ऐसे भाव से वन्दना करना।

२६ आलब्ध—उपकरण आदि प्राप्त करके वन्दना करना।

२७ अनालब्ध—उपकरण आदि की आशा से वन्दना करना।

२८ हीन—ग्रन्थ, अर्थ और काल के प्रमाण से रहित वन्दना करना।

२९ उत्तर चूलिका—वंदना को थोड़े काल में पूर्णकर उसकी चूलिका रूप आलोचनादि पाठ को अधिक समय तक करना।

३० मूकदोष—गूंगे के समान वन्दना के पाठ को मुख के भीतर ही बोलना अथवा वन्दना करते समय हुंकार, अंगुली आदि से इशारा करना।

३१ दर्दुर—वंदना के पाठ को इतनी जोर से बोलते हुये महा कल-कलध्वनि करना कि जिससे दूसरों की ध्वनि दब जाय।

३२ चुरुलित—एक ही स्थान में खड़े होकर हस्तांजलि को घुमाकर सबकी वन्दना करना अथवा पंचम आदि स्वर से गा कर वन्दना करना।

इस प्रकार वन्दना के ३२ दोष बतलाये गये।

फल—निर्दोष वन्दना का फल कल्पनातीत है। भक्ति की महिमा बतलाते हुये [illegible] में कहा है कि एक मेंढक वंदना की भावना से स्वर्ग में ऋद्धि शाली देव हो सकता है, तो मनुष्य सद् भक्ति से मुक्ति को प्राप्त कर ले तो क्या आश्चर्य की बात है। और [illegible]चूड़ामणि के मंगलाचरण में कहा है कि यदि कोई भक्ति रूपी शुल्क चुका दे, तो मुक्ति रूपी कन्या का कर ग्रहण कर लेता है अतः भक्ति का फल कल्पनातीत है।

स्तव—मोक्ष-लक्ष्मी के इच्छुक मुनि, स्व-पर हितैषी तीर्थंकरों के गुणों एवं उनके कल्याणक स्थानों, सिद्ध-क्षेत्रों व तीर्थंकर देव की प्रतिमाओं के अवलम्बन से वृषभ देव आदि तीर्थंकरों का गुणानुवाद करते हैं वह स्तुति नाम का आवश्यक है? इसे ही चतुर्विंशति स्तवन कहते हैं।

तीर्थंकर स्तुति के भाव वीतरागी मुनिराज के हृदय में सहज में ही उमड़ पड़ते हैं । आचार्यों ने अनेक स्थानों पर स्तुति आवश्यक कर्म की विवेचना की है ।

आ० कुन्द-कुन्द स्वामी कहते हैं ।

परिभाषा--वृषभ, अजित, संभव आदि चौबीस तीर्थंकरों के नामों का योग्य अर्थ समझ लेना चाहिये । घाति कर्म का क्षय होने पर उन्होंनें धर्म रूपी तीर्थ का प्रसार किया, वे देव और मनुष्य से वन्दनीय हुये । उन्होंने परमार्थ तत्व, जीव तत्व का सत्य स्वरूप जान लिया । वे अठारह दोषों से रहित सर्वज्ञ हो गये हैं । ऐसे उनके गुणों का वर्णन करना चाहिये तथा गुण वर्णन के साथ तीर्थंकरों के गुणों का त्रियोग से पूजन कर मन वचन शरीर की विशुद्धि पूर्वक उनके चरणों को नमस्कार करना यह चतुर्विंशतिस्तव है ।१

आ० वीर नन्दि भी कहते हैं--

असाधारण गुण समूह का उत्कीर्तन नामों की व्युत्पत्ति से चरण- कमल की पूजा करके वृषभादि तीर्थंकरों का स्तवन करना संस्तवन कहलाता है ।

युक्त्यनु-शासन में समन्तभद्र स्वामी कहते हैं--भगवन् ! यथार्थता की सीमा का उल्लंघन करके गुणों की महिमा का कथन लोक में स्तुति कही जाती है । आपके गुणों के छोटे से छोटे अंश को कहने में असमर्थ हम आपकी स्तुति किस प्रकार कर सकते हैं । २ बृहद्स्वयंभू स्तोत्र में ही चर्चा की है ।

आपके गुण अनन्त हैं । उनका वर्णन करना हमारी शक्ति के बाहर की बात है अत: आपकी स्तुति किया जाना कैसे संभव हो सकता है ? ऐसी स्थिति में चतु विंशतिस्तव की बात कैसे बनेगी ?

इस शंका का निराकरण करते हुये स्वयं समन्तभद्र स्वामी लिखते हैं,,"प्रभो यद्यपि ! वास्तविक बात ऐसी है, फिर भी हे मुनियों के ईश ! पवित्र कीर्ति वाले ! आपके नाम का संकीर्तन हमारी आत्मा को पवित्र बनाता है, इससे थोड़ा सा गुण वर्णन करते हैं ३

भक्ति के अमर गायक श्री मानतुङ्गाचार्य कहते हैं--

---

१. उसहादि जिणवराणं णामणिरुत्तिं गुणाणुकित्तिं च ।
काऊण अच्चिदूण य तिसुद्धि पणमो थवो णेयो । मू० । २४ ॥

२. "याथात्म्यमुल्लंघ्य गुणोदयाख्या, लोके स्तुति र्भूरि गुणोदधेस्ते
अणिष्ठ मप्यंशमशक्नुवंतो, वक्तुं जिनत्वां किमिव स्तुयाम " यु० अ० १२

३. तथापि ते पुण्यगुण स्मृतिर्नः ।
पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥ बृ० स्व० स्तो:० । ५७ ।

भक्ति, निष्काम-भक्ति एवं ध्यान ध्याता ध्येय के भेद भाव से मुक्त शुद्धात्मावलंबन का प्रतिपादन किया गया है।

उच्च श्रेणी के उन्मुख मुमुक्षु को उपदेश देते हुये आचार्यों का कथन है "परावलंबन छोड़ और अपनी आत्मा का ही आश्रय ले। न किसी तीर्थ को जा, न अन्य देव की ही आराधना कर। इस शरीर के भीतर विराजमान प्रभु की छवि का दर्शन कर, उससे ही तेरा निर्वाण होगा। परावलम्बन साक्षात् निर्वाण न देगा,,।

महान साधक के लिये योगेन्दु देव कहते हैं—

"वत्स जो! ज्ञानमय आत्मा को छोड़ कर अन्य पदार्थ का ध्यान करते हैं, उन अज्ञान के विलास वालों को कैवल्य का लाभ कैसे होगा ?,, १

इस विषय में टीकाकार का कथन है कि "प्राथमिक सविकल्प अवस्था में चित्त को स्थिर करने के लिये तथा विषय कषाय रूप आर्त, रौद्र ध्यान दूर करने के लिये जिन प्रतिमा, मंत्र, अक्षरादि ध्येय होते हैं किन्तु निश्चय ध्यान के समय अपनी शुद्ध आत्मा ही ध्येय होती है।,,

यद्यपि यह आत्मा ही परमात्मा है, किन्तु कर्मोदय वश पर का चिन्तन करता है। जिस समय यह आत्मा वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन बोध के द्वारा स्वयं को जानता है, उस समय ही परमात्मा बन जाता है।

आचार्यों का कथन है कि हे आत्मन! दूसरे तीर्थों को मत जा, अन्य गुरु की शरण में मत पहुंच, अन्य देव का चिन्तवन मत कर, अपनी निर्मल आत्मा का चिन्तवन कर।,,

यह कथन निश्चय नय की अपेक्षा से है। व्यवहारिक दृष्टि से जिनेन्द्र भगवान की पूजा, भक्ति, स्तुति आदि पुण्यानुबन्धी कार्यों का असाधारण महत्व है।

फल— जिनेन्द्र की भक्ति के द्वारा तीर्थंकर पद प्राप्त होता है। जिन विम्ब के दर्शन से उत्कृष्ट, निधत्ति, निकांचित जैसे कर्मबन्ध तक का क्षय होता है। जिनेन्द्र बिम्ब के दर्शन से सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है अतएव आत्म कल्याण के लिये जिनेन्द्र का स्तवन अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है।

प्रतिक्रमण—सप्तम और छट्ठे गुण स्थान में झूलने वाले शुभोपयोगी दिगम्बर मुनिराज को आहार-विहार नीहारादि में, व्रत, समिति, गुप्ति आदि में, प्रमाद या कषायवश किंचितमात्र भी दोष उपस्थित हो जाने पर, या चर्या में किसी भी एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव को मुनिराज के निमित्त से कष्ट पहुंचने पर तो तत्काल ही "मिच्छामि दुक्कडं" कहकर या विस्तार रूप से सभी दोषों का अन्वेषण करते हुये उन दोषों की पुनरावृत्ति न होने का दृढ़ संकल्प करते हैं वही प्रतिक्रमण आवश्यक कर्म है।

---

१. अप्पा मेल्लिवि णाणमउ, अण्णु जे झायहिं झाणु।
वढ अण्णाण - वियंभियहँ कउ तहँ केवल-णाणु ॥ प० प्र० । २ । १२८ ।

आत्मागत दोषों के निवारणार्थ मुनिराज प्रतिक्रमण करते हैं।

परिभाषा—आ० कुन्द कुन्द स्वामी कहते हैं—

वचन रचना को छोड़कर रागादि भावों का निवारण करके जो आत्मा को ध्याता है, उसे प्रतिक्रमण कहते हैं १।

विराधना को छोड़कर आराधना में वर्तना, अनाचार को छोड़कर आचार में स्थिर होना, उन्मार्ग को छोड़कर सत् मार्ग में स्थिर होना, शल्यभाव को छोड़कर निःशल्य भाव में परिणमित होना, अगुप्ति भाव को छोड़कर त्रिगुप्ति गुप्त रहना प्रतिक्रमण कहलाता है। १

आर्त्त और रौद्र ध्यान को छोड़कर धर्म अथवा शुक्ल ध्यान को ध्याना प्रतिक्रमण है। उत्तमार्थ आत्मा है, उसमें स्थित मुनिवर कर्म का नाश करते हैं, इसलिये ध्यान ही वास्तव में उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है।

आ० वीर नन्दि कहते हैं—

द्रव्यक्षेत्र काल, भावों में दोष हो जानेपर अपनी निंदा तथा गर्हा द्वारा धिक्कार करके मन, वचन, काय से आत्मा को शुद्ध करना प्रतिक्रमण है।

तत्त्वार्थ राजवार्तिक में पूर्वकृत दोषों का निराकरण करना प्रतिक्रमण कहा है।२

प० आशाधर जी कहते हैं–

दिन, रात्रि, पक्ष, चातुर्मास तथा वर्ष में, ईर्यापथ एवं उत्तमार्थ (समाधि-मरण) में नाम, स्थापना, द्रव्य क्षेत्र, काल तथा भाव के भेद से किये गये पापों का मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना निंदा, गर्हा, आलोचना द्वारा अपनी आत्मा से ध्वंस करना प्रतिक्रमण कहलाता है।३

---

१. मोत्तूण वयणरयणं रागादीभाववारणं किच्चा
अप्पाणं जो झायदि तस्सदु होदित्ति पडिकमणं। नि० सा०। ८३।

उम्मग्गं परिचत्ता जिणमग्गे जो दु कुणदि थिरभावं।
मोत्तूण सल्लभावं णिस्सल्ले जो दु साहू परिणमदि
चत्ता अगुत्तिभावं तिगुत्तिगुत्तो हवेइ जो साहू।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥ नि० सार। गा०।८६।८७।८८

२. अतीतदोष निवर्तनं प्रतिक्रमणं।रा० वा०।६।२४।

३. अह्न निशापक्षचतुर्मासाब्देर्योत्तमार्थभूः।
प्रतिक्रमस्त्रिधा ध्वंसो नामाद्यालम्ब्य आगसः ॥अन० ध०।८।५७।

(ब). विनिन्दनालोचनगर्हणैरहं मनोवचःकायकषायनिर्मितम्
निहन्मि पापं भवदुःखकारणं भिषग्विषं मन्त्रगुणैरिवाखिलम् ॥ सामायिक पाठ।१७।

प्रमाद के दोषों से हटकर गुणों का धारण करना अथवा कृत दोषों का शोधन करना प्रतिक्रमण है।१

यह प्रतिक्रमण आदि अधस्तन भूमि में स्थित साधु के लिये अमृत कलश रूप है। किन्तु उच्च श्रेणी गत मुनि के लिये यह विषकुंभ सदृश है कहा भी है—

„अप्रतिक्रमण, अप्रतिशरण अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धि अमृत कुंभ है।२

दोष शुद्धि निमित्त किये जाने वाले प्रतिक्रमणादिक को विषकुंभ सुनकर प्रमादी व्यक्ति हर्षित हो सोचता है कि मैं, प्रतिक्रमण की झंझट से मुक्त हो गया। इस प्रकार वह अधिक प्रमत्त बनता है उसे समझाते हुये अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है—

"जहां निश्चय दृष्टि में प्रतिक्रमण आदि को विषकुंभ कहा, वहाँ प्रमादी का प्रतिक्रमण न करना कैसे कहा जायगा, अतः पतित होता हुआ व्यक्ति क्यों प्रमाद करता है ? वह प्रमाद रहित होकर क्यों नहीं ऊंचा चढ़ता है।"३ इस कथन का निष्कर्ष यही है कि प्रारम्भिक अवस्था में प्रतिक्रमण करना परम कर्त्तव्य है।

भगवान वृषभ नाथ तथा महावीर के तीर्थ काल में प्रतिक्रमण को आवश्यक कर्म कहा गया है। चाहे अपराध हुआ हो या न हुआ हो, भगवान अजित नाथ से लेकर भगवान पारसनाथ तक के तीर्थ काल में अपराध की बहुलता का अभाव होने के कारण प्रतिक्रमण अपराध होने पर ही किया जाता था, अन्यथा नही। मात्र साधक ज्ञान, ध्यान में लीन रहते थे।

प्रतिक्रमण के भेद—मूलाचार में प्रतिक्रमण का छह प्रकार से निक्षेप किया गया है।

(१) नाम प्रतिक्रमण—पाप उत्पन्न करने वाले नाम से दूर रहना अथवा प्रतिक्रमण दण्डक के शब्दों का उच्चारण करना नाम प्रतिक्रमण है।

(२) स्थापना प्रतिक्रमण—सराग स्थापना से अपने परिणाम हटाना स्थापना प्रतिक्रमण है।

(३) द्रव्य प्रतिक्रमण—सावद्य द्रव्य के सेवन से परिणाम हटाना द्रव्य प्रतिक्रमण है।

(४) क्षेत्र प्रतिक्रमण—क्षेत्र के आश्रय से होने वाले अतिचार से निवृत्त होना क्षेत्र प्रतिक्रमण है।

(५) काल प्रतिक्रमण—काल के आश्रय से होने वाले अतिचार हटाना काल प्रतिक्रमण है।

---

१. प्रमादप्राप्तदुःखेभ्यः प्रत्यावृत्य गुणावृत्तिः
स्यात् प्रतिक्रमणा यद्वा कृत दोष विशोधना ॥अनगार ध० पृ०स० ५६५

२. अप्पडिकमणं अप्पडिसरणंअप्पडिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदाऽगरहाऽसोधी अमिय कुंभो ॥स० सा० ३०७

३. यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं, तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधाकुतः स्यात्।
तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः, किं नोर्ध्वं मूर्ध्वं मधिरोहति निष्प्रमादः स० सा० क० १८९

(५) भाव प्रतिक्रमण—रागद्वेषादि दोषों से होने वाले अतिचारों से अपने को हटाना भाव प्रतिक्रमण है।

आ० वीरसेन स्वामी ने धव प्रकला १ टीका में-प्रतिक्रमण के सात भेद कहे हैं-दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ ।

दैवसिक प्रतिक्रमण—दिवस सम्बन्धी दोषों के विशोधन हेतु सायंकाल में जो प्रतिक्रमण किया जाता है वह दैवसिक प्रतिक्रमण है जो कि „जीवे प्रमाद जनिता:„ आदि पाठ क्रम से पढ़कर किया जाता है ।

रात्रिक प्रतिक्रमण—रात्रि संबंधी दोषों के निराकरण हेतु। जो पश्चिम रात्रि में प्रतिक्रमण किया जाता है वह रात्रिक प्रतिक्रमण है ।

ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण—आहार के लिये जाते समय, गुरु वन्दना, देव-वन्दना के लिये जाते समय, शौचादि के लिये जाते समय जीवों की विराधना उसके दोषों को दूर करने के लिये "पडिक्कमामि भंते इरिया वहियाए" इत्यादि पाठ बोलकर महामंत्र का नव बार जाप्य किया जाता है ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण है ।

पाक्षिक प्रतिक्रमण—प्रत्येक मास में पन्द्रह दिन बा चतुर्दशी या अमावस्या अथवा पूर्णिमा को जो बृहत्प्रतिक्रमण किया जाता है वह पाक्षिक प्रतिक्रमण है ।

चातुर्मासिक प्रतिक्रमण—कार्तिक और फाल्गुन मास के अन्त में चतुर्दशी अथवा पूर्णिमा को चातुर्मासिक प्रतिक्रमण किया जाता है ।

वार्षिक प्रतिक्रमण—आषाढ़ मास के अन्त में चतुर्दशी या पूर्णिमा वार्षिक प्रतिक्रमण किया जाता है ।

उत्तमार्थ प्रतिक्रमण—समाधि मरण काल में सम्पूर्ण दोषों की आलोचना करके जो यावज्जीवन चतुराहार का त्याग कर दिया जाता है वह उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है ।

इसके अतिरिक्त लोच प्रतिक्रमण, गोचरी प्रतिक्रमण, अतिचार प्रतिक्रमण आदि लघु प्रतिक्रमण है, जो कि ईर्यापथ आदि में सम्मिलित हो जाते हैं ।

शिक्षा वर्ष के अंत में जो गुरु के सान्निध्य में बड़ा प्रतिक्रमण होता है वह यौगिक या योगांतिक कहलाता है। तथाहि—प्रतिक्रमण के भेदों में बृहत्प्रतिक्रमण सात माने गये हैं—व्रतारोपण, पाक्षिक कार्तिकांत चातुर्मासिक, फाल्गुनांत-चातुर्मासिक, आषाढांत, सांवत्सरिक सार्वातिचारिक और उत्तमार्थिक। १

---

१. एवं बृहत्प्रतिक्रमणाः सप्त स्युरित्युक्तं स्यात् ।
तत्र यथा —व्रतारोपणी , पाक्षिकी कार्तिकान्त चातुर्मासी
फाल्गुनान्त चातुर्मासी आषाढान्त सांवत्सरी सार्वातिचार उत्तमार्थीचेति अ० ध० ।८।५८।५८६।

उपसंहार—प्रतिक्रमण का फल आत्म विशुद्धि है प्रमत्तावस्था में योगों की चंचलता में ज्ञात या अज्ञात भाव से प्रमादवशात् अनेक दोषों का संचय प्रारम्भिक भूमिका में सम्भव है। अन्तरंग मन से मोक्ष प्रेमी यतिवर प्रति क्रमण करते हुये एकेन्द्रिय प्राणी से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों से क्षमा मांगते हुये अपनी की हुई भूल पर गुरु साक्षी में जो पश्चाताप करके गलती का पुनः न दोहराने का संकल्प करते हैं। इसके फल स्वरूप वे अपने आत्मा को परमात्मा बना लेते हैं।

आ० वीरसेन ने जयधवला में सर्वातिचारी एवं त्रिविध आहोरात्र्यायिक को उत्तमार्थ प्रतिक्रमण में सम्मिलित किया है (ध० पृ–१ पृ० ११३) अनगार ध० टी० ८।५८ में भी इसका अनुसरण किया है। सन्यास काल में पेय को छोड़कर त्रिविध आहार का त्याग ध्यान देने योग्य है। क्षपक की मुख शुद्धि हेतु जल, तेल आदि पेय पदार्थों का त्याग नहीं कराया जाता। दीक्षा ग्रहण काल से लेकर सन्यास ग्रहण काल तक जितने भी दोष होते हैं वे सर्वातिचार कहलाते हैं। उनका प्रतिक्रमण सर्वातिचार प्रतिक्रमण है। व्रतों के आरोपण के समय जो आचार्य द्वारा प्रतिक्रमण सुनाया जाता है वह व्रतारोपणी प्रतिक्रमण है। इनमें से व्रतारोपणी और सर्वातिचारिक प्रतिक्रमण उत्तमार्थ प्रतिक्रमण में भी गर्भित हो जाते हैं।

पांच वर्ष के अन्त में किया जानेवाला प्रतिक्रमण यौगांतिक संवत्सर प्रतिक्रमण में गर्भित हो जाता है।

ऐसे ही लुंचन, रात्रिक, दैवसिक, चर्या, निषिद्धिका गमन, ईर्यापथ और अतिचार ये सात लघु प्रति क्रमण माने गये हैं।[१] साधु दोष लगने पर विनय पूर्वक पिच्छिका सहित अञ्जलि जोड़कर गारव मान आदि दोषों को छोड़कर कृति कर्म करके गुरु के पास आलोचना करते हैं और "मिच्छा मे दुक्कडं" आदि दण्डकों का उच्चारण कर प्रतिक्रमण करते हैं।

प्रत्याख्यान—संसार, शरीर, भोगों से पूर्ण विरक्त यतिवरों द्वारा अपने निर्मल गुणों को विशुद्ध बनाने के लिये अनागत काल में व्रत, समिति, गुप्ति आदि में उपस्थित होने वाले सामान्य ६ प्रकार के दोषों के कारणों का स्वभावतः परित्याग करना प्रत्याख्यान नामक आवश्यक कर्म है।

परिभाषा—आ० अकलंक देव लिखते हैं—

"अतीत दोषों के कारणों का निवारण प्रतिक्रमण द्वारा होता है तथा अनागत, आगामी दोषों की निवृत्ति प्रत्याख्यान से होती है"।[२] आगामी काल में शुभ-अशुभ कर्म बांधने-वाले भावों को आत्मा से दूर करना प्रत्याख्यान कहा है।

आ० वीरनन्दि कहते हैं—

---

१. लुञ्चे रात्रौ दिने भुक्ते निषाधिका गमने पथि
स्यात् प्रतिक्रमणा लघ्वी तथा दोषतु सप्तमी। अ० ध० ।८।

२. अतीत दोष निवर्तनं प्रतिक्रमण अनागत दोषा पोहनं प्रत्याख्यानं त० रा० वा० ६।२६

आगामी काल में भी नाम, स्थापना आदि के भेद से अयोग्य (अकरणीय) मन, वचन, काय की शुद्धता पूर्वक परिहार करना प्रत्याख्यान कहा है ।

इस विषय में टीकाकार जयसेनाचार्य कहते हैं–"शुभ तथा अशुभ रूप अनेक भेदों से विस्तृत आगामी कर्म मिथ्या रागादि अशुभ परिणाम के होने पर बन्ध को प्राप्त होते हैं इस कारण अभेदरत्नत्रय रूप में स्थित तपोधन के ही निश्चय नय से निश्चय प्रत्याख्यान होता है" ।

मूलाचार में लिखा है—मन, वचन, तथा काय से नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र काल तथा भाव रूप छह प्रकार के अनागत तथा वर्तमान अयोग्यों अर्थात् पाप के कारणों का त्याग करना प्रत्याख्यान है ।

(१) नाम प्रत्याख्यान—प्रत्याख्यान के नामादि छह भेदों का मूलाचार टीका में इस प्रकार स्पष्टीकरण किया गया है—पाप के हेतु, विरोध के कारण, अयोग्य कार्यों में प्रेरित करने वाले वचन न बोलना, न बुलवाना, न अनुमोदन करना नाम-प्रत्याख्यान है ।

(२) स्थापना प्रत्याख्यान—अयोग्य स्थापना पापबन्ध के कारण और मिथ्यात्व को बढ़ाने वाली है । मिथ्या देवता का प्रतिबिम्ब स्थापित करना अयोग्य-स्थापना कहलाती है । ऐसी स्थापनाएं कृत, कारित, अनुमोदन द्वारा त्याग करना स्थापना प्रत्याख्यान है ।

(३) द्रव्य-प्रत्याख्यान—पाप बन्ध का कारण सावद्य द्रव्य है । परन्तु निर्दोष द्रव्य का त्याग कर देने पर पुनः कृत-कारित अनुमोदन द्वारा भक्षण भी नहीं करना द्रव्य प्रत्याख्यान है ।

(४) क्षेत्र प्रत्याख्यान—असंयम के हेतु-भूत क्षेत्र को छोड़ना क्षेत्र प्रत्याख्यान है ।

(५) काल प्रत्याख्यान—असंयमादि के निमित्तभूत काल का मन-वचन-काय रूप त्रिधा त्याग करना काल प्रत्याख्यान है ।

(६) भाव प्रत्याख्यान—मन-वचन-काय से मिथ्यात्व असंयम कषायादिक का परिहार करना भाव प्रत्याख्यान है ।

नियमसार में निश्चय प्रत्याख्यान का स्वरूप इस प्रकार कहा है—जो सर्व वचन जाल को छोड़कर अनागत शुभ-अशुभ सभी कर्मों का निवारण करते हुए आत्मा को ध्याता है, उसके निश्चय प्रत्याख्यान होता है ।[1]

व्यवहारनय की अपेक्षा से मुनिजन आहार के पश्चात् प्रतिदिन पुनः योग्यकाल पर्यन्त आहार का त्याग करते हैं, यह व्यवहार प्रत्याख्यान का स्वरूप है । निश्चय नय से शुभ और अशुभ समस्त

---

१. मोत्तूण सयलजप्पमणागय सुह-असुह वारणं किच्चा ।
अप्पाणं जो झायदि पच्चक्खाणं हवे तस्स ।।नि०सा०।।९५।।

वचन व्यवहार का परित्याग कर शुद्धात्म भावना की आराधना के प्रभाव से आगामी शुभ-अशुभादि द्रव्य भाव कर्म का संवर प्रत्याख्यान है। जो सदा अंतर्मुख होकर अपनी चित्त वृत्ति द्वारा परमकला के आधार अपूर्व परमात्मा का ध्यान करता है उसके सदा प्रत्याख्यान होता है।

प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान में अन्तर--भूतकाल के अतिचारों का शोधन करना प्रतिक्रमण है और वर्तमान तथा भविष्य के दोषों का त्यागना प्रत्याख्यान है। व्रतादि के अतिचारों का त्यागना प्रतिक्रमण है और अतिचार के कारण जो सचित्त भुक्ति और मिश्रपदार्थ इनका तप के लिए त्यागना अथवा प्रासुक द्रव्यों का भी त्याग करना प्रत्याख्यान है।

१ अनागत—भविष्यत् काल में किये जाने वाले उपवास आदि अनागत है। जैसें—चतुर्दशी के दिन किया जाने वाला उपवास त्रयोदशी को कर लेना यह अनागत प्रत्याख्यान है।

२ अतिक्रांत—चतुर्दशी आदि में किये जाने वाले उपवासादि को प्रतिपदा आदि में करना यह अतिक्रांत प्रत्याख्यान है।

३ कोटि सहित—कल दिन में स्वाध्याय के अनन्तर यदि शक्ति होगी तो उपवास करूंगा अन्यथा नहीं करूंगा, ऐसा संकल्प करके जो प्रत्याख्यान होता है, वह कोटि सहित प्रत्याख्यान है।

४ निखंडित —पाक्षिक आदि में अवश्य करने योग्य उपवासादि करना निखंडित प्रत्याख्यान है।

५ साकार—सर्वतोभद्र, कनकावली, आदि उपवासों को नक्षत्रादि भेद से करना साकार प्रत्याख्यान है।

६ अनाकार—स्वेच्छा से नक्षत्रादि कारणों के बिना उपवासादि करना अनाकार प्रत्याख्यान है।

७ परिमाणगत—काल प्रमाण सहित उपवास करना, जैसे षष्ठवेला, अष्टवेला आदि उपवास करना परिमाणगत प्रत्याख्यान है।

८ अपरिशेष—यावत्जीवन चार प्रकार के आहार का त्याग करना अपरिशेष प्रत्याख्यान है।

९ अध्वानगत—मार्ग विषयक त्याग जैसे—इस जंगल से निकलने तक या नदी पार करने तक आहार का त्याग करना अध्वानगत प्रत्याख्यान है।

१० सहेतुक—उपसर्ग आदि के निमित्त से उपवास आदि करना यह सहेतुक प्रत्याख्यान है।

खाद्य, स्वाद लेह्य और पेय के भेद से आहार चार प्रकार का है। प्रतिदिन आहार के अनंतर अगले दिन आहार ग्रहण करने तक जो चतुराहार का त्याग किया जाता है वह भी प्रत्याख्यान कहलाता है।

कायोत्सर्ग-आवश्यक त्यागमूर्ति, परम तपस्वी, योगीश्वर शरीर में रहते हुये योग एकाग्रता एवं भेद विज्ञान के बल से परिमित समय के लिए शरीर का परित्याग अर्थात् शरीर और पांचों इन्द्रिय से पूर्णतया दृष्टि को अपने आप में एकत्रित कर स्थिरभूत कर लेते हैं। इसे ही आचार्यों ने कायोत्सर्ग या व्युत्सर्ग आवश्यक कहा है।

आ० अकलंक देव ने राजवार्तिक में लिखा है कि परिमित काल तक शरीर में ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है। इसे व्युत्सर्ग भी कहते हैं।१

स्तुति वंदनादि क्रियाओं में शरीर से ममत्व का त्याग करना तथा बाह्य अन्तरंग लक्ष्मी विभूषित पंच परमेष्ठियों का स्मरण करना अथवा शास्त्रोक्त विधि के अनुसार श्वासोच्छ्वास को विश्राम देना, कुंभक, पूरक, रेचक के भेद द्वारा पंच परमेष्ठी का जप करना कायोत्सर्ग है।

इसके भी नामादि की अपेक्षा छह भेद हैं—तीक्ष्ण, कठोर आदि पापयुक्त नाम से आये हुए दोषों का परिहार करने के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह नाम-कायोत्सर्ग है। पाप की स्थापना के द्वारा आये हुए अतिचार को दूर करने के लिए किया गया कायोत्सर्ग स्थापना-कायोत्सर्ग है। सावद्य द्रव्य के सेवन से उत्पन्न हुए दोष के नाशार्थ किया गया कायोत्सर्ग द्रव्य-कायोत्सर्ग है। पापयुक्त क्षेत्र के सेवन से हुए दोष के नाशार्थ जो कायोत्सर्ग है, वह क्षेत्र-कायोत्सर्ग है। सावद्य काल के आचरण से प्राप्त हुए दोष के परिहारार्थ कायोत्सर्ग करना काल-कायोत्सर्ग है और मिथ्यात्व आदि दोषों को दूर करने के लिए जो कायोत्सर्ग होता है, वह भाव-कायोत्सर्ग है।

दोनों हाथ लटकाकर जिन मुद्रा से निश्चल होकर शुभध्यान में स्थिर होना कायोत्सर्ग है।

कायोत्सर्ग का उत्कृष्ट प्रमाण एक वर्ष है और जघन्य प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है। मध्यम कायोत्सर्ग के एक अन्तर्मुहूर्त से लेकर एक वर्ष के मध्यगत अनेकों भेद हो जाते हैं। (२)

एक बार णमोकार मंत्र के उच्चारण में तीन श्वासोच्छ्वास होते हैं यथा-णमो अरहंताणं पद बोलकर श्वास ऊपर खींचना और णमो सिद्धाणं पद बोलकर श्वास नीचे छोड़ना ऐसा एक श्वासोच्छ्वास हुआ। ऐसे ही णमो आइरियाणं और णमो उवज्झायाणं में एक श्वासोच्छ्वास एवं णमो लोए सव्वसाहूणं में एक श्वासोच्छ्वास ये तीन तीन उच्छ्वास हो जाते हैं। आगे कायोत्सर्ग का प्रमाण बतलाने में आचार्य उच्छ्वासों से गणना बताते हैं।

दैवसिक प्रतिक्रमण के कायोत्सर्ग में १०८ उच्छ्वास होते हैं अर्थात् ३६ बार णमोकार मंत्र जपने में १०८ उच्छ्वास हो जाते हैं। रात्रिक प्रतिक्रमण के कायोत्सर्ग में ५४ उच्छ्वास (१८ बार णमोकार जाप्य) पाक्षिक प्रतिक्रमण के कायोत्सर्ग में ३०० उच्छ्वास में महामंत्र का ध्यान होता है।

पांच महाव्रतों में किसी भी महाव्रत में अतिचार लगने पर १०८ उच्छ्वासों का जाप किया जाता है।

आहार के अनन्तर गोचरी प्रतिक्रमण में, ग्राम से ग्रामांतर गमन में, जिनेन्द्र देव के पंचकल्याणक स्थानों की वन्दना में, साधु की निषद्या वंदना में, तथा मल मूत्र विसर्जन के अनन्तर मुनिराज २७ उच्छ्वास पूर्वक नौ बार णमोकार मंत्र पढ़कर कायोत्सर्ग करते हैं अर्थात् उपर्युक्त स्थान के कायोत्सर्ग में २५ उच्छ्वास ही किये जाते हैं।

---

१. परिमितकालविषया शरीरे ममत्वनिवृत्तिः कायोत्सर्गः रा०वा० ६/२०

२. संवच्छरमुक्कस्सं भिण्णमुहुत्तं जहण्णयं होदि।
सेसा काओसग्गा होंति अणेगेसु ठाणेसु। मूलाचार।६५८।

ग्रन्थ स्वाध्याय के प्रारम्भ और समापन में तथा देव वंदना में जो कायोत्सर्ग होता है, उसमें २७ उच्छ्वास किये जाते हैं । कायोत्सर्ग के अनन्तर साधु धर्मध्यान अथवा शुक्ल ध्यान में स्थिर होते हैं ।

कायोत्सर्ग के चार भेद—उत्थित-उत्थित, उत्थित-निविष्ट, उपविष्ट-उत्थित और उपविष्ट-निविष्ट ।

जो साधु खड़े होकर जिनमुद्रा से कायोत्सर्ग कर रहे हैं और उनके परिणाम भी धर्मध्यान या शुक्ल-ध्यान रूप हैं, उनका वह कायोत्सर्ग उत्थित-उत्थित है ।

जो कायोत्सर्ग मुद्रा में तो खड़े हैं किन्तु परिणाम में आर्तध्यान अथवा रौद्रध्यान चल रहा है, उनका वह कायोत्सर्ग उत्थित -निविष्ट है ।

जो बैठकर योगमुद्रा से कायोत्सर्ग कर रहे हैं, किन्तु अन्तरंग में धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान रूप उपयोग चल रहा है उनका वह कायोत्सर्ग उपविष्ट-उत्थित है ।

जो बैठकर आर्तध्यान या रौद्रध्यान रूप परिणाम कर रहे हैं, उनका वह कायोत्सर्ग उपविष्ट-निविष्ट कहलाता है ।

इनमें से प्रथम और तृतीय अर्थात् उत्थित और उपविष्टोत्थित ये दो कायोत्सर्ग इष्टफलदायी हैं और शेष दो अनिष्ट फलदायी हैं ।

जो प्राणायामविधि से मानसिक जाप करने में असमर्थ हैं, वे उपांशु रूप वचनोच्चारण पूर्वक वाचनिक जाप करते हैं किन्तु उसके फल में अन्तर पड़ जाता है ।

कायोत्सर्ग में वचन द्वारा ऐसा उच्चारण करें कि जिससे अपने पास बैठा हुआ भी कोई न सुन सके, उसे उपांशु जाप्य कहते हैं । यह वाचनिक जाप्य भी कहा जाता है । किन्तु इसका पुण्य यदि सौ गुणा है तो मानसिक जाप्य का पुण्य हजार गुणा अधिक होता है ।१

आचार्यों ने इस महामंत्र को हमेशा जपते रहने को कहा है ।

उठते बैठते, चलते फिरते, घर से निकलते समय मार्ग में चलते समय, घर में कुछ काम करते समय शुद्ध अथवा अशुद्ध स्थिति में पग–२ पर णमोकार मंत्र को जो जपते रहते हैं, उनके सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं ।२

अन्यत्र भी कहा है—छींक आने पर, जंभाई लेने पर, खांसी आदि आने पर या अकस्मात् कहीं वेदना के उठ जाने पर या चिन्ता हो जाने पर इत्यादि प्रसंगों पर महामंत्र का स्मरण करना चाहिए । सोते समय और सोकर उठते भी णमोकार मंत्र का स्मरण करना चाहिए ।

---

१. वाचाऽप्युपांशु व्युत्सर्गे, कार्योजप्यः स वाचिकः ।
पुण्यं शतगुणं चैनः सहस्र गुण मावहेत् ॥अ० ध० ६।२४॥
अपवित्रः पवित्रो वा सुस्थितो दुःस्थितोऽपि वा ।
यः स्मरेत्परमात्मानं स बाह्याऽभ्यन्तरे शुचिः ॥

कहने का तात्पर्य यही है कि हमेशा महामंत्र का ध्यान, चिंतन और उच्चारण करते रहना चाहिए। इससे विघ्नों का नाश होता है, शांति मिलती है तथा मन के ध्यान की सिद्धि होती है।[1]

अनगार धर्मामृत में कायोत्सर्ग के ३२ दोष निम्न प्रकार वर्णित किये हैं।[2]

घोटक दोष—घोड़े के समान एक पैर उठाकर अर्थात् एक पैर से भूमि को स्पर्श न करते हुए खड़े होना।

लता दोष—वायु से हिलती लता के समान हिलते हुए कायोत्सर्ग करना।

स्तंभ दोष—स्तंभ का सहारा लेकर अथवा स्तंभ के समान शून्य हृदय होकर कायोत्सर्ग करना।

कुड्य दोष—दीवाल आदि का आश्रय लेकर कायोत्सर्ग करना।

माला दोष—पीठादि के ऊपर आरोहण कर अथवा मस्तक के ऊपर कोई रज्जु वगैरह वस्तु का आश्रय लेकर खड़े होना।

शबरी दोष—भिल्लनी के समान गुह्य अंग को हाथों से ढक कर या जंघा से जंघा को पीड़ित करके खड़े होना।

निगड दोष १—अपने दोनों पैरों को बेड़ी से जकड़े हुए पैरों की तरह बहुत अन्तराल करके खड़े होना।

८—लंबोत्तर दोष—नाभि से ऊर्ध्व भाग को लंबा करके अथवा कायोत्सर्ग में स्थित हुए अधिक ऊंचे होना या झुकना।

९—स्तनदृष्टि दोष—अपने स्तन भाग पर दृष्टि रखना।

१०—वायसदोष—कौवे के समान इधर-उधर देखना।

---

१. उत्तिष्ठन् निपतन् पतन्नपि धरापीठं लेठन वा स्मरेत्।
जाग्रद्वा वा प्रहसनं स्वपन्नपि वने बिभ्यन्निषीदन्नपि ॥
गच्छन् वेश्मनि [illegible] कर्म प्रकुर्वन्नपि।
यः पञ्च प्रभु मंत्रमेकमनिशं किं तस्य नो वाञ्छितम् ॥
ऋज्वंघ्रिस्थाने व्युत्सर्गे लीलाऽलम्बितवो युगे।
समांगुलो चतुरङ्गुलान्तरस्थपादे[illegible] ॥८०॥
कुड्याश्रितं लतावक्रं स्तंभावष्टंभकुंचिते।
स्तनेक्षाकाक [illegible] कंपित युगकंधरम् ॥[illegible]
[illegible]
[illegible] मूकसंज्ञा [illegible] ॥८[illegible]
[illegible] शबरी गुह्यगूहनम्।
कपित्थमुष्टि शीर्षोन्नमनं [illegible] ॥८[illegible]
[illegible] स्वाम स्वर्वेण घोटकोऽपि [illegible]
[illegible] द्वात्रिंशद्धिर्व्यैते त्याज्या दोषास्तथापरे ॥[illegible]॥

११—खलीन दोष—जैसे घोड़ा लगाम लग जाने से दांतों को घिसता-कट-कट करता हुआ सिर को नीचे ऊपर करता है, वैसे ही दांतों को कट-कटाते हुए सिर को ऊपर नीचे करना ।

१२—युग दोष—जैसे कधे के जुआ से पीड़ित बैल गर्दन फैला देता है, वैसे ही ग्रीवा को लम्बी करके कायोत्सर्ग करना ।

१३—कपित्थ दोष—कैंथ की तरह मुठ्ठी बांध कर कायोत्सर्ग करना ।

१४—शिर: प्रकपित दोष——कायोत्सर्ग करते समय सिर हिलाना ।

१५—मूक दोष—मूक मनुष्य के समान मुख विकार करना नाक सिकोड़ना ।

१७—भ्रू विकार दोष—कायोत्सर्ग करते समय भृकुटियों को चढ़ाना या विकार युक्त करना ।

१८—वारुणीपायी दोष—मदिरा पायी के समान झूमते हुए कायोत्सर्ग करना ।

१९ से २८ तक दिशावलोकन दोष—कायोत्सर्ग करते समय पूर्वादि दिशाओं का अवलोकन करना । इसमें दश दिशा संबंधी दश दोष हो जाते हैं ।

२९—ग्रीवोन्नयन दोष—कायोत्सर्ग करते समय गर्दन को ऊंची उठाना ।

३०—प्रणमन दोष—कायोत्सर्ग में गर्दन अधिक नीचे झुकाना ।

३१—निष्ठीवन दोष—थूकना, श्लेष्मा आदि निकलना, खकारना ।

३२—अंगामर्श दोष—कायोत्सर्ग करने में शरीर का स्पर्श करना ।

इन बत्तीस दोषों को छोड़कर धीर साधु दुःखों का नाश करने के लिए माया से रहित, विशेषता सहित, अपनी शक्ति अवस्था और उम्र के अनुरूप कायोत्सर्ग करते हैं ।

जीव गुण अधिकार

शेष गुण

१. **अचेलकत्व**—संसार के सभी पर पदार्थों से पूर्णतया ममत्व का अभाव हो जाने के कारण, सर्व संग से रहित, राग—द्वेष विमुक्त यतीश्वरों का नवजात शिशु के समान सहज दिगम्बरत्व होता है, इसे ही अचेलकत्व कहते हैं।

दिगम्बर मुनि के केवल बाह्य से ही वस्त्रादि का त्याग नहीं अपितु अभ्यंतर से भी राग-द्वेष विषय-कषायादि का अभाव हो जाता है। इनके शरीर पर तिलतुष मात्र भी परिग्रह नहीं रह जाता है तभी वे यथार्थ दिगम्बर मुनि कहलाते हैं।

मुनिराज के सभी गुणों में नग्नत्व विशेष गुण है, मोक्षमार्गी वीतराग साधकों को नग्नत्व धारण करने में किञ्चित् मात्र भी लज्जाभाव अनुभव नहीं होता परन्तु एक रागी मनुष्य क्षण मात्र के लिए भी नग्न होकर समाज के बीच में आने के लिए किसी भी प्रकार समर्थ नहीं है। दिगम्बरत्व की महिमा वचनातीत है। श्री कुन्द-कुन्द स्वामी ने कहा है—जिन शासन के अनुसार वस्त्रधारी पुरुष सिद्धि को प्राप्त नहीं होता, भले ही वह तीर्थंकर भी क्यों न हो। नग्नभेष ही मोक्ष-मार्ग है, शेष सब उन्मार्ग हैं, मिथ्यामार्ग हैं।१

मूलाचार में भी लिखा है—वस्त्र-धोती, दुपट्टा, कंबलादिक, हिरण, बाघ वगैरह का चर्म, वृक्ष की छाल अथवा पत्ते इनके द्वारा शरीर का न ढकना यह आचेलक्य मूलगुण है।२

यह आचेलक्य कड़े, केयूर, हार, मुकुट वगैरह अलंकार तथा विलेपनादि से रहित होने से रागादिक विकार उत्पत्ति में निमित्त नहीं बनता है। यह आचेलक्य मूलगुण जगत में महापुरुषों द्वारा स्वीकार किया गया है अतः वंदनीय है।

---

१. णवि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइवि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥२३॥सू०पा०

२. वत्थाजिण वक्केण य अहवा पत्ताइणा असंवरणं।
णिब्भूसण णिग्गंथं अच्चेलक्कं जगदि पूज्जं ॥३०॥मू०

यहां पर प्रश्न सहज ही हो सकता है कि वस्त्रादि को ग्रहण करने पर जूं आदि जीवों की हिंसा, वस्त्र प्राप्त करने की इच्छा, प्रक्षालन, याचना करना, इत्यादिक दोष उत्पन्न होते हैं। ध्यान अध्ययना-दिक में विघ्न उपस्थित होते हैं अतः सर्वज्ञ पवित्र वीतराग शम-संयुक्त संयमियों का वस्त्र दिग् मंडल ही रहता है। पूर्णतया निराकुल, स्वाधीन, अहिंसामय जीवन का कारण होने से जैन मुनि बालक के समान निर्विकार नग्नता को धारण करते हैं। इस विषय में स्व० बैरिस्टर श्री चंपतराय जी ने लिखा है—कि "जैन मुनिराज, जिनका शीलव्रत अत्यंत दृढ़ तथा अजेय होता है दिगम्बर रूप में विहार करते हैं।"

इसका असली हेतु यह है कि निर्वाण तब तक नहीं प्राप्त होता है जब तक सांसारिक वस्तुयें तथा वस्त्रादि परिधान की अंतिम वस्तु का भी त्याग नहीं किया जाता है अतः मोक्षमार्ग की साधना में लीन यतीश्वर आत्मनिर्भरता, आत्म निमग्नता तथा आत्मशांति के हेतु शीत आदि ऋतुकृत बाधाओं की उपेक्षा करते हुये एवं विशुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करते हुये आचेलक्य व्रत का परिपालन करते हैं।

पात्र केसरी स्तोत्र में बड़ी सुन्दर विवेचना की है "हे जिनेश्वर! आपके मत में पट-वस्त्र एवं पात्र का ग्रहण नहीं बताया गया है। सुख का साधन समझकर सामर्थ्य शून्य लोगों ने उनकी कल्पना की है। यदि वस्त्रादि को धारण करना भी मोक्षमार्ग है तो अचेलकत्व गुण निरर्थक हो जायगा। भला जब हाथ से ही सरलतापूर्वक वृक्ष के फूल प्राप्त हो सकते हैं तब कौन व्यथित वृक्ष पर चढ़ेगा।"१

आचार्य देवसेन भाव संग्रह में लिखते हैं—यदि वस्त्रादि परिग्रह सहित निर्वाण की प्राप्ति होती तो तीर्थंकर रत्न कोष के साथ अपने राज्य और वस्त्रादिक का क्यों परित्याग करते? और क्यों जनशून्य जंगलों में जाकर रहते?

इसके विषय में पात्रकेसरी स्तोत्र में इस प्रकार कहा है—"परिग्रहधारी सत्पुरुषों को भय अवश्य रहता है। उसके निमित्त से प्रकोप तथा जीवघात होता है। कठोर मिथ्या वाणी निकलती है, ममता रहती है। अपने मन में भ्रान्ति रहती है। इस प्रकार कलुष चित्त वालों को उत्कृष्ट शुक्लध्यान की कैसे उपलब्धि हो सकती है?"।२

इस प्रकार परिग्रह का संपर्क दूर होने से आत्मा की वृत्ति स्वयं परिशुद्धता को प्राप्त होती है अतः दिगम्बरत्व की महत्ता को शिरोधार्य करना तर्कसंगत बात है।

---

१. जिनेश्वर! न ते मतं पटकवस्त्रपात्रग्रहो विमृश्य सुखकारणं स्वयमशक्तकैः कल्पितः ॥
अथायमपि सत्पथस्तव भवेद्वृथा नग्नता न हस्तसुलभे फले सति तरुः समारुह्यते ॥४१॥पा० के० स्तोत्र

२. परिग्रहवतां सतां भयमवश्यमापद्यते ।
प्रकोपपरिहिंसने च परुषानृत व्याहृती ।
ममत्वमथ चोरतो स्वमनसश्च विभ्रान्तता ।
कुतो हि कलुषात्मनां परमशुक्ल सद्ध्यानता ॥ ४२ ॥ पा०के०स्तो०

भगवती आराधना में भी कहा है—चेल शब्द परिग्रह का उपलक्षण है अतः चेल शब्द का अर्थ वस्त्र ही न समझकर उसके साथ अन्य परिग्रहों का भी ग्रहण करना चाहिए। जैसे तालप्रलम्बादिक में आदि शब्द का लोप हो गया है, इसी प्रकार यहां भी आदि शब्द का लोप जानना। वस्त्र मात्र का त्याग करने पर भी यदि अन्य परिग्रहों से मनुष्य युक्त है तो उसको संयत मुनि नहीं कहना चाहिए अतः वस्त्र के साथ सम्पूर्ण परिग्रह त्याग जिसने किया है वही अचेलक माना जाता है।१

अचेलकत्व की महिमा—वस्त्र रहित यति सर्व परिग्रह के त्यागी होने से त्याग नामक धर्म में प्रवृत्त होते हैं, आकिंचन्य धर्म में प्रवृत्त होते हैं। आरम्भ का अभाव होने से असंयम भी नष्ट हो चुका है। असत्य भाषण का कारण ही नष्ट हो गया है। आचेलक्य से लाघव गुण प्राप्त होता है। अचौर्य महाव्रत की पूर्णावस्था प्राप्त होती है। रागादि का त्याग होने से परिणामों में निर्मलता आती है जिससे ब्रह्मचर्य का निर्दोष रक्षण होता है और उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव गुण प्रगट होते हैं। उपसर्ग व परीषह सहन करने की सामर्थ्य आत्मा में प्रकट होती है। घोर तप का पालन भी होता है इस प्रकार और भी अनेक गुण अचेलक्य से प्राप्त होते हैं।२

२. लोंच—शुभ नामकर्म के उदय से प्राप्त सुन्दर शरीर से परिपूर्ण विरक्त होने वाले यतीश्वर, स्वकर-कमलों द्वारा, जिनको आज तक सजाया था ऐसे अति प्रिय भ्रमर से भी काले लहराते हुये केशों को घास-फूस की तरह अहिंसा महाव्रत के रक्षणार्थ अपने हाथों से उखाड़ कर फेंक देते हैं। यही केशलोंच नाम का मूलगुण है।

लक्षण—आदमी को धन प्रिय है, धन से परिजन प्रिय हैं, परिजन से पत्नी प्रिय है, पत्नी से अधिक शरीर प्रिय है और शरीर में भी अगर कोई स्थान प्रिय है तो वह है शिरोस्थ लहराते हुये केश। धन्य है। मुनिराज को। जहां रागी आदमी एक बाल उखाड़ने में सक्षम नहीं हैं, वहाँ ये मुनिराज अपने हाथों के द्वारा दाढ़ी, मूंछ, सिर के बालों को उखाड़कर फेंक देते हैं।

उत्कृष्ट केशलोंच २ माह में, मध्यम ३ माह में तथा जघन्य ४ माह में माना गया है। केशलोंच वाले दिन नियम से उपवास किया जाता है।

---

१. देसामासियसुत्तं आचेलक्कंति तं खु ठिदिकप्पे।
लुत्तोत्थ आदिसद्दो जह तालपलंबसुत्तम्मि॥
णेव होदि संजदो वत्थमित्तचागेण सेससंगेहिं।
तम्हा आचेलक्कं चाओ सव्वेसिं होइ संगाणं॥ भ०आ० । ११२० , ११२१ ।

२. अचेलो यतिस्त्यागाख्ये धर्मे प्रवृत्तो भवति।
आकिंचन्याख्ये अपि धर्मे समुद्यतो भवति असत्यारम्भे कुतो संयमः।
न [illegible] [illegible] च अचेलत्व भवति।
अचौर्यादिकमपि संपूर्णं भवति। रागादिके त्यक्ते भावविशुद्धिमयं ब्रह्मचर्यमपि विशुद्धतमं भवति। परीषहा क्षमादि [illegible]। [illegible] [illegible] तपोऽपि घोरमनुष्ठितं भवति।

मूलाचार में लिखा है कि हाथ से मस्तक, दाढ़ी और मूंछ के केश उखाड़ना यह लोंच का लक्षण है। संमूर्छनादि जीवों की उत्पत्ति सिर में न होवे इस कारण तथा शरीर में राग मोह विकार उत्पन्न न हो इसलिए स्वशक्ति प्रगट करने के लिए सर्वोत्कृष्ट तपश्चरण के लिए मुनिलिंग के मूल गुण का परिपालन करने के लिए मुनिजन केशलोंच करते हैं। लोंच के पूर्व में भक्ति तथा लोंच के अनन्तर मुनिराज प्रतिक्रमण करते हैं।

लोंच शब्द "लुञ्च् धातु से बना है, जिसका अर्थ अपनयन-दूर करना, निकालना ऐसा है। यहां यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि जब केशों का अपनयन, निकालना क्षुरा, कैंची, उस्तरा आदि से भी होता है तो हाथ से मस्तक के तथा दाढ़ी, मूंछ के केश क्यों उखाड़ने चाहिए? आचार्य कहते हैं—

दीनता, याचना, परिग्रह, अपमान इत्यादिक दोष क्षुरादिक के द्वारा केश निकालने में होते हैं अतः मुनिराज अपने हाथ से ही केशलोंच करते हैं। इसका कारण उनका पूर्णतया स्वावलंबी जीवन, अहिंसात्मक वृत्ति का परिरक्षण और शरीर के प्रति उत्कृष्ट वीतरागता की जागृत भावना है। मुनिराज के पास कौड़ी तक नहीं रहती है, जिससे नाई से बाल बनवायें। छुरा, नाई के ऊपर निर्भर रहना परावलम्बन है और परावलम्बन में आकुलता है, आकुलता ही दुख का मूल है।

केशलोंच की आवश्यकता क्यों?—भगवती आराधना में कहा है—सुगन्धित पदार्थों से केशों का संस्कार करना, जल से धोना इत्यादि क्रियाएं करने से केशों में जूं और लीख ये जन्तु उत्पन्न होते हैं जब इनकी उत्पत्ति केशों में हो जाती है, तब इनको वहां से निकालना बड़ा कठिन काम है। जू और लीखों से पीड़ित होने पर मन में नवीन पापकर्म का आगमन कराने वाला अशुभ परिणाम, संक्लेश परिणाम हो जाता है। जीवों के द्वारा काटे जाने पर शरीर में असह्य वेदना होती है तब मनुष्य सिर खुजलाता है, सिर खुजाने से जूं लीखादि का मर्दन होने से हिंसा होती है। ऐसे दोषों से बचने के लिए मुनि आगमानुसार केशलोंच करते हैं।[1]

केशलोंच से प्रयोजन—भगवती आराधना में कहा है शिरोमुंडनहोने पर निर्विकार प्रवृत्ति होती है। उससे वह मुक्ति के उपायभूत रत्नत्रय में उद्यमशील बनता है अतः लोंच परम्परा रत्नत्रय का कारण है। केशलोंच करने से मुनिराज आत्मा को स्ववश करते हैं, सुखों में वे आसक्ति नहीं रखते हैं। लोंच करने से स्वाधीनता तथा निर्दोषता गुण मिलता है एवं देह से ममता नष्ट होती है। इससे धर्म के (चारित्र के) ऊपर श्रद्धा व्यक्त होती है। लोंच करने वाले मुनि उग्रतप अर्थात् कायक्लेश नाम का तप तपते हैं, तथा लोंच करने से दुख सहने का अभ्यास हो जाता है।[2]

---

१. बियतियचउक्कमासे लोचो उक्कस्समज्झिम जहण्णो।
सपडिक्कमणे दिवसे उववासेणेव कायव्वो ॥ २९ ॥ मू०।

२. लोच कदे मुडत्तं मुडत्ते होइ णिव्वियारत्तं। तोणिव्वियार करणोय पग्गहिददरं परक्कमदि ॥
अप्पा दमिदो लोएण होइ ण सुहेय संगमुवयादि। साधीणदा य णिद्दोसदाय देहे य णिम्ममदा ॥
आणक्खिदाय लोचेण अप्पणो होदि धम्मसद्धा य। उग्गो तवो य लोचो तहेव दुक्खस्स सहणं च ॥ भ०आ० । ८९–९०–९१

इस प्रकार परम वीतरागी यतीश्वर भेदविज्ञान कर वैराग्य की वृद्धि के हेतु समता भाव पूर्वक केशों का लोंच करते हैं।

१. **अस्नान**—शरीर को अलंकृत एवं स्वच्छ बनाने की भावना समाप्त हो गयी है जिनकी, ऐसे निज स्वरूप में निमग्न, परम वीतरागी मुनिराज शरीर से लगे मल को पृथक् करने के लिए जल से स्वप्न में भी स्नान नहीं करते हैं यही अस्नान नामक मुनियों का मूलगुण है।

भेदविज्ञान रूपी जल से आत्म-स्वरूप को प्रक्षालन करने में तन्मय यतीश्वर स्व शरीर प्रक्षालन को संसारवर्धक पाप समझते हैं। क्योंकि पानी की एक बूंद में असंख्यात जीव हैं ऐसा आचार्यों ने बताया है, शरीर नश्वर है, मल—मूत्रादि घृणित पदार्थों का पिंड है, जल से मल-मल कर धोने पर भी स्वच्छ नहीं होता इसलिए मुनिराज जल स्नान न कर मंत्र स्नान कर आहार, देवदर्शन, स्वाध्याय करते हैं।

आहार शौचादि के समय घुटनों से नीचे पैर तथा कुहनी से नीचे हाथ धोते हैं।

क्यों—मुनिराज अपनी आत्मा को सुगुणों से अलंकृत करते हैं, जब आत्मा सुसंस्कृत हो जाती है, तब अनात्मरूप अशुचि शरीर को सजाने, सुन्दर बनाने की ओर ध्यान नहीं जाता। जब पवित्र और स्थायी सौन्दर्य के सिंधु, आत्मतत्व पर दृष्टि जम जाती है, तब पुद्गल का सौन्दर्य नगण्य दीखता है और तत्त्वज्ञ की पैनी दृष्टि के समक्ष वह अपवित्रता-अशुचिता, वीभत्सता का भयंकर संग्रहालय दिखाई देता है, ऐसी घृणा की भूमि को सजाने में आत्मवान् सुसंस्कृत, समुन्नत, चेतस्क साधु कैसे तत्पर होगा? इसलिए दिगम्बर मुनिराज स्नान त्याग करते हैं।

मूलाचार में इस मूलगुण का इस प्रकार स्वरूप बताया है—जल में प्रवेश करके स्नान करना, शरीर में उबटन लगाना, आंखों में अंजन लगाना, अंगो को जल से धोना, तांबूल भक्षण करना इत्यादि अंगोपांग को सुखी करने के साधन हैं। इनका त्याग करने से अस्नान नामक गुण का पालन होता है। इस व्रत से प्राणिसंयम और इन्द्रिय संयम का पालन होता है तथा उत्कृष्ट गुणों की प्राप्ति होती है। तथा सर्व अंग जिससे मलिन होता है, ढक जाता है ऐसे मल को जल्ल कहते हैं। एकादि भाग जिससे व्याप्त होता है इसको मल कहते हैं। रोम के छिद्रों से जो जल बाहर आता है उसको स्वेद कहते हैं। इस अस्नान व्रत के धारण करने से शरीर उपर्युक्त जल्लादिक मल से व्याप्त होता है।

समान्यतया जगत शुचिता के लिए स्नान को साधन मानता है, किन्तु मुनियों की दुनिया भिन्न प्रकार की है। वहाँ सत्य का सूर्य प्रकाश देता है अतः शरीर का सम्यक् स्वरूप दृष्टि पथ में आ जाने से उसकी शुचिता के हेतु जलादि का प्रयोग करना मलराशि के शोधन के समान व्यर्थ का प्रयास दिखता है, वे पुण्याचरण के द्वारा अपनी आत्मा को निरंतर उज्ज्वल बनाते रहते हैं। शरीर की वास्तविक स्थिति उन्हें भुलावे में नहीं डाल सकती है, वे इसकी संपूर्ण परिस्थिति से परिचित हैं।

आचार्य देवसेन कहते हैं-देह सर्वथा मलिन है, देही सदा निर्मल स्वरूपी है अतः जल से किसकी शुद्धि होगी ? इस कारण स्नान द्वारा शुद्धि नहीं होती ।

अन्यत्र भी लिखा है–"यह आत्मा एक नदी के सदृश है इसमें सत्य रूप जल भरा है, संयम रूपी धार है, शील रूप तट है, दया की लहरों से व्याप्त है ।" हे पांडु पुत्र ! इस आत्म नदी में डुबकी लगाने से आत्मा पवित्र होती है । भला कहीं जल से भी आत्मा की शुद्धि होती है ।

इस प्रकार जो निश्चयपथ के पथिक हैं, ऐसे मुनियों की शुचिता उनकी विशुद्ध प्रवृत्ति के द्वारा सदा बनी रहती है ।

साधु की शरीर के प्रति अनासक्ति तथा उसकी सजावट के प्रति पूर्ण उपेक्षा उन्हें आत्मचिंतन और आत्मपथ की ओर प्रेरित करती है । साधुत्व के स्वरूप को बहिर्दृष्टि वाले नहीं समझ पाते, वे नहीं जानते कि कब ऐसा दिन आये जब मैं अपनी आत्मा के एकत्व-विभक्त सौन्दर्य का अवलोकन कर सकूं । यह सौन्दर्य दिगम्बर मुनियों को जिन शासन की शरण से सहज ही प्राप्त होता है ।"

सहजात मुद्राधारी मुनिराज का पवन, प्रकाश द्वारा निरंतर बहिस्स्नान होता है तथा ब्रह्मचर्य, अहिंसा, संयमादि द्वारा अंतः शुचिता का भी उनको अपूर्व सौभाग्य प्राप्त होता है ।१

अस्नान मूलगुण के विषय में अनगार धर्मामृत में लिखा है ब्रह्मचारियों को विशेषकर आत्मदर्शी मुनियों को जल शुद्धि से प्रयोजन नहीं है अथवा वह जल शुद्धि दोषों के अनुसार जिनागम में कही गई है ।२ सोमदेवसूरि ने लिखा है "कि जो रागद्वेष मद से उन्मत्त हैं, स्त्री आसक्तियुक्त हैं, वे सैकड़ों तीर्थों में डुबकी लगाने पर भी अपवित्र रहते हैं ।"

आचारसार शास्त्र में लिखा है "इन्द्रिय संयम तथा प्राणी संयम के रक्षणार्थ जल्ल, स्वेद तथा मल लिप्त शरीर वाले मुनिराज का स्नानादि का न करना अस्नानव्रत माना गया है ।"३

४. क्षितिशयन—स्वरूप की कोमल शय्या पर चिरनिद्रा में निमग्न परम वीतरागी दिगम्बर मुनिराज क्वचित्, कदाचित् रात्रि के पिछले पहर में श्वान निद्रा जहां भी जैसी निर्जन भूमि (कंटक, निष्कंटक, पृथ्वी, रेत, पाषाण, शिला, गुफा, कोटर, श्मशान आदि) उपलब्ध हो जाती है, वहाँ दायीं करवट से पैरों को सिकोड़े हुये ध्यान की वृद्धि के हेतु शरीर को विश्राम देने के लिए अधिक से अधिक ३ घंटे विश्राम करते हैं । यह भूमि शयन नाम का मुनिराजों का मूलगुण है ।

१. ण्हाणादि वज्जणेण य विलित्त जल्लमल सेद सव्वंगं ।
अण्हाणं घोरगुणं संजम दुग पालयं मुणिणो ॥ ३१ ॥ मूलाचार

२. रागद्वेष मदोन्मत्ताः स्त्रीणां ये वशवर्तिनः ।
न ते कालेन शुध्यन्ति स्नातास्तीर्थ शतैरपि ॥ अ०ध० क्षेपक गा० १८ ॥

३. संयमद्वयरक्षार्थं स्नानादेर्वर्जनं मुनेः ।
जल्लस्वेद मलालिप्त - गात्रस्यास्नानता स्मृता ॥ ४३ ॥आ०सा० ।

रानी आत्मा उत्तम के गद्दों पर, पुष्पों की शय्या पर शयन करके आनंदित होते हैं। देखो, इन मुमुक्षु ऋषीश्वरों को जो पलंग, खाट, गद्दा आदि कोमल शय्या के सर्वथा त्यागी हैं। अगर विशेष परिस्थिति हुई तो घांटा या घास से बनी हुई चटाई का ही उपयोग करते हैं, अन्य उपकरणों का नहीं।

क्यों—भूमिशयन नामक मूलगुण पर मूलाचार में लिखा है "जहां जीव हिंसा, मर्दन, कलह, संक्लेश परिणाम नहीं होते हैं, ऐसे जीव वध रहित निर्जन्तुक भूमि प्रदेश में जो अल्प तृणादिक प्रक्षिप्त नहीं है अर्थात् जहां शयन के लिए कवेड़ा भी कुछ नहीं है, अथवा जहां अल्प संस्तर है, जो तृणमय या काष्ठ का बना हुआ फलक किंवा शिला है ऐसे देश में, जो कि गृहस्थयोग्य प्रच्छादन और शय्या से रहित है ऐसे स्थान में सोना यह भूशयन नामक मूलगुण है। दण्ड के समान अर्थात् धनुष के समान एक करवट से सोना चाहिए नीचे मुख करके अथवा ऊपर मुख करके नहीं सोवें क्योंकि ऐसे सोने से स्वप्नदोषादि उत्पन्न होते हैं।

आचारसार में भी लिखा है "मुनियों को शुद्ध, प्रासुक तथा अपने द्वारा जिसे संस्कृत नहीं किया गया है, ऐसी भूमि, शिलातल आदि पर एक ही करवट से धनुष दंड के समान सोना भूमि-शयन कहा है।"

इन्द्रियजनित सुख को दूर करने के लिए, तप की भावना के हेतु तथा शरीरादि में निस्पृहतादि के लिए भूमिशयन किया जाता है।

चोरों की नगरी में पहुंचे हुए पथिक को जिस प्रकार नींद कठिनता से आती है, वह अपने जान-माल के रक्षार्थ सावधान रहता है इसी प्रकार कर्मचोरों द्वारा आत्मनिधि न लुट जाये, इससे मुनिराज अल्प निद्रा लेते हैं।[1] मोहनींद के दूर हो जाने से मुनिराज आत्म-स्वरूप में सतत् जाग्रत रहते हैं, जबकि जगवासी जीव आत्म कल्याण के कार्य में सदा सोते रहते हैं। मुनिराज प्रहरी के समान रात्रि के समय जाग्रत रहकर आत्मगुणों का चिंतन करते हैं। इस प्रकार मुनीश्वर क्षितिशयन नामक मूलगुण का पालन करते हैं।

५. अदंतधावन—हीरे और मोतियों के समान परमकीर्तिमान आत्मीय अनंतगुणों को भेद-विज्ञान रूपी जल और रत्नत्रय रूपी मंजन से मांजकर शुद्ध कर लिये हैं जिन्होंने ऐसे चारों आराधना में विलीन परम पुनीत मुनिराज नीमादि की दातोन या अनेक प्रकार के सुन्दर मंजनों से दांतों को चमकीले नहीं बनाते। यही मुनियों का अदंतधावन नाम का मूलगुण है।

आहार से पहले मोक्षमार्गी साधु दंतधावन नहीं करते परन्तु आहार के अनंतर अगर दांतों को स्वच्छ नहीं किया जाये तो उनके बीच में भोज्य सामग्री के कण विद्यमान रहेंगे, जिनमें अन्तर्मुहूर्त के अनंतर

---

१. फासुयभूमिपएसे अप्पमसंथारिदम्हि पच्छण्णे।
दंडं धणुव्व सेज्जं खिदिसयणं एयपासेण ॥ ३२ ॥ मूलाचार।

ही अनंत त्रसजीवों की उत्पत्ति हो जायेगी अतः त्रस जीवों की हिंसा से बचने के लिए आहार के अनंतर गरम पानी में नमक फिटकरी आदि का मिश्रण कर साधुओं को अच्छी तरह दांतों से अन्नकण आदि पृथक् कर देने चाहिए इससे अदंतधावन मूलगुण में किसी प्रकार का दोष उपस्थित नहीं होगा । अदंतधावन का आशय यहाँ पर इतना ही है कि श्रावकों के समान मुनीश्वर दातोन एवं मंजन आदि के द्वारा दन्त पंक्तियों का परिमार्जन नहीं कर सकते हैं ।

आचारसार में लिखा है–भोगों या शरीर के स्वरूप को जानने से वैराग्य रूपी मंदिरों में रहने वाले मुनियों के पाषाण अंगुली वृक्ष की छाल नखादि के द्वारा दांतों का नहीं घिसना अदंतधावन मूलगुण है ।1

मूलाचार में भी कहा है–हाथ की अंगुली, नख, नीम वगैरह की लकड़ी, तृण विशेष पाषाण, वृक्ष की छाल, मंजन आदि के द्वारा परिमार्जन नहीं करना अदंतधावन है । इससे इंद्रिय संयम का रक्षण होता है तथा इस मूलगुण का पालन करने से मुनियों की विरागता में वृद्धि होती है तथा सर्वज्ञ जिनेश्वर की आज्ञा का पालन होता है ।२

शरीरशास्त्र का कथन है कि जब पेट में मल की अधिकता तथा विकृति रहती है, तब उसकी उष्मा से जिह्वा और दांतों में मलिनता का संचय होता है । इसी कारण रोगी के दांतों और जीभ की स्वच्छता की ओर ध्यान दिया जाता है । मुनिराज उपवास आदि तपश्चर्या के कारण शरीर को इतना अल्प मात्रा में आहार पहुंचाते हैं कि उसे जठराग्नि तत्काल भस्म कर देती है अतः पाचन क्रिया ठीक रहने से नैसर्गिक रीति से साधुओं के दात और जीभ स्वच्छ रहते हैं । उनका मूल लक्ष्य है-आत्मिक स्वास्थ्य । आत्म चिंतन में निमग्न रहने के कारण उन यतीश्वरों का ध्यान शरीर की सुन्दरता की ओर नही जाता है । अतः वे आत्म-शरीर की चिन्ता रखते हैं और इस पौद्गलिक मल मंदिर की सजावट के प्रति विमुख रहते हैं । यह वृत्ति मुनियों की उत्कृष्ट आध्यात्मिक शुद्धि और ब्रह्मनिष्ठा को सूचित करती है ।

६. **स्थिति भोजन**—मुक्ति-सुन्दरी के कर कमलों की वरमाला के लिए कटिबद्ध परम तपस्वी वीतरागी यतीश्वर क्षुधारोग की शांति के लिए श्रावक के गृह पधार कर खड़े-खड़े पाणिपात्र अर्थात् अपने हाथों में ही प्रासुक आहार ग्रहण करके सामायिक एवं ध्यान के लिए प्रस्थान कर जाते हैं। यह स्थिति-भोजन मूलगुण है ।

परिभाषा–आचारसार में लिखा है शुद्ध भूमि पर दोनों पैरों को समान अंतर से रखकर निराधार खड़े होकर द्रव्य, दाता और पात्र इन तीनों की विशुद्धतापूर्वक दोनों हाथों से भोजन करना यह स्थिति, भोजन मूलगुण है ।

---

१. दशना घर्षणं पाषाणां गुलित्वंमनखादिभिः ।
स्यादन्ताकर्षणं भोगदेह वैराग्यमंदिरे ॥ ४६ ॥ आ० सा० ।

२. अंगुलिण हावले हणिकणीहिं पासाण छल्लियादीहिं ।
दंतमला सोहणयं संजमगुत्ती अदंतमणं ॥ ३३ ॥ मू० ।

मूलाचार में भी लिखा है मुनिराज खड़े होकर अंजुलि-पुट के द्वारा कर पात्र में आहार लेते हैं। वे किसी का आश्रय लेकर अथवा बैठकर या लेटे हुए आहार नहीं लेते हैं। दोनों पैरों में चार अंगुल का अन्तर रखते हैं तथा परिशुद्ध भूमि में खड़े होकर आहार लेते हैं।[1]

जिस स्थान पर खड़े होकर मुनि आहार लेते हैं, ऐसा उनके चरणों का भूमि प्रदेश, उच्छिष्ट जहां गिरता है वह भूमि तथा जहां दाता खड़ा है ऐसे तीन स्थान जीव वधादि दोषों से रहित होने चाहिए। ऐसे प्रदेश में खड़े होकर दीवाल आदि का अवलंबन न लेकर पाणि-पात्र में आहार लेना स्थिति भोजन है।

अनगार धर्मामृत में लिखा है जब तक मैं अंजुलि बनाकर तथा खड़े होकर भोजन करने में समर्थ रहूंगा, तब तक मैं आहार ग्रहण करूंगा। जब ऐसी सामर्थ्य नहीं रहेगी तब मैं आहार ग्रहण नहीं करूंगा। सल्लेखना समाधि ग्रहण कर लूंगा। इस प्रकार की प्रतिज्ञा के पालनार्थ तथा इन्द्रिय और प्राणि-संयम के रक्षार्थ खड़े होकर आहार किया जाता है।[1]

खड़े होकर आहार लेने से इन्द्रिय संयम, प्राणि सयम का रक्षण होता है तथा अंतराय के आने पर बहुत अनाज को नहीं छोड़ना पड़ता है, अन्यथा पूरी की पूरी थाली छोड़नी पड़े, उसमें दोष होगा। इस प्रकार मुनिराज स्थिति भोजन अर्थात् खड़े होकर भोजन ग्रहण करते हैं।

७. **एक भुक्ति**—एकत्वविभक्त, शुद्ध चैतन्य स्वरूपी, ज्ञानामृत आहार से तृप्त महामुनिराज शरीर के माध्यम से तीर्थ यात्रा आदि शुभोपयोग में विहार करने के लिए दिन में एक बार छयालीस दोषों से रहित उत्तम कुलवाले श्रेष्ठ श्रावक के घर सादा एवं शुद्ध आहार ग्रहण करते हैं। यह एक भुक्त नाम का मूलगुण है।

स्वरूप—आचारसार में कहा है "सूर्योदय और सूर्यास्त इन दोनों के तीन घड़ी काल को छोड़कर एवं सामायिक, स्वाध्याय तथा अकाल को छोड़ कर दिन में एक, दो, तीन मुहूर्त काल में एक बार भोजन करना मुनि का एक भुक्त नामक मूलगुण है।"[1]

मूलाचार में भी कहा है—"तीन घटिका प्रमाण उदयकाल और अस्तकाल को छोड़कर तथा मध्यान्ह सामायिक काल भी छोड़कर भोजन करना एक भुक्ति है।"[2]

मुनिराज इस मूलगुण का पालन, इंद्रियजय, अभिलाषा का त्याग, ज्ञान ध्यान तप आदि गुणों की वृद्धि के लिये करते हैं।

---

१. अंजलिपुडेण ठिच्चा कुड्डाइ विवज्जणेण समपायं।
परिसुद्धे भूमितिये असणं ठिदिभोयणं णाम ॥ ३६ ॥

१. उदयास्तोभयं त्यक्त्वा, त्रिनाडीर्भोजन सकृत्।
एक द्वि त्रिमुहूर्तं स्यादेक भुक्तं दिने मुनेः ॥ ४६ ॥ आ०सा०।

२. उदयत्थमणे काले णाली तियवज्जियम्हि मज्झम्हि।
एकम्हि दुअ तिए वा मुहुत्तकालेय भत्तं तु ॥ ३७ ॥

एक भुक्त अर्थात् एक बार आहार पान ग्रहण करने का यह भाव नहीं है कि प्रतिदिन मुनियों को आहार लेना ही चाहिए कारण मुनिराज कर्मों की निर्जरा तथा आत्म शुद्धि के हेतु बहुधा उपवास करते रहते हैं अतः एक भुक्त का भाव यही है कि वे यदि आहार लें तो दिन में एक बार से अधिक ग्रहण नही करेंगे । शरीर के रोगी होने पर या और कोई विशेष असाधारण कारण आने पर वे त्रिकाल में भी इस नियम में क्षति नहीं पहुंचाते ।

इस प्रकार दिगम्बर मुनिराज मुक्ति पथ पर अग्रसर होते हुये आत्मनिधि को पाने के लिए इन मूलगुणों का निरतिचार पालन करते हैं ।

आचार्य—आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में आचार्य पद की बड़ी प्रतिष्ठा है । कुन्दकुन्दस्वामी ने लिखा है जो निर्ग्रन्थ मुनि, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, तप और चारित्र रूप पंचाचारों का निरतिचार पालन करते हैं, दूसरों से इन पंच आचारों का पालन कराते हैं तथा इनका उपदेश देते हैं उन्हें आचार्य कहते हैं ।(१)

धवलाटीका में कहा है—जो पंचविध आचार का पालन करते हैं, दूसरों से पालन कराते हैं उन्हें आचार्य कहते हैं ।(२)

पुनः लिखा है—जिनकी बुद्धि जिनागमरूप जलधि के मध्य में स्नान द्वारा निर्मल हो गयी है, जो शुद्धता पूर्वक छह आवश्यकों का पालन करते हैं, मेरु के समान निश्चल हैं, वीर हैं, सिंह सदृश हैं तथा श्रेष्ठ हैं, वे आचार्य कहलाते हैं ।(३)

जो देश, कुल तथा जाति से शुद्ध हैं, सौम्यमूर्ति हैं, बाह्य तथा अन्तरङ्ग परिग्रह से उन्मुक्त हैं, जो गगन के समान निर्लेप हैं, ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते हैं ।(४)

जो संग्रह तथा शिष्यों के दोषों का दंड द्वारा निग्रह करने में प्रवीण हैं, सूत्रों के अर्थ चिंतन में विशारद हैं, विस्तृत कीर्ति हैं, जो आचरण करने में वारण अर्थात् दोषों का निवारण करने में तथा व्रतों की रक्षा करने वाली क्रिया के साधन में निरन्तर रत रहते हैं, उन्हें आचार्य परमेष्ठी समझना चाहिये ।(५)

---

१. आयारं पंचविहं चरदि चरावेदि जो णिरदिचारं ।
उवदिसदि य आयारं एसो आयारवं णाम ॥ ४२५, मूलाचार ॥

२. पंचविधमाचारं चरन्ति चारयन्तीत्याचार्याः ।पृ० ४८ , भाग१, धवला टीका ॥

३. पवयण जलहि - जलोय-ण्हायामल - बुद्धि सुद्धछावासो ।
मेरुव्व णिप्पकंपो सूरो पंचाणणो वज्जो ॥ ११६ मू० आ०

४. देसकुलजाइ सुद्धो सोमंगो संग भंग उम्मुक्को ।
गयणव्व णिरुवलेवो आइरियो एरिसो होइ ॥

५. संगह णुग्गह कुसलोसुत्तत्थ विसारओ पहियकित्ती ।
सारण - वारण सोहण किरियुज्जुत्ती हु आइरियो ॥

आचार्य वीरसेन स्वामी ने लिखा है—जो आचाराङ्ग के धारक हों अथवा तत्कालीन जिनागम तथा अन्य शास्त्रों के पारङ्गत हों, मेरु के समान निश्चल हों, पृथ्वी के समान सहनशील हों, सागर के समान मल दोषों को दूर करने वाले हों तथा जो सात प्रकार के भयों से रहित हों वे आचार्य हैं।१

आचार्य विनय-आकुल की आचार्य भक्ति में लिखा है—आचार्य परमेष्ठी उत्तम क्षमा के द्वारा पृथ्वी सदृश है, निर्मल भाव की अपेक्षा स्वच्छ जल के समान हैं। कर्मेन्धन को दहन करने में अग्नि रूप हैं, परिग्रह रहित होने से पवन तुल्य हैं। (२)

जो आगम के समान निर्लेप है, सागर सदृश अक्षोभ्य है, इस प्रकार गुणों की राशि मुनि-श्रेष्ठ आचार्य परमेष्ठी के चरणों को शुद्ध हृदय से प्रणाम करता हूं।३

वंशकुल परम्परा की शुद्धता होने पर भावों में उच्चता आती है। इसी कारण सोमदेव सूरि ने अपने ग्रन्थ यशस्तिलक चंपू में लिखा है— मुनि दीक्षा के योग्य त्रिवर्ण ही हैं(४) इसी कारण आचार्य की स्तुति में उनकी कुलीनता का उल्लेख करते हुये लिखा है—

जो देश से शुद्ध हैं, पितृपक्ष तथा मातृपक्ष से शुद्ध हैं, निर्मल मन, वचन, शरीर युक्त हैं ऐसे आचार्य परमेष्ठी पूर्णतः स्व-पर हितैषी होते हैं। वह मेरे लिये मङ्गलमय हों।(५)

महाबंध के मंगल श्लोक में लिखा है—जिसने रत्नत्रय रूपी तलवार के प्रहार से मोह रूपी सेना के मस्तक को विदीर्ण कर दिया है तथा भव्य जीवों का परिपालन किया है वे आचार्य महाराज प्रसन्न होवें।

आचार्य परमेष्ठी का वीतराग शासन होता है जबकि राजाओं का सराग शासन होता है। आचार्य महाराज के शासन में रहने वाला, गुरु प्रसाद से स्वर्ग, मोक्ष की सामग्री को प्राप्त करता है किन्तु राजा के प्रसाद से ऐहिक कुछ सामग्री मिल जाती है। "राजा प्रसन्नं गज भूमि दानम्"। राजा प्रसन्न होने पर हाथी एवं भूमि आदि का दान देते हैं किन्तु आचार्य प्रसन्न होते हैं तो वे शिष्य को अपने समान बना लेते हैं। आचार्य पद और राजा के विषय में कुलीनता की मान्यता समान रूप से स्वीकार की गई है

---

१. आचाराङ्ग धरोवा तात्कालिक स्वसमय परसमय
पारगो वा मेरुरिव निश्चलः क्षितिरिव सहिष्णुः ॥
सागर इव बहिः क्षिप्तमलः सप्तभय विप्रमुक्तः आचार्यः ॥ धवला टी०भा० १ पृ० ४।४८ ॥

२. उत्तम खमाए पुढवी पसण्ण भावेण अच्छजलसरिसा ।
कम्मिंधण दहणादो अगणी वाऊ असंगादो ॥

३. गयणमिव णिरुवलेवा अक्खोहा सायरुव्व मुणिवसहा ।
एरिस गुण णिलयाणं पायं पणमामि सुद्धमणो ॥ प्राकृतआचार्यभक्ति ६ ॥

४. दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाः ॥ यशस्तिलक चंपू पृ० ४०५ ॥

५. देस-कुल-जाइ सुद्धा विसुद्ध मणवयण काय संजुत्ता ।
तुम्हं पाय पयोरुह मिह मंगल मत्थु मे णिच्चं ॥ १-प्राकृतआचार्य भक्ति ॥

नीति वाक्यामृतम् में कहा है—

"स्वजाति योग्य संस्कार हीनानां राज्ये प्रव्रज्यायां च नास्त्यधिकारः" अर्थात् स्वजाति के योग्य संस्कार विहीनों को,न राज्य का अधिकार रहता है, न दीक्षा का ही अधिकार होता है । आचरण हीन व्यक्ति को अपात्रता के कारण इन दो पदों के अयोग्य कहा है ।

अनासक्ति—यहां यह भी शंका हो सकती है कि जिस प्रकार राजा को प्रजा के सुख दुख की निरन्तर चिन्ता रहती है उसी प्रकार आचार्य को भी चिन्ता रही तो उनका निर्ग्रन्थपना विपत्तिपूर्ण हो गया । घर के कुटुम्बियों की चिन्ता छोड़ कर दूसरों की चिन्ता ले ली जिसके मस्तक पर मुकुट विराजमान रहता है वह बेचैन रहा करता है । यह संकट आचार्य के शासन में नहीं है । संघ के साधुओं को सन्मार्ग में लगाते हुए भी आचार्य की अनेक विषय में रंचमात्र भी आसक्ति नहीं है । विचारवान् सहज ही सोच सकता है कि जिस शरीर को योग्य आहार पानादि देते हुये भी निरन्तर जब वे अपनी चैतन्य ज्योतिपुंज को पृथक् अनुभव करते हैं, तब बाह्य सम्पर्क में आने वालों के साथ मोह और ममत्व कैसे हो सकता है । धर्म के परिवार की वृद्धि करते हुए रत्नत्रय का पोषण करने के कारण आचार्य परमेष्ठी तो अधिक विशुद्धता को ही प्राप्त करते हैं, वृद्धिगत करते हैं ।

आचार्य परमेष्ठी के ३६ मूल गुण

आचार्य परमेष्ठी के ३६ मूलगुण—संघ के संचालक, आगम, ज्ञान में कुशल, विषयकषायों से परे, स्वपरोपकारी, दिगम्बराचार्यों के ३६ मूलगुण होते हैं । उन छत्तीस, मूलगुणों, के अतिरिक्त साधु परमेष्ठी के २८ मूलगुण भी नियम से होते हैं, और अगर आचार्य विशिष्ट ज्ञानी हैं, तो उपाध्याय के भी २५ मूलगुण उनमें संभव हैं ।

३६ मूलगुणों के नाम निम्न प्रकार हैं— १२, तप, दस धर्म, पंचाचार, ३ गुप्ति और षड् आवश्यक

६ बहिरंग तप—१ अनशन २ ऊनोदर ३ वृत्तिपरिसंख्यान ४ रसपरित्याग ५ विविक्तशय्यासन ६ कायक्लेश ।

अंतरंग तप— १ प्रायश्चित्त २ विनय ३ वैयावृत्य ४ स्वाध्याय ५ व्युत्सर्ग ६ ध्यान । इनकी विशद् विवेचना तपाचार में है ।

दस धर्म—१ उत्तम क्षमा २ मार्दव ३ आर्जव ४ शौच ५ सत्य ६ संयम ७ तप ८ त्याग ९ आकिंचन्य १० ब्रह्मचर्य ।

आचार्य गुणधिकार

जिस प्रकार वृक्षों की शोभा पत्तों से नहीं फलों से होती है, आकाश की शोभा तारों से नहीं चन्द्रमा से होती है नारी की शोभा श्रृंगार से नहीं शील से होती है, ठीक उसी प्रकार यतिवरों की शोभा केशलुंचन, एकाहार, पदयात्रा आदि से नहीं, उनकी शोभा अन्तर आत्मा में अनुभूत दशधर्मों से होती है। यद्यपि जो उत्तम सुख को प्राप्त करा दे वह एक ही धर्म है परन्तु आचार्यों ने व्यवहार नय की अपेक्षा धर्म के दस लक्षण प्रतिपादित किये हैं। आचार्य, उपाध्याय एवं साधु ये हमारे तीनों ही परमेष्ठी धर्मस्वरूप ही हैं, फिर भी आचार्य परमेष्ठी के मूलगुणों में विशेष रूप से दशधर्मों को समाहित किया गया है। उन दश धर्मों की व्याख्या संक्षेप से निम्न प्रकार है—

१. क्षमा—"क्षम्यते इति क्षमा" अर्थात् अनेकों प्रतिकूल निमित्त मिलने पर भी अपने साम्य भाव से विचलित न होना ही क्षमा है। जिस प्रकार पानी का स्वभाव शीतल होता है ठीक उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव साम्य एवं क्षमा रूप होता है। जैसे पानी अग्नि का संयोग पाकर खौल उठता है, स्पर्श करने पर शीतलता के स्थान पर दाह जनक बन जाता है। ठीक उसी प्रकार क्रोध रूपी अग्नि के संयोग से अनादि काल से आत्मा का साम्य गुण पानी के समान खौलता आ रहा है स्वभाव से विचिलित होता आ रहा है।

मोक्षमार्ग पर अग्रणी यतिवरों के यह क्षमाधर्म स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहता है। कुत्सित पुरुषों के द्वारा अनेकों प्रतिकूल निमित्त मिलने पर भी अपने क्षमा गुण से विचलित नहीं होते।

२. मार्दव—"मृदोर्भाव: मार्दवं" अर्थात् मृदु (कोमल) भाव को मार्दव कहते हैं। मोक्ष महल की ऊंचाइयों को छूने केलिए प्रयत्नशील यतिवर स्वभाव से ही विनम्रता की मूर्ति होते हैं। वे ज्ञान, ध्यान में निरन्तर लीन रहते हैं एवं जाति, कुल, ज्ञान, शरीर, ऐश्वर्य, प्रभाव आदि के घमंड से सर्वथा दूर रहते हैं। मान कषाय का उनके जीवन में किंचित् मात्र भी स्थान नहीं है। आत्म स्वरूप का गौरव बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं ऐसे मुनिवरों की सहज स्वानुमुखी वृत्ति ही मार्दव धर्म है। अनेकों प्रकार के अनुशंसा प्रशंसा एवं सम्मान, अपमान के अनुकूल–प्रतिकूल निमित्त मिलने पर भी तपस्वी मुनिराजों को किंचित् मात्र भी अभिमान नहीं होता।

३. आर्जव—"ऋजोर्भाव आर्जवम्" अर्थात् छल कपट माया प्रपंच रहित आत्मा के सहज सरल भाव को आर्जव कहते हैं। मुनिराज के मन में किंचित् मात्र भी मायाचार नहीं होता। वे किसी के भी साथ स्वप्न में भी छलकपट करने की भावना नहीं भाते। उनके मन, वचन एवं काय इन तीनों की परिणति एक रूप होती है। जो मन में होता है वही जिव्हा से उच्चारण करते हैं और जैसा कथन करते हैं उसी प्रकार का आचरण करते हैं। इसलिए आर्जव धर्म स्वाभाविक रूप से निश्छल वृत्ति वाले मुनिराजों के जीवन में विद्यमान रहता है।

४. शौच—"शुचेर्भाव शौचम्" आत्मा का पवित्र परिणाम ही शौच धर्म है। निर्मल भावों से विभूषित, उत्तम संयम से भरे ज्ञान ध्यान एवं तपस्या में निरन्तर तत्पर होने वाले लोभादि कषायों रहित

तपस्वी मुनिराजों के शौचधर्म स्वभाव रूप से ही अवस्थित रहता है । लोभ, लालच, तृष्णा रूप महापाप उभय लोक दुख की जननी है । ऐसा समझ कर मुनिराज अपने पवित्र शौचधर्म से विचलित नहीं होते अर्थात् अनादि काल से राग, - द्वेष, लोभादि से मलिन आत्मस्वरूप को पवित्र बनाते हैं ।

५. सत्य—यथावत् कथनं सत्यम्, वस्तु का जैसा स्वरूप है उसे उसी प्रकार स्वीकार करना सत्यधर्म है । सत् स्वभावी आत्म स्वरूप में निरंतर निमग्न रहने वाले आगमानुसार अनेकान्तात्मक वस्तु, स्वरूप को स्याद्वाद शैली से प्रतिपादन करने वाले हित - मित एवं कर्णप्रिय वचनों को बोलने वाले सत्य निष्ठ योगीश्वर असत्य का सर्वथा परित्याग होने से स्वाभाविक सत्य धर्म से विभूषित रहते हैं । असत्य का अवलंबन लेने वाले रागी, - द्वेषी एवं मोही प्राणी होते हैं । यतीश्वर तो स्वप्न में भी असत्य को स्वीकार नहीं करते । इनके, मन, वचन, एवं काय से प्रतिक्षण सत्य की ध्वनियां ही गुंजायमान होती रहती हैं ।

६. संयम—राग द्वेष के अभाव में साम्यभाव की उपलब्धि ही संयम धर्म है । स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण पांचों इन्द्रिय और मन कि ओर से उपयोग को मोड़कर अपने स्वरूप मे रमण करने वाले एवं एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त पंच स्थावर और त्रस इन षट्कायिक जीवों की विराधना से सर्वथा विमुख, स्वरूप की ओर उन्मुख रहने वाले संयम साधक यतिवरों के परमोपकारी संयम धर्म सहज रूप में ही अवस्थित रहते हैं । इसी संयम धर्म के अवलम्बन से भव्यात्मा रत्नत्रय रूपी नौका में बैठकर संसार समुद्र से पार होकर अपने गंतव्य स्थान मोक्ष को प्राप्त होते हैं ।

७. तप—"तप्यते इति तपः"—जिसके माध्यम से तप करके आत्मा कुन्दन जैसा खरा बन जाता है, उसे तप धर्म कहते हैं । अनशन आदि छह प्रकार के बाह्य एवं प्रायश्चित्त आदि छह प्रकार के अभ्यंतर तपों में मुनिराज निरन्तर लीन रहते हैं । ग्रीष्मकाल में तप्तायमान शिलाओं पर, शीतकाल में नदी सरोवरों के तटों पर, वर्षाकाल में वृक्षों के तले, संसार, शरीर, भोगों से विरक्त होकर मुनिराज आत्म स्वरूप में लीन रहते हुए तप रूपी अग्नि से राग-द्वेष, मोह आदि मिथ्यारूप किट्टकालिमाओं को जलाकर के भस्म कर देते हैं अतः वह स्वाभाविक रूप से तप धर्म के धनी होते हैं । तप की महिमा वचनातीत है । जो भी भव्यात्मा द्वादश तपों को अपने जीवन में धारण करते हैं, वे परम पवित्र परमात्म पद को प्राप्त करते हैं ।

८. त्याग—"सृजन त्याग"—रागद्वेष क्रोधादि विकार भावों का अभाव त्याग धर्म है । चेतन एवं अचेतन दोनों प्रकार के परपदार्थों को मुनिराज स्वप्न में भी ग्रहण नहीं करते एवं उनसे सर्वथा विमुक्त रहते हैं अतः स्वभाव रूप से ही परम तपस्वी यतीश्वर त्यागधर्म से विभूषित रहते हैं ।

त्याग धर्म की महिमा सर्वत्र उभय लोक में गाई हुई है । जो भी भव्य तपस्वीवृन्द त्याग धर्म से पूर्ण विभूषित हो जाते हैं वे अपने आत्मा को त्याग से परमात्मा बना लेते हैं ।

९. आकिंचन— "आकिञ्चन् तस्यभावः आकिञ्चन्यम्"। जड़-चेतन किंचित् मात्र भी मेरे नहीं हैं ऐसे विशुद्ध भाव को आकिंचन धर्म कहते हैं। विश्व में जड़-चेतन जितने भी पदार्थ हैं उनसे किंचित मात्र भी अनुराग यतीश्वरों को नहीं होता। वे सिवाय निज आत्म गुणों के पर वस्तुओं की ओर दृष्टि उठाकर भी नहीं [illegible] हैं, इसलिये आकिञ्चन्य धर्म स्वाभाविक रूप से उनके अन्दर हिलोरें लेता है। आकिञ्चन धर्म की महिमा अवर्णनीय है, जो भी भव्य आत्मा इससे विभूषित हो जाते हैं वे निश्चित ही अष्टम् भूमि सिद्ध शिला पर अपना स्थान प्राप्त कर लेते हैं।

१०. ब्रह्मचर्य—"ब्रह्मणि-आत्मनि चरतीति ब्रह्मचर्यम्"—आत्म स्वरूप में रमण करना ही ब्रह्मचर्य धर्म है। विषय-कषाय से रहित मुनीश्वर मनुष्य, तिर्यञ्चनी आदि सभी प्रकार की नारियों के संसर्ग एवं उनके विषय में चिन्तन से सर्वथा विमुख रहते हैं। यद्यपि उनकी दृष्टि में नर और नारी में कोई भेद ही नहीं रह जाता, तथापि लोक व्यवहार से नारी समाज के संसर्ग में नहीं रहते।

सभी प्रकार की इच्छाओं से परे निरन्तर आत्म स्वरूप एवं स्वानुभूति में रमण करने वाले महायोगीश्वरों के सहज रूप में ही ब्रह्मचर्य धर्म होता है।

इस ब्रह्मचर्य धर्म की महिमा मनुष्य तो क्या देव और इन्द्र भी कहने में सक्षम नहीं हैं। जो भी भव्य आत्मा अभ्यन्तर एवं बाह्य रूप से ब्रह्मचर्य धर्म को धारण करते हैं, उनका वरण करने के लिये मुक्ति सुन्दरी स्वयं ही वरमाला पहना देती है। वे कृत्य-कृत्य हो जाते हैं, शिवरमणी के साथ अक्षय आनन्द को प्राप्त होते हैं।

पंचाचार—१ ज्ञानाचार २—दर्शनाचार ३ चारित्राचार ४ तपाचार ५ वीर्याचार।
इनकी विशद विवेचना पंचाचार वाटिका में है।

षट् आवश्यक—इनकी विवेचना सामान्य मूलगुणों में की जा चुकी है। कहीं-कहीं षट् काय जीवों की रक्षा १ पृथ्वीकायिक, २ जलकायिक, ३ अग्निकायिक, ४ वायुकायिक, ५ वनस्पतिकायिक और ६ त्रसकायिक। इन षट् काय के जीवों की रक्षा को भी षट् आवश्यक कहा गया है।

गुप्ति—जिस प्रकार खेत की रक्षा के लिये बाड़ होती है। नगर की रक्षा के लिये खाई तथा कोट होता है तथा देश की रक्षा के लिये सीमा पर सेना सतर्क रहती है ठीक उसी प्रकार व्रत, समिति के साथ अनन्त गुण रूप वैभव से विभूषित स्वरूप के रक्षार्थ इन तीन गुप्तियों का महत्वपूर्ण स्थान है। ये गुप्तियां मोक्षमार्ग की आधार शिला हैं।

गुप्ति की परिभाषा—मन, वचन व काय की प्रवृत्ति का निरोध करके मात्र ज्ञाता-दृष्टा भाव से निश्चय समाधि धारण करना पूर्ण गुप्ति है और कुछ शुभभाव मिश्रित विकल्पों व प्रवृत्तियों सहित यथाशक्ति स्वरूप में निमग्न होने का नाम आंशिक गुप्ति है। पूर्णगुप्ति, पूर्ण निवृत्ति स्वरूप होने के कारण निश्चय गुप्ति है और आंशिक गुप्ति प्रवृत्ति अंश के साथ चलने के कारण व्यवहार गुप्ति है।

आचार्यों ने गुप्ति की विवेचना निम्न प्रकार से की है—

जिसके बल से संसार के कारणों से आत्मा का गोपन अर्थात् रक्षा होती है वह गुप्ति है (१)

निश्चय गुप्ति—योगत्रय की एकाग्रता पूर्वक आत्म-स्वरूप में लीन रहना गुप्त है।

निश्चय गुप्ति के विषय में आचार्यों ने निम्न प्रकार कहा है—

निश्चय से सहज शुद्ध आत्म भावना रूप गुप्ति स्थान में संसार के कारणभूत रागादि के भय से अपनी आत्मा को जो छिपाता, प्रच्छादन, झम्पन, प्रवेशन या रक्षण, यही गुप्ति है।२ निश्चय से स्वरूप में गुप्त या परिणत होना ही त्रिगुप्ति गुप्त होना है।३

ज्ञानीजनों के आश्रित जो अप्रतिक्रमण होता है वह शुद्धात्मा का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान वह अनुष्ठान ही है लक्षण जिसका ऐसी त्रिगुप्ति रूप होता है।४

व्यवहार गुप्ति—राग-द्वेषादि विभाव भावों से मन वचन एवं काय को रोकना गुप्ति है। इसकी विवेचना निम्न प्रकार है—व्यवहार नय से अन्तरङ्ग साधना के अर्थ मन, वचन व काय की क्रिया को अशुभ से रोकना गुप्ति है।५

प० पू० उमा स्वामी जी कहते हैं—

(मन, वचन, काय योगों का सम्यक् प्रकार निग्रह करना गुप्ति है।६

प० पू० आचार्य पूज्यपाद स्वामी कहते हैं—

मन वचन काय,, ये तीनों योग पहले कहे गये हैं। उनकी स्वच्छन्द प्रवृत्ति को रोकना निग्रह है। विषय सुख की अभिलाषा के लिये की जाने वाली प्रवृत्ति का निषेध करने के लिये ,सम्यक् विशेषण दिया है। इस सम्यक, विशेषण युक्त संक्लेश को नहीं उत्पन्न होने देने रूप योग नग्रह से कायादि योगों का निरोध होने रूप तन्निमित्तक कर्म का आस्रव नहीं होता।७

---

१. यतः संसार कारणादात्मनो गोपनं सा गुप्ति—: ।।स० सि० ।९।२

२. निश्चयेन सहजशुद्धात्मभावना लक्षणे गूढ स्थाने संसार कारण रागादि— भयादात्मनो गोपनं प्रच्छादनं झम्पनं प्रवेशनं रक्षणं गुप्तिः ।।द्र०सं० टी० ३५।१०

३. त्रिगुप्ति निश्चयेन स्वरूपे गुप्तः परिणतः ।।प्र० सा० ता० वृ० टी० ।।२४०।।

४. ज्ञानिजीवाश्रितमप्रतिक्रमणं तु शुद्धात्म सम्यक् श्रद्धान ज्ञानानुष्ठान लक्षणं त्रिगुप्ति रूप। स० सा० ता० वृ० ।।३०६।।

५. व्यवहारेण बहिरङ्ग साधनार्थं मनो वचन काय व्यापार निरोधो गुप्तिः ।।द्र० सं० टी० ३५।।

६. सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ।।त० सू० अ० ९,सू०४।।

७. योगो व्याख्यातः कायवाङ्मनः कर्म योगः इत्यत्र। तस्य स्वेच्छाप्रवृत्तिनिवर्तनम् निग्रहः विषयसुखाभिलाषार्थं प्रवृत्ति निषेधार्थं सम्यगविशेषणम् तस्मात्सम्यग्विशेषणविशिष्टात् संक्लेशा प्रादुर्भावपरात् कायादि योग निरोधे सति तन्निमित्त कर्म नास्रवतीति ।।स० सि० अ० ९ सू० ४।।

मूलाराधना, भगवती आराधना, राजवार्तिक, प्रवचनसार, अनगार धर्मामृत आदि ग्रन्थों में भी इसी बात की पुष्टि विशेष रूप से की गई है।

मनोगुप्ति—रागद्वेष से प्रेरित मन की कुटिलता एवं चंचलता को ज्ञान, ध्यान एवं तपो भावना में लीन होकर-रोककर अपने ज्ञायक स्वरूप में अवस्थित रहना, संकल्प विकल्पों का अभाव कर देना यही मनोगुप्ति है। मनोगुप्ति के विषय में आचार्यों ने निम्न प्रकार कथन किया है—

रागद्वेष पर से अवलम्बित समस्त संकल्पों को छोड़कर जो मुनि अपने मन को स्वाधीन करते हैं और समता भाव में स्थिर रहते हैं तथा सिद्धान्त के सूत्र की रचना में निरन्तर निमग्न रहते हैं उनके ही मनोगुप्ति है। १

निश्चय मनोगुप्ति—सकल रागद्वेष के अभाव के कारण अखण्ड अद्वैत परमचिद्रूप में सम्यक् रूप से अवस्थित रहना ही निश्चय मनोगुप्ति है।२

व्यवहार मनोगुप्ति—कलुषता मोह राग-द्वेष आदि अशुभ भावों के परिहार को व्यवहार से मनोगुप्ति कहा है।३

आचार सार में भी कहा है—अपने विषयों से मन और पंचेन्द्रिय रूपी गज की स्वच्छन्द प्रवृत्ति को रोकना अथवा ज्ञान ध्यान में लीन होना व्यवहार से मनोगुप्ति है।४

अतिचार—रागद्वेषादिक विकार सहित स्वाध्याय आदि दैनिक कार्यों में प्रवृत्ति होना मनोगुप्ति के अतिचार हैं। मनोगुप्ति का पालन करने वाले आचार्य गुप्ति में लगने वाले अतिचारों से बचते हैं।

वचन गुप्ति—संसार वर्द्धक सभी प्रकार की विकथाओं के त्यागी एवं सावद्योपदेश से सर्वथा विमुक्त, अनेकान्तात्मक वस्तु स्वरूप को स्याद्वाद शैली से समझने, समझाने वाले या समय-समय पर मौन रह कर ध्यान के बल से स्वरूप की आराधना में निम्न आचार्यों के वचन गुप्ति होती है।

निश्चय से वचनगुप्ति—मौनपूर्वक स्वरूप में तन्मय रहना निश्चय से वचनगुप्ति है।

---

१. विहाय सर्वसंकल्पान् रागद्वेषावलम्बितान् ।
स्वाधीनं कुरुते चेतः समत्वे सुप्रतिष्ठितम् ॥१५॥
सिद्धान्तसूत्र विन्यासे शश्वत्प्रेरयतोऽथवा
भवत्यविकला नाम मनोगुप्तिर्मनीषिणः ॥१६॥ज्ञानार्णव ॥

२. सकलमोहराग द्वेषाभावाद अखण्डाद्वैत परमचिद्रूपे सम्यगवस्थितिरेव
निश्चय मनोगुप्तिः। नि० सा० ता० वृ० टी० गाथा ६९॥

३. कालुस्समोहसण्णा रागद्दोसाइ असुहभावाणं ।
परिहारो मणगुत्ती ववहारणयेण परिकहियं ॥६६॥नियमसार॥

४. मनः पंचेन्द्रियेभ्योऽस्वैराचार [illegible] मनः पंचेन्द्रियेभ्य [illegible]
[illegible] मनोगुप्तिर्[illegible] ॥१३८ आ०सार०॥

इसके विषय में प०पू० आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी ने लिखा है—

सत्य, असत्य भाषा का परिहार अथवा मौनव्रत यह वचनगुप्ति है ।१

श्री शुभचन्द्राचार्य जी भी कहते हैं—

सम्यक् प्रकार से वचनों की प्रवृत्ति वश की है जिसने ऐसे मुनि के तथा संज्ञादि का त्याग कर मौनारूढ़ होने वाले महामुनि के वचनगुप्ति होती है ।२

व्यवहार से वचनगुप्ति–भव्य जीवों के कल्याण एवं आगमानुसार मोक्षमार्ग हेतु असत्य का परिहार व्यवहार से वचनगुप्ति है ।

इसके विषय में आचार्यों ने निम्न प्रकार कहा है—

पाप के हेतु भूत स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा और भक्तकथा इत्यादि का परिहार अथवा असत्यादि भाषण की निवृत्ति वह वचनगुप्ति है ३

वचन गुप्ति को पालने वाले आचार्य निम्न अतिचारों से रहित होते हैं—

(१) कर्कशादि वचनों का उच्चारण करना अथवा विकथा करना यह वचन गुप्ति का पहला अतिचार है ।

(२) मुख से हुंकारादि के द्वारा अथवा खकार करके यद्वा-तद्वा हाथ और भृकुटि चालन क्रियाओं के द्वारा इङ्गित करना दूसरा अतिचार है ।

कायगुप्ति–पांचों इन्द्रियों एवं शरीराश्रित सभी सावद्य क्रियाओं के त्याग पूर्वक किसी भी एक आसन विशेष से शुद्ध-बुद्ध, निरंजन, निर्विकार, टंकोत्कीर्ण, ज्ञायक स्वभावी आत्म स्वरूप का ध्यान करना कायगुप्ति है ।

निश्चय से कायगुप्ति–शरीर की स्थिरता पूर्वक स्वरूप में स्थित रहना निश्चय से कायगुप्ति है ।

इसके विषय में आचार्यों ने निम्न प्रकार कहा है—

प० पू० शुभचन्द्राचार्यजी ने प्रतिपादित किया है—

---

१. निखिलानृत भाषा परिहृतिर्वा मौनव्रतं च निश्चयवाग्गुप्ति ।नि०सा० गा०६७ टी०॥

२. साधुसंवृत वाग्वृत्तेर्मौनारूढ़स्य वामुनेः ।
संज्ञादि परिहारेण वाग्गुप्तिः स्यान्महामुनेः ॥ ज्ञानार्णव १८–१७ ॥

३. थीराजचोर भत्तकहादि वयणस्य पावहेउस्स ।
परिहारोवचगुत्ती अलि यादि णियत्तिवयणं वा ॥ ६७, नि०सा० ॥

स्थिर किया है शरीर जिसने तथा परीषह आ जाने पर भी अपने पर्यंकासन से ही स्थिर रहना कायगुप्ति है ।१

आध्यात्मिक संत प० पू० पद्मप्रभमलधारी देव भी उद्धृत करते हैं—

सर्वजनों की कायसम्बन्धी बहुत क्रियाएं होती हैं। उनकी निवृत्ति ही कायोत्सर्ग है, वही कायगुप्ति है अथवा पांच स्थावर और त्रस जीवों की हिंसानिवृत्ति कायगुप्ति है । जो परमसंयमधारी परम जिन योगीश्वर अपने (चैतन्य रूप) शरीर अपने (चैतन्य रूप) शरीर से प्रविष्ट हो गए उनकी अपरिस्पन्द मूर्ति ही निश्चय कायगुप्ति है ।२

व्यवहार से कायगुप्ति—ध्यान के लिये पांच इन्द्रिय एवं शरीर को स्थिर करना कायगुप्ति है।

इसके विषय में आचार्यों के विचार निम्न प्रकार हैं—

बन्धन, छेदन, मारण, आकुंचन (संकोचना) तथा प्रसारण (फैलाना) इत्यादि कायक्रियाओं की निवृत्ति को कायगुप्ति कहा है ।३

प०पू०आ० कुन्दकुन्दस्वामी ने कहा है—

शरीर की चेष्टा नहीं करना अर्थात् कायोत्सर्ग करना तथा हिंसादिक पापों का त्याग करना काय गुप्ति है ।४

कायगुप्ति को पालने वाले आचार्य निम्न अतिचारों से रहित होते हैं—मन की एकाग्रता के बिना शरीर की चेष्टाएं बन्द करना कायगुप्ति का अतिचार है। जहाँ लोग भ्रमण करते हैं ऐसे स्थान में एक पैर ऊपर कर खड़े रहना, एक हाथ ऊपर कर खड़े रहना, मन में अशुभ संकल्प करते हुये निश्चल रहना, आप्ताभास की प्रतिमा के सामने मानो उसकी आराधना ही कर रहे हों इस ढंग से खड़े रहना या बैठना, सचित्त जमीन पर जहां कि बीज अंकुरादि पड़े हों ऐसे स्थल पर रोष से व दर्प से निश्चल बैठना अथवा खड़े रहना ये कायगुप्ति के अतिचार हैं।

अन्य प्रकार—इस प्रकार आचार्य के ३६ मूलगुणों की व्याख्या पूर्ण हुई। आचार्यों ने अन्य प्रकार से भी ३६ मूलगुणों की व्याख्या की है उनका संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार प्रतिपादित है।

---

१. स्थिरीकृत शरीरस्य पर्यंकासन निवेशुव: ।
परीषह प्रपातेऽपि कायगुप्तिर्मता मुने: १८, ज्ञानार्णव ॥

२. सर्वेषां जनानां कायेषु बहव: क्रिया विद्यन्ते तासां निवृत्ति: कायोत्सर्ग: स एव कायगुप्ति र्भवति ।
पञ्चस्थावराणां त्रसानां हिंसानिवृत्ति:कायगुप्तिर्वा कायोत्सर्ग स एव गुप्ति । परम संयमधर: परम जिनयोगीश्वर: य: स्वकीयं वपु: स्वस्य वपुषा विवेश तस्यापरिस्पन्दमूर्तिरेव निश्चयकायगुप्तिरिति (नि० सा० ता० वृ०)

३. बंधण छेदण मारण आकुंचण तह पसारणादीया ।
कायकिरियाणियत्ती णिद्दिट्ठा कायगुत्तित्ति ॥ ६८ नि० सा० ॥

४. कायकिरियाणियत्ती काओसग्गो सरीरगुत्ती हि ।
हिंसादिणियत्ती वा सरीरगुत्ती हवदि दिट्ठा ॥ ५-१३५ मू० चा० ॥

प० पू० शिवकोटि आचार्य उद्धृत करते हैं—

आचारवत्व आदि आठ, दस स्थिति कल्प, बारह तप, छह आवश्यक, यह आचार्य परमेष्ठी के ३६ मूलगुण है ।१

अनगार धर्मामृत के अनुसार भी आचारवत्व आदि ३६ मूलगुण इसी प्रकार कहे हैं।

आठ ज्ञानाचार, आठ दर्शनाचार, बारह प्रकार का तप पांच समितियां तीन गुप्तियां, यह भगवती आराधना की संस्कृत टीका के अनुसार ३६ मूलगुण हैं । प्राकृत टीका में २८ मूलगुण और आचारवत्व आदि आठ ये छत्तीस मूलगुण हैं। अथवा दस आलोचना के गुण, दस प्रायश्चित के गुण, दस स्थितिकल्प और छह जीतगुण ये छत्तीस गुण हैं।(२)

बोधपाहुड की गाथा की संस्कृत टीका में आचार्य के ३६ मूलगुण इस प्रकार कहे हैं—आचारवान् श्रुताधारी, प्रायश्चित्तदाता, गुणदोष का प्रवक्ता किन्तु दोष को प्रकट न करने वाला, अपरिस्रावी, साधुओं को सन्तोष देने वाले निर्यापक, दिगम्बर वेशी, अनुद्दिष्ट भोजी अशय्यासनी, अराजभुक क्रियायुक्त, व्रतवान ज्येष्टसद्‌गुणी, प्रतिक्रमण करने वाला, षट्मासयोगी, द्विनिषद्या-वाला, बारह तप, छह आवश्यक ये छत्तीस गुण आचार्य के हैं।३

अन्य स्थानों पर निम्न प्रकार से भी आचार्य परमेष्ठी के मूलगुणों की विवेचना दृष्टिगत होती है—पांच इन्द्रियों को जो वश में करता है, नौ बाड़ से विशुद्ध ब्रह्मचर्य को पालता है, पांच महाव्रतों से युक्त होता है, पांच आचारों को पालने में समर्थ है, पांच समिति और तीन गुप्ति का पालक है, चार कषायों से मुक्त है, इस तरह छत्तीस गुणों से युक्त गुरु होता है।४

---

१. आयारवमादीया अट्ठगुणा दसविहो य ठिदिकप्पो ।
बारस तव छावासय छत्तीस गुणा मुणेयव्वा ।। भ०आ०गा० ५२६ ।।

२. षट्त्रिंशद्‌गुणा यथा अष्टौ ज्ञानाचारा अष्टौ दर्शनाचाराश्च, तपो द्वादशविधं पञ्चसमितयस्तिस्रो गुप्तश्चेति संस्कृतटीकायाम् । प्राकृतटीकायां तु अष्टाविंशति मूलगुणः आचारवत्वादयश्च ष्टौ इति षट्त्रिंशत् । यदि वा दस आलोचनागुणाः दस प्रायश्चित्तगुणाः दश स्थितिकल्पाः षड् जीतगुणाश्चेति षट्त्रिंशत् ।भगवती आ० टी० सं० एवं प्रा० ।।

३. आचारश्रुताधारः प्रायश्चित्तासनादिदः ।
आयापाय कथी दोषाभाषाकोऽस्राबकोऽपि च ।।
सन्तोषकारी साधूनां निर्यापक इमेष्ट च ।
दिगम्बर वेष्यनुद्दिष्ट भोजी शय्यासनीति च ।।
अराजभुक् क्रियायुक्तो व्रतवान ज्येष्ठ सद्‌गुणः : ।
प्रतिक्रमी च षण्मासयोगी तद्द्विनिषद्यकः ।।
द्विषट् तपास्तथा षट्चावश्यकानि गुणा गुरोः । बोध पा० सं० टी० गा० २।।

२. पंचिंदिय संवरणो तह नवविहबह्मचेर गुत्तिधरो ।
पंचमहव्वय जुत्तो पंचविहाचारपालण समत्थो ।।
पंचसमिइ तिगुत्तो इह अट्टारस गुणेहि संजुत्तो ।
चउव्विहकसायमुक्को छत्तीसगुणो गुरु मज्झ ।।

इस तरह आचार्य परमेष्ठी के ३६ गुणों में विभिन्नमत मिलते हैं।

आचारवत्व आदि आठ गुण—आचार्य, आचारी, आधारी, व्यवहारी, प्रकारक, आयापायदर्शी, उत्पीड़क, अपरिस्रावी और सुखकारी होते हैं।[1]

१ आचारी—जो पाँच ज्ञानादि आचारों का स्वयं आचरण करते हैं तथा दूसरों से आचरण कराते हैं और उनका उपदेश देते हैं उन्हें आचारी या आचारवान कहते हैं।

२ आधारी—जो असाधारण श्रुतज्ञान से सम्पन्न हो उसे आधारी कहते हैं। जिस श्रुतज्ञान रूपी संपत्ति की कोई तुलना नहीं कर सकता उसको अथवा नौ पूर्व, दस पूर्व या चौदह पूर्व तक के श्रुत-ज्ञान को अथवा कल्प व्यवहार के धारण करने को आधारवत्व कहते हैं।

३ व्यवहार पटुता—व्यवहार नाम प्रायश्चित्त का है अर्थात् जो प्रायश्चित्त शास्त्र का ज्ञाता हो, जिसने बहुत बार प्रायश्चित्त देते हुये देखा हो और स्वयं भी उसका प्रयोग किया हो उसे व्यवहार पटु कहते हैं।

व्यवहार प्रायश्चित्त के पाँच भेद —आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत।

आगम—ग्यारह अङ्ग शास्त्रों में प्रायश्चित्त वर्णित है अथवा उनके आधार से जो प्रायश्चित्त दिया जाता है उसको आगम कहते हैं।

श्रुत—चौदहपूर्व में बताए हुए या तदनुसार दिये हुए को श्रुत कहते हैं।

आज्ञा—कोई आचार्य समाधिमरण के लिये उद्यत है उनकी जंघा का बल घट गया, वे दूर तक विहार नहीं कर सकते, वे आचार्य किसी योग्य आचार्य के पास अपने योग्य ज्येष्ठ शिष्य को भेजकर उसके द्वारा अपने दोषों की आलोचना कराकर प्रायश्चित्त मंगाकर ग्रहण करते हैं उसको आज्ञा कहते हैं।

धारणा—कोई आचार्य उपर्युक्त स्थिति में है और उसके पास शिष्यादि भी नहीं है तो वे स्वयं अपने दोषों की आलोचना कर पहले के अवधारित (जाने हुए) प्रायश्चित्त को ग्रहण करते हैं वह धारणा प्रायश्चित्त है।

जीत—श्रेष्ठ पुरुषों की अपेक्षा जो प्रायश्चित्त बताया जाता है उसको जीत कहते हैं।

इनमें निष्णात आचार्य व्यवहार पटु कहलाते हैं।

४ प्रकारकत्व—जो समाधिमरण कराने में या उसकी वैयावृत्ति कराने में कुशल है उन्हें परिचारी अथवा प्रकारी कहते हैं। यह गुण प्रकारकत्व कहलाता है।

---

[1] आचारी सूरिराधारी व्यवहारी प्रकारकः ।
आयापायदिगुत्पीडोऽपरिस्रावी सुखावहः ॥ भ० आरा० ७७ ॥

५ आयापाय दर्शिता—आलोचना करने के लिये उद्यत हुए क्षपक (समाधिमरणकरने वाले साधु) के गुण और दोषों के प्रकाशित करने को आयापाय दर्शिता अथवा गुणदोष प्रवक्तृता कहते हैं।

६ उत्पीड़न—कोई साधु या क्षपक यदि दोषों को पूर्णतया नहीं निकालता है तो उसके दोषों को युक्ति और बल से बाहर निकाल लेना उत्पीड़न गुण है। उत्पीड़न गुण के धारी आचार्य समझा-बुझाकर जबरन् दोषों को बाहर निकालते हैं। जैसे माता बच्चे की हितकारिणी होती है, वह बालक के रोने पर भी उसका मुख खोलकर दवा पिलाती है वैसे ही आचार्य भी शिष्य के दोषों को निकालते हैं।

७ अपरिस्रावी—जो एकान्त में प्रकाशित दोषों को प्रकट नहीं करते अर्थात् जिस प्रकार तपा हुआ लोहा चारों ओर से पानी को सोख लेता है वह पानी को बाहर नहीं निकालता, उसी तरह जो आचार्य क्षपक के दोषों को सुनकर पचा जाते हैं किसी दूसरे से नहीं कहते वे अपरिस्रावी कहलाते हैं।

८ सुखकारी—जो भूख प्यास आदि दुःखों को समता भाव से सहन करते हैं उन्हें सुखकारी कहते हैं।

स्थितिकल्प के दश भेद—अनगार धर्मामृत में पं० प्रवर आशाधर जी ने इस प्रकार दर्शाए हैं—

आचेलक्य, औद्देशिक पिंडत्याग, शय्याधर, राजकीय पिंडत्याग, कृतिकर्म, व्रतारोपणयोग्यता, ज्येष्ठता, प्रतिक्रमण, मासैकवासिता और योग, इस प्रकार स्थितिकल्प गुण दस प्रकार से हैं।

(१ आचेलक्य—वस्त्रादि सम्पूर्ण परिग्रह के अभाव को अथवा नग्नता को आचेलक्य कहते हैं।

(२) औद्देशिक पिंडत्याग—ज्ञानामृत भोजन में लीन रहने वाले दिगम्बर मुनिराज स्वयं अनुमोदित या उनके उद्देश्य से तैयार किये हुए भोजन पान आदि द्रव्य को ग्रहण नहीं करते अर्थात् स्वयं कह करके आहार तैयार नहीं कराते एवं यदि श्रावक यह कहे कि यह वस्तु मैंने आपके लिये ही बनाई है तो भी ग्रहण नहीं करते। इस प्रकार उनके औद्देशिक पिण्ड आहार का त्याग रूप गुण होता है।

(३) शय्याधर पिंडत्याग—वसतिका बनवाने वाला उसका संस्कार करने वाला और वहां पर व्यवस्था आदि करने वाला ये तीनों ही शय्याधर शब्द से कहे जाते हैं। इनके आहार उपकरण आदि न लेने को साधु शय्याधरपिण्ड त्याग कहते हैं। अभिप्राय यह है कि यदि मैं आहार नहीं दूंगा तो लोग कहेंगे कि इसने साधु को ठहरा तो लिया किन्तु उन्हें आहार नहीं दिया, इत्यादि

---

१. पञ्चाचार कृपाचारी स्वाधारी श्रुतोद्धुरः।
व्यवहारपटुस्ताद्दाम् परिचारी प्रकारकः॥ ७८॥
गुणदोष प्रवक्ताऽऽपायदिग् दोषनामकः।
उत्पीलको रहोऽभेत्ताऽस्त्रावी निर्वापकोऽष्टमः॥ ७९ अन०धर्मा०न०अ०॥

याचना से संक्लेश परिणाम करके आहार दान देना दोषास्पद है किन्तु किसी गृहस्थ के द्वारा मात्र भक्तत्व या भय संकोच आदि रहित होकर मात्र पात्रदान की भावना से वसतिका का दान देकर आहार दान देने में कोई दोष नहीं है।

कोई आचार्य इसको शय्यागृहपिंड त्याग कहकर इसका ऐसा अर्थ करते हैं कि विहार करते हुये मार्ग में रात्रि को जिस गृह या वसतिका में ठहरे या शयन आदि करें वहां दूसरे दिन आहार नहीं लेना अथवा वसतिका सम्बन्धी द्रव्य के निमित्त से जो भोजन तैयार किया गया हो उसको नहीं लेना शय्याधरपिंड त्याग नामक गुण है।

(४) राजकीय पिण्ड त्याग—राजाओं के यहां आहार नहीं लेना, राजकीय पिंडत्याग गुण है। अभिप्राय यह है कि ऐसे राजघरानों में भयंकर कुत्ते आदि जंतु उपघात कर सकते हैं या पशु, गाय, भैंस आदि का गर्विष्ठ नौकर-चाकर आदि अपमान कर सकते हैं। ऐसे स्थानों पर हाव-भाव युक्त गणिका एवं दासियों आदि का भी सद्भाव रहता है अतः ऐसे बाधक कारणों के प्रसङ्ग से राजाओं के यहां आहार नहीं लेना चाहिये।

राजपिण्ड के तीन भेद हैं—आहार, अनाहार और उपाधि।

खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय के भेद से आहार चार प्रकार का है, चटाई पट्टा वगैरह अनाहार है पीछी वगैरह उपाधि है, इनके ग्रहण करने में अनेक दोष हैं। प्रथम राजभवन में मंत्री, श्रेष्ठी, कार्यवाहक आदि बराबर आते जाते हैं। भिक्षा के लिये राजभवन में प्रविष्ट भिक्षु आने-जाने में भूमि शोधकर नहीं चल सकते। नग्न मुद्रा को देखकर कोई भी बुरा व्यवहार कर सकता है किन्तु जिन राजघरानों में उपर्युक्त दोषों की संभावना न हो उन राजघरानों में आहार लेने में कोई दोष नहीं है

आज राजाओं का अभाव है पर जहां संयम विराधना हो, मन में संक्लेश हो ऐसे स्थानों पर साधु आहार नहीं लेते।

(५) कृतिकर्म— छह आवश्यकों का पालन करना अथवा गुरुजनों की विनय करना कृतिकर्म है।

(६) व्रतारोपण योग्यता—शिष्यों में व्रतों के आरोपण करने की योग्यता होना यह छठा गुण है।

(७) ज्येष्ठता—जो जाति, कुल वैभव, प्रताप और कीर्ति की अपेक्षा गृहस्थों में महान् रहे हों जो ज्ञान और चर्या आदि में उपाध्याय आदि से महान हैं एवं क्रियाकर्म के अनुष्ठान में भी श्रेष्ठ है यह सातवां गुण होता है।

(८) प्रतिक्रमण—प्रतिक्रमण में नाना भेदों को समझने वाले और विधिवत् करने-कराने वाले आचार्य इस गुण से विभूषित होते हैं।

(९) मासैकवासिता—छह ऋतुओं में एक स्थान पर एक मास ही रहना, अन्य समय में विहार करना अथवा जिनके तीस दिन रात्रि तक ही एक स्थान या ग्राम में रहने का व्रत हो उनके यह मासैकवासिता

गुण होता है । चूंकि अधिक दिन एक जगह रहने से उद्गम आदि दोष, क्षेत्र में ममता, गौरव में कमी, आलस्य, शरीर में सुकुमारता, ज्ञात भिक्षा का ग्रहण आदि दोष होने लगते हैं।

मूलाराधना में इसका ऐसा अर्थ किया है कि "चातुर्मास के एक महीने पहले और पीछे उसी ग्राम में रहना ।

(१०) योग–वर्षाकाल में चार महीने तक एक जगह रहना। चूंकि वृष्टि के निमित्त से त्रस-स्थावर जीवों की बाहुलता हो जाती है, इससे विहार करने में असंयम होगा, वृष्टि से ठंडी हवा चलने, संक्लेश से आत्मविराधना, शरीर में कष्ट, व्याधि, मरण आदि आ जावेंगे। जल, कीचड़ आदि के कारण फिसल जाना संभव है । इस प्रकार के कारणों से चातुर्मास में एक सौ बीस दिन तक एक ग्राम में रहना यह उत्सर्ग (उत्कृष्ट) मार्ग है । अपवाद मार्ग की अपेक्षा विशेष कारण उपस्थित होने पर अधिक अथवा कम दिन भी निवास किया जा सकता है । अधिक में आषाढ़ शुक्ला दशमी से कार्तिक पूर्णिमा के ऊपर तीस दिन तक निवास किया जा सकता है । अत्यधिक जलवृष्टि श्रुत का विशेष लाभ, शक्ति का अभाव और किसी की वैयावृत्ति आदि के विशेष प्रसंग आ जाने पर, इन प्रयोजनों के उद्देश्य से एक स्थान में अधिक दिन निवास किया जा सकता है । यह उत्कृष्ट काल का प्रमाण है ।१

इस प्रकार आचार्य परमेष्ठी आचारवत्वादि ८ तपश्चरणादि १२ स्थितिकल्प १० और आवश्यक ६ = ३६ गुणों का पालन करने वाले होते हैं।

उपाध्याय परमेष्ठी — ग्यारह अङ्ग एवं चौदह पूर्व के पाठी एवं प्रवक्ता उपाध्याय परमेष्ठी होते हैं।

आचार्यों ने उपाध्याय परमेष्ठी के बारे में निम्न प्रकार कहा है—

चौदह विद्यास्थान का व्याख्यान करने वाले अथवा तात्कालिक परमागम के व्याख्यान करने वाले उपाध्याय परमेष्ठी होते हैं । वे संग्रह और अनुग्रह आदि गुणों को छोड़कर मेरु के समान निश्चलता आदि रूप आचार्य के गुणों से समन्वित होते हैं ।२

अर्थात् उपाध्याय परमेष्ठी केवल पठन पाठन में ही लगे रहते हैं, शिष्यों का संग्रह करना, उन्हें दीक्षा देना, प्रायश्चित्त देना, उनका संरक्षण करना, संघ की व्यवस्था संभालना आदि कार्य आचार्य परमेष्ठी के हैं, उपाध्याय के नहीं ।

उपाध्याय परमेष्ठी निम्न २५ मूलगुणों से सुशोभित होते हैं—

---

१. आचेलक्योद्देशिक शय्याधर राजकीय पिण्डोज्झाः ।
कृतिकर्म व्रतारोपणयोग्यत्वं ज्येष्ठता प्रतिक्रमणम् ॥ ८० ॥
मासैकवासिता स्थितिकल्पो योगश्च वार्षिको दशमः ।
तन्निष्ठं पृथुकीर्तिः क्षपकं निर्यापको विजोऽयति ॥ ८१ ॥ अन०धर्मा०पृ० ६६४ ॥

२. चतुर्दशविद्यास्थान व्याख्यातारः उपाध्यायाः तत्कालिक प्रवचन व्याख्यातारो वा आचार्यस्योक्ता शेष लक्षण समन्विताः संग्रहानुग्रहादि गुण हीनाः ।

ग्यारह अङ्ग—(१) आचाराङ्ग (२) सूत्रकृताङ्ग (३) स्थानाङ्ग (४) समवायाङ्ग (५) व्याख्या-प्रज्ञप्ति अङ्ग (६) ज्ञातृधर्मकथाङ्ग (७) उपासकाध्ययनाङ्ग (८) अंतकृद्दशाङ्ग (९) अनुत्तरोपपादिक दशाङ्ग (१०) प्रश्न व्याकरणाङ्ग (११) विपाकसूत्रकृताङ्ग

चौदह पूर्व—(१) उत्पादपूर्व (२) अग्रायणीपूर्व, (३) वीर्यानुवाद पूर्व (४) अस्तिनास्ति प्रवाद पूर्व (५)ज्ञानप्रवादपूर्व (६) कर्मप्रवादपूर्व (७) सत्यप्रवाद पूर्व (८) आत्मप्रवाद पूर्व (९) प्रत्याख्यान पूर्व (१०) विद्यानुवाद पूर्व (११) कल्याणवाद पूर्व (१२) प्राणावायपूर्व (१३) क्रियाविशालपूर्व (१४) लोकबिन्दुसार पूर्व ।

आज इन अङ्ग पूर्वों का ज्ञान न रहते हुये भी उनके कुछ अंश रूप षट्खंडागम्, कषाय पाहुड आदि ग्रन्थ तथा उन्हीं की परम्परा से आगत मूलाचार, समयसार आदि ग्रन्थ विद्यमान हैं । तात्कालिक सभी ग्रन्थों के पढ़ने पढ़ाने वाले भी उपाध्याय परमेष्ठी हो सकते हैं । प्रकरण में तात्कालिक प्रवचन व्याख्यातारोवा, इस पद से इस बात को स्पष्ट किया है ।

उत्तर गुण—हिंसादि २१, अतिक्रमादि ४, पृथ्वी आदि १००, अब्रह्म १०, आलोचना के दोष १० और प्रायश्चित के भेद १० इनको परस्पर गुणा करने से २१×४×१००×१०×१०×१०=८४००००० (चौरासी लाख) होते हैं ।

हिंसादि २१—हिंसा असत्य, अचौर्य अब्रह्म, परिग्रह क्रोध मान, मायालोभ, रति अरति, भय, जुगुप्सा, मनोमंगुल, वचनमंगुल, कायमंगुल (पाप संचय करने वाली क्रिया मंगुल है) मिथ्यादर्शन, प्रमाद, पैशून्य अज्ञान और अनिग्रह (इन्द्रियों की स्वच्छन्द प्रवृत्ति) ।

अतिक्रमणादि ४—अतिक्रमण (विषयों की इच्छा) व्यतिक्रमण (विषयों के उपकरण मिलाने के विचार) अतिचार (व्रतों में शिथिलता आ जाना) अनाचार (व्रत भङ्ग हो जाना) ।

पृथ्वी आदि १००—पृथ्वी जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक वनस्पति, साधारण (अनंतकायिक) वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय इनको परस्पर में गुणित कर देने से १०×१०० = १००० हो जाते हैं ।

अब्रह्म १०—स्त्रीसंसर्ग, प्रणीत रस भोजन, गंधमाल्यसंस्पर्श, शयनासन, (कोमल शय्या की अभिलाषा) गीतवादित्र, अर्थ संप्रयोग (सुवर्णादि की अभिलाषा) कुशील संसर्ग, राजसेवा (विषयों की आशा से राजा की सेवा और रात्रि संचरण ये १० शील विराधनायें हैं ।

आलोचना के दस भेद—आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार, और श्रद्धान ये दोषों की शुद्धि के दस उपाय हैं । सबके परस्पर गुणन करने से ८४००००० उत्तर गुण होते हैं । इनकी पूर्ति भी चौदह में गुणस्थान में ही होती है ।

इस प्रकार १० धर्म, १२ तप, २२ परिषह जय, १८००० शील के भेद और ८४००००० गुण, ये सभी उत्तरगुण कहलाते हैं ।

इन अठारह हजार शीलों की और चौरासी लाख उत्तर गुणों की पूर्ति अयोग केवली नामक चौदहवें गुणस्थान में ही होती है । उसके पहले दिगम्बर मुनि इनकी भावना भाते हुये इन्हीं की पूर्ति के लिये पुरुषार्थ करते हैं और जितने अंशों में पाल सकते हैं पालते हैं । इसलिये इन शील और गुणों की अपेक्षा भी दिगम्बर मुनियों के अनेकों भेद हो जाते हैं ।

सामान्यतः मोक्षमार्ग में अग्रणीय यतिवरों के मूलगुणों तथा उत्तरगुणो की विवेचना आगम आधार से संकलित करने का प्रयत्न किया है । इसके अतिरिक्त भी मुनिराजों में अनंत सद्‌गुणों का वास स्वाभाविक रूप से रहता है । जिस प्रकार सूर्य की रश्मियों की विवेचना सहज रूप में शक्य नही है, उसी प्रकार दिव्यज्योतिर्मय मुनिराजों के अनंत गुणों की विवेचना करने में कौन समर्थ हो सकता है ।

दोहा—मूलगुणों के साथ में उत्तर गुण जो खास ।
जिन यतिवर हृदय वसे, मुक्ति सुन्दरी पास।

(इति मूलोत्तर गुण परिसर)
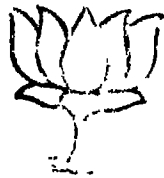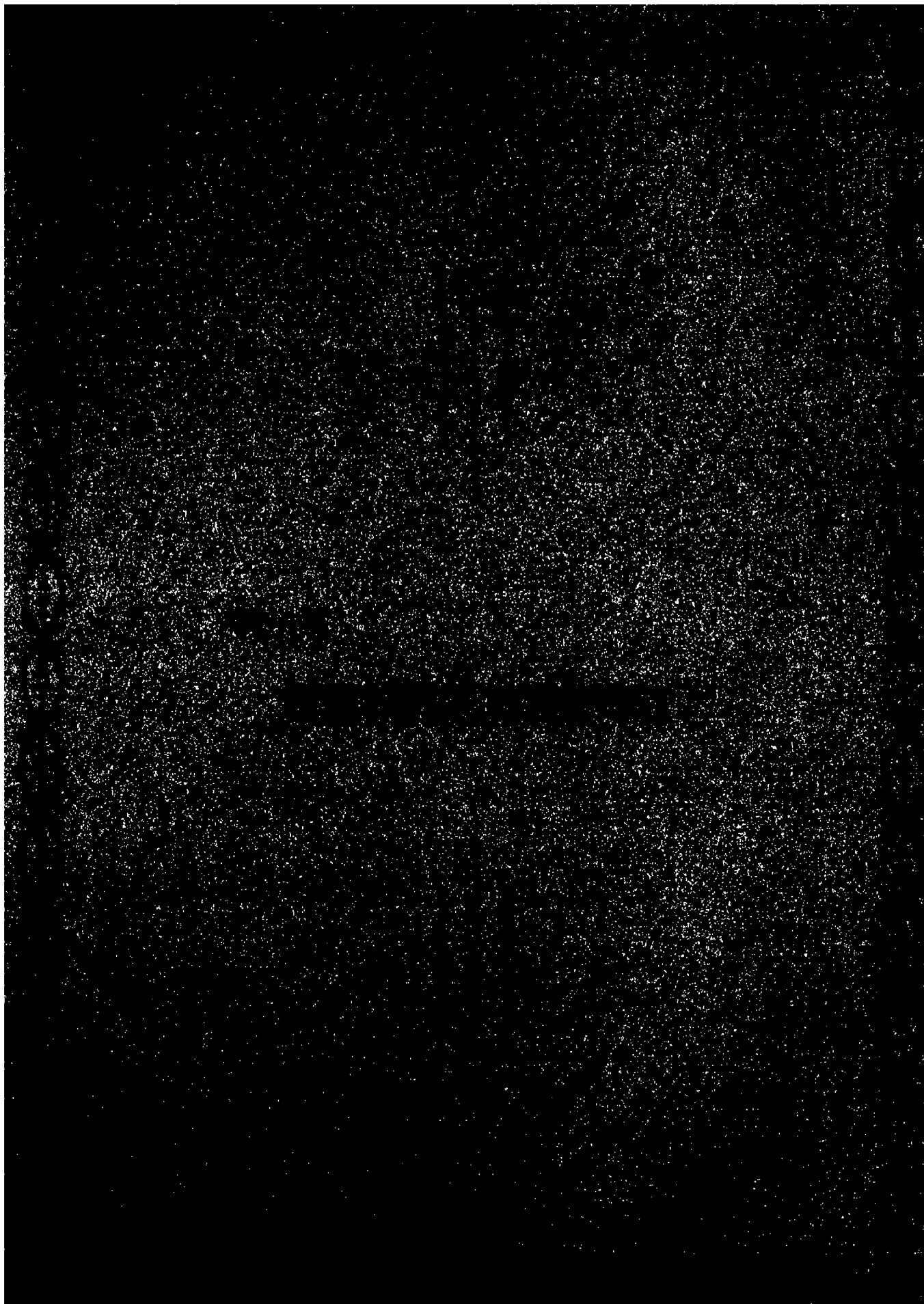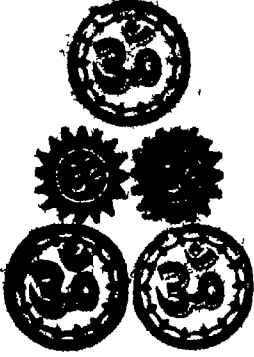
* पंचाचार वाटिका *

वीतरागी दिगम्बर मुनिवरों में श्रेष्ठ, स्व-पर हितैषी, परमोपकारी, आगमानुसार संघ संचालन में निपुण, विशेष साधक, प्रवीण यतियों को आचार्य कहते हैं एवं आचार्य परमेष्ठी में विद्यमान विशेष, ज्ञान दर्शन, चारित्र, तप, एवं वीर्य को पंचाचार कहते हैं। आचार्य प्रवर पंचाचारों का मोक्ष साधना के लिये स्वयं अभिरुचि से परिपालन करते हैं और अपने शिष्यों से कराते हैं।

आचार्य नेमीचन्द्र सिद्धांत देव जी ने निम्न प्रकार कहा है।

दर्शनाचार, ज्ञानाचार, वीर्याचार, चारित्राचार और तपश्चरणाचार में जो आप तत्पर होते हैं और अन्य शिष्यों को भी लगाते हैं ऐसे आचार्य मुनि ध्यान करने योग्य हैं।(१)

दर्शनाचार—आगम अध्यात्म वेत्ता, दीक्षा शिक्षा देने में कुशल, मुनि संघ के नायक आचार्यों जीवादि सप्त तत्वों के स्वरूप को यथार्थ समझ कर सम्यक्त्व बाधक २५ दोषों से रहित सम्यक्त्व के अष्ट अङ्गों का आचरण करते हुये भेद विज्ञान से स्वस्वरूप का यथार्थ अवलोकन करते हैं। वस्तु स्वरूप की निश्चल आस्था ही दर्शनाचार है।

दर्शनाचार का स्वरूप श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने निम्न प्रकार प्ररूपित किया है।

दर्शनाचार की विशुद्धि आठ प्रकार की जिनेन्द्र भगवान ने कही है सम्यग्दर्शन के अतिचारों का शोधन करने के लियें कहता हूं उसे एकाग्रमन होकर सुनो।२

निशंकित, निकांक्षित, निर्विचिकित्सा अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये अष्ट अंग हैं।

अन्य आचार्यों ने भी दर्शनाचार का लक्षण निम्न प्रकार किया है—

---

१. दंसणणाण पहाणे वीरियचरित्त वरतवायारे।
अप्पं परं च जुंजइ सो आयरिओ मुणी झेओ ॥ द्र० सं०,गा० ५२ ॥

२. दंसणचरणविसुद्धि अट्ठविहा जिणवरेहिं णिद्दिट्ठा।
दंसणमलसोहणट्ठं वोच्छं तं सुणह एयमणा ॥ ३, म० ॥

जो चिदानन्द रूप शुद्धात्म तत्व है वही सर्व प्रकार आराधने योग्य है। उससे भिन्न जो पर वस्तु है वह सब त्याज्य है ऐसी दृढ़ प्रतीति, चंचलता रहित, निर्मल, अवगाढ़, परम श्रद्धा है उसको सम्यक्त्व कहते हैं। उसका जो आचरण अर्थात् स्वस्वरूप परिणमन वह दर्शनाचार कहा जाता है।१

समस्त द्रव्यों से भिन्न और परम चैतन्य के विलास रूप लक्षण वाली यह निज शुद्धात्मा ही उपादेय है। ऐसी रुचि सम्यग्दर्शन है, उस सम्यग्दर्शन में जो आचरण अर्थात् परिणमन करना वह निश्चय दर्शनाचार है।२

ज्ञानाचार —आत्मोत्थान एवं व्यवहार ज्ञान में कुशल, तीन लोक की बात श्रुतज्ञान से जानने वाले, आचार्य पांच सम्यग्ज्ञानों को अङ्ग सहित भली भांति समझकर तीन मिथ्याज्ञानों को दूर कर देते हैं ज्ञान और ज्ञानियों की विनय में विशेष रूप से तत्पर रहते हैं। इसे ही ज्ञानाचार कहते हैं।

जिससे आत्मा का यथार्थ स्वरूप जाना जाता है, जिससे मनोव्यापार बन्द किये जाते हैं, अर्थात् जिसके सामर्थ्य से मन को आत्मा अपने अधीन रखता है तथा जिसके आश्रय से आत्मा द्रव्यकर्म और भावकर्म का नाश कर निर्मल होता है, जिसको जैन शासन में सम्यग्ज्ञान कहा है इसे ही ज्ञानाचार कहते हैं। ३

ज्ञानाचार के आठ भेद —कालाचार विनयाचार, उपधानाचार, बहुमानाचार, अनिह्नवाचार, व्यञ्जनाचार अर्थाचार और तदुभयाचार।४

अनेक आचार्यों ने ज्ञानाचार का लक्षण निम्नप्रकार से किया है—परमात्मप्रकाश के टीकाकार प० पू० ब्रह्मदेव सूरि जी कहते हैं— निज स्वरूप में संशय, विमोह विभ्रम, रहित जो स्वसंवेदन ज्ञान रूप ग्राहक बुद्धि या सम्यग्ज्ञान है उसका जो आचरण अर्थात् उस रूप परिणमन वह निश्चय ज्ञानाचार है। ५

---

१. यच्चिदानन्दैक स्वभावं शुद्धात्मतत्वं तदेव - सर्व प्रकारोपादेयभूतं तस्माच्च यदन्य।
चलमलिनावगाढरहितत्वेन निश्चय श्रद्धान बुद्धिः सम्यक्त्वं तत्ताचरणं परिणमनं दर्शनाचारः ॥प०प्र०टी० ॥

२. परमचैतन्यविलासलक्षणः स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचि रूपं सम्यक् दर्शनं तत्राचरणं परिणमनं निश्चय दर्शनाचारः ॥
द्र०सं०, टी० गा० ५२ ॥

३. जेणतच्चं विबुज्झेज्ज जेण चित्तं णिरुज्झदि।
विसुज्झेज्ज तं णाणं जिणसासणे ॥ मू० ८५ ॥

४. काले विणए उवहाणे बहुमाणे तहेव णिण्हवणे।
वंजण अत्थ तदुभए णाणाचारो दु अट्ठविहो ॥ ८७ मूला० ॥

५. संशय विपर्यासानध्यवसाय रहितत्वेन स्वसंवेदन ज्ञानरूपेण ग्राहक बुद्धिः
सम्यग्ज्ञानं तत्राचरणं परिणमनं ज्ञानाचारः ॥ प० प्र० ७। १३ ॥

बृहद् द्रव्य संग्रह की टीका में भी पू० ब्रह्मदेव सूरि जी कहते हैं—शुद्धात्मा को उपाधि रहित स्वसंवेदन रूप भेदज्ञान के द्वारा मिथ्यात्व, रागादि परभावों से भिन्न जानना सम्यग्ज्ञान है। उस सम्यग्ज्ञान में आचरण अर्थात् परिणमन वह निश्चय ज्ञानाचार है।[1]

चारित्राचार—आत्म स्वरूप में रमण करने हेतु पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति रूप बाह्य चारित्र एवं राग-द्वेष आदि विभाव भावों के अभाव रूप अभ्यन्तर चारित्र का निर्दोष परिपालन मोक्षमार्गी, साधक साधुओं के नायक विशेष रूप से करते हैं इसे ही चारित्राचार कहते हैं।

अनेक आचार्यों ने चारित्राचार का लक्षण निम्न प्रकार दर्शाया है—

प्राणियों की हिंसा, झूठ बोलना, चोरी, मैथुन सेवन, परिग्रह, इनका त्याग करना, अहिंसा आदि पांच प्रकार का चारित्राचार जानना चाहिये। मन, वचन काय के निग्रह पूर्वक पांच समिति, तीन गुप्ति में प्रवृत्ति आठ प्रकार का चारित्रा- चार जानना चाहिये।[2]

प० पू० अमृतचन्द्राचार्य जी कहते हैं—

मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति के कारणभूत पंचमहाव्रत सहित, मन, वचन, काय गुप्ति और ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापन समिति स्वरूप चारित्राचार है।[3]

प०पू०आचार्य ब्रह्मदेव सूरि भी कहते हैं शुद्धस्वरूप में शुभ अशुभ समस्त संकल्प रहित जो नित्यानंद में निजरस का आस्वाद, स्थिर अनुभव वह सम्यक् चारित्र है। उसका जो आचरण, उस रूप परिणमन वह चारित्राचार है।[4]

बृहद द्रव्य संग्रह के टीकाकार ब्रह्मदेव सूरि जी दर्शाते हैं—

उसी शुद्ध आत्मा में रागादि विकल्प रूप उपाधि से रहित स्वाभाविक सुखास्वाद से निश्चल चित्त होना वीतराग चारित्र है, उसमें आचरण अर्थात् परिणमन निश्चय चारित्राचार है।[5] आध्यात्मिक संत परम पू० आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी प्ररूपित करते हैं।

---

१. शुद्धात्मनो निरुपाधि स्वसंवेदन लक्षण भेद ज्ञानेन मिथ्यात्व रागादि परभावेभ्यः
पृथक् परिच्छेदनं सम्यग्ज्ञानं तत्राचरणं परिणमनं निश्चयज्ञानाचारः ।। द्र० सं० टी० ५२ ।।

२. पाणिवहमुसावादं अदत्तमेहुणपरिग्गहाविरदी ।
एस चरित्ताचारो पंचविहो होदि णादव्वो ।। २८८ ।।
पणिधाणजोगजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु ।
एस चरित्ताचारो अट्ठविहो होइ णायव्वो ।। २८९ , मू० आ० ।।

३. मोक्षमार्ग प्रवृत्तिकारण पञ्चमहाव्रतोपेत कायवाङ्मनोगुप्तीर्याभाषैषणादान
निक्षेपणप्रतिष्ठापन समिति लक्षण चारित्राचारः ।। प्र०सा०टी० , गा० २०२ ।।

४. शुभाशुभ संकल्पविकल्परहितत्वेन नित्यानन्दमय सुखरसास्वाद
स्थिरानुभवनं च सम्यक्चारित्रं तदाचरणं परिणमनं चारित्राचारः ।।प०प्र०टी० ११ ।।

५. तत्रैव रागादिविकल्पोपाधि रहित स्वाभाविक सुखास्वादेन निश्चलचित्तं ।
वीतराग चारित्रं, तदाचरणं परिणमनं निश्चय चारित्राचारः ।। बृ०द्र०सं०टी०, ५२ गा० ।।

वही जिन भगवान का श्रद्धान जब निःशंकित आदि गुणों से विशुद्ध तथा यथार्थ ज्ञान से युक्त होता है तब प्रथम सम्यक्त्वाचरण चारित्र कहलाता है । यह सम्यक्त्वाचरण चारित्र मोक्ष प्राप्ति का साधन है ।१

जो ज्ञानी सम्यक्त्वाचरण चारित्र से शुद्ध हैं वे संयमाचरण धारण कर शीघ्र निर्वाण को प्राप्त करते हैं। २

जो मनुष्य सम्यक्त्वाचरण से भ्रष्ट हैं और संयमाचरण का पालन करते हैं वे अज्ञानी निर्वाण को प्राप्त नहीं करते हैं । ३

आचार्य कहते हैं कि सम्यक् दर्शन से देखना, ज्ञान से द्रव्य-पर्यायों को जानना तथा सम्यक्त्व से श्रद्धा करना यह चारित्र के दोषों का परिहार करना है ।४

अर्थात् सम्यक्त्वाचरण एवं संयमाचरण के भेद से चारित्र दो प्रकार का है और संयमाचरण के एकदेश एवं सकलदेश भेद कर देने से चारित्र के तीन भेद हो जाते हैं।

चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन के साथ अष्ट गुण रूप अभ्यन्तर एवं बाह्य जो आचरण होता है उसी का नाम सम्यक्त्वाचरण चारित्र है तथा पञ्चम एवं षष्ठं गुणस्थान में जो व्रत संयम रूप अभ्यन्तर और बाह्य आचरण होता है इसे संयमाचरण चारित्र कहते हैं।

सराग और वीतराग के भेद से भी चारित्र के दो भेद हैं जिनमें से षष्ठं गुणस्थान तक के आचरण को सराग चारित्र एवं सप्तम गुणस्थान से क्रमशः उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हुये गुणस्थानों के आचरण को वीतराग चारित्र कहा है।

वीतराग चारित्र को ही स्वरूपाचरण चारित्र कहते है । तत्त्वार्थसार में चारित्र के भेद निम्नप्रकार निरूपित किये हैं— सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात के भेद से चारित्र पाँच प्रकार का है ।५

१ सामायिक चारित्र—अमृतचन्द्र सूरि ने इसका लक्षण निम्न प्रकार बताया है—

---

१. तं चेव गुणविसुद्धं जिणसम्मत्तं सुमुक्खठाणाय ।
जं चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्तचरण चारित्तं ॥ ८, चा०पा० ॥

२. सम्मत्तचरण सुद्धा संजमचरणस्स जइ व सुपसिद्धा ।
णाणी अमूढदिट्ठी अचिरे पावंति णिव्वाणं ॥ चा०पा० ९ ॥

३. सम्मत्तचरण भट्ठा संजमचरणं चरंति जे वि णरा ।
अण्णाणणाणमूढा तहवि ण पावंति णिव्वाणं ॥ १० ॥ चा०पा० ॥

४. सम्मद्दंसण पस्सदि जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया ।
सम्मेण य सद्दहदि य परिहरदि चारित्तजे दोसे ॥ १८ ॥ चा०पा० ॥

५. वृत्तं सामायिकत्रेम छेदोपस्थापना तथा ।
परिहारं च सूक्ष्म च यथाख्यातं च पञ्चमम् ॥ ४४ ॥ तत्त्वार्थसार ॥

अभेद रूप से सम्पूर्ण सावद्य योग का पूर्णत: नियत काल के लिए परित्याग करके साम्यभाव में अवस्थित रहना सामायिक चारित्र है।१

इसमें पांच महाव्रत आदि रूप से भेद की विवक्षा नहीं रहती है। सम्पूर्ण सावद्य अर्थात् सदोष हिंसादि प्रवृत्ति का त्याग हो जाता है। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के सिवाय बाईस तीर्थंकरों ने इसी का उपदेश दिया था।२

२, **छेदोपस्थापना चारित्र**—दीक्षा धारण करते समय साधु पूर्णतया स्थिर रहने की प्रतिज्ञा करते हैं परन्तु पूर्णतया निर्विकल्पता में अधिक समय स्थिर रहने में समर्थ न होने पर व्रत, समिति, गुप्ति आदि रूप व्यवहारचारित्र तथा क्रिया-अनुष्ठानों में अपने को स्थापित करते हैं। कुछ समय पश्चात् अवकाश पाकर निर्विकल्प, साम्य स्थिति में पहुंच जाते हैं पुन: परिणामों के गिरने पर शुभभाव रूप विकल्पों में आ जाते हैं। जब तक चारित्र मोह का उपशम या क्षय नहीं करते तब तक इसी प्रकार प्रमत्त-अप्रमत्त रूप झूले में झूलते रहते हैं।

महान तार्किक आचार्य पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं—

प्रमादकृत अनर्थ प्रबन्ध का अर्थात् हिंसादि अव्रतों के अनुष्ठान का विलोप अर्थात् सर्वथा त्याग करने पर जो भले प्रकार प्रतिक्रिया अर्थात् पुन: व्रतों का ग्रहण होता है वह छेदोपस्थापना चारित्र है ३

विकल्पों की निवृत्ति का नाम छेदोपस्थापना चारित्र है। यह चारित्र पंचमगति को ले जाने वाला है।४

प०पू० आचार्य ब्रह्मदेव सूरि लिखते हैं कि—जब एक ही समय समस्त विकल्पों के त्याग रूप परम सामायिक में स्थित होने में यह जीव असमर्थ होता है तब विकल्प भेद से पांच व्रतों का छेदन होने से रागादि विकल्प रूप सावद्यों से अपने को दूर कर निज शुद्ध आत्मा में उपस्थापन करना अथवा छेद, यानी व्रत भङ्ग होने पर निर्विकार निजात्मानुभव रूप निश्चय प्रायश्चित के द्वारा उसके साधक बाह्य प्रायश्चित से जो निज आत्मा में स्थित होना सो छेदोपस्थापना है।५

प० पू० नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने भी लिखा है—

---

१. प्रत्याख्यानमभेदेन सर्व सावद्यकर्मण: ।
नित्यं नियतकालं वा वृत्तं सामायिकं स्मृतम । ४५, त०सार ।

२. इसका स्पष्टीकरण आवश्यक क्रिया में है ।

३. प्रमादकृतानर्थ प्रबन्धविलोपे सम्यक्प्रतिक्रिया छेदोपस्थापना विकल्पनिवृत्तिर्वा ॥ सू० ९ । १८ की व्याख्या, स०सि०

४. चारित्तु मुणि जो पंचमगइ णेई ॥ यो० सा० ॥

५. यदा युगपत्समस्त विकल्पत्यागरूपे परमसामायिके स्थातुमशक्तोऽयं जीवस्तदा समस्तहिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिलक्षणविशेषेण पञ्चप्रकार विकल्पभेदेन व्रतच्छेदेन रागादि विकल्परूप सावद्येभ्यो निवर्त्य निजशुद्धात्मन्यात्मानमुपस्थापयतीति छेदोपस्थापनम् अथवा छेदे व्रतखण्डे सति निर्विकार संवित्तिरूप निश्चय प्रायश्चित्तेन तत्साधक बहिरङ्ग व्यवहार प्रायश्चित्तेन वा स्वात्मन्युपस्थापनं छेदोपस्थापनमिति ॥ ३५, बृ०द्र०सं०टी० ॥

प्रमाद के निमित्त से सामायिकादि से च्युत होकर जो सावद्य क्रिया के करने रूप सावद्य पर्याय होती है उसका प्रायश्चित विधि के अनुसार छेदन करके जो जीव अपनी आत्मा को व्रत धारण आदि पांच प्रकार के संयम रूप धर्म में स्थापित करते हैं, उसको छेदोपस्थापना चारित्र कहते हैं ।१

महा तत्वज्ञ, सिद्धान्त वेत्ता प०पू० वीरसेन आचार्य ने इसकी व्याख्या निम्न प्रकार की है—

उस एक व्रत का छेद अर्थात् दो तीन दिन आदि के भेद से उपस्थापन करने को अर्थात् व्रतों के आरोपण करने को छेदोपस्थापना शुद्धि चारित्र कहते हैं ।

सम्पूर्ण व्रतों को सामान्य की अपेक्षा एक मानकर एक यम को ग्रहण करने वाला होने से सामायिक शुद्धि संयम द्रव्यार्थिक नय रूप है और इसी एक व्रत को पांच अथवा अनेक प्रकार के भेद करके धारण करने वाला होने से छेदोपस्थापना शुद्धि संयम पर्यायार्थिक नय रूप है । यहाँ पर तीक्ष्ण बुद्धि वाले मनुष्यों के अनुग्रह के लिये द्रव्यार्थिक नय का उपदेश दिया गया है और मन्दबुद्धि प्राणियों का अनुग्रह करने के लिये पर्यायार्थिक नय का उपदेश दिया गया है, इसलिये इन संयमों में अनुष्ठान कृत कोई विशेषता नहीं है ।२

प० तपोनिधि आचार्य प्रवर वीरनन्दि जी कहते हैं—

त्रस और स्थावर जीवों की उत्पत्ति और हिंसा के स्थान छद्मस्थ प्राणियों के अप्रत्यक्ष है अतः निरवद्य क्रियाओं में प्रमाद वश दोष लगने पर उसका सम्यक् प्रतिकार करना छेदोपस्थापना है अथवा सावद्य कर्म हिंसादि के भेद से पांच प्रकार के हैं इत्यादि विकल्पों का होना छेदोपस्थापना है३

पू० आचार्य पूज्यपाद स्वामी कहते हैं—

यथा-सर्वसावद्य त्याग लक्षण वाले सामायिक की अपेक्षा से व्रत एक है और वही छेदोपस्थापना की अपेक्षा से पांच प्रकार का होता है । ४

पू० आचार्य वीर नन्दि जी कहते हैं ।

व्रत, समिति और गुप्ति रूप तेरह प्रकार के चारित्र में भेद व दोष लगने पर उन दोषों का छेद करना, नाश करना और फिर अपनी आत्मा में स्थापन करना, अपने आत्मस्वरूप चरित्र को अपने आत्मा में ही स्थिर रखना सो छेदोपस्थापना चारित्र है ।५

---

१. छेत्तूण य परियायं पोराणं जो ठवेइ अप्पाणं ।
पंचजमे धम्मे सो छेदोवट्ठावगो जीवो ।। ४७१, जीवकाण्ड ।।

२. तस्यैकस्य व्रतस्य छेदेन द्वित्र्यादिभेदेनोपस्थापनं व्रत समारोपणं छेदोपस्थापनाशुद्धि संयमः सकलव्रतानामेकत्वमापाद्य एकयमोपादानाद् द्रव्यार्थिकनयः सामायिक शुद्धिसंयमः तदेवैकं व्रतं पञ्चधा बहुधा वा विपाट्य धारणात् पर्यायार्थिकनयः छेदोपस्थापन शुद्धि संयमः । निशितं बुद्धिजनानुग्रहार्थं द्रव्यार्थिकनयादेशना , मन्दधियामनुग्रहार्थं पर्यायार्थिकनया-देशना । ततो नानयोः संयमयोरनुष्ठानकृतो विशेषोऽस्तीति ।। ध०भा० १

३. सावद्य कर्म हिंसादि भेदेन विकल्पनिवृत्ति छेदोपस्थापना ।।———?

४. सर्वसावद्य निवृत्तिलक्षण सामायिकापेक्षया एक व्रतं तदेव छेदोपस्थापनापेक्षया पंचविधमिहोच्यते ।। स०सि०,अ०७,पृ२५८

५. व्रतसमिति गुप्तिभैः पंचभिर्मितैः ।
छेदैभेदरुपात्यर्थं स्थापनं स्वस्थिति क्रिया ।। आ० सार० ६, पृ० १०३ ।।

छेदोपस्थापना-शब्द का समास दो प्रकार से होता है—छेदेन उपस्थापनं इति छेदोपस्थापनं और छेदे सति उपस्थापनं छेदोपस्थापनं ।

तात्पर्य यह है कि यह चारित्र छठे गुणस्थान से नवमें गुणस्थान तक पाया जाता है और आठवें से श्रेणी में ध्यानमग्न अवस्था होने से वहाँ पर यह छेद दोषों के प्रायश्चित्त रूप नहीं है, किन्तु अपनी आत्मा को अन्तर्जल्पों से भी छुड़ा कर अपने में स्थापित करने रूप है।

(३) परिहार विशुद्धि चारित्र—पुरुषार्थ से निरन्तर बढ़ती हुई परिणामों की विशुद्धि तथा अशुद्धि का अभाव अर्थात् सर्व अन्तरङ्ग पुरुषार्थ का नाम ही परिहारविशुद्धि चारित्र है ।

इसका विवेचन करते हुये पू०आ० नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती लिखते हैं—

पाँच प्रकार के संयमियों में से सामान्य अभेद रूप से अथवा विशेष भेदरूप से सर्व सावद्य का सर्वथा परित्याग करने वाला जो जीव पाँच समिति और तीन गुप्ति को धारण कर सदैव ही सावद्य का त्याग करता है उन्हें परिहारविशुद्धि संयमी कहते हैं ।१

पू० आचार्य अमृतचन्द्रसूरि का कथन है—

जिसम प्राणिघात के विशिष्ट त्याग से शुद्धि होती है, परिणामों में निर्मलता आती है वह परिहारवि-शुद्धि नाम का संयम है । २

अनेक आचार्यों ने परिहारविशुद्धि चारित्र का लक्षण विभिन्न प्रकार से दर्शाया है ।

पू० आचार्य पूज्यपाद स्वामी कहते हैं—

प्राणी वध से निवृत्ति को परिहार कहते हैं । इस युक्त शुद्धि जिस चारित्र में होती है वह परिहारविशुद्धि चारित्र है ।३

पू० आचार्य देव ने योगसार में कहा है—

मिथ्यात्व आदि के परिहार से जो सम्यग्दर्शन की विशुद्धि होती है उसे परिहारविशुद्धि चारित्र कहते हैं । इससे जीव शीघ्र मोक्ष सुख की सिद्धि करता है ।४

---

१. पंच समिदो तिगुत्तो परिहरइ सदावि जो हु सावज्जं ।
पंचेक्कजमो पुरिसो परिहारय संजदो सो हु ॥ जी० कां० ४७२ ॥

२. विशिष्ट परिहारेण प्राणिघातस्य यत्र हि ।
शुद्धिर्भवति चारित्रं परिहारविशुद्धि तत् ॥ त० सा० ४७ ॥

३. परिहरणं परिहारः प्राणिवधान्निवृत्तिः । तेन विशिष्टा शुद्धिर्यस्मिंस्तत्परिहार विशुद्धि चारित्रम् ॥ स०सि०,अ०९,सू०१८

४. मिच्छादिउ जो परिहरणु सम्मद्दंसण सुद्धि ।
सो परिहार विसुद्धि मुणि लहु पावहि सिव सिद्धि ॥ यो० सा० १०२

पू० आचार्य वीरसेन स्वामी कहते हैं—

परिहार ही प्रधान है ऐसे शुद्धि प्राप्त संयतों को परिहारविशुद्धि संयत कहते हैं ।१

पू० आचार्य ब्रह्मदेव सूरि ने भी कहा है —

मिथ्यात्व, रागादि विकल्प मलों का प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग करके विशेष रूप से जो आत्म शुद्धि अथवा निर्मलता वही परिहारविशुद्धि चारित्र है ।२

परिहारविशुद्धि संयमविधि—जिनकल्प को धारण करने में असमर्थ ४ या ५ साधु संघ में परिहार-विशुद्धि संयम धारण करते हैं। उनमें भी एक आचार्य कहलाता है। शेष जो तदनन्तर धारण करते हैं उन्हें अनुपहारक कहते हैं। ये साधु वसतिका, आहार, संस्तर, पिच्छी व कमण्डलु के अतिरिक्त अन्य कुछ भी ग्रहण नहीं करते हैं, धैर्यपूर्वक उपसर्ग सहते हैं। वेदना आदि होने पर उसका प्रतिकार नहीं करते, निरन्तर ध्यान व स्वाध्याय में मग्न रहते हैं। श्मशान में भी ध्यान करने का इनको निषेध नहीं है। यथाकाल आवश्यक क्रियाएं करते हैं, शरीर के अङ्गों को पीछी से परिमार्जन की क्रिया नहीं करते हैं। वसतिका के लिये उसके स्वामी से आज्ञा लेकर तथा निःसही आ सही के नियमों को पालते हैं। निर्देश को छोड़कर समस्त समाचारों का पालन करते हैं। अपने साधर्मी के अतिरिक्त अन्य सभी के साथ आदान-प्रदान, वन्दन, अनुभाषण आदि सम्पूर्ण व्यवहारों का त्याग करते हैं किन्तु आचार्य पद पर प्रतिष्ठित परिहार विशुद्धि संयमी उन व्यवहारों का त्याग नहीं करते हैं। धर्मकार्य में आचार्य से अनुज्ञा लेना, विहार में मार्ग पूंछना, वसतिका के स्वामी से आज्ञा लेना, योग्य-अयोग्य उपकरणों के लिये निर्णय करना तथा किसी का संदेह दूर करने के लिये समाधानपरक उत्तर देना, इन कार्यों के अतिरिक्त वे मौन रहते हैं। उपसर्ग आने पर स्वयं दूर करने का प्रयत्न नहीं करते, यदि कोई दूसरा दूर करे तो मौन रहते हैं। तीसरे पहर भिक्षा को जाते हैं। जहां छह भिक्षाएं अपुनरुक्त मिल सकें ऐसे स्थान में रहना ही योग्य समझते हैं, गुणों से सुसज्जित ही परिहारविशुद्धि संयम के धारी होते हैं।

जो तीस वर्ष की आयु में संयम धारण करने वाले, वर्ष पृथक्त्व (३–९ वर्ष पर्यन्त) तक तीर्थंकर के पादमूल की सेवा करने वाले एवं प्रत्याख्यान पूर्व के पारङ्गत हों वे ही ऋषीश्वर इस चारित्र को प्राप्त कर सकते हैं। अर्थात् जन्म से लेकर तीस वर्ष तक सदासुखी रह कर अनन्तर दीक्षा ग्रहण करके श्री तीर्थंकर भगवान के पादमूल में आठ वर्ष तक प्रत्याख्यान नामक नवमें पूर्व का अध्ययन करने वालों के ही यह संयम होता है। इस संयम के धारी मुनिराज तीन संध्या-कालों को छोड़ कर प्रतिदिन दो कोश पर्यन्त गमन करते हैं, रात्रि को गमन नहीं करते हैं। इन मुनिराजों को वर्षाकाल में गमन करने या न करने का कोई नियम नहीं है। क्योंकि इस संयम से सुशोभित यतिगण जीवराशि में विहार करते हुये भी हिंसा से लिप्त नहीं होते हैं।३

---

१. परिहार प्रधानः शुद्धि संयत परिहारशुद्धि संयतः ॥ ध० ?

२. मिथ्यात्व रागादिविकल्प मलानां प्रत्याख्यानेन परिहारेण विशेषेण ।
स्वात्मनः शुद्धिर्नैमल्य परिहार विशुद्धिचारित्रमिति ॥ बृ० द्र० सं० टी० गा० ?

३. तीसं वासो जम्मे वासपुधत्तं खु तित्थयर मूले । पच्चक्खाणं पढिदो संझूणदुगाउय विहारी ॥ जी० का० ४७३ ॥

परिहारविशुद्धि संयम का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है क्योंकि वह छठमें तथा सातवें गुणस्थान में होता है और अन्तर्मुहूर्त में गुणस्थान बदल जाने से यह संयम छूट जाता है, इसका उत्कृष्ट काल ३८ वर्ष कम १ करोड़ वर्ष पूर्व है। क्योंकि मनुष्य गति में उत्कृष्ट आयु १ करोड़ वर्ष पूर्व ही है।

सूक्ष्म साम्पराय—उपशम श्रेणी अथवा क्षपक श्रेणी में आते ही सूक्ष्म लोभ कषाय के उदय से सूक्ष्म साम्पराय नाम के गुणस्थान में जो संयम होता है वह सूक्ष्म साम्पराय चारित्र है।

सांपराय कषाय को कहते हैं जिनकी कषाय सूक्ष्म हो गई है उन्हें सूक्ष्म सांपराय कहते हैं। जो संयत विशुद्धि को प्राप्त हो गये हैं उन्हें शुद्धि संयत कहते हैं। जो सूक्ष्म कषाय वाले होते हुये शुद्धि प्राप्त संयत हैं उन्हें सूक्ष्म सांपराय शुद्धि संयत कहते हैं।

अनेक आचार्यों ने सूक्ष्म साम्पराय चारित्र का स्वरूप निम्न प्रकार कहा है—

पूज्यपाद स्वामी कहते हैं—

जिस चारित्र में कषाय अति सूक्ष्म हो वह सूक्ष्म सांपराय चारित्र है।[1]

पू० आ० अकलंकदेव कहते हैं—

सूक्ष्म स्थूल प्राणियों के वध के परिहार में जो पूर्ण रूप से अप्रमत्त है अत्यन्त निर्बाध, उत्साहशील, अखण्डित चारित्र जिसने कषाय के विषाङ्कुरों को उखाड़ दिया है उस परम सूक्ष्म लोभ वाले साधु के सूक्ष्म साम्पराय चारित्र होता है।[2]

सूक्ष्म लोभ मात्र के होने से जो सूक्ष्म परिणामों का शेष रह जाना है वह सूक्ष्म सांपराय चारित्र है। वह शाश्वत सुख का स्थान है।[3]

पू० आ० ब्रह्मदेव सूरि कहते हैं—

सूक्ष्म अतीन्द्रिय निज शुद्धात्मा के बल से सूक्ष्म लोभ नामक साम्पराय (कषाय) का पूर्ण रूप से उपशमन व क्षपण सो सूक्ष्म सांपराय चारित्र है।[4]

---

१. अति सूक्ष्म कषायत्वात्सूक्ष्म साम्पराय चारित्रम् ॥ स० सि०

२. सूक्ष्म स्थूलसत्त्ववध परिहाराप्रमत्तत्वात् अनुपहतोत्साहस्य अखण्डितक्रिया विशेषस्य कषाय विषाङ्कुरस्य [illegible] [illegible] लोभ [illegible] [illegible] एव परिप्राप्तसामर्थ्यं सूक्ष्म साम्पराय शुद्धिसंयतस्य सूक्ष्मसाम्पराय चारित्रमाख्यायते ॥ रा० वा० ॥

३. [illegible] [illegible] जो [illegible] जो [illegible] [illegible] परिणामु।
सो सुहुमुपि चारित्त मुणिसो सासय सुह धामु॥ १०३

४. सूक्ष्मातीन्द्रिय निजशुद्धात्म[illegible] सूक्ष्मलोभाभिधान साम्परायस्य कषायस्य [illegible] निरवशेषोपशमनं क्षपणं वा तत्सूक्ष्मसांपराय चारित्रमिति । द्र० सं० टी० ।

पू० आ० वीरनन्दि स्वामी कहते हैं—

जिस चारित्र में सूक्ष्म साम्पराय कषाय हो उसको सूक्ष्म साम्परायिक चारित्र कहते हैं। वह सामायिक और छेदोपस्थापना संयम दो रूप है।१

सूक्ष्म साम्पराय चारित्र का स्वामित्व—सूक्ष्म सांपराय शुद्धि संयत जीव एक सूक्ष्म सांपराय शुद्धि संयत गुणस्थान में ही होते हैं।२

जघन्य उत्कृष्ट स्थानों का स्वामित्व—सूक्ष्म सांपरायिक शुद्धि संयम की जघन्य चारित्र लब्धि उपशम श्रेणी से उतरने वाले अन्तिम समयवर्ती सूक्ष्मसाम्परायिक के होती है। उसी सूक्ष्म सांपरायिक शुद्धि संयम की उत्कृष्ट चारित्र लब्धि -अन्तिम समयवर्ती सूक्ष्म सांपरायिक क्षपक के होती है।३

यथाख्यात चारित्र—चारित्र मोहनीय कर्म के सर्वथा उपशम से ११ वें गुणस्थान में अथवा इसी कर्म के सर्वथा क्षय से १२ वें, १३ वें और १४वें गुणस्थानों में यथावस्थित वीतराग निर्विकार आत्म स्वभाव की उपलब्धि का प्रकटना यथाख्यात चारित्र है।

पू० आ० नेमीचन्द्र चक्रवर्ती कहते हैं—

अशुभ रूप मोहनीय कर्म के उपशान्त अथवा क्षीण हो जाने पर जो वीतराग संयम होता है उसे यथाख्यात चारित्र कहते हैं।४

अनेक आचार्यों ने विभिन्न प्रकार से यथाख्यात चारित्र का लक्षण बताया है। समस्त मोहनीय कर्म के उपशम या क्षय से जैसा आत्मा का स्वभाव है उस अवस्था रूप जो चारित्र होता है

वह यथाख्यात चारित्र कहा जाता है जिस प्रकार आत्मा का स्वभाव अवस्थित है उसी प्रकार यह कहा गया है। इसलिये इसे यथाख्यात चारित्र कहते हैं।५

धवलाकार कहते हैं—

परमागम में विहार अर्थात् कषायों के अभाव रूप अनुष्ठान का जैसा प्रतिपादन किया है तदनुकूल विहार जिनके पाया जाता है उन्हें यथाख्यात विहार कहते हैं। जो यथाख्यात विहार वाले होते हुये शुद्धि प्राप्त संयत हैं वे यथाख्यातविहार शुद्धि संयत कहलाते हैं।६

---

१. सूक्ष्मोऽत्र: सांपराय: कषायोऽस्मिन्निति संयम:। स्यात्सूक्ष्म सांपराय सामायिक द्वितीयात्मक: ॥ आ०सार० गा० १४६ ॥

२. चारित्तसमय सुहुम साम्पराइयरवगत्य ॥ ध० खं० ७ ॥ —?

३. सुहुम साम्पराइय सुद्धि संजमस्स जहण्णिया चारित्तलद्धी ॥ १७२ ॥
उवसमसेढीदो ओदरमाण चरिम समय सुहुम साम्पराइयस्स तस्सेव उक्कस्सिया चरित्तलद्धी ॥ १७३ ॥)

४. उवसंते खीणे वा असुहे कम्मम्मि मोहणीयम्मि। छदुमट्ठो व जिणो वा जहखादो संजदो सो दु ॥ गो० जी० ४७५ ॥

५. मोहनीयस्य निरवशेषस्योपशमात्क्षयाच्च आत्मस्वभावा वस्थापेक्षा लक्षणं अथयाख्यातचारित्र मित्याख्यायते। यथात्मस्वभावोऽवस्थित स्तथैवा ख्यातत्वात् ॥ सं० सि० अ० —?

६. यथाख्यातो यथाप्रतिपादित: विहार: कषायाभावरूप अनुष्ठानम् यथाख्यातोविहारो यथाख्यातविहार:।
यथाख्यातविहाराश्च ते शुद्धि संयताश्च यथाख्यातविहार शुद्धि संयत: ॥ ध० पु० १ ॥

आ० ब्रह्मदेवसूरि कहते हैं—

जैसा निष्कम्प सहज शुद्ध स्वभाव से कषाय रहित आत्मा का स्वरूप है वैसा ही आख्यात अर्थात् कहा गया है वह यथाख्यात चारित्र है ।१

आ० ब्रह्मदेव सूरि जी और भी कहते हैं—

यथाख्यातविहार शुद्धि संयत की अजघन्यानुत्कृष्ट चारित्रलब्धि अनन्तगुणी है ।२

कषाय का अभाव हो जाने से उसकी वृद्धि-हानि के कारण का अभाव हो गया है इसी कारण वह अजघन्यानुत्कृष्ट है ।३

यथाख्यात विहार शुद्धि संयत जीव उपशान्त मोह, क्षीणमोह सयोगकेवली, अयोगकेवली इन चार गुणस्थानों में होते हैं ।

१. यथा सहज शुद्ध स्वभावत्वेन निष्कम्पत्वेन निष्कषायमात्म स्वरूप तथैवाख्यातम् कथितं यथाख्यातचारित्रमिति ॥ सं० टी० ॥ — ?

२. जहाक्खाद विहार सुद्धि संजदस्स अजहण्ण अणुक्कस्सिया चारित्तलद्धी अणंतगुणा ॥ ध० सं० १५४ ॥

३. कषायाभावेण वड्ढिहाणिकारण भावादो ।
तेणेव कारणेण अजहण्णा अणुक्कस्सा च ॥ पं० सं० ७१२ ॥
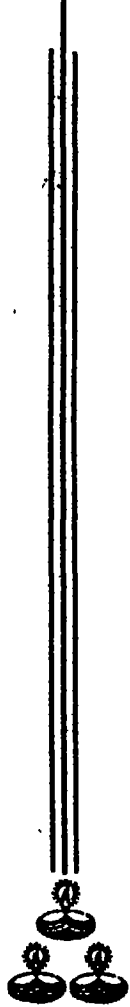
★ तपाचार ★

तपाचार—कर्म कालिमा से मलिन आत्मीय अनन्त गुणों को द्वादश तप रूपी अग्नि में तपाकर कुन्दन जैसा खरा बनाना, ज्ञानादि गुणों में हीरे की चमक के समान निर्मलता प्राप्त कर भुक्ति की विराधना, मुक्ति की साधना करना तपाचार है इस तपाचार से विभूषित मुनिराज परिपूर्ण रूप से यतियों के गण नायक होते हैं। यह तप आभ्यन्तर और बाह्य के भेद से दो प्रकार के हैं। इनकी विवेचना निम्न प्रकार है।

पू० कुन्द कुन्दस्वामी कहते हैं—

तप के अनुष्ठान को तपाचार कहते हैं बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से तपाचार के दो भेद हैं तथा एक-एक के छह-छह भेद यथाक्रम से प्ररूपित किये गये हैं।१

पू० वीरनन्दिआचार्य कहते हैं—

जिस तप रूपी जहाज से शीघ्र ही संसार रूपी विशाल समुद्र पार किया जाता है वह तपाचार है।२

---

१. दुविहो य तवाचारो बाहिर अब्भंतरो मुणेयव्वो।
एक्केक्को विय छद्धा जहाकमं तं परुवेमो ॥ मुलाचार ॥

२. तपः पोतेन येनतौ संसारोरुसरित्पति।
तीर्यंते त्वरयेवाशी तत्तपः प्रतिपाद्यते ॥ आ० सा० ॥

तपा चार वाह्य

और भी कहा है—

मन और इन्द्रिय का निरोध करने वाले अनुष्ठान को तप कहते हैं । वह तप बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का है और उनमें से प्रत्येक के छह-छह भेद माने गये हैं ।१

पं० प्र० आशाधर जी कहते हैं—

मन, इन्द्रिय और शरीर के तपने से अर्थात् इनका सम्यक् रूप से निवारण करने से सम्यग्दर्शन आदि को प्रकट करने के लिये इच्छा के निरोध को तप कहते हैं ।२

अन्य प्रकार से भी तप का लक्षण निम्नप्रकार किया गया है—

रत्नत्रय रूप मार्ग में अविरुद्ध रूप से ज्ञानावरण आदि का या शुभ-अशुभ कर्मों का निर्मूल विनाश करने के लिये जो तपा जाता है अर्थात् इन्द्रिय और मन के निग्रह का अनुष्ठान करने योग्य आचरण को करने और न करने योग्य आचरण को न करने का जो विधान है इसी का नाम तप है ।३

यह कर्तव्य है और यह अकर्तव्य है ऐसा जानकर अकर्तव्य का त्याग करना चारित्र है, वही ज्ञान है और वही सम्यग्दर्शन है, उस चारित्र में जो उद्योग और उपयोग होता है उसी को जिन भगवान ने तप कहा है।

पूज्याचार्य योगीन्दु देव कहते हैं—

परमात्म स्वरूप में पर द्रव्य की इच्छा का निरोध कर सहज आनन्द रूप परिणमन तपश्चरणाचार है ।

ब्रह्मदेवसूरि जी कहते हैं—४

---

१. तपः प्राहुरनुष्ठानं मानसाक्षनियामकम्।
बाह्याभ्यन्तर भेदं तत्प्रत्येकं षड्विधं मतम् ॥

२. तपोमनोऽक्षकायाणां तपनात् सन्निरोधनात् ।
निरुच्यते दृगाद्याविर्भावयेच्छा निरोधनम् ॥अ०धर्मा०॥

३. यद्वा मार्गाविरोधेन कर्मोच्छेदाय तप्यते ।
अर्जयत्यक्षमनसोस्तपो नियमक्रिया ॥

४, परद्रव्येच्छानिरोधेन सहजानन्दैक रूपेण प्रतपनं तपश्चरणं तत्राचरणं परिणमनं तपश्चरणाचारः । प० द्र०।

समस्त परद्रव्य की इच्छा के रोकने से अथवा अनशनादि बारह तप रूप बहिरङ्ग सहकारी कारणों से जो निजस्वरूप में प्रतपन अथवा विजयन वह निश्चय तपश्चरण है । उसमें जो आचरण अर्थात् परिणमन निश्चय तपश्चरणाचार है ।१

इच्छा जिसमें शान्त हो, ना प्रगेट परभाव ।
उसको जानो श्रेष्ठ तप, कारण सहज स्वभाव ।।

जिसके द्वारा किसी वस्तु को तपा कर शुद्ध किया जाये उसे ही तप कहते हैं । अर्थात्. जिसकी सहायता लेकर किसी वस्तु की किट्ट कालिमा को हटाया जाये, उसे निर्विकार बनाया जाये, स्वभाव में लाया जाये, निर्मल बनाया जाये, शुद्ध किया जाये उसे तप कहते हैं । जैसे-अग्नि के द्वारा कुन्दन को खरा बनाया जाता है, किट् कालिमा से रहित किया जाता है, स्वभाव में लाया जाता है, उसी प्रकार आत्मा को व्रत आचरण, ध्यान स्वपर भेद विज्ञान आदि के द्वारा कर्ममल से रहित करने में, केवल ज्योति से ज्योति मिलाने में तत्पर परम तपस्वी वीतरागी महामुनिराज भव दुःख से बचाने में विकार के भाव को हटाने और निर्मल कुन्दन जैसा खरा बनाने में अहर्निश शरीर की ओर से पूर्ण विमुख होकर इच्छाओं को दूर करने में संलग्न रहते हैं इसी को तप कहते हैं ।

धवलाकार कहते हैं—

इच्छाओं का निरोध करना तप है ।२

पू० आ पद्मनन्दी जी कहते हैं—

सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्र को धारण करने वाले साधु के द्वारा जो कर्मरूपी मैल को दूर करने के लिये तपा जाता है वह तप है । यह तप दो एवं बारह भेद वाला तथा जन्मरूपी समुद्र से पार होने के लिये जहाज के समान है । ३

अन्तरङ्ग और बाह्य की अपेक्षा से तप के दो भेद हैं–जिनके माध्यम से लोक में तपस्वी की पहचान होती है उसे बाह्य तप कहते हैं एवं जिसके माध्यम से आत्मस्वरूप को शुद्ध किया जाता है या मात्र स्वयं में संवेदन किया जाता है उसे अन्तरङ्ग तप कहते हैं ।

अर्थात् आहारादिक बाह्य द्रव्य की अपेक्षा से पर प्रत्यक्षता से, परमतों की अपेक्षा से, साधर्मी और अन्यधर्मियों को यह तप प्रत्यक्ष दीखता है इसको बाह्य तप कहते हैं । प्रायश्चित्तादि तप में बाह्य

१. समस्तपरद्रव्येच्छानिरोधेन तथैवानशनादि द्वादश तपश्चरण बहिरङ्ग
सहकारिकारणेन च स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं निश्चय तपश्चरणं ।
तत्राचरणं परिणमनं निश्चयतपश्चरणाचारः ।।द्र०सं० टी०
२. इच्छानिरोधः तपः ।।ध०
३. कर्ममलविलयहेतोर्बोधदृशा तप्यते तपः प्रोक्तम् ।
तद्द्वेधा द्वादशधा जन्माम्बुधियानपात्रमिदम् ।।प० म० प० वि०,६८।।

द्रव्य आहारादिक की अपेक्षा नहीं रहती है। ये तप स्वसंवेद्य है अर्थात् दूसरों को इन तपों का अनुभव नहीं हो पाता है। इन तपों में मनोव्यापार की ही प्रधानता है इसलिये इनको आभ्यन्तर तप कहते हैं।

छह अन्तरंग व छह बाह्य की अपेक्षा से तप को बारह भेदों में विभाजित किया गया है उनका क्रम निम्न प्रकार है —

कुन्दकुन्दस्वामी कहते है —

अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त शय्यासन, काय क्लेश ये बाह्य तप के छह भेद हैं—

प्रयश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान, ये अभ्यन्तर तप के भेद हैं। (१)

जो वीतरागी मुनिराज इन द्वादश प्रकार के तपों को तपते हैं वह अपने को पूर्णतया शुद्ध बना लेते हैं और कर्म कालिमा को भस्म कर अपने अनन्त गुणों को कुन्दन जैसा खरा बना लेते हैं।

तप आवश्यक क्यों—"तपसा निर्जरा च" तप के द्वारा निर्जरा होती है और निर्जरा होने से सम्यग्ज्ञान दीप प्रज्ज्वलित हो उठता है। ज्ञान दीप जलने से मोक्ष मंजिल की खोज होती है जिसके लिये चक्रवर्ती आदि भी हर समय लालायित रहते हैं। इसलिये मुनिराज अपना सारा जीवन तप में ही व्यतीत कर देते हैं क्योंकि यह पर्याय न जाने किस विशेष पुण्योदय से मिली है और कुछ ही समय में नष्ट हो जाने वाली है। कुछ दिन पूर्व हमारा शरीर बिल्कुल छोटा सा था आज बड़ा हो गया कुछ दिन के बाद देखते-देखते यह शरीर जीर्ण-शीर्ण हो जायेगा। अगर भविष्य को आनन्दमय बनाना चाहते हैं तो यौवन अवस्था को भोगों में व्यतीत न कर रत्नत्रय को धारण कर तप में निमग्न हो जायें।

किसी ने कहा है—

तप तपते यौवन गयो द्रव्य गयो मुनिदान।
प्राण गये सन्यास मे, तीनों गये न जान॥

अगर प्राण सन्यास में छूट जायें, सम्पूर्ण द्रव्य मुनिदान में समाप्त हो जाये और यौवन अवस्था तप करते करते व्यतीत हो जाये तो इससे बढ़ कर क्या लाभ हो सकता है। कुछ भी नहीं। यह शरीर तो एक दिन सूख के ठठेरा हो जाने वाला है, चाहे भोगों में सुखा दें चाहे मुक्ति

---

१. अणसण अवमोदरियं रसपरिच्चाओ य वुत्तिपरिसंखा।
कायस्स वि परितावो विवित्तसयणासणं छट्ठं ॥१६॥मूलाचार
पायच्छित्तं विणयं वेज्जावच्चं तहेव सज्झायं।
झाणं च विउस्सग्गो अब्भंतरओ तवो एसो॥१८मू०चा०॥

अंधायक तप में। भोगों में सुख देने से पश्चाताप होगा और संयम के साथ तप में सुख देने से आनन्द सागर में किल्लोलें करेंगे अतः भवसागर के दुःखों से बचने के लिये तप करना आवश्यक है। इसके बिना सुख नहीं।

तप कैसा हो—सम्यक् श्रद्धा व तप के साथ किया हुआ तप ही मुक्ति पथ की ओर ले जाने वाला होता है, आत्मा को निर्मल बनाने वाला होता है। मात्र तप तो चाहे हम कितना भी करते रहें, अगर भावों के साथ नहीं हो तो वह तप संवर और निर्जरा का कारण नहीं होगा। कर्म मल को नष्ट करने वाला नहीं होगा, आत्मा से विकारों को पृथक करने वाला नहीं होगा। वह होगा मात्र आस्रव एवं बंध का कारण, राग व द्वेष का कारण, शरीर को क्षीण करने का कारण, नष्ट करने का कारण अतः हमारा तप ख्याति-लाभ से परे हो, मायाचारी से रहित हो, लोगों से पूजा प्रतिष्ठा आदि कराने की भावना से रहित हो, समस्त इच्छाओं से रहित हो वही तप वास्तव में तप कहा जा सकता है उसके द्वारा ही आत्मा की शुद्धि सम्भव है। इसलिये हमारा तप थोड़ा भी क्यों न हो परन्तु सत्य हो, क्योंकि किसी ने सत्य को भी तप की पदवी दी है।

> साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
> जाके हृदय साँच है, ताके हृदय आप।-

तप इच्छा रहित क्यों

> इच्छा दुःख का मूल है, अवगुण की है खान -
> इच्छा तजि तप जो करे, पावे केवलज्ञान॥

जिसकी जितनी ज्यादा आवश्यकतायें हैं उसके पास उतनी अधिक कमियां हैं अर्थात् इच्छा सर्वथा त्याज्य है क्योंकि दुःख का मूल है, अवगुणों एवं अनीति की खानि है तथा भव की निशानी है। इस लोक और परलोक की समस्त इच्छाओं से रहित होना ही तप कहलाता है। जिस तप के साथ किसी भी प्रकार की चाह न हो, वही सच में तप है और जो तप किसी भी इच्छा को लेकर किया जाता है वह तप फलदायी नहीं हो सकता है।

किसी ने कहा है—

> बिन मांगे मोती मिले, मांगे मिले न भीख।

अगर समय अनुकूल नहीं होता है तो चाहे कितनी भी याचना क्यों न करते रहें परन्तु भीख भी मिलना दुर्लभ हो जाती है। किसी ने कहा भी है—

> मांगे उससे भागे और त्यागे उसके आगे।

यह युक्ति बिल्कुल सच है और अनुभव में भी आ रही है अतः हमें तप करते समय किसी भी प्रकार की इच्छा नहीं रखनी चाहिए। तप करके किसी लौकिक काम की इच्छा करना व्यर्थ है क्योंकि वह तप तो उस इच्छा की पूर्ति करने वाला है जो इच्छा फिर कभी उत्पन्न ही न हो अर्थात् तप मोक्ष सुख का देने वाला है। जैसें- कोई किसान गेहूं की खेती कर क्या भूसे की याचना कर सकता है ? कभी नही। गेहूं के साथ भूसा तो स्वतः ही मिल जायेगा अतः जो तप मुक्ति सुख को देने वाला है उससे संसार के सुख की याचना करना व्यर्थ है। वह तो मुक्ति जाने से पूर्व तक सहज में ही उपलब्ध होंगे। इसलिये तप को हम मात्र अपना कर्त्तव्य मानकर ही करें। उस तप से हमारी आत्मा निर्मल बन जाएगी।

बाह्य तपों से लाभ—

बाह्य तप से बनत है उर अन्दर के भाव।
कारण आत्म ध्यान का करें लहैं निज भाव॥

बाह्य तप अन्तरङ्ग तप के कारण हैं अर्थात् इन बाह्य तपों के बिना अंतरङ्ग तप भी संभव नहीं है अतः हमें श्रद्धा के साथ बाह्य तपों को भी करना चाहिये, तभी झुकाव होगा अन्तरङ्ग की ओर। इसलिये अन्तरङ्ग तप के कारण बाह्य तपों को आरम्भ परिग्रह से मुक्त मुनिराज पूर्णतया धारण करते हैं।

पं० आशाधर जी कहते हैं—

अनशनादि तप इसलिये है कि इनके होने पर शरीर इन्द्रियां उच्छिन्न नहीं हो सकती किन्तु कृश हो जाती हैं। दूसरे इनके निमित्त से सम्पूर्ण अशुभ कर्म अग्नि के द्वारा ईंधन की तरह भस्मसात् हो जाते हैं। तीसरे आभ्यन्तर प्रायश्चित्तादि तप के बढ़ाने में कारण हैं। बाह्य तपों के द्वारा शरीर का कर्षण हो जाने से इन्द्रियों का मर्दन हो जाता है, इन्द्रिय दलन से मन अपना पराक्रम किस तरह प्रगट कर सकता है कैसा भी योद्धा हो प्रतियोद्धा द्वारा अपना घोड़ा मारे जाने पर अवश्य निर्बल हो जायेगा।[1]

---

1. देहाक्षतपनात्कर्म दहनादान्तरस्य च तपसो वृद्धिहेतुत्वात् स्यात्तपोऽनशनादिकं। [illegible] [illegible] [illegible]मर्दने ।छिन्नवाहो भट इव [illegible]: किमस्मिन:॥अन० ध० ७।५।८॥

* अनशन तप *

अनशन से उपवास हो उप से होवे प्रेम ।
क्रोधादिक तजि जो करें, मुक्ति वरें करि प्रेम ॥

ज्ञानामृत भोजन से सन्तुष्ट रहने वाले दयालु मुनिराज चारों प्रकार के आहार का त्याग कर देते हैं, वही अनशन है । अनशन को ही उपवास कहते हैं उपवास का यथार्थ में अर्थ है—आहार, विहार, निहार, सभी क्रियाओं से विराम लेकर अपने निजी ज्ञायक स्वभाव में विश्राम लेता है ।

उपवास करने से यतियों के शरीर का शोधन हो जाता है, वह निरोग हो जाता है, प्रमाद रहित हो जाता है । शरीर के प्रति ममत्व कम होता है, ध्यान करने की क्षमता बढ़ती है । सल्लेखना सहित उत्कृष्ट समाधि का सौभाग्य प्राप्त होता है एवं उभय लोक में वास्तविक शान्ति का अनुभव होता है ।

अनशन तप की महिमा सर्वत्र शास्त्रों में प्रतिपादित है । आज भी देखा जा रहा है कि एक दो मास के उपवास करने वाले तपस्वी मुनिराज विद्यमान है । धन्य हैं वह मुनिराज जो सम्यक् रूप से अनशन करते हैं वह अवर्णनीय अक्षय आनन्द को प्राप्त होंगे ।

ख्याति लाभ की भावना से या कषाय वश किया हुआ उपवास, अनशन तप नहीं कहा जा सकता है । वह तो मात्र कायक्लेश है । उससे आत्म शान्ति एवं मोक्षमार्ग का कोई सम्बन्ध नहीं है । कहा भी है—

कषाय विषयाहारो त्यागो यत्र विधीयते ।
उपवासो सः विज्ञेयः शेषः लंघनकं विदुः ॥

विषय कषायों के त्याग के साथ अगर अनशन किया जाता है तो वह उपवास या अनशन तप कहा जावेगा अन्यथा वह लंघन है । मोक्ष के प्रेमी मुनिराज तो ख्याति लाभ से दूर ही रहते हैं उन्हें लोकेषणा से मतलब ही नहीं है, वह तो अनशन तप आत्म कल्याणार्थ ही करते हैं ।

इस तप की व्याख्या आचार्यों ने अनेक प्रकार से की है ।

कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है—

अनशन तप के इत्तरिय अनशन और यावज्जीवन अनशन ऐसे दो भेद हैं। कालादि की अपेक्षा से अर्थात् कालादि की मर्यादा करके जो अनशन किया जाता है उसको इत्तरिय अनशन कहते हैं अर्थात् इतने काल तक अनशन पान का ग्रहण नहीं करूंगा, ऐसी प्रतिज्ञा करके अशनादिकों का जो त्याग करना है वह इत्तरिय अनशन तप है और आजीवन निरपेक्ष होकर अशन, पान लेह्यादिक अशन का त्याग करना यावज्जीवन अनशन हो जाता है।१

साकांक्षा अनशन —जहाँ एक दो दिन से आदि लेकर छह मास पर्यन्त की मर्यादा लेकर भोजन का त्याग किया जाता है वह साकांक्षा अनशन है। साकांक्षा अनशन के सर्वतोभद्र, सिंह निष्क्रीडित और एकान्तरोदय आदि अनेक भेद हैं।

निराकांक्षा अनशन—यावज्जीवन आहार का त्याग करना निराकांक्षा अनशन है। आयु के अन्त में समाधिमरण के समय प्रायोपगमन, भक्त प्रत्याख्यान और इङ्गिनी मरण करना निराकांक्षा अनशन तप है।

पं० प्रवर आशाधर जी ने भी कहा है—

मुक्ति अर्थात् कर्मक्षय के लिये चतुर्थ उपवास से लेकर छह मास तक का उपवास करना अथवा मरण पर्यन्त उपवास करना अनशन तप है।२

अनशन तप के अतिचार—स्वयं भोजन नहीं करना परन्तु दूसरों को भोजन कराना, कोई भोजन कर रहा हो तो उसको अनुमति देना, अनशन तप के अतिचार हैं। यह अतिचार मन से, वचन से और शरीर से करने रूप तीन भेद वाला है। भूख से पीड़ित होने पर स्वयं मन में आहार की अभिलाषा करना, मेरे को कौन पारणा देगा, किस घर में मेरी पारणा होगी, ऐसी चिंता करना अनशन तप के अतिचार हैं। ३

---

१. इत्तिरियं जावजीवं दुविहं पुण अणसणं मुणेयव्वं ।
इत्तिरियं साकंखं णिराकंखं हवे विदियं॥१६६,मूलाचार॥

२. चतुर्थाद्यर्धवर्षान्त उपवासोऽथवामृतेः ।
सकृद् भुक्तिश्च मुक्त्यर्थं तपोऽनशनमिष्यते ॥ अ० ध०, ७।११ ॥

३. अनशनस्यातिचाराः । स्वयं न भुङ्क्ते अन्यं भोजयति परस्य भोजनमनुजानाति मनसा वचसा कायेन च ।
स्वयं क्षुधापीडितः आहारमभिलषति । मनसा पारणां मम कः प्रयच्छति क्व वा लप्स्यामीति चिन्ता अनशनातिचारः
॥ भ० आ० टी० ॥

ॐ ऊनोदर तप ॐ

ऊनोदर तप जो करे, नाहिं होत परमाद ।
सामायिक होगी सही, रोग करें न याद ।।

शरीर से विरक्त, आत्म स्वरूप में अनुरक्त मुनिराज सदैव भूख से कम भोजन करते हैं, इसी को ऊनोदर तप कहते हैं । ऊनोदर तप का विशेष महत्व है । सामान्य जन इसे करने में सक्षम नहीं है । समक्ष रखे भोज्य पदार्थों को त्यागना कठिन होता है, परन्तु जो चिंतवन करते हैं कि अनादि काल से पेट भर भोजन किया किन्तु पेट तो आज—तक खाली का खाली ही है वह मुनिराज सहज में ही ऊनोदर तप में लीन रहते हैं ।

ऊनोदर तप परमोपकारी है । कहा भी है —

कम खाना और गम खाना, हाकिम पर जाना न हकीम पर जाना ।

यह तप मुनियों का तो उपकारी है ही । वह तो भर पेट भोजन करते ही नहीं, आधा पेट ही भोजन करते हैं किन्तु जो भी भूख से कम भोजन करेगा वह धर्म-कर्म उभय पथ में सुखी रहेगा । आचार्यों ने ऊनोदर तप की अनेक प्रकार से विवेचना की है ।

कुन्दकुन्दस्वामी ने कहा है—

मुनिराज का आहार बत्तीस ग्रास प्रमाण माना गया है एवं आर्यिकाओं के आहार का प्रमाण अट्ठारह ग्रास का होता है । हजार तन्दुल प्रमाण एक ग्रास होता है । उक्त ग्रासों में से एक- एक ग्रास कम करते-करते एक ग्रास तक अथवा एकसिक्थ तक आहार लेना अवमौदर्य या ऊनोदर तप है ।१

आ० वीरनन्दि स्वामी ने भी कहा है :

ग्रासहीन अथवा अपने आहार से एक ग्रास, दो ग्रास आदि रूप कम आहार लेना अवमौदर्य तप है । यह तप इन्द्रिय रूपी अटवी को जलाने के लिये दावानल के समान है ।२

---

१. बत्तीसा किर कवला पुरिसस्स दु होदि पयदि आहारो । एग कवलादिहि तत्तो ऊणिय गहणं ।। मू० १७३ ।।

२. ग्रासहीन निजाहारादूनाहारासनं व्रतम । तपः स्यादवमौदर्यमक्षकक्षद वानलः ।। आ० सा० १६ ।।

धवलाकार ने कहा है—

आधे आहार का नियम करना अवमौदर्य तप है अथवा जो जिसका प्राकृतिक आहार है उससे न्यून आहार की प्रतिज्ञा करना अवमौदर्य तप है ।१

शिवकोटि आचार्य कहते हैं—

तृप्ति करने वाला, दर्प उत्पन्न करने वाला, जो आहार उसका मन; वचन, काय रूप तीनों योगों से त्याग करना अवमौदर्य तप है ।२

अवमौदर्य तप का प्रयोजन—

कुन्दकुन्दस्वामी ने कहा है—

क्षमादिक धर्मों में, सामायिकादि आवश्यकों में, वृक्षमूलादि योगों में तथा स्वाध्याय आदि में अवमौदर्य तप की वृत्ति उपकार करती है और इन्द्रियों को स्वेच्छाचारी नहीं होने देती है ।३

पूज्यपाद स्वामी कहते हैं—

संयम को जाग्रत रखने, दोषों के प्रशम करने, संतोष और स्वाध्याय की सुखपूर्वक सिद्धि के लिये अवमौदर्य तप किया जाता है ।४

आ० वीरनन्दि स्वामी कहते हैं—

अतिमात्रा में भोजन करने में उत्पन्न हुये श्रम दोष का नाश करने वाला उपवास है और ध्यान स्वाध्याय के लिये, निद्रा आदि को जीतने के लिये अवमौदर्य तप है ।५

अवमौदर्य तप के अतिचार—रसयुक्त आहार के बिना यह मेरा परिश्रम (कमजोरी, थकान) दूर न होगा ऐसी चिन्ता करना । षटकाय जीवों को मन, वचन, काय, किसी भी योग से बाधा देने में प्रवृत्त होना । मेरे को बहुत निद्रा आती है और यह अवमौदर्य नामक तप मैंने व्यर्थ धारण किया है यह संक्लेश दायक है, ताप उत्पन्न करने वाला है, यह तप तो मैं फिर कभी भी नहीं करूंगा ऐसे विचार करना अवमौदर्य तप के अतिचार हैं अथवा बहुत अधिक भोजन करने की मन में इच्छा करना, दूसरों को बहुत भोजन करने में प्रवृत्त करना, तृप्ति होने तक भोजन करना यदि वह कहे कि मैंने बहुत भोजन किया तो तुमने अच्छा किया ऐसा बोलना, अपने गले को हाथ से स्पर्श कर, यहां तक तुमने भोजन किया है न ऐसा हस्त चिन्ह से अपना अभिप्राय प्रगट करना, ये सब अवमौदर्य तप के अतिचार हैं ।

---

१. अद्धाहार णियमो अवमोदरियतवो, जो जस्स पयडिआहारो तत्तोऊणाहार ।
विसयअभिग्गहो अवमोदरियमिदि भणिदं होदि ॥ ध० पु० १३ ॥

२. योगत्रयेण तृप्तिकारिणं मुनिमिथ्यात्वं दर्पकारिण्याः [illegible] अवमौदर्यम् ॥ भ० आ० ६ ॥

३. धम्मावासयजोगे णाणादीये उवग्गहं कुणदि । ण य इंदियप्पदोसयरी उमोदरितवोवुत्ती ॥ मू० चा० ॥

४. संयम प्रजागर दोष प्रशम संतोष स्वाध्यायादिसुखसिद्ध्यर्थमवमौदर्यम् ॥ स० सि० अ० ९ टी० ॥

५. उपवासो अतिमात्रा [illegible] ॥ आ० सा० १० ॥

वृत्ति परिसंख्यान—रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग पर निरन्तर विहार करने वाले यतीश्वर क्षुधा वेदनीय कर्म के उदय में शरीर से तपस्या हेतु जब आहार ग्रहण करने को नगर में भ्रमण करते हैं, उस समय कोई भी अटपटी विधि लेकर निकलते हैं कि यह प्रतिज्ञा मिलेगी तो आहार ग्रहण करूंगा अन्यथा नहीं। जैसा कि तीर्थंकर मुनि महावीर ने प्रतिज्ञा की थी कि हथकड़ी और बेड़ियों में जकड़ी हुई राजकन्या पड़गाहन करेगी तो आहार करूंगा अन्यथा नहीं।

इस वृत्ति परिसंख्यान तप की भी महान महिमा है। इसे वही मुनिराज कर पाते हैं जिनका आहार के प्रति ममत्व प्रायः करके जा चुका है, मिले तो ठीक न मिले तो ठीक दोनों अवस्थाओं में आनन्द अनुभव करने वाले इस तप से अलंकृत होते हैं।

आचार्यों ने निम्न प्रकार से इसका स्वरूप बताया है—

कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं—

गोचर प्रमाण—घरों का प्रमाण अर्थात् इतने घरों में यदि भिक्षा लाभ होगा तो आहार करूंगा, बहुत घरों में नहीं जाऊंगा, ऐसा संकल्प करना गोचर प्रमाण संकल्प है।

दाता और भाजन, (जिनमें अन्न परोसा जाता है) उनके विषय में नाना प्रकार के संकल्प करके स्वीकार करना। जैसे-वृद्ध दाता यदि मेरा प्रतिग्रह करेगा तो मैं आहार के लिये उसके घर में प्रवेश करूंगा अन्यथा नहीं, अथवा बालक, तरुण, स्त्री और एक पुरुष यदि प्रतिग्रह करेगा तो मैं वहां ठहरूंगा अन्यथा नहीं।

पात्र संकल्प—कांसे का पात्र, सुवर्ण-पात्र अथवा मिट्टी का बर्तन, इत्यादि से मेरे को आहार मिलेगा तो भोजन करूंगा, यह पात्र संकल्प है। १

अशन संकल्प—जैसे आज मोंठ का अन्न ही मिलेगा तो भोजन करूंगा अथवा मांडे, सत्तू या भात मिलेगा तो भोजन करूंगा अन्यथा नहीं, इत्यादि प्रकार से संकल्प करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है। २

आ० वीरनन्दि स्वामी कहते हैं—

गली, घर, आहार, पात्र, दाता में वृत्ति, वर्तना करना, संख्या करना, अपनी इच्छा से उसका नियम करना वृत्ति परिसंख्यान तप है।

आज इस मुहल्ले में, इस गली में, इस घर में या इतने घर में आहार मिलेगा तो आहार करेंगे, नहीं मिलेगा तो नहीं करेंगे। यह वृत्ति परिसंख्यान है।

---

१. गोयर परमाणदायग भायणणाणाविधाण जं गहणं।
तह एसणस्स गहणं विविधस्स य वुत्तिपरिसंखा ॥ मू० चा० ॥

२. वृत्तिर्वाट गृहाऽऽहार पात्रदातादुवर्तनम्। संख्या तन्नियमो वृत्तिपरिसंख्या निजेच्छया ॥ आ० सा०, ११ ॥

शिवकोटि आचार्य भी कहते हैं—

आहार संज्ञा का जय करना वृत्ति परिसंख्यान तप है।१

वृत्ति परिसंख्यान तप का प्रयोजन-शरीर-यात्रा के निमित्त मात्र अन्न की आकांक्षा करने वाले योगी के तृष्णा का छेद करने के लिये,अदीनता भावना की प्राप्ति के लिये यह वृत्तिपरिसंख्यान तप होता है।

वृत्ति परिसंख्यान तप के अतिचार—मैं सात घरों में ही प्रवेश करूंगा अथवा एक घर में ही प्रवेश करूंगा अथवा निर्धन के घर में ही आज प्रवेश करूंगा। इस प्रकार की रीति से यदि दान मिलेगा तो ग्रहण करूंगा ऐसा संकल्प कर सात घरों से अधिक घरों में प्रवेश करना; वृत्ति परिसंख्यान तप के अतिचार है। २

१. आहार सण्णाणं जओ वृत्तिपरिसंख्यानम् ॥ भ० आ० ॥

२. गृहसप्तकमेव प्रविशामि, एकमेव पाटकं दरिद्रगृहमेकं।

एवं भूतेन दायकेन दायिकया वा गृहीष्यामीति कृत संकल्पः गृहसप्तकादिकादधिक प्रवेशः पाटान्तर प्रवेशमपूर्व परं वृत्तिपरिसंख्यानातिचारः। भ० आ०।

रस परित्याग

रसना इन्द्रिय वश करण, रस से ममता छोड़ ।
तप ये ही रस त्याग है, निज से नाता जोड़ ।।

स्वानुभूति से प्राप्त निजानन्द रस में निमग्न यतीश्वर रसना इन्द्रिय को इष्ट, एक दो या सभी रसों का त्याग करते हैं, इसी का नाम रसपरित्याग तप है । अनादि काल से अज्ञान अवस्था में इन्द्रिय पोषण करके आत्म-शोषण किया है । मुनिराज भेदविज्ञान होने पर रसों से विमुख होकर स्वरूप की ओर उन्मुख रहते हैं ।

मुनिराज की महिमा वचनातीत है । सरस एवं नीरस दोनों ही प्रकार के स्वाद में लोलुपता रहित होते हैं । रसों का त्याग सहज भाव से कर ही देते हैं । जब कि सामान्य जन नाना प्रकार के व्यञ्जनों के आस्वादन में ही मग्न रहते हैं ।

एक रस का त्याग करके अनेक वस्तुओं को ग्रहण करना या अन्य पदार्थों की आशा करके रसों का त्याग करना रस-परित्याग नहीं है । जैसे-नमक का त्याग हलुवा खाने को करना । त्याग राग घटाने को किया जाता है अगर राग की वृद्धि हो तो वह त्याग, त्याग नहीं है; महा आग है । मुनिराज जो भी त्याग करते हैं वह राग घटाने को ही करते हैं, राग बढ़ाने वालात्याग, त्याग नहीं है ।

अनेक आचार्यों ने इसका लक्षण निम्न प्रकार किया है—

इस विषय की लम्पटता को मन, वचन और काय से त्यागना रस परित्याग नाम का तप है । कुन्द कुन्दाचार्य ने भी मूलाचार में लिखा है—

दूध, दही, तेल, गुड़ और नमक, घेवर, लड्डू इत्यादि का त्याग वह रस परित्याग तप है । उपर्युक्त रसों तथा पदार्थों में से एक एक का अथवा सभी रसों का त्याग करना रस परित्याग तप है । चर्परा, कडुवा, कषायला, खट्टा और मीठा इनमें एक एक का अथवा सभी का त्याग करना भी रस परित्याग है ।[1]

---

१. खीरदहिसप्पितेल गुडलवणाणं च जं परिच्चयणं ।।
तित्त कडुकसायंबिल मधुररसाणं च जं चयणं ।। ३५२ ।। मू० चा०

आचारसार में भी कहा है—

दधि, दूध, घृत, तेलादि और गुड़ शक्कर आदि मधुर रस का परिहार करना रसपरित्याग तप है।

यह तप जितेन्द्रिय योगी के काय, कांतिप्रद, मद, और इन्द्रिय रूपी हाथियों के क्षोभ के निवारण में कारण है।

जो संसार से उदासीन हैं सर्वज्ञ के वचनों में दृढ़ आस्था रखते हैं, तप और समाधि के इच्छुक हैं; संयम प्रारम्भ करने से पहले ही मद्य, मांस, मधु इन महाविकृतियों को जीवन पर्यन्त छोड़ चुके हैं, वही रस परित्याग का विशेष रूप से अभ्यास करने के पात्र हैं। संसार के दुःखों से संतप्त जो मुनि इन्द्रिय विषयों को विष के समान मानकर नीरस भोजन करते हैं उनके निर्मल रस परित्याग तप होता है। १

रस परित्याग का प्रयोजन—इन्द्रिय दर्प का निग्रह करने के लिए, निद्रा पर विजय पाने के लिए और सुखपूर्वक स्वाध्याय की सिद्धि के लिए रस परित्याग नाम का चौथा तप है। २

जितेन्द्रियत्व, तेजोवृद्धि और संयम बाधा निवृत्ति आदि के लिए रस परित्याग है। ३

प्राणी संयम और इन्द्रिय संयम की प्राप्ति के लिए यह तप किया जाता है। जिह्वाइन्द्रिय का निरोध हो जाने पर सब इन्द्रियों का निरोध देखा जाता है, और सब इन्द्रियों का निरोध हो जाने पर प्राणियों के असयंम का निरोध देखा जाता है। ४

रस परित्याग तप के अतिचार— रस का त्याग करके नीरस में अत्यासक्ति उत्पन्न होना, दूसरों को रस युक्त आहार का भोजन कराना और रस युक्त भोजन करने की सम्मति देना, ये सब रस-परित्याग तप के अतिचार हैं। ५

---

१. संसार दुक्खतट्ठो विस-समविसयं विचिंतमाणो जो।
णीरसभोज्जं भुंजइ रसचाओ तस्स सुविसुद्धो ॥ का० अनु०

२. इन्द्रिय दर्पनिग्रहनिद्रा विजय स्वाध्याय।
सुखसिद्ध्यर्थो रसपरित्याग श्चतुर्थं तपः ॥ ९–१९ ॥ सर्वार्थ सिद्धि।

३. दान्तेन्द्रियत्वतेजोवृद्धिसंयमोपरोध व्यावृत्त्यार्थं रसपरित्यागः ॥ रा० वा० ॥

४. पाणिंदिय संजमट्ठं। कुदो। जिब्भिंदिय णिरुद्धे सयलिंदियाणं णिरोहु
ववंसणादो। सयलिंदियेसु णिरुद्धेसु चत्तपरिग्गहस्स णिरुद्धराग दोसस्स पाणासंजमणिरोहुवलंभादो। धवला, १३

५. कृतरसपरित्यागस्य रसातिसक्ति परस्य वा।
रसवदाहार भोजनं रसवदाहारभोजनानुमननं चातिचारः। १३ ॥ भ० आ०

विविक्त शय्यासन तप

आत्म स्वरूप में निजानुभूति के साथ चिरकाल तक शयन करने के इच्छुक यतीश्वर, जीव-जन्तु रहित प्रासुक जैसी भी भूमि उपलब्ध हो उसी पर शयन कर लेते हैं, कोमल शय्या की खोज नहीं करते, इसी को विविक्त शय्यासन तप कहते हैं।

रागी आदमियों को कोमल मखमल के गद्दों के अभाव में नींद नहीं आती। परम तपस्वी मुनिराजों को शयन करने के लिए गद्दे-तकिये आदि से सहित किसी भी कोमल शय्यादि की आवश्यकता नहीं है। जो कुछ भी प्रासुक घास-फूस मिल गया, उसी पर स्वल्प निद्रा एक करवट से सो लेते हैं।

मूलाचार में कुन्दकुन्द आचार्य ने भी कहा है—

गाय, भैंस आदि तिर्यंच भी, स्वेच्छाचारिणी वेश्या आदि मानुषी, भवनवासी, व्यंतरादिदेवाङ्गनाओं के स्थानों को संयमी मुनि त्यागते हैं वे मुनि संयम में तत्पर होते हुये उपर्युक्त स्थानों को छोड़कर जहां ये नहीं हैं, ऐसे एकान्त स्थानों में सोते बैठते हैं और स्वाध्यायादिक करते हैं इसी को विविक्त शय्यासन तप कहा है।१

आचार सार में भी कहा है—

अध्ययन और ध्यान की बाधाओं के समूह से रहित एकान्त स्थान में जो शयन करना, बैठना वह विविक्त शय्यासन तप है। तरु, कोटर, शून्यागार, उपवन पर्वतादि, कामिनी पशु, नपुंसक और क्षुद्र प्राणियों से रहित विविक्त अर्थात एकान्त स्थान में शयन, करना बैठना विविक्त-शय्यासन तप है।२

---

१. तेरिक्खिय माणुस्सिय सविगारियदेविगेहि संसत्ते ।
वज्जेंति अप्पमत्ता णिलए सयणासणट्ठाणे ॥ ३५७ ॥ मू० चा०

२. विविक्तेऽध्ययनध्यान बाधर्वोत्कर वर्जिते ।
शयेनं चाऽसनं यत्तद्विविक्त शयनासनम् ॥ १५ ॥
तरु कोटर शून्यागाराऽऽरामोर्वीधरादय: ।
विविक्ता: कामिनीष ढपशुक्षुद्राङ्गि वर्जिता: ॥ १६ ॥ आ० सा०

अनगारधर्मामृत में भी कहा है—अनेक प्रकार की बाधाओं को दूर करने के लिए तथा ब्रह्मचर्य, शास्त्र चिन्तन और समाधि की सम्यक् सिद्धि के लिए शून्य घर, गुफा आदि जो जन्तुओं से रहित प्रासुक स्थान हो, उद्गम आदि दोषों से रहित हो। स्त्री, पशु, नपुंसक, गृहस्थ और क्षुद्र जीवों का जहां प्रवेश न हो, जहां मन में विकार उत्पन्न करने के निमित्त न हों, ऐसे स्थान में शयन करना, बैठना या खड़ा होना यह विविक्त शय्यासन नामक तप है।१

एकान्त स्थान में वास करने वाले साधु असभ्यजनों के सहवास और दर्शन से उत्पन्न होने वाले मोह-राग-द्वेष से पीड़ित नहीं होते।२

विविक्त शय्यासन तप निर्बाध ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय और ध्यान की प्रसिद्धि के लिए किया जाता है। इससे चित्त की व्यग्रता दूर होती है। कलह आदि करने वाले शब्द, संक्लेश परिणाम, असंयतजनों की संगति, स्वार्थ पूर्ण भेदभाव, ध्यान, अध्ययन का विघात ये सभी विकृतियां विविक्त में सम्भव नहीं है।

विविक्त शय्यासन के अतिचार—कोमल शय्या की भावना करना, सुन्दर पाटे चटाई आदि पर सोने की भावना करना आदि सब विविक्त शय्यासन के अतिचार है।

१. विजन्तुविहित अबलाद्यविषये मनोविक्रिया निमित्तरहिते रतिं ददाति शून्यसद्मादिके।
स्मृतं शयनमासनाद्यथ विविक्तशय्यासनं तपोऽर्तिहृति वर्णिगुप्त समाधिसंसिद्धये ॥ ७-३० ॥ अन० ध०
२. असभ्यजनसंवासदर्शनोत्थैर्न मध्यते।
मोहानुराग विद्वेषैर्विविक्त वसतिं श्रितः ॥ ७-३१ ॥

काया से ममता छूटे, निज गुण अनुभव लीन ।
ये ही कायक्लेश है, कर्म कालिमा क्षीण ।

राग द्वेष विमुक्त प्रतिसमय अक्षय अनंत आनंद रस का पान करने वाले महायतीश्वर अनेक प्रकार के आसन लगाकर शुद्धात्मा का ध्यान करते हैं, विशेष व्रतोपवास करते हैं, वही कायक्लेश नामक अंतिम बाह्य तप है । वास्तव में मुनिराज के हृदय से किसी को भी कष्ट पहुंचाने की भावना तो विलुप्त हो चुकी है तो आत्म विशुद्धि के लिए स्वरूप साधना करते हैं । अपने आप में ध्यान का आनन्द लेते हैं । आत्मा को मोक्ष महल तक पहुँचने के लिए सबल बनाते हैं, इसे ही कायोत्सर्ग तप कहते हैं । क्योंकि आत्मा की सबलता में शरीर की क्षीणता सम्भव है ।

शरीर को कष्ट पहुँचाने मात्र से सुखशांति सम्भव नहीं है । चाहे महिनों एकासन से बैठकर ध्यान करो, चाहे अन्य प्रकार से शरीर को कृश करो, स्वरूप साधना की भावना में लीन होकर शरीर के माध्यम से साधना की जाये तो सम्भव है यथार्थ सुखशान्ति ।

मूलाचार में इसका स्वरूप निम्न प्रकार कहा है—

खड़े होना-कायोत्सर्ग करना, सोना, बैठना और अनेक विधिनियम ग्रहणकरना, इनके द्वारा आगमानुकूल कष्ट सहन करना यह कायक्लेश नाम का तप है ।१

सुखपूर्वक पालन-पोषण किया हुआ शरीर सद्ध्यान की सिद्धि के लिए समर्थ नहीं होता अतः जिन धर्म में उचित कायक्लेशों के द्वारा शरीर को नियंत्रित करना कायक्लेश तप है ।२

---

१. टाणसयणासणेहिं य विविहेहिं य उग्गयेहिं बहुयेहिं ।
अणु वीचिपरितावो कायकिलेसो हवदि एसो ॥ ३५६ ॥ मू०

२. सुखोपलालितः कायो नालं सद्ध्यान सिद्धये ।
तद्देह दमनं कायक्लेशः क्लेशैर्मतोचितैः ॥ १७ ॥ आ० सा०

यथा तथा कारणों के द्वारा शरीर का दमन करना कायक्लेश तो है परन्तु तप नहीं है। जिस कायक्लेश में शरीर ममत्व भाव के साथ कषायों का दमन होता है वही कायक्लेश तप है। कषाय के आवेश में आकर शरीर का घात किया जाता है वह तप नहीं है।

यह काय पूर्व में चिरकाल तक शत्रु के समान क्लेश करने वाला है। इसलिए यह कायक्लेश में रत साधु के द्वारा निर्दय होकर मर्दनीय है अर्थात् दमन किया जाता है।१

शरीर सुख की अभिलाषा का त्यागना कायक्लेश तप है।२

कायक्लेश के भेद—शरीर निर्ममत्व यतीश्वर अनेक प्रकार से कायक्लेश तप कर स्वरूप में आचरण करते हैं। उनमें से यहां मात्र ६ उपायों का निर्देश किया जा रहा है।

अयन—विहार करने के मार्ग को अयन कहते हैं।

इसके अनेक भेद हैं, जैसे कड़ी धूप वाले दिनों में पूर्व से पश्चिम की ओर चलना अनुसूर्य है। पश्चिम से पूर्व की ओर चलना प्रतिसूर्य है सूर्य के मस्तक पर चढ़ने पर गमन करना उर्ध्व-सूर्य है। सूर्य के दायें-बायें गमन करना तिर्यक्सूर्य है। स्वस्थान से गमन कर दूसरे ग्रामादि में विश्राम न करके तुरन्त ही स्वस्थान को लौट आना गमनागमन है।

(२) स्थान—कायोत्सर्ग करना स्थान कहलाता है। जिसमें स्तम्भ आदि का आश्रय लेना पड़े उसे साधार, जिसमें संक्रमण पाया जावे उसे सविचार, जो निश्चल रूप से धारण किया जाय उसे सन्निरोध, जिसमें सम्पूर्ण शरीर ढीला छोड़ दिया जाये उसे विसृष्टांग, जिसमें पैर समान रखे जायें उसको समपाद, एक पैर से खड़ा होना एक पाद, दोनों बाहु ऊपर करके खड़ा होना प्रसारित बाहु इस तरह स्थान के भी अनेक भेद हैं।

(३) आसन—शरीर की निश्चल मुद्रा को आसन कहते हैं। आसन के भी अनेक भेद हैं जैसे पिंडलियां और स्फिक बराबर मिल जायें वह समपर्यंकासन है, उससे उल्टा असमपर्यंकासन है, गो को दुहने की भांति बैठना गोदोहन है, ऊपर को संकुचित होकर बैठना उत्कटिकासन है, मकर मुखवत: दोनों पैरों से बैठना मकर मुखासन है, हाथी की सूंड की तरह हाथ या पांव को फैलाकर बैठना हस्तीसूंडासन है, गौ के बैठने की भांति बैठना गौशय्यासन है, दोनों जंघाओं को दूरवर्ती रखकर बैठना वीरासन है, दण्ड के समान सीधा दण्डासन है।

(४) शयन—इसके भी अनेक भेद हैं। जैसे शरीर को संकुचित करके सोना लगडशय्या है। ऊपर को मुख करके सोना, नीचे को मुख करके सोना अवाकशय्या है। शव की तरह निश्चेष्ट सोना शवशय्या है। किसी एक करवट से सोना एक पार्श्वशय्या है। बाहर खुले आकाश में सोना अभ्रावकाश शय्या है।

---

१. निरबं सर्वमीबीज्यं भावः भीकाकरः पुष ॥ विरतिसुविरतोभिः कायक्लेश रतो यतिः ॥ १८ ॥ आ० सा०

२. कायसुखाभिलाष त्यजनं कायक्लेशः ॥ च० सा० ॥

अन्तरंग तप

मोक्ष मूल साक्षात् है, अन्तर तप वह जान ।
निश्चय अनुभव होत है, प्रगटे केवल ज्ञान ।।

क्रियायें दो प्रकार की होती हैं ।

(१) शरीराश्रित,
(२) भावाश्रित,

इन्हीं के आधार पर तपों के भी दो भेद किये हैं। बाह्य तपों से तपस्वी की लोक में पहिचान होती है। अन्तरंग वह तप है जिससे साक्षात् स्वानुभूति एवं मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है।

अन्तरंग तपों के अभाव में बाह्य तपों का कोई महत्व नहीं है जैसे चेतना के बिना शरीर का महत्व नहीं है । अन्तरंग तप ही वह शक्ति है जो कर्म कालिमा को जलाकर भस्म कर देती है, स्वभाव को कुन्दन सा खरा बना देती है, आत्मा को परमात्मा बनाकर मोक्ष सुख में निमग्न करा देती है । इसीलिए मोक्ष प्रेमी मुनिराज बाह्य तपों से भी विशेष ध्यान देते हैं अन्तरंग तपों पर। अन्तरंग तपों के नाम इस प्रकार है ।

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य , स्वाध्याय, व्युत्सर्ग एवं ध्यान ।

प्रायश्चित्त

मन वचन तन से दोष जो, कीनें जान अजान।
गुरु समीप जाके तजे, यह प्रायश्चित्त तप जान।

अपने आत्म स्वरूप को पूर्णतया निर्दोष बनाने के लिये महामुनिराज प्रमाद वश मूलगुण एवं उत्तर गुणों में लगे हुये दोषों को गुरु के समक्ष प्रगट कर याचना करते हैं उसी को प्रायश्चित्त कहते हैं। प्रायश्चित्त का विशेष महत्त्व है। अन्तरंग परिणामों में निर्मलता के बिना प्रायश्चित्त सम्भव ही नहीं है।

प्रायश्चित्त शब्द का निरुक्ति अर्थ भगवती आराधना में निम्न प्रकार प्रतिपादित है।

प्रायश्चित्त शब्द दो शब्दों के मेल से बना है उसमें से प्राय: का अर्थ लोक और चित का अर्थ मन है।

अर्थात् अपने साधर्मी वर्ग के मन को प्रशस्त करने वाला जो काम है वह प्रायश्चित्त है।

प्राय: शब्द का अर्थ तप भी है और चित्त शब्द का अर्थ निश्चय अर्थात् यथायोग्य उपवास तप में जो यह श्रद्धान है कि यह करणीय है उसे प्रायश्चित्त कहते हैं।[1]

आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में "प्रमाद दोष परिहार: प्रायश्चित्तम्," अर्थात् प्रमाद दोष का परिहार करना प्रायश्चित्त है।

अकलंक देव ने प्रायश्चित्त शब्द की दो प्रकार से व्युत्पत्ति की है—

प्राय: साधु लोक : प्रायस्य यस्मिन् कर्माणि चित्तं प्रायश्चित्तम्। अपराध: विशुद्धिरित्यर्थ :।

अर्थात् प्राय: साधुजन उसका चित्त जिस काम में हो उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। प्राय: अर्थात् अपराध की शुद्धि जिसके द्वारा हो उसे प्रायश्चित्त कहते हैं।

---

१. प्रायो लोकस्तस्य चित्तं मनस्तच्छुद्धिकृत्क्रिया।
प्राये तपसि वा चित्त निश्चयस्तन्निरुच्यते ॥ ७। ३७। भ०

मूलाचार में इस तप के विषय में निम्न प्रकार कहा है—

जिस तप से पूर्वकाल में किया हुआ पातक नष्ट होकर आत्मा निर्मल होता है उसको प्रायश्चित्त तप कहते हैं। अर्थात् पुनरपि विशुद्धि होने पर पूर्वव्रतों से साधु परिपूर्ण होते हैं। १ इस तप के आचार्यों ने दस भेद कहे हैं—मूलाचार में कहा है—

आलोचना, प्रतिक्रमण, उभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान इस प्रकार प्रायश्चित्त के १० भेद हैं। २

आलोचना—आचार्य अथवा देव के पास जाकर चारित्राचार पूर्वक उत्पन्न हुये अपराधों को निवेदन करना आलोचना है।

तत्त्वार्थवृत्ति में भी कहा है—एकान्त में बैठे हुये प्रसन्नचित्त दोष, देश और काल को जानने वाले गुरु के समक्ष निष्कपट भाव से विनय सहित दस प्रकार के दोषों से रहित विधि से अपने दोषों को प्रगट कर देना आलोचना है।

आलोचना के दस अतिचार हैं—३

आकंपित—गुरु में अनुकम्पा उत्पन्न करके आलोचना करना आकंपित दोष है।

अनुमानित—वचनों में अनुमान करके आलोचना करना अनुमानित दोष है।

दृष्ट दोष—लोगों ने जिस दोष को देख लिया हो उसी की आलोचना करना दृष्ट दोष है।

बादर-दोष—मोटे या स्थूल दोषों की ही आलोचना करना बादर-दोष है।

सूक्ष्म दोष—अल्प या सूक्ष्म दोष की ही आलोचना करना सूक्ष्म दोष है।

प्रच्छन्न दोष—किसी के द्वारा दोष को प्रकाशित किये जाने पर कहना कि जिस प्रकार का इसने प्रकाशित किया है उसी प्रकार का दोष मेरा भी है इस प्रकार गुप्त दोष की आलोचना करना प्रच्छन्न दोष है।

शब्दाकुलित दोष—कोलाहल के बीच में आलोचना करना जिससे गुरु ठीक तरह से न सुन सकें तो शब्दाकुलित दोष है।

बहुजन दोष—बहुत लोगों के सामने आलोचना करना बहुजन दोष है।

अव्यक्त दोष—दोषों को नहीं समझने वाले गुरु के पास आलोचना करना अव्यक्त दोष है।

---

१. पायच्छित्तं त्ति तवो जेण विसुज्झदि हु पुव्वकयपावं। पायच्छित्तं पत्तोत्ति तेण वुत्तं दसविहं तु ॥ ३६१ ॥ मू०

२. आलोयण पडिकमणं उभयविवेगो तहा विउस्सग्गो। तव छेदो मूलं वि य परिहारो चेव सद्दहणा ॥ ३६२ ॥ मू०

३. आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च। छण्णं सद्दाउलियं बहुजणमव्वत्त तस्सेवी ॥ ५६२ ॥ भ० आ०

तत्सेवी दोष—ऐसे गुरु के पास उस दोष की आलोचना करना जो दोष उस गुरु में भी हो। यह तत्सेवी दोष है।

इन दोषों को छोड़कर आलोचना करना चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार आम सहित शरीर को प्राप्त हुई औषधि रोग नाशक नहीं है उसी प्रकार अशुद्ध आलोचना से सहित तप पापों का नाशक नहीं है।

यदि पुरुष आलोचना करे तो एक गुरु और एक शिष्य इस प्रकार दो के आश्रय से आलोचना होती है, और स्त्री आलोचना करे तो चन्द्र, सूर्य, दीपक आदि के प्रकाश में एक गुरु और दो स्त्रियां अथवा दो गुरु और एक स्त्री इस प्रकार तीन के होने पर आलोचना होती है, आलोचना नहीं करने वाले को दुर्धरतप भी इच्छित फलदायक नहीं होता है।२

(२) प्रतिक्रमण—रात्रि भोजन त्याग सहित पंचमहाव्रतों की भावना के साथ उच्चारण करना। दिवस प्रतिक्रमण अथवा पाक्षिक प्रतिक्रमण करना।

अपने दोषों को उच्चारण करके कहना कि मेरे दोष मिथ्या हों यह प्रतिक्रमण है।। गुरु की आज्ञा से प्रतिक्रमण शिष्य को ही करना चाहिए और प्रायश्चित्त देकर आचार्य को प्रतिक्रमण करना चाहिए।

(३) उभय—आलोचना और प्रतिक्रमण करना उभय प्रायश्चित्त है।

(४) विवेक—गणविवेक और स्थानविवेक ऐसे विवेक के दो भेद हैं—जिस वस्तु के न खाने का नियम हो, उसके बर्तन या मुख में आ जाने पर अथवा जिन वस्तुओं से कषाय आदि उत्पन्न हो उन सब वस्तुओं का त्याग कर देना विवेक है।

(५) व्युत्सर्ग—नियतकाल पर्यन्त शरीर, वचन और मन के प्रति ममत्व भाव का त्याग कर देना व्युत्सर्ग है।

(६) तप—उपवास आदि छह प्रकार का बाह्य तप प्रायश्चित्त है।

(७) छेद—दिन, पक्ष, मास आदि काल पर्यन्त की दीक्षा का छेद कर देना है।

(८) मूल—सारी दीक्षा छेदकर फिर प्रारम्भ से दीक्षा देना।

(९) परिहार—दिन, पक्ष, मास, आदि नियतकाल तक संघ से पृथक कर देना परिहार है।

परिहार के २ भेद हैं—

(१) गणप्रतिबद्ध परिहार

(२) अगणप्रतिबद्ध परिहार।

गणप्रतिबद्ध परिहार—जहां मुनि मल-मूत्र करते हैं ऐसे स्थान बैठना और पिच्छी आगे करके मुनियों की वंदना करना तथा इतर मुनियों द्वारा वंदना नहीं किया जाना गण प्रतिबद्ध परिहार है।

अगणप्रतिबद्ध परिहार—जिस देश में धर्म का स्वरूप लोगों को मालूम नहीं है ऐसे देश में जाकर मौन से तपश्चरण करना अगणप्रतिबद्ध परिहार है।

श्रद्धान—तत्त्व में रुचि करना अथवा क्रोधादिकों का परित्याग करना। अन्य आचार्यों ने उपस्थापना नाम का प्रायश्चित्त लिया है।

महाव्रतों का मूलच्छेद करके पुनः दीक्षा देना उपस्थापना प्रायश्चित्त है।

ऐसा दस प्रकार का प्रायश्चित्त दोषों के अनुसार देना चाहिए। कोई दोष आलोचना से ही दूर होता है। कोई दोष प्रतिक्रमण से ही दूर होता है, कोई दोष प्रतिक्रमण और आलोचना रूप दो उपायों से दूर होता है, कोई विवेक से, कोई कायोत्सर्ग से, कोई छेद से, कोई मूल से और कोई परिहार से तथा कोई श्रद्धान से। इस प्रकार दोषो के नाशक उपाय हैं।

प्रायश्चित्त के नाम—पूर्व कर्मों को नष्ट करना प्रायश्चित्त है, इसके ही क्षेपण, निर्जरण, शोधन धावन पुंछन, निराकरण, उत्क्षेपण, छेदन ऐसे आठ नाम हैं।[1]

किन-२ दोषों के करने पर आलोचना आदि प्रायश्चित्त किये जाते हैं। अनगार धर्मामृत में बताया है—

आलोचना—आचार्य के बिना पूछे आतापन आदि योग करने पर पुस्तक पीछी आदि दूसरों के उपकरण लेने पर, परोक्ष में प्रमाद से आचार्य की आज्ञा का पालन नहीं करने पर, आचार्य से बिना पूछे आचार्य के काम को चले जाने पर, दूसरे संघ से बिना पूछे अपने संघ में आ जाने पर, नियत देश काल में करने योग्य कार्य को धर्मकथा आदि में व्यस्त रहने के कारण, भूल जाने पर, कालान्तर में करने पर आलोचना की जाती है।

प्रतिक्रमण—छह इन्द्रियों में से वचन आदि की दुष्प्रवृत्ति होने पर, आचार्य आदि से हाथ-पैर आदि का रगड़, संघट्ट हो जाने पर, व्रत, समिति और गुप्तियों में स्वल्प अतिचार लगने पर, पैशून्य कलह आदि करने पर, वैयावृत्ति स्वाध्याय आदि में प्रमाद करने पर, काम विकार होने और दूसरों को संक्लेश आदि देने पर प्रतिक्रमण किया जाता है।

तदुभय—दिन रात्रि के अन्त में भोजन, गमन आदि करने पर, केशलोंच व नखों का छेद करने पर, दुःस्वप्न दोष होने पर रात्रि भोजन करने पर और पक्ष, मास, चार मास, वर्ष पर्यन्त दोष करने पर आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों होते हैं।

---

1. पोराणकम्मखवणं खिवणं णिज्जरण सोधणं धुवणं।
पुंछणमुछिवणछिदणं ति पायच्छित्तस्स णामाइं॥ मूलाचार पृष्ठ २१२, ३६३।

व्युत्सर्ग—मौन के बिना केशलोंच करने में, पेट से कीड़े निकलने पर, हिमपात, मच्छर या प्रचण्ड वायु के संघर्ष होने पर, गीली भूमि पर चलने से, हरे घास पर, चलने पर कीचड़ के ऊपर जाने पर, जंघा प्रमाण जल में प्रवेश करने पर, दूसरों की वस्तु अपने काम लेने पर, नाव आदि से नदी पार करने पर, पुस्तक के गिर जाने पर, स्थावर जीवों के विघात होने पर, बिना देखें स्थान में मल मूत्रादि करने पर, पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण क्रिया के अन्त तथा व्याख्यान आदि करने के अन्त में, अनजान में मल निकल जाने पर व्युत्सर्ग नामक प्रायश्चित्त किया जाता है।

इस प्रकार १० प्रकार के प्रायश्चित्त करने से भावशुद्धि, चंचलता का अभाव, शल्य का परिहार, धर्ममें दृढ़ता और सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चारों का उद्योतन होता है। इसी प्रकार के अन्य भी कार्यों को साधने की इच्छा करने वाले दोषज्ञ साधू को प्रायश्चित्त करना चाहिए।

यह महातप रूपी तालाब, गुणरूपी जल से भरा है। इसकी मर्यादा रूपी तटबंदी में थोड़ी सी भी क्षति की अपेक्षा नहीं करना चाहिए। थोड़ी सी उपेक्षा करने से जैसे तालाब का पानी बाहर निकलने के समान दोषों की बाढ़ आने का भय रहता है—

आचार सार में भी कहा है—

जिस प्रकार मानव योग्य औषधि सेवन करके रोग दूर करता है उसी प्रकार अपराध रूपी रोगों को दूर करने के लिए मन, वचन, काय की शुद्धि पूर्वक प्रयत्नशील होकर प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए।[1]

जिस प्रकार औषधि सेवन किये बिना रोगों का निष्कासन नहीं होता है उसी प्रकार प्रायश्चित्त के बिना पापों का प्रक्षालन नहीं होता है। इस प्रायश्चित्त तप के बिना पूर्व में किये हुये पाप भार को नहीं उतारा जा सकता। पूर्व पापभार को उतारे बिना असीम पुण्य लक्ष्मी नहीं आती। असीम पुण्य लक्ष्मी की प्राप्ति के बिना मुक्ति लक्ष्मी भी नहीं प्राप्त हो सकती। अतः प्रत्येक गलती का प्रायश्चित्त अवश्य करना चाहिए तभी मिलेगा अक्षय शान्ति और आनन्द।

१. कृतागसैव कर्तव्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धितः।
ग्लानस्येव प्रयत्नेन युक्तमौषध सेवनम् आ० सा० ॥ ६७ ॥

* विनय तप *

विनय गुणीजन करत हैं, त्याग लोभ अरु मान ।
विनय बिना निज ना लखे, विनय महातप जान ।।

निर्मल ज्ञानादि गुणों से नम्रीभूत निज स्वरूप के साधक मुनिराजों द्वारा दर्शन, ज्ञान, चारित्र-धारी अपने से गुणों में, तप में श्रेष्ठ मुनिराजों को जिनवाणी को, वीतराग प्रभु आदि को भक्ति पूर्वक नमस्कार करना, गुणों में प्रमोद करना, नम्रीभूत होना विनय नाम का तप है । गुरुजनों के आने पर खड़े होना, जाने पर पीछे चलना, नम्रता से आलाप करना विनय तप है ।

विनय तप वही महात्मा कर सकते हैं, जो गुणों में श्रेष्ठ हैं और श्रेष्ठतम बनने में प्रयत्नशील हैं, गुण विहीन साधु तो अपने आपको सर्वोच्च मानता है, उसमें नम्रता का अभाव है, अतः वह मोक्ष श्री को प्राप्त करने का पात्र नहीं है ।

विनय तप को बताते हुये 'मूलाचार, में कहा है' :—

दर्शन, ज्ञान, चारित्र तप और औपचारिक विनय यह पांच प्रकार की विनय मोक्षमार्ग में मुख्य है ।१

"अनगार धर्मामृत,, में विनय तप का लक्षण निम्न प्रकार बताया है" :—

क्रोध आदि कषायों और स्पर्शन इन्द्रियों का सर्वथा निरोध करने को या शास्त्रविहित कर्म में प्रवृत्ति करने को अथवा सम्यग्दर्शन और उनसे सम्पन्न पुरुष तथा रत्नत्रय के साधकों पर अनुग्रह करने वालों का यथायोग्य उपकार करने को विनय कहते हैं ।२

विनय का निरुक्ति अर्थ—विनय शब्द वि उपसर्ग पूर्वक "नी" "नयने" धातु से बना है, "विनयतीति विनयः" दूर करना और विशेष रूप से प्राप्त करना । जो अप्रशस्त कर्मों को दूर करती है यह विनय है

आचार शास्त्र में विनय तप का लक्षण निम्न प्रकार बताया है:—"विनयते इति विनयनं" विनयन किया जाता है कषाय का और इन्द्रियों का दमन किया जाता है, अथवा पूज्य पुरुषों में यथायोग्य नम्रता होती है उसको विनय कहते हैं। ३

१. दंसणणाणे विणओ चरित्ततवओ चारिओ विणओ। पंचविहो खलु विणओ पंचमगइणायगो भणिओ ।। ३६४ मू० चा०
२. स्यात् कषाय हृषीकाणांविनीतेर्विनयोऽथवा । रत्नत्रये तद्वति च यथायोग्यमनुग्रहः ।। ७–६०. अ०ध०
३. [illegible] कषायेन्द्रिय वर्तनं ।। स नीयते इति [illegible] ।।

यह विनय जिन-वचन के ज्ञान को प्राप्त करने का फल है और समस्त प्रकार के कल्याण इस विनय से ही प्राप्त होते हैं। कहा भी है– "विद्या ददाति विनयम्" विद्या से विनय आती है।

जब सामान्य विद्या से विनय आती है, तो जिनवाणी के अभ्यास से तो विनय अवश्य ही आनी चाहिये। तीर्थंकर प्रकृति का बंध जिन सोलह कारण भावनाओं से होता है, उनमें एक विनय सम्पन्नता भी है।

विनय तप के "तत्त्वार्थ सूत्र" में चार भेद और "आचार सार" में तथा "मूलाचार" आदि में पांच भेद किये हैं। दर्शन, ज्ञान, चारित्र, उपचार इस प्रकार विनय के "तत्त्वार्थ सूत्रकार" चार और 'मूलाचार' 'आचार सार' आदि शास्त्रों में तप-विनय नाम का एक भेद और कहा है।

उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है:–दर्शन विनय—सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्दृष्टि महानुभावों में बहुमान रखना दर्शन विनय है।

मूलाचार में निम्न प्रकार कहा है—

भक्ति, पूजा, अवर्णवाद का नाश, आसादना, परिहार और शंकादि दोषों का परिहार करना दर्शन विनय है। जो अर्थ पर्याय जिनवरों ने आगम में कही है अर्थात जीवादिक पदार्थों के यथार्थ रूप पर भव्य जीव जिस परिणाम से श्रद्धान करता है, उस परिणाम को दर्शन विनय कहा है।१

,अनगार धर्मामृत में भी कहा है—

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्य-दृष्टि-प्रशंसा, और अनायतन सेवा इन अतिचारों को दूर करना दर्शन विनय है। २

उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन गुणों से युक्त होना दर्शन विनय है, तथा अर्हंत आदि के गुणों में अनुराग रूप भक्ति, पूजा तथा अवर्णवाद को दूर करना दर्शन विनय है।

दर्शन विनय और दर्शनाचार में अन्तर—सम्यग्दर्शन के दोषों को नष्ट करने और गुणों को लाने में जो प्रयत्न किया जाता है, वह दर्शन विनय है, और दोषों के दूर होने पर तत्त्वार्थ श्रद्धान में जो यत्न है, वह दर्शनाचार है, अर्थात सम्यग्दर्शन आदि के निर्मल होने पर उनमें जो संभालने का यत्न है, और उनके निर्मल होने पर उन्हें विशेष रूप से बढ़ाते हुए अपनाना दर्शनाचार है।

---

१. उवगूहणादिया पुव्वुत्ता तह भत्तिआदिआय गुणा।
संकादिवज्जणं पि य दंसणविणओ समासेण ॥ ३६५–मू०

२. दर्शनविनयः शङ्काद्यसन्निधिः सोपगूहनादिविधिः।
भक्त्यर्चावर्णहृत्यनासादना जिनादिषु च ॥६५॥

ज्ञान विनय

सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्ज्ञान से विभूषित आत्माओं के प्रति बहुमान रखना ज्ञान विनय है ।

आ० सकलकीर्ति जी ने ज्ञान विनय की विवेचना निम्न प्रकार की है—अपने ज्ञान वृद्धि करने के लिये और अज्ञान को दूर करने के लिये विनय के साथ तथा कालाचार, अध्याचार, अर्थाचार आदि आठों आचारों के साथ-साथ समस्त अंग और पूर्वों की पूजा करना, सदैव मन में उनमें कथित सत्य का सम्मान करना, मन, वचन, काय की शुद्धतापूर्वक अंग पूर्वों को शुद्ध पढ़ना, अन्य योगियों को पढ़ाना, उनका चिन्तवन करना, हृदय में बार-बार विचार करना, उनकी प्रसिद्धि करना, प्रशंसा करना, लोक में निरन्तर उनका प्रचार करना ज्ञानी पुरुषों की भक्ति कर उनका सम्मान करना, ज्ञानादिक गुणों का उपदेश देना तथा और भी श्रुत ज्ञान के उत्कृष्ट गुणों को ग्रहण करना ज्ञान विनय है और महत्वपूर्ण नित्य, सत्य सिद्धांतों को कभी लापरवाही व लाचारी में हंसी मजाक मखौल का विषय नहीं बनाना और न बनाने देना, किसी भी प्रकार के सत्य की उपेक्षा का विचार भूल से भी स्वयं में या पर में उत्पन्न नहीं होने देना ज्ञान विनय है । १

यह ज्ञान विनय अद्भुत है । विनय से जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का पालन होता है । जगत में निर्मल सत्कीर्ति रूपी लता विस्तरित होती है, सर्वजनों में मैत्री भाव प्रकट होता है, मानकषाय का नाश होता है एवं चतुर्विध संघ विनयशील मानव पर संतुष्ट होते है इत्यादि विनय के गुण हैं ।

मूलाचार में ज्ञान विनय के भेदों का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार किया है:—

(१) द्वादशांग का काल शुद्धि से अध्ययन करना, उसका स्पष्टीकरण, बार-बार चिन्तन करना यह काल विनय है ।

(२) हाथ-पैर आदि धोकर पद्मासन से बैठकर अध्ययन करना ज्ञान विनय है ।

(३) दूसरे के द्वारा पूंछने पर अपने ज्ञान को न छिपाना उपधान विनय है ।

(४) जो ग्रन्थ पढ़ना है उस ग्रन्थ का और जिससे पढ़ना है, उस गुरु का आदर करना, उसके गुणों की स्तुति करना यह बहुमान विनय है ।

(५) जो पढ़ा जाता है और जिस गुरु से पढ़ा जाता है उन दोनों को अर्थात् शास्त्र और गुरु को नहीं छिपाना यह अनिह्नव है

(६) व्यञ्जन को शुद्ध पढ़ना व्यञ्जन विनय है ।

(७) अर्थ को शुद्ध पढ़ना अर्थ विनय है ।

(८) व्यञ्जनार्थों का शुद्ध पढ़ना तदुभय विनय है ।

इस प्रकार ज्ञान विनय आठ प्रकार है । अनगार-धर्मामृत में भी कहा है:—

---

१. कालाद्यैरष्टधाचारैर्विनयो ज्ञानिभिः । कृत्स्नाङ्गपूर्वाणां पूजा ज्ञान या ज्ञानवृद्धये ॥ २१७ ॥
निःशुद्धया पठनं शुद्धं पाठनं धर्मयोगिनाम् । चिन्तनं हृदयेऽप्यर्थं परिवर्तनं मंक्षु ॥ मू० प्र० । २१८ ।

शब्द, अर्थ और दोनों अर्थात् शब्दार्थ की शुद्धतापूर्वक गुरू आदि का नाम न छिपाकर तथा जिस आगम का अध्ययन करना है उसके लिये जो विशेष तप बतलाया है, उसे मानते हुये आगम तथा आगम के ज्ञाताओं में भक्ति रखते हुये स्वाध्याय के लिये शास्त्र विहित काल में पीछी सहित दोनों हाथों को जोड़ कर एकाग्रचित्त से मन, वचन, काय की शुद्धि पूर्वक जो युक्तिपूर्ण परमागम का अध्ययन, चिन्तन, व्याख्यान आदि किया जाता है वह ज्ञान विनय है ।१

पू० आ० वीरनन्दि स्वामी कहते हैं—

ज्ञानाचार अधिकार में कथित द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की शुद्धि से शास्त्र पढ़ना, वस्तु प्रमाणादि का अवग्रह करना, श्रुतज्ञानियों में बहुमान होना, श्रुतज्ञानियों की आसादना नहीं करना, उम्र में हीन होते हुये भी जो शील और श्रुत में अधिक उपाध्याय आदि के गुणों का उत्कीर्तन करना जिस गुरू से ज्ञानार्जन किया है वह श्रुत आदि में हीन हो तो भी उसका नाम बताना, ज्ञानावरणादि कर्मों के कारणभूत निन्हव का त्याग करना अर्थात् अपने श्रुत ज्ञान को नहीं छिपाना, शब्द शुद्ध पढ़ना, अर्थ शुद्ध पढ़ना और दोनों शुद्ध पढ़ना ज्ञान विनय है ।२

ज्ञान विनय का महत्व :—

विनय बिना विद्या नहीं, विद्या बिन नहि ज्ञान।
ज्ञान बिना सुख है नही, विनय गुणों की खान ॥

ज्ञान-विनय की महिमा वचनातीत है । ज्ञानावरण कम का बंध और क्षय इसी के अभाव और सद्भाव में निहित है । ज्ञान एव ज्ञानी जीवों की मखौल उड़ाने वाले ज्ञानावरण कर्म का आस्रव व बंध कर ज्ञान गुण को आच्छादित करते हैं । जिसमें आचार्य श्रुत सागर जी का नाम अग्रणीय है । ज्ञानियों के अपमान से जिनका विशाल ज्ञान नष्ट हो गया था एवं प्रायश्चित्त पश्चाताप विनय के फलस्वरूप पुनः ज्ञान की जाग्रति हुई थी ।

अतः हमारा प्रतिक्षण - प्रतिपल - प्रतिसमय ज्ञानियों की विनय में ही व्यतीत हो । इसी से केवल-ज्ञान रूप अपने स्वरूप की प्राप्ति की पात्रता होगी ।

ज्ञान विनय और ज्ञानाचार में अन्तर:— सम्यग्ज्ञान और सम्यग्ज्ञान से विभूषित श्रुतविद् महापुरुषों के प्रति बहुमान एवं नम्रता पूर्वक उनका अनुसरण ज्ञान विनय है । पूर्ण सम्यग्ज्ञान के साथ निरभिमानता, सरलता, सहजता, साम्यभाव के साथ, विवेक पूर्वक आगमानुसार आचरण करना ज्ञानाचार है ।

---

१. काले विणये उवहाणे बहुमाणे तहेव णिण्हवणे ।
वंजण अत्थतदुभए विणओ णाणम्हि अट्ठविहो । ५–१६० । मूलाचार

२. द्रव्यादि शोधनं वस्तु प्रमाणावग्रहादिकं । बहुमानः श्रुतज्ञेषु श्रुताज्ञासादनोज्झनं ॥ ७२ ॥
वयः शीलश्रुतोनाधिकाद्युपाध्याय कीर्तनं । चानिह्नवेन येनायं ज्ञानावरण कारणं ॥ ७३ ॥
स्वराक्षर पदग्रन्थार्थाहीनाध्ययनादिकं ।
स्याज्ज्ञान विनयः सम्यग्ज्ञान स्वर्मोक्षकारणम् ॥ ७४ ॥ आचारसार

चारित्र विनय

सम्यग्चारित्र का निर्दोष रीति से निष्ठा के साथ मनोयोग से परिपालन करना ही चारित्र विनय है ।

वीतराग परिणति के साथ महाव्रतों का निर्दोष परिपालन सम्यग्चारित्र है ।

क्रोध, मान, मायादि पच्चीस कषाय, हिंसादि पाँच पाप, राग-द्वेष, मोह आदि वानर सेना द्वारा चारित्र रूपी वाटिका उजाड़ी जा रही है, विध्वंस की जा रही है इनसे सम्यक् चारित्र रूपी वाटिका का रक्षण कर लेना चारित्र विनय है

—पं० प्रवर आशाधर जी कहते हैं—

इन्द्रियों के रुचिकर विषयों में राग को और अरुचिकर विषयों में द्वेष को त्याग कर उत्पन्न हुये क्रोध, मान, माया और लोभ का छेदन करके समितियों में बारम्बार उत्साह करके, शुभ मन, वचन की प्रवृत्तियों में आदर रखते हुये तथा व्रतों की सामान्य और विशेष भावनाओं के द्वारा अहिंसादि व्रतों को निर्मल करते हुए पुण्यात्मा साधु स्वर्ग और मोक्ष लक्ष्मी के पोषक चारित्र की विनय करते हैं ।1

पू० आ० शिवकोटि कहते हैं—

इन्द्रिय एवं कषायों में अप्रणिधान अर्थात् उनकी ओर से विमुख रहना और मन, वचन, काय की प्रवृत्ति के निरोध रूप गुप्ति धारण करना, सम्यक् यत्नाचार प्रवृत्ति रूप समितियों का पालन करना ही संक्षेप से चारित्र विनय है ।

---

१. रुच्याऽरुच्यहृषीकगोचर रतिद्वेषोज्झनेनोच्छलत् ।
क्रोधादि च्छिदयाऽसकृत्समितिषूद्योगेन गुप्त्यास्थया ॥
सामान्येतर भावनापरिचयेनापि व्रतान्युद्धरन् ।
धन्यः साध्यते चरित्र विनयंश्रेयः श्रियः पारयम् ॥ अनगार धर्मामृता ॥ ६६ ॥
इंदियकसायापणिधाण विय गुत्तीओ चेव समिदीओ ।
एसो चरित्त विणओ समासदो होई णायव्वो ॥ ३ । १७ ॥
पणिधाणं पिय दुविहं इंदिय णोइंदिय च बोधव्वं ।
सद्दादि इंदियं पुण कोधादीयं भवे इदरं ॥ ३ । १८ ॥
सद्दरसरूव गंधे फासे अ मणोहरे अ इयरे य ।
जं रागदोसगमणं पंचविहं होदि पणिधाणं ॥ ३ । १९ ॥
णो इंदिय पणिधान कोधो माणो तहेव माया य ।
लोभो य णो कसाया मण पणिधाण तुं वज्ज ॥ ३ । २० ॥भगवती आराधना ॥

प्रणिधान (संसारी जीव की प्रवृत्ति) दो प्रकार की है इन्द्रिय प्रणिधान और नो इन्द्रिय प्रणिधान। इन्द्रिय प्रणिधान शब्दादि रूप है और नो इन्द्रिय प्रणिधान क्रोधादिक रूप है। इन्द्रिय प्रणिधान मनोहर शब्द, रस, गन्ध, रूप और स्पर्श इनमें राग और अमनोहर शब्दादि में द्वेष करना इस प्रकार पांच प्रकार का है। राग द्वेषादि कषाय रूप प्रवृत्ति नो इन्द्रिय प्रणिधान है। क्रोध मान, माया लोभ तथा नो कषाय (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसक वेद) यह नो इन्द्रिय-मन प्रणिधान है। इनका वर्जन करना त्याग करना चारित्र विनय है।

पू०आ० सकल कीर्ति जी कहते हैं—

कषाय और इन्द्रिय रूपी चोरों का सर्वथा त्याग कर देना प्रमादों का प्रयत्न पूर्वक विवेक से सर्वथा त्याग कर देना व्रत, समिति, गुप्ति आदि के पालन करने में प्रतिदिन प्रयत्न करना, महा-तपस्वियों के अद्भुत आचरण व प्रतिकूल सुनकर अत्यन्त हर्षित हो, उनके लिये हाथ जोड़कर भक्ति पूर्वक हाथ जोड़ना, चारित्र पालन करने वाले चारित्रवानों को उनके गुणानुसार सहजोत्पन्न भक्ति पूर्वक प्रणाम करना तथा इसी प्रकार और भी संसार में चारित्र के महात्म्य को प्रकट करना चारित्र विनय है।१

चारित्र विनय और चारित्राचार में अन्तर—समिति आदि में यत्न को चारित्र विनय कहते हैं और समिति आदि के होने पर जो महाव्रतों में यत्न किया जाता है वह चारित्राचार है।२

मोक्षसुख की प्राप्ति में चारित्र एवं चारित्र मणियों से विभूषित यतिवर निमित्त कारण हैं अतः— "वंदे तद्गुण लब्धये"

नीति के अनुसार चारित्र विनय में प्रतिक्षण निमग्न रहना चाहिये।

---
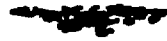
१. कषायेन्द्रिय चौराणां प्रमादानां च वर्जनम्।
व्रत गुप्ति समित्याद्याचरणे यत्नमन्वहम्॥ ४०१
महातपोधनानां च श्रुत्वाचरणमद्भुतम्।
अंजली करणं भक्त्या प्रणामं व्रत शालिनाम्॥ ३०२॥
इत्याद्यन्यत्सुचारित्र महात्म्यस्य प्रकाशनम्।
लोके विधीयते यत्र चारित्रविनयोऽखिलः॥ ३०३॥ मूलाचार प्रदीप॥
२. समित्यादिषु यत्नो हि चारित्र विनयो मतः।
तदाचारस्तु यस्तेषु सत्सु यत्नो व्रताश्रयः। अनगार धर्मामृत॥ ७०॥

तप विनय

द्वादश तप एवं तपस्वी यतिवरों के प्रति निष्ठापूर्वक बहुमान होना ही तप विनय है ।

अनशनादि छह बाह्य एवं प्रायश्चित्त आदि छह आभ्यंतर, इस प्रकार इन द्वादश तपों का मनोयोग से परिपालन करना, पांच प्रकार के तपस्वी, यतिवरों की तपस्या को देखकर प्रमुदित होकर उनकी तपस्या में सहयोगी बनना, उनके अनुकूल साधन जुटाना, मासोपवासी वीरचर्या करने वाले, ग्रीष्म ऋतु में तप्तायमान पर्वत शिखरों पर तपस्या करने वाले, शीतकाल में नदी तट पर और वर्षा ऋतु में तरुतले स्वरूप में निमग्न होकर तपस्या करने वाले मुनिराजों को देखते ही त्रियोग से नतमस्तक हो जाना और यह चिन्तवन करना 'धन्य हैं' ऐसे तपस्वी जो तप रूपी अग्नि में कर्मकाष्ट को भस्म करके सर्वगुण सम्पन्न मुक्तिश्री को अविलम्ब प्राप्त करेंगे ।

कहां ये महान तपस्वी जो नो-कर्मों का शोषण कर रहे हैं और कहां हम रागी-द्वेषी-मोही जो नो-कर्मों का पोषण कर रहे हैं। ऐसा सौभाग्य हमें कब प्राप्त होगा ।

जब हम संसार-शरीर भोगों से विरक्त होकर, अपने ज्ञानानन्द स्वरूप में अनुरक्त होकर, इस प्रकार के तपों में अपने आप को तपाकर, कुंदन सा ख बनायेंगे, अपने अनन्त गुणों को अपने आप में पायेंगे। यह तप विनय हैं

यह सभी भावनायें तप विनय में अन्तर्निहित हैं ।

आ० वीरनन्दि ने तप विनय की व्याख्या निम्न प्रकार की है ।

आवश्यक क्रियाओं का यथाशक्ति निर्दोष पालन करना, नाना प्रकार के उत्तरगुणों की उन्नति करना, बारह प्रकार के तपश्चरण में एवं तपस्वियों में प्रमोद भाव रखना तप विनय है ।[1]

१. आवश्यक क्रियाशक्तिनिर्दोष गुणोत्कर्षः ।
तपस्स्वप्रमोदश्च स्यात्तपोविनयो मुनेः ॥७५॥ आचारसार

आ० सकलकीर्ति ने तपविनय की विवेचना निम्न प्रकार की है—

आतापन आदि श्रेष्ठ योगों में, सर्वोत्कृष्ट उत्तरगुणों में तथा बारह प्रकार के घोर दुर्धर तपश्चरणों में श्रद्धा करना, उत्साह धारण करना, अनुराग करना, तपश्चरण करने की आकांक्षा करना, महातपस्वियों को प्रणाम करना, उनकी स्तुति करना, षट् आवश्यकों का पालन करना, अन्तरंग से समस्त क्लेशों का त्याग करना, अनेक प्रकार के तपश्चरण पालन करने के लिये अपनी शक्ति को न छिपाना, पंचेन्द्रिय जय तथा इसी प्रकार तपश्चरण के श्रेष्ठ गुणों और तपश्चरण से उत्पन्न हुई ऋद्धियों की प्रशंसा करना तप विनय है ।१

पं० प्रवर आशाधर जी कहते हैं—

रोग आदि हो जाने पर भी जिनको अवश्य करना होता है अथवा जो कर्मरागादिकों को दूर करके किये जाते हैं, उन पूर्वोक्त आवश्यकों को जो पालते है, परिषहों को सहते है, आतापन आदि उत्तरगुणों में अथवा ऊपर के गुणस्थानों में जाने का जिनका उत्साह है, जो अपने से तप में अधिक हैं; उन तपोवृद्धों का और अनशन आदि तपों का सेवन करते हैं, तथा जो अपने से तप में हीन हैं; उनकी भी अवज्ञा न करके यथायोग्य आदर करते हैं । वह साधु तप विनय के पालक हैं । २

उपचार विनय—पूज्य गुरुजनों के साक्षात् उपस्थित होने पर स्वात्मोपलब्धि रूप सिद्धि के इच्छुक साधुओं को शरीर से यह विनय निम्न प्रकार करनी चाहिये—

१ उनके आने पर आदर पूर्वक अपने आसन से उठना ।

२ उनके योग्य शास्त्रादि उपकरण भेंट करना ।

३ उनके सामने ऊंचे आसन पर नही बैठना ।

४ यदि वे जावें तो उनके साथ कुछ दूरी तक जाना ।

५ उनके लिए आसन आदि लाना ।

---

१. आतापनादि सद्योगे ह्युत्तराख्ये गुणोद्भुते ।
दुष्करे च द्विषड्भेदे घोरे तपसि दुर्धरे ॥ ४ ॥
श्रद्धोत्साहानुरागाकांक्षादीना करण महत् ।
तपोधिक यतीनां च प्रणाम स्तवनादिकम् ॥ ५ ॥
षडावश्यक संपूर्णश्चित्त क्लेशादि वर्जनम् ।
तपसा करणे वीर्यादानं पंचाक्षनिर्जयः ॥ ६ ॥
इत्याद्यन्यत्तपोनर्घ्य गुणानां यत्कीर्तनम् ।
सत्तपोजमहर्द्धीनां स तपोविनयोऽखिल ॥ ७ ॥ मूलाचार प्रदीप

२. यथोक्त मावश्यकमावहन् सहनपरीषहान ॥ प्रगुणेषु चोत्सहन् ।
भजंस्तपोवृद्ध तपांस्य हेलयन तपोलघूनेति तपोविनीतताम् ॥ अनगार धर्मामृत ॥ ७५ ॥

६ काल भाव और शरीर के योग्य कार्य करना अर्थात् गर्मी का समय हो तो शीतलता पहुंचाने का और शीत ऋतु हो तो शीत को दूर करने का प्रयत्न करना।

७ प्रणाम करना।

इसी प्रकार के अन्य भी कार्य कायिक उपचार विनय है।

आ० कुन्द कुन्द स्वामी कहते हैं—

गुरु आदि के शरीर के अनुकूल मर्दन आदि करना चाहिये। इसकी विधि यह है कि गुरू के समीप में जाकर पीछी से उनके शरीर को तीन बार पोंछकर, जिससे आगन्तुक जीवों को बाधा न हो, इस तरह आदर पूर्वक जितना गुरु सह सकें उतना ही मर्दन करें एवं बालवृद्ध अवस्था के अनुरूप वैयावृत्य करें। कहीं जाना हो तो गुरु आज्ञा से जाएं। घास, पाटादि का शय्याशन लगाएं और प्रातः-सांय गुरु के उपकरणों का प्रतिलेखन करें। यह सब कायिक विनय है।१

वाचिक औपचारिक विनय के भेद—पूज्य पुरुषों की चार प्रकार की वाचिक विनय करना चाहिये। हित अर्थात् धर्मयुक्त वचन बोले, मित अर्थात् शब्द तो गिने चुने हों, किन्तु महान अर्थ भरा हो, परिमित अर्थात् कारण होने पर ही बोले तथा आगम से अविरुद्ध बोले। उदाहरणार्थ-भगवान की भक्ति आदि से सम्बद्ध वचन बोले और व्यापार आदि से सम्बद्ध वचन न बोले। २

मानसिक औपचारिक विनय के भेद—आचार्य आदि के विषय में अशुभ भावों को रोकते हुये तथाधर्मोपकारक कार्यों में और सम्यग्ज्ञानादिक विषय में मन को लगाते हुये मुनिजन दो प्रकार की विनय करते हैं। मानसिक औपचारिक विनय के दो भेद हैं—अशुभ भावों से निवृत्ति और शुभ भावों में प्रवृत्ति।३

आ० कुन्द कुन्द स्वामी कहते हैं—

संक्षेप में औपचारिक विनय के तीन भेद हैं—कायिक, वाचिक, और मानसिक। कायिक के सात भेद हैं, वाचिक के चार भेद हैं और मानसिक के दो भेद है।।४

आ० वीर नन्दि कहते हैं—

समीप में जाकर जो यथोचित सत्कार किया जाता है वह उपचार विनय है। वह उपचार विनय प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार की है इसमें सर्वप्रथम प्रत्यक्ष विनय का वर्णन करते है—

---

१. पडिरूव कायसंफासणदा य पडिरूपकालकिरियाय।
पेसण करणं संथरकरणं उवकरणं पडिलिहणं ॥ मूलाचार। ३७५ ॥
२. हिदमिद परिमिदभासा अणुवीचीभासणं च बोधव्वं।
३. अकुसलमणस्स रोधो कुसलमण पवत्तओ चेव ॥ मूलाचार ३८४ ॥
४. पडिरूवो खलु विणओ काइय जोए य वाय माणसिओ।
अट्ठ चउव्विह दुविहो परूवणा तस्सिमा होइ ॥

आचार्य के आने पर शीघ्र ही आसन से उठकर खड़े हो जाना चाहिये तथा भक्तिपूर्वक उनको नमस्कार करना, उनके बैठ जाने पर आचार्य से नीचे स्थान पर बैठना, उनके सामने शयन और उच्चासन को छोड़ना ।

उनके गमन करने पर उनके पीछे पीछे चलना, उनके बोलने पर अनुकूल वचन बोलना, तथा उनके प्रति मन में प्रमोद भाव रखना, उनके गुणों में अनुराग होना । उनके समान ही उपाध्याय, गणधर, स्थविर और प्रवर्तक की विनय करना चाहिये ।

आचार्यादि के नहीं होने पर स्थविर, मुनि, गणधर और अन्य साधुओं में प्रतिरूप, काल योग्य क्रिया करना चाहिये ।

आर्यिका, देशसंयमी और असंयतादि के प्रति उचित व्यवहार करना । यह प्रत्यक्ष उपचार विनय का लक्षण है ।

परोक्ष में आचार्य के ज्ञान-विज्ञान का सत्कीर्तन, आज्ञा का पालन और नमस्कार यह परोक्ष विनय है १

यद्यपि विनय गुणाधिक अपने से दीक्षा में श्रेष्ठ साधकों के प्रति की जाती है। विशेष रूप से जो अपने से दीक्षा और वय में लघु है परन्तु ज्ञान में, तपस्या में या अन्य गुणों में श्रेष्ठ है ,तो उनकी विनय भी निरभिमानी मोक्ष प्रेमी यतिवर करते है ।

आचार्य, उपाध्याय सर्वसाधुओं की विनय के साथ दीक्षा गुरु, शिक्षा गुरु आदि की विनय तो स्वाभाविक रूप से ही होती है, इसके अनन्तर उत्कृष्ट श्रावक, आर्यिका, देशव्रती आदि साधकों में भी यथायोग्य विनय बहुमान किया जाता है । विनय का तात्पर्य मात्र हाथ जोड़ने से ही नहीं है अपने से छोटों से यह सम्बोधन करना आइए बैठिये, रत्नत्रय कुशल है, स्वाध्याय अच्छा चल रहा है, हमारे योग्य कोई कार्य हो तो बताइये , हम आपके साथ है, आपके है आदि विनय के ही रुपान्तर है ।

यहां पर संयमी सत्पुरुषों से सम्बन्धित विनय तप की विवेचना की गयी है। लोक व्यवहार में भी विनय का विशेष महत्व है अर्थात् विनय सर्वत्र सराहनीय है । विनय के अभाव में अंग पूर्वो का ज्ञान भी मुर्दो के सिंगारवत् है । विनय के समलंकृत भव्यात्मायें उभयलोक में मात्र यश को ही प्राप्त नहीं होते हैं अपितु कालान्तर में परमानन्द का रसास्वादन करते हुये चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लेते है ।

---

१. उपोपसृत्य यच्चार "उपचारो" यथोचितः । स प्रत्यक्ष परोक्षात्मा तत्राद्यः प्रतिपाद्यते ॥ ७७ ॥
अभ्युत्थानं नतिः सूरावागच्छति सति स्थिते ।स्थानं नीचै र्निविष्टेऽपि शयनोच्चासनोज्झनम् ॥ ७८ ॥
गच्छत्यनुगमो वक्तर्यनुकूलं वचो मनः । प्रमोदोत्थादिकं चैवं पाठकादि चतुष्टये ॥ ७९ ॥
आचार्यादिष्व सत्स्वेवं स्थविरस्य मुनो गणे । प्रतिरुप काल योग्या क्रिया चान्येषु साधुषु ॥ ८० ॥
आर्यादिकयमाऽसंयतादि षूचितसत्क्रिया । कर्तव्या चेत्यदः प्रत्यक्षोपचार लक्षणम् ॥ ८१ ॥
ज्ञान विज्ञान सत्कीर्तिनीति राज्ञानुवर्तनं । परोक्षे गणनाथानां परोक्ष प्रश्रयः परः ॥ ८२ ॥ आचार सार

वैयावृत्य तप

साधक यतिवर दुखहरण, वैयावृत्य महान ।
सुख सम्पत्ति हो सहज में, अन्तिम फल निर्वाण ।।

मोक्षमार्गी महामनीषियों के संयम में उपस्थित विघ्नों को दूर करने का प्रयत्न वैयावृत्य है ।

बाल, वृद्ध, युवा यतिवरों के शरीर में असाता कर्म के उदय से व्याधि हो जाने पर उनका उपचार करना, औषधि एवं प्राकृतिक तरीके से उनको स्वस्थ बनाने का प्रयत्न करना वैयावृत्य है

मार्ग में थक जाने पर या अन्य कोई शारीरिक व्याधि के उपस्थित होने पर अपने से छोटे बड़े एवं समान संयमियों के शरीर की सेवा करना उनको अनुकूल सामग्री जुटाना यह भी वैयावृत्य के अन्तर्गत है ।

पुनः स्वयं राग-द्वेष से विरक्त होते हुये, अखिल विश्व के प्राणियों को सुख शान्ति पहुँचाने का प्रयत्न, भावना करना वैयावृत्य है—

इस वैयावृत्य नामक आभ्यन्तर तप की गहराई तक पहुँचना-सामान्य जनों के लिये कठिन बताया है इसका सम्बन्ध अन्तरात्मा से है । मात्र लोक व्यवहार की दृष्टि से किसी के पैर दबाकर वैयावृत्य तप से अपने को विभूषित मानें, तो यह हमारा भ्रम ही होगा । किसी के दबाव, स्वार्थ या ख्याति लाभ की भावना से बड़े-बड़े आचार्यों के पैर दबाना, उनके अनुकूल साधन जुटाना और उनके निकटस्थ अन्य मुनीराज जो किसी व्याधि से पीड़ित हों, शरीर संयम में साथ न दे रहा हो, उनकी ओर आंख उठाकर के भी न देखना तो यह वैयावृत्य तप न होकर हमारा दम्भ ही है । मात्र यदि शरीर की टहल करना वैयावृत्य तप होता तो इसका प्रतिपादन बाह्य तप में किया जाता अतः इसका सीधा सम्बन्ध अन्तरात्मा से है इस वैयावृत्य तप की महिमा महान है, जिसकी विवेचना अनेक आचार्यों ने अपने ग्रंथ में की है ।

धवल। पुस्तक १३ में वैयावृत्य तप की परिभाषा निम्न प्रकार की है —आपत्ति के समय उसके निवारणार्थ जो किया जाता है, वह वैयावृत्य नाम का तप है । १

आ० कार्तिकेय स्वामी ने वैयावृत्य तप की परिभाषा निम्न प्रकार की है—जो मुनि उपसर्ग से पीड़ित हो और बुढ़ापे आदि के कारण जिनकी काय क्षीण हो गई हो, जो अपनी पूजा प्रतिष्ठा की अपेक्षा न करके उन मुनियों का उपकार करता है उसके वैयावृत्य तप होता है। २

विशुद्ध उपयोग से युक्त हुआ जो मुनि शम दम-भाव रूप अपने आत्म स्वरुप में प्रवृत्ति करता है और लोक व्यवहार से विरक्त रहता है उसके उत्कृष्ट वैयावृत्य तप होता है। ३

अकलंक स्वामी ने कहा है—

शरीर की चेष्टा या दूसरे द्रव्य द्वारा उपासना करना वैयावृत्य तप है ।

आ० वीर नन्दि कहते है —

वैयावृत्ति करने वाले मानव को निर्विचिकित्सा, वात्सल्य, सनाथता, यशोभ्युदय निश्रेयस सुख की प्राप्ति आदि अनेकों गुणों का लाभ होता है अर्थात् वैयावृत्ति करने वाले में निर्जुगुप्सा गुण होता है क्योंकि निर्जुगुप्सा के बिना वैयावृत्ति नहीं होती है। वात्सल्य भाव प्रकट होता है क्योंकि वात्सल्य के अभाव में वैयावृत्ति कर नहीं सकते। निस्वार्थ वैयावृत्ति करने वाले का पवित्र यश संसार में फैलता है और वैयावृत्ति के फलस्वरुप स्वर्ग सम्पदा एवं मुक्ति पद प्राप्त होता है ।४

वैयावृत्य का फल—जिस साधु या श्रावक का हृदय मुक्ति के लिये तत्पर साधुओं के गुणों में अनुरक्त है और जो इसीलिये उन साधुओं पर मुक्ति मार्ग को घात करने वाली दैवी, मानुषी, तैरश्ची अथवा अचेतन कृत कोई विपत्ति आने पर उसे अपने ही ऊपर आयी हुई जानकर शारीरिक चेष्टा से अथवा संयम के अविरुद्ध औषधि, आहार, वसतिका आदि के द्वारा शान्त करता है अथवा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूपी विष को, प्रभावशाली शिक्षा के द्वारा दूर करता है वह महात्मा इन्द्र, अहमिन्द्र, चक्रवर्ती आदि पदों की गिनती ही क्या निश्चय से तीर्थंकर पद के भी योग्य होता है।

जो साधर्मी पर आपत्ति आने पर भी देखता रहता है, कुछ प्रतिकार नहीं करता, वह समस्त सम्पत्ति के विषय में भी सोता है अर्थात् उसे कोई सम्पत्ति व सद्गुण प्राप्त नहीं होते क्योंकि अरहंत देव ने वैयावृत्य को बाह्य और आभ्यन्तर तपों का हृदय कहा है। अर्थात् शरीर में जो स्थिति हृदय की है वही स्थिति तपों में वैयावृत्य की है ।

पुनः वैयावृत्य का फल बतलाया हैं—

वैयावृत्य से एकाग्र चिन्ता निरोध रूप ध्यान, सनाथपना, ग्लानि का अभाव तथा साधर्मी वात्सल्य आदि गुण साधे जाते हैं ।

---

१. "व्यापदि यत्क्रियते तद् वैयावृत्यम् "
२. जो उवयरदि जदीणं उवसग्ग जयइ रवीण कायाणं। पूयादिसु णिरवेक्खं वेज्जावच्चं तवो तस्स ।। का० अ० । ४५६ ।।
३. जो वावरइ सरुव समदम भावम्मि सुद्ध उवजुत्तो । लोय ववहार विरदो, वेयावच्चं परं तस्स ।। का० अ० । ४६० ।।
४. अस्मिन्निर्विचिकित्सत्व वत्सलत्व सनाथता। यशोभ्युदय निःश्रेय सुखाप्ति प्रमुखा गुणाः ।। आ० सार ६४
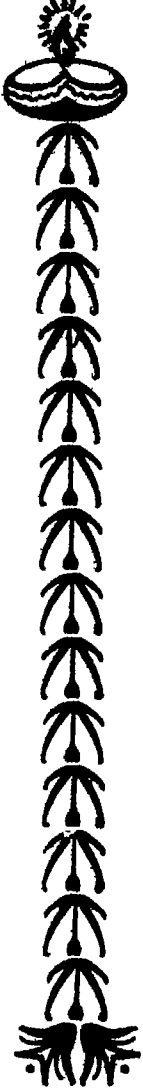
स्वाध्याय तप

स्वाध्याय बिन होत नहिं, निज पर भेद विज्ञान ।
जैसे मुनि पद के बिना, ना हो केवलज्ञान ।।

स्वात्मस्वरूप में तन्मय होने की भावना से तीर्थंकर प्रभु की स्याद्वादवाणी अर्थात् जिनवाणी का अध्ययन, मनन एवं चिन्तवन करना स्वाध्याय है ।

अनुसरण करने वाले राग-द्वेष, विषय कषाय से रहित दिगम्बराचार्यों द्वारा संकलित वाणी को जिनवाणी या आगम कहते हैं । इसी वाणी को चार अनुयोग में पूर्वाचार्यों द्वारा लिपिबद्ध किया गया है, उसे शास्त्र कहते हैं । ऐसे शास्त्र रूपी दर्पण में स्वात्मरूपी चेहरे को देखते हुये उस पर लगे हुये मोह मिथ्यात्व आदि रूप विकारों को हटाने की प्रक्रिया को समझना ही स्वाध्याय है ।

द्वादश तपों में स्वाध्याय तप का विशेष महत्त्व है । स्वाध्याय के अभाव में अनशन आदि छह तप मात्र बाह्य क्रियाकाण्ड एवं लोक में ख्याति पूजा आदि के कारण रह जाते हैं । स्वाध्याय तप के अभाव में अन्तरंग तपों का जन्म ही नहीं हो पाता अतः तपस्या करने से पूर्व मोक्ष सुख प्रेमी भव्यात्माओं को स्वाध्याय रूपी तप में तपाकर अपने विवेक को कुन्दन जैसा खरा बना लेना चाहिये ।

नीति वाक्यामृत में कहा है—

जिसप्रकार बिना प्रकाश के अंधेरे में रक्खे हुये पदार्थों का नेत्रों पूर्ण ज्ञान नहीं होता उसी प्रकार बिना शास्त्रों के रहस्य को जाने सत्यासत्य का यथार्थ परिज्ञान नहीं होता ।

ज्ञाननेत्र का उद् घाटन शास्त्र स्वाध्याय से होता है । बिना शास्त्रज्ञान के चक्षु होने पर भी मनुष्य को अन्धा कहा है जो पदार्थ चक्षु द्वारा प्रतीत नहीं होता, उसे प्रकाशित करने के लिये शास्त्र ही समर्थ हैं । यह शास्त्र ज्ञान मनुष्य का तीसरा नेत्र है क्योंकि शास्त्र ज्ञान के बिना अन्धे पुरुष को क्या प्रतीत हो सकता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ।

—नीतिवाक्यामृत में कहा भी है—

मानव अज्ञान के कारण ही पशु कहलाता है अन्य किसी कारण से नहीं ।१

जिस प्रकार पशु घास वगैरह खाकर केवल मल मूत्रादि क्षेपण करता है किन्तु उसे धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान नहीं, उसी प्रकार मूर्ख मनुष्य भी बिना ज्ञान के अभक्ष्य भक्षण कर मलमूत्रादि क्षेपण कर समय व्यतीत करता है, यह धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य को नहीं समझता ।

आ० कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रवचन सार में कहा है—

आगम को सज्जन मोक्षमार्गी पुरुषों का चक्षु कहा है ।२ आगम हमारा नेत्र तभी बन पायेगा, जब हम नियमित स्वाध्याय में तत्पर रहेंगे ।

आ० कार्तिकेय स्वामी कहते हैं—

स्वाध्याय तप पर निन्दा से निरपेक्ष होता है, दुष्ट विकल्पों को नष्ट करने में समर्थ है तथा तत्व के निश्चय करने में कारण है और ध्यान की सिद्धि करने वाला है ।३

स्वाध्याय शब्द का विश्लेषण करने वालों ने इसके दो प्रकार से समास किये हैं—स्वस्यात्मनोऽध्ययनम्— अपनी आत्मा का अध्ययन करना, आत्म निरीक्षण ।

स्वमध्ययनम् अपने आप अध्ययन अर्थात् मनन् दोनों प्रकार के विश्लेषणों में स्व का ही महत्व है ।
आ० वीरनन्दि कहते हैं—

जो आत्म हितकारी शास्त्र वाचनादिक अध्ययन है, वह स्वाध्याय तप है और बारह प्रकार के तपों में स्वाध्याय के समान दूसरा कोई तप नहीं है ।४

पूज्यपाद आचार्य भी कहते हैं—

आलस्य त्याग कर ज्ञान की आराधना करना स्वाध्याय तप है ।५

---

१. "न ह्य ज्ञानादन्यः पशुरस्ति "

२. "आगम चक्खू साहू"

३. परतत्ती–णिरवेक्खो, दुट्ठ वियप्पणासण समत्थो ।
तच्च विणिच्छय हेदू, सज्झाओ झाण सिद्धियरो । कार्तिकेयानुप्रेक्षा ॥ ४६१ ॥

४. स्वस्मै योऽसौ हितोऽध्यायः स्वाध्यायो वाचनादिकः ।
तपो वर्यमतो नान्यत्तपः सु द्वादशस्वपि ॥ आ० सा० ६५ ॥

५. ज्ञानभावना लस्य त्यागः स्वाध्यायः । स० सि०

आ० कुन्द कुन्द स्वामी कहते हैं—

ग्यारह अंग चौदह पूर्व जिनदेव ने कहे हैं, उनके अध्ययन को पण्डित जन स्वाध्याय कहते हैं।१
धवला में श्री वीरसेन आचार्य ने लिखा है—

अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य आगम की वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, परिवर्तन, और धर्मकथा करना स्वाध्याय नाम का तप है। २

कार्तिकेय स्वामी ने भी कहा है—

जो मुनि अपनी पूजादि से निरपेक्ष केवल कर्ममल शोधन के अर्थ जिन शास्त्रों को भक्ति पूर्वक पढ़ते हैं उसका श्रुत लाभ सुखकारी है।

स्वाध्याय सर्वोत्तम तप है—सर्वज्ञ देव द्वारा उपदिष्ट आभ्यन्तर और बाह्य भेद सहित बारह प्रकार के तपों में स्वाध्याय तप के समान अन्य कोई न तो है और न होगा।३

आ० कुन्द कुन्दस्वामी कहते हैं —

सम्यग्ज्ञान से रहित जीव कोटि भवों में जितने कर्मों के क्षय करने में समर्थ होता है, ज्ञानी जीव गुप्ति गुप्त होकर उतने कर्मों का क्षय अन्तर्मुहूर्त में कर देता है।
कहा भी है—

एक, दो, तीन चार, पांच अथवा पक्षोपवास व मासोपवास करने वाले सम्यग्ज्ञान रहित जीव से भोजन करने वाला स्वाध्याय में तत्पर सम्यग्दृष्टि परिणामों की ज्यादा विशुद्धि कर लेता है।४

कुन्द-कुन्द स्वामी ने अष्ट पाहुड़ में इस पंचम काल के भव्य आत्माओं को संहननहीन होने से निरन्तर चिन्तन व स्वाध्याय करने और मुख्यतया सर्वकाल स्वाध्याय-पठन, अनुप्रेक्षाधारण आदि का आधार लेने की प्रेरणा दी है।

स्वाध्याय का लौकिक व अलौकिक फल—त्रिलोक प्रज्ञप्ति ग्रन्थ के अध्ययन मे जिनेन्द्र देव के वचनों में उपदिष्ट हेतु, प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है।

---

१. बारसंगं जिणक्खादं सज्झायं कथितं बुधैः। मू०आ० ५११
२. अंग बाहिर आगम वायण पुच्छणाणु वेहा। परियट्टण-धम्मकहाओ सज्झाओ णाम। धवला।१३।५।२६
३. पूयादिसु णिरवेक्खो जिण सत्थं जो पढेइ भत्ती।
कम्म-मल सोहणट्ठं सुय लाहो सुहयरो तस्स॥ का० अ०॥४६२॥
४. बारसविहम्मि य तवे सब्भंतर बाहिरे कुसल दिट्ठे।
ण वि अत्थि ण वि य होहिदि सज्झाय समं तवोकम्मं। १०७।
५. जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्स कोडीहिं। तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण॥२३८॥ प्रवचनसार।
६. छट्ठट्ठमदसमदु वालसेहिं अण्णा णिस्स वा सोही।
तत्तो बहु गुण दरिया होज्ज हु जिमिदस्स णाणिस्स॥

१ प्रत्यक्ष हेतु साक्षात् और परम्परा के भेद से दो प्रकार का है। अज्ञान का विनाश, ज्ञान रूपी दिवाकर की उत्पत्ति, देव और मनुष्यादिकों के द्वारा निरन्तर की जाने वाली पूजा, विविध प्रकार की अभ्यर्थना और प्रत्येक समय में होने वाली असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा, इसे साक्षात् प्रत्यक्ष हेतु समझना चाहिये। शिष्य-प्रशिष्य आदि के द्वारा निरन्तर अनेक प्रकार से की जाने वाली पूजा को परम्परा मोक्ष हेतु समझना चाहिये।

२ परोक्ष हेतु भी दो प्रकार का है—

एक अभ्युदय और दूसरा मोक्ष सुख। सातावेदनीय आदि सुप्रशस्त कर्मों के तीव्र अनुभाग के उदय से प्राप्त हुआ इन्द्र, प्रतीन्द्र, दिगिन्द्र, त्रायस्त्रिंश व सामानिक आदि देवों का सुख तथा राजा, अधिराज महाराज, मण्डलीक, अर्धचक्री, चक्रवर्ती और तीर्थंकर इनका सुख अभ्युदय सुख है।

जिन्होंने सिद्धान्त का उत्तम प्रकार से अभ्यास किया है, ऐसे पुरुषों का ज्ञान सूर्य की किरणों के समान निर्मल होता है और जिसने अपने चित्त को स्वाधीन कर लिया है, ऐसा चन्द्रमा की किरणो के समान निर्मल चारित्र होता है। प्रवचन के अभ्यास से मेरु के समान निष्कम्प सम्यग्दर्शन होता है। देव मनुष्य और विद्याधरों के सुख प्राप्त होते हैं और आठ कर्मों के उन्मूलित होने पर प्रवचन के अभ्यास से विशद सिद्ध सुख भी प्राप्त होता है।

---

१. दुविहो हवेदि हेदू तिलोय पण्णत्तिगंथयज्झयणे।
जिणवर वयणु दिट्ठो पच्चक्ख परोक्खभेएहिं। ३५॥
सक्खापच्चक्खपरंपच्चक्खा दोण्णि होंदि पच्चक्खा।
अण्णाणस्स विणासं णाणदिवायरस्स उप्पत्ती। ३६॥
देव मणुस्सादीहिं सततमब्भच्चणप्पयाराणि।
पडिसमय संखेज्जगुण सेढिकम्मणिज्जरणं॥ ३७॥
इय सक्खापच्चक्खं पच्चक्ख परं परं च णादव्वं।
सिस्स पडिसिस्स पहुदीहिं सददमब्भच्चणसारं। ३८॥

२. दो भेदं च परोक्खं अभुदय सोक्खाइं मोक्ख सोक्खाइं।
सादादि विविहसुपरसत्थ कम्मतिव्वाणु भाग उदएहिं। ३९॥
इंदं पडि दर्दिगिंदय तेत्तीसागर रसमाण बहुदि सुहं।
राजाहिराज महाराजद्ध मंडलिमंडल याणं। ४०।
महमंडलियाणं अद्धचक्कि हरितित्थयर सोक्खं।
भविय सिद्धंताणं दिणयर कर णिम्मलं हवइ णाणं।
सिसिर यरकर सिच्छं हवइ चरित्तं स वस चित्तं। ४७।
मेरुव्व णिक्कंपं णिट्ठट्ठ मलं तिमद उम्मुक्कं।
सम्मद्दंसण मणु वमसमुप्पज्जइ पवयण अभासा। ४८।
तत्तो चेव सहाइं सयलाइं देवमणुयख यराणं।
उम्मूलियट्ठ कम्मं फुड सिद्ध सुहं पिपवयणदो। ४९। ध० १। १, ११

जिनागम जीवों के मोहरूपी ईंधन को अग्नि के समान, अज्ञान रूप अन्धकार के विनाश के लिये सूर्य के समान और द्रव्य व भाव कर्म के मार्जन के लिये समुद्र के समान अज्ञान रूपी अन्धकार के विनाशक भव्यजीवों के हृदय को विकसित करने वाले मोक्ष-पथको प्रकाशित करने वाले सिद्धांतों का अनुसरण करने में ही स्वाध्याय तप की महिमा है ।

स्वाध्याय का फल गुणश्रेणी निर्जरा व संवर बताया गया है —

प्रश्न—कर्मों की असंख्यात गुणित-श्रेणी रूप से निर्जरा होती है । यह किनको प्रत्यक्ष है ?

उत्तर—ऐसी शंका ठीक नहीं है क्योंकि सूत्र का अध्ययन करने वालों की असंख्यात गुणित श्रेणी रूप से प्रतिसमय कर्म निर्जरा होती है । यह बात अवधिज्ञानी और मनः पर्ययज्ञानियों को प्रत्यक्ष रूप से उपलब्ध होती है ।

वृषभसेनादि गणधर देवों द्वारा जिनकी शब्द रचना की गयी है ऐसे द्रव्य सूत्रों से उनके पढ़ने और मनन करने रूप क्रिया में प्रवृत्त हुये सब जीवों के प्रति समय असंख्यात गुणित श्रेणी से पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा होती है।

प्रश्न—स्वाध्याय निरन्तर करने की प्रेरणा क्यों की गई ?

उत्तर—क्योंकि वह व्याख्याता और श्रोता के असंख्यात गुण श्रेणी रूप से होने वाली कर्म निर्जरा का कारण है ।[1]

स्वाध्याय तप की विशद व्याख्या सूत्र कृताङ्ग में प्रतिपादित है ।

जियमोहिंधण जलणो अण्णाण तमंधयार दिणयरओ ।
कम्ममलकलुसपुसओ जिणवयण मिवोवही सुहओ । ५० ।
अण्णाण-तिमिर हरणं सुभविय हिययारविंद जोहणयं ।
उज्जोइय-सयल वहं सिद्धंत-दिवायरं भजह ॥ ५१ ॥ ध० १ । १,१,१

१. कर्मणामसंख्यात गुणश्रेणिनिर्जरा केषां प्रत्यक्षेति चेन्न, अवधि-मनः पर्ययज्ञानिनां सूत्रमधीयानानां तत्प्रत्यक्षतया: समुपलम्भात् ।
उसहसेणादिगणहर देवेहि विरइयसद्दरयणादो दव्वसुत्तादो तप्पढण गुण ण किरिया वावदाणं सव्वजीवाणं पडिसमय मसंखे जेज्जगुण सेढीए पुव्व संचियकम्मणिज्जरा होदित्ति । ध० १ । १,१,१,
नित्यमं सर्वकालं व्याख्यायते । श्रोतृव्याख्यातुश्च ।
असंख्यात-गुणश्रेण्या कर्मनिर्जरण हेतुत्वात् । ध० ६ । ४ १,१

कायोत्सर्ग या व्युत्सर्ग तप

काया से ममता हटा, निज गुण होकर लीन।
यह तप कायोत्सर्ग है, राग द्वेष हो छीन ।।

"शरीर से ममत्व छोड़ना कायोत्सर्ग है"।

अभी तक बात की उस तप की जिसके द्वारा आत्मा और शरीर का यथार्थ ज्ञान होता है। अब की जा रही है बात उस तप की जो ध्यान में महत्वपूर्ण सहयोगी है, जिसका नाम है कायोत्सर्ग। किसी निर्जन वन में, गुफा, पहाड़, श्मशान, नदी, तट या जिनालय आदि में शरीर से ममत्व छोड़कर आत्मगुणों का चिंतवन खड्गासन या पद्मासन मुद्रा में करना उसे कायोत्सर्ग तप कहते हैं।

सत्ताईस श्वासोच्छ्वास में नौ बार णमोकार मंत्र उच्चारण काल प्रमाण कायोत्सर्ग का जघन्य समय है एवं शरीर से ममत्व छोड़कर एक वर्ष के लिये अवस्थित हो जाना कायोत्सर्ग का उत्कृष्ट समय है।

कायोत्सर्ग का लक्षण— नियमसार में कुंदकुंदाचार्य जी कहते हैं—

काय आदि परद्रव्यों में जो स्थिर भाव है उसे छोड़कर जो आत्मा का निर्विकल्प रूप से ध्यान करता है उसको कायोत्सर्ग होता है।[1] मूलाचार में कहा है—दैवसिक आदि नियमित क्रियायों में यथोक्त काल पर्यंत जिनेन्द्र के गुणों का चिंतन करना एवं देह का ममत्व छोड़ना कायोत्सर्ग है।[2]

---

१. कायाईपरदव्वे थिरभावं परिहरत्तु अप्पाणं।
तस्स हवे तणुसग्गं, जो झायइ णिव्वियप्पेण ।। १२१ ।। नियम सार

२. देवस्सियणियमादिसु जहुत्तमाणेण उत्तकालम्हि। जिणगुणचिंतण जुत्तो काउस्सग्गो तणुविसग्गो ।। मू० गा० ३१ ।।

राजवार्तिक में अकलंक स्वामी कहते हैं—परिमित काल के लिए शरीर से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है।१

भगवती आराधना में भी आ० शिवकोटि कहते हैं-देह के प्रति ममत्व का विसर्जन करना कायोत्सर्ग है ।२

योगसार में श्री योगेन्द्र देव ने कहा है——देह को अचेतन, नश्वर व कर्मनिर्मित समझकर जो उसके पोषण आदि के अर्थ कोई कार्य नहीं करता, वह कायोत्सर्ग का धारक है।३

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी स्वामीकार्तिकेय जी कहते हैं–जिस मुनि का शरीर जल और मल से लिप्त हो, जो दुस्सह रोग के हो जाने पर भी उसका इलाज नहीं करता हो, मुख धोना आदि शरीर के संस्कार से उदासीन हो, भोजन शय्या आदि की अपेक्षा नहीं करता हो, अपने स्वरूप के चिन्तन में ही लीन रहता हो, दुर्जन और सज्जन में मध्यस्थ हो और शरीर से भी ममत्व न करता हो, उस मुनि के कायोत्सर्ग नाम का तप होता है।४

लोक के सभी मनुष्यों में काय-संबंधी बहुत क्रियाएं होती हैं, उनकी निवृत्ति सो कायोत्सर्ग है वही गुप्ति है । ५

मानसिक व कायिक कायोत्सर्ग विधि—जिसमें दोनों भुजाएं लम्बी की हैं, चार अंगुल के अन्तर सहित समपाद हैं तथा हाथ आदि अंगों का चालन नहीं है वह शुद्ध कायोत्सर्ग है।६

देव, मनुष्य तिर्यंच व अचेतनकृत जितने भी उपसर्ग हैं, उन सबको कायोत्सर्ग में स्थित होता हुआ मैं अच्छी तरह सहन करता हूं। ७

कायोत्सर्ग में स्थित ईर्यापथ के अतिचारों को नाशने के उपायों का चिंतवन करता हुआ मुनि उन सब दोषों को समाप्त कर धर्मध्यान और मोक्ष का चिन्तवन करते हैं । ८

---

१. परिमितकालविषया शरीरे ममत्व निवृत्तिः कायोत्सर्गः । राजवार्तिक, ६ । २४ । ११ । १३० । १४
२. देहे ममत्व निरासः कायोत्सर्गः । भगवती आराधना ६ । ३२ । २१ ।
३. ज्ञात्वा योऽचेतनं कायं नश्वरं कर्म निर्मितं ।
न तस्य वर्तते कार्ये कायोत्सर्गं करोति सः ॥ योगसार, ५ । ५२ ।
४. जल्लमललित्तगत्तो दुस्सहवाहीसु णिप्पडीयारो ।
मुहधोवणादि विरओ भोयण सेज्जादिणिरवेक्खो ॥
ससरूवचिंतणरओ दुज्जणसुयणाण जो हु मज्झत्थो ।
देहे वि णिम्ममत्तो काओसग्गो तओ तस्स ॥ बारस अणु पेक्खा, ४६७-४६८
५. सर्वेषां जनकार्येषु बहुधा क्रिया विद्यन्ते तासां निवृत्तिः कायोत्सर्गः, स एव गुप्तिः भवति ।
६. वोसरिदबाहु जुगलो चदुरंगुलअंतरेण समपादो । सव्वंगचलणरहिओ काउस्सग्गो विसुद्धो दु ॥ मूलाचार, ७३४,
७. जे केई उवसग्गा देव माणुसतिरिक्ख चेदणिया । ते सव्वे अधिआसे काओसग्गे ठिदो संतो ॥ मूलाचार, ७२६
८. काओ सग्गम्हि ठिदो चिंतिदु इरियावहस्स अतिचारं । तं सव्वं समाणित्ता धम्मं सुक्कं च चिंतेज्जो ॥ मूलाचार, ७४७

मन से शरीर में ममत्व बुद्धि की निवृत्ति मानस कायोत्सर्ग है । बाहु नीचे छोड़कर चार अंगुल-मात्र अन्तर दोनों पैरों में रखकर निश्चल खड़े होना, यह शरीरकृत कायोत्सर्ग है ।१

अनगार धर्मामृत में आशाधर जी कहते हैं—व्युत्सर्ग के समय अपनी प्राणवायु को भीतर प्रविष्ट करके, उसे आनंद से विकसित हृदय कमल में रोककर, जिनेन्द्र मुद्रा के द्वारा णमोकार मंत्र की गाथा का ध्यान करना चाहिए ।२

गाथा के दो दो और एक-२ अंश को पृथक्-पृथक् चिन्तवन करके अन्त में उस प्राणवायु को धीरे-धीरे बाहर निकालना चाहिए । इस प्रकार नौ बार प्रयोग करने वाले के चिरसंचित महान कर्मराशि भस्म हो जाती है ।३

प्राणायाम में असमर्थ साधु वचन के द्वारा भी उस मंत्र का जाप कर सकता है। परन्तु उसे अन्य कोई न सुने, इस प्रकार जाप करना चाहियें । परन्तु वाचनिक और मानसिक जपों के फल में महान् अन्तर है । दण्डकों के उच्चारण की अपेक्षा सौगुणा पुण्य संचय वाचनिक जाप में होता है और हजार गुणा मानसिक जाप में ।४

कायोत्सर्ग के योग्य दिशा व क्षेत्र—भगवती आराधना में वर्णन करते हुए शिवकोटि आचार्य ने कहा है कि-पूर्व अथवा उत्तर दिशा की तरफ मुँह करके अथवा जिन प्रतिमा की तरफ मुंह करके आलोचना के लिए साधक कायोत्सर्ग करते हैं । यह कायोत्सर्ग एकांत स्थान व अबाधित स्थान में अर्थात् जहां दूसरों का आना जाना न हो, ऐसे अमार्ग में करते हैं ।५

कायोत्सर्ग के योग्य अवसर—मूलाराधना के अनुसार-भक्त-पान, ग्रामान्तर, चातुर्मासिक, वार्षिक, उत्तमार्थ इनको जानकर धीरपुरुष अतिशयकर दुख के क्षय के अर्थ कायोत्सर्ग में अवस्थित रहते हैं।६

इसी प्रकार दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक व उत्तमार्थ इन सब नियमों को पूर्णकर धर्मध्यान और शुक्लध्यान में निमग्न रहते हैं।७

---

१. मनसा शरीरे ममेदं भाव निवृत्तिः मानसः कायोत्सर्गः ।
प्रलम्ब भुजस्य, चतुरङ्गुल मात्रपादान्तरस्य निश्चलावस्थानं कायेन कायोत्सर्गः । भगवती आराधना, ५०९।७२९।१६

२. जिनेन्द्रमुद्रया गाथा ध्यायेत् प्रीति विकस्वरे ।
हृत्पङ्कजे प्रवेश्यान्त निरुध्य मनसानिलम् ॥

३. पृथग् द्विद्व्येकगाथांशचिन्तान्ते रेचयेच्छनैः ।
नवकृत्वः प्रयोक्तैवं दहत्यंहः सुधीर्महत् ॥

४. वाचाप्युपांशु व्युत्सर्गे कार्यो जप्यः स वाचिकः ।
पुण्यं शतगुणं चैत्तः सहस्रगुणमावहेत् ॥ अनगार धर्मामृत । ९,२२–२३-२४

५. पाचीणोदिचिमुहो चेदिमहुत्तो व कुणदि एगंते ।
आलोयण पत्तीयं काउसग्गं अणाबाधे ॥ ५५० ॥भगवती आराधना । ६६३ ।

६. भत्ते पाणे गामतरे य चदुमासिवरिस चरिमेसु ।
णाऊण ठंति धीरा घणिदं दुक्खक्खयट्ठाए ॥ मूलाचार ॥ ६६३

७. तह दिवसिय रादिय पक्खिय चदुमासिवरिस चरिमेसु ।
तं सव्वं समाणित्ता धम्मं सुक्कं च झायेज्जो ॥ मूलाचार ॥६६५

हिंसा आदि पापों के अतिचारों में भक्तपान व गोचरी के पश्चात् तीर्थ व निषिद्धिका आदि की वंदनार्थ जाने पर, लघु व दीर्घ शंका करने पर, ग्रंथ को आरम्भ करते समय व पूर्ण हो जाने पर, ईर्यापथ के दोषों की निवृत्ति के अर्थ कायोत्सर्ग किया जाता है।

कायोत्सर्ग एक वर्ष का उत्कृष्ट और अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य होता है शेष कायोत्सर्ग दिन-रात्रि आदि के भेद से अनेक प्रकार के हैं।१

कायोत्सर्ग का प्रयोजन व फल—ईर्यापथ के अतिचारों को शोधने के लिए मोक्षमार्ग में अवस्थित हो, मुनि दुख के नाश करने के लिए शरीर से ममत्व छोड़कर कायोत्सर्ग करते हैं। २

कायोत्सर्ग करने पर जैसें अंगोपांगों की संधियाँ भिद जाती है, उसी प्रकार इससे कर्मरूपी धूलि भी अलग हो जाती हैं। ३

कायोत्सर्ग शक्ति के अनुसार करना चाहिए—बल और आत्मशक्ति का आश्रयकर क्षेत्र, काल और संहनन इनके बल की अपेक्षा कर कायोत्सर्ग के कहे जाने वाले दोषों का त्याग करते हुये कायोत्सर्ग करना चाहिए।४

मायाचारी से रहित, विशेषताओं सहित, अपनी शक्ति के अनुसार, बाल आदि अवस्था के अनुकूल, धीर पुरुष, दुख के क्षय के लिए, कायोत्सर्ग करते हैं।५

जो तीसवर्ष प्रमाण यौवन अवस्थावाला समर्थ साधु ६० वर्ष वाले अशक्त वृद्ध के साथ कायोत्सर्ग की पूर्णता करके समान रहता है, वृद्ध की बराबरी करता है, वह साधु शांत रूप नहीं है, मायाचारी है, विज्ञान रहित है, चारित्र रहित है और मूर्ख है। ६

मरण के बिना काय का त्याग कैसे?—प्रश्न-आयु के निरवशेष समाप्त हो जाने पर आत्मा शरीर को छोड़ती है, अन्य समय में नहीं। तब अन्य समय में कायोत्सर्ग का कथन कैसा?

---

१. संवच्छरमुक्कस्सं भिण्णमुहुत्तं जहण्णयं होदि।
सेसा काओसग्गा होंति अणेगेसु ठाणेसु ॥मूलाचार॥ ६५६

२. काओसग्गं इरियावहादि चारस्स मोक्खमग्गम्मि।
वोसट्ठचत्तदेहा करंति दुक्खक्खयट्ठाए ॥मूलाचार ६६२॥

३. काओसग्गम्हि कदे जह भिज्जदि अंगुवंगसंधीओ।
तह भिज्जदि कम्मरयं काउसग्गस्स करणेण ॥ मूलाचार। ६६६

४. बलवीरियमासेज्ज य खेत्ते काले सरीर संहडणं।
काओसग्गं कुज्जा इमे दु दोसे परिहरंतो ॥ मूलाचार, ६६७

५. णिक्कूडं सविसेसं बलाणुरूवं वयाणुरूवं च।
काओसग्गं धीरा करंति दुक्खक्खयट्ठाए ॥ मूलाचार, ६७१॥

६. जो पुण तीसदिवरिसो सत्तरिवरिसेण पारणायसमो।
विसमोय कूडवादी णिव्विण्णाणी य सो य जडो ॥मूलाचार ६७२

उत्तर—शरीर का विछोह न होते हुये भी इसके अशुचित्व, अनित्यत्व, विनाशशीलता, असारत्व, दुःख हेतुत्व, अनंत संसार परिभ्रमण हेतुत्व इत्यादि दोषों का विचार कर यह शरीर मेरा नहीं है और मैं इसका स्वामी नहीं हूं, ऐसा संकल्प मन में उत्पन्न हो जाने से शरीर पर प्रेम का अभाव होता है, उससे शरीर का त्याग सिद्ध होता है जैसे प्रियतमा पत्नी से कुछ अपराध हो जाने पर, पति के साथ एक ही घर में रहते हुए भी पति का प्रेम हट जाने के कारण वह परित्यक्ता कही जाती है इसी प्रकार यहां भी समझना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि शरीर के अपाय के कारण को हटाने में यति निरुत्सुक रहते हैं इसलिए उनका कायत्याग स्वाभाविक है। १

कायोत्सर्ग के अतिचार व उनके लक्षण—मुनियों को उत्थित कायोत्सर्ग के दोषों का त्याग करना चाहिए। उन दोषों का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) जैसे घोड़ा अपना एक पांव लंगड़ा करके खड़ा हो जाता है, वैसा खड़ा होना घोटकपाद दोष है।

(२) बेल की भांति इधर-उधर हिलना लतावक्र दोष है।

(३) स्तम्भवत् शरीर अकड़ाकर खड़े होना स्तंभ स्थिति दोष है।

(४) खम्भे का आश्रय लेना स्तंभावष्टंभ दोष है।

(५) भित्ति के आधार से खड़ा होना कुड्याश्रित दोष है।

(६) मस्तिष्क ऊपर करके किसी पदार्थ का आश्रय लेकर खड़ा होना मालिकोद्वहन दोषहै।

(७) अधरोष्ठ लम्बा करके खड़े होना लम्बिताधर दोषहै।

(८) स्तन की ओर दृष्टि देकर खड़े होना स्तन दृष्टि दोष है।२

(९) कौवे की भांति दृष्टि को इतस्ततः फेंकते हुये खड़े होना काकावलोकन दोष है।

---

१. ननु च आयुषो निरवशेषगलने आत्मा शरीरमुत्सृजति नान्यदा तत्किमु—
च्यते कायोत्सर्गः इति ——अनुपायित्वेऽपि शरीरे अशुचित्वं तथानित्यत्वं
अपायित्वं, दुर्वहत्वं, असारत्वं, दुःखहेतुत्वं, शरीरगतममताहेतुकमनन्त
संसार परिभ्रमणं इत्यादिकान्संप्रधार्य दोषान्नेदं मम नाहमस्येति संकल्पवतस्तदाद
राभावात्कायस्य त्यागो घटत एव। यथाप्राणेभ्योऽपि प्रियतमा कृता
पराधावस्थिता ह्येकस्मिन्मंदिरे त्यक्तेत्युच्यते तस्यामनुरागा भावान्मभेदं
भावभ्यावृत्तिमपेक्ष्य एवमिहापि। किंच शरीरापाय निराकरणानुत्सुकस्य
यतिस्तस्मादुच्यते कायत्यागः। भगवती आराधना ।११६।२७८।१३।

२. कायोत्सर्गं प्रपन्नः स्थानदोषान् परिहरेत्। के ते इति चेदुच्यते ।१—तुरंग इव
कुण्टीकृतपादेन अवस्थानम् २—लतेवेतस्ततश्चलतोऽवस्थानं ३— स्तम्भवत्स्तब्ध
शरीरं कृत्वा स्थानम् ४—स्तम्भोपाश्रयेण वा ५—कुड्याश्रयेण वा ६—मालावलग्नशिरसा वावस्थानं
७—लम्बिताधरतया ८—स्तनगतदृष्ट्या वायसइव इतस्ततो नयनोद्वर्तनं कृत्वाव स्थानम्। भगवती आराधना ११६।२७९।८।

(१० लगाम से पीड़ित घोड़ेवत् मुख को हिलाते हुये खड़े होना खलीनित दोष है।

(११) जैसे बैल अपने कंधे से जूये की मान नीचे करता है, उस तरह कंधे झुकाते हुये खड़ा होना युगकंधर दोष है।

(१२) कैथ का फल पकड़ने वाले मनुष्य की भांति हाथ का तल भाग पसारकर या पांचों अंगुली सिकोड़कर अर्थात् मुट्ठी बांधकर खड़े होना कपित्थ मुष्टि दोष है।

(१३) सिर को हिलाते हुए खड़े होना सिर चालन दोष है।

(१४) गूंगे की भांति हुंकार करते हुए खड़े होना, अंगुली से नाक या किसी वस्तु की ओर संकेत करते हुए खड़े होना मूक संज्ञा दोष है।

(१५) अंगुली चलाना या चुटकी बजाना अंगुलिचालन दोष है।

(१६) भौंह टेढ़ी करना या नचाना भ्रूक्षेप दोष है।

(१७) भील की स्त्री की भांति अपने गुह्य प्रदेश को हाथ से ढकते हुए खड़े होना शबरी गुह्य गूहन दोष है।१

(१८) बेड़ी से जकड़े मनुष्य की भांति खड़े होना शृंखलित दोष है।

(१९) मद्यपायीवत् शरीर को इधर-उधर झुकाते हुए खड़े होना उन्मत्तवत् दोष है।

(२०–२७) पूर्वादि आठ दिशाओं के देखने से आठ दोष होते हैं।

(२८) ग्रीवा को ऊंचा करना।

(२९) ग्रीवा को नीचा करना।

(३०) थूकना।

(३१) अंग का स्पर्श।

(३२) मदिरा पान करने वाले अथवा पराधीन शरीर वाले के समान आकृति बनाकर खड़े होना। इस प्रकार ये कायोत्सर्ग के ३२ दोष हैं। इनको त्याग कर कायोत्सर्ग करना चाहिए।१

---

१. ९– वायस इव इतस्ततो नयनोद्वर्तनं कृत्वावस्थानम् १०–खलीनार्त्तपीडितमुख
इव मुख–चालनं संपादयतो अवस्थानम् ११–युगार्त्तबलीवर्द इव शिरोऽवः
पातयता।१२–कपित्थफलग्राहीव विकासितकरतलं, संकुचिताङ्गुलिपञ्चकं वा कृत्वा।
१३–शिरश्चालनं कुर्वन् १४–मूक इवहुङ्कारं संपादयतस्थानं मूक इव
नासिकया वस्तूपदर्श यता वा १५–अङ्गुलि स्फोटनम् १६–भ्रूनर्तनं वा कृत्वा १७–शबरवधूरिव स्वकौपीन देशाच्छादन पुरोमं।
२. शृङ्खलाबद्धपाद इवावस्थानम् १९–पीतमदिर इव परवशगत शरीरो वा भूत्वा
अवस्थानम् इत्यमी दोषाः।भगवती आराधना।११६।२७१।का
२७–अष्टदिगवलोकनम् २८–ग्रीवोन्नमनम् २९–ग्रीवाव नमनम् ३०–निष्ठीवनम्
३१–अङ्गस्पर्शं ३२–पीतमदिर इव परवशगत शरीरो वा भूत्वावस्थानम्।

व्युत्सर्ग तप

व्युत्सर्ग तप का लक्षण—अहंकार और ममकार रूप संकल्प का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है।१

व्युत्सर्जन करना व्युत्सर्ग है जिसका नाम त्याग है।२

शरीर व आहार में मन एवं वचन की प्रवृत्तियों को हटाकर ध्येय वस्तु की ओर एकाग्रता से चित्त का निरोध करने को व्युत्सर्ग कहते हैं।३ बंध के हेतुभूत विविध प्रकार के बाह्य और आभ्यंतर दोषों का उत्तम प्रकार से त्याग करना, यह व्युत्सर्ग की निरुक्ति है।४

व्युत्सर्ग तप के भेद-प्रभेद—व्युत्सर्ग दो प्रकार का होता है—अभ्यंतर व बाह्य। अभ्यंतर उपधि का व्युत्सर्ग दो प्रकार का है यावज्जीवनपर्यंत व नियतकाल। यावज्जीवनव्युत्सर्ग तीन प्रकार है—

भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमन। नियत काल दो प्रकार का है—नित्य व नैमित्तिक।५

बाह्य व आभ्यंतर व्युत्सर्ग के लक्षण—आभ्यन्तर उपधि रूप क्रोधादि का त्याग करना अभ्यन्तर व्युत्सर्ग है और बाह्य उपधि रूप क्षेत्र-वास्तु आदि का त्याग करना बाह्योपधि व्युत्सर्ग है।६

---

१. आत्माऽत्मीयसंकल्पत्यागो व्युत्सर्गः। सर्वार्थ सिद्धि ९।२०।४३९।८।
३—व्युत्सर्जनम् व्युत्सर्गस्त्याग. ।।सर्वार्थसिद्धि ।९।२६।४४३।१०।
४—सरीराहारेसु हु मणवयणपवुत्तीओ ओसारिय ज्झेयम्मि एअग्गेण चित्तणिरोहो विओसग्गो णाम् ।धवला ८।३।४१।८५।२।

२. बाह्याभ्यंतर दोषा ये विविधा बंधहेतवः। यस्तेषामुत्तमः सर्गः स व्युत्सर्गो निरुच्यते। अनगारधर्मामृत ७–९४,

३. दुविहो य विउसग्गो अब्भंतर बाहिरो मुणेयव्वो। मूलाचार। ४०६
आभ्यन्तरोपधि त्यागः व्युत्सर्गः स द्विविधः—यावज्जीवं नियत कालश्चेति। १५४। ३
तत्र यावज्जीवं त्रिविधः—भक्त प्रत्याख्यानेङ्गिनीमरण प्रायोपगमन भेदात्। १५४।३।
नियतकालो द्विविधः, नित्यनैमित्तिक भेदेन।। (१५५।१)

४. अभ्यंतरः क्रोधादिः बाह्यः क्षेत्रादिकः द्रव्यं। (मूलाचार, ४०६।

आत्मा से एकत्व को नहीं प्राप्त हुये ऐसे वास्तु धन और धान्य आदि बाह्य उपाधि हैं और क्रोधादि आत्मभाव आभ्यंतर उपधि हैं (इनका त्याग बाह्य व आभ्यंतर उपधि व्युत्सर्ग है) तथा नियतकाल तक या यावज्जीवन तक काय का त्याग करना भी आभ्यंतर उपधित्याग कहा जाता है। १

काय संबंधी आभ्यन्तर व्युत्सर्ग—नियत व अनियत की अपेक्षा दो प्रकार का है । इनमें से अनियतकाल व्युत्सर्ग भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी व प्रायोपगमन विधि से शरीर को त्यागने की अपेक्षा तीन प्रकार का है ।

नियतकाल व्युत्सर्ग, नित्य व नैमित्तिक के भेद से दो प्रकार का है—

इन दोनों में आवश्यक आदि क्रियाओं का करना नित्य है तथा पर्व के दिनों में होने वाली क्रियाएं करना व निषद्यादि क्रिया करना नैमित्तिक है।२

काय का नियत काल के लिए अथवा यावज्जीवन त्याग करना आभ्यन्तरोपधि व्युत्सर्ग है। बाह्योपधिव्युत्सर्ग अनेक प्रकार का है।३

---

१. अनुपात्तं वास्तुधनधान्यादि: बाह्योपधि: । क्रोधादिरात्मभावोऽभ्यन्तरोपाधि: ।
कायत्यागश्च नियतकालो यावज्जीवं वाभ्यन्तरोपधि त्याग इत्युच्यते । सर्वार्थसिद्धि, ९-२६,

२. नित्य आवश्यकादय: । नैमित्तिक: पार्वणी क्रिया निषद्या क्रिया-ग्रादय । चा० सा० १५५।२।

३. नियतकालो यावज्जीवं वा कायस्य त्यागोऽभ्यन्तरोपधि व्युत्सर्ग: ।
बाह्यस्त्वनेक प्रायो व्युत्सर्ग: । भावपाहुड, टी० २२५।१६ ।

ध्यान तप

ध्यान ही तप का मूल है, ध्यान ही भव का कूल ।
ध्यान धर्म आधार है, ध्यान पन्थ शिव मूल ।।

जिस प्रकार मंदिर की शोभा ईंट, चूना संगमरमर के बने हुए कमरों से नहीं, वेदी में विराजमान जिनेन्द्र भगवान से है, नारी की शोभा वस्त्र आभूषणों से नहीं, शील से है, ठीक इसी प्रकार तप की शोभा मात्र कायक्लेश आदि से नहीं, ध्यान से होती है ।

ध्यान की आधारशिला पर ही मोक्षमहल की मंजिल प्रतिमंजिल ऊंचाइयों को चूमती चली जाती है । ध्यानरूपी वाटिका में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य रूपी पुष्प महकते हैं । ध्यान रूपी वृक्ष पर ही सरस मोक्षरूपी फल सुशोभित होते हैं । ध्यान की महिमा वचनातीत है । ध्यान के बल से आत्मा परमात्मा बन जाता है ।

अगणित आत्मायें सिद्ध-शिलापर परमानन्द में लीन हैं । यह सम्यग्ध्यान का ही फल है । चिर-काल के संचित अनंतानंत कर्म ईंधन को ध्यानाग्नि के द्वारा अन्तर्मुहूर्त में जलाकर ध्वस्त किया जा सकता है । ध्यान की विवेचना सामान्य ज्ञान से नहीं की जा सकती । मोक्ष महल को ध्यान रूपी सीढ़ियों पर चढ़कर ही पाया जा सकता है ।

द्वादश तपों में ध्यान तप की विवेचना अन्त में की गई है । इसका भी कारण यही है कि अंतिम अष्टम भूमि की प्राप्ति, अष्ट कर्मों के विनाश के साथ ध्यान के द्वारा ही होती है । ध्यान रूपी आभूषणों से सुशोभित यतिवर असंख्य उपसर्गों को भी आनंद रूप स्वीकार कर परमानंद को प्राप्त कर लेते हैं ।

ध्यान तप के अभाव में मोक्षप्रेमी यतिवरों की शोभा ही नहीं है । नीतिवाक्यामृत में कहा है—

ध्यानेन शोभते योगी, संयमेन तपोधनः।
सत्येन वचसा राजा, गेही दानेन शोभते ।।

जिस प्रकार राजा की शोभा सत्यवचनों से होती है, श्रावक की शोभा दान से होती है एवं तपस्वी की शोभा संयम से होती है, ठीक उसी प्रकार योगियों की शोभा ध्यान से होती है अतः मोक्ष सुख की साधना करने वाले साधक यतिवरों के लिए ध्यान का ही विशेष महत्व है। कुन्द-कुन्द स्वामी ने रयणसार में कहा है कि ध्यान एवं अध्ययन यतिवरों का मुख्य धर्म है। ध्यान और अध्ययन के अभाव में यतिपना सम्भव नहीं है। १

ध्यान—संसार, शरीर, भोगों से विरक्त एवं निजात्म स्वरूप में अनुरक्त तपस्वी मुनिराज योगत्रय की एकता से जो वस्तु स्वरूप का चिंतवन करते हैं या निज परमानन्द स्वरूप में अवस्थित हो जाते हैं, उसे ही ध्यान कहते हैं। ध्येय की प्राप्ति के लिए जो चित्त की एकाग्रता है, वही ध्यान है। विषयान्ध रागी व्यक्ति जैसे विषय कषायों में तन्मय हो जाता है, सभी सुख-दुख भूल जाता है। ठीक इसी प्रकार मोक्षमार्गी भव्यात्मा आत्मस्वरूप में अथवा वस्तुस्वरूप के चिन्तवन में तन्मय हो जाता है, उसी को ध्यान कहते हैं।

ध्यान की विवेचना अनेक आचार्यों ने अपने-२ लोकप्रिय ग्रंथों में की है।

ध्यान का लक्षण—उमास्वामी विरचित तत्वार्थसूत्र में ध्यान का लक्षण इस प्रकार किया गया है—उत्तम संहनन वाले का एक विषय में चित्तवृत्ति का रोकना ध्यान है जो अन्तर्मुहूर्त काल तक होता है।२

पूज्य-पाद स्वामी के मतानुसार—,चित्त के विक्षेप का त्याग करना ध्यान है।,३

ध्यान के लक्षण में जो एकाग्रता का ग्रहण है, वह व्यग्रता की विनिवृत्ति के लिए है। ज्ञान ही वस्तुतः व्यग्र होता है, ध्यान नहीं। ध्यान को तो एकाग्र कहा जाता है।४

किसी एक विषय में निरन्तर रूप से ज्ञान का रहना ध्यान है, और वह वास्तव में क्रम रूप ही है, अक्रम नहीं। ५

परिस्पंद (चञ्चलता) रहित जो एक पदार्थ की ओर चित्तवृत्ति को अन्य पदार्थों से हटाकर लगाये रखना सो ध्यान है। वह ध्यान कर्म निर्जरा व कर्मों को रोकने के लिए कारण है।६

१. दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा।
झाणज्झयणं मुक्खं जदि धम्मे तं विणा तहा सो वि॥ रयणसार॥
२. 'उत्तमसंहननस्यैकाग्र चिंतानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्। तत्वार्थ सूत्र ६-२७,
३. चित्त विक्षेपत्यागो ध्यानम्। सर्वार्थसिद्धि, ९।२०।
४. एकाग्र ग्रहणं चात्र वैयग्र्यविनिवृत्तये।
व्यग्रं हि ज्ञानमेव स्याद् ध्यानमेकाग्रमुच्यते॥तत्वानुशासन॥ ५९।
५. [illegible] नैरन्तर्येण [illegible] चित्त।
[illegible] ८४२
६. एकाग्रचिन्तारोधो यः परिस्पंदेन वर्जितः।
तद्ध्यानं निर्जराहेतुः संवरस्य च कारणम्॥ तत्वानुशासन, ५६

योगीगण श्रुतज्ञान द्वारा जो ध्यान किया करते हैं उस तात्विक श्रुतज्ञान चिंतवन को या स्थिर मन को ध्यान कहते हैं ।१

शरीर, धन, सुख-दुख अथवा शत्रु मित्र जन ये सब जीव के साथ सदा रहने वाले नहीं हैं । ध्रुव तो उपयोगात्मक आत्मा है जो ऐसा जानकर विशुद्धात्मा होता हुआ परमात्मा का ध्यान करता है वह साकार हो या अनाकार मोह दुर्ग्रन्थि का क्षय करता है ।२।

शुद्ध स्वभाव से युक्त साधु का दर्शन ज्ञान से परिपूर्ण ध्यान निर्जरा का कारण होता है । अन्य द्रव्यों से संसक्त वह निर्जरा का कारण नहीं होता ।३।

जिस जीव के ध्यान में यदि ज्ञान से निज आत्मा का प्रतिभास नहीं होता है तो वह ध्यान नहीं है उसे प्रमाद मोह अथवा मूर्च्छा ही जानना चाहिए ।४।

जिसके द्वारा चिन्तन किया जाता है, उसे ध्यान कहते हैं अथवा जो ध्यान करता है ऐसी आत्मा का भी न.म ध्यान है । जिस क्षेत्र में ध्यान किया जाता है, उसे भी ध्यान कहते हैं तथा चिन्तवन करना इस रूप जो क्रिया उसको भी ध्यान संज्ञा दी गई है ।५।

कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक ध्यान युक्त योगी को किसी का भी विकल्प उत्पन्न होता रहता है तब तक उसे शून्य ध्यान नही है या तो चिन्ता है या भावना है ।६

जिस समय मुनि का चित्त क्षोभ रहित हो आत्मस्वरूप के सम्मुख होता है, उस काल ही ध्यान की सिद्धि निर्विघ्न होती है ।७।

---

१. श्रुतज्ञानेन मनसा यतो ध्यायन्ति योगिनः ।
ततः स्थिरं मनो ध्यानं, श्रुतज्ञानं च तात्विकम् ।। तत्वानुशासन, ६२

२. देहा वा दविणा वा सुह दुक्खा वाधसत्तु मित्तजणा ।
जीवस्स ण संति धुवा, धुवोवओगप्पगो अप्पा ।।
जो एवं जाणित्तावि, परं अप्पगं विसुद्धप्पा ।
सागारोऽणागारो खवेदि सो मोह दुग्गंठिं ।। प्रवचनसार । १९३-१९४

३. दंसणणाण समग्गं ज्झाणं णो अण्णदव्वसंसत्तं ।
णिज्जरहेदु सभाव सहिदस्सं साहुस्स ।।तिलोयपण्णति, २१

४ ज्झाणे जदि णिय आदा णाणादो णावभासदे जस्स ।
झाणं होदि णतं पुण जाण पमादो हु मोह मुच्छा वा ।। ८० ।।

५. ध्यायते येन तद्ध्यानं यो ध्यायति स एव वा ।
यत्र वा ध्यायते यद्वा ध्यातिर्वा ध्यानमिष्यते ।। तत्वानुशासन, ६७

६. यावद्विकल्पः कश्चिदपि जायते योगिनो ध्यानयुक्तस्य ।
तावन्न शून्यं ध्यानं, चिन्ता वा भावनाथवा ।। आचारसार, ८३

७. अविक्षिप्तं यदा चेतः स्वतत्वाभिमुखं भवेत् ।
मनस्तदैव निर्विघ्ना ध्यानसिद्धिरुदाहृता ।। ज्ञानार्णव, १९

इस यथोक्त विधि के द्वारा शुद्धात्मा को ध्रुव जानता है उसे उसी में प्रवृत्ति के द्वारा शुद्धात्मत्व होता है। इसलिए अनंतशक्ति वाले चिन्मात्र परम आत्मा का एकाग्र संचेतन लक्षण ध्यान होता है।१।

निश्चय से ध्यान—विशुद्ध आत्मस्वरूप में ही निमग्न रहना निश्चय से ध्यान है। पंचास्तिकाय तत्वानुशासन एवं अनगार-धर्मामृत में कहा है—

जिसके मोह और रागद्वेष नहीं है तथा जिसके मन-वचन काय रूप योगों के प्रति उपेक्षा है, उसके शुभाशुभ को जलाने वाली ध्यानमय अग्नि प्रगट होती है।२।

क्योंकि आत्मा अपने आत्मा को, अपने आत्मा में, अपने आत्मा के द्वारा, अपने आत्मा के लिए अपने आत्म हेतु से ध्याता है। इसलिए कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ऐसे षट्-कारक रूप परिणत आत्मा ही निश्चय की दृष्टि से ध्यान स्वरूप है।३।

इष्टानिष्ट बुद्धि के मूल, मोह का छेद हो जाने से चित्त स्थिर हो जाता है। चित्त की स्थिरता ध्यान है। ध्यान से रत्नत्रय पूर्ण होता है, उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है एवं मोक्ष में शाश्वत, अक्षय अनन्त सुख होता है।४

व्यवहार से ध्यान—भेद या आश्रय को व्यवहार कहते हैं। अतः अखण्ड आत्मतत्व का गुण-पर्याय आदि की अपेक्षा भेद करके ध्यान करना व्यवहार ध्यान है। आश्रय की अपेक्षा से, देव-शास्त्र-गुरु, परमेष्ठी के गुण चिन्तवन के द्वारा ध्यान करना या अन्य धारणादि के माध्यम से, पर वस्तु के अवलम्बन से ध्यान करना यह सभी व्यवहार ध्यान है। इसे धर्म ध्यान भी कहते हैं।५।

पराश्रित ध्यान को व्यवहार नय से ध्यान कहते हैं अर्थात् धर्म ध्यान सामान्य एवं उसके आज्ञा, अपाय, विपाक, संस्थानविचय आदि सभी व्यवहार नय से ध्यान हैं।

---

१. अमुना यथोदितेन विधिना शुद्धात्मानं ध्रुवमधिगच्छतस्तस्मिन्नेव प्रवृत्तेः शुद्धात्मत्वं स्यात्
तततोऽनन्तशक्ति-चिन्मात्रस्य परम स्यात्मनः एकाग्रसंचेतन लक्षणं ध्यानं स्यात्। प्रवचनसार, १९४
२. जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोग परिकम्मो।
तस्स सुहासुहडहणो झाणमओ जायए अगणी॥ पञ्चास्तिकाय, १४६
३. स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यतः।
षट्कारकमयस्तस्माद् ध्यानमात्मैव निश्चयात्॥ तत्वानुशासन, ७४
४. इष्टानिष्टार्थ मोहादिच्छेदाच्चेतः स्थिरं ततः।
ध्यानं रत्नत्रयं तस्मात्मोक्षस्ततः सुखम्॥ अनगार धर्मामृत, ११४
५. व्यवहार नयादेवं ध्यानमुक्तं पराश्रयम्॥ तत्वानुशासन, १४१

द्रव्यसंग्रह में कहा है कि निश्चय ध्यान का परम्परा से कारण-भूत शुभोपयोग लक्षण व्यवहार ध्यान है ।१।

द्रव्यार्थिक नय से ध्यान—चिन्तवन करने योग्य पदार्थों का अवलम्बन लेकर जो ध्यान होता है, वह ध्यान करने वाले व्यक्ति से कोई भिन्न पदार्थ नहीं है । वह ध्यान करने वाले के दृष्टिकोण से ध्याता ही ध्यान कहा जाता है ।२।

आधार आधेय की अपेक्षा ध्यान—निश्चय नय का आश्रय करने वाले पुरुष पुंगव ध्येय को ध्याता में चितते हैं इसलिए कर्म (ध्येय पदार्थ-जिसका आश्रय ले ध्यान किया जाता है) व अधिकरण (जिसमें चिन्तवन किया जाता है) ये दोनों कहे जाते हैं ।३।

जिस प्रकार कोई पुरुष नसैनी (सीढ़ी) आदि के आलम्बन से विषम भूमि पर भी आरोहण करता है, उसी प्रकार ध्याता भी सूत्र आदि के आलम्बन से उत्तम ध्यान को प्राप्त होता है ।४।

आत्मा के स्वरूप को यथार्थ जानकर, अपने में जोड़ता हुआ भी अविद्या की वासना से विवश है आत्मा जिनका, उनका चित्त स्थिरता धारण नहीं करता है ।५।

अब लक्ष्य के सम्बंध से अलक्ष्य को अर्थात् इन्द्रियगोचर के सम्बंध से इन्द्रियातीत पदार्थों को तथा स्थूल के आलम्बन से सूक्ष्म को चिन्तवन करता है । इस प्रकार सालम्ब ध्यान में निरालम्ब के साथ तन्मय हो जाता है ।६

जो वास्तव में व्यवहारिक धर्मध्यान में तन्मय रहता है वह चरण करण प्रधान है, किन्तु वह निरपेक्ष तपोधन साक्षात् मोक्ष के कारणभूत स्वात्माश्रित आवश्यक कर्म को, निश्चय से परमात्म तत्व में विश्रान्ति रूप निश्चय धर्मध्यान को तथा शुक्लध्यान को नहीं जानता, इसलिए परद्रव्य में परिणत होने से उसे अन्यवश कहा गया है ।७

---

१. निश्चय ध्यानस्य परम्परया कारणभूतं यच्छुभोपयोग लक्षणं तद् व्यवहार ध्यानम् । द्रव्यसग्रह टीका, ५३

२. ध्येयार्थलम्बनं ध्यानं ध्यातुर्यस्मान्न भिद्यते । द्रव्यार्थिक नयात्तस्माद ध्यातैव ध्यानमुच्यते ॥ ७० ॥

३. ध्यातरि ध्यायते ध्येयं यस्मान्निश्चयमाश्रितैः ।
तस्मादिदमपि ध्यानं कर्माधिकरणद्वयम् ॥ ७१ ॥

४. विसमं हि समारोहइ दव्वालंबणो जहा पुरिसो ।
सुत्तादिकयालंबो तहझाण वरं समारुहइ ॥ २२ ॥

५. अविद्या वासनावेश विशेषविवशात्मनाम् ।
योज्यमानमपि स्वस्मिन् न चेतः कुरुते स्थितिम् ॥ ज्ञानार्णव, ३३

६. अलक्ष्यं लक्ष्यसंबन्धात् स्थूलात्सूक्ष्मं विचिन्तयेत् ।
सालम्बाच्च निरालम्बं तत्त्ववित्तत्व मञ्जसा ॥ ज्ञानार्णव, ४

७. यः खलु ....व्यावहारिक धर्मध्यान परिणतः अतएव चरण करणप्रधानः,....किन्तु सः निरपेक्ष तपोधनः साक्षान्मोक्षकारणं स्वात्माश्रयावश्यक कर्म निश्चयतः परमतत्व विश्रान्तरूपं निश्चय धर्मध्यानं शुक्लध्यानं च न जानीते अतः पर द्रव्यगतत्वादन्य वशइत्युक्तः ।

ध्यान के भेद—अभेददृष्टि से शुद्धोपयोग ही ध्यान है । भेद दृष्टि से दृष्टिपात करने पर ध्यान के अनेक भेद परिलक्षित होते हैं । शुभ और अशुभ की अपेक्षा दो भेद हैं तथा शुभ, अशुभ एवं शुद्ध की अपेक्षा तीन भेदों में भी ध्यान को विभाजित किया गया है। आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान एवं शुक्ल-ध्यान के भेद से ध्यान के चार भेद हैं । इन चारों भेदों में से प्रारम्भ के दो भेद अप्रशस्त, दुखद, एवं संसारवर्धक हैं । 'परे मोक्ष हेतु' कह आ० उमास्वामी ने धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान को मोक्ष सुख का कारण बताया है । यथार्थ में धर्मध्यान परम्परया मोक्ष का कारण है । और शुक्लध्यान साक्षात् मोक्षमहल की मंजिल तक पहुंचाने का हेतु है । ध्यान के और भी अनेकों भेद प्रतिभेद हैं जिनकी विवेचना यथास्थान की जायेगी ।

अशुभ ध्यान—मुक्ति श्री का वरण करने का जिन्होंने लक्ष्य बना लिया है, ऐसे मुनिराज अशुभ ध्यान से सर्वथा विमुख रहते हैं । दुर्ध्यान के निमित्त स्वप्न में भी नहीं मिलाते । प्राकृतिक रूप से मोह वर्धक निमित्तों के मिलने पर भी अशुभ ध्यान में प्रवृत्ति नहीं करते ।

अशुभ ध्यान की विवेचना करते हुये कुन्द-कुन्द स्वामी व शुभचन्द्र स्वामी ने निम्न प्रकार कहा है—

पुत्र शिष्यादिक के लिए, हाथी घोड़े के लिए, आदर पूजन के लिए, भोजन पान के लिए, खुदी हुई पर्वत की जगह के लिए, शयन–आसन भक्त पान के लिए, मैथुन की इच्छा के लिए, आज्ञा, निर्देश, प्रामाणिकता, कीर्ति, भावना और गुण विस्तार के लिए इन सभी अभिप्रायों के लिए यदि कार्योत्सर्ग करे तो मन का वह संकल्प अशुभ ध्यान है ।१

ग्रन्थ सन्दर्भ—जीवों के पाप रूप आशय के वश से तथा मोह मिथ्यात्व कषाय और तत्वों के अयथार्थ रूप विभ्रम से उत्पन्न हुआ ध्यान अप्रशस्त व असमीचीन है ।२

ध्यान तप की विवेचना में दुर्ध्यान अर्थात् आर्तध्यान, रौद्रध्यान का कोई स्थान नहीं है । क्योंकि शुभ अर्थात् धर्मध्यान से ही ध्यान तप का शुभारंभ होता है फिर भी ध्यान तप के प्रेमी भव्यात्माओं को मोक्षमार्ग में बाधक, कुत्सित, संसारवर्धक दुर्ध्यानों का स्वरूप समझ लेना चाहिए । कहा भी है—

,बिन जाने तैं दोष गुनन को, कैसे तजिये गहिये।,

---

१. परिवारइड्ढिसक्कारपूयणं असणपाणहेऊ वा ।
लयण सयणासणं भत्तपाण कामट्ठहेऊ वा ॥
आणाणिद्देसपमाण कित्तिवण्णणपहावण गुणट्ठं ।
झाणमिणमपसत्थं मणसंकप्पो दु विसिट्ठो ॥ मूलाचार, ६८१—६८२

२. पापाशयवशान्मोहान्मिथ्यात्वाद्वस्तु विभ्रमात् ।
कषायाज्जायतेऽजस्रमसद्ध्यानं शरीरिणाम् ।२०।

जब तक गुण दोषों का, यथार्थ–अयथार्थ का, साधक-बाधक का, हेय-उपादेय का ज्ञान नहीं होगा तब तक लक्ष्य की प्राप्ति संभव नहीं है।

अतः धर्मध्यान से पूर्व आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान किसे कहते हैं, ये किन निमित्तों से होते हैं और इनका क्या फल है ? यह समझ लेना आवश्यक है—

आर्त्तध्यान का स्वरूप—दुख या पीड़ा के निमित्त से होने वाले कलुषित परिणामों को आर्त्तध्यान कहते हैं। ध्यान शब्द पारमार्थिक योग व समाधि के अर्थ में प्रयुक्त होता है, परन्तु वास्तव में किन्हीं शुभ व अशुभ परिणामों की एकाग्रता का हो जाना ही ध्यान है। संसारी जीवों के चौबीस घंटे कलुषित परिणाम रहते हैं। कुछ इष्ट वियोग जनित कुछ अनिष्ट संयोग जनित, कुछ वेदना जनित और कुछ आगामी भोगों की तृष्णा जनित, इत्यादि सभी प्रकार के परिणाम आर्त्तध्यान कहलाते हैं।

आर्त्तशब्द की निरुक्ति करते हुए सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक एवं भगवती आराधना आदि ग्रंथों में कहा है—

आर्त शब्द 'ऋत्' अथवा 'अर्ति' इनमें से किसी एक से बना है। इनमें से ऋत् का अर्थ दुख है और अर्ति का 'अर्दनंअर्तिः' ऐसी निरुक्ति होकर उसका अर्थ पीड़ा पहुंचाना है। इसमें (ऋत् में या अर्तिमें जो होता वह आर्त्त अथवा आर्त्तध्यान है।१

आर्त्तध्यान का लक्षण—परिग्रह में अत्यंत आसक्त होना, कुशीलरूप प्रवृत्ति करना, कृपणता करना, ब्याज-लेकर आजीविका करना, अत्यंत लोभ करना, भय करना, उद्वेग करना और अतिशय शोक करना ये आर्त्तध्यान के बाह्य चिन्ह हैं। इसी प्रकार शरीर का क्षीण हो जाना, शरीर की कांति नष्ट हो जाना, हाथों पर कपोल रखकर पश्चाताप करना, आंसू डालना तथा इसी प्रकार और भी अनेक कार्य आर्त्तध्यान के बाह्य चिन्ह कहलाते हैं।२

,ऋत्, अर्थात् दुख का होना सो आर्त्तध्यान है। यह ध्यान अप्रशस्त है। किसी प्राणी के दिग्भ्रम से हुई उन्मत्तता के समान है। यह ध्यान अविद्या अर्थात् मिथ्याज्ञान की वासना के वश से उत्पन्न होता है।३

सामान्य लोग जिसे देख सकें, वह बाह्य आर्त्तध्यान है एवं जिस वेदना का मात्र स्वयं में ही अनुभव किया जाता है वह अन्तरंग आर्त्तध्यान है।

---

१. ऋतं दुखं अर्दनमर्तिव तत्र भवमार्तम्। सर्वार्थ सिद्धि ६।२८।४४५।

२. मूर्च्छा कौशील्यकैनाश्य कौसीद्यान्यति गृध्नुता। भयोद्वेगानु शोकाश्च लिङ्गान्यार्ते स्मृतानि वै ॥ ४ ॥
बाह्यं च लिङ्गमार्तस्यगात्र ग्लानिर्विवर्णता हस्तन्यस्तकपोलत्वं साश्रुतान्यच्च तादृशम्। महापुराण २१।४०।४१।

३. ऋते भवमथार्तं स्यादसद्ध्यानं शरीरिणाम्।
दिग्मोहो मत्ततातुल्यमविद्या वासनाबलात् ॥ ज्ञानार्णव २५–२३।

आर्त्तध्यान के भेद—आर्त्तध्यान के भेद करते हुये द्रव्य संग्रह की टीका में कहा है, बाह्य एवं अन्तरंग आर्त्तध्यान में से अन्तरंग के चार भेद हैं—

इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग, पीड़ाचिन्तवन एवं निदान बंध ।१ ध्यानप्रधान ज्ञानार्णव ग्रंथ में आचार्य शुभचन्द्र स्वामी ने लिखा है—अनिष्ट के संयोग से जीवों के जो ध्यान होता है, वह पहला आर्त्तध्यान है । इष्ट पदार्थों के वियोग से होने वाला द्वितीय आर्त्तध्यान है। रोग प्रकोप की वेदना से होने वाले ध्यान को तृतीय आर्त्तध्यान कहते हैं एवं निदान अर्थात् आगामी काल के भोगों की वांछा से जो ध्यान होता है उसे चतुर्थ आर्त्तध्यान कहते हैं।

आर्त्तध्यान के इन चारों भेदों और उनसे होने वाले फल के संबंध में यहां विवेचना की जा रही है—

१ अनिष्ट संयोगज आर्त्तध्यान—इन्द्रिय और मन को अनिष्ट, दुखद, विपरीत, अप्रिय पदार्थों के मिलने पर उनसे पृथक करने की, उनसे बचने की भावना रूप जो संक्लेश परिणामों में तन्मयता होती है । उसे अनिष्ट संयोगज आर्त्तध्यान कहते हैं । यह अनिष्ट संयोगज आर्त्तध्यान प्रथमगुणस्थान से छटवें गुणस्थान पर्यन्त होता है। एकदेश एवं सकल संयमी यतिवरों के भी रत्नत्रय (मोक्षमार्ग) में बाधक कारण उपस्थित होने पर भी यह आर्त्तध्यान सम्भव है परन्तु उनके यह मन्द एवं मन्दतर रूप से ही हो सकता है अतः सद्गति में बाधक नहीं है । इसकी विवेचना ज्ञानार्णव, सर्वार्थसिद्धि, तत्वार्थसूत्र एवं नियमसार में निम्न प्रकार प्रतिपादित है—

इस जगत में अपना स्वजन, धन, शरीर इसके नाश करने वाले अग्नि, जल, विष, सर्प, शस्त्र, सिंह, दैत्य तथा स्थल के जीव, जल के जीव, बिल के जीव एवं दुष्ट जन, बैरी, राजा इत्यादि अनिष्ट पदार्थ हैं । इनके सहयोग से होने यह पहला आर्त्तध्यान है।

चर और स्थिर अनेक अनिष्ट पदार्थों के संयोग होने पर जो मन क्लेश रुप होता है । उसको आर्त्तध्यान कहा है ।

जो सुने, देखे, स्मरण में आये जाने हुए तथा निकट प्राप्त हुए अनिष्ट पदार्थों से मन को क्लेश होता है । उसे पहला आर्त्तध्यान कहते हैं । जो समस्त प्रकार के पदार्थों के संयोग होने पर उनके वियोग होने पर बारम्बार चिन्तन हो उसे भी तत्व के जानने वालों ने पहला अनिष्ट संयोगज नामा आर्त्तध्यान कहा है । २

---

१. ऋतं दुखम् अर्दनमर्तिवा, तत्र भवमार्तम् । सर्वार्थ सिद्धि । ६ । २८ ।

२. ज्वलनवन विषास्त्र व्यालशार्दूलदैत्यैः स्थलजल बिलसत्वैर्दुर्जनारातिभूपैः ।
स्वजनधनशरीरध्वंसिभिस्तैरनिष्टैर्भवति, यदिह योगादाद्यमार्त्तं तदेतत् तथा, चरस्थिरभावैरनेकैः समुपस्थितैः ।
अनिष्टैर्यन्मनः क्लिष्टं स्यादार्त्तं तत्प्रकीर्तितम् ॥
श्रुतैर्दृष्टैः स्मृतैर्ज्ञातैः प्रत्यासत्तिं च संश्रितैः ।
योऽनिष्टार्थैर्मनः क्लेशः पूर्वमार्तं तदिष्यते ॥
अशेषानिष्ट संयोगे तद्वियोगानुचिन्तनम् ।
यत्स्यात्तदपि तत्वज्ञैः पूर्वमार्त्तं प्रकीर्तितम् ॥ २५–२७ ज्ञानार्णव,

विष, कण्टक, शत्रु और शस्त्र आदि जो अप्रिय पदार्थ हैं व बाधा के कारण होने से अमनोज्ञ कहे जाते हैं। उनका संयोग होने पर यह मुझसे कैसे दूर हों, इस प्रकार का संकल्प चिंता प्रबन्ध अर्थात् स्मृति समन्वाहार यह प्रथम आर्तध्यान कहलाता है।१

दुखों (शारीरिक व मानसिक) के कारण उत्पन्न होने से उनके विनाश के संकल्प का बार-२ चिंतवन करना आर्त्तध्यान है।२

अमनोज्ञ पदार्थ के प्राप्त होने पर उसके वियोग के लिए चित्त संताप का होना प्रथम आर्त्तध्यान है।३

दुखकारी विषयों का संयोग होने पर 'यह कैसे दूर हो, इस प्रकार विचारता हुआ जो विक्षिप्त चित्त हो जाता है उसके यह आर्त्तध्यान होता है।४

२ इष्ट वियोगज आर्त्तध्यान—अज्ञान या मोह के कारण मन और इन्द्रियों को रुचिकर, इष्ट, हितैषी प्रतीत होने वाले पदार्थों के छूट जाने पर विनष्ट हो जाने पर या अपहरण कर लेने पर जो चिन्ता या खेद होता है उसे इष्ट वियोगज आर्त्तध्यान कहते हैं। इसकी विवेचना अनेक ग्रंथकारों ने की है—

जो राज्य, ऐश्वर्य, स्त्री, कुटुम्ब, मित्र, सौभाग्य, भोगादि के नाश होने पर तथा चित्त को प्रीति उत्पन्न करने वाले सुन्दर स्त्रियों के विषयों का प्रध्वंस होने पर सन्त्रास, पीड़ा, भ्रम, शोक, मोह के कारण निरंतर खेद रूप होना सो जीवों के इष्ट वियोग जनित आर्त्तध्यान है। और यह ध्यान पाप का स्थान है।५

देखे, सुने, अनुभव किये, मन को रंजायमान करने वाले पूर्वोक्त पदार्थों का वियोग होने से जो मन में खेद हो वह भी दूसरा आर्त्तध्यान है।६

अपने मन की प्यारी वस्तु के, इष्ट वियोग या विध्वंस होने पर पुनः उसकी प्राप्ति के लिए क्लेश रूप होना आर्त्तध्यान का लक्षण है।७

---

१. अमनोज्ञमप्रियं विषकंटक शत्रुशस्त्रादि, तद्बाधाकारणत्वाद अमनोज्ञम इत्युच्यते।
तस्य सम्प्रयोगे स कथं नाम मे न स्यादिति संकल्पश्चिन्ता प्रबन्धः स्मृतिसमन्वाहारः प्रथममार्तमित्याख्यायते। सर्वार्थ सिद्धि, ९—३०

२. अनिष्टसंयोगाद्वा समुपजातमार्त्तध्यानं। नियमसार, तत्वार्थवृत्ति, ८९

३. आर्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृति समन्वाहारः॥ तत्वार्थ सूत्र, ९—३०

४. एतद्दुःखसाधनसद्भावे तस्य विनाशकांक्षोत्पन्न विनाश संकल्पा—ध्यवसानं द्वितीयमार्तम्। चारित्रसार १६८—५

५. राज्यैश्वर्यकलत्रबान्धवसुहृत सौभाग्य भोगात्यये चित्तप्रीतिकर प्रसन्नविषय प्रध्वंसभावेऽथवा।
संत्रासभ्रम शोकमोहविवशैर्यत्खिद्यतेऽहर्निशं तत्स्यादिष्टवियोगजं तनुमतां ध्यानं कलङ्कास्पदम्। ज्ञानार्णव, २५—२९

६. दृष्टश्रुतानुभूतैस्तैः पदार्थैश्चित्तरञ्जकैः।
वियोगे यन्मनः खिन्नं स्यादार्तं तद्द्वितीयकम्॥

७. मनोज्ञ वस्तु विध्वंसे मनस्तत्सङ्गमार्थिभिः।
क्लिश्यते यत्तदेतस्याद्द्वितीयार्तस्य लक्षणम् ज्ञानार्णव, ३०—३१

धन, धान्य, चांदी, सुवर्ण, सवारी, शय्या, आसन, माला, चंदन और स्त्री आदि सुखों के साधन को मनोज्ञ कहते हैं । ये मनोज्ञ पदार्थ मेरे हों, इस प्रकार चिंतवन करना, मनोज्ञ पदार्थ के वियोग पर उनके संयोग होने का बार-२ चिंतन करना आर्त्त ध्यान है ।१

मनोहर विषय का वियोग होने पर ,कैसे इसे प्राप्त करूं, इस प्रकार विचारता हुआ जो दुखी होता है वह भी आर्त्तध्यान है ।२

मनोज्ञ अर्थात् अपने इष्ट पुत्र, स्त्री और धनादिक के वियोग होने पर उसकी प्राप्ति के लिए संकल्प अर्थात् निरंतर चिंता करना दूसरा आर्त्तध्यान है ।३

मनोज्ञ वस्तु के वियोग होने पर उसकी प्राप्ति की सतत चिंता करना दूसरा आर्त्तध्यान है ।४,

स्वदेश के त्याग से, द्रव्य के नाश से, मित्रजन के विदेश गमन से, कमनीय कामिनी के वियोग से उत्पन्न होने वाला इष्ट वियोगज आर्त्तध्यान है ।५

(३) **पीड़ा चिन्तवन आर्त्तध्यान**:-शरीर में वेदना होने पर या उदर, मस्तिष्क, हाथ-पैर आदि किसी भी अांगोपांग में किसी विशेष व्याधि के होने पर उनसे बचने के लिए जो संक्लेश परिणाम होते हैं उसे पीड़ा चिन्तवन आर्त्तध्यान कहते हैं ।

वात-पित्त-कफ के प्रकोप से उत्पन्न हुए शरीर के नाश करने वाले वीर्य से प्रबल और क्षण-क्षण में उत्पन्न होने वाले कास, श्वास, भगन्दर, जलोदर, जरा, कोढ़, अतिसार, ज्वरादिक रोगों से मनुष्यों के जो व्याकुलता होती है उसे महा पुरुषों ने रोग पीड़ा चिन्तवन नाम का आर्त्तध्यान कहा है ।६

यह ध्यान दुर्निवार और दुखों का आधार है जो कि आगामी काल में पापबंध का कारण है ।

---

१. मनोज्ञं नाम धनधान्य हिरण्य सुवर्णवस्तु वाहन शयनासनस्रक् चन्दन वनितादि सुख साधनं मे स्यादिति गर्द्धनं । मनोज्ञस्य विप्रयोगस्य उत्पत्तिसंकल्पाध्यवसानं तृतीयार्त्तम् । चारित्रसार । १६६ । १

२. मणहर-विसय विओगे-कह तं पावेमि इदि वियप्पो जो ।
संतावेण पयट्टो सोच्चिय अट्टं हवे झाणं ॥ कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४७४ ॥

३. मनोज्ञस्येष्टस्य स्वपुत्रदारधनादेर्विप्रयोगे तत्संप्रयोगाय संकल्पश्चिन्ताप्रबंधो द्वितीयमार्त्तमवगन्तव्यम् ।
सर्वार्थ सिद्धि, ६ । ३१ । ४४७ । १ ।

४. विपरीतं मनोज्ञस्य । तत्वार्थसूत्र, ३१

५. स्वदेशत्यागद् द्रव्यनाशाद् मित्रजन विदेशगमनात् कमनीयकामनीवियोगात्-समुपजातमार्त्तं ध्यानम् ।
नियमसार, तात्पर्यवृत्ति, ८६ ।

६. [illegible] ज्वरैः ।
पित्त [illegible] रोगैः शरीरान्त कैः ।
[illegible] नृणां ।
[illegible] दुःखाकरम् ॥ ज्ञानार्णव, २५-३२

जीवों के ऐसी चिन्ता हो कि मेरे किंचित् रोग की उत्पत्ति स्वप्न में भी न हो ऐसा चिंतवन तीसरा आर्तध्यान है ।१

वेदना के होने पर (अर्थात् वातादि विकार जनित शारीरिक वेदना के होने पर) उसे दूर करने की सतत चिंता करना तीसरा आर्तध्यान है ।२

(४) **निदान जन्य आर्तध्यान**—आगामी भोगाकांक्षा की भावना से जो कुछ भी चिन्तवन किया जाता है वह निदान जन्य आर्तध्यान कहलाता है। इस निदान को आचार्यों ने तीन भेदों में विभाजित किया है। प्रशस्त, अप्रशस्त और भोगकृत । इनमें से अप्रशस्त और भोगकृत मिथ्यादृष्टि के होते हैं । प्रशस्त निदान सम्यग्दृष्टि एवं देशव्रती श्रावकों के भी होता है । मुनिराज निदान जन्य आर्तध्यान से सर्वथा विमुक्त रहते हैं । इस निदान जन्य आर्तध्यान की विवेचना अनेक आचार्यों ने निम्न प्रकार की है—

अप्रशस्त निदान—अभिमान के वश होकर उत्तम मातृवंश, उत्तम पितृवंश की अभिलाषा करना, आचार्यपदवी, गणधरपद, तीर्थंकर पद, सौभाग्य, आज्ञा और सुन्दरपना इनकी प्रार्थना करना या इन पदों पर प्रतिष्ठित होने की भावना करना अप्रशस्त निदान है । क्योंकि मानकषाय से दूषित होकर उपर्युक्त अवस्था की अभिलाषा की जाती है ।३

क्रुद्ध होकर मरणसमय में शत्रुवधादिक की इच्छा करना यह भी अप्रशस्त निदान है ।

भोगकृत निदान—स्त्री, धनिक, श्रेष्ठिपद सार्थवाह, केशवपद, चक्रवर्ती पद आदि में भोगों के लिए अभिलाषा करना यह भोग निदान है ।४

प्रशस्त निदान—पौरुष, शारीरिकबल, वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला दृढ़ परिणाम, वज्रवृषभनाराचादिक संहनन ये सब संयमसाधक सामग्री मेरे को प्राप्त हों ऐसी मन की एकाग्रता होती है उसको प्रशस्त निदान कहते हैं ।५

तथा उत्तम श्रावक बंधुओं के कुल में उत्पन्न होने की भावना करना भी प्रशस्त निदान है ।६

---

१. स्वल्पानामपि रोगाणां माभूत्स्वप्नेऽपि संभवः ।
 ममेति या नृणां चिन्ता स्यादार्तं तत्तृतीयकम् ।। ज्ञानार्णव, २५ । ३३

२. वेदनायाश्च । तत्त्वार्थसूत्र, ९—३२

३. माणेण जाइकुलरूवमादि आइरियगणधरजिणत्तं । सोभग्गाणादेयं पत्थंतो अप्पसत्थं तु ।।

४. कुद्धो वि अप्पसत्थं मरणे पत्थेइ परवधादीयं । जह उग्गसेणघादे कदं णिदाणं वसिट्ठेण ।।

५. देविगमणिसभोगे णारिस्सरसेट्ठिसत्थवाहत्तं । केसवचक्कधरत्तं पच्छंते होदि भोगकदं ।।
 —भगवती आराधना, १२११, १२१२,१२१३

६. संजमहेदुं पुरिसत्तसत्तबलविरियसंघदण बुद्धी । सावयबंधुकुलादीणि णिदाणं होदि हु पसत्थं ।।
 —भगवती आराधना १२१६

आर्त्तध्यान के चार भेदों में से अनिष्टसंयोग, इष्ट वियोग एवं पीड़ा चिन्तवन इनका अस्तित्व सामान्य मुनिराजों के भी अवस्थित रहता है, परन्तु निदान बंध आर्त्तध्यान का अस्तित्व मात्र पञ्चम गुण-स्थानवर्ती श्रावकों की भूमिका तक ही पाया जाता है।१

यह आर्त्तध्यान संसारी जीवों के संसार शरीर भोगों में आसक्ति के कारण सहज रूप में ही होता है। इसके लिए किसी भी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

आर्त्तध्यान के बाह्य चिन्ह—इस आर्त्तध्यान के आश्रित चित्तवाले पुरुषों के बाह्य चिन्ह शास्त्रों के पारगामी विद्वानों ने इस प्रकार कहे हैं कि प्रथम तो शंका होती है अर्थात् हर बात में संदेह होता है। फिर शोक होता है, भय होता है, प्रमाद होता है, सावधानी नहीं होती, कलह करता, चित्त भ्रम हो जाता है, उद् भ्रान्ति हो जाती है, चित्त एक जगह नहीं ठहरता, विषय सेवन में उत्कंठा रहती है, निरन्तर निद्रागमन होता है, अंङ्ग में जड़ता होती है, खेद होता है मूर्च्छा होती है; इत्यादि चिन्ह आर्त्तध्यानी के प्रकट होते हैं।२

आर्त्तध्यान का फल—आर्त्तध्यान आरम्भ से अन्तपर्यन्त दुखमय ही है। आर्त्तध्यानी प्राणी को क्षणभर के लिए भी शांति नहीं आती। जैसे बबूल का बीज बोने पर आम नहीं, कांटे ही हाथ लगते हैं, ठीक इसी प्रकार इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, पीड़ा चिन्तवन, निदान जन्य, परकल्पना एवं चिन्ता से सर्वत्र दुखमय कांटों की चुभन का ही अनुभव करना पड़ता है अर्थात् आर्त्तध्यान इस लोक में संक्लेश का कारण है और परलोक में भी अनंतदुखों के साथ तिर्यंच गति की ओर ले जाने वाला है। राजवार्तिक एवं ज्ञानार्णव में आर्त्तध्यान का फल बताते हुये इसी बात की सिद्धि की है।

इस आर्त्तध्यान का फल तिर्यंचगति है।३

आर्त्तध्यान का फल अनन्त दुखों से व्याप्त तिर्यंचगति है।४

रौद्रध्यान—संसारवर्धक कार्यों में आनंद मानना अर्थात् हिंसा करके मन ही मन प्रमुदित होना, झूठ बोलकर या किसी को वाग्जाल में गुमराह कर आनंद मानना, किसी की रखी पड़ी पर वस्तु को अपनाकर हर्षित होना एवं धन-धान्य, स्त्री-पुत्र, चेतन-अचेतन वैभव का संग्रह कर अपने आप को महान मानना यह चारों विकल्प रौद्रध्यान के हैं। इस रौद्रध्यान की व्युत्पत्ति आचार्यों ने निम्न प्रकार कही है—

---

१. संयतासंयतेष्वेतच्चतुर्भेदं प्रजायते। प्रमत्तसंयतानां तु निदानरहितं त्रिधा॥ —ज्ञानार्णव, २५–३६

२. शंका शोकभयप्रमाद कलहश्चित्तभ्रमोद्भ्रान्तयः
उन्मादो विषयोत्सुकत्वमसकृन्निद्राङ्गजाड्यश्रमाः।
मूर्च्छादीनि शरीरिणामविरतं लिङ्गानि बाह्यान्यल–
मार्त्ताधिष्ठित चेतसो श्रुतधरै र्व्यावर्णितानि स्फुटम्॥४१॥ —ज्ञानार्णव २५, ४१

३. तिर्यग्भवगमनं फलम्। राजवार्तिक, ९।३३।१।६२९

४. अनन्त दुःखसंकीर्णमस्य तिर्यग्गतेः फलम्। ज्ञानार्णव २५।४२

रुद्र के कर्म को रौद्र कहते हैं। रोदयति अर्थात् क्रूर परिणाम से उत्पन्न होने वाला भाव रौद्र ध्यान कहलाता है।१

रुद्र का अर्थ क्रूर है। क्रूर परिणामों से उत्पन्न होने वाले कर्म को रौद्र कहते हैं।२

जो पुरुष प्राणियों को रुलाता है वह रुद्र, क्रूर, अथवा सब जीवों में निर्दय कहलाता है। ऐसे पुरुष के जो ध्यान होता है उसे रौद्र ध्यान कहते हैं। यह ध्यान चार प्रकार का है।३

दूसरे के द्रव्य को लेने का अभिप्राय, झूठ बोलने में आनंद मानना, दूसरे को मारने का अभिप्राय, छहकाय के जीवों की विराधना अथवा असि-मसि आदि परिग्रह व आरम्भ के संग्रह करने में आनंद मानना इनमें मन को कषाय सहित करना; वह संक्षेप से रौद्रध्यान कहा गया है।४

चोर, जार, शत्रु जनों के वध बन्धन सम्बंधी महाद्वेष से उत्पन्न होने वाला जो ध्यान है, उसको रौद्र ध्यान कहते हैं।५

यह अत्यंत अनिष्टकारी है। हीनाधिक रूप से पंचम गुणस्थान तक ही होना संभव है, आगे नहीं।

रौद्रध्यान के भेद—हिंसा, असत्य, चोरी और परिग्रह संरक्षण में आनंद मानना रौद्रध्यान के चार भेद हैं—

(१) **हिंसानंदी**— प्रमाद एवं विषयलोलुपता के साथ क्रूर परिणामों से निरपराधी प्राणियों का विघातकर आनंदित होना इसी का नाम हिसानंदी रौद्र ध्यान है। इसकी विवेचना अनेक प्रकार से भी उपलब्ध है।

तीव्र कषाय के उदय से हिंसा में आनंद मानना। पहला रौद्रध्यान है।६

जीवों के समूह को अपने या अन्य के द्वारा मारे जाने पर, पीड़ित किये जाने पर तथा ध्वंस करने पर जो हर्ष माना जाय उसे हिसानन्दी नाम का रौद्रध्यान कहते हैं।७

बलि आदि देकर यश लाभ का चिन्तवन करना, जीवों को खण्ड-खण्ड करने व दग्ध करने आदि को देखकर खुश होना, युद्ध में हार-जीत सम्बन्धी भावना करना, वैरी से बदला लेने की भावना, परलोक में बदला लेने की भावना करना हिसानंदी रौद्रध्यान कहलाता है।८

---

१. रुद्रस्तत्कर्मरौद्रम्, रोदयति इति रुद्रः क्रूरः इत्यर्थः, तस्येद कर्म तत्र भव वा रौद्रमित्युच्यते।
२. रुद्रः क्रूराशयस्तस्य कर्म तत्र भव वा रौद्रम्। सर्वार्थसिद्धि, ९।२८
३ प्राणिनां रोदनाद् रुद्रः क्रूरः सत्त्वेषु निर्घृणः।
पुमांस्तत्र भवं रौद्रम् विद्धि ध्यान चतुर्विधम्॥ —महापुराण, २१-४२
४. तेणिक्कमोससारक्खणेसु तह चेव छव्विहारंभे।
रुद्दं कसायसहियं झाण भणियं समासेण॥ —भगवती आराधना, १७०३॥
५. चोरजारशात्रवजनवधबन्धनं सन्निबद्धमहद् द्वेषजनित रौद्रध्यान। —नियमसार, तात्पर्यवृत्ति, ८९
६. हिंसानृतस्तेय विषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रम्। —तत्त्वार्थसूत्र, ९—३५
७. तीव्रकषायानुरञ्जन हिंसानन्दं प्रथमरौद्रम्। चारित्र सार, १७०/२।
८. हते निष्पीडिते ध्वस्ते जन्तुजाते कदर्थिते।
स्वेन चान्येन यो हर्षस्तद्धिंसा रौद्रमुच्यते॥ —ज्ञानार्णव, २६-४॥

(२) **मृषानंदी रौद्रध्यान**—मोक्षमार्ग के प्रतिकूल किसी को नीचा दिखाने वाले छल कपट से युक्त वचन बोलकर, किसी भोले प्राणी को चकमा देकर आनंद मानना मृषानंदी रौद्रध्यान है। आचार्यों ने इसकी विवेचना निम्न प्रकार की है—

जिस पर दूसरों की श्रद्धा न हो सके ऐसी अपनी बुद्धि के द्वारा कल्पना की हुई युक्तियों के द्वारा दूसरों को ठगने के लिए झूठ बोलने के संकल्प का बार-२ चिन्तवन करना मृषानन्दी रौद्रध्यान है।१

जो मनुष्य असत्य कल्पनाओं के समूह से, पाप रूपी मैल से मलिन चित्त होकर चेष्टा करे, उसे निश्चय करके मृषानंदी नामा रौद्रध्यान कहा है।२

जो ठगाई के शास्त्र से दूसरों को आपदा में डालकर धन आदिसंचय करे, असत्य बोलकर अपने शत्रु को दण्ड दिलाये, वचनचातुर्य से मनवांछित प्रयोजनों की सिद्धि करे तथा व्यक्ति को ठगने की भावना रखना वह मृषानंदी रौद्रध्यान है।

(३) **चौर्यानन्दी रौद्रध्यान**—बिना पूछे, बिना दिये, छलकपट से अपहरण कर या किसी की सम्पत्ति पर डाका डालकर मन ही मन आनंदित होना इसी का नाम चौर्यानन्दी रौद्रध्यान है। अनेक ग्रंथों में भी इसकी विवेचना निम्न प्रकार प्रतिपादित की गई है।

किसी व्यक्ति के प्रमाद का अनुचित लाभ उठाकर या बलात् लाभ उठाकर दूसरों के धन को हरण करने के संकल्प का बार-२ चिन्तवन करना तीसरा रौद्रध्यान है।३

जीवों के चौर्यकर्म के लिए निरन्तर चिन्ता उत्पन्न हो तथा चौर्यकर्म करके भी निरन्तर अतुल हर्ष माने, आनन्दित हो, अन्य कोई चोरी के द्वारा परधन को हरे, उसमें हर्ष माने, उसे निपुण पुरुष कर्म से उत्पन्न हुआ चौर्यानंदी रौद्रध्यान कहते हैं।४

यह ध्यान अतिशय निन्दा का कारण है।

अमुक स्थान में बहुत-२ धन है जिसे मैं तुरन्त हरण करके ले जाने में समर्थ हूं, दूसरों के रत्नादि सम्पत्ति को अपने ही अधीन मानना क्योंकि मैं जब चाहूं उसको हरण करके जा सकता हूं, इत्यादि रूप चिन्तवन चौर्यानंदी रौद्रध्यान है।

---

१. स्वबुद्धि विकल्पितयुक्तिभिः परेषां अश्रद्धेयरूपाभिः परवञ्चनं प्रति मृषाकथने संकल्पाध्यवसानं मृषानन्दं द्वितीयं रौद्रम्। चारित्रसार १७०/२१

२. असत्यकल्पनाजालकश्मलीकृतमानसः।
चेष्टते यज्जनस्तद्धि मृषारौद्रं प्रकीर्तितम्॥ ज्ञानार्णव २६-१६॥

३. हठात्कारेण प्रमाद प्रतीक्षया वा परस्वापहरणं प्रति संकल्पाध्यवसानं तृतीय रौद्रकम्। -चारित्रसार, १७०/२

४. यच्चौर्याय शरीरिणामहरहश्चिन्ता समुत्पद्यते
कृत्वा चौर्यमपि प्रमोदमतुलं कुर्वन्ति यत्सन्ततम्।
चौर्येणापि हृते परैः परधने यज्जायते संभ्रम-
स्तच्चौर्यप्रभवं वदन्ति निपुणा रौद्रं सुनिन्द्यास्पदम्। ज्ञानार्णव, २६-२५।

(४) **परिग्रहानंदी रौद्रध्यान**—आवश्यकता से अधिक दस प्रकार का परिग्रह अन्याय एवं अनीति से एकत्रित कर प्रमुदित होना ही परिग्रहानंदी नामा रौद्रध्यान है । इसके सम्बंध में आचार्यों के विभिन्न विचार हैं—

चेतन-अचेतन रूप अपने परिग्रह में ,यह मेरा परिग्रह है, ,मैं इसका स्वामी हूं, इस प्रकार ममत्व रखकर उसके अपहरण करने वाले का नाशकरने और वस्तु की रक्षा करने के संकल्प का बार-बार चिन्तवन करना विषय संरक्षणानन्दी नाम का रौद्रध्यान है ।१

यह प्राणी रौद्र (क्रूर) चित्त होकर बहुत आरम्भ परिग्रह के रक्षार्थ संकल्प की परम्परा को विस्तारे तथा रौद्रचित्त होकर ही महत्ता का अवलम्बन करके उन्नतचित्त हो, ऐसा माने कि "मैं राजा हूं; ऐसे परिणाम को निर्मल बुद्धि वाले महापुरुष चौथा रौद्रध्यान कहते हैं ।२

मैं बाहुबल से, सैन्यबल से, सम्पूर्ण पुर ग्रामों को दग्ध करके असाध्य ऐश्वर्य को प्राप्त कर सकता हूं। मेरे धन पर दृष्टि रखने वालों को मैं क्षण भर में दग्ध कर दूंगा । मैंने यह राज्य शत्रु के मस्तिष्क पर पांव रखकर उसके दुर्ग में प्रवेश करके पाया है ।

इसके अतिरिक्त जल, अग्नि, सर्प, विषादि के प्रयोगों द्वारा भी मैं समस्त शत्रु समूह को नाश करके अपना प्रताप स्फुरायमान कर सकता हूँ। इस प्रकार चिन्तवन करना विषय संरक्षणानंद है ।३

रौद्रध्यान के बाह्य चिन्ह—क्रूर होना, हिंसा के उपकरण तलवार आदि को धारण करना, हिंसा की ही कथा करना और स्वभाव से ही हिंसक होना ये हिंसानंदी रौद्रध्यान के बाह्य चिन्ह माने गये है । कठोर वचन आदि बोलना द्वितीय रौद्रध्यान के चिन्ह है । स्तेयानंद और विषय संरक्षणानंद रौद्रध्यान के बाह्य चिन्ह संसार में प्रसिद्ध हैं । भौंह टेढ़ी हो जाना मुख का विकृत हो जाना, पसीना आने लगना, शरीर कांपने लगना और नेत्रों का अतिशय लाल हो जाना आदि रौद्रध्यान के बाह्य चिन्ह हैं ।४

---

१. चेतनाचेतनलक्षणो स्वपरिग्रहे ममेवेदं स्वमहमेवास्य स्वामीत्यभिनिवेशात्तदपहारकव्यापादनेन संरक्षणं प्रति संकल्पाध्यवसानं संरक्षणानन्दं चतुर्थं रौद्रम् । चारित्रसार, १७०।२

२. बह्वारम्भ परिग्रहेषु नियतं रक्षार्थमभ्युद्यते यत्संकल्पपरम्परा वितनुते प्राणीह रौद्राशय. ।
यच्चालम्ब्य महत्वमुन्नतमना राजेत्यह मन्यते, तत्तुर्यं प्रवदन्ति निर्मलधियो रौद्रं भवाशंसिनाम् ॥ ज्ञानार्णव, २६-२६

३. जलानलव्याल विषप्रयोगैं विश्वास भेद प्रणिधिप्रपञ्चैः ।
उत्साद्य निःशेषमरातिचक्रं स्फुरत्ययं मे प्रबलप्रतापः ॥ ज्ञानार्णव, २६–३४ ॥

४. प्रमानुबन्ध्यं हिंसोपकरणादानतत्कथः ।
निसर्गहिंस्रता चेति लिंगान्यस्य स्मृतानि वै ॥ ४६ ॥
वाक्पारुष्यादिलिङ्गं तद् द्वितीयं रौद्र मिष्यते । ५० ।
प्रतीत लिङ्गमेवैतद् रौद्रध्यान द्वय भुवि.... ॥ ५२ ॥
बाह्यन्तु लिङ्गमस्याहुः भ्रूभङ्गं मुखविक्रियाम् ।
प्रस्वेद मङ्गकंम्पं नेत्रयोश्चातिताम्रताम् ॥ ५३ —महापुराण, ३२, ४६, ५०, ५२, ५३, ॥

जो पुरुष निरन्तर निर्दय स्वभाव वाला हो, स्वभाव से ही क्रोध कषाय से प्रज्ज्वलित हो, मद से उद्धत हो, जिसकी बुद्धि पाप रूप कुशीला हो, व्यभिचारी हो, नास्तिक हो; वह रौद्रध्यान का घर है।१

जो अन्य का बुरा चाहे, पर को कष्ट आपदा रूप बाणों से भेदा हुआ दुखी देखकर संतुष्ट हो तथा गुणों से वृद्ध देखकर अथवा अन्य की सम्पदा देखकर द्वेष करता हो, अपने हृदय में शल्य से सहित हो यह निश्चय से रौद्रध्यान का चिन्ह है।

हिंसा के उपकरण शस्त्रादिक का संग्रह करना क्रूर जीवों पर अनुग्रह करना आदि रौद्रध्यान देहधारियों के बाह्य चिन्ह हैं।२

रौद्रध्यान के स्वामी और उसका फल—यह रौद्रध्यान अविरत और देशव्रती तक के होता है।३ रौद्रध्यान के प्रारम्भ में आह्लाद सा प्रतीत होता है, परन्तु फल अत्यंत भयंकर कष्टप्रद भोगना पड़ता है। जैसे मधु लपेटी तलवार चाटने पर क्षणिक मिठास की अनुभूति होती है और उसी समय जिव्हा के कट जाने पर जीवन भर बोलने के लिए लाचार हो जाता है। एक समय के रसास्वादन के फलस्वरूप जीवन भर रोना पड़ता है। ठीक इसी प्रकार रौद्रध्यानी व्यक्ति रौद्रध्यान के फलस्वरूप नरकादि कुत्सित गतियों में भयंकर दुःख उठाता है।

अनंतानुबंधी एवं मिथ्यात्व के साथ होने वाला दुर्ध्यान दुर्गति का कारण है, परन्तु परिस्थितिवश सम्यग्दृष्टि एवं संयमी पुरुषों के भी क्वचित्-कदाचित् दुर्ध्यान का प्रसंग पाया जाता है, परन्तु वह दुर्ध्यान उन्हें दुर्गति में ले जाने वाला नहीं होता क्योंकि, उनका श्रद्धान और ज्ञान लक्ष्य पर अडिग रहता है। जैसा कि पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में कहा है—'हिंसादि के आवेश से या वित्तादि के संरक्षण के कारण परतंत्र होने से कदाचित् उसके भी हो सकता है, किन्तु देशव्रती को होने वाला रौद्रध्यान नरकादि दुर्गतियों का कारण नहीं है क्योंकि सम्यग्दृष्टि की ऐसी ही सामर्थ्य है।४

शुभ ध्यान—उपयोग की अपेक्षा भूमिका में ध्यान के तीन भेद दर्शाये थे। जिनमें से सर्वथा हेय, मोक्ष मार्ग में बाधक, संसार वर्धक, अशुभ ध्यान की विवेचना के अनंतर उस शुभ ध्यान की विवेचना की जा रही है, जो परम्परा से संसारक्षय का हेतु है। विभाव से स्वभाव की ओर, संसार से मुक्ति की ओर, परत्व से निजत्व की ओर लाने में कारण है। इस शुभ ध्यान का ही भेद धर्म ध्यान है।

---

१. अनारतं निष्करुण स्वाभाव: स्वभावत क्रोधकषायदीप्त: ।
तःद्धोद्धत पापमतिः कुशील: स्यान्नास्तिको य: सहिरौद्रधामा ॥ ज्ञानार्णव, २६-५ ॥

२. अभिलषति नितान्तं यत्परस्यापकारं, व्यसन विशिखभिन्न वीक्ष्य यत्तोषमेति। यदिह गुणगरिष्ठं द्वेष्टि दृष्ट्वान्यभूतिं,
भवति हृदि सशल्यस्तद्धि रौद्रस्य लिंगं ॥
हिंसोपकरणादानं क्रूरसत्त्वेष्वनुग्रहम्। ज्ञानार्णव, २६-१३। १५
निस्त्रिंशतादिलिंगानि रौद्रे बाह्यानि देहिनः

३. रौद्रमविरत देशविरतयोः। तत्त्वार्थसूत्र, ९-३५।

४. अविरतस्य भवतु रौद्रध्यानं देश विरतस्यकथम्। तस्यापि हिंसाद्यावेशाद्वित्तादिसंरक्षणतन्त्रत्वाच्च कदाचित् भवितुं मर्हति। तत्पुनर्नारकादीनामकारणं, सम्यग्दर्शन सामर्थ्यात्। -सर्वार्थसिद्धि, ९-३५।

शुभ ध्यान—सम्यक् ध्यान के मूल में दो भेद, हैं शुभ और शुद्ध जिनमें देव-शास्त्र-गुरु, पंचपरमेष्ठी की भक्ति एवं वस्तु स्वरूप की आस्था के साथ आत्मस्वरूप में तन्मय होने का पुरुषार्थ करना शुभ व्यवहार ध्यान है। अनेक आचार्यों ने प्रशस्त ध्यान को इस प्रकार प्रतिपादित किया है—

पुण्यरूप आशय के वश से तथा शुद्ध लेश्या के अवलम्बन से और वस्तु के यथार्थ स्वरूप चिन्तवन से उत्पन्न हुआ ध्यान प्रशस्त कहलाता है।१

दर्शन-ज्ञान-चारित्र में, उपयोग में, संयम में, कायोत्सर्ग में, शुभयोग में, धर्म ध्यान में, समिति में, द्वादशांग में, भिक्षाशुद्धि में, महाव्रतों में, संन्यास में, गुण में, ब्रह्मचर्य में, पृथिवी आदि छह काय जीवों की रक्षा में, क्षमा में, इन्द्रिय निग्रह में, आर्जव में, मार्दव में, सब परिग्रह त्याग में, विनय में, श्रद्धान में, इन सब में जो मन का परिणाम है, वह कर्मक्षय का कारण है, सबके विश्वास योग्य है इसे ही जिनशासन में शुभ ध्यान कहा है।२

पंच परमेष्ठी की भक्ति आदि तथा उसके अनुकूल शुभानुष्ठान (पूजा,दान, अभ्युत्थान विनय आदि) बहिरंग धर्म ध्यान है।३

धर्मध्यान—संसार शरीर भोगों से विरक्त, ज्ञानानंद स्वभाव में निमग्न रहने वाले यतीश्वर आचार्य प्रवर संसार वर्धक आर्त-रौद्र ध्यान से सर्वथा विमुख रहते हैं। धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान रूपी नौका पर सवार होकर संसार समुद्र से तिरने में प्रतिक्षण प्रयत्नशील रहते हैं। तपाचार में ध्यान तप के अन्तर्गत धर्मध्यान का विशेष महत्व है। धर्मध्यान की पराकाष्ठा ही आत्मानुभूति का साक्षात् हेतु है अतः धर्मध्यान की विवेचना भेद-प्रतिभेदों के साथ में प्रस्तुत की जा रही है। यह धर्मध्यान ही शुभध्यान के रूप में जाना जाता है।

परिभाषा—सामान्यतया स्वात्मुखी योगत्रय की एकाग्रता को धर्मध्यान कहते हैं। निश्चय (शुद्ध) एवं व्यवहार (शुभ) नय की अपेक्षा से धर्म ध्यान को दो भागों में विभाजित किया है। ध्यान, ध्याता, ध्येय की अपेक्षा से धर्मध्यान के तीन भेद हैं। आज्ञाविचय, अपाय विचय, विपाक विचय एवं संस्थान विचय की अपेक्षा धर्म ध्यान के चार भेद हैं। अपाय विचय, उपायविचय, जीवविचय, अजीव विचय, विपाक विचय, विराग विचय, भव विचय, संस्थान विचय, आज्ञा विचय, हेतु विचय, सहित धर्मध्यान के दस भेद हो जाते हैं। संस्थान विचय धर्मध्यान के भी चार भेद हैं पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ एवं रूपातीत। उनमें से पिंडस्थ ध्यान

---

१. पुण्याशयवशाज्जातं शुद्धलेश्यावलम्बनात्।
चिन्तनाद्वस्तुतत्त्वस्य प्रशस्तं ध्यानमुच्यते॥ ज्ञानार्णव, २६ स० ३।

२. दंसणणाणचरित्ते उवओगे संजमे विउस्सग्गे।
पच्चक्खाणे करणे पणिधाणे तह य समिदीसु॥ ६७८॥
विज्जाचरणमहव्वद समाधिगुणबंभचेरछक्काए।
खमणिग्गह अज्जवमद्दवमुत्ती विणए च सद्दहणे॥ ६७९॥
एवं गुणोमहत्थो मणसंकप्पो पसत्थ वीसत्थो।
संकप्पोत्ति वियाणह जिणसासणसम्मदं सव्वं॥ मूलाचार ६८०॥

३. पञ्च परमेष्ठि भक्त्यादि तदनुकूल शुभानुष्ठानं पुनः बहिरङ्ग धर्मध्यानं भवति। बृ० द्र० सं० टी० ४८।२०५।१

के भी धारणाओं की अपेक्षा पाँच भेद हैं (१) पार्थिव धारणा (२) अग्नि धारणा (३) पवन धारणा (४) वारुणी धारणा (५) तत्व धारणा ।

धर्मध्यान की विवेचना मूलाचार ग्रंथ में निम्न प्रकार की है—

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्चारित्र से विभूषित उपयोग में, संयम, कायोत्सर्ग एवं शुभयोग में तथा समिति, भिक्षा शुद्धि, महाव्रतों के साथ द्वादशांग रूप जिनवाणी में और सन्यास सद्गुण, ब्रह्मचर्य, क्षमादि दस धर्म पालन के साथ—२ पृथ्वी आदि छहकाय के जीवों की रक्षा, इन्द्रिय-निग्रह एवं विनय आदि गुणों में तन्मय होकर समस्त परिग्रह के त्याग रूप कर्मक्षय के कारण है ।!

ध्याता-ध्यानी—संसार शरीर भोगों से विरक्त होकर आत्मस्वरूप में निमग्न रहने की भावना से, योगत्रय की एकाग्रता से, वस्तु स्वरूप के चिंतवन करने वाले को ध्याता कहते हैं।

मिथ्यात्व, व्यसन एवं कषायों से ध्याता सदैव परे रहता है।

प्रशस्त ध्यानवाला योग्य ध्याता—जो उत्तम संहननवाला, निसर्ग से बलशाली और शूर तथा चौदह, दस या नौ पूर्व को धारण करने वाला होता है वह ध्याता है ।(१) (धवला)

आर्त व रौद्र ध्यानों से दूर, अशुभ लेश्याओं से रहित, लेश्याओं की विशुद्धता से अवलम्बित, अप्रमत्त अवस्था की भावना भाने वाला, बुद्धि के पार को प्राप्त योगी, बुद्धि बलयुक्त, सूत्रार्थ अवलम्बी, धीर-वीर, समस्त परीषहों को सहने वाला, संसार से भयभीत वैराग्य भावनाएं भानेवाला, वैराग्य के कारण भोगोप-भोग सामग्री को अतृप्तिकर देखता हुआ सम्यग्ज्ञान की भावना से मिथ्याज्ञान रूपी गाढ़ अन्धकार को नष्ट करने वाला, तथा विशुद्ध सम्यग्दर्शन द्वारा मिथ्या शल्यको दूर भगाने वाला मुनि ध्याता होता है। २ (म० पु २१।८५)

क्योंकि तप व्रत और श्रुतज्ञान का धारक आत्मा ध्यानरूपी रथ की धुरा को धारण करने वाला होता है, इस कारण हे भव्य पुरुषों ! तुम उस ध्यान की प्राप्ति के लिए निरन्तर तप-श्रुत और व्रत में तत्पर होओ। (द्र०स(३)

(!) दंसणणाणचरित्ते उवओगे संजमे विउस्सग्गे । पच्चक्खाणे करणे पणिधाणे तह य समिदीसु ॥ —मूलाचार, ६७८
विज्जाचरण महव्वदसमाधिगुणबंभचेरछक्काए । खमणिग्गह अज्जवमद्दवमुत्ती विणए च सद्दहणे ॥
एवंगुणो महत्थो मणसंकप्पो पसत्थवीसत्थो । संकप्पोत्ति वियाणह जिणसासण सम्मदं सव्वं ॥
—मूलाचार, ६७८, ६८०

१. तत्थ उत्तमसंघडणो ओघबलो ओघसूरो चोद्दसपुव्वहरोवा णव पुव्वहरोवा । (ध०)

२. वोरोत्सारित दुर्ध्यानो दुर्लेश्याः परिवर्जयन् ।
लेश्याविशुद्धिमालम्ब्य भावयन्नप्रमत्तताम् ॥
प्रज्ञा पारमितो योगी ध्याता स्याद्धीबलान्वितः ।
सूत्रार्थालम्बनो धीरः सोढाशेष परीषहः ॥
वैराग्य भावनोत्कर्षात् पश्यन् भोगानतर्पकान् ।
सम्यग्ज्ञान भावनापास्त मिथ्याज्ञान तमोघनः ॥ (म० पु० २१।८५)

३. तवसुदवदवं चेदा झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा ।
तम्हा तत्तिय णिरदा तल्लद्धीए सदा होह ॥ (द्र० स० ५७)

प्रशस्त ध्यान का ध्याता मन, वचन, काय को वश में रखने वाला होता है ।, (चा०सा० ११७।२)
जो परिणाम है उसी का नाम धर्मध्यान है ।

बृहद्द्रव्य संग्रह की टीका में भी कहा है—कि पंचपरमेष्ठी की भक्ति अनुष्ठान एवं विनय आदि बहिरंग धर्मध्यान है ।१

ध्यानी-ध्याता—धर्मध्यान में निमग्न यतिवरों में आस्था भक्ति आदि गुण स्वाभाविक होते हैं, जिनकी विवेचना अनेक ग्रंथों में निम्न प्रकार की है।

आगम, उपदेश और जिनाज्ञा के अनुसार निसर्ग से जो जिन भगवान के द्वारा कहे गये पदार्थों का श्रद्धान होता है वह धर्मध्यान का लिंग है ।२

जिन और साधु के गुणों का कीर्तन करना, प्रशंसा करना, विनय-दान सम्पन्नता, श्रुत, शील और संयम में रत होना ये सब बातें धर्मध्यान में होती है ।३

प्रसन्नचित्त रहना, धर्म से प्रेम करना, शुभोपयोग, उत्तमशास्त्रों का अभ्यास, चित्त स्थिर रखना और शास्त्राज्ञा तथा स्वकीय ज्ञान से एक प्रकार की विशेष रुचि (प्रतीति अथवा श्रद्धा) उत्पन्न होना ये धर्मध्यान के बाह्य चिन्ह हैं ।४

विषय लम्पटता का न होना, शरीर निरोग होना, निष्ठुरता न होना, शरीर में से शुभ गन्ध आना, मलमूत्र का अल्प होना, शरीर की कान्ति शक्ति हीन न होना, चित्त की प्रसन्नता, शब्दों का उच्चारण सौम्य होना ये चिन्ह योग की प्रवृत्ति करने वाले के अर्थात् ध्यान करने वालों के प्रारम्भ दशा में होते है ।५

वैराग्य, तत्वों का ज्ञान, परिग्रह त्याग, साम्यभाव और परिषहजय, पांच धर्मध्यान के कारण है ।६

परिग्रहत्याग, कषायनिग्रह, व्रतधारण, इन्द्रिय व मनो विजय ये सब ध्यान की उत्पत्ति में सहायभूत सामग्री है ।७

---

१. पंचपरमेष्ठि भक्त्यादितदनुकूल शुभानुष्ठानं पुनर्बहिरङ्ग धर्मध्यानं भवति । —बृहत द्रव्य संग्रह–४८
२. "आगम उवदेसाणा णिसग्गदो जं जिणप्पणीयाणं । भावाणं सद्दहणं धम्मज्झाणस्स तल्लिंगं ॥
३. जिणसाहु-गुणक्कित्तणं पसंसणा–विणय–दाणसंपण्णा ।
सुदसीलसंजमरदा धम्मज्झाणे मुणेयव्वा ॥ धवला १३।५.४.२६
४. प्रसन्नचित्तता धर्मं संवेगः शुभयोग्यता । सुश्रुतत्वं समाधानं आज्ञाधिगमजाः रुचिः ।
भवन्त्येतानि लिङ्गानि धर्म्यस्यान्तर्गतानि वै । सानुप्रेक्षाश्च पूर्वोक्ता विविधाः शुभ भावनाः ॥
५. अलौल्यमारोग्यनिष्ठुरत्वं गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पम ।
कान्तिः प्रसादः स्वरसौम्यता च योगप्रवृतेः प्रथमं हि चिन्हम ।।ज्ञानार्णव ४१,१५१॥
६. वैराग्य तत्वविज्ञानं नैर्ग्रन्थ्यं समचित्तता ।
परीषह जयश्चेति पञ्चैते ध्यान हेतवः ॥ यशस्तिलक–४०।२०१ ॥
७. संग त्यागः कषाणां निग्रहो व्रतधारणम ।
मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यान जन्मनि ।।तत्वानुशासन ७५,२१८॥

गुरूपदेश, श्रद्धान, निरन्तर अभ्यास और मन की स्थिरता , ये चार बातें ध्यान की सिद्धि के मुख्य कारण हैं ।७

धर्मध्यान के योग्य उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सामग्री का विशेष महत्व है।

धर्म ध्यान के योग्य ध्याता—,,जो ज्ञानी पुरुष धर्म में एकाग्र मन रहता है, और इन्द्रियों के विषयों का अनुभव नहीं करता, उनसे सदा विरक्त रहता है उसी के धर्मध्यान होता है ।१

धर्म ध्यान का ध्याता इस प्रकार के लक्षणों वाला माना गया है जिसकी मुक्ति निकट आ रही हो, जो कोई भी कारण पाकर कामसेवा तथा इन्द्रियभोगों से विरक्त हो गया हो, जिसने समस्त परिग्रह का त्याग किया हो, जिसने आचार्य के पास आकर भले प्रकार जैनेश्वरी दीक्षा धारण की हो, जो जैनधर्म में दीक्षित होकर मुनि बना हो, जो तप और संयम से संपन्न हो, जिसका आश्रय प्रमाद रहित हो, जिसने जीवादि ध्येय वस्तु के स्वरूप को भले प्रकार निर्णीत कर लिया हो, आर्त और रौद्र ध्यानों के त्याग से जिसने चित्त की प्रसन्नता प्राप्त की हो, जो इस लोक और परलोक दोनों की अपेक्षा से रहित हो, जिसने सभी परिषहों को सहन किया हो। जो क्रिया योग का अनुष्ठान किये हुए हो। जो महासामर्थ्यवान हो और जिसने अशुभलेश्याओं तथा बुरी भावनाओं का त्याग किया है।२

जिनाज्ञा पर श्रद्धान करने वाला, साधु का गुण कीर्तन करने वाला, दान, श्रुत, शील संयम में तत्पर, प्रसन्नचित्त प्रेमी, शुभयोगी, शास्त्राभ्यासी, स्थिर चित्त, वैराग्य भावनायें भाने वाला ये सब धर्म ध्यानी के बाह्य व अन्तरंग चिन्ह हैं। शरीर की निरोगता, विषय लम्पटता व निष्ठुरता का अभाव, शुभगन्ध, मलमूत्र अल्प होना, इत्यादि भी उसके बाह्यचिन्ह है। वैराग्य, तत्वज्ञान, परिग्रह त्याग, परीषहजय, कषाय-निग्रह आदि धर्म ध्यान की सामग्री है।,,

ध्याता न होने योग्य व्यक्ति—जो मायाचारी हो, मुनि होकर भी परिग्रहधारी हो, ख्याति, लाभ, पूजा के व्यापार में आसक्त हो, इन्द्रियों का दास हो, विरागता को प्राप्त न हुआ हो, ऐसे साधुओं को ध्यान की प्राप्ति नहीं होती है ।,,–

---

७. ध्यानस्य च पुनर्मुख्यो हेतुरेतच्चतुष्टयम् ।
गुरूपदेशः श्रद्धानं सदाभ्यासः स्थिरं मनः ॥

१. धम्मे एयग्गमणो जो णाणी वेदेदि पंचहा विसय ।
वेरग्गमओ णाणी धम्मज्झाणं हवे तस्स ॥ का० अ० मू० ४७६

२. तत्रासन्नीभवन्मुक्तिः किंचिदासाद्य कारणम् ।
विरक्तः कामभोगेभ्यस्त्यक्त सर्व परिग्रहः ॥

३. अभ्येत्य सम्यगाचार्यं दीक्षां जैनेश्वरीं श्रितः ।
तप संयमसंपन्नः प्रमाद रहिताशयः ॥

४. सम्यग्निर्णीत जीवादि ध्येयवस्तु व्यवस्थितिः ।
आर्तरौद्रपरित्यागाल्लब्धचित्त प्रसत्तिकः ॥

५. मुक्त लोकद्वयापेक्षः सोढाऽशेष परीषहः ।
अनुष्ठित क्रियायोगो ध्यानयोगे कृतोद्यमः ॥

६. महासत्वः परित्यक्त दुर्लेश्याऽशुभ भावनः ।
इतीदृग्लक्षणो ध्याता धर्मध्यानस्य संमतः ॥ तत्वानुशासन ४१–४५

जो पण्डित तो नही हैं, परन्तु अपने को पण्डित मानते है, शम, दम, स्वाध्याय से रहित, राग-द्वेषादि पिशाचों से संचित है एवं मुनि पने के गुणों को नष्ट कर चुके हैं, विषयों से आकर्षित मदों से प्रसन्न, शंका, सन्देह, शल्यो से सहित हों ऐसे रक पुरूष न ध्यान करने को समर्थ हैं, न भेदज्ञान करने को समर्थ हैं और न ही तप कर सकते है ।१

वशीकरण, आकर्षण, विद्वेषण, मारण, उच्चाटन, तथा जल, अग्नि, विषादि का स्तम्भन, रसकर्म, रसायन, नगर में क्षोभ उत्पन्न करना इन्द्रजाल साधना, सेना का स्तम्भन करना, जीत-हार का विधान बताना, विद्या के छेदने का विधान साधना, वैद्य का, ज्योतिष का ज्ञान, वैद्यक विद्या साधना, यक्षिणी मन्त्र, पाताल सिद्धि के विधान का अभ्यास करना, कालवंचन. (मृत्यु जीतने की मन्त्र साधना), पादुका साधना (खड़ाऊं पहन कर आकाश या जल में विहार करने की विद्या साधना) अंजन साधना (अदृश्य होकर गड़े हुये धन को देखना), शस्त्रादि का साधन, भूत साधना, सर्प साधना, इत्यादि विक्रिया रूप कार्यों में अनुरक्त होकर दुष्ट चेष्टा करने वाले जो है, उन्होने आत्म ज्ञान से हाथ धोकर अपने दोनों लोकों को नष्ट कर डाला है । ऐसे पुरूष के ध्यान की सिद्धि होना कठिन है ।२

आकाश पुष्प अथवा खरविषाण का होना कदाचित् सम्भव है, परन्तु किसी भी देश-काल में गृहस्थ आश्रम में ध्यान की सिद्धि होनी सम्भव नही है ।१

धर्म ध्यान मुख्य और उपचार के भेद से दो प्रकार का है । अप्रमत्तगुण स्थानों में मुख्य और प्रमत्त गुण स्थानों में औपचारिक धर्मध्यान होता है ।२

प्रश्न—वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान का विचार करते हुये आप सर्वत्र ,वीतराग, विशेषण क्यों? किस लिये लगाते है । क्या सराग को भी स्वसंवेदन ज्ञान होता है। उत्तर—विषय सुखानुभव के आनन्द रूप स्व संवेदन ज्ञान सर्वजन प्रसिद्ध है । वह सराग को भी होता है । परन्तु शुद्धात्म सुखानुभूति रूप स्वसंवेदन ज्ञान वीतरागी को ही होता है । स्वसंवेदन ज्ञान के प्रकरण मे सर्वत्र यह व्याख्या जाननी चाहिये ।३

---

१. एते पण्डित मानिनः शमदमस्वाध्याय चिन्ताच्युताः, रागादि ग्रहसञ्चिता, यति गुण प्रध्वंस कृष्णानना. । व्याकृष्टाः विषयैर्मदैः, प्रमुदिता, शङ्काभिरङ्गीकृताः न ध्यानं न विवेचन न च तप. कर्तुं वराका. क्षमाः ।—ज्ञा० ४।६२

२. वश्याकर्षणविद्वेष मारणोच्चाटनं तथा । जलानल विषस्तम्भो रसकर्म रसायनम् ॥ पुरक्षोभेन्द्र जालं च बलस्तम्भो जयाजयौ । विद्याच्छेदस्तथा वेध ज्योतिर्ज्ञान चिकित्सितम् ॥ यक्षिणी मन्त्रपाताल सिद्धय, काल वञ्चना। पादुकाञ्जननिस्त्रिंश भूत भोगीन्द्र साधनं ॥ इत्यादि विक्रियाकर्मरञ्जितैर्दुश्चेष्टितैः ।

(१) खपुष्पमथवा शृंगं खरस्यापि प्रतीयते । न पुनर्देशकालेऽपि ध्यान सिद्धिगृहाश्रमे ॥ (ज्ञा ४ ५२–५५)

(२) मुख्योपचार भेदेन धर्मध्यानमिह द्विधा ।
अप्रमत्तेषु तन्मुख्यमितरेष्वौपचारिकम् ॥ (तत्त्वानुशासन ४७)

(३) ननु वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानविचार काले वीतरागविशेषण किमिति क्रियते प्रचुरेण भवद्भिः, किं सरागमपि स्वसंवेदन ज्ञानं मस्तीति ? अत्रोत्तरं विषय सुखानुभावानन्द रूपं स्वसंवेदन ज्ञानं सर्वजनप्रसिद्धं सरागप्यस्ति । शुद्धात्म सुखानुभूतिरूप स्वसंवेदन ज्ञानं वीतरागमिति । इदं व्याख्यान स्वसंवेदन व्याख्यान काले सर्वत्र ज्ञातव्यमिति भावार्थः । (स.सार.ता.वृ.९६)

विषय, कषाय के निमित्त से उत्पन्न आर्तरौद्र ध्यानों में परिणत गृहस्थजनों को आत्माश्रित निश्चय धर्मध्यान का अवकाश नहीं है।[1] (प्र०सा०।ता०वृ० २५४।३४७)

मुनियों के ही परमात्म ध्यान घटित होता है। तप्त लोह के गोले समान गृहस्थों को परमात्मध्यान प्राप्त नहीं होता।[2] (मो० पा० टी० २।३०५।१६ एवं भावसंग्रह ३७१।३६७–६०५)

परिषह व उपसर्ग के आने पर चित का चलना क्षोभ है, उससे रहित मोह-क्षोभ विहीन है। ऐसे गुणों से विशिष्ट शुद्ध बुद्ध एक स्वभावी आत्मा का चिच्चमत्कार लक्षण चिदानन्द परिणाम धर्म कहलाता है। पञ्चसून दोष सहित होने के कारण यह परिणाम गृहस्थों को नहीं होता।[3]
(भा० पा० टी० ८१।२३२।२४)

असंयत सम्यग्दृष्टि प्रमत्त संयत तक के तीनगुण स्थानों में परम्परा रूप से शुद्धोपयोग का साधक (शुभोपयोग), तथा ऊपर ऊपर अधिक-अधिक विशुद्ध शुभोपयोग वर्तता है। उसके अनन्तर अप्रमत्तादि क्षीण कषाय पर्यन्त के गुणस्थानों में जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेदों के लिये विवक्षित एक देश शुद्धनय रूप शुद्धोपयोग वर्तता है।[4] (द्र० स० टी० ३।३६)

उपर्युक्त कारणों के अभाव में मुनिराज धर्मध्यान करने में सफल नहीं हो सकते हैं। सभी कारणों में वैराग्य की प्रधानता है, वैराग्य के अभाव में सभी कारण होने पर भी सम्यक् ध्यान सम्भव नहीं है।

धर्मध्यान के भेद—धर्मध्यान के अनेकों भेद प्रतिभेद हैं उनमें से कुछ अपेक्षित भेदों की व्याख्या की जा रही है—

(१) **आज्ञा विचय धर्मध्यान**—वीतराग प्रणीत धर्म में योगत्रय से तन्मय रहने को धर्मध्यान कहते हैं। तत्व, पदार्थ, द्रव्य, अस्तिकाय एवं समस्त लोक का जिनेन्द्र भगवान ने जैसा स्वरूप प्रतिपादन किया है, बिना किसी दुराग्रह के उसी प्रकार मनन, चिन्तन एवं आचरण करना आज्ञा विचय धर्मध्यान है। इसकी विवेचना आगमानुसार निम्नप्रकार प्रतिपादित है—

---

१. विषयकषाय निमित्तोत्पन्नेनार्तरौद्रध्यानद्वयेनपरिणतानां गृहस्थानामात्माश्रित निश्चय धर्मस्यावकाशो नास्ति।

२. मुनीनामेव परमात्मध्यानं घटते।
तप्तलोहगोलकसमानगृहिणा परमात्म ध्यानं न संगच्छेत॥

३. क्षोभ परिषहोपसर्गनिपाते चित्तस्य चलन ताभ्यां विहीनो रहितः मोहक्षोभविहीनः।
एवं गुणविशिष्ट आत्मनः शुद्धबुद्धैक स्वभावस्य चिच्चमत्कार लक्षणचिदानन्दरूपः परिणामो धर्म इत्युच्यते।
स परिणामो गृहस्थानां न भवति। पञ्चसूना संहितत्वात्।

४. असंयत सम्यग्दृष्टि श्रावक प्रमत्त संयतेषु पारम्पर्येण शुद्धोपयोग साधक उपर्युपरि तारतम्येन शुभोपयोग वर्तते।
तदनन्तरमप्रमत्तादिक्षीणकषायपर्यन्तं जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन विवक्षितैकदेश शुद्धनय रूप शुद्धोपयोगो वर्तते।
बृहद् द्रव्य संग्रह।

पांच अस्तिकाय, छह जीव निकाय, काल–द्रव्य तथा इसी प्रकार आज्ञा ग्राह्य अन्य जितने पदार्थ हैं, उनका यह आज्ञा विषय ध्यान के द्वारा चिन्तन करता है।१

मति की दुर्बलता होने से, आध्यात्म विद्या के जानकार आचार्यों का विरह होने से, ज्ञेय की गहनता होने से, ज्ञान को आवरण करने वाले कर्म की तीव्रता होने से हेतु तथा उदाहरण सम्भव न होने से नदी और सुखोद्यान आदि चिन्तन करने योग्य स्थान में मतिमान ध्याता ,सर्वज्ञ प्रणीत मत सत्य है, ऐसा चिन्तन करते हैं क्योंकि जगत में श्रेष्ठ जिन भगवान जो, उनको नहीं प्राप्त हुये ऐसे अन्य जीवों का भी अनुग्रह करने में तत्पर रहते हैं और उन्होंने राग द्वेष और मोह पर विजय प्राप्त कर ली है, इसलिए वे अन्यथावादी नहीं हो सकते।२

उपदेष्टा आचार्य का अभाव होने से स्वयं मन्दबुद्धि होने से, कर्मों का उदय होने से और पदार्थों के सूक्ष्म होने से तथा तत्व के समर्थन में हेतु तथा दृष्टान्त का अभाव होने से सर्वज्ञ प्रणीत आगम को प्रमाणकरके यह इसी प्रकार है क्योंकि जिन अन्यथावादी नहीं होते, इस प्रकार से गहन पदार्थ के श्रद्धान द्वारा अर्थ का अवधारण करना आज्ञा विषय धर्मध्यान है। अथवा, स्वयं पदार्थों के रहस्य को जानता है, और दूसरों के प्रति उसका प्रतिपादन करना चाहता है इसलिए सिद्धांत के अविरोध द्वारा तत्व का समर्थन करने के लिए उसके जो तर्क नय और प्रमाण की योजना रूप निरन्तर चिन्तवन होता है वह सर्वज्ञ की आज्ञा को प्रकाशित करने वाला होने से आज्ञा विषय कहा जाता है।३

(२) **अपाय व उपाय विषय धर्मध्यान**—दुखद कर्मों के क्षय के लिए रत्नत्रय की आराधना करना उपाय विषय तथा संसार समुद्र से तिरकर मोक्ष किनारे तक पहुंचने का चिन्तवन अपायविषय धर्मध्यान है। इसके विषय में पूर्वाचार्यों का अभिमत निम्न प्रकार है—

---

१ पचवे अत्थिकाया छज्जीवाणिकाये दव्वमण्णेय।
आणागज्झे भावे आणाविचएण विचिणादि ॥ भगवती आराधना १७११

२. तत्थमइदुब्बलेणय। तव्विजाइरियं विरहदो वा-वि।
णेयहगत्तणेणय णाणावरदिएणं च ॥ ३५ ॥
हेदू दाहरणासभवे य सरिसुट्ठुज्जाण बुज्झेज्जो।
सव्वणुसयमवितत्थं तहाविहं चितए मदिमं ॥ ३६ ॥
अणुवयह पराग्गह परायणा ज जिणा जयप्पवरा।
जियराय दोसमोहा ण अण्ण हावाइणो तेण ॥ ३७ ॥ धवला, १३। ५.५.४.३६–३७ गा०

३. उपदेष्टुरभावान्मन्दबुद्धित्वात्कर्मोदयात्सूक्ष्मत्वाच्च पदार्थानां हेतुदृष्टान्तोपरमे सति सर्वज्ञ प्रणीतमागमं प्रमाणीकृत्य इत्थमेवेदं नान्यथावादिनो जिना. इति गहन पदार्थ श्रद्धानादर्थावधारणमाज्ञाविचय: ।अथवा स्वयं विदित पदार्थ तत्त्वस्य सतः परं प्रति पिपादयिषोः स्वसिद्धान्ताविरोधेन तत्त्वसमर्थनार्थं तर्क नयप्रमाणयोजनपरः स्मृतिसमन्वाहारः सर्वज्ञाज्ञा प्रकाशनार्थत्वाद् आज्ञाविचय इत्युच्यते। सर्वार्थसिद्धि,९–३६

जिनमत को प्राप्त कर कल्याण करने वाले जो उपाय हैं उनका चिन्तवन करता है। अथवा जीवों के जो शुभाशुभ परिणाम होते हैं उनसे अपाय का चिन्तवन करता है।१

पाप का त्याग करने वाला साधु राग, द्वेष, कषाय और आस्रव आदि क्रियाओं में विद्यमान जीवों के इह लोक और परलोक के उपाय का चिन्तवन करे।२

मिथ्यादृष्टि जीव जन्मान्ध पुरुष के समान सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग से विमुख होते हैं। सन्मार्ग का परिज्ञान न होने से वे मोक्षार्थी पुरुषों को दूर से ही त्याग देते हैं। इस प्रकार सन्मार्ग के अपाय का चिन्तवन करना अपाय विचय धर्मध्यान है। अथवा ये प्राणी मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र से कैसे दूर होंगे। इस प्रकार चिन्तन करना अपाय विचय धर्मध्यान है।३

मन, वचन, और काय इन योगों की प्रवृत्ति संसार का कारण है। सो इन प्रवृत्तियों का मेरे अपाय अर्थात् त्याग किस प्रकार हो सकता है, इस प्रकार शुभलेश्या से अनुरंजित जो चिन्तवन का प्रबन्ध है, उसे अपाय विचय नाम का दूसरा धर्मध्यान माना गया है।४

पुण्य रूप योग प्रवृत्तियों को अपने अधीन करना उपाय कहलाता है। यह उपाय मेरे किस प्रकार हो सकता है, इस प्रकर के संकल्पों की जो सन्तति है, वह उपाय विचय नाम का दूसरा धर्मध्यान है।५

(३) **विपाक विचय धर्मध्यान**—ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की १४८ शुभाशुभ, इष्टानिष्ट प्रकृतियों के उदय में शुभाशुभ विकल्पों का नहीं होना, कर्मों की प्रकृति के विषय में चिन्तवन करते हुये साम्य परिणाम रखना, विपाक विचय धर्मध्यान है। पूर्वाचार्यों ने भी विभिन्न प्रकार से इसकी विवेचना की है—

---

१. कल्लाणपावगाण उपाये विचिणादि जिणमदमुवेच्च।
विचिणादि व अवाए जीवाण सुभेय असुभेय॥ भा० आ० १७०७

२. रागद्दोस कसायासवादिकिरियासु वट्टमाणाणं।
इह परलोयावाए ज्झाएज्जो वज्जपरिवज्जो॥ ३९॥ धवला, १३। ५.४.२६।

३. जात्यन्धवन्मिथ्यादृष्टयः सर्वज्ञप्रणीत मार्गाद्विमुखमोक्षार्थिनः सम्यङ्मार्गापरिज्ञानात् सुदूरमेवापयन्तीति सन्मार्गापाय चिन्तनमपायविचयः। अथवा मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रेभ्यः कथं नाम इमे प्राणिनोऽपेयुरिति स्मृति समन्वाहारोऽपाय विचयः। सर्वार्थसिद्धि, ९—३६,

४. संसारहेतवः प्रायस्त्रियोगानां प्रवृत्तयः।
अपायो वर्जनं तासां स मे स्यात्कथमित्यलम्॥
चिन्ताप्रबन्ध संबन्धः शुभलेश्यानुरंजितः।
अपाय विचयाख्यं तत्प्रथमं धर्म्यमभीप्सितम्॥ हरिवंशपुराण, ५६। ३९

५. उपायविचयं तासां पुण्यानामात्मसात्क्रिया।
उपायः स कथं मे स्यादिति संकल्प सन्तति॥ हरिवंश पुराण, ५६—४१

जीवों को जो एक और अनेक भव में पुण्य और पाप कर्मों का फल प्राप्त होता है उसका उदय, उदीरणा, संक्रमण, बंध और मोक्ष का चिन्तन करता है ।१

ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप चार प्रकार के बंधों के विपाक का विचार करना सो विपाक विचय नाम का धर्मध्यान है ।२

(४) **संस्थान विचय धर्मध्यान**—यह पुरुषाकार लोक चौदह राजू प्रमाण है तीन भागों में विभाजित है । अधो, मध्य, उर्ध्व लोक में अवस्थित वस्तु की व्यवस्था का चिन्तवन करना संस्थान विचय धर्मध्यान है ।

तीन लोकों के संस्थान प्रमाण और आयु का चिन्तवन करना संस्थान विचय नाम का चौथा धर्म-ध्यान है ।३

अधोलोक आदि भागरूप से तीन प्रकार के (अधो, मध्य, उर्ध्व) लोक का तथा पृथ्वी, वलय, द्वीप, सागर, नगर, विमान, भवन आदि के संस्थानों (आकारों) का एवं उसका आकाश में प्रतिष्ठान नियत और लोकस्थिति आदि भेद का चिन्तवन करना ।४

उस जीव के कर्म से उत्पन्न हुआ जन्म, मरण आदि यही जल है, कषाय यही पाताल है, सैकड़ों व्यसन रूपी छोटे मत्स्य है मोहरूपी आवर्त्त है, अत्यंत भयंकर है, ज्ञानरूपी कर्णधार है, उत्कृष्ट चारित्रमय महापोत है । ऐसे इस अशुभ और अनादि अनंत संसार का चिन्तवन करना भी संस्थान विचय धर्मध्यान है ।५

संस्थान विचय के भेद—संस्थान विचय नामक धर्मध्यान के चार भेद कहे हैं । जो भव्य रूपी कमलों को प्रफुल्लित करने के लिए सूर्य के समान योगीश्वर हैं, उन्होंने इस ध्यान को पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, और रूपातीत ऐसे चार भेदों में विभाजित किया है। ।।६।।

---

१ एयाणेयभवगदं जीवाणं पुण्णपावकम्मफलं ।
उदओदीरण संकमबंधे मोक्खं च विचिणादि ।। भगवतीआराधना १७०८ ।।

२. यच्चतुर्विधबन्धस्य कर्मणोऽष्टविधस्य तु विपाकचिंतनं धर्म्यं विपाकविचयं विदुः । हरिवंशपुराण, ४५

३. तिण्णं लोगाणं संठाणपमाणाआउआदि चिंतणं ।
संठाणविचयं णाम चउत्थं धम्मज्झाण ।। धवला १३ । ५.४,२६

४ खिदि वलय दीवसायरणयर विमाणभवणादि सठाणं ।
वोमादि पडिट्ठाणं णिययं लोगटिठदि विहाणं ।। भगवतीआराधना १७१४ ।।

५. तस्सय सकम्मजणियं जम्माइजल कसायपायालं ।
वसणसावमीणं मोहावत्त महाभीम ।।
णाणमयकण्णहारं वरचारित्तमयमहापोवं ।
ससारसागर मणोरपारमसुहं विचितेज्जो ।। भगवतीआराधना, १७०७, १५२६

६. पिण्डस्थं च पदस्थं च स्वरूपस्थं रूपवर्जितम् । चतुर्धा ध्यानमाम्नातं भव्यराजीवभास्करैः ।। ज्ञानार्णव, ३५–१७४

(१) **पिंडस्थ ध्यान**—पदस्थ, पिंडस्थ व रूपस्थ में अर्हंत् सर्वज्ञ ध्येय होते हैं इसलिए पिंडस्थ ध्यान में अर्हंत् भगवान की शरीराकृति का विचार करते हुये निजात्मा का चिन्तवन करना पिंडस्थ ध्यान है।

इस पिंडस्थ ध्यान की पांच धारणायें हैं—पार्थिवी धारणा, आग्नेयी धारणा, पवन धारणा, वारुणीधारणा और तत्वधारणा। इन सबका संक्षेप से नीचे कथन किया जायेगा—

पार्थिवी धारणा—

सिन्धुशान्त आसन कमल, मुनि बनि निज को जोय।
ये ही पार्थिवी धारणा, अनुभव से सुख होय।।

अपने मन में ऐसी कल्पना करें कि एक राजू विस्तार वाला एक समुद्र है उसमें न तो मगरमच्छ दिखाई देते हैं और न ही किसी प्रकार का तूफान है। वह बिल्कुल शान्त है, किसी प्रकार की आवाज भी नहीं है। दीखने में वह ऐसा मालूम हो रहा है मानो बरफ ही जमी हो। उसी समुद्र के बीच तपे हुए स्वर्ण के समान प्रभा की धारक एक हजार पत्र पांखुड़ी युक्त तथा पद्मराग मणिमय उदय रूप केसरावली युक्त एक कमल का चिन्तन करें। वह कमल जम्बूद्वीप के समान एक लक्ष योजन के विस्तार वाला है ऐसा चिन्तन करें। और उसके बीच चित्तरूपी भ्रमर को रंजायमान करने वाली मेरु के समान एक कर्णिका है। उस कर्णिका के ऊपर दसों दिशाओं को प्रकाशित करने वाला शरद ऋतु के चन्द्रमा के समान कांतिवाला, रत्न व मणियों से जड़ित एक सिंहासन सुशोभित हो रहा है, उस पर मैं समस्त संङ्ग (परिग्रह) को त्यागकर, राग-द्वेष से मुक्त होकर सिंहासन पर आसीन हूं और वस्तु-स्वभाव-ज्ञानमयी आत्मा का चिन्तन कर रहा हूं। यही पार्थिवी धारणा कही जाती है।

अग्नि धारणा—

नाभि है उर कर्म युक्त, कमल सु चिन्तन जोय।
हैं हैं ज्वाला कर्म दह, अग्नि धारणा होय।।

जब पार्थिवी धारणा का पूर्ण अभ्यास हो जाय तब उसी सिंहासन पर बैठे हुए अपनी नाभि के बीच एक षोडश पांखुड़ी के कमल का चिन्तन करें। उस कमल की एक-२ पांखुड़ी अर्थात् अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः, का चिन्तन करें। तदनन्तर उस कमल के बीच सूर्य के समान चमकने वाली कर्णिका के ऊपर "हैं" नामक मंत्र का चिन्तन करें (यह मंत्र समस्त पापों का दहन करने वाला है) ऐसा जानकर उसी के ऊपर कुछ समय चिन्तन करें। कुछ समय पश्चात् उस कर्मनाशक "हैं" अक्षर में से निकलता हुआ धूमका चिन्तन करें।

उसी समय अपने हृदय में अष्ट पांखुड़ी के कमल का चिन्तन करें और एक-२ पत्र के ऊपर एक-२ कर्म की कल्पना करें फिर विचार करें कि नाभिस्थ कमल कर्णिका में स्थित 'हैं' महामंत्र के ध्यान से निकलती अग्नि रूपी ज्वाला ने कर्म रूपी वन को जलाना शुरू कर दिया तब अष्ट कर्म जल जाते हैं (यह चैतन्य परिणामों की सामर्थ्य है।) (१)

ऐसा विचार करते हुए कल्पना से अग्नि का त्रिकोण बना लें और उससे शरीर को जलता हुआ चिन्तन करें। फिर विचार करें कि कर्म और नोकर्म को अग्नि ने जला के भस्म कर दिया है अब कुछ

---

१. तदष्टकर्म निर्माणमष्टपत्रमधोमुखम्।
दहत्येव महामन्त्र ध्यानोत्थप्रबलोऽनलः।। ज्ञानार्णव, ३४–१५

भी जलाने के लिए शेष नहीं रहा है। अतः अग्नि स्वयमेव ही धीरे-२ शान्त हो गई।

पवन धारणा–

चले हवा अति वेग से, सहज भस्म उड़ जाय।
ये ही वायु धारणा, अनुभव से चित लाय।।

जब पूर्णतया अग्नि धारणा का अभ्यास हो जाये, तब पवन धारणा का चिन्तवन प्रारम्भ करें। बड़े-२ भयंकर वृक्षों को उखाड़ने वाले, मेरु को कम्पायमान करने वाले, पृथ्वीमंडल से लेकर आकाश पर्यन्त छाये हुए वेग के साथ चलने वाले पवन (आंधी) का चिन्तन करें और विचारें कि "हूँ" मंत्र के प्रताप से जो कर्म व शरीर भस्म हो गये थे उनकी जो राख पड़ी थी उसे भी यह पवन उड़ा ले गयी। इसी को पवन धारणा कहते हैं।

वारुणी धारणा –

सलिल वृष्टि अति हो रही, शेष कर्ममल धोय।
रही स्वच्छ बस आत्मा, जल धारणा सोय।।

वारुणी धारणा में इस प्रकार का चिन्तन करें कि सघन मेघों से आकाश व्याप्त है, बिजलियां आकाश में चमक रहीं हैं और इन्द्रधनुष खिंचे हुए हैं तथा भयंकर गर्जना हो रही है उसी समय आकाश से मोतियों जैसी चमकती अमृत की बूंदें बरसने लगी, इससे अपनी आत्मा में जो कुछ कर्म रूपी रज चिपटी हुई रह गई थी वह कर्म रज धुल गई ऐसे चिन्तन को वारुणी धारणा कहते हैं।

तत्व धारणा—

शुद्ध तत्व का अनुभवन, कीजै सिद्ध समान।
यही धारणा तत्व है, फल है केवल ज्ञान।।

उसी सिंहासन पर आसीन इस प्रकार चिन्तन करना कि मैं कर्ममल से रहित हूं, चैतन्य स्वभाव वाला हूं, मात्र ज्ञाता–दृष्टा हूं, कर्ता-भोक्ता नहीं, कर्म, नोकर्म आदि मेरे नहीं हैं, मैं दर्शन-ज्ञान-चारित्र का पुञ्ज हूं, केवलज्योति स्वरूप हूं, शुद्ध स्वभाव वाला हूं, रागद्वेष से मुक्त हूं, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों से मैं रहित हूं, अनन्त चतुष्टय का स्वामी हूं, शरीर रहित हूं और अनन्तगुणों का स्वामी हूं। ऐसे चिन्तवन को ही तत्व धारणा कहते हैं।

इस प्रकार पिंडस्थ ध्यान में निश्चल अभ्यासी ध्यानी मुनि शीघ्र ही मोक्ष सुख प्राप्त करते हैं।[1]

पिंडस्थ ध्यानी मुनि के निकट कोई भी जीव किसी प्रकार का भी उपद्रव नहीं कर सकते हैं। जैसा कि ज्ञानार्णव में शुभचन्द्राचार्य जी भी कहते हैं—

जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर उलूक भाग जाते हैं उसी प्रकार इस पिंडस्थ ध्यानरूपी धन के समीप होने से विद्या, मंडल, मंत्र, यंत्र, इन्द्रजाल के आश्चर्य (प्रसिद्ध कपट) क्रूर अभिचार (मरणादि) स्वरूप क्रिया तथा सिंह, आशीविष (सर्प), दैत्य, हस्ती, अष्टापद ये सब ही निःसारता को प्राप्त हो जाते हैं

---

१. इत्यविरतं स योगी पिण्डस्थे जातनिश्चलाभ्यासः।
शिवसुखमनन्यसाध्यं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन।। ज्ञानार्णव, ३४,३१

अर्थात् किसी प्रकार का भी उपद्रव नहीं करते तथा शाकिनी, ग्रह, राक्षस वगैरह भी खोटी वासना को छोड़ देते हैं।१

(२) पदस्थ ध्यान

णमोकर अरु वरण सब, इनका चिन्तन होय।
ये ही ध्यान पदस्थ है, अनुभव में निज जोय।।

पंच नमस्कार आदि मंत्र और स्वर व्यंजनादिकों का चिंतन व मनन करना पदस्थ ध्यान कहा जाता है जैसा कि आगम में वर्णित है—

जिसको योगीश्वर पवित्र मंत्रों के अक्षर स्वरूप पदों का अवलम्बन करके चिन्तवन करते हैं, उसको अनेक नयों के पार पहुंचने वाले योगीश्वरों ने पदस्थ ध्यान कहा है।२

उसी पूर्वोक्त सिंहासन के ऊपर स्थित होकर अपने मन में इस प्रकार का चिन्तन करें कि नाभिमंडल में षोडश पांखुड़ी वाला एक अतिशयवान कमल है उस कमल की एक-२ पांखुड़ी के ऊपर एक-२ स्वर है उनकी संख्या इस प्रकार है—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए ऐ, ओ, औ, अं, अः। तदनन्तर अपने हृदय में चौबीस पांखुड़ी के कमल का चिन्तन करें। उस कमल के बीच चन्द्रकान्त मणि के समान कणिका का चिन्तन करते हुये पंच वर्गों के एक-२ अक्षर का एक-२ पत्र व कर्णिका पर चिन्तन करें। उन अक्षरों की संख्या इस प्रकार से है— क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म। इसके पश्चात् अपने मुख में एक सुन्दर आठ पांखुड़ी वाले कमल का चिन्तन करें, उसके चारों ओर प्रदक्षिणा देते हुये य र ल व श ष स ह इन सभी व्यंजनों का विचार करें।

यह वर्णमाला अनादिकालीन है, इसका मनन और चिन्तन करने से श्रुतज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं और वस्तु स्वभाव का उन्हें ज्ञान हो जाता है। उनको दुःख समूह छोड़कर भाग जाता है। जैसा ज्ञानार्णव में स्वामी शुभचन्द्राचार्य जी इसकी महिमा के विषय में कहते हैं—

इस प्रकार प्रसिद्ध वर्णमातृका का निरन्तर ध्यान करता हुआ योगी भ्रमरहित होकर श्रुतज्ञान रूपी समुद्र के पार को प्राप्त हो जाता है।३

---

१. विद्यामण्डलमन्त्रयन्त्रकुहककूराभिचाराः क्रियाः।
सिंहाशीविषदैत्य दन्तिशरभो यान्त्येव निःसारताम्।
शाकिन्यो ग्रहराक्षसप्रभृतयो मुञ्चन्त्यसद्वासनां
एतद्ध्यानधनस्य सन्निधिवशात्पनोर्यथा कौशिकाः।।ज्ञानार्णव, ३४, ३३।

२. पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते।
तत्पदस्थं मतं ध्यानं विचित्रनयपारगैः।।

३. ध्यायन्ननवरतं ध्यानी प्रसिद्धां वर्णमातृकाम्।
श्रुतज्ञानाम्बुधेः पारं प्रयाति विगतभ्रमः।। ज्ञानार्णव ३५–६

इस वर्णमातृका के जाप से योगी क्षयरोग, अरुचिपना, अग्नि मंदता, कुष्ट, उदररोग, कास तथा श्वास आदि रोगों को जीतते हैं और वचनसिद्धता, महान पुरुषों से पूजा तथा परलोक में उत्तम पुरुषों से प्राप्त की हुई श्रेष्ठ गति को प्राप्त होते हैं।१

इसके बाद सुवर्णमय कमल के मध्य में कर्णिका पर 'हं' नाम के महान मंत्र का चिन्तवन करें। इस मन्त्रराज का स्वरूप इस प्रकार है।

समस्त मन्त्रपदों का स्वामी, सब तत्वों का नायक, आदि, मध्य और अन्त के भेद से स्वर तथा व्यंजनों से उत्पन्न, ऊपर नीचे रेफ (ि) से रुका हुआ तथा बिन्दु (ं) से चिन्हित, संयुक्त कहिये हकार अर्थात् (र्हं) ऐसा बीजाक्षर तत्व है; अनाहत सहित इसको योगीजन मन्त्रराज कहते हैं।२

इस मंत्र के ध्यान व महिमा के विषय में शुभचन्द्र स्वामी ने कहा है—

धैर्य का धारक योगी कुंभक प्राणायाम से इस मन्त्रराज को भौंह की लताओं में स्फुरायमान होता हुआ, मुखकमल में प्रवेश करता हुआ, तालुओं के छिद्र से गमन करता हुआ तथा अमृतमय जल से झरता हुआ, नेत्रों की पलकों पर स्फुरायमान होता हुआ, केशों में स्थिति करता हुआ तथा ज्योतियों के समूह में रमता हुआ, चन्द्रमा के साथ स्पर्द्धा करता हुआ, दिशाओं में संचरता हुआ, आकाश में उछलता हुआ, कलंक के समूह को छेदता हुआ, संसार के भ्रमण को दूर करता हुआ, परम स्थान को प्राप्त करता हुआ, तथा मोक्षलक्ष्मी से मिलाप करता हुआ ध्यावें।३

इस प्रकार इन अज्ञान नाशक अक्षरों व मन्त्र राज का ध्यान कर पीछे जिनागम में बताये हुए पैंतीस अक्षर के अनादि णमोकार मंत्र का ध्यान करें। वह णमोकार मंत्र इस प्रकार है—

---

१. आप्याज्जयेत् क्षयमरोचकमग्नि मान्द्यं।
कुष्टोदरात्मकसनश्वसनादिरोगान्।
प्राप्नोति चाप्रतिमवाङ् महती महद्भयः
पूजां परत्र च गतिं पुरुषोत्तमाप्ताम् ॥ २ ॥ज्ञानार्णव क्षेपक सर्ग ३५,६,२

२. अथ मन्त्रपदाधीशं सर्वतत्वैकनायकम्।
आदि मध्यान्तभेदेन स्वरव्यञ्जन सम्भवम् ॥३५॥७॥
ऊर्ध्वाधोरेफसंरुद्धं सपर बिन्दुलाञ्छितम्।
अनाहत युतं तत्व मन्त्रराजं प्रचक्षते ॥८॥ज्ञाना० स० ३५,८

३. स्फुरन्त भ्रूलतामध्ये विशन्तं वदनाम्बुजे।
तालुरन्ध्रेण गच्छन्त स्रवन्तममृताम्बुभिः ॥३५,१६॥
स्फुरन्तं नेत्रपत्रेषु कुर्वन्तमलके स्थितिम्।
भ्रमन्तं ज्योतिषां चक्रं स्पर्द्धमानं सिताशुना ॥१७॥
संचरन्तं दिशामास्ये प्रोच्छलन्तं नभस्तले।
छेदयन्तं कलङ्कौघं स्फोटयन्त भवभ्रमम् ॥१८॥
नयन्तं परमस्थानं योजयन्तं शिवश्रियम्।
इति मन्त्राधिपं धीर कुम्भकेन विचिन्तयेत् ॥१९॥ ज्ञानार्णव

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ।।

तथा इसी प्रकार महामंत्र के सोलह, छह, पांच, चार, दो और एक अक्षर आदि के मंत्रों का भी ध्यान करें और 'चत्तारि मंगलं, आदि सभी का ध्यान मन को स्थित करके करें । क्योंकि यह अनादि मूलमंत्र समस्त पापों को नष्ट करने वाला है; समस्त ऋद्धि-सिद्धियों को देने वाला है । अतः हमें समस्त कार्य छोड़कर मंगल आदि मंत्रों का ध्यान मन, वचन, काय की एकाग्रता से करना चाहिए, जिससे अज्ञान रूपी जहर उतर जाये और ज्ञान रूपी नेत्र खुल जायें । स्वामी शुभचन्द्राचार्य भी ज्ञानार्णव में लिखते हैं—

इस प्रकार समस्त अक्षरों में तथा मन्त्रपदों और विद्यापदों में अनुक्रम से लक्ष्य भाव की प्रसिद्धता के लिए भेद करना अर्थात् भिन्न चिन्तवन करना चाहिए ।१

अन्य जो-जो द्वादशांग में बीजाक्षर हैं तथा वैराग्य के कारण हैं उन-उन मंत्रों का ध्यान करता हुआ मुनि मोक्षमार्ग में गमन करता हुआ डिगता नहीं ।२

जो वीतराग है उसके इस लोक में प्रवर्त्तने वाले समस्त पदार्थों के समूह ध्येय हैं, क्योंकि वीतराग उस पदार्थ के स्वरूप में विपरीतता के अभाव से माध्यस्थता का आश्रय करते हैं ।३

इस प्रकार मंत्रपदों के अभ्यास से विशुद्धता बढ़ती है और चित्त एकाग्र हो जाने पर शुद्धस्वरूप का निर्मल प्रतिभास होता है और उस स्वरूप में उपयोग स्थिरता को प्राप्त होता है, संवर होता है, कर्मों की निर्जरा होती है तथा घातिकर्मों का नाश करके केवलज्ञान को प्राप्त कर मोक्ष को पाते हैं ।

रूपस्थ ध्यान—

पंच परम पद मूर्ति जो, उनका करना ध्यान ।
ध्यान यही रूपस्थ है, प्रकटावे निज ज्ञान ।।

किसी भी पदार्थ का चिन्तवन करना रूपस्थ ध्यान कहा जाता है । रूपस्थ ध्यान में देवाधिदेव अरहंत भगवान तथा देवरचित समवशरण का चिन्तवन किया जाता है ।

भूमि से ५०० धनुष ऊपर बीस हजार सीढ़ियों वाले समवशरण का चिन्तन करें । सर्वप्रथम उसके कोट खाई आदि का चिन्तन करें जो कि रत्नों से बने हुए हैं फिर समवशरण में प्रवेश करें । उन मानस्तम्भों का चिन्तन करें, जो चारों दिशाओं में चार होते हैं और जिन को देखते ही

---

१. एवं समस्त वर्णेषु मन्त्रविद्यापदेषु च ।
कार्यं क्रमेण विश्लेषो लक्ष्यभाव प्रसिद्धये ।।११२।।ज्ञा० सर्ग ३५

२. अन्यच्च यच्छ्रुतस्कन्धबीजं निर्वेदकारणम् ।
तत्तद्ध्यायन्नसौ ध्यानी नापवर्गपथि स्खलेत् ।।११३।। ज्ञा० स० ३५।

३. ध्येयं स्याद्वीतरागस्य विश्वं वर्त्यर्थसंचयम् ।
तद्धर्मव्यत्ययाभावान्माध्यस्थ्यमधितिष्ठतः ।।१।।११३।।क्षेपक श्लो० ज्ञा० स० ३५

अभिमानी पुरुषों के मान भंग हो जाते हैं । उनके ऊपर चौमुखी रत्नमयी मनोहर प्रतिमाओं का चिन्तन कर एक-२ मानस्तम्भों के चारों ओर एक एक—शुभ बावड़ी का चिन्तन करें और उन नाट्य-शाला आदि को देखें जिनके अन्दर अनेक देव-देवियां भक्ति में लीन होकर भगवान के गुणगान गाती हुई अनेक प्रकार के नृत्य व भक्तिगान कर रही हैं। फिर आगे अनेक अशोकवन, आम्र वन आदि आते हैं। उन सभी का चिन्तवन करते हुए चारों तरफ दरवाजे बड़े विशाल बने हुए हैं । उनके ऊपर देवों का पहरा रहता है, वहां पर एक भव्य कूट है । वहां से आगे अभव्यों का प्रवेश नहीं है ऐसा विचार करें । इस प्रकार और भी वहां की भूमि आदि का चिन्तन करते हुए बारह सभाओं का चिन्तवन करें जो गन्ध कुटी के चारों ओर बनी हुई हैं और उनमें क्रमशः चार सभाओं में चारों प्रकार के देव, चार में उनकी देवियां, एकमें महात्यागी सप्त प्रकार के मुनिराज, एक में तिर्यञ्च तथा एक में श्रावक, एक में श्राविकायें बैठी हैं। समस्त जीव परस्पर में विरोध रहित हैं क्योंकि विरोध करना जीव का स्वभाव नहीं है, विभाव है, विकार है और समवशरण में सभी विभाव परणति को भूल जाते हैं, निज कल्याण की भावना को भाते हैं। ऐसा विचार कर उस गंधकुटी की ओर देखें जो तीन कटनी युक्त रत्नादि मणियों से बनी हुई है । उसके ऊपर एक विशाल सिंहासन है और इस सिंहासन के ऊपर अष्टप्रातिहार्य युक्त, अनन्तचतुष्टय के धनी, चौतीसों अतिशयों से सुशोभित, अट्ठारह दोषों से रहित, चार अंगुल अधर भगवान जिनेन्द्र देव विराजमान हैं। वीतराग प्रभु की महिमा को बताते हुए आचार्य शुभचन्द्र जी कहते हैं —

तीन लोकों के जीवों को आनन्द के कारण हैं, संसाररूप समुद्र से पार होने के लिए जहाज तुल्य हैं, पवित्र अर्थात् द्रव्य-भावमल से रहित हैं, लोक-अलोक को प्रकाशित करने के लिए दीपक के समान हैं, प्रकाशमान निर्मल करोड़ों शरद कालीन चन्द्रमा की प्रभा से अधिक प्रभा के धारक हैं तथा किसी भी मुख्य विषय में समस्त जगत का उल्लंघन कर पाई है प्रतिष्ठा जिन्होंने, ऐसे जगत के अद्वितीय नाथ हैं, शिवस्वरूप हैं, अजन्मा हैं, पाप रहित हैं, ऐसे वीतराग भगवान का ध्यान करना चाहिए।१

ऐसे सर्वज्ञ देव का ध्यान करने वाला ध्यानी अन्य की शरण से रहित होकर अपने मन को इस प्रकार से संजीव करता है कि तन्मयता को प्राप्त कर अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।२

इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान के गुणों का चिन्तवन करना चाहिए । समवशरण में दिन-रात का भेद नहीं प्रतीत होता; क्योंकि वहां भामण्डल का इतना प्रकाश है कि उसके आगे सूर्य, चन्द्र और तारे आदि के दर्शन नहीं होते । दिन में तीन बार भगवान का धर्मोपदेश होता है और गणधर उसका अर्थ

---

१ त्रैलोक्यानन्दबीजं जननजलनिधेर्यानपात्रं पवित्रं
लोकालोकप्रदीपं स्फुरदमलशरच्चन्द्रकोटि प्रभाढ्यं ।
कस्यामप्यग्रकोटी जगदखिलमतिक्रम्य लब्धप्रतिष्ठं
देवं विश्वैकनाथं शिवमजमनघं वीतरागं भजस्व ॥४६॥ज्ञा०स० ३६

२. अनन्यशरणं साक्षात्तत्संलीनैकमानसः ।
तत्स्वरूपमवाप्नोति ध्यानी तन्मयतां गतः ॥३२॥ज्ञा० स०३६।

कहलाते हैं। ऐसा चिन्तन करें उसमें हमारा मन स्थिर होता है और यही रूपस्थ ध्यान कहा जाता है। (समवशरण की पूर्ण विवेचना कल्याणवाद में की है ।)

किसी तीर्थभूमि का चिन्तन करना कि यहां भगवान का जन्म हुआ था, यहां उन्होंने तपस्या की थी, यहां उनको केवलज्ञान हुआ था, यहां उनका या किन्हीं मुनिराज का निर्वाण हुआ था ऐसा विचार करना भी रूपस्थ ध्यान है । किसी क्षेत्र की या मंदिर की सुन्दर प्रतिमा के रूप का चिन्तन करना, गुरुओं के स्वरूप का उनके गुणों का चिन्तवन करना इत्यादि यह सभी रूपस्थ ध्यान कहे जाते हैं ।

इस ध्यान को करने से हमारा मन भगवान के गुण रूपी ग्रामों में रंजायमान होता हुआ समस्त प्रकार के संकल्प-विकल्प से रहित होकर अपने स्वरूप में तन्मय होता है ।१

तथा स्वरूप ज्ञान होने से संसार- शरीर, भोगों से अरुचि हो जाती है फिर मोक्षमार्ग स्वतः ही मिल जाता है । अतः हमें इस रूपस्थ ध्यान का अभ्यास अवश्य करना चाहिए । क्योंकि यह समस्त दुखोंको नष्ट करने वाला है, समस्त संसारिक सुख देता हुआ उस अक्षय आनन्द का कारण है जो अकथनीय है ।

(४) रूपातीत ध्यान—

सिद्ध गुणों का चिन्तवन, निज अनुभव से होय ।
ध्यान स्वरूपातीत है, करै लहै शिव सोय ।।

रूपातीत ध्यान अनुभव का विषय है, इन्द्रियों का नहीं । इसमें अमूर्त, अजन्मा, इन्द्रियों से अगोचर परमात्मा के स्वरूप का चिन्तवन किया जाता है । ज्ञानार्णव में इसका स्वरूप बताते हुये कहते हैं—

जिस ध्यान में ध्यानी मुनि चिदानन्दमय, शुद्ध, अमूर्त, परमाक्षर आत्मा को आत्मा से ही स्मरण करते हैं उसको रूपातीत ध्यान कहते हैं । २

इस रूपातीत ध्यान में सिद्ध भगवान के स्वरूप व गुणों का चिन्तन करें कि ये शरीर रहित हैं, मात्र ज्ञानमूर्ति हैं, चेतनमात्र हैं, अष्ट कर्मों से रहित हैं, सम्यक्त्वादि अष्टगुणों से सहित हैं, लोक के अग्रभाग पर स्थित हैं, कर्त्ता-भोक्ता नहीं मात्र ज्ञाता-दृष्टा हैं ।

इस प्रकार परमात्मा के सम्पूर्ण गुणों के स्वभाव से एक रूप अर्थात् अभिन्न रूप से अपनी आत्मा में संयोजन करके फिर उसे परमात्मा में संयोजन करें ।३

अपने सम्पूर्ण गुणों का चिन्तन करते हुये उनके गुणों से अपनी तुलना करें कि मेरे अन्दर भी यह शक्ति

---

१. तत्रजन्म्य परं ज्योतिस्तद्गुण ग्रामरञ्जितः ।
अविक्षिप्तमना योगी तत्स्वरूपमुपाश्नुते ।। ज्ञानार्णव ३६।३७।

२. चिदानन्दमयं शुद्धममूर्तं परमाक्षरम् ।
स्मरेद्यत्रात्मनात्मानं तद्रूपातीतमिष्यते ।।१६।।ज्ञाना०स० ४०।

३. तद्गुणग्रामसम्पूर्णं तत्स्वभावैक भावितः ।
कृत्वात्मानं ततो ध्यानी योजयेत्परमात्मनि ।।१९।।ज्ञाना० स० ४०।

छिपी हुई है जो भगवान के अन्दर है। मेरा स्वरूप भी अन्य कुछ नहीं है, मैं तो मात्र एक चेतन द्रव्य हूं, परन्तु अनादिकाल से मोह मदिरा पीकर बावला सा हो रहा हूं, अपने स्वरूप को भूला हुआ हू, पर को अपना मानता रहा हूं। जैसी आत्मा सिद्धों की है वैसा ही मेरी है उनका शुद्ध स्वभाव प्रकट हो गया है और मेरा छिपा हुआ है, वे दर्शन, ज्ञान, चारित्र की मूर्त्ति बन गये हैं और मैं कर्मों से लिप्त होने के कारण देहादि में ही लीन हूं। और भी इसी प्रकार के अनेक विचार करें। क्योंकि परमागम में विशुद्ध अर्थात् कर्म रहित और इनसे इतर अर्थात् कर्म सहित इन दोनों स्वतत्वों में शक्ति और व्यक्ति की अपेक्षा से गुणों में समानता होती है। १

ध्यान के दस भेद—ध्यान के दस भेदो की विवेचना अपने हरिवंश पुराण मे श्री गुणभद्राचार्य ने निम्न प्रकार की है—

बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से धर्मध्यान का लक्षण दो प्रकार का है। शास्त्र के अर्थ की खोज करना, शीलव्रत का पालन करना, गुणो के समूह मे अनुराग रखना, अंगड़ाई, जुमहाई, छींक, डकार और श्वासोच्छ्वास में मन्दता होना, शरीर को निश्चल रखना तथा आत्मा को व्रतों से युक्त करना, यह धर्मध्यान का बाह्य लक्षण है।

और आभ्यन्तर लक्षण अपाय विचय आदि के भेद से निम्न दस प्रकार का है—

अपाय विचय, उपाय विचय, जीव विचय, अजीव विचय, विपाक विचय, वैराग्य विचय, भव विचय, संस्थान विचय, आज्ञा विचय एवं हेतु विचय।

(१) अपाय विचय—इनमें अपाय का अर्थ त्याग है और मीमांसा का अर्थ विचार है। मन, वचन और काय इन तीन योगों की प्रवृत्ति ही प्रायः संसार का कारण है सो इन प्रवृत्तियों का मेरे त्याग किस प्रकार हो सकता है? इस प्रकार शुभ लेश्या से अनुरंजित जो चिन्तवन का प्रारम्भ है वह अपाय विचय नाम का प्रथम धर्मध्यान माना गया है।

(२) उपाय विचय—पुण्यरूप योग प्रवृत्तियों को अपने अधीन करना उपाय कहलाता है। यह उपाय मेरे किस प्रकार हो सकता है इस प्रकार के संकल्पों की जो सन्तति है वह उपाय विचय नामका दूसरा धर्मध्यान है।

(३) जीव विचय—द्रव्यार्थिक नय से जीव अनादि निधन है—आदि-अन्त से रहित है और पर्यायार्थिक नय से सादि-निधन है। असख्यात प्रदेशी है, अपने उपयोगरूप लक्षण से सहित है, शरीररूप अचेतन उपकरण से युक्त है और अपने द्वारा किये हुए कर्म के फल को भोगता है इत्यादि रूप से जीव का जो ध्यान करना है वह जीव विचय नामक तीसरा धर्मध्यान है।

(४) अजीव विचय—धर्म-अधर्म आदि अजीव द्रव्यों के स्वभाव का चिन्तन करना यह अजीव विचय नामका चौथा धर्मध्यान है।

---

१. द्वयोर्गुणैर्मतं साम्य व्यक्तिव्यशक्तिपेक्षया।
विशुद्धेतरयो. स्वात्मतत्वयो. परमागमे ॥२०॥ज्ञा०स० ४०।

(५) विपाक विचय—ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग रूप चार प्रकार के बन्धों के विपाक (फल) का विचार करना सो विपाक विचय नामक पांचवां धर्मध्यान है।

(६) विराग विचय—शरीर अपवित्र है और भोग किंपाक फलके समान तदात्व मनोहर है इसलिए इनसे विरक्त बुद्धि का होना श्रेयस्कर है इत्यादि चिन्तन करना सो विराग विचय नामका छठा धर्मध्यान है।

(७) भव विचय—चारों गतियों में भ्रमण करने वाले इन जीवों की मरने के बाद जो पर्याय होती है उसे भव कहते हैं। यह भव दुःखरूप है। इस प्रकार चिन्तवन करना सो भव विचय नामका सातवां धर्मध्यान है।

(८) संस्थान विचय—यह लोकाकाश, अलोकाकाश में स्थित है तथा चारों ओर से तीन वातवलयों से वेष्टित है। इत्यादि लोक के संस्थान (आकार) का विचार करना सो संस्थान विचय नामका आठवां धर्मध्यान है।

(९) आज्ञा विचय—जो इन्द्रियों से दिखाई नही देते ऐसे बन्ध, मोक्ष आदि पदार्थों में जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा के अनुसार निश्चय का ध्यान करना सो आज्ञा विचय नामका नौवां धर्म ध्यान है।

(१०) हेतु विचय—तर्क का अनुसरण करने वाले पुरुष स्याद्वाद की प्रक्रिया का आश्रय लेते हुए समीचीन मार्ग का आश्रय करते हैं—उसे ग्रहण करते है इस प्रकार चिन्तवन करना सो हेतु विचय नामका दसवां धर्मध्यान है।

यह दस प्रकार का धर्मध्यान अप्रमत्त गुणस्थान में होता है, प्रमाद के अभाव से उत्पन्न होता है, पीत और पद्म नामक शुभ लेश्याओं के बल से होता है, काल और भावके विकल्प में स्थित है तथा स्वर्ग और मोक्षरूप फल को देने वाला है। ध्यान में तत्पर मनुष्यों को यह ध्यान अवश्य ही करना चाहिए।

भावार्थ—यहां उत्कृष्टता की अपेक्षा धर्मध्यान को सातवें अप्रमत्त-गुणस्थान में बताया है परन्तु सामान्य रूप से यह चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक भी होता है और स्वर्ग का साक्षात् तथा मोक्ष का परम्परा से कारण है।

कर्म रहित परमात्मा के द्वारा अपने आत्मा को रूपातीत ध्यान में चिन्तवन करना चाहिये। शुभचन्द्र स्वामी ने इस प्रकार कहा है—जिसके समस्त विकल्प दूर हो गये हैं, रागादिक दोष क्षीण हो चुके हैं, समस्त पदार्थों को जानने वाले हैं, संसार के समस्त प्रपञ्च छोड़ दिये हैं, जो शिव अर्थात् कल्याण स्वरूप अथवा मोक्षस्वरूप हैं, जो अज अर्थात (जिसके आगे जन्म-मरण नहीं करना है) अनवद्य (पापों से रहित) हैं, समस्त लोक के अद्वितीय नाथ हैं। ऐसे परम पुरुष परमात्मा का शुद्ध भावपूर्वक ध्यान करना चाहिए।[1]

---

१. इतिविगत विकल्पं क्षीण रागादि दोषं, विदित सकल वेद्यं त्यक्तविश्वप्रपञ्चम्।
शिवमजमनवद्यं विश्व लोकैकनाथं, परम पुरुषमुच्चैर्भावशुद्धया भजस्व॥ ज्ञानार्णव ३१सं०४०॥

जो आकाश के आकार (अमूर्त), अनाकार, निष्पन्न (किसी प्रकार की हीनाधिकता न हो) शान्त, अपने स्वरूप से च्युत न होने वाले चरम शरीर से किञ्चित् न्यून, अपने घनीभूत प्रदेशों में स्थित (नासिकादि रन्ध्र प्रदेशों से रहित) लोक के अग्रभाग पर आसीन, शिवीभूत, अनामय (रोग से रहित) पुरुषाकार को प्राप्त होकर भी अमूर्त सिद्ध परमात्मा का ध्यान रूपातीत ध्यान में करना चाहिए।(।)

इस प्रकार भेद,प्रभेदों के साथ धर्म ध्यान की विवेचना संक्षेप से पूर्ण हुई।

शुक्लध्यान के योग्य ध्याता—अभय, असंमोह, विवेक और विसर्ग ये शुक्लध्यान के लिंग हैं, जिनके द्वारा शुक्ल ध्यान को प्राप्त हुआ चित्तवाला मुनि पहचाना जाता है।१ वह धीर, परिषहों और उपसर्गों से नहीं चलायमान होता है और न डरता है तथा वह सूक्ष्म भावों व देवमाया में भी मुग्ध नहीं होता है।२ वह देह को अपने से भिन्न अनुभव करता है, इसी प्रकार सब तरह के संयोगों से अपनी आत्मा को भी भिन्न अनुभव करता है, तथा निसंग हुआ वह सब प्रकार से देह व उपाधि उत्सर्ग करता है।३ ध्यान में अपने चित्त को लीन करने वाला, वह कषाओं से उत्पन्न हुए ईर्षा, विषाद और शोक आदि मानसिक दु:खों से भी नहीं बांधा जाता है।४ ध्येय में निश्चल हुआ वह साधु शीत व आतप आदि बहुत प्रकार की बाधाओं के द्वारा भी नहीं बांधा जाता है।५ (ध) १३।५,४,१६।गा ६७–७१–)

वज्र-ऋषभ संहनन के धारक, पूर्वनामक श्रुतज्ञान से संयुक्त और उपशम व क्षपक दोनों श्रेणियों के आरोहण में समर्थ, ऐसे अतीत महापुरुषों ने इस भूमण्डल पर शुक्लध्यान को ध्याया है।६

शुक्लध्यान की परिभाषा—शुक्लध्यान जो साक्षात् केवलज्ञान, अनंतचतुष्टय, मोक्षसुख का साधक है। इसके अभाव में शेष ध्यानों का कोई विशेष महत्व नहीं है। जो महामनीषी यतिवर शुक्लध्यान से विभूषित हो जाते हैं। मोक्षसुन्दरी हमेशा के लिए उनकी सहचरी बन जाती है।

।. व्योमाकार मनाकारं निष्पन्नं शान्तमच्युतं।
चरमाङ्गात्कियन्न्यूनं स्वप्रदेशैर्घनैः स्थितम् ॥ २२ ॥
लोकाग्रशिखरा सीन शिवीभूत मनामयं।
पुरुषाकारमापन्न मप्यमूर्तं च चिन्तयेत् ॥ २३ ॥ ज्ञानार्णव स० ३६

१. अभयासंमोहविवेग विसग्गा तस्स होंति लिंगाइं।
लिंगिज्जइ जेहि मुणी सुक्कज्झाणेवगय चित्तो।

२. चालिज्जइ बीहेइ व धीरो ण परीसहोवसग्गेहि।
सुहुमेसु ण सम्मुज्झइ भावेसु ण देवमायासु॥

३. देह विचित्तं पेच्छइ अप्पाणं तह य सव्वसंजोय।
देहो वहिवोसग्गं णिस्संगो सव्वदो कुणदि॥

४. ण कसायसमुत्थेहि वि बाहिज्जइमण सेहिदुक्खेहि।
ईसाविसाय सोगादिएहि झाणोवगय चित्तो॥

५. सीयायवादिएहि मि सारीरेहि बहुप्पयारेहि।
णो बाहिज्जइ साहू ध्येयम्मि सुणिच्चलो संता॥ (ध० १३।५,४,१६।गा०६७-७१)

६. वज्रसंहननोपेताः पूर्वश्रुत समन्विताः।
दध्युः शुक्ल मिहातीताः श्रेण्योरारोहणक्षमाः। त० अनु। ३५

राग-द्वेष विमुक्तात्मा के विशुद्ध ध्यान को शुक्लध्यान कहते हैं।

शुक्लध्यान एवं उसके भेद-प्रभेदों की विवेचना आचार्यों ने निम्न प्रकार की है—

जिसमें शुचि-गुण का सम्बंध है वह शुक्ल ध्यान है ।१

जैसे मल हट जाने से वस्त्र शुचि होकर शुक्ल कहलाता है, उसी तरह निर्मल गुणयुक्त आत्मपरणति भी शुक्ल है ।२

कषायमल का अभाव होने से इसे शुक्लपना प्राप्त है ।३

जहां गुण अति विशुद्ध होते हैं, जहां कर्मों का क्षय और उपशम होता है, जहां लेश्या भी शुक्ल होती है,उसेशुक्ल ध्यान कहते हैं ।४

जो निष्क्रिय व इन्द्रयातीत है, मैं ध्यान करूं इस प्रकार के ध्यान की धारणा से रहित है जिसमें चित्त अन्तर्मुख है वह शुक्लध्यान है । ५

ध्यान-ध्येय, ध्याता और ध्यान का फल आदि के विविध विकल्पों से विमुक्त, अन्तर्मुखाकार, समस्त इन्द्रिय समूह के अगोचर निरंजन निज परमात्मतत्त्व में अविचल स्थिति रूप वह निश्चय शुक्लध्यान है ।६

रागादि विकल्प से रहित स्वसंवेदन ज्ञान को आगम भाषा में शुक्लध्यान कहा है ।७

निज शुद्धात्म में रागादि विकल्प रहित समाधि रूप शुक्ल ध्यान है ।८

मल रहित आत्मा के परिणाम को शुक्ल ध्यान कहते हैं ।९

शुक्लध्यान के लक्षण—शरीर और नेत्रों को स्पन्द रहित रखना, जंभाई, छींक ,डकार आदि नहीं होना, प्राणापान का प्रसार व्यस्त न होना अथवा प्राणापान का प्रसार नष्ट हो जाना बाह्य शुक्लध्यान है । इसे अन्य लोग अनुमान से जान सकते हैं । जिसका केवल आत्मा को स्वसंवेदन हो वह आभ्यंतर शुक्लध्यान है ।

शुक्लध्यान के भेद—शुक्लध्यान के दो भेद हैं—(१)शुक्ल ध्यान (२) परमशुक्ल ध्यान ।.इनमें भी शुक्लध्यान के दो भेद हैं—पृथक्त्व वितर्क वीचार और दूसरा एकत्व वितर्क वीचार । परमशुक्लध्यान भी दो

---

१. शुचिगुण योगाच्छुक्लम् स० सि० ९ । २८

२. यथा मल द्रव्यापायात: शुचिगुणयोगाच्छुक्लं वस्त्रं तथा तद्गुणसाधर्म्यादात्मपरिणाम स्वरूपमपि शुक्लमिति निरुच्यते । रा० वा० ९ । २८

३. कुदो एदस्स सुक्कत्तं कसायमलाभावादो । ध० १३ । ५.४.२६

४. जत्थगुणा सुविसुद्धा उपसम खमणं च जत्थ कम्माणं ।
लेसा वि जत्थ सुक्का तं सुक्कं भण्णदे झाणं ।। का० अ० ४८३ ।।

५. निष्क्रियं करणातीतं ध्यान धारणवर्जितम् ।
अन्तर्मुखं च यच्चित्तं तच्छुक्लमिति पठ्यते ।। ज्ञा० ४२ । ४

६. ध्यान-ध्येय-ध्यातृतत्फलादि विविध विकल्प निर्मुक्तान्त मुखाकार निखिलकरण ग्रामगोचर निरञ्जन निजपरम तत्त्वाविचल स्थिति रूप शुक्ल ध्यानम् ।नि० सा० । ता० वृ० १२३

७. रागादि विकल्प रहित स्वसंवेदनज्ञानमागमभाषया शुक्लध्यानम् । (प्र० सा० ता० वृ० ८।१२

७. स्व शुद्धात्मनि निर्विकल्पसमाधि लक्षणं शुक्लध्यानम् ।। द्र० सं० । टी० । ४८

९. मलरहितात्म परिणामोद्भवं शुक्लम् ।। भा० पा० । टी० ७८

प्रकार का है—सूक्ष्म-क्रिया प्रतिपाती और दूसरा व्युपरत क्रियानिवृत्ति।

(१) **पृथक्त्व वितर्क वीचार का स्वरूप**—द्रव्य, गुण और पर्याय के भिन्नपने को पृथक्त्व कहते हैं। निज शुद्धात्म या अनुभव रूप भावश्रुत को और निज शुद्धात्मा को कहने वाले अन्तर्जल्परूप वचन को वितर्क कहते हैं। इच्छा विना ही एक अर्थ से दूसरे अर्थ में, एक वचन से दूसरे वचन में, मन, वचन और काय इन तीनों योगों में से किसी एक योग या दूसरे योग में जो परिणमन है उसको वीचार कहते हैं। इसका यह अर्थ है—यद्यपि ध्यान करने वाला पुरुष निज शुद्धात्म संवेदन को छोड़कर बाह्य पदार्थों की चिन्ता नही करता, तथापि जितने अंशों से स्वरूप में स्थिरता नही है उतने अंशों से अनिच्छित वृत्ति से विकल्प उत्पन्न होते हैं इस कारण इस ध्यान को पृथक्त्व-वितर्क वीचार कहते हैं।१

जिस प्रकार अपर्याप्त उत्साह से बालक अव्यवस्थित और मौथरे शस्त्र के द्वारा भी चिरकाल में वृक्ष को छेदता है, उसी प्रकार चित्त की सामर्थ्य को प्राप्त कर जो द्रव्यपरमाणु और भावपरमाणु का ध्यान कर रहा है वह अर्थ और व्यंजन तथा काय और वचन में पृथक्त्व रूप से संक्रमण करने वाले मन के द्वारा मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशम और क्षय करता हुआ पृथक्त्व वितर्क वीचार ध्यान को धारण करने वाला होता है। फिर शक्ति की कमी से योग से योगान्तर, व्यञ्जन से व्यञ्जनान्तर और अर्थ से अर्थान्तर को प्राप्त कर मोहरज का विध्वंस कर ध्यान से निवृत्त होता है, यह पृथक्त्व वितर्क वीचार ध्यान है।२

उपशान्तमोह जीव अनेक द्रव्यो का तीनों ही योगों के आलम्बन से ध्यान करते हैं इसलिए उसे पृथक्त्व, ऐसा कहा है वितर्क का अर्थ श्रुत है और पूर्णगत अर्थ में कुशल साधु ही इस ध्यान को ध्याते है, इसलिए इस ध्यान को सवितर्क कहा है। अर्थ, व्यञ्जन और योगों का संक्रम वीचार है जो ऐसे संक्रम से युक्त होता है उसे सूत्र में सविचार कहा है।३

---

१. पृथक्त्वं वितर्क वीचार तावत्कथ्यते। द्रव्यगुणपर्यायाणां भिन्नत्वं पृथक्त्वं भण्यते, स्वशुद्धात्मानुभूति लक्षणं भावश्रुतं तद्वाचक अन्तर्जल्पवचन वा वितर्को भण्यते, अनीहितवृत्त्यर्थान्तर परिणमन वचनाद्वचनान्तरपरिणमनं मनोवचनकाय योगेषु योगाद्योगान्तर परिणमनं वीचारो भण्यते।
अयमत्रार्थः यद्यपि ध्याता पुरुषः स्वशुद्धात्म संवेदनं विहाय बहिश्चिन्तां न करोति तथापि यावतांशेन स्वरूपेस्थिरत्वं नास्ति तावतांशेनानीहितवृत्त्या विकल्पाः स्फुरन्ति, तेन कारणेन पृथक्त्ववितर्क वीचारं—ध्यान भण्यते। द्र० सं० ।टी०।४८

२. तत्र द्रव्यपरमाणु भावपरमाणु वा ध्यायन्नाहितवितर्कसामर्थ्यः अर्थव्यञ्जने कायवचसी च पृथक्त्वेन संक्रामता मानसा पर्याप्त बालोत्साहवद् अव्यवस्थितेनानिशितेनापि शस्त्रेण चिरात्तरुं छिन्दन्निव मोहप्रकृतीरुपशमयन्क्षपयंश्च पृथक्त्व वितर्क वीचार ध्यानभाग्भवति। पुनर्वीर्यविशेषहानेर्योगाद्योगान्तर व्यञ्जनाद्व्यञ्जनान्तरमर्थादर्थान्तरमाश्रयन् ध्यानविधूनित मोहरजाः ध्यान योगान्निवर्तते इति पृथक्त्ववितर्कवीचारं (रा० वा०९,४४)—
स० सि० । ९ । ४४ । ४५६ । १

३. दव्वाइमणेगाइ तीहि वि जोगेहि जेणज्झायति। उवसंतमोहणिज्जातेण पुधत्तं ति तं भणितं। ५८।
जम्हा सुदं विदक्कं जम्हा पुव्वगय अत्थ कुसलोय। ज्झायदि ज्झाणं एवं सविदक्कं तेण तंज्झाणं ॥ ५९ ॥
अत्थाण वंजणाण जोगाण य संकमोहु वीचारो।
तस्सय भावेण तग सुत्ते उत्तं सवीचारं ॥ ६० ॥ध.१३।५, ६, २६।गा० ५८-६०।७८

अब इसका भावार्थ कहते हैं एक द्रव्य, गुण या पर्याय को श्रुतरूपी रविकिरण के प्रकाश के बल से ध्याता है। इस प्रकार उसी पर्याय को अन्तर्मुहूर्त काल तक ध्याता है इसके बाद अर्थान्तर पर, नियम से संक्रमित होता है अथवा उसी अर्थ के गुण या पर्याय पर संक्रमित होता है। और पूर्व योग से स्यात्-गुण-गुणान्तर और पर्याय-पर्यायान्तर को नीचे ऊपर स्थापित करके फिर तीनों योगों को एक पंक्ति में स्थापित करके द्विसंयोगी और त्रिसंयोगी की अपेक्षा यहां पृथक्त्व वितर्क वीचार ध्यान के ४२ भंग उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार शुक्ल लेश्या वाला उपशान्तकषाय जीव छह द्रव्य और नौ पदार्थ विषयक पृथक्त्व वितर्क वीचार ध्यान को अन्तर्मुहूर्त काल तक को ध्याता है। अर्थ से अर्थान्तिर संक्रम होने पर भी ध्यान का विनाश नहीं होता क्योंकि इसमें चिन्तान्तर में गमन नहीं होता।१

(२) **एकत्ववितर्क अवीचार का स्वरूप**—जो समूल मोहनीय कर्म का दाह करना चाहता है जो अनन्त-गुणी विशुद्धि विशेष को प्राप्त होकर बहुत प्रकार की ज्ञानावरण की सहायभूत प्रकृतियों के बन्ध को रोक रहा है, जो कर्मों की स्थिति को न्यून और नाश कर रहा है, जो श्रुतज्ञान के उपयोग से युक्त है, जो अर्थ, व्यञ्जन और योग की संक्रान्ति से रहित है, निश्चल मन वाला है, क्षीण कषाय है और वैडूर्य-मणि के समान निरुपलेप है।——————इस प्रकार एकत्ववितर्क ध्यान कहा गया है।२

निज शुद्धात्म द्रव्य में या विकार रहित आत्ममुख अनुभवस्वरूप पर्याय में, या उपाधि रहित स्व-संवेदन गुण में इन तीनों में से नित्य एक द्रव्य, गुण या पर्याय में प्रवृत्त हो गया और उस में वितर्क नामक निजात्मा अनुभवरूप भाव श्रुत के बल से स्थित होकर अवीचार अर्थात् द्रव्य, गुण या पर्याय में प्रवृत्त हो गया और उसी में वितर्क नामक निजात्मानुभवरूप भाव श्रुत के बल से स्थिर होकर अवीचार अर्थात् द्रव्य, गुण, पर्याय में परावर्तन नहीं करता वह एकत्व वितर्क नामक दूसरा शुक्लध्यान कहलाता है। जो केवल ज्ञान की उत्पत्ति का साक्षात् कारण है। ३

---

१. एकदव्वं गुणपज्जायं वा पढमसमए बहुणयगहण णिलीणं सुदरविकिरणुज्जोयबलेण ज्झायदि।
एवं तं चेव अंतोमुहुत्त मेत्त कालंज्झायदि।तदो परदो अत्थंतरस्स णियमा संकमदि।
अधवातम्हि चेव अत्थे गुणस्स पज्जयस्स वा संकमदि। पुव्विल्लजोगादोजोगंतरं पिसिया सकमदि। एगमत्थमत्थंतरं गुणगुणंतरं पज्जायपज्जायंतरं च हेट्ठोवरिट्ठविय पुणो तिण्णि जोगे एगपंतीए ठविय दुसंजोग-तिसंजोगे हि एत्थह पुधत्त विदक्कवीचारज्झाणभंगा बादालीसं ॥ ४२ ॥
उप्पाए दव्वा। एवमंतोमुहुत्तकाल मुवसंतकसाओ सुक्कलेस्साओ पुधत्तविदक्कवीचारज्झाणं छदव्व-णवपयत्थविसयमंतोमुहुत्त कालंज्झायइ अत्थदो अत्थंतरसंकमे संति वि ण ज्झाण विणासो, चित्तंतरगणणा भावादो।
ध० १३। ५.४.२६। ७८। ८॥

२. स एव पुनः समूलतूलं मोहनीयं निर्दिधक्षन्ननन्तगुणविशुद्धि योगविशेषमाश्रित्य बहुतराणां ज्ञानावरणीयीभूतानां प्रकृतीनां बन्धे निरुन्धन् स्थिति ह्रासक्षयौ च कुर्वन् श्रुतज्ञानोपयोगो निवृत्तार्थव्यञ्जन योगसंक्रान्तिः अविचलितमनाः क्षीणकषायो वैडूर्यमणिरिव निरुपलेपो ध्यात्वापुनर्न निवर्तत इत्युक्तमेकत्व वितर्कम्। स० सि० ९।४४।४५।६।४।

३. निजशुद्धात्मद्रव्ये वा निर्विकारात्म सुखसंवित्ति पर्याये वा निरुपाधिस्वसंवेदन गुणे वाय येकस्मिन् प्रवृत्तं तदेव वितर्क संज्ञेन स्वसंवित्तिलक्षण भावश्रुतबलेन स्थिरीभूयाविचारं गुणद्रव्यपर्यायपरावर्तनं न करोति—
यत्तदेकत्ववितर्कवीचार संज्ञं क्षीण कषाय गुणस्थान संभवं द्वितीयं शुक्लध्यानं भण्यते। तेनैव केवलज्ञानोत्पत्तिः
इति। द्र० सं०। टी०। ४८। २०४। ४

क्षीण कषाय जीव एक ही द्रव्य का किसी एक योग के द्वारा ध्यान करता है, इसलिए उस ध्यान को एकत्व कहा है। वितर्क का अर्थ श्रुत है और पूर्वगत अर्थ में कुशल साधु इस ध्यान को ध्याता है इसलिए इस ध्यान को एकत्व कहा है और योगों के संक्रम का नाम वीचार है उस वीचार के अभाव से यह ध्यान अविचार कहा है ।१

जो जीव नौ पदार्थ में से किसी एक पदार्थ का द्रव्य, गुण और पर्याय के भेद से ध्यान करता है। इस प्रकार किसी एक योग और एक शब्द के आलम्बन से एक द्रव्य, गुण या पर्याय में मेरु पर्वत के समान निश्चल भाव से वहीं अवस्थित चित्त वाले, असंख्यात गुणश्रेणि के क्रम से कर्म स्कन्धों को गलाने वाले, अनंतगुणहीन श्रेणिक्रम से कर्मों के अनुभाग को शोषित करने वाले और कर्मों की स्थितियों को एक योग तथा एक शब्द के आलम्बन से प्राप्त हुए ध्यान के बल से घात करने वाले उस जीव का अन्तर्मुहूर्त काल रह जाता है तदनन्तर शेष रहे क्षीणकषाय के काल प्रमाण स्थितियों को छोड़कर उपरिम सब स्थितियों की उदयादि श्रेणि रूप से रचना करके पुन: स्थितिकाण्डक के बिना अध: स्थिति गलना आदि ही असंख्यात गुण श्रेणि क्रम से कर्मस्कन्धों का घात करता हुआ क्षीणकषाय के अन्तिम समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय का घात करके केवलज्ञानी, दर्शनधारी, अनंतवीर्यधारी तथा दान, लाभ, भोग व उपभोग के विघ्न रहित होता है।

(३) **सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती का स्वरूप**—वितर्करहित, अवीचार सूक्ष्म क्रिया करने वाले आत्मा के यह ध्यान होता है। सूक्ष्म काय योग से प्रवृत्त होता है। सूक्ष्म काय योग में रहने वाले केवली इस तृतीय शुक्ल-ध्यान के धारक हैं। उस समय वे सूक्ष्मकाय योग का निरोध करते हैं।२

इस प्रकार एकत्ववितर्क शुक्लध्यानरूपी अग्नि के द्वारा जिसने चार घातिया कर्म रूपी ईंधन को जला दिया है, वह जब आयु कर्म का अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहता है तब सब प्रकार के वचन योग, मनोयोग और बादर काययोग को त्यागकर सूक्ष्म काययोग का आलम्बन लेकर सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती ध्यान को स्वीकार करता है, परन्तु जब उन सयोगी केवली जिनकी आयु अन्तर्मुहूर्त शेष

---

१. जेणेगमेव दव्वं जोगेणेक्केण अण्णदरएण ।
क्षीणकसाओ ज्झायइ तेणेयत्तं तगं भणिवं ॥ ६१ ॥
जम्हा सुदं विदक्कं जम्हा पुव्वगय अत्थ कुसलोय ।
ज्झायदि झाणं एदं सविदक्कं तेण तज्झाणं ॥ ६२ ॥
अत्थाण वंजणाण य जोगाण य संकमो हु विचारो ।
तस्स अभावेण तगं ज्झाणमवीचारमिदि वुत्तं ॥ ६३ ॥ ध० १३ । ५.४.२६ । गा० ६१–६३ ।-७९

२. अवितक्कमवीचारं सुहुमकिरियबंधणं तदिय सुक्कं ।
सुहुमम्मि कायजोगे भणिदं तं सव्वभावगदं ।
सुहुमम्मि कायजोगे वट्टंतो केवली तदिय सुक्कम् ।
झायदि णिरुंभिदुंजे सुहुमत्तण कायजोगंपि ॥ १८८६ १८८७ ॥ भ० आ०

रहती है । तब तीन कर्मों की स्थिति को आयु कर्म के समान करके अपने पूर्व शरीर प्रमाण होकर सूक्ष्म काय योग के द्वारा सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती ध्यान होता है ।१

क्रिया का अर्थ योग है वह जिसके पतनशील हो वह प्रतिपाती कहलाता है । और उसका प्रतिपक्ष अप्रतिपाती कहलाता है । जिसमें क्रिया अर्थात् योग सूक्ष्म होता है वह सूक्ष्म क्रिया कहा जाता है और सूक्ष्म क्रिया होकर जो अप्रतिपाती होता है, वह सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती ध्यान कहलाता है । यहाँ केवल ज्ञान के द्वारा श्रुतज्ञान का अभाव हो जाता है इसलिए अवितर्क है और अर्थान्तिर की संक्रान्ति का अभाव होने से अवीचार है ।२

(४) **समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति का स्वरूप**—अन्तिम उत्तम शुक्लध्यान वितर्क रहित है, अनिवृत्ति है, क्रिया रहित है, शैल सी अवस्था को प्राप्त है और योग रहित है । औदारिक शरीर, तैजस व कार्माण शरीर इन शरीरों के बन्ध का नाश करने के लिए वे अयोग केवली भगवान के समुच्छिन्न क्रियानिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यान होता है ।३

इसके बाद चौथे समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति ध्यान को प्रारम्भ करते हैं इसमें प्राणायाम के प्रचार रूप का तथा सब प्रकार के काययोग, वचनयोग और मनोयोग के द्वारा होने वाली आत्मप्रदेश परिस्पन्दन रूप क्रिया का उच्छेद हो जाने से इसे समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति ध्यान कहते हैं ।४

जिसमें क्रिया अर्थात् योग सब प्रकार से उच्छिन्न हो गया है, वह समुच्छिन्न क्रिया है और समुच्छिन्न क्रिया होने पर जो अप्रतिपाती है वह समुच्छिन्न क्रियाप्रतिपाती ध्यान है ।

---

१. एवमेकत्ववितर्क शुक्लध्यान वैश्वानर निर्दग्धघाति कर्मेन्धन...,स यदान्तर्मुहूर्त शेषायुष्क...तदा सर्व वाङ्मनसयोगं बादरकाययोगम् च परिहाप्य सूक्ष्मकाययोगालम्बनः सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति ध्यानमास्कन्दितु मर्हतीति । ...
समीकृत स्थिति शेष कर्मचतुष्टयः पूर्वशरीर प्रमाणो भूत्वा सूक्ष्मकाय योगेन सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यानं ध्यायति ।
स० सि० । ९ । ४४ । ४५६ । ८

२. संपहि तदिय सुक्कज्झाण परुवणं कस्सामो । तं जहा-क्रिया नाम योगः ।प्रतिपतितं शीलं यस्य तत्प्रतिपाति ।
तत्प्रतिपक्षः अप्रतिपाति । सूक्ष्मक्रिया योगो यस्मिन् तत्सूक्ष्मक्रियम् । सूक्ष्मक्रियं च तदप्रतिपाति च सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति ध्यानम् । केवल ज्ञानेनापसारित श्रुतज्ञानत्वात्य तदवितर्कं । अर्थान्तर संक्रान्त्यभावात्तदवीचारं व्यञ्जन-योग संक्रान्त्यभावाद्वा । कथं तत्संक्रान्त्यभावः । तदवष्टम्भबलेन विना अक्रमेण त्रिकाल गोचरशेषावगतेः ।
ध० १३ । ५.४,२६ । ८३ । २

३. अवियक्कमवीचारं अणियट्टिअकिरियं च सीलेसि । ज्झाणंणिरुद्धयोगं अपच्छिमं उत्तम सुक्कं ॥ देहतियबंधपरिमो-क्खत्थं तो केवलीअयोगी सो । उवयादि समुच्छिण्ण किरियं तु झाणं अपडिवादि ॥(भ० आ०मू० १८८२-२११६)
। २१२३ । भ० आ०

४. ततस्तदनन्तरं समुच्छिन्नक्रिया निवृत्ति ध्यानमारभते । समुच्छिन्न प्राणापान प्रचार सर्वकायवाङ्मनोयोग सर्वप्रदेश परिस्पन्दन क्रिया व्यापारत्वात्त समुच्छिन्न निवृत्तीत्युच्यते । स० सि०।९४४।४५७।

यह श्रुतज्ञान से रहित होने के कारण अवितर्क है जीव प्रदेशों के परिस्पन्दन का अभाव होने से अवीचार है या अर्थ, व्यञ्जन और योग की संक्रान्ति के अभाव होने से अवीचार है ।१

विशेष रूप से उपरत् अर्थात् दूर हो गयी है क्रिया जिसमें वह व्युपरत क्रिया है व्युपरत क्रिया हो और अनिवृत्ति हो वह ही व्युपरतक्रिया निवृत्ति नामा चतुर्थ शुक्ल ध्यान है ।२

ध्यान तप के अन्दर धर्मध्यान एवं शुक्ल ध्यान का ही महत्व है । आर्त-रौद्रध्यान तो सर्वथा त्याज्य ही हैं । धर्मध्यान परम्परा से मोक्षसुखप्राप्ति का कारण है एवं शुक्ल ध्यान साक्षात् मुक्तिवरण का हेतु है । अतः दोनों ही उपादेय हैं ।

(इस प्रकार ध्यान तप की विवेचना पूर्ण हुई ।)

१. समुच्छिन्नक्रिया योगो यस्मिन् तत्समुच्छिन्न क्रियम् । समुच्छिन्नक्रियं च अप्रतिपाति च समुच्छिन्न क्रिया प्रतिपाति ध्यानम् । श्रुतरहितत्वात् अवितर्कम् । जीवप्रदेशपरिस्पन्दा भावादवीचारं अर्थव्यञ्जनयोग संक्रान्त्यभावाद्वा । (ध० । १३ । ५.४.२६ । ८७ । ६)

२. विशेषेणोपरता निवृत्ता क्रिया यत्र तद् व्युपरत क्रियं च तदनिवृत्ति चानिवर्तकं च तद् व्युपरतक्रियानिवृत्तिसंज्ञं चतुर्थ शुक्ल ध्यानम् ।। द्र० सं० । टी० । ४८ । २०४ । ६
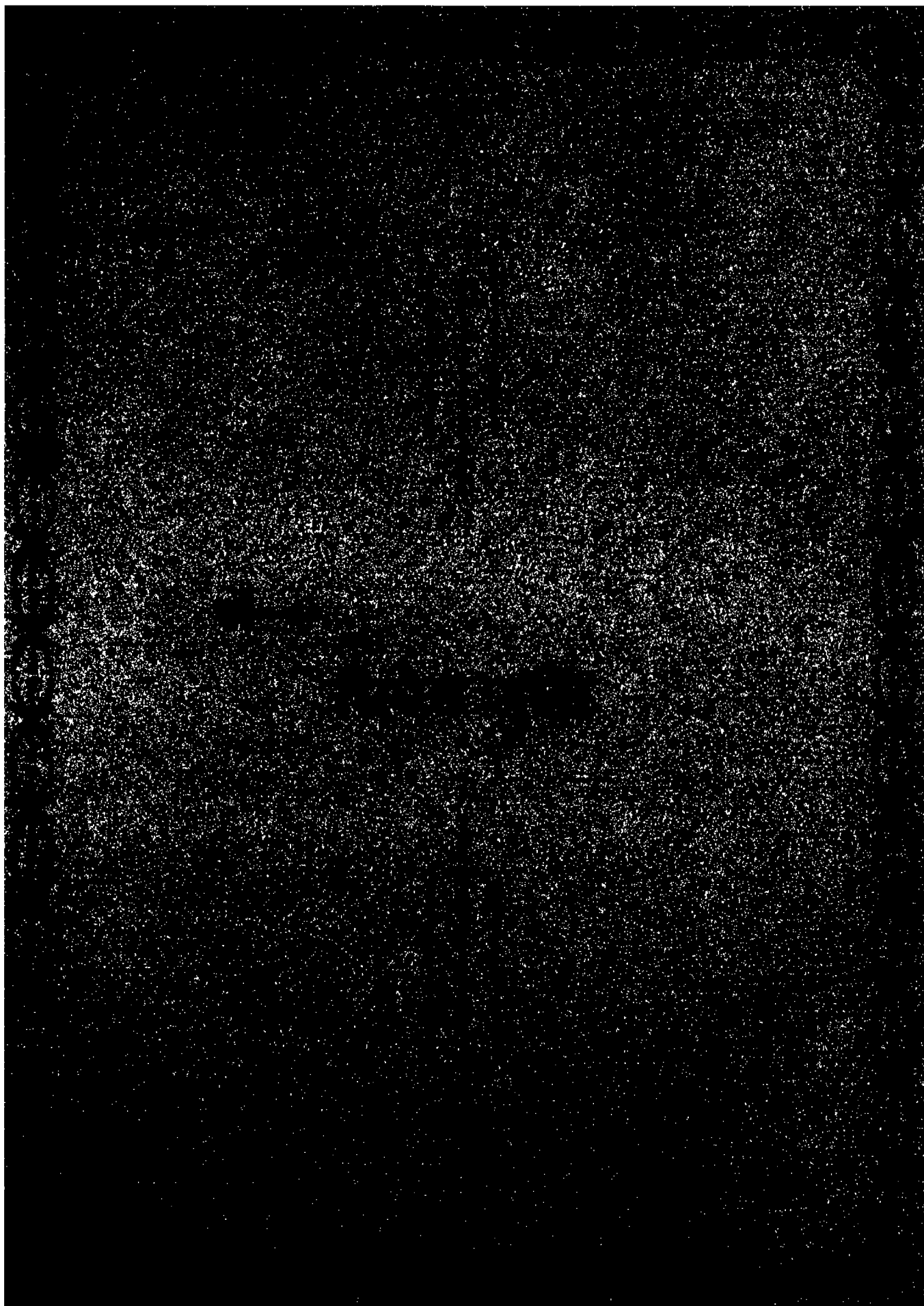
* पिण्ड शुद्धि (आहार शुद्धि) *

रत्नत्रय बाधक सभी दोषों से विमुक्त आत्मीय गुणों की उपलब्धि में अनुरक्त परम वीतरागी आगम, अध्यात्म को जानने में कुशल मुनिराज संयम की सुरक्षा हेतु शरीर से चारों आराधनाओं की साधना करने के लिये दिन में एक बार उच्चकुलीन श्रावकों द्वारा छ्यालीस दोषों से रहित आगम के अनुकूल नवकोटि विशुद्ध आहार ग्रहण करते हैं उसे ही भिक्षा शुद्धि या पिण्ड शुद्धि कहते हैं।

आहार—तीन शरीर और छह पर्याप्तियो के योग्य पुद्गल वर्गणाओं के ग्रहण करने को आहार कहते है।

उपभोग्य शरीर के योग्य पुद्गलों का ग्रहण आहार है। वह आहार शरीर नामकर्म के उदय तथा विग्रहगति नाम कर्म के उदय के अभाव में होता है।

सामान्यतया भोजनादि के ग्रहण करने को भी आहार कहते हैं।

आहार के भेद-आगम में चार प्रकार से आहार के भेदों का उल्लेख मिलता है। कवलाहार, कर्माहार, नोकर्माहार एवं उष्माहार।

१. **कवलाहार**—खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय, इन चार प्रकार की भोज्य सामग्रियों को शरीर पुष्टि हेतु मुख से ग्रहण करना कवलाहार है। ग्रास रूप में लिये जाने वाले आहार को भी कवलाहार कहते हैं।

२. **कर्माहार**—कषाय और योग के निमित्त से प्रतिक्षण कर्मवर्गणाओं का ग्रहण कर्माहार है।

३. **नोकर्माहार**—शरीर के योग्य पुद्गल-वर्गणाओं का ग्रहण नोकर्माहार है। तथा गर्भस्थ बालक द्वारा ग्रहण किया गया माता का रजांश भी उसका नोकर्माहार है।

४. **उष्माहार**—शरीर के स्पर्श से प्राप्त उष्णता को उष्माहार कहते हैं। जैसे अंडे के अन्दर विद्यमान जीव का पक्षी द्वारा सेया जाना। इसी को ओजाहार भी कहते हैं।

आगम में आहार के अनेकों भेद प्रतिभेद विवेचित हैं परन्तु प्रसङ्गानुसार यहां पर कवलाहार रूप मुनिराजों की चर्या का वर्णन किया जा रहा है—

दाता—योग्य पात्र को उचित सामग्री समर्पित करने वाले श्रावकों को दाता कहते हैं। गुरु-उपासना एवं दान यह श्रावकों की नैमित्तिक क्रिया में (आवश्यक क्रिया में) अवस्थित है। अर्थात् पात्रों को आहार दानादि देना श्रावकों का स्वाभाविक कर्तव्य है और ऐसे कर्तव्यनिष्ठ अणुव्रती श्रावकों को ही आचार्यों ने दाता कहा है। दान देने वाले के मूल में सप्त गुण है।—

१ श्रद्धा—दाता देव,शास्त्र, गुरु एवं धर्म का श्रद्धालु होता है।

२ भक्ति—दाता के हृदय में तीर्थंकर, परमेष्ठी एवं गुरुओं के प्रति स्वाभाविक भक्ति होती है।

३ शक्ति—दाता अपनी शक्ति के अनुसार ही दान देता है।

४ विज्ञान—किस ऋतु में, या किस पात्र को कैसा आहार देना चाहिए, इस बात को दाता विशेष रूप से जानने वाला होता है।

५ अलुब्धता—दाता के हृदय में किसी भी प्रकार का लोभ नहीं होता है। वह सहज भाव से ही उचित वस्तु पात्र को समर्पित कर देता है।

६ क्षमा—दान देने वाला दातार (श्रावक) स्वाभाविक क्षमाशील होता है, वह पात्र के अलाभ में या प्रतिकूलता में कुपित नहीं होता।

७ त्याग—दाता निजपुरुषार्थ एवं नीति-न्याय से संजोयी सामग्री को आयतनों के हित में समर्पित करने के लिए प्रतिक्षण तत्पर रहता है।

दाताओं के गुणों की विवेचना अनेक आचार्यों ने इस प्रकार की है—

श्रद्धा, शक्ति, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और त्याग ये दानपति अर्थात् दान देने वाले के सात गुण कहलाते हैं। १

पात्र में ईर्ष्या न होना, त्याग में विषाद न होना, देने की इच्छा करने वाले में तथा देने वाले में या जिसने दान दिया है सबमें प्रीति होना, कुशल अभिप्राय, प्रत्यक्ष फल की आकांक्षा न होना, निदान नहीं करना, किसी से विसंवाद नहीं करना आदि दाता की विशेषताएं हैं।२

भक्ति, श्रद्धा, सत्य, तुष्टि, ज्ञान, अलौल्य और क्षमा इसके असाधारण गुण सहित जो श्रावक मन, वचन काय तथा कृत-कारित-अनुमोदना इन नौ कोटियों के द्वारा विशुद्ध दान का अर्थात् देने योग्य द्रव्य का स्वामी होता है। वह दाता कहलाता है।३

---

१. श्रद्धा शक्तिश्च भक्तिश्च विज्ञानञ्चाप्यलुब्धता।
क्षमा त्यागश्च सप्तैते प्रोक्ता दानपतेर्गुणाः॥ (म० पु०)

२. प्रतिग्रहीतरि अनसूया त्यागेऽविषादः दित्सतो ददतो दत्तवतश्च प्रीतियोगः, कुशलाभिः सन्धितः दृष्टफलानपेक्षिता निरुपरोधत्वमनिदानत्वमित्येवमादिः दातृविशेषोऽवसेयः (रा० वा०)

३. भक्तिश्रद्धासत्त्व तुष्टि ज्ञानालौल्यं क्षमा गुणः।
नवकोटीविशुद्धस्य दाता दानस्य यः पतिः॥ सा० ध०)

इस लोक संबंधी फल की अपेक्षा रहित, क्षमा, निष्कपटता, ईर्ष्यारहितता, अखिन्नभाव, हर्षभाव और निरभिमान, इस प्रकार से सात निश्चय करके दाता के गुण हैं।१

पात्रभेद—अविरत सम्यग्दृष्टि, देशव्रती श्रावक, महाव्रतियों के भेद से, आगम में रुचि रखने वालों तथा तत्त्व के विचार करने वालों के भेद से जिनेन्द्र भगवान् ने हजारों प्रकार के पात्र बतलाये हैं।२

उत्तम मध्यम व जघन्य के भेद से पात्र तीन प्रकार के जानने चाहिए।३

लक्षण—"जो सम्यक्त्व गुण सहित मुनि हैं उन्हें उत्तम पात्र कहा है और सम्यक्त्व-दृष्टि (सम्यग्दृष्टि) श्रावक हैं, उन्हें मध्यम पात्र समझना चाहिए तथा व्रतरहित सम्यग्दृष्टि को जघन्य पात्र कहा है।४

उपशम परिणामों को धारण करने वाले, बिना किसी इच्छा के ध्यान करने वाले अध्ययन करने वाले मुनिराज उत्तम पात्र कहे जाते हैं।५

कुपात्र के लक्षण—उपवासों से शरीर को कृश करने वाले, परिग्रह से रहित, काम क्रोध से विहीन परन्तु मन में मिथ्यात्व भाव को धारण करने वाले जीव को अपात्र (कुपात्र) जानना चाहिए।६

निषेध—दाता प्रत्येक अवस्था में दान देने का पात्र नहीं है ऐसी अनेकों अवस्थाओं की विवेचना आचार्यों ने निम्न प्रकार से की है—

जो अपने बालक को स्तनपान करा रही है और जो गर्भणी है ऐसी स्त्रियों का दिया हुआ आहार न लेना चाहिए। रोगी, अतिशय वृद्ध, बालक, उन्मत्त, अंधा, गूंगा, अशक्त, भययुक्त, शंकायुक्त, अतिशय नजदीक जो खड़ा हुआ है, जो दूर खड़ा हुआ है, ऐसे पुरुष से आहार नहीं लेना चाहिए। लज्जा से जिसने अपना मुंह फेर लिया है, जिसने जूता अथवा चप्पल पर पांव रखा है, जो ऊंची जगह पर खड़ा हुआ है, ऐसे मनुष्य का दिया हुआ आहार नहीं लेना चाहिए।७

---

१. ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वम्।
आविषादित्व मुदित्वे निरहङ्कारित्वमिति हि दातृगुणाः। पु० सि० उ० १६९
२. अविरद देसमहव्वय आगमरुइणं वियारतच्चण्हं। पत्तंतरं सहस्सं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥ १ (र० सा०)
३. "तिविहं मुणेह पत्तं उत्तम-मज्झिम-जहण्णभेएण" (वसु० श्रा०)
४. उत्तमपत्तं भणियं सम्मत्तगुणेण संजुदो साहू।
सम्माइट्ठी सावय मज्झिमपत्तोहु विण्णेयो ॥ (बा० अ)
५. णिद्दिट्ठो जिण समये अविरदसम्मो जहण्णपत्तोत्ति
उवसम णिरीह झाणज्झयणाइ महागुणा जहादिट्ठा।
जेसिं ते मुणिणाहा उत्तमपत्ता तहा भणिया ॥ (र० सा०)
६. उववासखीणियतणू णिस्संगो कामकोहपरिहीणो। मिच्छत्त संसिदमणो णायव्वो सो अपत्तो त्ति ॥
७. स्तन प्रवर्त्तन्त्या, गर्भिण्या वा दीयमान न गृह्णीयात्।
रोगिणा अतिवृद्धेन, बालेनोन्मत्तेन, पिशाचेन, मुग्धेनान्धेन, मूकेन, दुर्बलेन, भीतेन, शङ्कितेन, अत्यासन्नेन, अदूरेण लज्जा व्यावृत मुख्या आवृतमुख्या, उपानदुपरिन्यस्त पादेन वा दीयमान न गृह्णीयात्। १ (भ० आ० वि०)

नीच कर्म करने वाले व अपवित्र अर्थात् जिसने स्नान नहीं किया है एवं धुले हुए स्वच्छ वस्त्र नहीं पहने हैं, जिनका मन खोटे संकल्प-विकल्पों में लगा हुआ है ऐसे व्यक्तियों के हाथ से आहार नहीं लेना चाहिए तथा अपवित्र स्थान पर भी आहार लेना निषिद्ध है।

द्रव्य—दान देते समय पात्र के अनुसार द्रव्य का ध्यान रखना परमावश्यक है। दातृ पात्र के साथ-२ द्रव्य की विशेषता से ही आहार दानादि के फल में विशेषता आती है। जैसा पात्र हो उसे वैसा ही द्रव्य देना चाहिए, तथा अन्याय से अर्जित, अभक्ष्य एवं प्रकृति से प्रतिकूल द्रव्य पात्रों के लिए नहीं देना चाहिए। वर्तमान में पात्र के अनुसार द्रव्य की ओर कम ध्यान दिया जाता है। प्रायः हर श्रावक स्वयं तो सादा भोजन (दाल-रोटी-चावल) ग्रहण करते हैं। एवं साधुओं को आहार देने के लिए हलुआ पूड़ी-, लड्डू, कचौड़ी, बाटी, चूरमा, काजू, किसमिस, मावा आदि अनेक प्रकार के गरिष्ठ व्यञ्जन बनाकर आहार में देते हैं। यह कहने पर कि आपको इस प्रकार के व्यञ्जन नहीं बनाने चाहिए तो महाराज! आप रोज थोड़े ही हमारे यहा आते हैं, आप तो हमारे अतिथि हैं, और अतिथियों का सम्मान करना हमारा कर्तव्य है।

प्रकृति से प्रतिकूल गरिष्ठ पदार्थ, अनेकों प्रकार के व्यञ्जन आहार में साधुओं को देना, यह साधकों के हित में नही, यथार्थ में बाधक है। गरिष्ठ भोजन करने के उपरान्त सामायिक नहीं हो सकती, निद्रा देवी का साम्राज्य हो जाता है। अतः गरिष्ठ पदार्थ मोक्षमार्ग में साधक नहीं बाधक हैं। प्रमाद दशा को उत्पन्न कराने वाले हैं। साधकों के मूलगुणों एवं उत्तरगुणों को मलिन करने वाले हैं। अनेकों प्रकार के विकारों को एवं रोगों को उत्पन्न करने वाले हैं अतः गरिष्ठ द्रव्य न तो श्रावकों को आहार में देना चाहिए और न ही साधुओं को ग्रहण करना चाहिए।

पात्रों को देने योग्य सादा, शुद्ध एवं प्रासुक द्रव्य ही है। जैसे—दाल, रोटी, दूध, छांछ, फल आदि, इसलिये पात्र रोगी, वृद्ध, दुर्बल, बाल-युवा आदि जैसा भी पात्र हो उसके अनुरूप ही आहार देना चाहिए।

द्रव्य के विषय में अनेकों आचार्यों ने इस प्रकार कहा है—

मुनिराज की प्रकृति शीत, उष्ण, वायु, श्लेष्म या पित्त रूप में से कौन सी है। कायोत्सर्ग व गमनागमन से कितना परिश्रम हुआ है, शरीर में ज्वरादि पीड़ा तो नहीं है। उपवास से कण्ठ शुष्क तो नहीं है इत्यादि बातों का विचार करके उसके उपचार स्वरूप दान देना चाहिए।१

जो हित-मित, प्रासुक, शुद्ध पान, निर्दोष हितकारी औषधि, निराकुल स्थान, शयनोपकरण, आसनोपकरण, शास्त्रोपकरण आदि दान योग्य वस्तुओं को आवश्यकता के अनुसार सुपात्र को देता है वह मोक्षमार्ग में अग्रगामी होता है।२

---

१. सीदुण्ह वाउविउलं सिलेसियं तह परीसमव्वाहिं।
कायकिलेसुव्वासं जाणिज्जे दिण्णए दाणं॥ (र० सा०)

२. हियमियण्णपाणं णिरवज्जोसहिं णिराउलं ठाणं।
सयणासण मुवयरण जाणिज्जा देइ मोक्खो॥ (र० सा०)

दान देने योग्य पदार्थ-जिन वस्तुओं के देने से राग-द्वेष,मान, दुःख, भय, आदिक पापों की उत्पत्ति होती है, वह द्रव्य देने योग्य नहीं है। जिन वस्तुओं के देने से तपश्चरण, पठन-पाठन,स्वाध्यायादि कार्यों में वृद्धि होती है, वही द्रव्य देने योग्य है।१

भिक्षा में जो अन्न दिया जाता है वह यदि आहार लेने वाले साधु के तपश्चरण, स्वाध्याय आदि को बढ़ाने वाला हो तो वही द्रव्य की विशेषता कहलाती है।२

पात्र—आहार के प्रसंग में पात्र का भी अपना महत्वपूर्ण स्थान है जिस प्रकार बंजर भूमि में बोया हुआ अच्छा बीज भी फल नहीं देता है। उसी प्रकार कुपात्रों को दिया हुआ आहारादि दान सातिशय पुण्य तथा मोक्ष मार्ग रूप फल को प्रदान नहीं करता है। अतः आहार देने के लिए कौन-कौन पात्र है यह समझ लेना आवश्यक है।

मिथ्यादृष्टि मनुष्य कुपात्र है चाहे वह गृहस्थ हो या सन्यासी। सम्यग्दृष्टि श्रावक से लेकर उत्कृष्ट मुनिराज तक सुपात्र हैं इनको आहारादि दान देने से भोग भूमि, स्वर्गसुख एवं परम्परा से मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है। पात्रों के विषय में आचार्यों ने निम्न प्रकार से विवेचना की है—जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध है, धर्मध्यान में लीन रहता है, सभी तरह के परिग्रह व मायादि शल्यों से रहित है, उसको विशेष पात्र कहते हैं उससे विपरीत अपात्र है।३

जो जहाज की तरह अपने आश्रितप्राणियों को संसार रूपी समुद्र से पार कर देता है वह पात्र कहलाता है और वह पात्र मोक्ष के कारण भूत सम्यग्दर्शनादि गुणों के संबंध से तीन प्रकार का होता है।४

जो व्रत, तप और शील से सम्पन्न है; किन्तु सम्यग्दर्शन से रहित है, वह कुपात्र है।५

सम्यक्त्व रूपी रत्न से रहित जीव को अपात्र समझना चाहिए।६

सम्यक्त्व शील और व्रत से रहित जीव अपात्र है।७

---

१. रागद्वेषासंयममददुःख भयादिकं न यत्कुरुते।
द्रव्यं तदेव देय सुतपः स्वाध्याय वृद्धिकरम्। (पु० सि० उ०)

२. दीयमानेऽन्नादौ प्रतिगृहीतुस्तपः स्वाध्याय-परिवृद्धिकरणत्वाद् द्रव्य-विशेषः। (चा० सा०)

३. दंसणसुद्धो धम्मज्झाणरदो संगवज्जिदो णिसल्लो।
पत्तविसेसो भणियो ते गुणहीणो दु विवरीदो॥ र० सा०

४. उत्तारयति जन्माब्धेः स्वाश्रितान्यान पात्रवत्।
मुक्त्यर्थं गुणसंयोग-भेदात्पात्रं त्रिधामतम्॥ सा० ध०

५. वय-तव सीलसमग्गो सम्मत्तविवज्जियो कुपत्तं तु। वसु श्रा०

६. सम्मत्तरयणरहिओ अपत्तमिदि संपरिक्खेज्जो। वा० अ०

७. सम्मत्त सील वय वज्जिओ अपत्तं हवे जीओ। (वसु० श्रा०)

मोक्षमार्ग के अनुयायी, संसार, शरीर भोगों से विरक्त आत्म स्वरूप में अनुरक्त मन और इन्द्रिय विजेता दिगम्बर यतीश्वर, छयालीस दोष तथा बत्तीस अन्तरायों से रहित, कुलीन श्रावक के घर जाकर तप एवं ध्यान की सिद्धि के लिये सरस-नीरस, शरीर एवं समय के योग्य सप्त गुण सहित श्रावक द्वारा नवधा भक्ति पूर्वक दिया हुआ शुद्ध, प्रासुक एवं निर्दोष आहार दिन में एक बार ग्रहण करते हैं।

पिण्ड शुद्धि के विषय में कुन्दकुन्दस्वामी ने इस प्रकार लिखा है—उद्गम दोष, उत्पादन दोष एषणा दोष, संयोजन दोष, प्रमाण दोष, इङ्गाल दोष, धूम दोष और कारण दोष ऐसे पिण्डशुद्धि के आठ दोष हैं।१

❀ उद्गम दोष ❀

(१) **उद्गम दोष**—दातार के निमित्त से आहार में जो दोष लगते हैं वे उद्गम दोष कहलाते हैं।
(२) **उत्पादन दोष**—साधु के निमित्त से होने वाले दोष उत्पादन नाम वाले हैं।
(३) **एषणा दोष**—आहार सम्बन्धी दोष एषणा दोष हैं।
(४) **संयोजना दोष**—संयोग से होने वाला दोष संयोजना दोष है।
(५) **प्रमाण दोष**—प्रमाण से अधिक आहार लेना प्रमाण दोष है।
(६) **इंगाल दोष**—लम्पटता से आहार लेना इंगाल दोष है।
(७) **धूम दोष**—निंदा करके आहार लेना धूम दोष है।
(८) **कारण दोष**—विरुद्ध कारणों से आहार लेना कारण दोष है।

इन सबके अतिरिक्त एक अधःकर्म दोष भी है, जो महादोष कहलाता है। इसमें कूटना, पीसना, रसोई करना, पानी भरना, और बुहारी देना ऐसे पंचसूना नाम के आरम्भ से षटकायिक जीवों की विराधना होने से यह दोष भी गृहस्थाश्रित है। साधु इस दोष से सर्वथा परे रहते हैं।

औद्देशिक, अध्यधि, पूतिदोष, मिश्रदोष, स्थापित, बलिदोष, प्रवर्तित, प्राविष्करण, क्रीत, प्रामृष्य, परिवर्त, अभिघट, उद्भिन्न, मालारोहण, आछेद्य, अनी-शार्थ, इस प्रकार १६ भेद हैं।(२)

औद्देशिक दोष—मूलाचार में लिखा है—

देवताओ के लिये, पाखडी साधुओं के लये, दीनजनों केलिये जो आहार तैयार किया जाता है उसे औद्देशिक आहार कहते हैं, औद्देशिक दोष के संक्षेप से चार भेद हैं।२

(१) **यावानुद्देश**—जो कोई आवेंगे उन सबको मैं भोजन दूंगा ऐसा उद्देश्य बना कर के जो भोजन बनाया जाता है उसको यावानुद्देश कहते हैं।

---

१. उद्गम उप्पादण एसणं च संजीवणं पमाणं च। इंगाल धूम कारण अट्ठविहा पिण्ड सुद्धी दु ॥— २१

२. आधाकम्मुद्देसिय अज्झोवज्झे य पूदिमिस्से य। ठविदे बलि पाहुडिदे पादुक्कारे य कोदे य।
पमिच्छे परियट्टे अभिहडमुब्भिण्ण माल आरोहे। अच्छिज्जे अणिसट्ठे उग्गमदोसा दु सोलसिये ॥मू० चा०॥

(२) पार्श्वण्डिसमुद्देश—जो कोई पाखण्डि आवेंगे उन सबको आहार दूंगा ऐसे उद्देश्य से बनाए गये भोजन को पार्श्वण्डिसमुद्देश कहते हैं।

(३) श्रमणादेश—जो कोई श्रमण, आजीवक ,तापस, रक्तपट पारिव्राजक और छात्र-शिष्य आवेंगें उन सबको मैं आहार दूंगा, । ऐसे संकल्प से बनाये गये भोजन को 'श्रमणादेश, यह संज्ञा है।

(४) निर्ग्रन्थसमादेश—जो कोई निग्रन्थ मुनि आवेंगे उनको मैं आहार दूंगा । ऐसे उद्देश्य से भोजन बनायाजाता है। उसको निर्ग्रन्थ समादेश कहते हैं।

इस प्रकार सामान्य के उद्देश्य से, पार्श्वण्डियों के उद्देश्य से, श्रमणों के उद्देश्य से और निर्ग्रन्थों के उद्देश्य से भोजन बनाना, यह चार प्रकार का औद्देशिक दोष होता है।

आ० वीरनन्दि स्वामी कहते हैं—अपने अथवा संयमी, पाखंडी ,दीनजन, कृपण आदि सर्व लोगों के उद्देश्य को लेकर निष्पन्न आहार उद्दिष्ट आहार कहा जाता है।१

२ अध्यधि दोष—मूलाचार में इसका स्वरूप इस प्रकार है "अपने लिये जो भोजन पकाया जाता है संयत को देखकर उनके लिये उनमें जो पानी और तंदुलादिकों का पुनः क्षेपण करना, उसको अध्यधि दोष कहते हैं। अथवा जितने समय में आहार तैयार होगा उतने काल का आहार के लिये आये हुए मुनिराज को पूजा के लिये और धर्म प्रश्न आदि के निमित्त स्थापन करना यह भी अध्यधि दोष है।२

आचार सार में भी कहा है—अपने लिये बने हुए पाक में साधुओं के लिये तंदुल जलादि का अधिक क्षेपण अथवा आहार की निष्पत्ति पर्यंत तपस्वियों का रोध करना अर्थात् रोककर रखना अध्यधि दोष है।२

३ पूति-दोष—मूलाचार में इसका स्वरूप इस प्रकार है—

प्रासुक अन्न अप्रासुक सचित्तादिक अन्न के साथ मिश्रण करने से पूति दोष उत्पन्न होता है अथवा प्रासुक होने पर भी जिसमें संकल्प किया जाता है उसको भी पूतिकर्म दोष कहा है।३

उसके पांच भेद हैं।

१ चुल्लि—जिस पर अन्न पकाया जाता है ऐसी सिगड़ी अथवा चूल।
२ उखलि—जिसमें चटनी आदि कूट कर तैयार किये जाते हैं।
३ दर्वी-कलछी—भोजन परोसने का बर्तन।
४ भाजन—अन्न पकाने का बर्तन।
५ गंध—गन्ध युक्त द्रव्य।

---

१. स्वस्यमुद्दिश्य निष्पन्न मन्न मुद्दिष्ट मुच्यते
अथवा यमि पाखंडी दुर्बलानखिलानपि ॥२१॥ आ० सा०॥

२. तंदुलाद्यधिक क्षेपः स्वार्थपाके यतीन्प्रति।
स्यादध्यधिरोधो वा पाकान्तं तत्तपस्विनाम् ॥२४॥

३. अप्पासुएणमिस्सं पासुगदव्वं तु पूदिकम्मं तं॥
चुल्ली उक्खलि दव्वी भायण गंधत्ति पंचविहं ॥६-९

विशेष—चूल्ल-चूल के ऊपर भात आदि पकाकर साधु को प्रथम दूँ या अनन्तर स्वतः अथवा अन्य जीवों को दूँगा ऐसी कल्पना से प्रासुक द्रव्य भी पूतिकर्म से निष्पन्न होने से पूति-दोष कहा जाता है।

उद्खल—इसी उखली में चूर्ण कर जब तक वह ऋषियों को नहीं दूँगा तब तक स्वतः के लिये अथवा अन्य के लिये वह उपयोग में नहीं लाऊँगा, ऐसी कल्पना से यह उखली नामक पूति कर्म दोष है।

दर्वी—इस कलछी से जब तक मुनि को आहार नहीं दूँगा तब तक स्वतः को अथवा अन्य को वह योग्य नहीं है ऐसे संकल्प से यह भी पूतिकर्म दोष है।

गंध—सुगन्धित पदार्थ जब तक मुनिराज ग्रहण नहीं कर लेंगे तब तक अन्य को नहीं दूँगा।

भाजन—नये बर्तन में जब तक मुनिराज आहार ग्रहण न करेंगे, मैं कार्य में नहीं लूँगा।

इस प्रकार पूतिकर्मदोष पांच प्रकार का है।

आचारसार में भी कहा है—अप्रासुक से मिश्र हुये प्रासुक पात्रादि पूतिदोष है।,,१

४ मिश्र दोष—मूलाचार में इसका स्वरूप इस प्रकार है:—

प्रासुक अन्न तैयार होने पर भी अर्थात् भात आदि अन्न प्रासुक होने पर भी पाखंडियों के साथ और गृहस्थों के साथ मुनियों को जो देने का संकल्प किया जाता है तब वह अन्नमिश्रदोष से युक्त होता है।२

पाखंडियों के साथ मुनियों को आहार देने से तथा गृहस्थों के साथ उनको आहार देने से मुनियों का यथा योग्य आदर नहीं हो सकता। अतः इस प्रकार के आहार दान में अनादर दोष उत्पन्न होता है।

आचारसार, में भी कहा है—पाखंडी और यतियों के लिये एक साथ जो वितरण किया जाता है। वह मिश्र दोष है।३

५ स्थापित दोष—आचारसार में इसकी परिभाषा इस प्रकार है—

जिस पात्र में आहार पकाया था उसमें से वह आहार निकालकर अन्य पात्र में स्थापन करके स्वगृह में अथवा परगृह में जाकर स्थापन करना वह स्थापित दोष है।४

दाता में भय होने से वह आहार के पदार्थ अन्य भाजन में रखकर अपने अथवा दूसरे के घर में रखकर दान देता है। अथवा उसके साथ उसके स्वजनों का विरोध होने से वह अन्य के घर में आहार के पदार्थ रखता है। अतः यह दान भय और विरोधादि दोषों से दूषित होता है।

---

१ पूति प्रासुकपात्रादि मिश्रमप्रासुकेन यत्।

२. पासंडेहि य मिद्ध सागारेहि य जदण्णमुद्दिसिय।
दादुमिदि संजदाण सिद्ध मिस्सं वियाणाहि ॥६-८

३ मिश्रमेतं हि पाखंडियतिभ्यो यद्वितीर्यते ॥२५॥

४. पागादु भायणाओ अण्णम्हि य भायणम्मि पक्खविय।
सघरे व परघरे वा णिहिद ठविदं वियाणाहि ॥

आचारसार में भी कहा है—पाक के बर्तन में से दूसरे भाजन में भक्तादिक को रखकर जो अपने घर में अथवा अन्य घर में स्थापित किया जाता है उसे स्थापित दोष कहते हैं ।१

६ बलि दोष—मूलाचार में इसका स्वरूप निम्न प्रकार है—

यक्ष, नाग, मातृका, कुलदेवता पितर आदि को बलि (भेंट) करने के लिए जो अन्न, पकवान बनाया जाता है। उसमें से बचा हुआ जो बलि का अंश वह मुनि के लिये भी उपयोग में लाना यह बलिदोष है ।२ अथवा आनयक्षादि के लिये जो चंदनादिक उपयोग में लाकर अवशिष्ट रहे थे उनका मुनियों की पूजा में भी उपयोग करना यह बलिदोष है ।

अथवा मुनियों को स्थापन कर चन्दनादिक अर्पण करना, उदक क्षेपण करना, पुष्पफल, पत्रादिक तोड़ कर उससे अर्चन करना यह सावद्य दोष से युक्त होने से दोष युक्त माना जाता है ।

आचारसार, में भी लिखा है—यक्षादि के बलिदान से अवशिष्ट आहार बलिदोष है अथवा संयत के आगमन के लिये बलिकर्म करना भी दोष है ।३

७ प्राभृत दोष—मूलाचार में इसका स्वरूप निम्न प्रकार है—

प्राभृत दोष के बादर और सूक्ष्म ऐसे दो भेद हैं। पुनः बादर के उत्कर्षण और अपकर्षण ऐसे दो भेद हैं। सूक्ष्म के भी उत्कर्षण और अपकर्षण दो भेद हैं अथवा सूक्ष्म और बादर के कालहानि और कालवृद्धि ऐसे दो भेद हैं ।४

निश्चित किया हुआ दिवस, पक्ष, महीना और वर्ष को बदलकर जो दान दिया जाता है। वह बादर प्राभृत दोष से दूषित होता है इसके दो भेद हैं ।५

१ दिवस परावृत्ति-प्राभृत दोष—शुक्लाष्टमी के दिन देने के लिये निश्चित किया हुआ आहार दिन कम करके शुक्लपंचमी के दिन देना और शुक्ल पंचमी के दिन आहार देने का निश्चय बदलकर शुक्लाष्टमी को आहार देना यह दिवस परावृत्ति प्राभृत दोष है ।

सूक्ष्म प्राभृत के भी इसी प्रकार दो भेद समझना चाहिये दिन के पूर्वकाल में आहार देने का निश्चय बदल कर पूर्वान्ह काल में देना ।

,आचार सार, में भी कहा है—समय, दिवस, महीना, ऋतु, वर्ष आदि के नियम से यतियों के लिये दिया गया अन्न प्राभृत दोष युक्त कहा है ।६

---

१. स्वगृहेऽन्य गृहे वा यत् स्थापितं पाकभाजनात् । अन्यस्मिन् भाजनेऽन्नादि निक्षिप्य स्थापितं मतम् ॥२६॥
२. जक्खयणागादीणं बलिसेसं स बलित्ति पण्णत्तं । संजदआगमणट्ठं बलियम्मं वा बलिं जाणे ॥
३. यक्षादि बलिदानावशिष्टाहारो बलिर्मतः ।
संयतागमनार्थं वा करणं बलि कर्मणः ॥२७॥
४. पाहुडिहं पुण दुविहं बादर सुहुमं च दुविहमेक्केक्कं
ओकस्सणमुक्कस्सण मह कालोवट्टणा वड्ढी ॥६-१४॥
५. दिवसे पक्खे मासे वास परत्तीय बादरं दुविहं ।
पुव्वपरमज्झवेलं परियत्तं दुविह सुहुमं च ॥६-१५॥
६. वेलादिवस मासर्तु, वर्षादिनियमेन यत् ।
यतिभ्यो दीयमानान्नं प्राभृतं परिकीर्तितम् ॥२८॥

८ प्राविष्करण दोष—मूलाचार में इसका स्वरूप निम्न प्रकार है—

प्रावुष्कार दोष के संक्रमण और प्रकाशन ऐसे दो भेद हैं। संक्रमण प्रावुष्कार, प्रकाशन प्रावुष्कार। १

१ संक्रमण प्रावुष्कार—भोजन और भोजन के पात्र एक स्थान से स्थानांतर में ले जाना।

२ प्रकाशन प्रावुष्कार—आहार के उपयुक्त पात्र भस्मादिक से मांजना, धोना अथवा आहार के उपयुक्त पात्र फैलाकर रख देना। छत के चंद्रोपक वगैरह के ऊपर चंदोवा लगा देना। भीत और जमीन गोबर और मिट्टी से लेपना, साफ सुथरी करना, दीपक जलाना इत्यादिक कार्य आहार के समय करना प्रकाशन प्रावुष्कार दोष का स्वरूप है।

'आचारसार, में भी लिखा है—"घर को प्रकाशित करना अथवा भाजनादि का संस्कार करना, स्थानांतर में ले जाना प्राविष्करण दोष है।२

९ क्रीत दोष—मूलाचार में इसका स्वरूप निम्न प्रकार कहा है—क्रीत दोष के द्रव्य और भाव ऐसे दो भेद हैं। द्रव्य के भी स्वद्रव्य और परद्रव्य ऐसे दो भेद हैं। भाव के स्वभाव और परभाव ऐसे दो भेद हैं। गाय, भैंस, अश्व इत्यादि को द्रव्य कहते हैं विद्यामंत्रादि को भाव कहते हैं।३ एवं तांबूल, वस्त्रादिकों को अचित्त द्रव्य कहते हैं। जब मुनि आहार के लिये श्रावक के घर में आते हैं। उस समय श्रावक अपना अथवा अन्य का सचित्तादि द्रव्य और तांबूल वस्त्रादिक अन्य श्रावकों को देखकर उससे आहार ग्रहण कर यदि मुनिराज को आहार देगा तो द्रव्यक्रीत दोष उत्पन्न होता है। तथा स्वमंत्र अथवा परमंत्र, स्वविद्या अथवा परविद्या देकर आहार प्राप्ति कर लेता है। और यति को वह आहार यदि श्रावक देगा तो वह भावक्रीत दोष कहा जाता है। प्रज्ञा इत्यादिकों को विद्या कहते है, और चेटक आदि को मंत्र कहते है इनके द्वारा आहार उत्पन्न करके मुनि को आहार देने में कारुण्य दोष उत्पन्न होता है। संक्लेश परिणाम भी उत्पन्न होते हैं।

आचारसार, में भी कहा है—"विद्या और द्रव्यादि के द्वारा खरीदा हुआ अन्न क्रीत दोष है।४

१० प्रामृष्य दोष—मूलाचार में इसका स्वरूप निम्न प्रकार है—"जब मुनि आहार के लिये जाते हैं, तब दाता अन्य श्रावक के घर में जाकर अन्नादिक की याचना करता है अर्थात् मेरे घर पर मुनि आहार के लिये आये हैं, यदि इस समय आप मेरे को अन्नादिक देंगे तो मैं आपको अधिक या उतने ही अन्नादिक वस्तु दूंगा। इस प्रकार कहकर उनसे अन्नादिक लेकर मुनि को देना यह प्रामृष्य दोष है।५

---

१. पादुक्कारो दुविहो संकमणपयासणा य बोद्धव्वो।
भायण भोयाणादीणं मंडलविरलादियं कमसो ॥६–१५॥

२. गेह प्रकाश करणं यत्प्राविष्कृतमीरितं।
संस्कारो भाजनादीनां वा स्थानांतर आरणं ॥२८॥

३. कीदयडं पुण दुविहं दव्वं भावं च सग परं दुविहं।
सचित्तादि दव्वं विज्जा मंतादि भाव च ॥

४. विद्याद्रव्यादिभिः क्रीतं क्रीतं प्रामृष्यमिष्यते ॥

५. वहरियरिणंतु भणियं पामिच्छं ओदणादि अण्णदरं।
तं पुण दुविहं भणिदं सवड्ढियमवड्ढियं चावि ॥६–१७

इस प्रकार से आहार देने में दाता के परिणामों की निर्मलता नहीं रहती है और आहार लाने के लिये अनेक घरों में जाने से कष्ट भी होता है अतः इस प्रकार से आहार देना सदोष माना जाता है।

आचारसार में भी लिखा है – वृद्धि अवृद्धि के द्वारा (उधार एवं ब्याज पर लेकर) यतियों के दान देने के लिए स्तोक कर्म अर्जित किया जाता है। वह प्रामृष्य दोष कहा जाता है।१

११ **परिवर्त दोष**—मूलाचार में इसका स्वरूप निम्न प्रकार बताया है—अन्य श्रावकों के पास जाकर व्रीहिओं के भात वगैरह पदार्थ देकर उनसे शाल्योदनादि पदार्थ लेकर मुनियों को आहार देना यह परिवर्त नामक दोष है अथवा मंडलादिक पदार्थ देकर व्रीहिओं का भात वगैरह लेना यह परिवर्त दोष है इसमें दाता को संक्लेश परिणाम उत्पन्न होते हैं। अतः यह परिवर्त दोष है २

आचारसार में भी लिखा है—"यति के लिये दूंगा, इसलिए व्रीहि चावलादि के द्वारा शाली आदि चांवल का परिवर्तन करना परिवर्त दोष कहा है।३

१२ **अभिघट दोष**—मूलाचार में इसका स्वरूप निम्न प्रकार बताया है—"देशाभिघट और सर्वाभिघट ऐसे अभिघट के दो भेद हैं। किसी एक प्रदेश से आये हुए भात आदि पदार्थ को देशाभिघट कहते हैं। अनेक स्थानों से आये हुए भात आदि पदार्थों को सर्वाभिघट कहते हैं। देशाभिघट के आचिन्नदेशाभिघट और अनाचिन्न देशाभिघट ऐसे दो भेद हैं।४

१ आचिन्न—सरल पंक्ति स्वरूप तीन अथवा सात घरों से आये हुए भात, लड्डू आदिक अन्न को आचिन्न कहते हैं ऐसा अन्न मुनियों के ग्रहण योग्य है। परन्तु जो एक पंक्ति में नहीं हैं ऐसे तीन अथवा सात घरों से आया हुआ अन्न मोदकादिक मुनियों को ग्रहण करना अयोग्य है। क्योंकि अक्रम से स्थित ऐसे घरों में से अन्नादिक लाते समय ईर्यापथ शुद्धि नहीं होती है। अतः अक्रमपंक्ति स्थित घरों से आया हुआ आहार मुनियों को निषिद्ध है।

सर्वाभिघट दोष—सर्वाभिघट के स्वग्राम, परग्राम, स्वदेश और परदेश ऐसे चार भेद है। जिस ग्राम में मुनिराज रहते हैं वह स्वग्राम है उससे भिन्न ग्राम को परग्राम कहते हैं। जिस देश में मुनि स्थित हैं वह स्वदेश और इससे अन्य देश को परदेश समझना चाहिये।

स्वग्रामाभिघट दोष—अपने ग्राम से आये हुए अन्नादि को स्वग्रामाभिघट दोष कहते हैं।

---

१. स्तोकर्म वृद्ध्यवृद्धिभ्यां यतिदानार्थमर्जितम् ॥
२. व्रीहि कूरव्रीहि य सालीकूरादियं तु जं गहिदं।
   दाहुमिदि संजदाणं परियट्टं होदि तु जं गहिदं ॥
३. व्रीहि कूरव्रीहिय: शालिकूरादे: परिवर्तनम्।
   यदास्याम्यीति यतये परिवर्त: प्रकीर्तित: ॥
४. "देसोत्ति य सव्वोत्ति य दुविहं पुण अभिहडं वियाणाहि।
   आचिण्णमणाचिण्णं देसाभिहडं हवे दुविहं।

परग्रामाभिघट दोष—दूसरे ग्राम से अपने ग्राम को अन्नादिक लाना परग्रामाभिघट नाम का दोष है।
स्वदेशाभिघट दोष—अपने देश से अपने ग्राम को अन्नादिक लाना यह स्वदेशाभिघट नामक दोष है।
परदेशाभिघट दोष—परदेश से स्वदेश में अन्नादिक लाना यह परदेशाभिघट नामक दोष है।

आचारसार मे भी कहा है—ग्राम-मौहल्ला-ग्रहान्तर से लाया हुआ आहार देना अभिघट दोष है। यदि सरल पक्तिबद्ध सप्त घर से लाया गया है, तो वह योग्य है।[1]

१३ उद्भिन्न दोष—ढक्कन स बंद किये हुए अथवा कीचड़ से लिप्त अथवा लाख से मुद्रित ऐसे पात्रों में रक्खे हुये जो औषध, घी,गुड़, शक्कर, लड्डू, खजूर आदिक पदार्थ ढक्कन वा मुहर तोड़कर यति को देना वह उद्भिन्न नामक दोष है।[2]

ढके हुए पात्रों में चींटी आदिक जन्तु प्रवेश कर सकते हैं अथवा उसमें ही उत्पन्न हो सकते हैं तथा यदि उत्पन्न हो गये हों तो उस पात्र मे से गुड़, खांड वगैरह पदार्थ मुनियों को देते समय उन जन्तुओं को बाधा होती है, अतः इस प्रकार का आहार उद्भिन्न दोष से दूषित है। आचारसार में भी लिखा है-मिट्टी, लाख आदि से ढका हुआ अथवा नाम की मोहर कर चिन्हित् जो औषध घी, शक्कर आदि द्रव्य है उसे उघाड़ कर देना वह उद्भिन्न दोष है।

१४ मालारोहण दोष—मूलाचार में इसका स्वरूप निम्न प्रकार कहा है:—

नसैनी से चढ़कर घर के दूसरी मंजिलमे गाड़ी में रखे गये मंडक, लड्डू आदिक पदार्थ को लेकर मुनियों को देना यह माला रोहण दोष है।[3]

आचारसार मे भी कहा है—काष्ठ आदि की बनी सीढ़ी अथवा पैढ़ी से घर के ऊपर के खंड (माले) पर चढ़ करके वहाँ रखे हुये पुआ, लड्डू आदि अन्न को लाकर साधु को देना वह मालारोहण दोष है।[4]

१५ आच्छेद्य दोष—मूलाचार में इसका स्वरूप निम्न प्रकार कहा है-मुनियों को भिक्षा का कष्ट होता है ऐसा समझकर राजा तथा राजा के समान अधिकारी व्यक्ति और चोरादिक, श्रावकों को भय दिखाकर उनसे मुनियों को आहार दिलाते हैं।। इस प्रकार आहार देना यह आच्छेद्य नामक दोष है। राजादि श्रावकों को इस प्रकार कहते है तुम यदि यतिओं को आहार न दोगे, तो तुम्हारा धन हम लूटेंगे, गांव में से निकाल देंगे इस प्रकार डरा करके जो दान दिया जाता है वह आच्छेद्य नामक दोष है।[5]

---

१. स्याद्वायातमभिहृतं ग्रामं वा गृहान्यन्तरात् ।
योग्य मृजु समासन्नाऽऽसप्त मागेहतो यदि ॥

२. पिहिदं लंछिदिय वा ओसहधिद सक्करादि ज दव्व ।
उब्भिण्णिऊण देय उब्भिण्ण होदि णादव्व ॥६-२२॥

३. णिस्सेणी कट्ठादिहि णिहिद पूयादियं तु घेत्तूणं ।
मालारोहंकिच्चा देयं मालारोहणं णाम ॥६-२३॥

४. "विमुद्रादिकमुद्भिन्नं मालिकाऽऽरोहणं मतम्
मालिकादिसमारोहणेनानीतं धृतादिकं ॥"

५. राजाचोरादीहिय संजदभिक्खासमं तु दट्ठूण ॥
बाहिदूणणिजुज्जं अच्छेज्जं होदि णादव्वं ॥६-२४

आचारसार में भी लिखा है—राजा, चोर आदि के भय से जो आहार दिया जाता है वह आच्छेद्य दोष है ।

१६ अनीशार्थ दोष—मूलाचार में इसका स्वरूप इस प्रकार बताया है—अप्रधान हेतु को अनीशार्थ कहते हैं। वह अनीशार्थ ईश्वर और अनीश्वर ऐसे दो प्रकार है । जिस अप्र लड्डू आदिक पदार्थ के अप्रधान अर्थ कारण हैं उन लड्डू आदिक पदार्थों को अनीशार्थ कहते हैं । ऐसे पदार्थों को ग्रहण करने में जो दोष होता हैं । उस दोष को भी अनीशार्थ कहते हैं ।१

आचारसार में भी लिखा है—स्वामी और अन्य जनों के निषेध किये हुये आहार को देना अनीश्वर दोष कहलाता हैं । अनीशार्थ दोष के दो भेद हैं, ईश्वर तथा अनीश्वर । इन दोनों के भी मिलकर चार भेद हैं पहला भेद ईश्वर सारक्ष तथा अनीश्वर के तीन भेद व्यक्त-अव्यक्त संघाट । दान का स्वामी देने की इच्छा करे और मंत्री आदि मना करें तो दिया हुआ भोजन ईश्वर अनीशार्थ है।

स्वामी से अन्यजनों द्वारा निषेध किया अनीश्वर कहलाता है। वह व्यक्त (वृद्ध) अव्यक्त (बाल) संघाट के भेद से ३ प्रकार है । आचार सार में इसी प्रकार कहा है । इस प्रकार उद्गम दोष के १६ भेद हुए ।

उत्पादन के सोलह-भेद

२ —मूलाचार में इनके नाम निम्न प्रकार हैं।—धात्री, दूत, निमित्त आजीवनीपक चिकित्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ पूर्वसंस्तुति, पश्चात्, संस्तुति विद्या दोष मंत्र-दोष, चूर्णदोष तथा मूलकर्म दोष ये सभी दोष मुनि के आश्रित होते हैं। इसलिये ये उत्पादन दोष कहलाते हैं मुनि इन दोषों से अपने को अलग रखते हैं ।३

१ धात्री दोष—मूलाचार में इसका स्वरूप निम्न प्रकार बताया है—जो बालक को पोषण करती है उसका संरक्षण करती है, उसको दूध पिलाती है । उसको धात्री कहते हैं । धात्री के पांच भेद हैं।

१ मार्जनधात्री—जो बालक को स्नान करवाती है उसको मार्जन धात्री कहते हैं ।

२ मंडन धात्री—जो बालक को तिलक, अंजन और आभूषण से सजाती है उसको मंडन धात्री कहते हैं।

---

१. अणिसट्ट पुण दुविहं इस्सरमहणिस्सरं च तिवियप्पं ।
पढमिस्सरसारक्खं वत्तावत्तं च संघाडं ।।६–२५

२. नृपतस्कर भीत्यादेर्दत्तमाच्छेद्य मुच्यते ।
अनिसृष्ट मीशानीशाऽन्याभिमत्या यदर्प्यते ।।

३. धादीदूदणिमित्ते आजीवे वणिवमे य तेगिंछे ।
कोधीमाणी मायि लोहि य हवंति दस एदे ।।।
पुव्वी पच्छा संथुदि विज्जामंते य चुण्णजोगे य ।
उप्पादणा य दोसो सोलसमो मूलकम्मे य ।।

३ क्रीडन धात्री—जो बालक को क्रीड़ा के द्वारा आनंदित करती है । उसको क्रीडनधात्री कहते हैं ।

४ क्षीरधात्री—जो बालक को दूध पिलाती है, स्तनपान कराती है वह क्षीरधात्री है ।

५ अंबधात्री—जो बालक को अपने पास सुलाती है वह अंबधात्री है । ऐसे पांच धात्रियों के कार्यों से जो मुनि गृहस्थ द्वारा आहार उत्पन्न कराते हैं उनको यह धात्री नामक उत्पादन दोष होता है ।

आचारसार में भी लिखा है—बच्चों के पालन शिक्षादि धात्रीत्व दोष हैं । अर्थात् धाय के समान बालकों को भूषित करना, खिलाना, पिलाना आदि करना जिससे दातार प्रसन्न होकर अच्छा आहार देवें यह मुनि के लिए धात्री दोष है । इन दोनों से स्वाध्याय का नाश होता है अतः यह दोष त्यागने चाहिये ।१

२ दूत दोष—मूलाचार में कहा है—स्वग्राम से परग्राम को (पानी में नाव के द्वारा) भूमि या आकाशमार्ग से साधु जा रहे हैं ऐसे समय कोई श्रावक मेरे सम्बन्धी जनों को मेरा संदेश आप कहो ऐसा कहता है । तब वह साधु उसको संदेश वहां पहुंच कर कह देता है । तब वह सम्बन्धीजन आनंदित होकर दानादिक दें और साधु यदि वह लेगें तो दूती दोषयुक्त वह आहार होता है । स्वदेश से परदेश को जल में नौका के द्वारा साधु जा रहे हैं । तब कोई गृहस्थ अपनी वार्ता सम्बन्धी जन के पास पहुंचाने के लिये कहते हैं । साधु यदि ग्रहण करेंगे तो यह भी दूती दोष होता है ।

आचारसार में भी कहा है—एक ग्राम से दूसरे ग्राम में जाते समय साधु किसी कुटुम्बी को संदेश कहकर आहार लेता है । वह दूत दोष है ।२

३ निमित्त दोष—मूलाचार में इसका स्वरूप इस प्रकार है— हाथ पांव आदिक शरीर के अवयव शब्द, तिल मशकादिक चिन्ह, हस्ततलादिकों पर नन्दिक, आवर्त, पद्म, चक्रादिक आकृति-छेद-खड्गादि प्रहार अथवा चूहा आदि प्राणियों के द्वारा किये गये वस्त्रादि के छेदों को छिन्न कहते हैं । भूमि विभागों को भोग कहते हैं । सूर्य चन्द्रादि गृहों के उदयास्त और गति को अंतरिक्ष कहते हैं । स्वप्न निदित प्राणियों का हाथी विमान महिष इत्यादिकों पर आरोहण देखना ऐसे आठ प्रकार का निमित्त है ।३

विशेष—

व्यंजन—शरीर के ऊपर तिलादिक देखकर उनसे होनहार शुभाशुभ फल जाना जाता है । उसे व्यञ्जननिमित्त कहते हैं ।

अंग—मस्तक, कंठ आदि अवयवों को देखकर पुरुष के शुभाशुभ फल को जान लेना, वह अंग निमित्त है ।

स्वर—शब्द सुनकर मनुष्य अथवा अन्य प्राणियों का शुभाशुभ जानना स्वर- निमित्त है ।

छेद—प्रहार अथवा वस्त्रादिक में छेद देखकर किसी पुरुष अथवा अन्य का शुभाशुभ जान लेना वह छेद निमित्त है ।

भूमि—भूमि विभाग को देखकर पुरुष अथवा अन्य का शुभाशुभ जानना भूमि निमित्त है ।

---

१. बाललालनशिक्षादिर्धात्रीत्व दूतता मता ।
दूरबन्धुजनानां वा नयनानयन क्रिया ॥

२. जल थल आयासगदं सयपरगामे सदेसपरदेसे ।
संबंधिवयणणयणं दूदी दोसो हवदि एसो ॥

३. अंगसरं च वंजणं लक्खण छिण्णं च भोम्मसुमिणं च
तहवेव अंतरिक्खं अट्ठविहं होइ णेमित्तं ॥६–३०

अन्तरिक्ष—आकाश में ग्रहों का युद्ध, अस्त, वज्रपात उल्कापतन नक्षत्रकंप इत्यादिक देखकर राजा प्रजादि का शुभाशुभ जान लेना अन्तरिक्ष निमित्त है।

लक्षण—पुरुष अथवा नारी के लक्षण देखकर उनके शुभाशुभ कह देना लक्षण निमित्त है।

स्वप्न—स्वप्न को देखकर पुरुष अथवा अन्यका शुभाशुभ जानना, वह स्वप्ननिमित्त है। रस लम्पटता, दीनता वगैरह दोष इस प्रकार से आहार लेने में व्यक्त होते हैं।

आचारसार, में भी कहा है– स्वर, अन्तरिक्ष, भौम, अंग, व्यंजन, छिन्न, लक्षण, स्वप्न आदि अष्टांग निमित्त के द्वारा जो अशन का अर्जन करता है। वह निमित्त दोष है। १

४ आजीवका दोष—मूलाचार में इसका स्वरूप निम्न प्रकार है। माता की पीढ़ियों की परम्परा अथवा माता के शीलादि गुणों की निर्मलता, पिता के वंश की परम्परा अथवा पिता आदिक पूर्वजों की सदाचार तत्परता अर्थात् अपनी जाति और कुल का वर्णन सुना करके दाता को प्रसन्न करना और उनसे दिया हुआ आहार लेना यह आजीविका दोष है।२ इसही प्रकार से अपना कला चातुर्य, अपना तपश्चरण आदि वर्णन करके दाता के मन में स्वविषयक आदर उत्पन्न करने से वह आहार देने में प्रवृत्त होने पर उससे आहारादिक लेना यह आजीवका दोष है। इस प्रकार आहार लेने से अपनी असामर्थ्य और दीनतादिक दोष प्रकट होते हैं।

५ वनीपक दोष—मूलाचार में इसका स्वरूप निम्नप्रकार कहा है— कुत्ते, दीन, कुष्ठादि रोग से पीड़ित जन मध्यान्ह काल में आये हुये भिक्षुक ब्राह्मण, मांसादि का भक्षण करने वाले पाखंडी लोग, श्रमण, आजीवक नाम के साधु अथवा छात्र विद्यार्थी काग वगैरह पक्षी इनको दानदिक देने में पुण्यप्राप्ति होती है क्या ? अथवा नहीं। ऐसा प्रश्न पूछने पर दाता के अनुकूल यदि पुण्य होगा ऐसा वचन साधु बोलेंगे तो वनीपक नामक दोष होता है।३ दानपति के अनुकूल वचन बोलकर यदि वैसा मुनि आहार लेंगे तो वनीपक नामक दोष उत्पन्न होता है। इसमें भी दीनतादिक दोष दीख पड़ते हैं। अतः यह दोष त्याज्य है।

आचार सार शास्त्र में भी कहा है—कि कोई दाता ऐसे पूंछे कि कुत्ता कृपण, भिखारी, असदाचारी, ब्राह्मण भेषी साधु तथा त्रिदण्डी आदि साधु इनको आहारादि देने में पुण्य होता है या नहीं ? उसकी रुचि के अनुकूल ऐसा कहें कि पुण्य ही होता है। वह भोजन लेने में वनीपक दोष लगता है।

६ चिकित्सा दोष—मूलाचार में इसका स्वरूप निम्न प्रकार है जो कौमारादि आठ प्रकार के चिकित्सा शास्त्र के द्वारा श्रावकों पर उपकार कर उनसे दिया हुआ आहार लेता है यह चिकित्सा दोष है।

कौमार चिकित्सा—बाल वैद्य शास्त्र अर्थात् मासिक सांवत्सरिक पीड़ा देने वाले ग्रहों का निराकरण करने के उपाय बताने वाले शास्त्र को कौमार चिकित्सा कहते हैं।४

---

१. स्वरान्तरिक्ष भौमांगव्यंजनच्छिन्नलक्षणम् स्वप्नाष्टांगनिमित्तैर्यन्निमित्तमशनार्जनम् ।

२. जादि कुलं च सिप्पं तवकम्मं ईसरत्तआजीवं । तेहिं पुण उप्पादो आजीवदोसो हवदि एसो ॥६–३॥

३. साणकिविणतिधिमाहणपासंडियसवणकागदाणादी । पुण्णं णेवेत्ति पुट्ठे पुण्णेत्ति वणी वयं वयणं ।६–३२॥

४. कौमारतणुतिगिंछा रसायणविसभूदखारतंतं च । सल्लं सालं किवर्णतिगिंछादोसो दु अट्ठविहो ॥६३३॥ [illegible]

तनुचिकित्सा—ज्वरादि रोगों का नाश करने का उपाय दिखाने वाला शास्त्र अथवा कठ पट आदिकों का शोधन करने वाले शास्त्र को तनुचिकित्सा शास्त्र कहते हैं।

रसायन शास्त्र चिकित्सा—शरीर की निर्बलता और वृद्धत्व को दूर करने वाली वस्तु की विवेचना करने वाले शास्त्र को रसायन शास्त्र कहते हैं।

विष चिकित्सा—स्थावरविष और जंगमविष तथा कृत्रिमविष और अकृत्रिम विष इनसे होने वाली बाधा दूर करना विष चिकित्सा शास्त्र है।

भूतचिकित्सा—पिशाच को निकालने वाले शास्त्र को भूतचिकित्सा शास्त्र कहते हैं।

शालादिक चिकित्सा—शलाका से नेत्र के ऊपर आये हुये पटल को हटाकर मोती बिन्दु, कांचबिन्दु वगैरह नेत्ररोग को दूर करने वाले शास्त्र को शालादिक शास्त्र कहते हैं।

क्षारतंत्र चिकित्सा—दुष्ट व्रण को शोधन करने वाले द्रव्य को क्षारतंत्र शास्त्र कहते हैं।

शल्य चिकित्सा—भूमिशल्य और शरीर शल्य इस प्रकार शल्य २ प्रकार की है। तोमरादिकों को शरीर शल्य कहते हैं और हड्डी आदि को भूमिशल्य कहते हैं। उनको निकालने वाले शास्त्र को शल्य चिकित्सा शास्त्र कहते हैं। इनका प्रयोग बताकर आहार लेना चिकित्सा दोष है।

७—क्रोध, ८—मान, ९—माया, १०—लोभ दोष इनका स्वरूप मूलाचार में निम्न प्रकार बताया है—

क्रोध, मान, माया और लोभ ऐसे चार कषायों के द्वारा भिक्षा की उत्पत्ति कराने से उत्पादन दोष चार प्रकार का होता है।[1]

७ **क्रोध दोष**—अर्थात् क्रोध करके अपने लिये यदि मुनि आहार उत्पन्न करायेंगे तो क्रोध नामक उत्पादन दोष होता है।

हस्तिकल्पपत्तन में कोई साधु ने क्रोध से भिक्षा को उत्पन्न करवाया।

८ **मान दोष**—गर्व करके अपने लिये यदि मुनि आहार उत्पन्न करायेंगे तो मान दोष उत्पन्न होगा।

वेणातटनगर में किसी साधु ने अभिमान से भिक्षा को उत्पन्न कराया।

९ **माया दोष**—कुटिलभाव से यदि अपने लिये आहार उत्पन्न करायेंगे तो मायानामक दोष होता है।

वाराणसी नगरी में माया से भिक्षा को उत्पन्न कराया।

१० **लोभ दोष**—लोभाकांक्षा दिखाकर यदि मुनि अपने लिये आहार की उत्पत्ति करायेंगे तो लोभनामक उत्पादन दोष उत्पन्न होता है। इस प्रकार से आहार उत्पन्न कराने से मन के परिणाम बिगड़ते हैं। अतः ऐसा आहार त्याज्य है। जैसे

राशियान नामक नगर में लोभ को दिखाकर आहार उत्पन्न कराया। इस प्रकार दृष्टान्त हुये।

---

१ कोधेण य माणेण य मायालोभेण चावि उप्पादो।
उप्पावणा य दोसो चदुव्विहो होदि णायव्वो ॥६—३४

११ **पूर्व संस्तुति दोष**—मूलाचार में इसका स्वरूप निम्न प्रकार कहा है—
दाता के आगे दानग्रहण के पूर्व में उसको, तूं दानियों में अग्रणी है और तेरी कीर्ति जगत में सर्वत्र फैल गई है, ऐसा कहना यह पूर्व संस्तुति दोष है। जो दाता आहार देना भूल गया हो उसको, तू पूर्वकाल में महादान पति था, अब दान देना क्यों भूल गया है, ऐसा संबोधन करना यह भी पूर्व संस्तुतिदोष है। कीर्ति का वर्णन करना और स्मरण करना यह सब पूर्व संस्तुतिदोष ही समझना चाहिये। स्तुतिकरना यह कार्य स्तुति पाठकों का है मुनियों का नहीं। अतः ऐसी स्तुति करना योग्य नहीं है।१

१२ **पश्चात्स्तुति दोष**—मूलाचार में इसका स्वरूप निम्न प्रकार है—
आहारादिक दान ग्रहण करके जो मुनि दाता की-तूं विख्यात दानपति है, तेरा यश सर्वत्र प्रसिद्ध हुआ है ऐसी स्तुति करता है उसको पश्चात् स्तुति दोष कहते हैं। ऐसी स्तुति करने में मुनि के दीन-तादिक दोष दीख पड़ते हैं।२

आचारसार में भी कहा है–पूर्व और पश्चात् 'तुम प्रसिद्ध दाता हो' इत्यादि वचनों के द्वारा आहार के पूर्व तथा अनंतर गृहस्थों के संतोषोत्पादन वचन बोलना पूर्वस्तुति तथा पश्चात् स्तुति दोष है।

१३ **विद्यानामक दोष**— मूलाचार में इसका स्वरूप निम्न प्रकार है।
साधित करने पर जो सिद्धि होती है उसको विद्या कहते हैं। ऐसी विद्या की आशा दिखलाना अर्थात् तुझको मैं अमुक विद्या देता हूं और उस विद्या का ऐसा कार्य है, ऐसा माहात्म्य है ऐसा वर्णन करके दाता के मन में उस विद्या की अभिलाषा उत्पन्न करके उससे आहारादिक दान ग्रहण करना, विद्या का प्रभाव दिखाकर आहार लेना विद्या नामक उत्पादन दोष है।३

१४ **मंत्रोत्पादन दोष**—मूलाचार में इसका स्वरूप निम्न प्रकार है—
पठनमात्र से जो मंत्र सिद्ध होते हैं उसको पठित सिद्ध मंत्र कहते हैं। ऐसा मंत्र तुझको मैं देता हूं एऽऽ कहकर दाता के हृदय में उसकी आशा उत्पन्न कर, और सर्पविष, वृश्चिक विष दूर करने की उसमें सामर्थ्य है ऐसा मंत्र का माहात्म्य दिखाकर जो साधू उपजीवन करता है और आहारादिक ग्रहण करता है उसको मंत्रोत्पादन दोष कहते हैं।४

---

१ दायगपुरदो कित्ती तं दाणावदी जसोधरो वेत्ति।
पुव्वीसंथुदिदोसो विस्सरिदे बोधणं चावि ।६–३६

२ पच्छा संथुदिदोसो दाणं गहिदूण तं पुणो कित्ति।
विक्खादो दाणावदी तुज्झ जसो विस्सुदो वेंत्ति ।।६–३७

! दाता यथातत्त्वमित्याद्यैः गौरवा नंदनं वचः। पूर्वपश्चाच्च भुक्तेस्तत्पूर्वपश्चात्तवद्वयम्।। "४१" आ० सा०

३ विज्जा साधित सिद्धा तिस्से आसापदाणकरणेहिं।
तिस्से माहप्पेण य विज्जादोसो दु उप्पादो । ६–३८

४ सिद्धे पढिदे मंते तस्स य आसापदान करणेण।
तस्स य माहप्पेण य उप्पादो मंतदोसो दु ।।६–३९

आचारसार में भी कहा है–कि पठित सिद्ध मंत्रों की महिमा कहकर जो साधु आहार ग्रहण करता है उसको मंत्र दोष कहते हैं।

विद्योत्पादन दोष और मंत्रोत्पादन दोष का स्वरूप मूलाचार में अन्य प्रकार कहा है—

आहार दान देने वाले व्यंतर देवता को विद्या से और मंत्र से बुलाकर आहार दान के लिये सिद्ध करना यह विद्यादोष और मंत्रदोष है। अथवा आहार दायकों के लिए विद्या से और मंत्र से देवताओं को बुलाकर उनको सिद्ध करना यह विद्यामंत्र दोष है। १

१५ **चूर्ण दोष**—मूलाचार में इसका स्वरूप निम्न प्रकार है —

आंखें निर्मल करने के लिये अंजनचूर्ण देना, तथा जिससे तिलक किया जाता है और पत्रवल्ली शरीर पर खींची जाती है ऐसा शरीर की शोभा बढ़ाने वाला चूर्ण दाता को देना। ऐसे चूर्ण से भोजन की उत्पत्ति करना यह चूर्णोत्पादन नामक दोष है। २

आचारसार में लिखा है– कि अंगों को विभूषित करने वाले चूर्णादिक का उपदेश देना चूर्णोपजीवन दोष है।

१६ **मूलकर्म दोष**—मूलाचार में इसका स्वरूप निम्न प्रकार कहा है—

जो वश में नहीं है, उनको वश करना तथा जो वियुक्त हैं उनका संयोगकरना–कराना यह मूलकर्म है। इस मूलकर्म से आहारादिक उत्पन्न करना यह मूलकर्म नामक दोष है। वशीकरण से उपजीविका करना दोष इसमें है तथा यह कार्य लज्जास्पद है। ३

ये उत्पादनादिक दोष और उद्गमादिक दोष त्याज्य ही है, क्योंकि इनमें अधःकर्म का अंश पाया जाता है। अन्य भी जुगुप्सादिक दोष है। उनसे सम्य-ग्दर्शनादिकों में दूषण उत्पन्न होते हैं, उनका भी त्याग करना चाहिये।

एषणा संबंधी दोष

—इन एषणा सम्बन्धी दोषों का साधू भली प्रकार निवारण करते हैं। इनके भेद मूलाचार में निम्न प्रकार हैं :—

---

१ आहारदायगाणं विज्जा मंतेहिं देवदाणं तु।
आहूय साधिदव्वा विज्जामंतो हवे दोसो।६–४०

२ णेत्तस्संजण चुण्णं भूसणचुण्णं गत्त सोभयर।
चुण्णं तेणुप्पादा चुण्णय दोसो हवदि एसो।६–४१,

३ अवसाणं वसियरणं संजोजयणं च विप्पजुत्ताणं।
भणियं च मूलकम्मं एदे उप्पादणा दोसा।६–४२

शंकित, म्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, संव्यवहरण, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त व छोटित इस प्रकार एषणा संबंधी १० दोष हैं।१

१ **शंकित दोष**—इसका स्वरूप मूलाचार में निम्न प्रकार कहा है:—

अशन–भात, रोटी आदि। पानक-दही, दूध आदि। खाद्य-लड्डू आदि। स्वाद्य-केला, लवंग, कस्तूरी, कक्कोलादिक ये पदार्थ मेरे लिये भक्ष्य हैं अथवा अभक्ष्य हैं ऐसा मन में संशय उत्पन्न होने पर यदि साधु आहार करेंगे तो उनको शंकिताहार नामक दोष होता है। अथवा आगम में ये पदार्थ भक्ष्य कहे हैं या अभक्ष्य कहे हैं, ऐसा संशय संयुक्त होकर जो साधु आहार करता है उसको शंकित दोष होता है।२

आचारसार में भी कहा है–यह अन्न सेवन करने योग्य है कि नहीं इस प्रकार जो शका है वह शंकित दोष है।

२ **म्रक्षित दोष**—मूलाचार में इसका स्वरूप निम्न प्रकार है—

घी, तेल, आदि स्निग्ध पदार्थों से लिप्त ऐसे हाथ से अथवा स्निग्ध तेलादि से लिप्त ऐसी कड़छी से अथवा पात्र से मुनियों को आहार देना म्रक्षित दोष है। ऐसे आहार में सूक्ष्मसम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न होते हैं। अथवा चिपक सकते हैं। अतः ऐसा आहार त्याज्य है। ३

आचार सार में भी कहा है–जो चिकने हाथ से या पात्रादि से दिया हुआ अन्न है वह मृक्षित दोष माना है।

३ **निक्षिप्त दोष**—मूलाचार में इसका स्वरूप निम्न प्रकार है—

सचित्तपृथ्वी, सचित्तपानी, सचित्तअग्नि, सचित्तवनस्पति, बीज और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय, जीवों पर रक्खा हुआ आहार मुनियों को ग्रहण योग्य नहीं है। सचित्तपृथ्व्यादिके छहभेद हैं। अंकुरशक्ति योग्य गेहूं आदि धान्य को बीज कहते हैं। हरित-अम्लान अवस्था के तृण, पर्ण आदि को हरित कहते हैं। इनके ऊपर स्थापन किया हुआ आहारनिक्षिप्त दोष सहित होता है अथवा अप्रासुक ऐसे पृथिव्यादिक कार्यों पर रखा हुआ आहार मुनियों को अयोग्य है।४

आचारसार में भी लिखा है–सचित्त पत्रादि में रखे हुये अन्न को लेना निक्षिप्त नामक दोष है।

---

१ संकिदमक्खिदणिक्खिदपिहिदसंववहरण दायगुम्मिस्से।
अपरिण दलित्त छोडिद एसणदोसाइं दस एदे।६।४३।

२ असणं च पाणयं वा खादियमध सादियं च अज्झप्पे।
कप्पियमकप्पियत्ति य संसिद्ध संकियं जाणे।६–४४

३ ससिणिद्धेण दु देयं हत्थेण य भायणेण दव्वीए।
एसो मक्खिददोसो परिहरिदव्वो सदा मुणिणा।६।४५,

स्स्नेहहस्तपात्रादि दत्तं मृक्षितं मतम् "४६" आ० सा०

४ सच्चित्त पुढवि आऊ तेऊ हरिदं च बीयतसजीवा।
जं तेसिमुवरि ठविदं णिक्खित्तं होदि छब्भेयं।६–४६

सचित्ते पद्मपत्रादौ क्षिप्तं निक्षिप्तमीरितम्॥ आ० सा०

४ **पिहित दोष**—मूलाचार में इसका स्वरूप निम्न प्रकार है —

जो आहारादिक वस्तु सचित्त से ढकी हुई है अथवा अचित्त ऐसे (गुरु) बड़े वजनदार पदार्थ से ढकी हुई है, उसके ऊपर का आवरण हटाकर मुनियों को देना वह पिहित दोष है । १

आचारसार में कहा है—अप्रासुक वस्तु से ढका हुआ अथवा उसे उघाड़कर जो दे ऐसे आहार को लेना पिहित दोष होता है ।

५ **संव्यवहार दोष** —मूलाचार में इसका स्वरूप निम्न प्रकार बताया है ।

आतुरता अथवा मनक्षोभ से वस्त्र, पात्र आदि लाकर बिना विचारे और अच्छी तरह से न देखकर मुनिको आहार देना उसको संव्यवहार दोष कहते है ।२

आचारसार में भी कहा है-यतिराज के लिए शीघ्रता से वस्त्र भाजनादि को नहीं देखकर जो भोजनादि को अर्पण कर देना उसे आगम में संव्यवहार कहा है ।

६ **दायक दोष**—मूलाचार में इसका स्वरूप इस प्रकार कहा है –

जो बालक को आभूषणादिकों से सजाती है उसको दूध पिलाती है और धाय का कर्तव्य करती है, वह आहारदान में अयोग्य है । जो मद्यपान लंपट है, रोग से ग्रस्त है, जो मृतक को श्मशान में जलाकर आया है और जिसको मृतक सूतक है, जो नपुंसक है, जो पिशाचग्रस्त है, अथवा वातादिक से पीड़ित है, जो वस्त्रहीन है, अथवा जिसने एक ही वस्त्र धारण किया है, जो मल विसर्जन करके आया है तथा जो मूर्च्छित हुआ है, जिसको वमन हुई है, जिसके शरीर से रक्त बाहर आ रहा है, जो वेश्या अथवा दासी है, जो आर्यिका है अथवा जो लाल रंग के वस्त्र धारण करने वाली रक्तपाटिका आदिक अन्य धर्मीय सन्यासिका है, जो अंगमर्दन करके स्नान कर रही है, ऐसे स्त्री और पुरुष आहारदान देनयोग्य नहीं हैं ।३ और भी कहा है:—

अतिबाला - अत्यधिक मूर्ख अथवा वय से बहुत छोटा बालक और बालिका अतिवृद्ध-(अत्यंत वृद्धावस्था से पीड़ित स्त्री, पुरुष , ग्रासती—(भोजन करती स्त्री) गर्भिणी—(जिसका गर्भ बढ़ा हुआ है ऐसी स्त्री अर्थात् पांचवे महिने से नवे महीने तक गर्भवती स्त्री गर्भ के बोझ से पीड़ित होने से आहार देने में अयोग्य है ।)अंधलिक (अंधा नेत्र रहित पुरुष और नारी) अंतरिता (भीत, परदा आदि से व्यवहित होकर पुरुष और स्त्री) दान देने योग्य नहीं हैं । जो बैठा है ऐसा पुरुष और स्त्री आहार देने योग्य नहीं है । उच्चस्था—ऊंचे प्रदेश पर खड़े हुए पुरुष और स्त्री तथा नीचस्था-निम्न प्रदेश में स्थित स्त्री पुरुष ये आहारदान देने में अयोग्य हैं। उपयुक्त स्त्री और पुरुष यदि दान देते हैं तो मुनियों को आहार लेना योग्य नहीं है । ४

---

१. सचित्तेनाल्पपत्रादिना वृतं पिहिताशनम् ।। " ४७ " आ० सा०
सच्चित्तेण व पिहिदं अथवा अच्चित्तगुरुगपिहिदं च । तं छंडिय जं देयं पिहिदंतं होदि बोधव्वो ।।६–४७,

२ संववहरणं किच्चा पदादुमिदि चेल भाजणादीणं । असमक्खिय जं देयं संववहरणो हवदि एसो ।। १६–४८,
वस्त्रं संभ्रमात्चेलपात्रादेरसमीक्ष्य यत् । समाकर्षण माम्नातं व्यवहार इति श्रुते " ४६ " आ०सा०

३ सूदी सुंडी रोगी मदयणवुंसय पिसायणग्गोय । उच्चारपडिदवंतरुहिरवेसी समणि अंगमक्खीया ।६–४६

४ अतिबाला अतिवुड्ढा घासत्ती गब्भिणी य अंधलिया । अन्तरिदा व णिसण्णा उच्चत्था अहव णीचत्था ।६–५०

अग्नि को उत्पन्न करना, मुख की हवा से अथवा अन्य प्रकार से अग्नि और लकड़ियों को प्रदीप्त करना, अग्नि में लकड़ियां डाल देना, अग्नि को भस्म से ढकना, जलादिक से अग्नि को बुझाना, अग्नि को फैलाना, अग्नि में से लकड़ियों का निकालना, अग्नि को दबाना इत्यादि कार्य कर रहे स्त्री या पुरुष मुनियों को दान देने के लिये अयोग्य हैं ।

गोबर और मृत्तिका आदिक से दीवाल जमीन आदि को लेपना, स्तनपान करते हुये बालक को छोड़कर कोई स्त्री आहारदान देने में उद्यत हुई हो तो उससे आहार लेना योग्य नहीं है ।

आचारसार में भी कहा है—नग्न, मदिरा पीने वाले या मदिरा का कार्य करने वाले पिशाच से गृहीत या वायुदोष से पीड़ित, अन्धा, मूर्च्छा से गिरा हुआ, मुर्दे को श्मशान में जलाकर व डालकर आया हो, तीव्र रोगी, घाव से युक्त, अन्यवेषधारी, साधु से नीचे और ऊंचे स्थान पर खड़ा हो, पांच महीने से अधिक गर्भवाली हो, वेश्या, दासी, दीवाल, पर्दा आदि से अन्तरित, अपवित्र, कुछ भी खा रहे हों ऐसे स्त्री अथवा पुरुष से आहार लेने में दायक दोष आता है ।१

७ उन्मिश्र दोष—कुन्दकुन्द स्वामी ने मूलाचार में लिखा है—

मिट्टी, अप्रासुक जल, वनस्पतिकाय–पत्र, पुष्प, फल आदिक, जव–गेहूं आदि और जीते हुये द्वींद्रियादि जीव इन पांचों से मिश्र जो आहार उस को उन्मिश्र आहार कहते हैं ।

आचारसार में भी कहा है छह काय के जीवों से मिश्रित आहार लेना उन्मिश्र दोष (मिश्रदोष) है ।

८ अपरिणत दोष—मूलाचार में इसका स्वरूप निम्न प्रकार है—

तिल जिससे धोये गये हैं ऐसे पानी को तिलोदक कहते हैं । उसी को तिल प्रक्षालन भी कहते हैं । तंदुल धोया हुआ जल, जो उष्ण था अनंतर जो शीत हुआ ऐसा जल, चणक धोया हुआ जल, तुष धोया हुआ जल, जिसने अपने वर्ण गंध, रस का त्याग नहीं किया है ऐसा जल, और अन्य भी जल-हरीतकी आदि चूर्ण से जिसके वर्ण रस, गंध में परिणति नहीं हुई है ऐसा जल । इन सब प्रकार के जलों को अपरिणत कहते हैं । इस प्रकार के जलों को अप्रासुक होने से मुनि ग्रहण नहीं करते । जब ये परिणत होते हैं तब ग्राह्य होते हैं । अर्थात् जलों ने अपने पूर्व के वर्ण, गंधादिक छोड़कर यदि तिलादिकों के वर्ण, गंध, रसादिक धारण किये हों तो ऐसे तिलजलादिकों का पान करना अपरिणत दोष दूषित नहीं होगा ।

---

१. नग्नः शौण्डः पिशाचोऽन्धः पतितो मृतकाऽशुचः । तीव्ररोगी व्रणी लिङ्गीनोच्चोच्चस्थान संस्थितः ॥ ५० ॥
आसन्नगर्भिणी वेश्या दास्यन्तरिताऽशुचिः । भक्षयन्ति किमप्येवमाद्या दोषास्तु दातृषाः ॥ ५१ ॥ आ०सा०

२ पुढवी आऊ य तहा हरिया बीया तसा य सज्जीवा ।
पंचेहि तेहि मिस्सं आहारं होदि उम्मिस्सं ॥६–५३,

३ तिलचाउलउसणोदयचणोदयतुसोदयं अविद्धुत्थं ।
अण्णं पिय असमादी अपरिणदं णेव गेण्हेज्जो ॥६–५४,

आचारसार में भी कहा है—अग्नि आदि के द्वारा हरड़ादि द्रव्यों से नहीं छोड़ा है पूर्व स्ववर्ण, गंध, रस जिसने उसको अपक्व कहा है।१

९ **लिप्त दोष**—कुन्दकुन्द स्वामी ने मूलाचार में कहा है—

गेरू, हरिताल, सफेदमिट्टी, मनशील और कच्चा आटा इनसे जो गीला हो गया है अर्थात् गेरू हरिताल आदिकों के द्रव से जो लिप्त हुआ है, ऐसे हाथ से अथवा पात्र से आहार देना लिप्त दोष से दूषित होता है। अपक्व जल अर्थात् अप्रासुक जल, अपक्व शाक से जो गीला हुआ है ऐसे हाथ से और पात्र से जो अन्नादिक यदि दिये जायेंगे तो लिप्तनामक दोष होता है।२

१० **छोटित दोष**—मूलाचार में इसका स्वरूप निम्न प्रकार कहा है—

बहुत सा अन्न छोड़कर थोड़ा अन्न खाना यह छोटित दोष है। अथवा परोसने वाले दाता के हस्त से सत्पात्र के हस्त पर अर्पण किये जाने वाले और नीचे गिरने वाले ऐसे तक्र, दूध आदि पदार्थ का आहार लेना यह छोटित दोष है। तक्र (छाछ) वगैरह द्रव पदार्थ अपने हाथ से नीचे न गिर पड़ें ऐसी पद्धति से भक्षण करना चाहिए। अर्थात् दोनों हाथों की दृढ़ अंजलि करके द्रव पदार्थ भक्षण करना चाहिये। अन्यथा वे द्रव पदार्थ नीचे गिरने से चींटी वगैरह प्राणिओं को बाधा होगी। अथवा हस्तपुट छोड़ करके भोजन करना यह भी छोटित दोष है। हस्तपुट का बंधन छोड़कर अर्थात् अपने दोनों हाथों की अंजलि तोड़कर भोजन करना यह भी छोटित दोष है। अथवा आहार में दिये हुये पदार्थों में से इष्ट पदार्थों को खाना और अनिष्ट पदार्थ छोड़ देना भी छोटित दोष है। ऐसे शंकितादिक दस दोषों का वर्णन किया है। जीवदया के लिए, लोक में जुगुप्सा न होवे इसलिये और पाप से अलिप्त रहने के लिये इन दोषों का त्याग करना चाहिए।३

संयोजना दोष तथा प्रमाण दोष

संयोजना दोष—आहार के पदार्थ और पान के पदार्थ अन्योन्य में मिलाना अर्थात् मिश्रण करना। ठंडा आहार उष्णपान से मिश्रित करना। अथवा ठंडा जल आदि पेय पदार्थ उष्ण भात आदि में मिलाना। अन्य भी विरुद्ध भक्ष्य पदार्थ आपस में मिश्रण करना संयोजननामक दोष है।४

प्रमाण दोष—प्रमाण का अतिक्रम करके भोजन करना प्रमाण नामक दोष है। पेट के दो भाग भात, दाल, रोटी आदि से भरने चाहिये, एक भाग जल, तक्र, दूध आदि तरल पदार्थों से भरना चाहिये

---

१ निर्भ्रं पट्जोत्र सम्मिश्र पक्वं पावकादिभि। द्रव्यैं रत्यक्तपूर्वं स्ववर्णगन्ध रसैविः: "५२"

२ गेरुयहरिदालेण व सेडीय मणोसिलामपिट्ठेण।
सपवालोदणलेवेण देयं करभायणे लित्तं ॥ ६–५५

३ बहुपरिसाडणमुज्झिय आहारो परिगलंत दिज्जंतं।
छंडिय भुंजणमहवा छोडिददोसो हवे णेओ ॥६–५६

४ संजोयणा य दोसो जो संजोएदि भत्तपाणं तु।
अदिमत्तो आहारो पमाण दोषो हवदि ऐसो ॥ ६–५७

तथा चतुर्थ भाग खाली रखना चाहिये। इससे आलस्य के बिना सामायिक, स्वाध्याय और आवश्यकादिक कर्त्तव्यों में तत्परता आती है, अन्यथा नहीं। प्रमाणाधिक भोजन से अजीर्ण और ज्वरादिक रोग उत्पन्न होते हैं तथा निद्रा, आलस्यादिक दोष उत्पन्न होते हैं।

अंगार दोष तथा धूम दोष

—मूलाचार में इनका स्वरूप निम्न प्रकार कहा है—

अंगार दोष—जब साधु लंपटता से आहार भक्षण करता है तब अंगारदोष उत्पन्न होता है। यह आहार बहुत ही मीठा है, यही आहार बार-बार मेरे को मिलेगा तो अच्छा होगा। इस प्रकार की लंपटता जब आहार में उत्पन्न होती है तब अंगार दोष उत्पन्न होता है।

धूम दोष—मन में निंदा करता हुआ जब मुनि आहार करता है तब धूमनामक दोषउत्पन्न होता है। ये आहार के पदार्थ मेरे मन को इष्ट नहीं हैं ऐसी निंदा करता हुआ आहार करना धूम नामक दोष है।१ इस दोष में संक्लेश परिणाम उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार उद्गम के १६, उत्पादन के १६, एषणा के १० और संयोजना आदि के ४ सब मिलाकर ४६ दोष होते हैं।

आहार ग्रहण एवं त्याग के कारण

—मूलाचार में श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने निम्न प्रकार कहा है—

चार प्रकार के आहारों का छह कारणों से आहार करने वाले यति चारित्र कापालन करते हैं और छह कारणों के कारण यति आहार परित्याग करते हैं तो वह धर्मोपार्जन करते हैं।२

आहार ग्रहण करने के कारण—३

१ **वेदना**—क्षुधा की वेदना मिटाने के लिए मुनि भोजन करते हैं।

२ **वैय्यावृत्ति**—अपनी तथा अन्य साधुओं की वैय्यावृत्ति करने के लिये मुनिराज आहार ग्रहण करते हैं।

३ **क्रियार्थ**—मैं भोजन नहीं करूंगा तो सामायिकादि छह आवश्यक क्रियाओं का पालन मेरे द्वारा नहीं होगा। अतः उनके पालन के लिए भोजन करना मेरा कर्त्तव्य है ऐसा समझकर मुनि आहार करते हैं।

४ **संयमार्थ**—तेरह प्रकार के संयमों का पालन करने के लिए मुनि आहार ग्रहण करते हैं।

५ **प्राणार्थ**—आहार के बिना मेरी इंद्रियां विकल होकर मैं जीवदया पालने में असमर्थ हो जाऊंगा ऐसा विचार कर प्राणी संयम और इंद्रिय संयम के लिए मुनि- आहार ग्रहण करते हैं तथा प्राण रक्षा के लिये भोजन करते हैं। मेरे दसप्राणों का रक्षण नहीं होगा अतः प्राण रक्षणार्थ वे आहार करते हैं।

---

१ तं होदि सयंगालो जं आहारेदि मुच्छिदो संतो।
तं पुण होदि सधूमं जं आहारेदि णिंदंतो ॥ ॥६-५८

२ छहिं कारणेहिं असणं आहारंतो वि आयरदि धम्मं।
छहिं चेव कारणेहिं दु णिज्जुहवंतो वि आयरदि ॥६-५९

३ वेयणवेज्जावच्चे किरिया ठाणे य संजमट्ठाए।
तध पाणधम्मचिंता कुज्जा एदेहिं आहारं ।६-६०

६ धर्मचिंता—मैं यदि आहार ग्रहण नहीं करूंगा तो उत्तम क्षमादिक दश धर्मों का पालन नहीं कर पाऊंगा। आहार के बिना यह जीव उत्तम क्षमा, मार्दवादिक गुणों को धारण नहीं करेगा। अतः भोजन करना आवश्यक है ऐसा विचार कर मुनि भोजन करते हैं।

मुनि इन छह प्रयोजन-सिद्धि के लिये आहार लेते हैं।

आचार सार में भी कहा है—भूख की शांति, आवश्यकों का पालन, प्राणरक्षा, धर्मों का परिपालन, संयम साधन, और सेवा वृत्ति इस प्रकार मुनि के भुक्ति के ये छह कारण माने हैं। १

"आहार त्याग के कारणों का वर्णन"

१ व्याधि—आकस्मिक व्याधि होकर मारणांतिक पीड़ा जब होती है तब मुनि आहार का त्याग करते हैं।

२ उपसर्ग—दीक्षा का नाश करने वाला उपसर्ग प्राप्त होने पर अर्थात् देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और अचेतनों का उपसर्ग होने पर मुनि आहार त्याग करते है।

३ व्रत रक्षण—ब्रह्मचर्य व्रत का निर्मल रक्षण करने के लिये आहार त्याग करते हैं।

४ जीवदया—प्राणिदया के लिए वे आहार त्याग करते हैं। यदि मैं आहार ग्रहण करूंगा तो बहुत प्राणियों का घात होता है। अतः जीवदया के लिए मैं आहार छोड़ता हूं। ऐसा संकल्प करके वे आहार का त्याग करते हैं।

५ तपश्चरण—बारह प्रकार के तपों में अनशन नामक तपश्चरण मैं आज करता हूं ऐसा संकल्प करके वे आहार त्याग करते हैं।

६ समाधि—सन्यास काल प्राप्त होने पर वे ऐसा विचार करते हैं—यह वृद्धावस्था मेरे मुनि धर्म का नाश करने वाली है, मैं असाध्य रोग से पीड़ित हुआ हूं, मेरी सर्व इंद्रियां शक्ति विकल हो गई हैं। इस वृद्धावस्था में मैं स्वाध्याय करने के लिए समर्थ नहीं हूं। अब मेरे जीने के उपाय सब नष्ट हुये हैं ऐसे समय में शरीर परित्याग करना योग्य ही है। ऐसा चिंतवन करत हुये वे आहार का परित्याग करते हैं। उपर्युक्त छहों कारणों से मोक्षमार्गी यतीश्वर आहार का त्याग करते हैं। २

और भी कहा है दिगम्बर मुनि युद्धादिक कार्य करने योग्य बल मुझे प्राप्त होवे ऐसी इच्छा धारण कर आहार नहीं लेते हैं। तथा आयुर्वृद्धि की इच्छा से वे आहार ग्रहण नही करते हैं। यह आहार स्वादिष्ट है ऐसी इच्छा से भी वे आहार ग्रहण नहीं करते है। अथवा शरीर में कांतिवृद्धि होने के लिये भी वे आहार नहीं लेते हैं। अपितु सामायिक-स्वाध्याय करने के लिए, ध्यान के लिये वे आहार ग्रहण करते हैं।

मुनि कौन सा आहार ग्रहण करते हैं—मूलाचार में श्री कुन्द कुन्दाचार्य ने कहा है—

दिगम्बर मुनि नवकोटि से विशुद्ध उद्गम, उत्पादन और एषणा दोष से रहित अर्थात् ४६ दोष रहित, संयोजन दोष रहित एवं प्रमाण सहित और विधिवत् अर्थात् नवधाभक्ति से प्रदत्त अंगार, धूम

---

१ क्षुच्छान्त्यावश्यकः प्राण रक्षा धर्ममथो मुने। वैयावृत्यं च षट्भुक्तेः कारणा नीति यन्मतम्॥ ५८॥ आ० सा०

२ आदंके उवसग्गे तितिक्खणे बंभचेरगुत्तीओ।
पाणिदयातवहेऊ सरीरपरिहारं वोच्छेदो॥६-६१
णवकोडीपरिसुद्धं असणं बादालदोसपरिहीणं।
संजोजणाए हीणं पमाणसहियं विहिसुदिण्णं॥६-६३

दोष से भी हीन, श्रम विशुद्ध, प्रासुक तथा सादा भोजन, मोक्ष यात्रा के लिये साधन मात्र तथा चौदह मलदोष रहित आहार ग्रहण करते हैं।

श्रावकों के श्रद्धा, भक्ति, तुष्टि, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और सत्वशक्ति ये सात गुण हैं। पड़गाहन करना, उच्चासन देना, चरण प्रक्षालन करना, पूजा करना, नमस्कार करना, मनशुद्धि, वचन-शुद्धि, कायशुद्धि और आहार शुद्धि कहना यह नवधाभक्ति है। इन सप्तगुण सहित, नवधाभक्ति पूर्वक दिया गया आहार विधिवत् कहलाता है। ऐसे विधिवत् दिये गये आहार को वे मुनि ग्रहण करते हैं।

चौदह मल दोष—श्री कुन्द कुन्दाचार्य ने मूलाचार में निम्न प्रकार बताये हैं—

१ मनुष्य, अथवा तिर्यंच के हाथ के अथवा चरण के अंगुलियों के अग्रभाग अथवा नख।

२ मनुष्य के अथवा पशु के बाल।

३ प्राणरहित शरीर अर्थात् जन्तु, अस्थि, कण, जल, गेहूं आदि धान्यों का बाह्य अवयव-छिलका। कुंड-शाल्यादिकों का अभ्यंतर सूक्ष्म अवयव। पूय-पक्व रक्त अर्थात् व्रण से निकलने वाली सफेद पीप। चर्म-शरीर की त्वक् (चमड़ा)। रक्त, मांस, बीज ! जिससे अंकुरोत्पत्ति होती है ऐसे गेहूं जव आदि। फल सचित्त आम, अनार, आदि ! कंद-जमीकन्द जिसको सूरण, रक्तालुक, गर्जर आदि कहते हैं ऐसे ये चौदह मल हैं। १

इनमें से कोई महामल हैं, कोई अल्पमल हैं। कोई महादोष हैं, कोई तुच्छ दोष हैं। रुधिर, मांस, अस्थि, चर्म, और पीव ये महादोष है। आहार में ये दीखने पर आहार छोड़कर प्रायश्चित्त भी लेना चाहिये। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवों का शरीर आहार में देखने पर आहार का त्याग करना चाहिए। केश आहार में देखने से आहार छोड़ना चाहिए। नख दीखने पर आहार का त्याग कर अल्प प्रायश्चित्त भी लेना चाहिये। कण, कुंड, बीज, कंद फल आहार में दीखने पर इनको आहार से अलग करके आहार ले सकते हैं यदि अलग करना अशक्य हो तो आहार का त्याग करना चाहिये।

सिद्धभक्ति के अनंतर शरीर में से यदि रक्त और पीव बहे तो आहार का त्याग करना चाहिये। जो अन्न देता है उसके शरीर में से रक्त और पीव निकलता हो तो भी आहार का उस दिन त्याग करना चाहिये। मांस भी शरीर में से निकलता हो तो उस दिन में आहार का त्याग करना चाहिये।

दोष रहित आहार साधु ग्रहण करते हैं उसका स्पष्टीकरण मूलाचार में निम्न प्रकार किया गया है--२

साधु द्रव्य और भाव से प्रासुक आहार ग्रहण करते हैं। जिस द्रव्य से प्राणी निकल गये हैं अर्थात् जो द्रव्य आहारादि पदार्थ एकेन्द्रियादि प्राणिओं से रहित है उसको प्रासुक द्रव्य कहना चाहिए। द्रव्य से आहार प्रासुक होने पर भी यदि वह अपने लिये बनाया है, ऐसा मुनि विचार करते हैं तो वह आहार

---

१ णहरोमजंतु अट्ठी कणकुंडयपूयचम्मरुहिरं च।
बीयफल मांसं च मला हु चोद्दसमे। ॥६-६५

२ पगदा असवो जम्हा तम्हादो दव्वदोत्ति तं दव्वं।
फासुगमिदि सिद्धेवि य अप्पट्ठकदं असुद्धंतु ।६-६६

द्रव्य से प्रासुक और भाव से अप्रासुक समझना चाहिये। यद्यपि वह द्रव्यतः शुद्ध है तो भी अशुद्ध ही समझना चाहिये। कहा भी है जैसे-मत्स्यों के लिये बनाये हुये मादक जल से मत्स्य ही विह्वल होते हैं मेंढक नहीं। इसी प्रकार से पर के लिये बनाये हुये आहार में प्रवृत्त हुए मुनि उस दोष से लिप्त नहीं होते हैं। जो आहार बनाने वाले गृहस्थ हैं वे ही उस दोष से लिप्त होते हैं।१

जो सम्यग्दृष्टि गृहस्थ साधुओं को आहार देते हैं वे अधः कर्मादि दोषों को दूर कर साधु दान फल से स्वर्ग को जाते है, परन्तु जो मिथ्या दृष्टि हैं ऐसे गृहस्थ साधुदान से भोग भूमि में जन्म धारण करते हैं।

आहार के पदार्थ शुद्ध होने पर भी साधु यदि आहार मेरे लिये बनाया है ऐसा समझेगा तब वह कर्मबंध से युक्त होता है। मेरे लिये बना है ऐसा समझ कर उसमें वह साधु आदरयुक्त होता है जिससे उसको कर्मबंध होता है। कृतादि दोष रहित आहार लेने का अभिप्राय धारण करने वाले साधु को यदि अधः कर्म युक्त आहार प्राप्त हो गया और उसने वह ग्रहण किया तो भी साधु शुद्ध आहार की बुद्धि से उसे ग्रहण करते हैं। अतः उसको वह आहार कर्मबंध का कारण नही होता है।२

भोजन योग्य काल का वर्णन—श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने मूलाचार में भोजन के योग्य काल का वर्णन करते हुये कहा है—

सूर्योदय से तीन घटिकाओं को छोड़कर अर्थात् सूर्योदय के अनंतर तीन घटिका काल के उपरान्त तीन मुहुर्तों में भोजन करना जघन्याचरण है, दो मुहुर्तों मे भोजन करना मध्यम आचरण है और एक मुहुर्त में भोजन करना उत्कृष्टाचरण है।३——सिद्ध भक्ति के अनंतर का यह भोजनकाल का प्रमाण है। भोजन के लिये भ्रमण करने वाले परन्तु भोजन जिनको प्राप्त नही हुआ है, ऐसे मुनि का यह काल प्रमाण नही है। मध्यान्ह काल में दोघड़ी बाकी रहने पर प्रयत्न पूर्वक स्वाध्याय समाप्त कर, देव वंदना करके वे मुनि भिक्षा का समय जानकर शरीर की स्थिति हेतु आहारार्थ आश्रम या मन्दिर से निकलते हैं। मार्ग में संसार, शरीर भोगों से विरक्ति का चिंतन करते हुये ईर्यापथशुद्धि से धीरे-धीरे गमन करते हैं। वे किसी से बातचीत न करते हुये मौन पूर्वक चलते हैं। श्रावक द्वारा पड़गाहन हो जाने पर वे खड़े हो जाते हैं। तब श्रावक उन्हें अपने घर ले जाकर नवधा भक्ति करता है। सिद्ध भक्ति पढ़ अनंतर मुनि पैरों में चार अंगुल का अन्तर रखकर खड़े होकर अपने दोनों कर कमलों को छिद्र रहित बना लेते हैं और क्षुधा-वेदना को दूर करने के लिये वे प्रासुक आहार ग्रहण करते हैं।

आहार में पांच प्रकार की वृत्ति—रयणसार में कुन्दकुन्द स्वामी ने निम्न प्रकार भेद किये हैं—

उदराग्निशमन, अक्ष म्रक्षण, गोचरी, श्वभ्र पूरण और भ्रामरी मुनिचर्या के भेदों को जानकर साधु नित्य ही आहार ग्रहण करते हैं।४

---

१. जहमच्छयाण पगदे मदणदए मच्छया हि मज्जन्ति।
णहि मडूगा एवं परमकदे जदि विसुद्धो॥

२. आधा कम्मपरिणदो फासुगदव्वे वि बंधगो भणिदो।
सुद्धं गवेसमाणो आधा कम्मे वि सो सुद्धो॥ मूलाचार, ६-६७,६८

३ सुरुदयत्थमणादो णालीतियवज्जिदे असणकाले। तिगदुगएगमुहुत्ते जहण्णमज्झिममुक्कस्से॥६-७३

४ उदरग्गिगयसमण मक्खमक्खण गोयारसब्भपूरण भमर। णाऊण तप्पयारे, णिच्चेव भुञ्जदे भिक्खू॥१०८॥

१ उदराग्निप्रशमन—जैसे कोई वैश्य स्वर्णादि से भरे भांडारागार में अग्नि के लग जाने पर शीघ्र ही किसी भी जल से उसे बुझा देता है । वैसे ही साधु भी सम्यग्दर्शन आदि रत्नों की रक्षा हेतु उदर में बढ़ी हुई क्षुधा रूपी अग्नि के प्रशमन हेतु सरस व नीरस कैसा भी आहार ग्रहण कर लेते हैं । इसे उदराग्नि-शमन वृत्ति कहते हैं ।

२ अक्षम्रक्षण—जैसे कोई वैश्य रत्नों से भरी गाड़ी के पहियों की धुरी में थोड़ी सी चिकनाई (ओंगन) लगाकर अपने इष्ट देश मे ले जाता है । वैसे ही मुनिराज भी गुण रत्नों से भरी हुई शरीर रूपी गाड़ी को ओंगन के समान थोड़ा सा आहार देकर आत्मा को मोक्षनगर तक पहुंचा देते हैं । इसको अक्षम्रक्षण-वृत्ति कहते हैं ।

३ गोचरीवृत्ति—जिस प्रकार गाय सलीला, तथा सालंकार युवती स्त्रियों के द्वारा लाये गए घास को उस स्त्री के शरीर सौंदर्य के निरीक्षण में तत्पर न होते हुये खाती है, उसी प्रकार भिक्षु भी भिक्षा प्रदान करने वाले लोगों के मृदु, मनोहर, रूप, वेष, विलास के देखने में निरुत्सुक हो आहार की योजना विशेष को न देखते हुए जो प्राप्त होता है उसे ग्रहण करते हैं । अतः गो के सदृश भोजन करने के कारण इसे गोचरी वृत्ति कहते हैं ।

४ श्वभ्रपूरण—जैसे कोई गृहस्थ अपने घर के गड्ढे को किसी भी मिट्टी से भर देता है वैसे ही साधु अपने उदर रूपी गर्त को मधुर अथवा अमधुर पदार्थ के द्वारा भरते हैं यह श्वभ्रपूरण वृत्ति कहलाती है ।

५ भ्रामरीवृत्ति—जैसे भ्रमर अपनी नासिका द्वारा कमल गंध को ग्रहण करते समय कमल को किंचित्मात्र भी बाधा नहीं पहुंचाता है । वैसे ही मुनिराज भी दाता के द्वारा दिय गये आहार को ग्रहण करते समय उन्हें किंचित् भी पीड़ित नहीं करते हैं । इसको भ्रामरीवृत्ति कहते हैं ।

उपर्युक्त प्रकार से आहार ग्रहण करते हुये यदि दाता और पात्र दोनों के मध्य में विघ्न आता है तो दिगम्बर मुनिराज उस आहार को छोड़ देते हैं वे इसे ही अन्तराय कहते हैं ।

अन्तराय—मूलाचार में निम्न प्रकार कहते हैं:—

कागा मेज्झा छद्दी रोहण रुहिरं च अस्सुवाद च ।
जण्हूहिट्ठामरिसं जण्हुवरि वदिक्कमो चेव "३९"
णाभिअधोणिग्गमणं पच्चक्खियसेवणा य जंतुवहो ।
कागादिपिंडहरणं पाणीदो पिंडपडणं च "४०"
पाणीए जंतुवहो मंसादिदंसणो य उवसग्गे ।
पादंतरम्मि जीवो संपादो भायणाणं च "४१" ।
उच्चारं पस्सवणं अभोज्जगिहपवेसणं तहापडणं ।
उववेसण सदंसं भूमीसंफास णिट्ठवणं "४२"
उदरक्किमिणिग्गमणं अदत्तगहणं पहारगामडाहोय ।
पादेणकिंचिग्गहणं करेण व जं च भूमीए "४३"
एदे अण्णो बहुगा कारणभूदा अभोजणस्सेह ।
बीहणलोय दुगुंछणसंजमणिव्वेदणट्ठं च "४४"

१ काक अन्तराय—आहार को जाते समय या आहार लेते समय यदि कौआ, बक, और बाज आदि पक्षी मुनियों के शरीर पर बींट कर देवें तो काक नाम का अंतराय है ।

२ अमेध्यान्तराय—अपवित्र विष्टादिक से पादादिक लिप्त हो जाने को अमेध्य नाम का अंतराय कहते हैं।
३ छर्दि (वमन)—मुनिराज को वमन होना।
४ रोधन—आहार के लिये तुम नहीं जा सकते ऐसा कहने पर रोधननाम का अंतराय कहते हैं।
५—रक्तस्राव—अपने शरीर से या अन्य के शरीर से चार अंगुल पर्यन्तरुधिर बहता हुआ दिखने पर अन्तराय होता है इससे कम बहने पर अन्तराय नहीं है।
६ अश्रुपात—दुःख से अपने नेत्रों मे तथा पर के नेत्रों मे यदि अश्रु आते हों तो अश्रुपातांतराय होता है।
७ जान्वधपरामर्श—जंघा के नीचे यदि हाथ से स्पर्श हो जावे तो अंतराय होता है।
८ जानूपरिव्यतिक्रम—जंघा के ऊपर के अवयवों का स्पर्श होने पर अंतराय होता है।
९ नाभ्यधोनिर्गमन—नाभि के नीचे मस्तक करके यदि आहार को जाना पड़ता हो तो वह अन्तराय होता है।
१० प्रत्यख्यात सेवना—जिस वस्तु का देव-गुरू की साक्षी से त्याग किया है, उस वस्तु को ग्रहण करने पर अंतराय होता है।
११ जंतुवध—अपने सामने मार्जारादिक के द्वारा चूहा आदि प्राणि का वध होने पर अंतराय होता है।
१२ काकादिपिंडहरण—कौवा, गीध पक्षी इत्यादिकों के द्वारा साधु के हाथ से अन्न का ग्रास हरण करने पर अन्तराय होता है।
१३ पिंडपतन—भोजन करते समय मुनि के हाथ से ग्रास गिर जाने पर अंतराय होता है।
१४ पाणी जन्तुवध—हस्तपात्र में प्राणी आकर स्वयं यदि मरे तो अंतराय होता है।
१५ मांसादिदर्शन—मांस, मद्य और मरे हुये पंचेन्द्रिय का शरीर ये पदार्थ दिखने पर अंतराय होता है।
१६ पादान्तर जीव—आहार लेते समय दोनों पावों के बीच में से पंचेन्द्रिय जीव के निकल जाने पर अंतराय होता है।
१७ देवाद्युपसर्ग—देव, मनुष्य तिर्यंचों में से किसी के द्वारा आहार लेते समय उपद्रव होने पर अंतराय होता है।
१८ भाजनसंपात—देने वाले के हाथ में से पात्र के गिर जाने पर अंतराय होता है।
१९ उच्चार—आहार के समय अपने उदर में से विष्ठा आदि निकलने पर अंतराय होता है।
२० प्रस्रवर्ण—मूत्र और शुक्रादिक यदि निकलें तो अंतराय होता है।
२१ अभोज्य गृह प्रवेश—आहार के लिये निकले हुये साधु का यदि चांडालादिक अस्पृश्य लोगों के गृह में प्रवेश हो जाय तो अंतराय होता है। (भोजिगिह भोजन) ऐसा भी पाठ है जिसका अर्थ भोजन के लिये अयोग्य ऐसे चांडालादिक अस्पृश्य लोग अभोज्य माने जाते हैं और सूतक पातकादिक का संबंध जिनको प्राप्त हुआ है ऐसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य भी अभोज्य माने जाते हैं। इनके घर में भोजन करने पर अंतराय होता है।
२२ पतन— श्रम, थकावट, मूर्च्छादिक से यदि साधु गिर जाय तो अंतराय होता है।
२३ उपवेशन—साधु यदि बैठ जाये तो अन्तराय होता है।
२४ सदंस—कुत्ता, बिल्ली आदि का दंश होने से अंतराय होता है।
२५ भूमिस्पर्श—सिद्ध भक्ति होने पर हाथ से भूमि का स्पर्श हो जाने पर अन्तराय होता है।

२६　वस्तुग्रहण—आहार करते समय हाथ से मुनि भूमि पर से कुछ वस्तु ग्रहण करे तो अंतराय होता है।
२७　निष्ठीवन—कफ, थूक, आदिक यदि मुनि के द्वारा जमीन पर किया जाय तो अन्तराय होता है।
२८　उदरकृमिनिर्गमन—पेट में से यदि कृमि निकले तो अंतराय होता है।
२९　अदत्तग्रहण—बिना दिये पदार्थ को ग्रहण करने पर अंतराय होता है।
३०　प्रहार—अपने ऊपर अथवा अन्य के ऊपर प्रहार होने पर अंतराय होता है।
३१　ग्रामदाह—ग्राम में यदि आग लगी हो तो अंतराय होता है।
३२　पादेन किञ्चिद्ग्रहणं—पांव से यदि कुछ वस्तु भूमि पर से ग्रहण की जाय तो अंतराय होता है।

इन उपर्युक्त कारणों से आहार छोड़ देने का नाम ही अंतराय है। इसी प्रकार से इनके अतिरिक्त चांडालादि स्पर्श, कलह, इष्टमरण, साधर्मिक सन्यास पतन, राज्य में किसी प्रधान का मरण आदि प्रसंगों से भी अंतराय होता है। अंतराय के अनंतर साधु आहार छोड़कर मुख शुद्धि कर आ जाते हैं। मन में वे किंचित् भी खेद या विषाद को न करते हुए "लाभादलाभो वरं" लाभ की अपेक्षा अलाभ में अधिक कर्मनिर्जरा होती है ऐसा चिंतन करते हुये वैराग्य भावना को वृद्धिंगत करते हैं।

अनगारभावनाधिकार

क्रिया सह वर भावना, प्रतिदिन करते संत।
उनका ही वर्णन यहाँ बनने को अरहंत ।।

अपनी मोक्ष मार्ग वर्धक दैनिक क्रियाओं को परम वीतरागी, मुक्ति सुन्दरी के वरण को लालायित रत्नत्रय रूपी रथ में सवार मुनिराज अतिचार रहित अन्तर्मन से यथासमय यथावत् त्रियोगों की एकता से करते हैं। इसे ही अनगार भावना कहते हैं। अर्थात् लिंग, व्रत, वसतिका, विहार, आहार, वाक्य, तप, ध्यान, ज्ञान आदि मोक्षमार्ग में सहभागी मुनिराज के व्रत, मूलगुण, उत्तरगुण आदि अहर्निश की सभी क्रियाओं को आगमानुसार शुद्ध रूप से परिपालन करने के विधिविधान को अनगार भावना कहते हैं।

भावना का अपना एक अनुपम महत्व है, लोक में भी कहा जाता है, "भावना भवनाशिनी"। भावना पूर्ण मुनि पद के अनुकूल सभी क्रियाओं को सहजभाव से अनगारी यतीश्वर परिपालन करते है।

"दश अनगार सूत्रों का कथन,,

लिंगशुद्धि, व्रतशुद्धि, वसतिशुद्धि, विहारशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, ज्ञानशुद्धि, उज्झनशुद्धि, वाक्यशुद्धि, तपः शुद्धि और ध्यानशुद्धि इस प्रकार दश अनगार भावना सूत्र हैं।१

१ लिंग शुद्धि—

यह मनुष्यभव प्रतिसमय नष्ट हो रहा है।प्रतिसमय में आयु कम का होना आवीचिमरण है और सम्पूर्ण भुज्यमान आयु का नाश होना तद्भवमरण है। वर्तमान मनुष्य भव चल रहा है। आकाश में जिस प्रकार बिजली प्रकट होकर शीघ्र ही नष्ट होती है। वैसे ही मनुष्यभव शीघ्र नष्ट होता है। यह असार है ऐसा जानकर कामभोग से विरक्त मुनिजन निर्ग्रन्थतारूप चारित्र में स्थिर होते हैं। तांबूल, पुष्पादिकों की भी उनको इच्छा नहीं होती है। इस प्रकार इनसे विरक्त होकर वे सकल परिग्रहत्याग रूप चारित्र में स्थिर होते हैं।२

ऐसी स्थिरता धारणा करना लिंग शुद्धि का आवश्यक अंग है।

सम्यग्दर्शनशुद्धि तथा ज्ञान शुद्धि— जिनको जन्ममरण से भय उत्पन्न हुआ है जिनका हृदय संसारवास से भययुक्त हुआ है (संसार में जो दुःख है उससे जो हमेशा डरते हैं)ऐसे मुनि ऋषभादिक जिनेश्वर के मत के ऊपर

---

१ लिंगं वदं च सुद्धीवसदिविहारं च भिक्खं णाणं च।
उज्झणसुद्धी य पुणो वक्कं च तवं तधाज्झाणं,, ।।

२ चलचवलजीविदमिण णाऊण माणुसत्तणमसारं।
णिव्विण्णकामभोगा धम्मम्मि उवट्ठिदमदीया ।।२

अनगार भावना

श्रद्धा करते हैं तथा द्वादशांग चतुर्दशपूर्व स्वरूप प्रवचन को हृदय से चाहते हैं। इस प्रकार लिंग शुद्धि के अंग के रूप में सम्यग्दर्शन शुद्धि और ज्ञानशुद्धि का विवेचन किया है।

अनशनादि बारह तपों में पूर्ण तत्पर होने वाले, हमेशा चारित्राचरण में प्रयत्नशील रहने वाले, कर्मों का नाश करने के कार्य में अपने मन को सदैव तत्पर रखने वाले, परमार्थ हितकरने वाले, अर्हद भक्ति में अनुरक्त रहने वाले अथवा जीवादिविषयक जो श्रद्धान और ज्ञान उसमें लीन होने वाले ऐसे वे मुनि जिनेश्वर के प्रतिपादित धर्म में नित्य दृढ़ रहते हैं। यही लिंगशुद्धि है।१

यह जिन धर्म उत्तमक्षमादि दशलक्षणस्वरूप है और अद्वितीय है। कर्मपटलों का नाश करने में समर्थ है। वैराग्य से हर्षित होकर मुनिराज महाव्रतों को धर्म समझकर धारण करते हैं।२

इस प्रकार से लिंग शुद्धि का निरूपण हुआ।

२ व्रत शुद्धि का वर्णन—

सत्यभाषण करना, जीव हिंसाका त्याग करना, नहीं दी हुई वस्तु का ग्रहण न करना, ब्रह्मचर्य का रक्षण करना, और परिग्रहों का त्याग करना इस प्रकार पांच महाव्रतों पर वे मुनि श्रद्धा करते हैं।३

मुनिदीक्षा ग्रहण करते समय आचार्य विरक्त हुये योग्य गृहस्थ को उपर्युक्त व्रत देते हैं। मुनि सर्वग्रन्थों से मुक्त होते हैं—निर्विकार नग्नता का नित्य रक्षण करते हैं। मर्दन, उबटन लगाकर स्नान करना इत्यादि देहसंस्कार के त्यागी होते हैं। इस प्रकार वे मुनि जिनेश्वर के धर्म को अर्थात् सकलचारित्र को जीवन पर्यन्त परिपालन करते हैं।

३ वसति शुद्धि—पर्वत के तट और पर्वत के निम्न प्रदेश में वे धीर मुनि रहते है। पर्वत की गुफा में रहने वाले मुनिराज भेड़िया बाघ, चीता, भालू आदि के शब्द गूंजते हुये सुनते हैं तथा इन प्राणियों की घोर गर्जना सुनते हुये भी अपने धैर्य से चलित नही होते है।

सिंह के समान ये नरश्रेष्ठ श्रुत का चिन्तन करते हुये एकाग्रचित्त होकर आत्म ध्यान में लीन रहते हुये वे मुनि रात्रि के पिछले प्रहर मे कुछ निद्रा लेकर अन्य प्रहरों मे जाग्रत रहते है इस प्रकार निद्रारुपी राक्षसनी के आधीन वे नहीं होते हैं।

पर्यंकासन से बैठे हुए, सामान्य आसन से बैठे हुये वीरासन से एक पसवाड़े (करवट) से सोने वाले, खड़े होकर अर्थात कार्योत्सर्ग से ध्यान करने वाले, उत्कुटिकासन से, हस्तिशुंडासन से, मकर मुखासन से, ध्यान करने वाले मुनिराज पर्वत की गुफादिकों में रहकर रात्रि व्यतीत करते हैं।

---

१ उच्छाहणिविच्छिदमदी ववसिदववसायबद्धकच्छाय।
भावाणुरायरत्ता जिणपण्णत्तम्मि धम्मम्मि ॥,,

२ धम्ममणुत्तरमिमं कम्ममलपडल पाडयं जिणक्खादं,
संवेगजायसड्ढा गिण्हंति महव्वदा पञ्च ।,,

३ सच्चवयणं अहिंसा अदत्तपरिवज्जणं च रोचंति।
तह बंभचेरगुत्ती परिग्गहादो विमुत्तिं च ॥॥

दिगम्बर साधु किसी भी प्रकार के उपसर्ग तथा परिषहों के आने पर प्रतिकार नहीं करते है। तपोभावना, सूत्रभावना, सत्य, एकत्व भावना, और धृतिभावना के असम्भव से व्रत शुद्धि की वृद्धि करते है

४ विहार शुद्धि

वे मुनि सर्वसग रहित, कुछ भी परिग्रह की चाह न रखने वाले होते हुये, जिस प्रकार हवा नगर, खानि इत्यादि स्थानों में विचरती है, वैसे ये मुनि भी नगरादिकों में स्वतंत्र होकर विहार करते है। यद्यपि वे इस भूतल पर विहार करते हैं तो भी किसी प्राणी को कदापि पीड़ा नहीं देते। माता के समान दया भाव रखते है अर्थात जिस प्रकार माता पुत्रों के ऊपर दया रखती है वैसे ही दिगम्बर साधु सभी जीवों पर दयाभाव रखते है। दोष सहित जो परिणाम है और क्रियायें है उनका, मन, वचन, काय से कृत-कारित और अनुमति से आजन्म त्याग करते हैं। जैसे मुनिराज तृण, वृक्ष, हरित इनका न तो छेदन करते हैं न दूसरों से कराते है, तथा वृक्षों की छाल, पत्र, कोमल पत्ते, कंद, फल, पुष्प, बीज, मूल आदि का नाश न तो स्वयं करते हैं न दूसरों से कराते है और न करने वाले की अनुमोदना करते हैं।

वे धीर मुनिराज पृथ्वी का समारंभ, पानी का सिंचन करना, हवा को रोधना, अग्नि को जलाना, त्रसों का परिमर्दन इत्यादिक आरम्भ न तो स्वयं करते हैं, न कराते है, और न करने वाले की अनुमोदना करते हैं। वे साधु हिंसा के उपकरणभूत शस्त्र और दंड, लाठि आदि के त्यागी होते हैं। वे सर्व प्राणियों में समानचित्त होते हैं एवं आत्म चिन्तन मे सदा तत्पर रहते हुए विहार करते हैं।

विहार क्यों ?—यदि मुनिराज विहार नहीं करेंगे तो उनमें रुके हुए पानी के समान दोष जन्म ले सकते हैं। व मोह-माया के पक्ष में बंधकर रत्नत्रय को भी विकृत कर सकते हैं, राग की आग में ध्वस्त हो सकते हैं। अतः दोषों से बचने हेतु बहते पानी के समान आगमानुसार यथाशक्ति विहार करना चाहिए। विहार करने से आत्मोकर्ष के साथ-साथ भव्य आत्माओं का भी उनकी देशना से उपकार होता है। दिगम्बरत्व की प्रभावना होती हैं। अगणित भव्य आत्माओं को उनकी नवधा भक्ति से पुण्य संचय का लाभ मिलता हैं।१

५ भिक्षा शुद्धि—

दो उपवास, तीन उपवास, चार उपवास, पांच उपवास आदि उपवासों के अनंतर वे तपस्वी श्रावक के घर में चारित्र पालने के लिये और भूख की शांति के लिये सम्पूर्ण दोषों से रहित आहार ग्रहण करते हैं।२

भिक्षा के लिये भ्रमणविधान—भिक्षा के लिये साधु मेरे घर को आज आवेंगे ऐसा गृहस्थ को ज्ञात होने पर उससे बनाया हुआ जो आहार उसे ज्ञात आहार कहते हैं। ऐसे आहार का मुनि त्याग करते हैं। गृहस्थ अपने लिये आहार बनावे और यदि मुनिराज अपने घर में आ गये तो उनको उसमें से आहार देवें ऐसे आहार को अज्ञात आहार कहते हैं।

---

१ मुत्ता णिरावयेक्खा सच्छंदविहारिणो जहा वादो।
हिंडंति णिरुव्विग्गा, णयरायर मंडियं वसुहं। ८—३२

२ छट्ठट्ठमभत्तेहिं पारेंतिय स परघरम्मि भिक्खाए।
जमणट्ठं भुंजंति य णविय पयाम रसट्ठाय। ८-४५

गृहस्थ मेरे लिये आहार बनावेंगे और मैं उनके यहां आहार के लिये जाऊंगा ऐसे संकल्प से आहार ग्रहण करना अनुमत दोष माना जाता है।

ऐसा आहार मुनि ग्रहण नहीं करते हैं। भिक्षा का लाभ तथा अलाभ होने पर हर्ष और विषाद नहीं करते हैं।

जो आहार दो दिन का बनाया हो, तीन दिन का बनाया हो, जिसका वर्ण, गंध बिगड़ गया हो रस बदल गया हो, जो जंतुमिश्रित हो, आगंतुक जंतु और सम्मूर्च्छनजंतुओं से जो सहित हो ऐसे आहार को मुनि अप्रासुक समझकर त्यागते हैं। इस प्रकार मुनिराज योग्य आहार को ग्रहण करते हैं इसकी विशद विवेचना पिण्डशुद्धि अधिकार में की गयी है।

६. ज्ञान शुद्धि

जिन्होंने ज्ञान रूपी प्रकाश से सर्व लोक का सार देखा है। अर्थात् ज्ञान प्रकाश से मुनि आत्मा के शुद्ध स्वरूप को देखते हैं। ज्ञानादिक से प्रतिपादित पदार्थ विषयक संशय से वे रहित होते हैं, और विचिकित्सा से रहित हों अशुचि पदार्थ को देखकर वे उससे ग्लानि नही करते है एवं अपनी शक्ति के अनुसार उत्साह धारण करते हैं। वे अष्टांगनिमित्तों के तथा चौदह पूर्वों के ज्ञाता होते हैं। इसलिए उनको आगमकृत विज्ञान कहते हैं। वे चार बुद्धियों से संपन्न होते है।१

१ पादानुसारी बुद्धि मुनि—द्वादशांग और चौदहपूर्वों में से एक पद प्राप्त करके उसके अनुसरण से संपूर्ण श्रुत को जानने वाले मुनि को पादानुसारी बुद्धि मुनि कहते हैं।

२ बीज बुद्धि मुनि—संपूर्ण श्रुत में एक बीज-प्रधान अक्षरादिक को प्राप्त कर जो सर्व-श्रुत को जानते हैं वे बीज बुद्धि मुनि हैं।

३ संभिन्न बुद्धि मुनि—चक्रवर्ती के सैन्य में जो वृत्त आर्याश्लोक, माला, द्विपद दंडकादिक पढ़ा गया हो तथा जो गायनादिक गाया गया हो, जो घोड़ा, बैल, हाथी, वगैरह का शब्द हुआ हो जो-जो शब्द जहां-जहां हुआ हो, और जिन्होंने जो-जो कहा हो, पढ़ा हो वह सर्व उस काल में पूर्णता से जो सुनते हैं वे संभिन्न बुद्धि मुनि हैं।

४ कोष्ठ बुद्धि मुनि—जैसे कोठे में नाना प्रकार के बीज-धान्य बहुत काल रखने पर भी नष्ट नहीं होते हैं तथा आपस में उनका मिश्रण भी नहीं होता है। वैसे ही जिनका श्रुतज्ञान-वर्ण, पद, वाक्य रूप श्रुतज्ञान बहुत काल बीतने पर भी नष्ट नहीं होता है, न्यूनाधिक नहीं होता है, परन्तु संपूर्ण रहता है ऐसे मुनि को कोष्ठबुद्धि मुनि कहते हैं। ऐसे मुनियों के कर्ण श्रुतज्ञान रूपी रत्नों से सुन्दर दिखते हैं। ये मुनिराज हेतु और नयों में निपुण होते है। सिद्धांत, व्याकरण,

---

१ ते लद्धणाणचक्खू णाणुज्जोएण दिट्ठपरमट्ठा।
णिस्संकिदणिव्विदिगिंछादबलपरक्कमा साधू ॥ मूलाचार ८-६३ ॥

तर्क, साहित्य, छन्द शास्त्रों में कुशल होते है । जो मुनि ज्ञान का मद नहीं करते हैं वे तेरह प्रकार का चरण तथा १३ प्रकार का करण (पंचमहाव्रत, पंच समिति एवं तीन गुप्ति) से तेरह प्रकार का चरण तथा करण से अर्थात् (षडावश्यक, पंचनमस्कार, आसिका और निषीधिका) से ही जिनका अंग संवृत है ऐसे मुनि सदा ध्यानोद्यत होते है ।इस प्रकार ज्ञान शुद्धि कही है ।

७ उज्झनशुद्धि-

शरीर संस्कार का त्याग, बंधु आदिकों का त्याग, सर्वपरिग्रहों का त्याग तथा राग भाव का अभाव यही उज्झनशुद्धि का अर्थ है । ये मुनि पुत्रकलत्रादि के विषय में स्नेह नहीं रखते हैं, उनका त्याग करते है, उनके विषय में वे निर्मम होते हैं । तथा स्वयं के शरीर में भी रागभाव नही रखते हैं । वे स्वशरीर में कुछ भी संस्कार अर्थात् स्नानादिक नहीं करते हैं ।१

संस्कार का स्वरूप और भेद--मुंह धोना, आँखें धोना, दांत घिसकर स्वच्छ करना, सुगंधित पदार्थों का उबटन शरीर पर लगाना, पांव धोना, केशर, मेहदीं इत्यादिकों के द्वारा रंगाना, अंग-मर्दन करना मनुष्य के द्वारा सर्व शरीर की चंपी (मालिश) कराना, इत्यादिक कार्य शरीर संस्कार के भेद हैं । ऐसे कार्य दिगम्बर मुनिराज नही करते हैं ।

ज्वररोगादि से पीड़ा होने पर भी, सिर दुखने पर भी, पेट दुखने पर भी साधु वेदना का प्रतिकार अशक्य है ऐसा जानकर समता से सहन करते हैं । रोगो से पीडित होने पर भी खेद-खिन्न नही होते हैं । वे सत्पुरूष व्याकुल नही होते हे । अर्थात् इस रोग का इलाज कैसे होगा, मैं पुनः निरोगी कैसे होऊंगा ऐसी चिंता से व्याकुल भी नही होते हैं । शरीर आत्मा से भिन्न है, शरीर रोग सहित है, मैं निरोगी हूं, ऐसा विचार करते ह ।

जिन वचन रूपी औषध ही अमृत है, जो कि जन्म-मरण रूपी व्याधियों से उत्पन्न हुई वेदनाओं का नाश करता है । ऐसी औषधि का सेवन ही दिगम्बर मुनिराज करते हैं ।

मुनिराज शरीर से विरक्त क्यों होते हैं--

यह शरीर रोगो का घर है । हजारों व्याधियां इसमें उत्पन्न होती हैं । वात-पित्त और कफ और इनसे उत्पन्न होने वाले ज्वरादिकों को रोग कहते हैं । शरीर रूपी घर इस प्रकार का होने से धैर्यवान मुनि इसके ऊपर एक क्षण के लिए भी स्नेह नहीं रखते हैं ।

शरीर के अशुचिपने का वर्णन--यह शरीर अपवित्र है, अशुभ है, चमड़े से इस शरीर के

---

१ ते छिण्णणेहबंधा णिण्णेहा अप्पणो सरीरम्मि ।
ण करंति किंचि साहू परिसंठप्पं सरीरम्मि ।। ८-७१ ।।

२ रोगाणं आयदणं वाधिसदसमुच्छिदं सरीरघरं ।
धीरा खणमवि रागं ण करेंति मुणी सरीरम्मि ।। ८-७८ मूलाचार ।।

अन्दर का भाग आच्छादित है । मांस के रज्जुओं से वेष्टित है । पीव से इसके अन्दर का भाग भरा हुआ है, इस शरीर में रक्तवीर्य और घिनावने कलेजादिक भरे हुये है । मल-मूत्र का घर है । ऐसे घिनावने पदार्थो में भरा हुआ यह शरीर कूड़ा-कचरे के समान अथवा श्मसान के समान अदर्शनीय है ।

संसार शरीर भोगों से वैराग्य को प्राप्त हुये मुनि इस शरीर को हड्डी, चमड़ा, मांस, पित्त, कफ, लोही इत्यादि अपवित्र पदार्थो का समूह रूप देखते हैं ।

ऐसे दुर्गंध युक्त प्रेत के समान कृमियो से भरे हुये, सड़ने वाले, अपवित्र, निःसार पतन को प्राप्त होने वाले देह मे सत्पुरुष मुनि स्नेह नहीं करते हैं ।

इस प्रकार उज्झन शुद्धि का वर्णन हुआ ।

वाक्यशुद्धि—

दिगम्बर मुनिराज कठोर स्वर से, क्रूर लारी, गौडी आदि भाषा नहीं बोलते हैं । वे सदैव हित-मित प्रिय धर्म अविरोधी वचनो को बोलते हैं तथा अरति, कलह, शोक वैरादिक भावों को पैदा करने वाले वचनो को नही बोलते हैं । तथा लौकिक कथाओं में भी प्रवृत्ति नहीं करते हैं । १

लौकिक कथाओं का वर्णन—

स्त्री कथा, अर्थ कथा, खेटकर्वटादि कथा, राज कथा, चोर कथा, जनपद कथा, नगर आदि कथाओं मे धीरमुनि अनुरक्त नही होते हैं । तथा नट, भट, मल्ल, माया, जल्ल, खाटीक-कषायी मुष्टिक-द्यूतव्यसनी अज्जउल-आदि की कथा मुनिराज नही करते । आर्यादुर्गा, शक्तिदेवता जिनकी आम्नाय है, ऐसे लोगों को आर्याकुल कहते हैं । लंघिका-हाथ में बांस लेकर डोरी पर नृत्य करने वाले लोग इत्यादिकों की कथा कहना, सरागचित्त होकर ये नट भटादिक अच्छे हैं, अमुक अच्छे नहीं हैं, अमुक कुशल हैं, अमुक अकुशल हैं, इत्यादिक कथा वे धीर मुनि नही करते हैं । तथा सुनते भी नहीं हैं ।२

कौत्कुच्य- हृदय और कंठ से अव्यक्त शब्द करना ।

कंदर्प - कामोत्पादक भाषण बोलना, हास-उपहास के वचन बोलना ।

उल्लावण- अनेक चातुर्ययुक्त मधुर भाषण बोलना । अन्तःकरण से दूसरे को फंसाना, मद के गर्व से अपने हाथ से दूसरे के हाथ को तोड़ना । ऐसी उपरोक्त क्रिया मुनिराज न तो करते हैं और न दूसरों से कराते हैं ।

---

१ भासं विणयविहूणं धम्मविरोही विवज्जए वयण ।
पुच्छिदमपुच्छिदं वाणवित्ते भासंति सप्पुरिसा ।। ८-८८ "

२ इत्थिकहा अत्थकहा भत्तकहा खेडकव्वडाणं च ।
रायकहा चोरकहा जणवदणयरायकहाओ ।। ८-९० ।। मूलाचार

मुनि कौन सी कथा करते हैं—

वे साधु जिनागम के द्वारा प्रतिपादित जो जीवादिक पदार्थ उनका प्रतिबद्ध कथन करते हैं तथा जिनमें रत्नत्रय का प्रतिपादन किया है, ऐसी कथा करते हैं। वे मुनि तर्क, व्याकरण, सिद्धान्त, चारित्र पुराणादिकों का प्रतिपादन करने वाली कथा करते हैं।

इस प्रकार साधु अनगारभावना से अपने को सुसंस्कृत करते ।

तप शुद्धि—

मुनिराज, ४ विकथा, ४ कषाय, ५ इन्द्रिय प्रवृत्ति, निद्रा और स्नेह ऐसे १५ प्रमादाचरणों से रहित होते हैं। प्राणिरक्षणात्मक संयम में, इन्द्रियों के निग्रह में, समितियों में, धर्मध्यान में, और शुक्ल ध्यान में, बारह प्रकार के तपों में, महाव्रत, समिति, गुप्तिरूप तेरह प्रकार के चारित्र में और तेरह प्रकार के करणों में तत्पर रहते हैं १

बाह्य तपों में कायक्लेश तप की विवेचना—

जिसने संपूर्ण वनस्पति विशेष को जलाकर खाक कर दिया है, तीव्र हवा के झकोरे से संपूर्ण प्राणी जिसने कंपित कर दिये हैं ऐसे भयंकर शीतकाल में भी अपार धैर्यरूपी वस्त्र से ढके हुये वे मुनि अपने अंग पर गिरने वाले वर्फ को सहन करते है। शीतकाल में नदी के किनारे सरोवरादि के किनारे पर ध्यानस्थ होकर ध्यान में संपूर्ण रात्रि बिताना अभावकाशयोग है।

आतापन योग—

जल्ल– सर्वांग में उत्पन्न हुये मल को जल्ल कहते हैं। मुनियों की देह मल से मलिन रहती है। वामी जैसे सर्पादिक उसमें रहने पर भी उनका प्रतिकार नहीं करती वैसे मुनि भी कभी अपने देह के ऊपर संचित मल को दूर नहीं करते है। ग्रीष्म में सूर्य की प्रचंड किरणों से सभी वस्तुओं का गीलापन सूख जाता है। संपूर्ण प्राणियों को प्यास अधिक सताती है। सूर्य की प्रचंड किरणों से लोगों का अंग संतप्त होता है। ऐसे समय में सूर्य की तेजस्वी किरणों से जिनका अंग जल गया है, ऐसे मुनि जली लकड़ी के समान वन मे रहते हैं, तपश्चरण करते हैं, कायोत्सर्ग धारण कर निश्चल ध्यान मे लवलीन होते हैं। तीव्र सूर्य के सामने मुख करके शूर के समान खड़े होते है। इस प्रकार दिगम्बर मुनिराज आतापन योग धारण करते हैं। २

वृक्षमूल योग—

वर्षाकाल में सर्वत्र पानी से मार्ग भर जाता है, आकाश में और दसों दिशाओं में मेघ वर्षा करते हैं, बिजली चमकती है, और शब्द करती हुई अनेक जगह में गिरती भी है,

---

१ णिच्चं च अप्पमत्ता संजमसमिदीसु झाणजोगेसु ।
तवचरण करण जुत्ता हवंति समणा समिदपावा ।।१

२ जल्लेणमइलिदंगा गिम्हे उण्हादवेण दड्ढंगा ।
चेट्ठंति णिसिट्ठंगा सूरस्स य अहिमुहा सूरा ।।२ मूलाचार

ऐसे समय में जहां सर्प हैं ऐसे वृक्ष के मूल में मुनि तप करते है । जलधारा और अंधकार से व्याप्त वन में वे शांत चित्त से रहते हैं । इस प्रकार मुनिराज चित्त में क्षोभ उत्पन्न न करते हुये वृक्षमूलयोग धारण करते हैं । १

इस प्रकार अनेक प्रकार के परिषहों को सहन करते हैं । वचनों से कोई कैसे भी वचन बोलते हों, दोष न होने पर भी दोषों का आरोपन करते हों, पत्थर, मिट्टी के ढेले और लकड़ी आदि से पीटना, शस्त्र प्रहार आदि होने पर भी वे दिगम्बर मुनिराज क्षमागुण को धारण करते हुये आत्मा में लीन रहते हैं ।

तपः शुद्धि के स्वामी का विवेचन—

जो पंचमहाव्रतों के धारक हैं, पांच समितियों से सहित हैं, धीर हैं, पंचेन्द्रियों के विषयों से रहित हैं, पंचमगति का जो अन्वेषण करते हैं, अनंतचतुष्टयादि अनंत गुणों से अपने को जोड़ते हैं ऐसे यतीश्वर ही तपः शुद्धि को करते हैं । २

१० **ध्यान शुद्धि**—ध्यानशुद्धि के पूर्व इन्द्रिय जय तथा मनोनिग्रह का वर्णन:–विषयों में रूप, रस, गंध स्पर्श और शब्दों की तरफ दौड़ने वाले चंचल और क्रुद्ध होने वाली इन्द्रिय चोरों को, मन वचन, काय का संयम धारण करने वाले चारित्र और आतापनादि योग में तत्पर रहने वाले मुनियों ने वश किया है ।

जैसे जिसके गडस्थल से मद झर रहा है, जो कुपित हुआ है, ऐसा वन का उद्दाम हाथी जब नगर के राजमार्ग में घूमता है , तब कोई दृढ़ शक्तिशाली पुरुष हाथ में तीक्ष्ण अंकुश धारण कर उसको वश करता है वैसे ही यह मन हाथी भी वनहस्ती के समान प्रचंड है अर्थात् यह संयम रूपी सांकल से रहित होकर विषय रूपी राजमार्ग में रूप रस, गंधादि विषय मार्ग में इधर-उधर खूब दौड़ता है । उसको ज्ञानांकुश से मुनि वश मे करते हैं । ऐसे मुनि ध्यान की पात्रता रखते हैं

ध्यान करने वाला तप नगर में रहता है—

धैर्य, उत्साह, तत्त्वरुचि के साथ जो विवेक वही तट है, चारित्र ही तपो नगर-का उत्तुंग ऊंचा गोपुर है (महाव्रत, गुप्ति, समिति रूपतेरह प्रकार का आचार उस नगर की रक्षा के लिये गोपुर के समान है ।) क्षमा और धर्म तपोनगर के दो दरवाजे हैं अर्थात् शांति ही जिसमे सुरक्षित किवाड़ है, ऐसे तपरूपीनगर का रक्षण प्राणिसंयम और इंद्रियसंयम रूपी कोतवालों के द्वारा किया जाता है । यद्यपि इस तपोनगर का नाश करने के लिये राग, द्वेष, मोह और इंद्रिय रूपी चोर सदैव उद्यत हैं, तो भी वे सज्जनों से रक्षित नगर के समान इनका नाश करने में असमर्थ हैं ।

---

१ धारंधयारगुविलं सहंति ते वादवाहलं चडं ।
रत्तिंदियं गलंतं सप्पुरिसा रुक्खमूलेसु ।।३

२ पंचमहव्वयधारी पंचसु समिदीसु संजदा धीरा । पंचिंदियत्थविरदा पंचमगइमग्गया सवणा ।।१

३ धिदिधणिदणिच्छदमदी चरित्तपायार गोउरं तुंगं । खंति सुकदकवाडं तवणयरं संजमारक्खं ।।२ मू०

ध्यानरथ का वर्णन--

ये इन्द्रियरूपी घोड़े स्वभाव से और रागद्वेष से प्रेरित होकर धर्मध्यान रूपी रथ को विषयाकुल वन की तरफ ले जाते है। अतः मन रूपी लगाम को तुम मजबूत करो जिससे ध्यानरथ मोक्षमार्ग मे लगेगा ।१

इस प्रकार दिगम्बर मुनि राग, द्वेष, मोह, मन और इंद्रियो को जीतते हुये कर्मों का नाश करने में तत्पर रहते है।

जैसे मेरु पर्वत पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर दिशाओ की वायुओ से हिलता नही है और स्वस्थान से चलित नहीं होता वैसे ही सर्वोपसर्गादिको से अकंपित योगी भी नित्यनिरंतर प्रतिसमय में असंख्यात गुणश्रेणी कर्मनिर्जरा करते हुये रत्नत्रय के स्वरूप का चिंतन करते है। ध्यान से मुनिश्वर पाँच महाव्रत, पांच समिति, त्रिगुप्ति, पंचनमस्कार, षडावश्यक आसिका और निषीधिका ऐसे आचारों का उत्कर्ष करते हैं।

अनगारों के पर्याय नाम—

श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतरागी, अनगार, भदंत, दांत ये सभी पर्यायवाची यतियो के नाम हैं इस प्रकार दश अनगार भावनाओ का वर्णन हुआ ।२

अनगार भावना का प्रयोजन—

इस प्रकार व्रतादिको से परिपूर्ण, तपश्चरण मे नित्य तत्पर रहने वाले ज्ञान और मूलगुणो से जो सहित हैं ऐसे जो साधु दसअनगार सूत्रो द्वारा कही गयी चर्या का आचरण करते है वह संयत उत्तमस्थान को प्राप्त होते है ।३

दोहा　　अनगार भावना भाव से भाया ऋषि महंत ।
　　शुद्ध भाव से शिव लहे यह भाषा अरहंत ।।

१　एदे इंदियतुरयापयडीदोसेण चोइया संत ।
　　उम्मग्ग णिंतिरह करेह मणपग्गह बलियं ।।८–११४

२　समणोत्ति संजदो त्तिय रिसिमुणि साधुत्ति वीदरागो त्ति ।
　　णामाणि सुविहिदाण अणगार भदंत दंतो त्ति ।। मूलाचार, ८–१२१,

३　एवंचरियविहाणं जो कदाहि संजदो ववसिदप्पा ।
　　णाणगुणसंपजुत्तो सो गाहदि उत्तमं ठाणं ।। मूलाचार । ८–१२३ ।

पर्व–४, ५
पिण्डशुद्धि एवं अनगार भावनाधिकार

※ समाचाराधिकार ※

साम्यभाव से वि-भूषित, मुक्ति सुन्दरी को वरण करने हेतु मूलगुणों एवं उत्तरगुणों की सदृश बरात सजाकर एक ही मार्ग से एक जैसी साज-सज्जा, धूमधाम के साथ अनुगमन अर्थात् समान रूप से सभी मोक्ष-मार्गी मुनिराजों का आचार समाचार नीति है।

नीति का लोक में भी महान महत्व होता है। उसी के आधार पर राजा और प्रजा सत्य निष्ठा के साथ अपने-अपने कार्य में सफल हो पाते हैं। मोक्ष मार्ग में भी समाचार-नीति मुनियों के मार्ग दर्शन एवं गुणों में वृद्धि करने वाली है। आचारसार में भी कहा है,

तनोति संपदं नीतिर्यद्वत्तद्वद्गुणश्रियम्।

सत्प्रियां या समाचारनीतिः सा कीर्त्यतेऽधुना "२।२"

जैसे-नीति सज्जनों की प्रिय सम्पदा को विस्तारित करती है, उसी प्रकार से समाचार नीति साधु पुरुषों की प्रिय गुणश्री सम्पदा को विस्तारित करती है।

समाचार का निरुक्ति अर्थ :--

मूलाचार में कुन्दकुन्दाचार्य ने निम्न प्रकार कहा है।

समाचार शब्द की चार प्रकार से व्युत्पत्ति निम्न प्रकार है :--[1]

१ **समतासमाचार**---समता अर्थात् रागद्वेष रहित प्रवृत्ति को समाचार कहते हैं। त्रिकाल देववंदना तथा पंचनमस्कार के परिणामों को समता कहते हैं। इस प्रकार जो आचार हैं, वे समाचार है।

२ **सम्माचार**---सम्यक् अर्थात् सुन्दर निरतिचार जो मूल गुणों का आचरण है उसे सम्माचार कहते है। सम्यगाचरण के सम्यग्ज्ञान और निर्दोष भिक्षाग्रहण ऐसे दो अर्थ भी हैं।

चर् धातु के भक्षण करना तथा गमन करना ऐसे दो अर्थ है। यहाँ गमन करना इस शब्द का (जानना) यह अर्थ समझना चाहिये क्योंकि गत्यर्थक धातु ज्ञानार्थक भी मानी गई है।

---

१ समदा समाचारो सम्माचारो समो व आचारो।
सव्वेसिं सम्माणं समाचारो दु आचारो ॥४-२ मूलाचार

१ समो व आचारो—सर्व प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानवर्ती मुनियों का जो अहिंसादिरूप पांच प्रकार का समान आचार उसको समाचार कहते हैं। अथवा सम—उपशमरूप क्रोधादिकों का अभाव रूप जो परिणाम उसके साथ जो आचरण किया जाना है उसको समाचार कहते हैं।

सम शब्द से दशलक्षण धर्म को भी ग्रहण किया जाता है अतः उत्तमक्षमादि दशलाक्षणिक धर्म का जो आचरण करना है उसको समाचार कहते हैं।

भिक्षाग्रहण, देववन्दनादिक निर्दोष क्रियाओं में अहिंसा आदि रूप परिणामों की एकाग्रता रखना यह भी समाचार है। शुभ परिणामों में हमेशा प्रवृत्ति करना यह भी समाचार है। सर्व मुनियों को पूज्य वा इष्ट ऐसा जो आचार उसको भी समाचार कहते हैं।

४ समदा—समता अर्थात् सम्यक्त्व, सम्माणं-सम्यग्ज्ञान, सम्माचार—सम्यक्चारित्र, समा तप। इन चारों का ऐक्य उसको समाचार कहते हैं।

जो मुनियों का आचार है, वह समाचार है अर्थात् मुनियों का आचार समाचार के साथ अविनाभावी है। आचारसार में भी कहा है—

समान अर्थात् समीचीन आचार अथवा जो समता सहित आचरण किया जाता है वह समाचार है। १

समाचार के भेद

मूलाचार में निम्न प्रकार कहे हैं—

समाचार के औघिक और पदविभागिक समाचार ऐसे दो भेद हैं। २

१ औघिक समाचार—सामान्य आचार को औघिक समाचार कहते हैं। इसके दस भेद हैं।

२ पदविभागी समाचार—सूर्योदय से प्रारंभ कर अहोरात्र में जितना आचार मुनियों के द्वारा किया जाता है उसे पदविभागी समाचार कहते हैं इसके अनेक भेद हैं।

औघिक समाचार के दस भेद :—

कुन्द कुन्द स्वामी ने मूलाचार में निम्न प्रकार कहे हैं—

इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, आसिका निषेधिका, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, छदन, सनिमंत्रणा और उपसंपत इस प्रकार औघिक आचार के दस भेद हैं। ३

---

१ समः समानः सं सम्यगाचारो य. समैर्युते।
आचार्यत इति प्राज्ञैः स समाचार ईरितः ॥३॥ आचारसार

२ दुविहो समाचारो ओघोविय पदविभागिओ चेव।
दसहा ओघोभणिओ अणेगहा पदविभागीय ॥४-३

३ इच्छामिच्छाकारो तधाकारो य आसिया णिसिही।
आपुच्छा पडिपुच्छा छंदणणिमंतणा य उवसंपा ॥४-४
इट्ठे इच्छाकारो मिच्छाकारो तहेव अवराहे।
पडिसुणणम्हि तहत्ति य णिग्गमणे आसिया भणिआ ॥४-५
पविसंते य णिसीहो आपुच्छणिया सकज्ज आरंभे।
साधम्मिणा य गुरुणा पुव्वणिसिट्ठम्हि पडिपुच्छा ॥४-६ मूलाचार

१–इच्छाकार :— सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि को इष्ट कहते हैं, इनको हर्ष से स्वीकार करना, इनमें स्वेच्छा से प्रवृत्ति करना यह इच्छाकार है ।

आचार सार में कहा है— मुनियों को स्व–परार्थ में पुस्तक आतापयोग आदि की जो विनय पूर्वक याचना है वह इच्छाकार कहा जाता है । १

२–मिथ्याकार :— अशुभ परिणामों से व्रतादिकों में अतिचार होने पर उनसे अर्थात् अतिचारों से मन वचन, काय से निवृत्त होना मिथ्याकार है ।

आचारसार में भी कहा है— जो मैंने पूर्व में पाप किये हैं 'वह मिथ्या हों' वह पाप आगे नहीं करूंगा । इस प्रकार की अतिनिर्मल मनोवृत्ति मिथ्याकार है । २

३–तथाकार:— सूत्र का अर्थ सुनकर आपने जो सूत्र का अर्थ कहा है "वह सत्य है, असत्य नहीं" । ऐसा कहकर उसमें अनुराग, प्रीति करना इसको तथाकार कहते हैं :—

आचारसार में भी कहा :— तत्त्व व्याख्यान उपदेश आदि में भगवान के वचन अन्यथा नहीं है जैसा भगवान कहते हैं वैसा ही है, इस प्रकार आदरपूर्वक कहना गुणों को करने वाला तथाकार है । ३

४–आसिका :— जिनमंदिर, पर्वत, गुहा इत्यादिकों में से वंदनादि क्रिया करके निकलते समय व्यंतरादिकों को तथा गृहस्थ आदिकों को पूछकर अर्थात् 'हमको यहां से जाने की आज्ञा दीजिये' ऐसा कहकर वहां से जाना यह आसिका समाचार है ।

आचारसार में भी कहा है—

इतने काल तक यहां पर ठहरे थे, अब हम जा रहे हैं तेरा कल्याण हो इस प्रकार व्यंतरादिकों की प्रशंसा करना इष्ट आसी कही जाती है ।४

५–निषेधिका :– जिनमंदिर में अथवा गृह में प्रवेश करते समय क्षेत्रपालादि व्यंतर तथा गृहस्थों की आज्ञा लेकर प्रवेश करना अथवा सम्यग्दर्शनादिकों में स्थिर होना निषेधिका है ।

---

१ पुस्तकातापयोगादेर्याच्ञा विनयान्विता ।
स्वपरार्थे यतीन्द्राणां सेच्छाकारः प्रजल्पितः ॥२–६॥

२. यन्मया दुष्कृतं पूर्वं तन्मिथ्याऽस्तु न तत्पुरः ।
करोमीति मनोवृत्तिर्मिथ्याकारोऽतिनिर्मलः ॥ २–४ ॥

३ तत्त्वाख्यानोपदेशादौ नान्यथा भगवद्वचः ।
तत्थेत्यादरेणोक्तिस्तथाकारो गुणाकरः ॥२–८॥

४. स्थिताश्चयमियत्कालं यामः, क्षेमोऽथवोऽस्तु ते ।
इतीष्टाशंसनं व्यन्तरा वैराशीर्निरुच्यते ॥ २–१० ॥

आचारसार में भी कहा है— व्यंतरादि जीवादि की बाधा के लिये जो निषेध है कि हे व्यंतर देवो ! हम लोगों के द्वारा तुम्हारी दृष्टि से ही ठहरा जाता है इस प्रकार कहना निषिद्धिका है ।१

६–आपृच्छा :— गुरू आदिको से वंदना पूर्वक प्रश्न करना । अर्थात् अपने स्वाध्यायादि कार्य के समय गुरूओं को अपना संशय दूर करने के लिये प्रश्न करना । देववंदना के लिये जाना हो, आतापनादिक योग धारण करना हो तो उस कार्य के प्रारम्भ में गुरूओं को पूछकर उनकी आज्ञा लेना ।

आचारसार में भी कहा है— ग्रन्थ का आरंभ, केशलोच आदि कायशुद्धि की क्रिया में आचार्यादि पूज्य पुरुषों को पूछना आपृच्छना है । २

७–प्रतिपृच्छा :—समान जिनका आचरण है, ऐसे मुनियों को सधर्मा कहते है । जिनके पास व्रत ग्रहण करते है उनको गुरू कहते है । जिनसे अध्ययन करते है, जिनसे तप आदिक क्रिया धारण करते है, जिनका उपदेश सुनते है ऐसे गुरूओं को मुनि कहना चाहिये तथा जो अपने ज्ञान की अपेक्षा से बड़े है जिन्होंने अपने से पूर्व दीक्षा धारण की है ये सब मुनि गुरू है । इन्होंने जो पुस्तकादि उपकरण दिया था वह पुनः ग्रहण करने के अभिप्राय से उनको पूछना यह प्रतिपृच्छा है ।

आचारसार में भी कहा है— जो कुछ छोटा या बड़ा कार्य हो उसको आचार्यों से विनय पूर्वक पूछकर पुन प्रश्न करना प्रतिप्रश्न कहा जाता है । ३

८–छंदन :— जिससे पुस्तकादि ग्रहण किये है, उनके अनुकूल हो उनकी वस्तुओं का सेवन, उपयोग करना छन्दन है ।

९–निमंत्रणा :— दूसरे के पुस्तकादिक उपकरण लेकर अपना जब कार्य समाप्त हो जाये तब उनके पुस्तकादिक उपकरण सत्कार पूर्वक वापिस देना ।

आचारसार में भी कहा है— पूर्व में दी हुई पुस्तक आदि में स्व के लिये स्वीकार करने के लिये पुनः ग्रहण करने की इच्छा होने पर आचार्य आदि से—जो निवेदन किया जाता है

---

१. जीवानां व्यन्तरादीनांबाधायै यन्निषेधनम् ।
अस्माभिः स्थीयते युष्मद्दृष्ट्यैवेति निषिद्धिका " १२ "

२. ग्रन्थारम्भकचांल्लोचकाय शुद्धि क्रियादिषु ।
प्रश्नः सूर्यादिपूज्यानां भवत्यापृच्छनं मुनौ " १३ "

३. यत्किंचन महत्कार्यं कार्यं पृष्ट्वा यतीश्वरान् ।
विनयेन पुनः प्रश्नः प्रतिप्रश्नः प्रकीर्तितः " १४ "

वह ग्रानिमंत्रण है । १

१०—**उवसम्पत्** :— गुरु के चरण मूल में अपने को समर्पण करना अर्थात् गुरु परंपरा के अनुसार भक्तिपूर्वक चलना, प्रवृत्ति करना यह उपसंपद् नामक दसवां समाचार है ।

आचारसार में भी कहा है— गुरूजनो के लिये 'मैं आपका हूं' इस प्रकार आत्मसमर्पण करना संश्रय (उवसम्पत्) समाचार है । इसके पांच भेद हैं । विनय, क्षेत्र, मार्ग, सुख या दुख और सूत्र । इस प्रकार यह पांच प्रकार का सश्रय कहा गया ।

१ विनय संश्रय :— आचार सार में कहा है—

आये हुये आगतुक मुनि को देखकर शीघ्र ही उठकर सात पैर उसके सम्मुख जाकर और उसके योग्य वंदना करके, आसन प्रदान आदि के यत्न से मार्ग के खेद को दूर करके रत्नत्रय की कुशल पूछना विनय संश्रय है ।

२ क्षेत्रसश्रय :— पृथ्वी की रक्षा नहीं करने वाला दुराचारी राजा, सावद्य युक्त पापीजनो से भरा हुआ, दीक्षा की सम्मुखता से रहित, दुर्भिक्षसे व्याप्त, क्लेशदायक ऐसे देश को छोड़कर जिस देश मे निर्बाधसस्य के समान गुणों का समूह वृद्धिगत होता है उस क्षेत्र मे चित्त को सुखकारी आवास करना क्षेत्रसंश्रय है ।

३ मार्गसश्रय :— आगतुक मुनि के मार्ग मे गमनागमन से उत्पन्न हुये सुखदुख मे जो प्रश्न पूछना है वह मार्ग संश्रय है ।

४ सुखासुखसंश्रय :— चोर, क्रूरप्राणी, रोग, राजा आदि से पीड़ित होने से दुखी यतिगणो को आहार, औषधि, आयतन आदि के द्वारा सन्तुष्ट करना, सुख में और दुख में मै तुम्हारे लिये हूं इस प्रकार जो आत्मसमर्पण करना है वह उसके चित्त को प्रसन्न करने के लिये सुखासुखसश्रय है ।

५ सूत्रसश्रय :— सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ के जानने के प्रयत्न को सूत्र सश्रय कहते हैं । उसके अर्थ को जानने का प्रयत्न करना अर्थसंश्रय है । सूत्रार्थ को जानने का प्रयत्न करना उभयसश्रय है । इसी को मूलाचार में उवसंपत् कहा है ।

स्याद्वाद, न्याय शास्त्र, अथवा आध्यात्मिकशास्त्र सामायिक है ।

जिसने पूर्व में गुरु से सर्व सिद्धान्तों को जान लिया है पुनः विशेष शास्त्रों को जानने की इच्छा होने पर विनयशील मुनि भक्ति और आदर पूर्वक अपने गुरु के पास जाकर बार बार प्रार्थना करता है कि हे गुरूदेव! आपके प्रसाद से यद्यपि मैंने सारे सिद्धान्तो को जान लिया है, फिर भी विशिष्ट ज्ञान को प्राप्त करने के लिये मैं सकल शास्त्र के पारगत अन्य

---

१. पुस्तकादोपुरादन्ते स्वात्मार्थे मन्नियेदनम् ।
जिघृक्षायी पुनः सूरिप्रमुखेष्वानिमन्त्रणम् ।।१५।।

आचार्यों के समीप जाना चाहता हूं इस प्रकार बार-बार पृच्छन करे। तदनन्तर गुरू की अनुमति से एक दो या बहुत से मुनियों के साथ वह दूसरे आचार्य के समीप जाने के लिये विहार करे।

पदविभागिक समाचार का निरूपण :— मूलाचार में कुन्दकुन्दाचार्य ने लिखा है—

धैर्य, विद्या, बल, उत्साह वगैरह गुणों से समर्थ ऐसा कोई मुनिरूपी शिष्य अपने गुरू अर्थात् उपाध्याय से संपूर्ण श्रुतों का, शास्त्रों का अध्ययन करके मन, वचन और शरीर के द्वारा विनय कर उनके पास जाता है, तथा प्रमाद छोड़कर अपने गुरू की विनती करता है, अर्थात् गुरू के पास जितना श्रुतज्ञान है वह सर्व पढ़ करके अन्य गुरू के पास अन्य शास्त्रों का अध्ययन करने के लिए आपकी आज्ञा से मेरी जाने की इच्छा है। ऐसी स्वगुरू से प्रार्थना करता है। पुन: दीक्षा गुरू और शिक्षा गुरू से आज्ञा लेकर अपने साथ एक, दो या तीन मुनियों को लेकर जाता है। अपने साथ तीन मुनि लेकर ज्ञानाध्ययनादि कार्य के लिये जाना, विहार करना यह उत्तम पक्ष है, दो मुनियों के साथ जाना मध्यम पक्ष है और एक मुनि के साथ गमन करना यह जघन्य पक्ष है। एकाकी विहार करने के लिये जिनागम में आज्ञा नहीं है। १

साधु का एकल विहारी होने का निषेध :— विहार के गृहीतार्थ विहार और अगृहीतार्थ विहार ऐसे दो भेद हैं इन दो विहारों को छोड़कर तीसरे विहार की जिनेश्वरों ने आज्ञा नहीं दी है। २

जीवादि तत्वों के स्वरूप के ज्ञाता मुनियों का जो चारित्र का पालन करते हुये देशान्तर में विहार है वह गृहीतार्थ विहार है और जीवादि तत्वों को न जानकर चारित्र का पालन करते हुये जो मुनियों का विहार है वह अगृहीतार्थ विहार है।

जो साधु बारह प्रकार के तप को करने वाले हैं, द्वादशांग और चतुर्दशपूर्व के ज्ञाता हैं अथवा काल-क्षेत्र आदि के अनुरूप आगम के ज्ञाता हैं या प्रायश्चित्त आदि ग्रन्थों के वेत्ता हैं, देह की शक्ति और हड्डियों के बल से अथवा भाव के सत्व से सहित हैं, शरीरादि से भिन्नरूप एकत्व भावना में तत्पर हैं, वज्रवृषभ नाराच आदि तीन संहननों में से किसी उत्तम संहनन के धारक हैं, धृति मनोबल से सहित हैं अर्थात् क्षुधा बाधाओं को सहने में समर्थ हैं। बहुत दिन के दीक्षित हैं, तपस्या में वृद्ध हैं, अधिक तपस्वी हैं और आचार शास्त्रों के पारंगत हैं ऐसे मुनि को एकल विहारी होने की जिनेन्द्र देव ने आज्ञा दी है। जो इन गुणों से युक्त नहीं है उसको एकलविहार की आज्ञा नहीं है। ३ इसे दिखाते हैं—

---

१. कोई सव्वसमत्थो सगुरुसुद सव्वमागमित्ताणं।
विणएणवुक्क मित्ता पच्छउ सगुरुं पयत्तेण ॥४-२४॥
२. गिहिदत्थेय विहारो विदिओ गिहिदत्थ संसिदो चेव।
एत्तो तदियविहारो णाणुण्णादो जिणवरेहिं ॥ मूलाचार, ४-२७
३. तवसुत्त सत्तएगत्त भावसघडणधिदि समग्गो य।
पविआ आगम बलिओ एयविहारि अणुण्णादो ॥ मूलाचार, ४-२८

गमनागमन, सोना, उठना, बैठना, कुछ वस्तु ग्रहण करना, आहार लेना, मलमूत्रादि विसर्जन करना, बोलना, चलना आदि क्रियाओं में स्वच्छंद प्रवृत्ति करने वाला ऐसा कोई भी मुनि मेरा शत्रु भी हो तो भी वह एकाकी विचरण न करे। स्वेच्छाचारी मुनि के एकाकी विहार से गुरू की निंदा होती है। श्रुताध्ययन का व्युच्छेद, तीर्थ की मलिनता, जड़ता, मूर्खता आकुलता, कुशीलता और पार्श्वस्थता दोष आते हैं। एकलविहारी होने से कंटक, ठूंठ आदि उपद्रव, कुत्ते, बैल आदि पशुओं के और म्लेच्छों के उपसर्ग, विष, हैजा आदि से भी अपना घात हो सकता है। ऋद्धि आदि गारव से युक्त हठग्राही, कपटी, आलसी, लोभी और पापबुद्धि युक्त मुनि संघ में रहते हुये भी शिथिलाचारी होने से अन्य मुनियों के साथ नहीं रहना चाहता है। एकाकी विहार करने वाले मुनि के जिनेन्द्र देव की आज्ञा का लोप, अनवस्था–देखादेखी स्वछंद विहारी की परम्परा बन जाना, मिथ्यात्व की आराधना, आत्मगुणों का नाश और संयम की विराधना इन पांच निकाचित दोषों का प्रसंग आता है। १

आचारसार में भी एकलविहारी का निषेध किया गया है :—

कोई मुनि अपने गुरू के समीप समस्त शास्त्रों का अध्ययन करके यदि अन्य मुनियों के संघ में अध्ययन करने की इच्छा हो तो बारबार पूछकर गुरू की आज्ञा लेकर अन्य किसी एक या दो अथवा बहुत से मुनियों के साथ विहार करते हैं।

कदाचित् यात्रा, धर्म प्रभावना, आदि के निमित्त से भी आज–कल इसी तरह कुछ मुनि मिलकर गुरू की आज्ञा लेकर विहार कर सकते हैं। अकेले मुनि विहार नहीं कर सकते हैं। इसका कारण यह है कि जो मुनि बहुत दिन के दीक्षित हैं, ज्ञान और संहनन से बलवान हैं तथा भावना से भी बलवान हैं ऐसे ही मुनि एकल विहारी हो सकते हैं। अन्य साधारण मुनियों के लिए एकाकी विहार की आज्ञा नहीं है सो ही कहते हैं कि— जिस मुनि में ऊपर कथित ज्ञान संहनन और अंतःकरण के बल आदि गुण नहीं हैं और जो अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति करने में तत्पर हैं। ऐसा मेरा शत्रु भी कभी एकाकी विहार न करें। और यदि ऐसे मुनि भी एकाकी विचरण करते हैं तो क्या दोष आते हैं। और भी कहा :— शास्त्रज्ञान की

---

१. सच्छंदगदागदी सयणणिसयणादाण भिक्खवोसरणे।
सच्छंदजंपरोचि य मा मे सत्तू वि एगागी ॥ ४–२९
गुरुपरिवादो सुदवुच्छेदो तित्थस्स मइलणा जडदा।
भिमलकुसीलपासत्थदाय उस्सार कप्पम्हि ॥" ४–३०
कंटयखुण्णय पडिणियसाणगोणा दिसप्प मेंच्छेहि।
पावई आदविवत्ती विसेण य विसूइया चेव ॥ ४–३१
गारविओ गिद्धीओ माइल्लो अलसलुद्धणिद्धम्मो।
गच्छे वि संवसंतो णेच्छइ संघाडयं मंदो ॥ ४–३२
आणा अणवत्था वि य मिच्छत्ता राहणादणासो य।
संजमविराहणा वि य एदे दु णिकाइया ठाणा ॥ मूलाचार, ४–३३

परम्परा का नाश, अनवस्था दोष अर्थात एक की देखा देखी बहुत से साधु ऐसा करने लगेंगे तो व्यवस्था बिगड़ जायेगी । व्रतों का नाश, आज्ञा भंग, जिनेन्द्र देव की आज्ञा का उल्लंघन और तीर्थ, धर्म तथा गुरु की अपकीर्ति हो जाती है । इसके सिवाय अग्नि, जल, विष, अजीर्ण, सर्प जानवर आदि के द्वारा अथवा आर्तध्यान, रौद्रध्यान आदि के द्वारा अपना विनाश हो जाता है इत्यादि दोष एकाकी विहार में आते हैं । अर्थात् इस पंचमकाल में कोई मुनि अकेले विहार नहीं कर सकते । यदि करते हैं तो आगम के अनुसार दोषी है । १

संघ कैसा होना चाहिये :— जिस संघ में आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर ऐसे पांच प्रकार के मुनि नहीं हैं वहां शास्त्रज्ञानी विहार करने वाला मुनि न रहे । ये पांच मुनि अनुग्रह करने में कुशल हैं । इनका वास न होने से विहारी मुनि को वहां रहने से विशिष्ट अध्ययनादिक क्रियाओं की प्राप्ति न होगी ।

आचार्यादि पांच आचार्यों का वर्णन :— आचार्यादिकों के लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) आचार्य— शिष्यों के ऊपर अनुग्रह करने में जो चतुर हैं अर्थात् ज्ञानचारादि पांच आचारों को स्वयं पालकर शिष्यों से भी इन आचारों का पालन कराते हैं । जो दीक्षा देकर व्रतादिक में दोष लगने पर प्रायश्चित्तादिक से उनकी शुद्धि करते हैं ऐसे मुनियों को आचार्य कहते हैं ।

(२) धर्मोपदेशक :—जो उत्तम क्षमादि दशधर्मों को तथा आचारांगादि श्रुत शिष्यों को पढ़ाते हैं उन्हें उपाध्याय कहते हैं ।

(३) संघप्रवर्तक :— चार प्रकार के मुनियों को चर्यादि क्रियाओं में जो प्रवृत्त करते हैं उन मुनियों को संघ प्रवर्तक कहते हैं ।

(४) मर्यादोपदेशक :— अर्थात् स्थविर मुनि— बाल मुनि, वृद्धमुनि व मुनियों को सर्वज्ञ की आज्ञानुसार सन्मार्ग का उपदेश करते हैं उनको स्थविर मुनि कहते हैं ।

(५) गणपरिरक्षक :—अर्थात् गणधर मुनि— नाना उपायों का शिक्षण देकर गण का, सर्व संघ का पालन करते हैं । ये पांच मुनि जिस संघ में रहते हैं वही संघ रहने के लिये योग्य है ।

---

१. इत्येव बहुश: स्पृष्ट्वा लब्ध्वानुज्ञा गुरोर्व्रजेत् ।
यतिर्नैकेन वा द्वाभ्या बहुभि: सह नान्यथा " २–२६ "
ज्ञान संहनन स्वान्त भावनाबलवन्मुने: ।
चिरप्रव्राजितस्यैक विहारस्तु मत: श्रुते "२–२७"
एतद्गुणगणापेत: स्वेच्छाचाररत: पुमान् ।
यस्तस्यैकाकिता मा भून्मम् जातु रिपोरपि "२–२८"
श्रुतसंतानविच्छित्तिरनवस्थायमक्षय: ।
आज्ञाभंगस्तदुष्कीर्तिस्तीर्थस्य स्याद्गुरोरपि "२–२९"
अग्नितोयगरा जीर्णसर्पक्रूरादिभि: क्षय: ।
स्वस्याप्यार्तादिकादेक विहारेऽनुचितेयत: "२–३० " आचारसार

मार्ग में चलते समय यदि शिष्य मुनि को सचित्त द्रव्य–छात्र विद्यार्थी आदि, अचित्त–पुस्तक आदि और मिश्र–पुस्तकादि युक्त छात्र मिलें तो जिन आचार्य के समीप शिष्य मुनि जा रहे हैं उनके पास इन शिष्यादिकों को ले जावें। आचार्य ही उनको स्वीकार करने योग्य माने गये हैं।

आगन्तुक मुनि आदि के आने पर आचार्यादिक की क्रियायें :— प्रयास कर अन्य संघ से आये हुये मुनि को देखकर सर्वमुनि उठकर खड़े हो जाते हैं। वात्सल्य से, साधर्मिकता के प्रेम से, जिनाज्ञा से, स्वीकार करने के हेतु से तथा प्रणाम करने के हेतु से संघ के आचार्यादिक सर्व मुनि खड़े हो जाते हैं। आगे आकर नमोऽस्तु–प्रतिनमोऽस्तु करते हैं, उनका रत्नत्रय आदि कुशल पूछकर मार्ग की थकावट को दूर करने हेतु वैयावृत्यादि करते हैं। तीन दिन तक साधु आवश्यक क्रियाओं में आहार आदि क्रियाओं में परस्पर एक दूसरे की परीक्षा करते हैं। दूसरे या तीसरे दिन शिष्यगण आगंतुक मुनि की चर्या की निर्दोषता आदि के विषय में आचार्य देव को जानकारी देते हैं।

१ निवेदन करने पर आचार्य जो कर्तव्य करते हैं उसका निरूपण :— पुनः आगन्तुक मुनि के नाम कुल, गुरु, दीक्षामान, वर्षावास, आगमन की दिशा, शिक्षा और प्रतिक्रमण आदि सभी बातें आचार्य स्वयं आगंतुक से पूछते हैं। यदि वह मुनि संघ परम्परा से और अपने चारित्र में निर्दोष है, तो उसे स्वीकार करते हैं। आगन्तुक मुनि भी तब अपने आने का कारण निवेदन कर गुरु के पास श्रुत अध्ययन शुरू कर देते हैं। और यदि आगंतुक मुनि आचरण और क्रियाओं से अशुद्ध है तो आचार्य उसको योग्य प्रायश्चित्त देकर मुनिपद में स्थिर करते हैं। यदि बड़ा पाप किया है तो उसको आचार्य पुनः दीक्षा देते हैं। यदि वह आगंतुक प्रायश्चित्त लेना नहीं चाहता तो उसका त्याग कर देते हैं। [यदि आचार्य प्रायश्चित्त नहीं देकर संघ में रख लेते हैं तो आचार्य भी प्रायश्चित्त के योग्य हो जाते हैं।

इस प्रकार गुरु के द्वारा स्वीकार किये जाने पर वह आगंतुक मुनि विनय पूर्वक तथा द्रव्यादि की शुद्धि पूर्वक सूत्रार्थ का अध्ययन करने में तत्पर हो जाता है।

२ आगंतुक मुनि को स्वेच्छाचार प्रवृत्ति करना योग्य नहीं है :— आगंतुक मुनि आचार्य आदि के साथ ही प्रतिक्रमण तथा वन्दना आदि क्रियायें करते हैं, स्वच्छंद प्रवृत्ति नहीं करते हैं। वह वैयावृत्ति में तत्पर होते हुये अपने शरीर के द्वारा आचार्य तथा संघस्थ साधुओं के रोगादिक दूर करे उनके हाथ पैर दबाकर उनकी वेदना दूर करे।

३ आगंतुक मुनि के अपराधों का शोधन उसी गण में या अन्यत्र :— आगंतुक मुनि से मन, वचन और काय के द्वारा जिस गच्छ में रहते हुये अपराध हुआ है उसी गच्छ[1] में उन अपराधों को आलस कर पुनः व्रतादिकों में स्थिर रहे।

---

1. सात-सात अथवा तीन पीढ़ियों के मुनियों को गच्छ कहते हैं।

४ आगंतुक मुनि सभा के साथ संभाषण करता है या नहीं :— आर्यिका या कोई भी स्त्री जब संघ में धर्म कार्य के लिये आती है तब उनके साथ आगंतुक मुनि का रहना सर्वथा निषिद्ध है । अकेले मुनि का उनके साथ संभाषण करना निषिद्ध है परन्तु यदि कुछ धर्म कार्य का प्रयोजन हो तो बोलना निषिद्ध नहीं है ।

आर्यिका यदि अकेली कुछ प्रश्न पूछे तो अकेला मुनि उसका उत्तर नहीं दे । परन्तु यदि वह आर्यिका प्रधान आर्यिका के साथ आकर प्रश्न पूछे तो उसका उत्तर मार्ग प्रभावना के लिये मुनि दे सकता है अन्यथा नहीं ।

५ संयत मुनि के असंयती के साथ बोलने से उत्पन्न दोष :— तारुण्य पिशाचवश मुनि यदि उत्कट रूप वाली स्त्री के साथ हंसी मजाक आदि करेगा तो आज्ञा लोप, अनवस्था, मिथ्यात्वाराधना आत्मनाश और सयम विराधना ऐसे पांच दोष उत्पन्न होंगे । ये दोष पापोत्पत्ति के कारण हैं ।

६ आर्यिकाओं के समीप रहना निषिद्ध है :— पाप क्रिया क्षय करने के लिये उद्यत ऐसे मुनि जिस वसतिकादिक में आर्यिकायें रहती हैं वहां नही रुक सकते । आर्यिकाओं के निवास स्थान मे मुनि को रहना ही नही चाहिये । अल्पकालिक जो कार्य होते हैं जैसे—बैठना, लेटना, स्वाध्याय करना पढ़े हुये ग्रन्थ का फिर पठन करना, आदि क्रियायें भी नही करना चाहिये । आर्यिकाओं के साथ जो विशिष्ट मुनि हैं उनको बोलने का निषेध नही है । गंभीर, निर्भय, सदाचारी, दृढ़धर्मा, संविग्न, प्रियधर्मा, अवद्यभीरू, परिशुद्ध आदि अनेक गुणों से युक्त गणधर आर्यिकाओं से प्रतिक्रमणादिकों का उपदेश देने में योग्य हैं तथा ऐसे मुनि के पास ही आर्यिकायें प्रतिक्रमणादि विधि करती हैं ।

उपर्युक्त गुणों से रहित मुनि यदि गणधरत्व धारण करेगा अर्थात् आर्यिकाओं को प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्तादि देगा तो उसके गणपोषण, आत्मसंस्कार, सल्लेखना और उत्तमार्थ ऐसे चार काल नष्ट होंगे । छेद, मूल, परिहार और पारंचिक ऐसे चार प्रायश्चित्त ग्रहण करने पड़ेंगे । चार महीने तक कांजी भोजन का आहार करना होगा ।

इस प्रकार गणधर की जो इच्छा है इसका पूर्ण पालन आगंतुक मुनि को करना चाहिये । यही विधि स्वगणस्थ मुनियों को भी समझना चाहिए ।

आर्यिकाओं के समाचार वर्णन :—

यहां तक जो मूलगुण और समाचार का वर्णन किया है ये ही सब मूलगुण और समाचार विधि आर्यिकाओं के लिये भी है विशेष यह है कि वृक्षमूलयोग, आतापनयोग, आदि का आर्यिकाओं के लिये निषेध है ।१

---

१ एसो अज्जाणंपि अ समाचारो जहक्खिओ पुव्वं ।
सव्वम्हि अहोरत्ते विभासिदव्वो जधाजोग्गं ।। ४–६७

आचारसार में भी कहा है–

जिस प्रकार यह समाचार नीति मुनियों के लिये कही है उसी प्रकार लज्जादि गुणों से विभूषित आर्यिकाओं को भी इन्हीं समस्त समाचार नीतियों का पालन करना चाहिये । १

१ आर्यिकायें वसतिका में किस प्रकार अपना समय व्यतीत करती हैं :— आर्यिकायें वसतिका में परस्पर एक दूसरे के अनुकूल रहती हैं। निर्विकार वस्त्र (वेश) को धारण करती हुई दीक्षा के अनुरूप आचरण करती हैं । जिस आचरण से लोक में अपनी निंदा होवी ऐसे आचरण से सर्वथा दूर रहती हैं । रोना, बालक आदि को स्नान कराना, भोजन बनाना, वस्त्र सीना, आदि गृहस्थोचित कार्य नहीं करती हैं । वे देह की सजावट से रहित हैं । धर्म, कुल, कीर्ति और दीक्षा के अनुरूप निर्मल आचरण को धारण करती हैं । अर्थात् क्षमादिक धर्म, माता–पिता, कुल, यश और व्रत इनको अबाधित रखने वाला आचरण आर्यिकायें धारण करती हैं ।

२ जिस स्थान में आर्यिकायें रहती हैं उसका वर्णन :— इनका स्थान साधुओं के निवास से दूर तथा गृहस्थों के स्थान से न अति दूर न अतिपास रहता है । जहां पर स्त्री लंपटी, चोर, चुगली करने वाले, दुष्ट तथा पशुओं का अभाव है ऐसे स्थान में वे रहती हैं । वह क्लेश रहित और गुप्तसंचार करने के लिये अर्थात् जो मलोत्सर्ग करने के प्रदेश से योग्य हो । ऐसे स्थान में वे आर्यिकायें दो, तीन तथा बहुत तीस–चालीस तक एकत्र रहती हैं । ये गृहस्थों के घर आहार के अतिरिक्त अन्य समय नहीं जाती हैं । कदाचित् सल्लेखना आदि विशेष कार्य आ जावे तब गणिनी की आज्ञा से दो, एक आर्यिकाओं के साथ जाती हैं । उनके पास दो साड़ी रहती हैं तीसरा वस्त्र नहीं रख सकती हैं ।

३ भिक्षा के लिए किस प्रकार गमन करती हैं :– तीन, पांच अथवा सात आर्यिकायें परस्पर में रक्षण करने का अभिप्राय मन में धारण करती हुई वृद्ध आर्यिकाओं के पीछे अनुगमन करती हुई तथा देववंदना आदि कार्य एवं भोजन के लिये ईर्यापथ समिति पूर्वक विहार करती हैं।

आचार्य को आर्यिकायें पांच हाथ दूर से, उपाध्याय को छः हाथ दूर से तथा साधु को सात हाथ दूर से गवासन से ही बैठकर वंदना करती हैं । आलोचना करते समय आचार्य से पांच हाथ दूर रहकर आलोचना करें । छह हाथ दूर रहकर उपाध्याय से अध्ययन करें तथा साधु से सात हाथ दूर रहकर उसकी स्तुति करें ।

४ इन आर्यिकाओं का नेतृत्व करने वाले आचार्य कैसे होते हैं :– शिष्यों के संग्रह और उन पर अनुग्रह करने में कुशल, सूत्रार्थ विशारद, यशस्वी, तेरह प्रकार की क्रिया और तेरह प्रकार के चारित्र में तत्पर ऐसे आचार्य होते हैं जिनके वचन सभी को ग्राह्य और हितकर होते हैं । गंभीर, स्थिर–परिणामी, मितभाषी, अल्पकुतूहली, चिरकाल से दीक्षित, पदार्थों के ज्ञान में कुशल

---

१. लज्जा विनय वैराग्य सदाचार विभूषते ।
आर्याव्राते समाचारः संयतेष्विव किन्त्विह ॥ २–८१ ॥ आचारसार

ऐसे आचार्य ही आर्यिकाओं के गणधर होते हैं। इन गुणों के अतिरिक्त आचार्य यदि आर्यिकाओं का नेतृत्व करते है तो गणपोषण, आत्मसंस्कार, सल्लेखना और उत्तमार्थ ऐसे चार काल की विराधना करा देते हैं। अर्थात् संघ की अपकीर्ति, संयम की हानि आदि दोष आ जाते हैं।

इस प्रकार जो संयमी चारित्र रूपी संपदा के स्थान भूत इस समाचार विधि का पूर्णरूप से पालन करते हैं वे स्वर्ग संपदा का अनुभव कर मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं।

पं-७ भेदाधिकार

* भेदाधिकार *

निश्चय नय से भेद ना, साधु एक समान ।
भेद कहे व्यवहार से, आगम के परमाण ।।
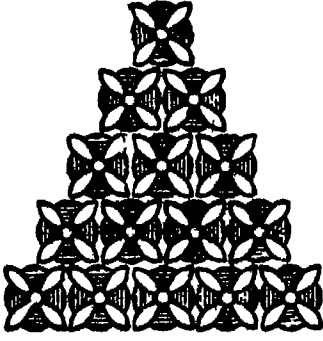
अभेद रत्नत्रय के माध्यम से अभेद मोक्षमार्ग पर चलने, अभेद आत्मस्वरूप की उपलब्धि में संलग्न, अभेद ज्ञायक स्वभाव को प्राप्त करने वाले परम दिगम्बर वीतरागी मुनिराजों में अभेदनय से कोई भेद नहीं । सभी दिगम्बरत्व की अपेक्षा तथा अट्ठाईस मूलगुणों की अपेक्षा समान हैं, परन्तु भेद नय की अपेक्षा आगमव्यवहार एवं लोकव्यवहार के प्रतिपादनार्थ आचार्यों ने आचार्य, उपाध्याय, साधु आदि अनेक भेदों से मोक्षाभिलाषी मुनिराजों की विवेचना की है ।

दिगम्बर मुनियों में मुख्यरूप से आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीन भेद होते हैं ।

आचार्य

जो पांच प्रकार के आचारों का स्वयं आचरण करते हैं और दूसरे साधुओं से आचरण कराते हैं वे आचार्य कहलाते हैं । जो चौदह विद्याओं के पारंगत, ग्यारह अंग के धारी अथवा आचारांगमात्र के धारी हैं अथवा तत्कालीन स्वसमय और परसमय में पारंगत हैं, मेरु के समान निश्चल, पृथ्वी के समान सहनशील, समुद्र के समान दोषों को बाहर फेंक देने वाले और सात प्रकार के भय से रहित हैं । १

देश, कुल, जाति से शुद्ध हैं, उत्तम अंगों के धारी हैं, संग(परिग्रह) से मुक्त हैं पापों से निरुपलेपी हैं । ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते हैं । २

जो शिष्यों के संग्रह और अनुग्रह करने में कुशल हैं, सूत्र के अर्थ में विशारद हैं, यशस्वी हैं तथा सारण(आचरण), वारण(निषेध) और शोधन–व्रतों की शुद्धि करने वाली क्रियाओं में उद्युक्त(उद्यमशील) हैं वे ही आचार्य कहलाते हैं । ३

---
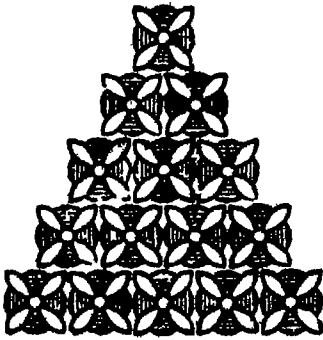
१. पञ्चविधमाचारं चरति चारयतीत्याचार्यः चतुर्दश विद्यास्थानपारगः ।
एकादशांगधरः आचारांगधरो वा तात्कालिक स्वसमयपरसमय पारगो वा मेरुरिव निश्चलः, क्षितिरिव सहिष्णु,
सागर इव बहिक्षिप्तमलः सप्तभयविप्रमुक्तः आचार्यः ।।

२. देसकुलजाइसुद्धो-सोमंगो संगमंग-उम्मुक्को ।
गयणव्व णिरुवलेवो आइरियो एरिसो होई ।।

३. संगहणिग्गह कुसलो सुत्तत्थ विसारओ पहियकित्ती ।
सारणवारण साहण-किरियुज्जुत्तो हु आइरियो ।।   धवला १, ३०, ३१

संघ के आचार्य जब सल्लेखना ग्रहण के सन्मुख होते हैं, तब वे अपने योग्य शिष्य को विधिवत् चतुर्विधसंघ के समक्ष आचार्यपद देकर नूतन पिच्छिका समर्पित कर देते हैं और ऐसा कहते हैं कि आज से प्रायश्चित्त शास्त्र का अध्ययन करके शिष्यों को दीक्षा, प्रायश्चित्त आदि आचार्य का कर्म तुम्हें करना है । उस समय गुरु उस आचार्य को छत्तीस गुणों के पालन का उपदेश देते हैं ।

आचार्य के मूलगुण आदि का वर्णन मूलगुणाधिकार में किया जा चुका है ।

अन्य आचार्यों ने विभिन्न प्रकार से आचार्य का लक्षण इस प्रकार बताया है–

पंचाचारों से परिपूर्ण पंचेन्द्रिय रूपी हाथी के मद का दलन करने वाले धीर और गुण–गम्भीर होते हैं । १

प्रवचन रूपी समुद्र के जल के मध्य में स्नान करने से अर्थात् परमात्मा के परिपूर्ण अभ्यास और अनुभव से, छह आवश्यकों का पालन करने से आचार्य मेरु के समान निष्कंप हैं, शूरवीर हैं, सिंह के समान निर्भीक है । २

१ **एलाचार्य का लक्षण** :— एक गण के मूलतः एक ही आचार्य होते हैं । परन्तु विशाल संघ होने पर आचार्य कुछ साधुओं का निर्देशन किसी योग्य मुनि को सौंप देते हैं या उनको तीर्थयात्रा, धर्म प्रभावनादि के लिये विहार की आज्ञा प्रदान करते हैं । इन परस्थितियों में जो कुशल मुनि संघ का संचालन करते हैं, प्रतिक्रमण कराते हैं, सामान्य प्रायश्चित्त देते हैं, चारित्र का क्रम आर्यिका एवं मुनियों को समझाते हैं । ऐसे मुनि को एलाचार्य या अनुदिश कहते हैं । ३

२ **बालाचार्य का लक्षण** :— अपनी आयु अभी कितनी रही है इसको विचार कर तदनन्तर अपने शिष्य समुदाय को अपने स्थान में जिसकी स्थापना की है, ऐसे बालाचार्य को बुलाकर सौम्य तिथि, करण, नक्षत्र और शुभलग्न के समय शुभ प्रदेश में अपने गुण के समान जिसके गुण हैं ऐसे वे बालाचार्य अपने संघ का पालन करने के योग्य हैं, ऐसा विचार कर उनके लिये चतुर्विध संघ समर्पित करते हैं । अपना पद छोड़कर सम्पूर्ण गण को बालाचार्य के लिय छोड़ देते हैं अर्थात् बालाचार्य ही यहां से उस गण का आचार्य समझा जाता है । उस समय पूर्व आचार्य उस बालाचार्य को थोड़ा सा उपदेश देते हैं । ४

---

१. पंचाचारसमग्गा पंचिंदियदंतिदप्पणिद्दलणा ।
धीरा गुणगंभीरा आयरिया एरिसा होंति ॥ नियमसार, ७३

२. पवयण जलहिजलोयरण्हायामल बुद्धिसुद्धि छावासो ।
मेरुव्व णिप्पकंपो सूरो पंचाणणो वण्णो ॥ धवला १–१११

३. अनुगुरोः पश्चाद्दिशति विधत्ते चरणक्रममित्यनुदिक् एलाचार्यस्तस्मैविधिना ॥भगवती आराधना, १७७,मूलाचार, ३८५

४. कालसंभाविता सव्वगणमणुदिस च बाहरियं ।
सोमतिहिकरणणक्खत्त विलग्गे मंगलागासे ॥ २७३॥
गच्छाणुपालणत्थं आहोडय अत्तगुणसमं भिक्खू ।
तो तम्मिगणाविसग्गं अप्पकहाए कुणदि धीरो ॥ २७४ ॥

३ **निर्यापकाचार्य का लक्षण** :— जो संसार से भयमुक्त है, जो पापकर्म भीरु है और जिसको जिनागम का स्वरूप ज्ञात है उसे निर्यापकाचार्य कहा जाता है। आचारवत्व गुण को धारण करने वाले आचार्य सर्व दोषों का त्याग करते हैं। इसलिये गुणों में प्रवृत्त होने वाले दोषों से रहित ऐसे आचार्य निर्यापक जानने चाहिए।

शिवकोटि आचार्य ने कहा है— प्रार्थना पूर्वक आये हुये क्षपक का निर्यापक आचार्य ज्ञानी, चारित्र निष्ठ तथा उस क्षपक के प्रति पूर्ण आदर भाव से युक्त होता है। १

आचारवान् आचार्य इन सब दोषों को नहीं करता। इसलिये जो गुणों में प्रवृत्ति करता है और दोषों से दूर रहता है ऐसा आचारवान् आचार्य ही निर्यापक होता है। दूसरा नहीं।२

संसार और पापकर्म से डरने वाले उस निर्यापक आचार्य के चरणों में विहार करता हुआ वह क्षपक (यति) समस्त जिनागम के सार स्वरूप आराधना का आराधक होता है। ३

समाधि का इच्छुक यति पांच सौ, छह सौ, सात सौ योजन अथवा उससे अधिक जाकर (१–१२ वर्ष पर्यन्त) शास्त्र सम्मत निर्यापक को खोजता है। ४

निर्यापक पद की महिमा का गान करते हुये आचार्य कहते हैं— जिस प्रकार नौका चलाने का अभ्यासी बुद्धिमान नाविक तरंगों से क्षुभित समुद्र में रत्नों से भरे जहाज को धारण करता है (डूबने से रक्षा करता है)। उसी प्रकार संयम और गुणों से पूर्ण, भूख–प्यासादि परीषह रूप लहरों से तिरछे हुये क्षपक रूप जहाज को निर्यापकाचार्य मधुर और हितकारी उपदेशों से धारण करता है उसका संरक्षण करता है। ५

४ **अल्पगुणधारी भी निर्यापक संभव है** :— उपरोक्त सब आचारवत्व आदि गुणों के धारक यदि आचार्य या उपाध्याय प्राप्त न हों तो प्रवर्तक मुनि अथवा अनुभवी वृद्ध मुनि या बालाचार्य यत्न से व्रतों में प्रवृत्ति करते हुए क्षपक का समाधिमरण साधने के लिए निर्यापकाचार्य हो सकते हैं।६

---

१ गीदत्थो चरणत्थो पच्छंदूणागदस्स खवयस्य।
सव्वादरेण दु णिज्जवगो होदि आयरिओ ॥भ० आ०, ४०१

२. आचारत्थो पुण से दोसे सव्वे वि ते विवज्जेदि।
तम्हा आयारत्थो णिज्जवओ होदि आयरिओ ॥ ४२६ ॥

३. संविग्गवज्जभीरुस्स पादमूलम्मि तस्स विहरंतो।
जिणवयणसव्वसारस्स होदि आराधओ तादि ॥४०२॥

४. पंचच्छसत्त सयाणि जोयणाणं तवोय साहियाणि।
णिज्जावय मणुण्णादं मवेसदि समाधिकामो दु ॥ भ० आराधना ४०३

५. जहपक्खुभिदुम्मीए पोदं रदण भरिदं समुद्दम्मि। णिज्जवओधारेदिहु जिदकरणो बुद्धिसंपण्णो ॥ ५०५ ॥
तह संजमगुणभरिदं परिस्सहुम्मीहिं खुभिदमाइद्धं। णिज्जवओधारेदि दु महुरेहि हिदोवदेसेहिं ॥ ५०६

६. एदारिसंमि थेरे असदि गणत्थे तहा उवज्झाए।
होदि पवत्ती थेरो गणधरवसहो य जदणाए ॥भ० आराधना ६२८ ॥

वैसे गुण ऊपर वर्णन कर आये हैं ऐसे ही मुनि निर्यापक होते हैं ऐसा नहीं समझना चाहिये। परन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्र में विचित्र काल का परावर्तन हुआ करता है। इसलिये कालानुसार प्राणियों के गुणों में जघन्यता, मध्यमता व उत्कृष्टता आती है। जिस समय जैसे शोभनीय गुणों का रहना सम्भव हो उस समय वैसे गुण धारक मुनि निर्यापक व परिचारक समझकर ग्रहण करना चाहिए।१

५ **प्रतिष्ठाचार्य का लक्षण** :— जो देश, कुल, जाति से शुद्ध, निरुपम अंग का धारक हो, विशुद्ध सम्यग्दृष्टि हो, प्रथमानुयोग का ज्ञाता हो, प्रतिष्ठा विधि का जानकार हो, श्रावक के गुणों से युक्त हो, उपासकाध्ययन, (श्रावकाचार) में स्थिर बुद्धि हो। इस प्रकार के गुणवाला जिन-शासन मे प्रतिष्ठाचार्य कहा जाता है। २

उपाध्याय परमेष्ठी की व्याख्या अनेकों आचार्यों ने विभिन्न प्रकार से की है यह निम्न प्रकार है —

उपाध्याय परमेष्ठी

रत्नत्रय से संयुक्त जिन कथित पदार्थों के शूरवीर उपदेशक और निःकांक्षा सहित ऐसे उपाध्याय होते हैं। ३

बारह अंग जो जिनदेव ने कहे है– उनको पण्डितजन स्वाध्याय कहते है उस स्वाध्याय का जो उपदेश करते है वे उपाध्याय कहलाते है।४

जो साधु चौदह पूर्वरूपी समुद्र में प्रवेश करके अर्थात् परमागम का अभ्यास करके मोक्षमार्ग में स्थित हैं तथा मोक्ष के इच्छुक शीलंधरों अर्थात् मुनियों को उपदेश देते है उन मुनीश्वरों को उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं। ५

निरन्तर ज्ञान की आराधना में तत्पर रहने वाले अज्ञान अंधकार को दूर करने वाले ग्यारह अंग एवं चौदह पूर्व के व्याख्यान करने वाले उपाध्याय होते हैं, अथवा तत्कालीन परमागम के व्याख्यान करने वाले संग्रह और अनुग्रह आदि गुणों को छोड़कर मेरू के समान निश्चल, गंभीरता, सरलता, सहजता की प्रतिमूर्ति आदि गुणों से सहित उपाध्याय परमेष्ठी होते हैं। ६

---

१. जो जारिसओ कालो भरदेरवदेसु होई वासेसु।
ते तारिसया तदिया चोद्दालीस पि णिज्जवया॥ भगवती आराधना ६७१॥

२. देस कुल जाइ-सुद्धो णिरुवम अंगो विसुद्धसम्मत्तो। पढमाणिओयकुसलो पइट्ठालक्खण विहिविदण्णू॥ ३८८॥
सावयगुणोव वेदो उवासयज्झयण सत्थथिरबुद्धी। एव गुणो पइट्ठारिओ जिणसासणे भणिओ॥ वसुनन्दिश्रावकाचार,, ३८६

३. रयणत्तयसंजुत्ता जिणकहियपयत्थदेसया सूरा।
णिक्कंख भावसहिया उवज्झाया एरिसा होंति॥–नियमसार, ७४

४. बारसंगं जिणक्खादं सज्झायं कथितं बुधैः।
उवदेसइ सज्झायं तेणुवज्झाय उच्चदि॥ ५११॥ मूलाचार ,५७५

५. चोद्दस पुव्वमह महिमहिगम्म सिवत्थिओ सिवत्थओ सिवत्थीणं।
सीलंधराण वत्ता होइ मुणीसो उवज्झायो। धवला, १–३२

६. चतुर्दशविद्या स्थानव्याख्यात रः उपाध्यायाः तात्कालिक प्रवचन व्याख्यातारो वा आचार्यस्योक्ताशेष लक्षणसमन्वितताः संग्रहानुग्रहादिगुण हीनाः॥ धवला १ पृ० ५१

जिन व्रत शील भावनाधिष्ठित महानुभाव के पास जाकर भव्यजन विनयपूर्वक श्रुत का अध्ययन करते हैं वे उपाध्याय हैं । १

उपाध्याय शंका समाधान करने वाले, सुवक्ता, वाग्ब्रह्म, सर्वज्ञ अर्थात् सिद्धान्त शास्त्र और यावत् आगमों का पारगामी, वार्तिक, तथा सूत्रों को शब्द और अर्थ के द्वारा सिद्ध करने वाले, कवि अर्थ में मधुरता का द्योतक तथा वक्तृत्व के मार्ग में अग्रणी होते हैं । उपाध्याय पद में शास्त्र का विशेष अभ्यास ही कारण है । जो स्वयं अध्ययन करते हैं और शिष्यों को भी अध्ययन कराते हैं, वही गुरु उपाध्याय हैं । उपाध्याय में व्रतादिक के पालन करने की शेष विधि सर्व मुनियों के समान है । २

साधु परमेष्ठी

अविरल ज्ञान, ध्यान, तप, में लीन रहने वाले, आरंभ, विषय-कषायों से विरक्त जो अनंतज्ञानादिरूप शुद्ध आत्मा के स्वरूप की साधना करते हैं उन्हें साधु कहते हैं । पांच महाव्रतों को धारण करते हैं तीन गुप्तियों से सुरक्षित हैं, अठारह हजार शील के भेदों को धारण करते हैं और चौरासी लाख उत्तर गुणों को पालन करते हैं वे साधु परमेष्ठि कहलाते हैं । ३

अन्य ग्रन्थों में भी साधु का स्वरूप निम्न प्रकार बताया है—

मोक्ष की प्राप्ति कराने वाले मूलगुणादिक तपश्चरणों को जो साधु सर्वकाल अपनी आत्मा से जोड़ें और सर्व जीवों में समभाव को प्राप्त हों वे सर्व साधु कहलाते हैं । ४

जो चिरकाल से प्रव्रजित होता है उसे साधु कहते हैं ।५

जो दर्शन और ज्ञान से पूर्ण मोक्ष के मार्ग भूत सदा शुद्ध चारित्र को प्रकट रूप से साधते हैं वे मुनि साधु परमेष्ठी हैं । उनको मेरा नमस्कार हो ।६

---

१. विनयेनोपेत्य यस्माद व्रतशील भावनाधिष्ठानादागमं श्रुताध्यते इत्युपाध्यायः । राजवार्तिक, ९–२४

२. उपाध्यायः समाधीयान् वादी स्याद्वादकोविदः ।
वाग्मी वाग्ब्रह्म सर्वज्ञ सिद्धान्तागमपारगः ॥
कविर्व्रत्यग्रसूत्राणां शब्दार्थै सिद्धसाधनात् ।
गमकोयाय माधुर्ये धुर्यो वक्तृत्ववर्त्मनाम् ॥
उपाध्यायत्वमित्यत्र श्रुताभ्यासोऽस्ति कारणम् ।
यदध्येतिस्वयं चापि शिष्यानध्यापयेद्गुरुः ॥
शेषस्तत्र व्रतादीनां सर्वं साधरणो विधि ॥पञ्चाध्यायी उत्तरार्द्ध, ६५९–६६२

३. अनन्त ज्ञानादि शुद्धात्मस्वरूप साधयन्तीति साधवः पञ्चमहाव्रत धरास्त्रिगुप्ति गुप्ताः अष्टादशशील सहस्र धराश्चतुरशीतिशतसहस्रगुणधराश्च साधवाः ॥धवला, पृ० ५२

४. णिव्वाण साधए जोगे सदा जुंजंति साधवो ।
समा सव्वेसु भूदेसु तम्हा ते सव्वसाधवो ॥ मूलाचार, ५१२

५. चिरप्रव्रजितः साधुः । सर्वार्थसिद्धि, ९–२४

६. दंसणणाण समग्गंमग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं ।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू सो मुणी णमो तस्स ॥ द्रव्यसंग्रह, ५४

जो न शास्त्रों की व्याख्या करते हैं और न शिष्यों को दीक्षादि देते हैं। कर्मों के उन्मूलन करने में समर्थ ऐसे ध्यान में जो रत रहते हैं वे साधु जानने चाहिये। १

विरति की प्रवृत्ति के समान ऐसे श्रामण्यपने के कारण श्रमण हैं। २

वैराग्य की पराकाष्ठा को प्राप्त होकर प्रभावशाली दिगम्बर यथाजात रूप को धारण करने वाले तथा दया परायण ऐसे साधु होते हैं। ३

इस प्रकार से तीनों तरह के साधु दिगम्बर मुनि ही होते हैं किंतु आचार्य, उपाध्याय और साधु के गुणों की अपेक्षा से इनके भेद हो जाते हैं।

मूलगुण और उत्तर गुण की अपेक्षा भी मुनियों में भेद है

साधु के अनेकों सामान्य गुण :— सिंह के समान पराक्रमी, गज के समान स्वाभिमानी, उन्नत बैल के समान भद्र प्रकृति, मृग के समान सरल, पशु के समान निरीह, गोचरी वृत्ति करने वाले, सूर्य के समान तेजस्वी या तत्वों के प्रकाशक, सागर के समान गंभीर, मेरु सम अकंप व अडोल, चन्द्रमा के समान शान्तिदायक, मणि के समान प्रभापुंजयुक्त, क्षिति के समान सर्व प्रकार की बाधाओं को सहने वाले, सर्प के समान रहने वाले, आकाश के समान निरालम्बी व निर्लेप अनियत वसतिका में और सदाकाल परमपद का अन्वेषण करने वाले साधु होते हैं। ४

व्यवहारालम्बी साधु का लक्षण :— जो पांच महाव्रतों को धारण करते हैं, तीन गुप्तियों से सुरक्षित हैं, १८००० शीलव्रतों के भेदों को धारण करते हैं और चौरासी लाख उत्तरगुणों का पालन करते हैं वे साधु परमेष्ठी होते हैं। ५

दर्शनविशुद्धि से जो विशुद्ध हैं तथा मूलादि गुणों से संयुक्त हैं, अशुभराग से रहित हैं, व्रत आदि के राग से संयुक्त हैं वह सराग श्रमण है। ६

जो सातों तत्वों का भेदरूप से श्रद्धान करते हैं, वैसे ही भेदरूप से उसे जानते हैं तथा

---

१. ये व्याख्यायन्ति न शास्त्रं न ददति दीक्षादिकं च शिष्याणाम्।
कर्मोन्मूलनशक्ता ध्यानरतास्तेऽत्र साधवो ज्ञेया: ॥ "५" क्रिया कलापसामायिकदण्डक की टी.

२. विरतिप्रवृत्तिसमानात्मकरूपश्रामण्यत्वात् श्रमणम्। प्रवचनसार पृ० स० २०३

३. वैराग्यस्य परां काष्ठामधिरूढोऽधिकप्रभ:।
दिगम्बरो यथाजातरूपधारी दयापर: ॥ पञ्चाध्यायी उत्तरार्द्ध ६७१

४. सीह– गय वसह मिय पसु मारुद सुरूवहिमदंरिदु मणी।
खिदि उरगंबर सरिसा परमपय विमग्गया साहू ॥धवला १–३३।

५. पंचमहाव्रतधरास्त्रिगुप्ति गुप्ता: अष्टादशशीलसहस्रधराश्चतुरशीति –
शतसहस्रगुणधराश्च साधव: ॥धवला १ पृ० स० ५१

६. दसंणसुद्धिविसुद्धो मूलाइगुणेहि संजुओ तहय। असुहेण रायरहिओ
वयाइरायेण जो हु संजुत्ता। सो इह भणिय सरागो ॥बृहत् नय चक्र ३३१॥

उपेक्षित की उपेक्षा करते हैं, अर्थात् विकल्पात्मक भेद रत्नत्रय की साधना करते हैं वे व्यवहार से मुनि हैं । १

शुद्धात्मा का अनुराग युक्त चारित्र शुभोपयोगी श्रमणों का लक्षण है । २

अन्य कर्तव्य— हे भव्य! तू मन, वचन व काय की शुद्धि पूर्वक १३ क्रियाओं की भावना कर । वे १३ क्रियाएं ये हैं–

पंचनमस्कार, षट् आवश्यक, चैत्यालय में प्रवेश करते समय तीन बार निःसही शब्द का उच्चारण और चैत्यालय से बाहर निकलते समय तीन बार असही शब्द का उच्चारण अथवा पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति ये तेरह प्रकार का चारित्र ही तेरह क्रियायें हैं ।

अर्हदादि की भक्ति, ज्ञानियों में वात्सल्य, श्रमणों के प्रति वन्दन, अभ्युत्थान, अनुगमन वैयावृत्य करना, आहार व नीहार, तत्व-विचार, धर्मोपदेश, पर्व के दिनों में उपवास, चातुर्मास योग, शिरोनति व आवर्त आदि कृतिकर्म सहित, प्रतिदिन देव वन्दना, आचार्य वन्दना, स्वाध्याय, रात्रियोग धारण, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान आदि ये सब क्रियाएं शुभोपयोगी साधु की प्रमत्त अवस्था में होती है । ३

वीतरागी साधु स्वयं हटकर तथा अन्य साधु पीछी से जीवों को हटाकर उनकी रक्षा करते हैं।

मूलगुणों को छोड़कर उत्तरगुणों की रक्षा योग्य नहीं :—

मूलगुणों को छोड़कर केवल शेष उत्तरगुणों के परिपालन में ही प्रयत्न करने वाले तथा निरन्तर पूजा आदि की इच्छा रखने वाले साधु का यह प्रयत्न मूलघातक होगा । कारण की उत्तरगुणों में दृढ़ता उन मूलगुणों के निमित्त से ही प्राप्त होती है । इसीलिए यह उसका प्रयत्न इस प्रकार का है जिस प्रकार कि युद्ध में कोई मूर्ख सुभट अपने शिर का छेदन करने वाले शत्रु के अनुपम प्रहार की परवाह न करके केवल अंगुली के अग्रभाग को खण्डित करने वाले प्रहार से ही अपनी रक्षा करने का प्रयत्न करता है । ४

---

१. श्रद्धानः परद्रव्यं बुध्यमानस्तदेवहि । तदेवोपेक्षमाणश्च व्यवहारी स्मृतो मुनिः ॥ तत्वार्थ सार ५

२. शुभोपयोगिश्रमणानां शुद्धानाम शुद्धात्मानुरागयोगिचारित्रत्वलक्षणम् ॥

३. त्रयोदशक्रियाभावयत्वं त्रिविधेन त्रिकरण शुद्धया पञ्चनमस्काराः षडावश्यकानि चैत्यालय मध्ये प्रविशता निसिही निसिही निसिही इति वारत्रयं उच्चार्यंते जिनप्रतिमा वन्दनाभक्ति कृत्वा बहिर्नि र्गच्छता भव्यजीवेन असिहि असिही असिही इति वारत्रयं उच्चार्यते इति त्रयोदशक्रियाः हे भव्य ! त्वं भावय । अथवा पंचमहाव्रतानि पंच समितयस्तिस्रो गुप्तयश्चेति त्रयोदशक्रियास्त्रयोदश विध चारित्रं हे भव्यवरपुण्डरीक मुने ! त्वं भावय — ॥भावपाहुड टीका ७८।२२१॥

४. मुक्त्वा मूलगुणान् यतेर्विदधतः शेषेषुयत्नं परं, दण्डो मूलहरो भवत्यविरलं पूजादिकं वाञ्छतः एकं प्राप्तमरेः प्रहारमतुलं हित्वाशिरश्छेदकं, रक्षत्य ङ्गुलिकोटिखण्डनकरं कोऽन्यो रणेबुद्धिमान् ॥पद्मनंदि पंचविंशतिका १–४०।

निश्चय साधु का लक्षण :— जिसे शत्रु और बन्धुवर्ग समान है, सुख दुख समान है, प्रशंसा और निंदा के प्रति जिसको समता है, जिसे लोष्ठ (ढेला) और सुवर्ण समान है, तथा जीवन–मरण के प्रति जिसको समता है, वह श्रमण है । १

काय व वचन के व्यापार से मुक्त चतुर्विध आराधना में सदा अनुरक्त, निर्ग्रन्थ और निर्मोह ऐसे साधु होते हैं । २

जो निष्परिग्रही व निरारम्भ है, भिक्षाचर्या मे शुद्ध भाव रखते हैं एकाकी ध्यान में लीन होते हैं और सर्वगुणों से परिपूर्ण होते हैं वे श्रमण हैं । ३

जो अनन्त ज्ञानादिस्वरूप शुद्धात्मा की साधना करते हैं उन्हें साधु कहते हैं । ४

अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, विरति और क्षायिक सम्यक्त्वादि गुणों के जो साधक हैं वे साधु कहलाते हैं । ५

सुख–दुख में जो समान हैं और ध्यान में लीन है वह श्रमण होते हैं । शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के राग से मुक्त वीतरागी श्रमण हैं । ६

जो निजात्मा को ही श्रद्धानरूप व ज्ञान रूप बना लेते हैं और उपेक्षा रूप ही जिसकी आत्मा की प्रवृत्ति हो जाती है, अर्थात् जो निश्चय व अभेद रत्नत्रय की साधना करते हैं वह श्रेष्ठ मुनि निश्चावलम्बी माने जाते हैं । ७

रत्नत्रय की भावना रूप से जो स्वात्मा को साधते हैं वे साधु हैं । ८

---

१. समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिदसमो ।
समलोट्ठकंचणो पुण जीवितमरणे समो समणो ।।प्रवचनसार ,२४१

२. वावार विप्पमुक्का चउव्विहाराहणासयारत्ता
णिग्गंथा णिम्मोहा साहू एदेरिसा होंति ।।नियमसार ७५।

३. णिस्संगो णिरारंभो भिक्खचरियाए सुद्धभावो य
एगागी ज्झाणरदो सव्वगुणड्ढो हवे समणो ।।मूलाचार० १०००

४ अनन्तज्ञानादिशुद्धात्मस्वरूपं साधयन्तीति साधवः।। धवला १–५१

५. अणंतणाणदंसणवीरियविरइखइयसम्मत्तादीण साहया साहूणाम् ।।धवला ।८।३

६ सुहदुक्खाइसमाणो झाणे लीणो हवे समणो ।।
मुक्कं दोण्णं पि खलु इयरो ।।बृहत् नय चक्र ३३०।३३१।

७. स्वद्रव्यं श्रद्धानस्तु बुध्यमानस्तदेव हि
तदेवोपेक्षमाणश्च निश्चयान्मुनिसत्तमः ।। तत्वार्थसार,९–६

८. रत्नत्रयभावनया स्वात्मानं साधयतीति साधुः ।।प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति १७।१४।७।

निश्चय साधु की पहचान :—

जो साधु कुछ नहीं बोले, हाथ पांव आदि के इशारे से कुछ न दर्शावे, आत्मस्थ होकर मन से भी कुछ चिन्तवन न करे । १

केवल शुद्धात्मा में लीन होते हुये वह अन्तरंग व बाह्य वाग्व्यापार से रहित निस्तरंग समुद्र की तरह शान्त रहते हैं ।२

जब वह मोक्षमार्ग के विषय में ही कदाचित् भी उपदेश या आदेश नहीं करते हैं तब उससे विपरीत लौकिक मार्ग के उपदेशादि कैसे कर सकते हैं ? ३

वह वैराग्य की पराकाष्ठा को प्राप्त होकर अधिक प्रभावशाली हो जाते हैं । ४

अन्तरंग बहिरंग मोक्ष की ग्रन्थि को खोलने वाले वे यती होते हैं । ५

परीषहों व उपसर्गों के द्वारा वे पराजित नहीं होते और कामरूपी शत्रु को जीतने वाले होते हैं । ६

इत्यादि अनेक प्रकार के गुणों से युक्त वह पूज्य साधु ही मोक्ष की प्राप्ति के लिये तत्व ज्ञानियों के द्वारा अवश्य नमस्कार किये जाने योग्य है किन्तु उन गुणों से रहित अन्य साधु नहीं । ७

आराधना की अपेक्षा :—

जिसके द्वारा मोक्षसुख के अर्थीजन सम्यग्दर्शन आदि को आराधित–सेवित करते हैं उसे आराधना कहते हैं । इसके चार विषय ज्ञातव्य हैं— आराध्य, आराधक, आराधना, और उसका फल । रत्नत्रय आराध्य है, विशुद्धात्मा भव्य आराधक है, उपाय आराधना है और उसका फल अभ्युदय तथा मोक्ष है । ८

---

१. नोच्याच्चाय यमी किंचिद्हस्तपादादि संज्ञया ।न किंचिद्दर्शयेत्
स्वस्थो मनसापि न चिन्तयेत् ॥
२. आस्ते स शुद्धमात्मानमास्तिघ्नुवानश्च परम ।स्तिमितान्तर्बहिर्जल्पां
निस्तरङ्गाब्धिवन्मुनि ॥
३. नादेशं नोपदेशंवानादिशेत् स मनागपि ।
स्वर्गापवर्गमार्गस्य तद्विपक्षस्य किं पुनः ॥
४. वैराग्यस्य परा काष्ठामधिरूढोऽधिकप्रभः
५. निर्ग्रन्थोन्तर्बहि मोहग्रन्थेरुद्ग्रन्थकोयमी ॥
६. परीषहोपसर्गाद्यैरजय्यो जितमन्मथः
७. इत्याद्यनेकधानेकैः साधुः साधुगणैः श्रितः
नमस्यः श्रेयसेऽवश्यं नेतरो विदुषां महान् ॥पञ्चाध्यायी उ० ६६८।६७४॥
८. रत्नत्रय माराध्यं भव्यस्त्वाराधको विशुद्धात्मा ।
आराधनाह्युपायस्तत्फलमभ्युदयमोक्षौ स्तः ॥मूलाराधना पृ०४१

आराधना के चार भेद हैं–

१ **दर्शनाराधना**—शंका आदि दोषों से रहित और आठ अंग रूप निर्दोष सम्यक्त्व धारण करना दर्शनाराधना है ।

२ **ज्ञानाराधना**—अर्थ, व्यंजन शब्द आदि आठ भेदों से युक्त ज्ञान का संचय करना ज्ञानाराधना है ।

३ **चारित्राराधना**—तेरह प्रकार का चारित्र पालन चारित्राराधना है ।

४ **तपाराधना**—बारह प्रकार के तपों का विधिवत् पालन करना तप–आराधना है ।

दर्शनाराधना में ज्ञानाराधना और चारित्राराधना में तप आराधना गर्भित हो जाने से संक्षेप मे आराधनाये दो ही हैं अथवा सम्यदर्शन–ज्ञान और तप, अति संक्षेप में चारित्र में गर्भित होने से चारित्राराधना ही एक आराधना है । चूंकि बिना चारित्र के मुक्ति पद नहीं है अतः सम्यक्‌-चारित्र के सेवन से सभी आराधनायें आराधित हो जाती हैं ।

भेद रूप से इन चार आराधनों की आराधना करने वाले भव्यजीव संसार के अनेक अभ्युदयों को प्राप्त कर क्रमशः मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ।

विशेष—इन चार आराधनाओं में से प्रारभ की तीन आराधनायें तो प्रायः सभी दिगम्बर मुनियों के पाई जाती हैं । किन्तु तप आराधना उत्तरगुणधारी मुनियों में ही खासकर विवक्षित है । अतः इन आराधनाओं की अपेक्षा दिगम्बर मुनियों में भेद हो जाते हैं ।

मुनियों और आचार्यों में उत्तर गुण और श्रुत से भेद——मुनियों के सामान्यतया चार भेद और आचार्यों में भी सामान्यतया चार भेद किये जा सकते हैं ।

प्रथम तो सामान्य मुनि होते हैं जो कि अपने मूलगुणों का पालन करते हैं । दूसरे मुनि वे हैं जो मूलगुणों के साथ उत्तरगुणो का भी पालन करते हैं । तीसरे मुनि वे हैं जो मूल गुणधारी हैं, उत्तरगुणों से शून्य हैं किन्तु सिद्धान्त के विशेष वेत्ता हैं । और चौथे मुनि वे हैं, जो मूलगुणों तथा उत्तरगुणों का पालन करते हैं और सिद्धान्त के वेत्ता भी हैं ।

विशेष—आजकल यद्यपि प्रथम भेद रूप मुनि और प्रथम भेद रूप आचार्य ही देखे जाते हैं । फिर भी, कोई मुनि या आचार्य उत्तरगुणों को कुछ–कुछ अंशों में धारण करते हैं और कोई-कोई तात्कालिक श्रुत ज्ञान के भी मर्मज्ञ होते हैं । इन भेदों की अपेक्षा भी दिगम्बर मुनियों तथा आचार्यों में भेद देखा जाता है ।

ध्यान की अपेक्षा मुनियों में भेद——वर्तमान में उत्तमसंहनन नहीं होने से शुक्ल ध्यान नहीं हो सकता है, धर्मध्यान ही होता है। उसमें भी अनेकों भेद होने से धर्मध्यानी दिगम्बर मुनियों में भी अनेकों भेद हो जाते हैं तथा धर्म–शुक्ल ध्यान की अपेक्षा भी इनमें अनेकों भेद माने जाते हैं ।

गुणस्थानों की अपेक्षा मुनियों में भेद——दर्शनमोहनीय आदि कर्मों के उदय, उपशम आदि अवस्था के होने पर जीव के जो परिणाम होते हैं, उन परिणामों को गुणस्थान कहते हैं ये गुणस्थान

मोह और योग के निमित्त से होते हैं। इन परिणामों से सहित जीव गुणस्थान वाले कहलाते हैं। इनके १४ भेद हैं--

मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवलीजिन और अयोगकेवलीजिन इस प्रकार १४ गुणस्थान होते हैं। १

भावों की अपेक्षा छठे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक के जीव दिगम्बर मुनि होते हैं। छठे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक सर्वसंयमियों का प्रमाण तीन कम नव करोड़ है। ये सभी संख्या भाव लिंगी मुनियों की अपेक्षा से है। द्रव्य की अपेक्षा दिगम्बर मुनियों में भी कदाचित् पहले गुणस्थान से पांचवें तक भी रह सकते है तब वे मुनि द्रव्यलिंगी कहलाते हैं। द्रव्य से मुनि (द्रव्यलिंगी) पहले स्वर्ग से लेकर नवग्रैवेयक तक जा सकते हैं और जो द्रव्य से मुनि नहीं हैं ऐसे उत्कृष्ट श्रावक (ऐलक, क्षुल्लक) या आर्यिकायें सोलहवें स्वर्ग के ऊपर नहीं जा सकतीं हैं। इस प्रकार छठे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान की अपेक्षा अथवा द्रव्यलिंगी और भावलिंगी की अपेक्षा भी दिगम्बर मुनियों में भेद होते हैं। द्रव्यलिंगी में सभी मिथ्यादृष्टि ही नहीं होते हैं, किन्तु चतुर्थ या पंचम गुणस्थानवर्ती भी होते हैं।

कर्मनिर्जरा की अपेक्षा मुनियों में भेद——सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनंतानुबंधीविसंयोजक, दर्शन-मोहक्षपक, उपशमक, उपशांतमोहक्षपक, क्षीणमोह और केवली जिन ये क्रम से असंख्यात गुण निर्जरा वाले होते हैं। १

आज के समय में मात्र विरत अर्थात् छठे सातवें गुणस्थान वाले ही मुनि होते हैं आठवें आदि गुणस्थान वाले नहीं होते हैं।

जो ये निर्जरा के स्थान बताये हैं उनमें भी प्रत्येक स्थानों में जीवों के भावकी अपेक्षा निर्जरा में तरतमता हो जाती है। इन निर्जरा करने वालों की अपेक्षा भी दिगम्बर मुनियों में भेद हो जाते हैं।

तीर्थंकरों की अपेक्षा मुनियों में भेद--

भरत और ऐरावत क्षेत्र के सभी तीर्थंकर पांच कल्याणक वाले ही होते हैं, किन्तु विदेहक्षेत्र की १६० कर्मभूमियों में अधिक से अधिक १६० तीर्थंकर भी एक साथ हो सकते हैं। इनमें सभी पांच कल्याणक वाले ही हों ऐसा नियम नहीं है। यदि वे गृहस्थावस्था में तीर्थंकर प्रकृति का

---

१. मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसम्मोय देसविरदोय।
विरदा पमत्त इदरो अपुव्व अणियट्टि सुहमो य ॥९॥
उवसंत खीण मोहो सजोगकेवलि जिणो अजोगीय।
चउदस जीव समासा कमेण सिद्धाय णादव्वा ॥जीवकाण्ड ९।१०।

२. सम्यग्दृष्टि श्रावक विरतानंतवियोजक दर्शनमोह क्षपकोपशमकोपशान्त मोहक्षपक क्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येय गुणनिर्जराः॥ तत्त्वार्थसूत्र ९-४५॥

बंध कर लेते हैं तो इनके तीन कल्याणक अथवा मुनि होने के बाद तीर्थंकर प्रकृति बांधने पर दो कल्याणक होते हैं। तीर्थंकर प्रकृति वाले महापुरुष दीक्षा लेकर केवल ज्ञान होने तक मौन ही रहते हैं। सामान्य दिगम्बर साधुओं के लिए कोई नियम नहीं है। इस अपेक्षा तीर्थंकर मुनि सामान्य मुनि में महान अन्तर होता है।

समवशरण के अन्तर्गत सात संघों की अपेक्षा मुनियों में भेद—

चौबीस तीर्थंकरों का चतुर्विध संघ—भगवान वृषभदेव के साथ ऋषियों का प्रमाण चौरासीहजार है। अजितनाथ के समवशरण में एक लाख मुनि हैं।

प्रत्येक तीर्थंकरों के समवशरण में ऋषियों के सात संघ होते हैं पूर्वधर, शिक्षक, अवधिज्ञानी केवली, विक्रियाऋद्धि के धारक, विपुलमति और वादी ये सात प्रकार हैं।

चौबीस तीर्थंकरों के समस्त मुनियों का जोड़ ९५,८०,००० हैं और आर्यिकाओं का ३,६०,०५,६५० है।

चौबीस तीर्थंकरों के गणधर देवों की संख्या—प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थंकर महावीर पर्यन्त प्रत्येक गणधर क्रमशः ८४+९०+१०५+१०३+११६+१११+९५+९३+८८+८७+७७+६६+५५+५०+४३+३६+३५+३०+२८+१८+१७+११+१०+११=१४५९ ये सभी गणधर देव आठ ऋद्धियों से सहित होते हैं।

ये सभी ऋद्धियाँ भावलिंगी मुनियों के ही हो सकती हैं द्रव्यलिंगी के नही। इन ऋद्धियों की अपेक्षा भी मुनियों में भेद हो जाते हैं।

सरागी और वीतरागी मुनि—जब कोई भी मुमुक्षु दीक्षा लेता है उस समय उसके परिणाम पहले गुणस्थान से या चौथे गुणस्थान से अथवा पाँचवें गुणस्थान से कषाय की चौकड़ीत्रय के अभाव से एकदम सातवें गुणस्थान रूप होते हैं। छठवां गुणस्थान गिरने से ही होता है। अतः जब श्रमण एक सामायिक संयम में आरुढ़ होने के कारण जिसमें भेद रूप आचरण सेवन नहीं है, ऐसी अभेद दशा से च्युत होता है, तब केवल सुवर्ण मात्र के इच्छुक को कुण्डल, कंकण, अंगूठी आदि को ग्रहण करना ही श्रेय है किन्तु ऐसा नही कि (कुंडलादि ग्रहण न करके) सर्वथा स्वर्ण की ही प्राप्ति श्रेय है। ऐसे विचार करके वह मूलगुणों में अपने को स्थापित करता हुआ अर्थात् मूल गुणों में भेद रूप से आचरण करता हुआ छेदोपस्थापक होता है। ये अट्ठाईस मूलगुण निर्विकल्प सामायिक संयम के ही भेद हैं।[1]

---

१. वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाण।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेग भत्तं च॥
एदे-खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहि पण्णत्ता।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि॥ प्रवचनसार, २०८—२०९, अमृतचन्द्राचार्यकी टीका॥
तेषु यदा निर्विकल्प सामायिक संयमाधिरूढत्वेनानभ्यस्तविकल्पत्वात्प्रमाद्यति तदा केवल कल्याणमात्रार्थिनः कुंडलवलयांगुली यदि परिग्रह: किल श्रेयान् पुनः न सर्वथा कल्याणलाभ एवेति संप्रधार्य विकल्पेनात्मानमुपस्थापयन् छेदोपस्थापको भवति।
एते निर्विकल्प सामायिक संयमविकल्पत्वात् श्रमणानां मूलगुणा एव॥ प्रवचनसार टीका, पृ० सं० ५०४,

जैसे सुवर्ण के इच्छुक को यदि सुवर्ण न मिले तो वह सुवर्ण से बनी हुई अंगूठी आदि को ही लेता है, उसे छोड़कर दोनों तरफ से खाली हाथ नहीं होता है, वैसे ही मुनि अभेदरूप सामायिक संयम में जब अधिक देर नहीं रह सकते हैं तब वे भेदरूप छेदोपस्थापना में आ जाते हैं। छेद में उपस्थापना छेदोपस्थापना है। वह संक्षेप से पांच महाव्रत रूप है। उन पांच व्रतों की रक्षा करने के लिए पुन: पांच समिति इत्यादि के भेद से अट्ठाईस मूलगुण रूप भेद हो जाते हैं। इन मूलगुणों की रक्षा के लिए बाईस परीषह जय और बारह प्रकार के तपश्चरण के भेद से चौंतीस उत्तरगुण होते हैं। और उनकी रक्षा के लिए देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतन के द्वारा किये गये चार प्रकार के उपसर्गों का जय और द्वादश अनुप्रेक्षाओं की भावना आदि की जाती है।१

संयम—अनेक आचार्यों ने संयम का लक्षण निम्न प्रकार कहा है—
सम्यक् रूप से यम अर्थात् नियंत्रण करना वह संयम है।२

व्यवहार संयम का लक्षण—पंचसमिति युक्त, पांच इन्द्रियों के निरोधवाला, तीन गुप्ति सहित, कषायों को जीतने वाला, दर्शन-ज्ञान से परिपूर्ण जो श्रमण है, वह संयत कहा गया है।३

वाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग, मन, वचन, काय रूप व्यापार से निवृत्ति सो अनारम्भ, इन्द्रिय विषयों से विरक्त, कषायों का क्षय, उपशम-यह सामान्य रूप से संयम का लक्षण कहा गया है।४

पांच महाव्रतों का धारण करना, पांच समितियों का पालन करना, चार कषायों का निग्रह करना, मन, वचन, काय रूप तीन दण्डों का त्याग करना और पांच इन्द्रियों का जीतना संयम कहलाता है।५

निश्चय संयम का लक्षण—समस्त छह जीव निकाय के हनन के विकल्प से आत्मा को व्यावृत्य करके आत्मा शुद्ध स्वरूप में संयमन करने, से संयमयुक्त है।६

---

१. छेदे सत्युपस्थापनम् छेदोपस्थापनम्। अथवा छेदेन व्रत भेदेनोपस्थापनं छेदोपस्थापनम्।
तच्च संक्षेपेण पंचमहाव्रत रूप भवति। तेषांव्रताना च रक्षणार्थं पंचसमित्यादि भेदेन पुनरष्टाविंशतिमूलगुण भेदा भवन्ति। तेषां च मूलगुणानां रक्षणार्थं द्वाविंशतिपरीषह जय द्वादशविधतपश्चरण भेदेन चतुस्त्रिंशदुत्तरगुणा भवन्ति। तेषां च रक्षणाद्देवमनुष्यतिर्यगचेतन कृत चतुर्विधोपसर्ग जय द्वादशानुप्रेक्षा भावनादयश्चेत्यभिप्रायः॥ प्र० सार, टीका ५०६

२. सम्यक् यमो वा सयमः।

३. पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेंदिय संवुडो जिदकसाओ।
दंसणणाण समग्गो समणो सो संजदो भणिदो॥ प्रवचनसार, २४०

४. चागो य अणारंभो विसयविरागो खओ कसायाण।
सो संजमोत्ति भणिदो पव्वज्जाए विसेसेण॥ २४०, प्र० सा० प्रक्षेपक गाथा

५. वदसमिदिकसायाणं दंडाणं इंदियाणं पंचण्हं।
धारणपालणणिग्गह चाय जओ संजमो भणिओ॥ २७॥

६. सकलषड् जीवनिकाय निशुम्भनविकल्पात्पञ्चेन्द्रियाभिलाष-विकल्पाच्च व्यावर्त्यात्मनः शुद्धस्वरूपे संयमनात्॥ १४॥

ज्ञेय-ज्ञातृतत्व की तथा प्रकार अनुभूति और क्रियान्तर से निवृत्ति के द्वारा रचित उसी तत्व में परिणति ऐसे लक्षण वाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान व चारित्र इन तीनों पर्यायों की युगपत्ता के द्वारा परिणत आत्मा में आत्मनिष्ठ होने पर संयपतना होता है ।१

निष्क्रिय आत्मा के स्वशुद्धात्मा की उपलब्धि ही संयम कहलाता है ।२

जिन उपकरणों से संयम विनाश न होता हो ऐसे उपकरण य। अन्य वस्तु को काल और क्षेत्र के अनुसार ग्रहण करने में साधु को दोष नहीं है ।३

काल की अपेक्षा परमोपेक्षा संयम की शक्ति का अभाव होने से आहार करना, संयमोपकरण शौचोपकरण और ज्ञानोपकरण आदि ग्रहण करना उचित है।

श्रामण्य पर्याय का सहकारी कारण होने से जिसका निषेध नहीं किया जा सकता ऐसा अत्यंत मिला हुआ होते हुए भी यह शरीर पर द्रव्य होने से परिग्रह है । यह अनुग्रह योग्य नहीं है किन्तु उपेक्षा के ही योग्य नहीं है । ऐसा समझने वाले मुनि शरीर से भिन्न अन्य परिग्रह को ग्रहण कैसे करेंगे ? आहार, पिच्छी, कमंडलु आदि भी ग्रहण करना अपवाद मार्ग है । भाव यह यह है कि सर्वपरिग्रह का त्याग ही श्रेष्ठ उत्सर्ग है । अन्य कुछ उपकरण रखना उपचार है, अपवाद है ।४

उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का अर्थ-

उत्सर्ग मार्ग—शुद्धात्मा से अतिरिक्त अन्य बाह्य और अभ्यन्तर सभी परिग्रह का त्याग कर देना उत्सर्ग है । इसके निश्चयनय, सर्वपरित्याग, परमोपेक्षासंयम, वीतराग चारित्र और शुद्धोपयोग ये सब पर्यायवाची नाम हैं।

अपवाद मार्ग—इस उत्सर्ग संयम में असमर्थ हुए मुनि शुद्धात्मभावना के लिए सहकारी भूत आहार ज्ञानोपकरण आदि कुछ भी ग्रहण करते हैं । यह अपवाद है इसके व्यवहार नय, एक देश परित्याग, अपहृतसंयम, सरागचारित्र और शुभोपयोग ये पर्यायवाची हैं ।

और यह भी कहा है–वह चारित्र अपहृत संयम-उपेक्षा संयम के भेद से, सराग और वीतराग के भेद से अथवा शुभोपयोग -शुद्धोपयोग के भेद से दो प्रकार का है ।५

---

१. ज्ञेयज्ञातृतत्वतथा प्रतीतिलक्षणेन सम्यग्दर्शन पर्यायेण ज्ञेयज्ञातृतत्व तथानुभूति लक्षणेन ज्ञानपर्यायेण ज्ञेयज्ञातृ क्रियान्तरनिवृत्तिसूत्र्यमाणद्रष्टृज्ञातृतत्ववृत्तिलक्षणेन चारित्र पर्यायेण च त्रिभिरपि यौगपद्येन भाव्यभावकभावविजृम्भितातिनिर्भरेतरेतरसंवलनबलादङ्गाङ्गिभावेन परिणतस्यात्मनि यदात्मनिष्ठत्वे मति संयतत्वं ॥ प्रवचनसार टीका, २४२,

२. शुद्धस्वात्मोपलब्धिः स्यात् संयमो निष्क्रियस्य च ॥ पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध, १११६

३. छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स ।
समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता ॥ प्रवचनसार, २२२

४. निश्चयेन देहादिसर्वसङ्ग परित्याग एवोचितोऽन्यस्तूपचार एवेति ।

५. तच्च चारित्रमपहृतसंयमोपेक्षासंयम भेदेन सरागवीतराग भेदेन वा शुभोपयोग शुद्धोपयोग भेदेन च द्विधा भवति ।

नियमसार में भगवान श्री कुन्दकुन्ददेव ने चतुर्थ अधिकार में व्यवहार चारित्ररूप तेरह प्रकार के चारित्र का व्याख्यान किया है। पश्चात् निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान, निश्चय आलोचना, शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्त, परमसमाधि, परमभक्ति इनका वर्णन करते हुए निश्चयपरमावश्यक का विवेचन किया है। अर्थात् निश्चय प्रतिक्रमण आदि शुद्धोपयोगी मुनि के ही सम्भव है ऐसा स्पष्ट किया है।

परम उपेक्षा संयम धारण करने वाले के निश्चय प्रतिक्रमण होता है।१

जो साधु अगुप्ति भावों को छोड़कर त्रिगुप्ति से रक्षित हैं, वे साधु ही प्रतिक्रमण हैं, क्योंकि वे प्रतिक्रमणमय हो चुके हैं। वे निर्विकल्प परमसमाधि लक्षण से लक्षित, अतिशय अपूर्व आत्मा का ध्यान करते हैं इस हेतु से वे प्रतिक्रमणमय परमसंयमी हैं।२

व्यवहारनय की अपेक्षा से समता, स्तुति, वन्दना, प्रत्याख्यानादि षट् आवश्यक क्रिया से हीन श्रमण चारित्र भ्रष्ट हैं, और शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा परमअध्यात्म भाषा से उक्त निर्विकल्प समाधिस्वरूप परमावश्यक क्रिया से परिहीन श्रमण निश्चयचारित्र भ्रष्ट हैं।३

पुनः आचार्य कहते हैं—

यदि करना शक्य है तो ध्यानमय प्रतिक्रमण आदि करना चाहिए। यदि तुम शक्तिविहीन हो तो तुम्हें तब तक श्रद्धान ही करना चाहिए। अर्थात् यदि तुम इस दग्धकाल रूप अकाल (पंचमकाल) में शक्ति हीन उत्तमसंहनन से हीन हो तो तुम्हें केवल निजपरमात्मतत्व का श्रद्धान करना चाहिए।४

इस प्रकार वीतराग चर्या का किंचित वर्णन किया है। यह सरागचारित्र के अनन्तर ही होता है अर्थात् सरागचारित्र में कुशल महामुनि ही इसे प्राप्त कर पाते हैं।५

परस्पर सापेक्ष ही उत्सर्ग और अपवाद श्रेयस्कर है—देशकाल का ज्ञाता साधु यदि आहार-विहार आदि में होने वाले अल्पबन्ध के भय से उसमें प्रवृत्ति नहीं करता है, और वीतरागता की ही हठ

---

१. परमोपेक्षासंयमधरस्य निश्चयप्रतिक्रमण स्वरूपं च भवति ।। नियमसार टीका ।। ८५ ।।

२. चत्ता अगुत्तिभावं तिगुत्तिगुत्तो हवेइ जो साहू ।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ।। ८८ ।। नियमसार—टीका सहित ।।
अगुप्तिभावं त्यक्त्वा त्रिगुप्तिगुप्तनिर्विकल्पपरमसमाधिलक्षणलक्षितं अत्यपूर्वमात्मानं ध्यायति, यस्मात् प्रतिक्रमणमयः परमसंयमी अतएव स च निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूपो भवतीति ।। नियमसार टीका,

३. अत्र व्यवहार नयेनापि समतास्तुतिवन्दना प्रत्याख्यानादिषडावश्यक परिहीणः श्रमणश्चारित्रपरिभ्रष्ट इति यावत् शुद्धनिश्चयेन परमाध्यात्मभाषयोक्तनिर्विकल्पसमाधिस्वरूपपरमावश्यकक्रियापरिहीणः श्रमणो निश्चयचारित्रभ्रष्ट इत्यर्थः ।।

४. जदि सक्कदि कादुं जे पडिकमणादि करेज्ज झाणमयं ।
सत्तिविहीणो जा जइ सद्दहणं चेव कायव्वं ।। नियमसार
शक्तिहीनोयदि दग्धकालेऽकाले केवलं त्वया निज परमात्मतत्व श्रद्धानमेव कर्तव्यमिति ।

५. सरागचारित्रान्तरं वीतरागचारित्रं जातमिति ।। समयसार टीका,

ग्रहण कर लेता है, तब वह अतिकठोर आचरण द्वारा अक्रम से ही शरीर को समाप्त करके देव-लोक में चला जाता है। इसलिए वह संयमरूपी अमृत को वमन करने वाला है अर्थात् वहाँ असंयमी हो जाता है। उसे वहाँ तप का अवकाश नहीं रहने से महानबन्ध होता है। अतः अप-वाद (सराग), निरपेक्ष उत्सर्ग वीतराग चारित्र श्रेयस्कर नहीं है। १

इस प्रकार से अपवाद मार्ग द्वारा अल्पलेप को न गिनकर उसमें यथेष्ट प्रवृत्ति करने से उत्सर्ग रूप ध्येय से चूककर अपवाद में स्वच्छन्दतया प्रवृत्ति करता है, तो भी असंयतजन के समान तप को अवकाश न मिलने से महान लेप होता है, अतः उत्सर्ग निरपेक्ष अपवाद भी श्रेयस्कर नहीं है।

जयसेनाचार्य ने इसी को बड़े सरल ढंग से कहा है—यदि कोई कथंचित् औषधि, पथ्य आदि सावद्य के भय से व्याधि पीड़ा आदि का प्रतिकार न करके शुद्धात्मा की भावना नहीं करता है, तो उसके महान कर्म बन्ध होता है अथवा कोई प्रतीकार (इलाज) में प्रवृति करते हुए भी हरड़ के बहाने गुड़खाने के समान इन्द्रिय सुख की लम्पटता से संयम की विराधना करता है, तब भी उसके महान कर्मबन्ध होता है। इसलिए विवेकी साधु उत्सर्ग निरपेक्ष अपवाद को छोड़ देता है और शुद्धा-त्म भावना रूप अथवा शुभोपयोगरूप संयम की विराधना न करके औषधि, पथ्य आदि के निमित्त से उत्पन्न हुए अल्पसावद्य को भी बहुत गुणों के समूहरूप ऐसा जो उत्सर्ग से सापेक्ष अप-वाद है उसको स्वीकार करता है।

अभिप्राय यह है कि सराग और वीतराग दोनों चारित्र तभी तक होते रहते है जब तक पूर्णतया कषाय का अभाव होकर पूर्णतया वीतरागता नही आती है इसलिए इन दोनों को परस्पर सापेक्ष रूप से धारण करना श्रेयस्कर है।

सरागी मुनि की चर्या—सकल परिग्रह के त्याग स्वरूप श्रामण्य के होने पर भी जो कषायांश के आवेश के निमित्त से केवल शुद्धात्मा में ही स्थित होने में असमर्थ है ऐसा श्रमण यदि अर्हंत भगवान आदि में भक्ति करता है और प्रवचन में रत हुए जीवों के प्रति वात्सल्य करता है तो उसकी यह शुभ युक्तता ही शुभोपयोगी चारित्र है।

यह शुभोपयोगी साधु श्रमणों के प्रति वन्दन, नमस्कार पूर्वक खड़ा हो जाना, पीछे चलना, विनय करना तथा उनकी थकान दूर करना आदि करता। है यह सब राग चर्या में निषिद्ध नहीं है। दर्शन ज्ञान का उपदेश देना, शिष्यों का ग्रहण करना और उनका पोषण करना अर्थात् उनके अशन, शयन आदि की चिन्ता रखना और जिनेन्द्रदेव की पूजा का उपदेश देना यह सरागी मुनियों की चर्या है। जो श्रमण हमेशा चतुर्विध श्रमण संघ का जीवों की विराधना से रहित उपकार करता है। वह मुनि भी राग की प्रधानता वाला है। अर्थात संघ के उप-

---

१. देशकाल ज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्त ग्लानत्वानुरोधे नाहार विहारयोरल्प लेपत्व विगणय्ययथेष्ठं प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरणी भूय संयमं विराध्यासंयतजनसमानो भूतस्तं तदात्वे तपसोऽनवकाशतयाशक्य प्रतिकारो महान् लेपो भवति तन्न, श्रेयानुत्सर्गनिरपेक्षोऽपवाद । प्रवचनसार, टीका २३१

कार की यह प्रवृत्ति शुभोपयोगी मुनियों में ही होती है, शुद्धोपयोगी मुनियों में कदापि नहीं यदि कोई साधु अन्य साधुओं की वैयावृत्ति के निमित्त जीव घात (आरम्भ या अप्रासुक औषधआदि देना) करता है तो वह साधु नहीं है किन्तु अगारी हो जाता है क्योंकि आरम्भ आदि कार्य श्रावकों द्वारा ही करणीय हैं ।१

यद्यपि वैयावृत्ति आदि में अल्प आस्रव होता है तो भी सागार अनगार चर्यायुक्त मुनीश्वरों की निरपेक्षतया अनुकम्पा–बुद्धिपूर्वक उपकार करो ।२

अर्थात् सागार और अनगारचर्या से युक्त जो श्रावक और तपोधन हैं उनका दयाभाव अर्थात् धर्म वात्सल्य पूर्वक उपकार करना चाहिए । यदि उसमें अल्पसावद्य भी हो तो? "सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ दोषायनालं कणिकाविषास्य" । बहुत सी पुण्य की राशि में किंचित्सावद्य मात्र दूषित नहीं है। जैसे कि एक विष की कणिका बहुत बड़े समुद्र का कुछ बिगाड़ नहीं कर सकती है । रोग से, क्षुधा से, तृषा से, अथवा थकावट से पीड़ित साधु को देखकर साधु अपनी शक्ति के अनुसार उनकी वैयावृत्ति आदि करें, अर्थात् निजात्मभावना के विघातक ऐसे रोगादि का प्रसंग आ जाने पर साधु, साधु की वैयावृत्ति करें । शेष काल में अपना चारित्र पालें ।

रोगी, गुरु, बाल अथवा वृद्ध साधुओं की वैयावृत्ति के निमित्त शुभोपयोगी मुनि, लौकिक जनों के साथ वार्तालाप कर सकता है । इसका निषेध नहीं है । यह प्रशस्तभूतचर्या साधुओं की होती है और गृहस्थों के लिये तो यह मुख्यरूप ही है । इस चर्या से ही परम सौख्य प्राप्त होता है ।

इस प्रकार से जो अशुभोपयोग से रहित हैं तथा शुभोपयोग अथवा शुद्धोपयोग से युक्त हैं वे श्रमण भव्यजनों को संसार से पार कर देते हैं और उनके प्रति भक्ति करने वाला भक्त प्रशस्त

---

१. अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु ।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया ॥
सकलसंगसंन्यासात्मनि श्रामण्ये सत्यपि कषायलवावेशवशात् स्वयं
शुद्धात्मवृत्ति मात्रेणावस्थातुमशक्तस्य शुभोपयोगि चारित्रं स्यात् ।
वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती ।
समणेसु समावणओ ण णिंदिदा रायचरियम्हि ॥
दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं ।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य ॥
तेषामेव पोषणसंरक्षणमारादिचिन्ता इत्थं भूता चर्या चारित्रं भवति ।
उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स ।
कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो से ॥
सा सर्वापि रागप्रधानत्वात्शुभोपयोगिनामेव भवति न कदाचिदपि शुद्धोपयोगिनाम् ।
जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थ मुज्जदो समणो ।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से ॥ प्रवचनसार, २४६–२५०
२. जोण्हाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं ।
अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो ॥ प्रवचनसार, २५१

पुण्य को प्राप्त कर लेता है। जो साधु मोह, द्वेष और अप्रशस्त राग से रहित हैं सम्पूर्ण कषायों के उदय का अभाव होने से कदाचित् शुभोपयोग में लगे हुये हैं वे ही भव्यजनों को संसार समुद्र से पार करने वाले हैं। १

जयसेन स्वामी भी कहते हैं कि निर्विकल्प समाधि के बल से शुभ और अशुभ इन दोनों उपयोग से रहित काल में कदाचित् वीतराग चारित्र लक्षण शुद्धोपयोग से युक्त हैं और कदाचित् मोह, द्वेष तथा अशुभ राग से रहित काल में सरागचारित्र रूप शुभोपयोग से युक्त हैं, वे ही साधु भव्यों को पार करने वाले हैं। उनकी भक्ति करने वाले भव्य जीव प्रशस्त फलभूत स्वर्ग को प्राप्त करते हैं पुनः परंपरा से मोक्ष को भी प्राप्त कर लेते हैं।

निष्कर्ष यह निकला कि साधु छठे और सातवें गुण स्थान में बार-बार परिवर्तन किया करते हैं। ऐसी स्थिति में वे छठे गुणस्थान में अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करते हुए संघ संचालन आदि व्यवस्था भी संभालते हैं और कदाचित् सप्तम गुणस्थान में शुद्धोपयोगी भी हो जाते हैं।

निष्कर्ष यही निकलता है कि छठे गुणस्थान तक शुभोपयोग अवस्था ही है उसे सराग चारित्र कहते हैं। उससे आगे सातवें से लेकर बारहवें तक शुद्धोपयोग अवस्था है तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग का फल है। २

विशेष—वर्तमान में छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि ही होते हैं। इससे ऊपर के नहीं अतः इस समय साधुओं में सरागचर्या ही प्रधान है। हां उनके लिए ध्येय वीतराग चारित्र है। इस तरह सरागता और वीतरागता की अपेक्षा भी मुनियों में भेद हो जाते हैं।

संयम के दो भेद—उपेक्षा संयम और अपहृत संयम।

अपहृतसंयम—अपहृत संयम के ३ भेद हैं। उत्तम, मध्यम और जघन्य।

उत्तमअपहृत संयमी—ज्ञान और चारित्र की क्रियाओं को अपने आधीन रखने वाला और बाह्य साधन-प्रासुक वसतिका तथा पुस्तक आदि मात्र को ही ग्रहण करने वाला जो संयमी उन प्रासुक वसतिका आदि में दैवात् आ जाने वाले जीव जन्तुओं के वियोग या उपघात आदि का विचार

---

१. असुभोवयोगरहिदा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा।
णित्थारयंति लोग तेसु पसत्थ लहदि भत्तो ॥ प्रवचनसार ,२६०
टीका—मोहद्वेषाप्रशस्त रागोच्छेदादशुभोपयोगवियुक्ताः सन्तः सकलकषायो दयविच्छेदात् कदाचित् शुद्धोपयुक्ताः प्रशस्तरागविपाकात्कदाचिच्छुभोपयुक्ताः स्वयं मोक्षायतनत्वेन लोकं निस्तारयन्ति।
तात्पर्यवृत्ति—निर्विकल्पसमाधिबलेन शुभाशुभोपयोगद्वयरहितकाले कदाचित् वीतरागचारित्रलक्षणशुद्धोपयोगयुक्ताः कदाचित्पुनर्मोहद्वेषाशुभरागरहित काले सराग चारित्रलक्षणशुभोपयोगयुक्ता संतोः भव्यलोकं निस्तारयन्ति, तेषु च भव्यो भक्तो भव्यवर पुण्डरीकः प्रशस्तफल भूत स्वर्गं लभतेपरंपरयामोक्ष चेति। प्रवचनसार, २६०

२. तदन्तरमसंयम सम्यग्दृष्टि देश विरतप्रमत्त संयत गुणस्थान षट्के त्रये तारतम्येन शुभोपयोगः तदनन्तरमप्रमत्तादिक्षीणकषायान्त गुणस्थान षट्के तारतम्येन शुद्धोपयोगः तदनन्तरं सयोग्ययोगीजिन गुणस्थानद्वये शुद्धोपयोगफलमिति।
(प्रवचनसार, टीका,)

न करके स्वयं अपने को ही उनसे अलग रखकर उनकी रक्षा करता है, वही उत्तमप्राणिपरिहार रूप अपहृतसंयमी कहा जाता है ऐसे संयमी की साधुजन भी पूजा करते हैं।

मध्यमअपहृत संयमी—जो साधु स्वयं अपने को ही उन जीवों से पृथक् न रखकर अपने शरीरादि के ऊपर आकर पड़ने वाले उन जीवों को शास्त्र कथित पांच गुणों से युक्त कोमल पिच्छी आदि के द्वारा मार्जन करके उनकी रक्षा करता है वह मध्यमप्राणिपरिहाररूप अपहृतसंयमी होता है। उसको भी सत्पुरुष बड़े प्रेम की दृष्टि से देखते हैं।

जघन्यअपहृत संयमी—जो साधु उस तरह की पीछी न मिलने पर उसके समान किसी भी दूसरी कोमल वस्तु से उन जीवों का शोधन करता है वह जघन्य प्राणिपरिहार रूप अपहृत संयमी कहा जाता है। वह भी सत्पुरुषों के द्वारा आदरणीय है।

इस अपहृतसंयम के प्रतिपादनार्थ आठ प्रकार की शुद्धि का उपदेश दिया गया है। इन शुद्धियों के निमित्त से ही संयम की वृद्धि होती है। भावशुद्धि, कायशुद्धि, विनयशुद्धि, ईर्यापथशुद्धि भिक्षाशुद्धि, प्रतिष्ठापनशुद्धि, शयनासनशुद्धि और वाक्यशुद्धि ये आठ शुद्धियां हैं। 1

भावशुद्धि—निरंतर प्रमाद से रहित शास्त्रध्यान में लीन शंकादि दोषों से रहित मार्दवादिगुणों से शुद्ध जो मानसिक प्रवृत्ति है तथा कर्म के क्षयोपशम जन्य, मोक्षमार्ग की रुचि से जिसमें विशुद्धि प्राप्त हुई है और जो रागादि उपद्रवों से रहित है, वह भावशुद्धि है। इसके होने से आचार उसी तरह चमक उठता है जैसे स्वच्छ दीवाल पर आलेखित चित्र।

कायशुद्धि—यह कायशुद्धि आवरण, आभूषणों से रहित, शरीर संस्कार से शून्य, यथाजात रूप धारण करने वाली, अंगविकार से रहित और सर्वत्र यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्तिरूप है। यह मूर्तिमान प्रशम-सुख के समान है, क्षमा की मूर्ति है, वीतरागतारूपी लता की उत्पत्ति के लिये भूमि के समान है। इस कायशुद्धि के होने पर न तो दूसरों से अपनों को भय होता है, और न अपने से दूसरों को भय होता है।

विनयशुद्धि—अर्हंत आदि गुरुओं में यथायोग्य विनय रखना, गुरुओं के प्रति सर्वत्र अनुकूल वृत्ति रखना यह सब विनयशुद्धि है। यह विनयशुद्धि मानवों का भूषण है।

ईर्यापथशुद्धि—सूर्यप्रकाश और इन्द्रिय प्रकाश में अच्छी तरह देखकर गमन करना, इधर-उधर देखते हुये अर्थात् शीघ्रता पूर्वक गमन नहीं करना आदि ईर्यापथ शुद्धि है।

भिक्षाशुद्धि—आचार सूत्र कथित आहार को ग्रहण करना, लोक गर्हित कुलों का वर्जन करते हुये प्रासुक आहार लेना, दीनवृत्ति से रहित, दीन अनाथ, दानशाला, विवाह, यज्ञ, आदि के भोजन का परिहार करना तथा निर्दोष आहार ग्रहण करना भिक्षाशुद्धि है। इसकी विशद विवेचना पिण्डशुद्धि अधिकार में की जा चुकी है।

---

1. तस्य अपहृतसंयमस्य प्रतिपादनार्थः शुद्ध्यष्टकोपदेशो द्रष्टव्यः तद्यथा, अष्टौशुद्धयः—भावशुद्धि, कायशुद्धिः, विनयशुद्धि, ईर्यापथशुद्धि, भिक्षाशुद्धिः, प्रतिष्ठापनशुद्धिः, शयनासनशुद्धिः, वाक्यशुद्धिश्चेति। तत्त्वार्थवा.।

प्रतिष्ठापन शुद्धि—मल, मूत्र, नख, रोम, नाकमल, थूक आदि शरीर मल को निर्जंतुक जगह का अवलोकन करके क्षेपण करना प्रतिष्ठापन शुद्धि है ।

शयनासन शुद्धि—स्त्री, शूद्र, चोर, जुआरी आदि जनों से वर्जित और शृंगार, विकार, संगीत, वाद्य, नृत्य आदि से रहित स्थान में रहना । प्राकृतिक गिरि गुफा, वृक्ष की खोह, तथा शून्य मकानों में, स्वयं छोड़े गये या छुड़ाये गये मकानों में रहना जो कि अपने उद्देश्य से नहीं बने हुये हैं और अपने लिये कोई आरंभ नही किया गया हो ऐसे वसतिका आदि में सोना, बैठना शयनासन शुद्धि है ।

वाक्यशुद्धि—पृथ्वीकायिक आदि सम्बन्धी आरंभ की प्रेरणा से वर्जित, परुष–निष्ठुर, परपीड़ाकारी प्रयोगों से रहित, तथा व्रतशील आदि का उपदेश देने वाले, सर्वतः योग्य हितमित मधुर और मनोहर वचन प्रयोग करना ही वाक्य शुद्धि है ।

जिस प्रकार सूर्य की किरणें कमल को विकसित करती है उसीप्रकार निर्मलभावों से भावित यह विनयादि आठ प्रकार की शुद्धि पंचाचार को विशुद्ध करती है ।

उपेक्षा संयम—यह आत्मा टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाव है ऐसा चितवन करते हुये आत्मा में तन्मय हो जाते हैं तब मुनि को बाह्य दुखों का आभास भी नही हो पाता है । इस प्रकार से उपेक्षा संयम के द्वारा ये मुनि केवल ज्ञान आदि अनतचतुष्टय रूप लक्ष्मी को प्राप्त कर लेते हैं ।

विशेष—इस प्रकार अपहृत संयम और उपेक्षा संयम धारक मुनियों की अपेक्षा भी भेद देखा जाता है । वर्तमान में अपहृत संयम धारक ही मुनि हो सकते है ।
चारित्र की अपेक्षा भेद—वर्तमान में सामायिक, छेदोपस्थापना चारित्र के धारक ही मुनि हो सकते हैं । इनकी अपेक्षा भी मुनियों में भेद हो जाता है ।

सल्लेखना की अपेक्षा मुनियों में भेद——मनुष्य पर्याय का नाश होना मरण है। इस मरण के पांच भेद हैं ।

१–पंडितपंडितमरण, २ पंडित मरण, ३–बालपंडितमरण, ४– बालमरण, और ५– बालबाल मरण
पंडितपंडित मरण—— केवली भगवान पंडितपंडितमरण से मरण करते हैं अर्थात् केवली भगवान अयोगी होकर इस मनुष्य भव से छूटकर कर्मों से ही छूट जाते हैं, पुनः भव धारण नहीं करते हैं।
पंडित मरण——छठे गुणस्थान से लेकर ग्यारहवे गुणस्थान पर्यन्त रहने वाले जीवों का जो सल्लेखना मरण है वह पंडितमरण है ।

पंडित मरण के तीन भेद हैं——प्रायोगगमन, इंगिनी और भक्तप्रतिज्ञा । वर्तमान में भक्त प्रत्याख्यान नाम का एक सल्लेखना मरण ही माना गया है । उसमें भी उत्तम, मध्यम, जघन्य की अपेक्षा से अनुष्ठान करने वाले मुनियों में अनेकों भेद संभव हैं । सर्वकाल की अपेक्षा, पंडितमरण और

पंडितपंडितमरण की अपेक्षा दिगम्बर मुनियों में नाना भेद पाये जा सकते हैं। इसका विशेष खुलासा अनुत्तरोपपादिक दशांग में किया गया है। १

बालपंडितमरण—विरताविरत, देश संयत के मरण को बाल पंडितमरण कहते हैं।

बालमरण—अविरत सम्यग्दृष्टि का मरण बाल मरण है।

बाल बाल मरण—मिथ्यादृष्टि जीवों का मरण, अपघातआदि करके मरण यह सब बाल-बाल मरण है क्योंकि ये जीव बार-बार मरण करते ही रहते हैं।

चर्या की अपेक्षा भेद—

पुलाक—जिनका चित्त उत्तरगुणों की भावना से रहित है और व्रतों में भी क्वचित्, कदाचित् परिपूर्णता को प्राप्त नहीं कर पाते हैं अर्थात् पांच महाव्रतों में भी दोष लग जाते हैं बिना शुद्ध हुए किंचित् लालिमा सहित धान्य सदृश होने से वे पुलाक कहलाते हैं। २

इनके सामायिक और छेदोपस्थापना ये दो संयम पाये जाते हैं। श्रुत ज्ञान की अपेक्षा उत्कृष्ट रूप से य अभिन्नदश पूर्वी हो सकते हैं और जघन्य से आचार वस्तु मात्र के ज्ञाता होते हैं।

ये दूसरों की जबरदस्ती से पांच महाव्रत और रात्रि भोजनत्याग ऐसे छठे अणुव्रत इनमें से किसी एक की विराधना कर लेते हैं इसलिये पुलाक कहलाते हैं। ३

इस प्रसंग मे तत्वार्थवृत्ति में प्रश्न किया है कि—

प्रश्न—रात्रिभोजनत्याग का विराधक कैसे हो जाता है।

उत्तर—श्रावक आदिकों का इससे उपकार होगा, ऐसा सोचकर अपने छात्र आदि को रात्रि में भोजन करा देते हैं, इसलिए विराधक हो जाते है। ४

बकुश—जो निर्ग्रन्थ अवस्था को प्राप्त हैं, मूलगुणों को अखंडित निरतिचार पालते हैं, शरीर और उपकरण की शोभा के अनुवर्ती हैं, ऋद्धि और यश की कामना—रखते हैं, सता और गौरव

---

१. पायोपगमणमरणं भत्तपइण्णा य इंगिणी चेव।
तिविहं पंडियमरणं साहुस्स जहुत्तचारिस्स॥ मूलाराधना, २९
अप्पोवयारवेक्खं परोवयारूण मिंगिणी मरणं।
सपरोवयारहीणं मरणं पाओव गमण मिदि॥ गोम्मटसार कर्मकांड, ६१
भत्त पइण्णाइविहिं जहण्णमंतो मुहुत्तयं होदि।
बारस वरिसा जेठ्ठा तम्मज्झे होदि मज्झिमया॥ गोम्मटसार कर्मकांड, ६०

२. उत्तरगुण भावनापेत मनसो व्रतेष्वपि क्वचित्कदाचित् परिपूर्णतामपरिप्राप्नुवन्तः अविशुद्धपुलाक सादृश्यात् पुलाक व्यपदेशमर्हन्त। तत्वार्थ राज वार्तिक पृ० ६३६

३. पंचानां मूलगुणानां रात्रि भोजनस्य च पराभियोगात् बलादन्यतमं प्रतिसेवामानः पुलाको भवति।
तत्वार्थ राजवार्तिक, पृ० ६३८, तत्वार्थ सि० पृ० ४६१।

४. रात्रि भोजनस्यवर्जनस्य विराधकः कथमिति चेत्। उच्यते श्रावकादीना मुपकारोऽनेन भविष्यतीति छात्रादिकं रात्रौ भोजयतीति विराधकः स्यात्।

के आश्रित, परिवार शिष्यों से घिरे हुए हैं और छेद से जिनका चित्त शबल विक्षिप्त है वे मुनि वकुश कहलाते हैं । १

श्री पूज्यपाद स्वामी ने इन्हें विविध प्रकार के मोह से युक्त कहा है । तत्वार्थवृत्ति में "अविविक्तपरिवारा" पद का अर्थ असंयत शिष्यादि अर्थात् जो निर्ग्रन्थ पद में स्थित हैं, व्रतों में दोष नहीं लगाते हैं किन्तु शरीर, उपकरण, पिच्छी, कमंडलु, पुस्तक आदि की शोभा चाहते हैं, ऋद्धि यश, सुख और वैभव की आकांक्षा रखते हैं, असंयत परिवार (शिष्यों) से सहित हैं, अनुमोदन आदि विविध भावों से शबलचित्त हैं, वे वकुश कहलाते हैं । २

वकुश मुनि के दो भेद हैं— उपकरण वकुश और शरीर वकुश। उपकरणों में जिनका चित्त आसक्त है, जो नाना प्रकार के विचित्र परिग्रहों से युक्त हैं, बहुत विशेषता से युक्त उपकरणों के आकांक्षी हैं, उनके संस्कार और प्रतिकार को करने वाले हैं, ऐसे साधु उपकरण वकुश कहलाते हैं। शरीर के संस्कार को करने वाले शरीर वकुश हैं । ३

कुशील——कुशील मुनि के प्रतिसेवना और कषाय के उदय के भेद से अर्थात् प्रतिसेवना कुशील, कषाय कुशील दो भेद हैं ।

जो परिग्रह से अविविक्त-मुक्त नहीं हुए हैं मूलगुण और उत्तरगुण में परिपूर्ण हैं, किन्तु जिनके कथंचित् किसी अपेक्षा से उत्तरगुणों की विराधना भी हो जाती है वे प्रतिसेवना कुशील हैं । जो ग्रीष्म ऋतु में जंघाप्रक्षालन आदि कर लेने से अन्य कषायोदय के वशीभूत हैं, संज्वलन कषाय के आधीन हैं वे कषाय कुशील मुनि हैं ।४

प्रतिसेवना कुशील के सामायिक और छेदोपस्थापना ये दो ही संयम होते हैं । किन्तु कषाय कुशील के सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि और सूक्ष्मसांपराय ये चार संयम होते हैं ।

प्रतिसेवना कुशील मुनियों का भी उत्कृष्ट ज्ञान अभिन्नदश पूर्व तक है और जघन्य ज्ञान आठ प्रवचन माता का ही है ।

---

१. नैर्ग्रन्थ्य प्रस्थिताः अखंडितव्रता. शरीरोपकरणविभूषानुवर्तिनः ऋद्धियशस्कामाः सातगौर वाश्रिताः अविविक्तपरिवाराः छेदशबलयुक्ताः बकुशा. । तत्वार्थ राजवार्तिक पृ० ६३६.

२. निर्ग्रन्थतेस्थिता अविध्वस्तव्रता शरीरोपकरण ऋद्धिभूषण यश सुख विभूत्याकांक्षिण. अविविक्त परिच्छानुमोदन शबलयुक्ता वै ते बकुशा उच्यन्ते ।
अविविक्त शब्देन असयतः परिच्छदशब्देन परिवार. अनुमोदन मनुमतिः शबल शब्देन कर्बुरत्व तद्युक्ता बकुशा इत्यर्थः । तत्वार्थवृत्ति, पृ० ३१५

३. बकुशो द्विविधः—उपकरणबकुशः शरीर वा कुशश्चेति । तत्र उपकरणा भिष्वक्तचित्तो विविध विचित्र परिग्रहयुक्तः बहुविशेषयुक्तोपकरणकांक्षी, तत्संस्कार–प्रतिकार सेवीभिक्षुरूप करण बकुशो भवति । शरीर संस्कार सेवी शरीर बकुशः । तत्वार्थ वार्तिक, पृ० ६३८

४. कुशीला द्विविधा भवन्ति । कुतः ? प्रतिसेवनाकषायोदयभेदात् ।
अविविक्त परिग्रहाः परिपूर्णोभयाः कथंचिदुत्तर गुणविराधिनः प्रतिसेवना कुशीलाः ।
ग्रीष्मे जंघा प्रक्षालनादि सेवनाद्वशी कृतान्य कषयोदयाः संज्वलनमात्रतन्त्रत्वात्कषाय कुशीलाः ।तत्वार्थवार्तिक,पृ०६३९

वे मूलगुणों में विराधना न करते हुए उत्तरगुणों में किंचित् विराधना कर लेते हैं।

कषाय कुशील मुनियों का उत्कृष्ट ज्ञान चौदहपूर्व हैं और जघन्य आठ प्रवचन मातृका ही हैं। इनके द्वारा मूलोत्तर गुणों में विराधना सम्भव नहीं है।

निर्ग्रन्थ—जैसे जल में डंडे की लकीर तत्क्षण मिट जाती है। वैसे ही जिनके कर्मों का उदय व्यक्त नहीं है, मुहूर्त के अनन्तर ही जिनको केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रगट होने वाले हैं वे निर्ग्रन्थ साधु हैं। १

इनके यथाख्यात संयम ही होता है। उत्कृष्ट से इनका श्रुतज्ञान चौदहपूर्व है और जघन्य से वही अष्ट प्रवचन मातृका है। इनके मूलोत्तर गुणों में विराधना असम्भव है, चूंकि शुक्ल ध्यान में स्थित हैं।

स्नातक—ज्ञानावरण आदि घातिकर्मों के क्षय से जिनके केवलज्ञानादि अतिशय विभूतियां प्रगट हो चुकी हैं, जो सयोगी सम्पूर्ण अठारह हजार शीलों के स्वामी हैं, कृतकृत्य हो चुके हैं ऐसे केवली भगवान् स्नातक कहलाते हैं।

इनके भी एक यथाख्यात संयम ही है। इनके श्रुतज्ञान नहीं है क्योंकि पूर्ण केवल ज्ञान प्रगट हो चुका है।

ये पांचों प्रकार के मुनि प्रत्येक तीर्थंकरों के समय में होते हैं। ये पांचों मुनि भावलिंगी ही होते हैं। २

इनमें से पुलाक मुनियों को तीन शुभलेश्यायें ही होती हैं किन्तु बकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनियों के छहों लेश्याये भी हो सकती हैं। ३

तीन अशुभ लेश्यायें भी इन दोनों मुनियों के कैसे सम्भव हैं? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं। इन दोनों प्रकार के मुनियों में उपकरण की आसक्ति सम्भव होने से कदाचित आर्तध्यान सम्भव है और आर्तध्यान से वे अशुभलेश्यायें सम्भव हैं। ४

पुलाक मुनि उत्कृष्ट रूप से यदि स्वर्ग में जाते हैं तो बारहवें स्वर्ग के उत्कृष्ट स्थिति वाले देवों में जन्म ले सकते हैं। बकुश और प्रतिसेवना कुशील बावीस सागर की उत्कृष्ट स्थिति लेकर आरण

---

१. उदके दण्डराजिर्यथा आश्वेव विलयमुपयाति तथाऽनभिव्यक्तोदय कर्माणः
ऊर्ध्वं मुहूर्तादुद्भिद्यमान केवलज्ञानदर्शनभाजो निर्ग्रन्थाः। तत्त्वार्थवार्तिक पृ० ६३६।

२. भावलिङ्गं प्रतीत्य सर्वे पञ्च निर्ग्रन्थलिङ्गिनो भवन्ति

३. बकुश प्रतिसेवना कुशीलयोः षडपि।

४. षडपि कृष्णलेश्यादित्रितयं तयोः कथमिति चेदुच्यते —तयोरुपकरणासक्ति
संभवादार्तध्यानं कदाचित्संभवति आर्तध्यानेन च कृष्णादि लेश्यात्रितयं संभवतीति

और अच्युतकल्प जा सकते हैं। कषाय कुशील और निर्ग्रन्थ (ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती) तेंतीस सागर की आयु लेकर सर्वार्थसिद्धि में जन्म ले सकते हैं। स्नातक केवली तो मोक्ष ही जाते हैं। स्नातक के अतिरिक्त सभी प्रकार के मुनि जघन्य से कम से कम सौधर्म स्वर्ग में दो सागर की आयु वाले ऐश्वर्यशाली देव अवश्य होते हैं।

अतः इन पांच प्रकार के मुनियों के स्वरूप को अच्छी तरह से समझकर यह निर्णय करना चाहिये कि चतुर्थकाल में भी मूलगुणों में दोष लगाने वाले साधु हो सकते थे और आज भी पुलाक आदि मुनि विद्यमान हैं। ये पुलाक आदि मुनि सभी दिगम्बर भावलिंगी सन्त हैं।

जिनकल्पी और स्थविरकल्पी मुनि

जिनकल्प——जो उत्तम संहननधारी हैं, पैर में कांटा चुभ जाने पर अथवा नेत्र में धूलि आदि पड़ जाने पर जो स्वयं नहीं निकालते हैं, यदि कोई निकाल देता है तो मौन रहते हैं, जलवर्षा होने पर गमन रुक जाने से छह मास तक निराहार रहते हुए कायोत्सर्ग से स्थित हो जाते हैं, जो ग्यारह अंगधारी हैं, धर्म अथवा शुक्ल ध्यान में तत्पर हैं, अशेष कषायों को छोड़ चुके हैं, मौनव्रती हैं, कंदराओं में निवास करने वाले हैं, जो बाह्य और अभ्यंतर परिग्रह से रहित, स्नेहरहित निःस्पृही, यतिपति जिन के समान हमेशा विचरण करते हैं वे ही साधु जिनकल्प में स्थित हैं। १

स्थविर कल्प——जिनेन्द्र देव ने अनगार साधुओं को स्थविर कल्प भी बताया है। पांच प्रकार के (चेल) वस्त्र का त्याग करना, अकिंचनवृत्ति धारण करना और प्रतिलेखन पिच्छिका ग्रहण करना पांच महाव्रतों को धारण करना, स्थितिभोजन और एक भक्त करना, भक्ति सहित श्रावक के द्वारा दिया गया आहार कर-पात्र में ग्रहण करना, याचना करके भिक्षा नहीं लेना, बारह प्रकार के तपश्चरण में उद्युक्त रहना, छह प्रकार की आवश्यक क्रियाओं का पालन करना, क्षितिशयन करना, शिर के केशों का लोंच करना, जिनवर की मुद्रा को धारण करना, संहनन की अपेक्षा से इस दुषमा काल में पुर, नगर और ग्राम में निवास करना ऐसी चर्या करने वाले साधु स्थविर कल्प में स्थित हैं। ये वही उपकरण ग्रहण करते हैं कि जिससे मुनि (चर्या) चारित्र का भंग नहीं होवे। अपने योग्य पुस्तक आदि को ही ग्रहण करते हैं। ये स्थविर कल्पी साधु समुदाय

---

१. दुविहो जिणेहिं कहिओ जिणकप्पो तहय थविरकप्पो य।
जो जिणकप्पो उत्तो उत्तमसहणण धारिस्स ॥१६॥
जत्थ ण कंटकभग्गो पाए णयणम्मि रयपविट्ठम्मि।
फेडंति सयं मुणिणो परीवहारे य तुण्हिक्का ।२०।
जलवरिसणवा पाई गमणे भग्गे य जम्म छम्मासं।
अच्छंति णिराहारा कायोसग्गेण छम्मासं ।२१।
एयारसंगधारी एआई धम्मसुक्कझाणीय।
चत्तासेस कसाया मोणवई कंदरावासी ॥२२॥
बाहिरंतरगंथचुवा णिण्णेहा णिप्पिहा य जइवइणो।
जिण इव विहरंति सया ते जिणकप्पे ठिया सवणा ॥२३॥ भावसंग्रह

संघ सहित विहार करते हैं । अपनी शक्ति के अनुसार धर्म की प्रभावना करते हुये भव्यों को धर्मोपदेश सुनाते हैं और शिष्यों का संग्रह तथा उनका पालन भी करते हैं । १

इस समय संहनन अतिहीन है, दुःषमकाल है, मन चपल है, फिर भी वे धीरवीर पुरुष ही हैं जो कि महाव्रत के भार को धारण करने में उत्साही हैं । पूर्व में चतुर्थ काल में जिस शरीर से एक हजार वर्ष में जितने कर्मों की निर्जरा की जाती थी, इस समय हीन संहनन वाले शरीर से एक वर्ष में उतने ही कर्मों की निर्जरा हो जाती है ।

आज के युग में स्थविर कल्पी मुनि ही होते हैं चूंकि उत्तम संहनन नहीं है ।

अन्यत्र भी कहा है—

जिन कल्प संयमी :— जो जितेन्द्रिय साधु सम्यक्त्व रत्न से विभूषित हैं, एकाक्षर के समान द्वादशांग के ज्ञाता हैं, पांव में लगे हुये कांटों को और लोचन में गिरी हुई रज को न स्वयं निकालते हैं न दूसरों को निकालने के लिये कहते हैं, निरन्तर मौन रहते हैं, वज्रवृषभ नाराच संहनन के धारक हैं, गिरि की गुफाओं में, वनों मे, पर्वतों पर तथा नदियों के किनारे रहते हैं, वर्षाकाल में मार्ग को जीवों से पूर्ण समझकर षट्मास पर्यन्त आहार रहित होकर कायोत्सर्ग धारण करते है, परिग्रह रहित, रत्नत्रय विभूषित, मोक्षसाधन में निष्ठ, धर्म तथा शुक्ल ध्यान में निरत रहते हैं, जिनके स्थान का कोई निश्चय नहीं है तथा जो जिन भगवान के समान विहार करने वाले होते हैं ऐसे जिनकल्प जिनेन्द्र देव के सदृश संयम धारण करने वालों को जिनेन्द्र देव ने जिनकल्पी संयमी कहा है । यहां पर कल्प प्रत्यय ईषत्, असमाप्ति, किंचित्, अपूर्णता के अर्थ में हुआ है । २

थविरकप्पो वि कहिओ अणयाराणं जिणेण सो एसो ।
पचच्चेलच्चाओ अकिंचणत्त च पडिलिहणं ॥२४॥
पंचमहव्वय धरणं ठिदिभोयण एयभत्त करपत्तो ।
भत्तिभरेण य दत्तं काले य अजायणे भिक्खे ॥२५॥
दुविहतवे उज्जमणं छव्विहआवासयेहिं अणवरय ।
खिदिसयणं सिरलोओ जिणवरपडिरूवपडिगहणं ॥२६॥
सहणणस्स गुणेण य दुस्सम कालस्य तवपहावेण । पुरणयरगामवासी थविरे कप्पे ठियाजामा !! २७॥
उवयरणं तं गहियं जुण णं भंगो हवेहि चरियस्स । गहियं पुत्थदाणं जोग्गं जस्स तं तेण ॥२८॥
समुदायेन विहारो धम्मस्स पहावण ससत्तीए । भविआण धम्मसवणं सिस्साणं च पालणंगहणं ॥२९॥
संहणणं अइणिच्चं कालोसो दुस्समो मणो चवलो ।
तह विहु धीरा पुरिसा महव्वयभरधरण उच्छरिया ॥३०॥
वरिससहस्सेण पुरा जं कम्मं हणइ तेण काएण ।
तं संपई वरिसेण हु णिज्जरयइ हीणसंहणण ॥१३१॥ भावसंग्रह

१. अथाभिधीयते तावज्जिनकल्पाख्यसंयमः । मुक्तिकान्ता वरिष्यंप सोऽयं भुङ्क्ते यतो मुनि ॥१०४॥ भद्रबाहुचरित

२. ईषदसमाप्तः कल्पदेश्यदेशीयाः ॥५५६॥
ईषदपरिसमाप्तौ अर्थे कल्पदेश्य देशीय एते प्रत्ययाः भवन्ति ।
ईषदपरिसमाप्तः पटुः पटुकल्पः ॥कातन्त्ररूपमाला पृ० ११८॥

स्थविर कल्प संयमी :— जो जिनलिंग–नग्नमुद्रा के धारक हैं, सम्यक्त्व से जिनका हृदय क्षालित है, अट्ठाईस मूलगुणों के धारक हैं, ध्यान और अध्ययन में निरत हैं, पंचमहाव्रत और दर्शनाचार आदि पांच आचारों के पालन करने वाले हैं, दशधर्म से विभूषित, ब्रह्मचर्य में निष्ठ, बाह्य तथा अभ्यंतर परिग्रह से विरक्त हैं, तृण–मणि, शत्रु–मित्र आदि में समानभावी हैं मोह अभिमान और उन्मत्तता से रहित हैं, धर्मोपदेश के सयम बोलते है और शेष समय मौन रहते है, शास्त्र समुद्र के पारंगत हैं, इनमें से कितने ही अवधिज्ञान के धारक होते हैं तथा कितने ही मनःपर्यय ज्ञानी भी होते हैं । अवधिज्ञान के ना होने पर पांच गुण वाली सुन्दर पिच्छी प्रतिलेखन के लिए धारण करते हैं, संघ के साथ–साथ विहार करते हैं, धर्मप्रभावना तथा उत्तम शिष्यों के और वृद्ध साधुओं के रक्षण तथा पोषण में सावधान रहते हैं इसीलिए इन्हें महर्षि लोग स्थविर कल्पी संयमी कहते हैं ।

इस भीषण कलिकाल में हीन संहनन के होने से साधु स्थानीय नगर, ग्राम आदि के जिनालय में रहते हैं । यद्यपि यह काल दुस्सह है शरीर का संहनन हीन है, मन अत्यन्त चंचल है, और मिथ्यातम सारे संसार में विस्तीर्ण हो गया है, तो भी ये साधु संयम के पालन करने में तत्पर रहते हैं । १

चातुर्वर्ण्य संघ

चतुर्वर्ण :—श्रमण संघ से ऋषि, मुनि, यति और अनगार ऐसे चार भेद रूप साधु लिये जाते हैं ।२

१–**ऋषि :**–ऋद्धि को प्राप्त हुए साधु ऋषि कहलाते हैं । इनके भी चार भेद हैं । राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि और परमर्षि । विक्रिया ऋद्धि और अक्षीण ऋद्धिधारी राजर्षि है । बुद्धि ऋद्धि और औषध ऋद्धिधारी ब्रह्मर्षि हैं । गगन गमन ऋद्धि से सम्पन्न साधु देवर्षि कहलाते हैं । केवलज्ञानी भगवान परमर्षि कहलाते हैं ।

२–**मुनि :—** अवधिज्ञानी, मनपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी मुनि कहलाते हैं ।

३–**यति :—** उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी पर आरोहण करने वाले यति कहलाते हैं ।

४–**अनगार :—**सामान्य साधु अनगार कहे जाते है ।

चतुर्विध संघ :— मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इनको चतुर्विध संघ कहते हैं । (मुनि–आचार्य, उपाध्याय, साधु ये सभी मुनि शब्द से कहे जाते हैं ।)३

---

१. साम्प्रतं कलिकालेस्मिन्हीनसंहननत्वतः
स्थानीय नगर ग्राम जिनवृष निवासिनः ॥११९॥
कालोऽयं दुःसहो हीनं शरीरं तरलं मनः ।
मिथ्यामतमतिव्याप्तं तथापि संयमोद्यताः ॥१२०॥भद्रबाहुचरित परि०४॥

२. टीका०–श्रमण शब्देन श्रमणसंघं वाच्या ऋषि मुनियत्यनगारा ग्राह्याः ।
अथवा श्रमणधर्मानुकूल श्रावकादि चतुर्वर्णसंघः ॥प्रवचनसार टीका पृ० ३६५॥

३. उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स ।प्रवचन सार गा० २४९॥

श्रावक–श्राविका

श्रावक के पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक की अपेक्षा तीन भेद ग्रन्थों में बतलाये गये हैं।

पहली प्रतिमा से लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा तक श्रावक के ११ स्थान होते हैं। उनके दर्शन प्रतिमा आदि नाम हैं।

१ **दार्शनिक** :— जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध हैं, संसार शरीर और भोगों से विरक्त हैं, पंचपरमेष्ठियों के चरणों की शरण जिसे प्राप्त हुई है तथा आठ मूलगुणों को जो धारण कर रहा है वह दार्शनिक श्रावक है। यहां से पंचमगुणस्थान प्रारंभ होता है। यह नैष्ठिक श्रावक का पहला भेद है।

२ **देशव्रत** :— तीन शल्य से रहित, अतिचार से रहित पांचों अणुव्रतों को और सात शीलों को धारण करता है वह गणधर देवादिक व्रतियों के मध्य व्रतिक नाम का श्रावक माना गया है।

३ **सामायिक** :— जो चार बार तीन–तीन आवर्त करता है, चार प्रणाम करता है, कायोत्सर्ग से खड़ा होता है, दो बार बैठकर नमस्कार करता है, तीनों योगों को शुद्ध रखता है और तीनों संध्याओं में वन्दन करता है वह सामायिक प्रतिमाधारी है।[1]

४ **प्रोषधोपवास प्रतिमा** :— जो प्रत्येक मास के चारों पर्व के दिनों में अपनी शक्ति को न छिपाकर प्रोषध सम्बन्धी नियम को करता हुआ एकाग्रता में तत्पर रहता है वह प्रोषधोवास प्रतिमा–धारी है।

५ **सचित्तत्याग** :—जो दया की मूर्ति होता हुआ अपक्व–कच्चे, मूल, फल, शाक, शाखा करीर, कन्द, प्रसून और बीज को नहीं खाता वह सचित्त त्यागी है अथवा फल, शाक, शाखा आदि जो भक्ष्य वनस्पतियां हैं उन्हें छिन्न–भिन्न या अग्नि सिद्ध करके लेता है वह सचित्त त्यागी है। यद्यपि छिन्न–भिन्नादि करने में दयामूर्तित्व का विघात होता है तथापि इस प्रतिमा में इतनी सूक्ष्मता का विचार नहीं होता है। कुछ लोग कहने लगे हैं कि जो फल आदि वृक्ष से तोड़े गये हैं उनके जीव प्रदेश वृक्ष में चले गये। अतः वे अचित्त हैं। सचित्त त्यागी उन्हें छिन्न–भिन्न आदि किये बिना ग्रहण कर सकता है। परन्तु यह विचार शास्त्र संमत नहीं है क्योंकि फल, पत्ते आदि में सूक्ष्म बादर निगोदिया जीव राशि स्वीकार की गई है। वृक्ष या लता से तोड़े जाने पर भी उनमें (फल या पत्ते आदि में) जीव राशि विद्यमान रहती है उसकी अपेक्षा व सचित्त माने

---

१. आवर्त का लक्षण–कथिता द्वादशावर्ता वपुर्वचन चेतसाम् ।स्तवसामायिका भन्त परावर्तन लक्षणाः त्रिः संपुटि कृतो हस्तौ भ्रमयित्वा पठेत्पुनः ॥ साम्यं पठित्वा भ्रमयेत्त स्तवेऽप्येतदाचरेत् ॥शिरोनति का लक्षण– प्रत्यावृत्तत्रयं भक्त्या नम्नतं क्रियते ।शिरः यत्पाणि कुण्डलांके तत क्रियायां स्यात्चतु ।सामायिक भाष्य ॥

आते हैं । १

६ रात्रिभुक्ति त्याग :— जो जीवों पर दयालु चित्त होता हुआ रात्रि में अन्न, पेय, खाद्य और लेह्य—चाटने योग्य पदार्थ को नहीं खाता है वह रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमाधारी श्रावक है (कृत, कारित, अनुमोदना तथा मन, वचन, काय इन नौ कोटियों का त्याग होता है। न करता है, न कराता है और न करने वाले की अनुमोदना करता है)किन्हीं आचार्यों ने इस प्रतिमा का नाम दिवामैथुन त्याग रखा है अर्थात् दिन में मैथुन का त्याग होना (यहां भी नौ कोटिपूर्वक की अपेक्षा लिया गया है ।)

७ ब्रह्मचर्य :— शुक्र—शोणित रूप मल से उत्पन्न, मलिनता का कारण, मल—मूत्रादि को झराने वाले, दुर्गन्ध से सहित और ग्लानि को उत्पन्न करने वाले शरीर को देखता हुआ जो कामसेवन से विरत होता है वह ब्रह्मचर्य प्रतिमा का धारक है ।

८ आरम्भ त्याग :— जो प्राणघात के कारण सेवा, खेती तथा व्यापार आदि आरम्भ से निवृत्त होता है वह आरम्भ त्याग प्रतिमाधारी है ।

९ परिग्रह त्याग :— दश बाह्य वस्तुओं में ममता भाव को छोड़कर निर्ममत्व भाव में लीन होता हुआ जो आत्म स्वरूप में स्थित तथा संतोष में तत्पर रहा है वह सब ओर से चित्त में स्थित परिग्रह से विरत होता है ।

१० अनुमति त्याग :— निश्चय से खेती आदि के आरम्भ में, परिग्रह में अथवा इस लोक सम्बन्धी कार्यों में जिसके अनुमोदना नहीं है वह समान बुद्धि का धारक श्रावक अनुमति त्याग प्रतिमा धारी है ।

११ उद्दिष्ट त्याग :— जो घर से मुनियों के पास जाकर व्रत ग्रहण कर भिक्षा भोजन करता हुआ तपश्चरण करता है तथा एक खण्ड वस्त्र को धारण करता है वह उत्कृष्ट श्रावक है ।

इस ग्यारहवीं प्रतिमा धारी के दो भेद हैं— क्षुल्लक और ऐलक ।

क्षुल्लक :—

इनके हाथ में मयूर पिच्छिका और काष्ठ का कमण्डलु रहता है । लंगोटी और चादर रहती है । चादर(खंडवस्त्र)रूप अर्थात् कुछ छोटी रहती है । ऐसे दो लंगोटी और दो चादर रूप परिग्रह इनके पास रहता है । ये चाहें तो केशलोंच करें अथवा कैंची, उस्तरा आदि से केश निकाल सकते हैं । गुरू के पीछे जो गोचरी वृत्ति से जाकर श्रावक के यहां पड़गाहन विधि से

---

१. सुक्कं पक्कं तत्तंअबिल लवणेण मिस्सियं दव्वं ।
जं जंतेण य छिण्णं तं सव्वं फासुयं भणियं ।।
भक्षणेऽत्र सचित्तस्य नियमो न तु स्पर्शनम् ।
तत्स्वहस्ताविना कृत्वा प्रासुकं चात्र भोजयेत् ।।

पहुंचकर यथायोग्य भक्ति के बाद बैठकर करपात्र अथवा कटोरे में भोजन करते हैं । अन्य विधि भी कही गई है– गुरु की आज्ञा से ग्रहण किये हुए अपने पात्र को स्वच्छ कर चर्या के लिये श्रावक के घर में प्रवेश करते हैं । स्पर्श शूद्र भी क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण कर सकते हैं वे लोह पात्र लेकर– आंगन में ठहरकर धर्मलाभ कहकर भिक्षा लेते हैं । ऐसे मौन पूर्वक एक दो या पांच सात आदि घर से भिक्षा लेकर पश्चात किसी एक के घर में बैठकर आहार करके अपना पात्र प्रक्षालन कर गुरु के पास आ जाते हैं ।

क्षुल्लक, युवराज, साधक आदि नाम आगम में पाये जाते हैं । क्षुल्लक कोई उपाधि नहीं है । इसका अर्थ मुनि से छोटा, साधक, अविलम्ब मुनि बनने के उम्मीद वार को क्षुल्लक शब्द से कहा गया है ।

ऐलक :— उपर्युक्त व्रतों को पालते हुये दो लंगोटी मात्र परिग्रह रखते हैं । नियम से केशलोंच करते हैं और (पाणि–पात्र) अपने हाथ की अंजुलियों में खड़े होकर या बैठकर ही आहार करते हैं ।

क्षुल्लक एवं ऐलक एक ही हैं । इनमें मात्र एक कोपीन को धारण करने वाले को ऐलक कहा जाता है ।

क्षुल्लिका :— क्षुल्लिका भी एक धोती और एक चादर रखती हैं अर्थात् दो धोती चादर मात्र परिग्रह रहता है । मयूर पंख की पिच्छी और कमंडलु रखती हैं, क्षुल्लक के समान व्रतों का पालन करते हुये आर्यिकाओं के साथ में रहती हैं और प्रतिक्रमण आदि आवश्यक क्रियाओं में तत्पर रहती हैं ।

जिसके हिंसादि पांच पापां का त्याग रूप पक्ष है तथा जो अभ्यास रूप से श्रावक धर्म का पालन करता है वह पाक्षिक है ।

जिसका देश संयम पूर्ण हो चुका है और आत्मध्यान में लीन होकर समाधि मरण करता है वह साधक कहलाता है ।

सदोष मुनि

पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त, अवसंज्ञ और मृगचारित्र ये मुनि दर्शन, ज्ञान, चारित्र में नियुक्त नहीं हैं और मन्दसंवेगी हैं । १

पार्श्वस्थ :— जो संयत गुणों की अपेक्षा पास में रहता है किन्तु वसतिकाओं में आसक्त रहता है, मोह की बहुलता है, रात–दिन उपकरणों के बनाने में लगा रहता है, असंयतजनों की सेवा करता है

१. पासत्थो य कुसीलो संसत्तो सण्ण मिगचरित्तो य ।
दंसणणाण चरित्ते अणिउत्ता मंदसंवेगा ।।मूलाचार ।।६६६।।

और संयतजनों से दूर रहता है वह पार्श्वस्थ है।

यह संयम मार्ग के समीप ही रहता है। यद्यपि यह एकान्त से असंयमी नहीं है परन्तु निरतिचार संयम मार्ग का पालन भी नहीं करता है। निषिद्ध स्थानों में आहार लेता है, हमेशा एक ही वसतिका में रहता है। गृहस्थों के घर में अपनी बैठक लगाता है। गृहस्थोपकरणों से अपनी शौचादि क्रिया करता है। जिसका शोधन अशक्य है अथवा बिना शोधी हुई वस्तु को ग्रहण करता है। सुई, कैंची, नख छेदन का शस्त्र, चीमटा, उस्तरा, तीक्ष्ण करने का पत्थर रखता है, सीना, धोना, रंगना इत्यादि कार्यों में तत्पर रहता है वह पार्श्वस्थ मुनि है।१

कुशील :— जिसका आचरण अथवा स्वभाव कुत्सित है वह कुशील है। यह क्रोधादिक कषायों से कलुषित रहता है, व्रत, गुण और शील से हीन रहता है और संघ का अपयश कराने वाला होता है। (पूर्व में वर्णित बकुश, कुशील आदि मुनि मोक्षमार्गी हैं। यह कुशील संसार मार्गी है।)२

संसक्त :— जो असंयत के गुणों में अतिशय आसक्त रहता है, वह संसक्त है, यह आहार आदि की लम्पटता से वैद्यक, मन्त्र, जप, ज्योतिषी आदि के द्वारा अपनी कुशलता दिखाने में लगा रहता है, राजादिकों की सेवा करने में तत्पर रहता है।३

अवसंज्ञ :— जिसके सम्यग्दर्शन आदि संज्ञा अपगत–विनष्ट हो गई है वह अवसंज्ञ मुनि है। यह चारित्र आदि गुणों से शून्य है, जिन वचनों का भाव न समझने से यह चारित्रादि से भ्रष्ट है। तेरह प्रकार की क्रियाओं में आलसी रहता है, इनके मन में संसारिक सुख की इच्छा लगी हुई है।४

मृग चारित्र :— मृग के समान–पशु के समान जिनका आचरण है वे मृग चारित्र कहलाते हैं। ये मुनि आचार्य के उपदेश को नहीं सुनते हैं, स्वछंद प्रवृत्ति करते हैं, अकेला विचरण करते हैं, जिन सूत्र में दूषण लगाते हैं, तप व्रत आदि में अविनीत और धर्म रहित हैं अर्थात् जिन सूत्र में दूषण लगाते हैं। कैंची से केश निकालना ही योग्य है ऐसा कहते हैं, केशलोंच करने से आत्म विराधना होती है, 'सचित्ततृण पर बैठने पर भी मूलगुण पाला जाता है' उद्देशादिक (दोष रहित) भोजन करनादोषास्पद नहीं है, ग्राम में आहार के लिये जाने से जीव विराधना होती है अतः वसतिका में ही भोजन करनाचाहिये। इस प्रकार उत्सूत्र भाषण करने वाले को मृग चारित्र कहते हैं।५

---

१. संयत गुणेभ्यः पार्श्वे अभ्यासे तिष्ठतीति पार्श्वस्थः ।वसतिकादिप्रतिबद्धो मोहबहुलो रात्रिंदिवमुपकरणानां कारकोऽसंयत जनसेवी संयतेभ्यो दूरी भूतः ।।मू० टी० पृ० ४५०।

२. कुत्सितं शीलं स्वभावो वा यस्यासो कुशीलः क्रोधादि कलुषितात्मा व्रतगुणशीलैश्च परिहीनः संघस्या यश करण कुशल. ।।

३. सम्यगसंयतेष्वासंक्तःससक्त आहारादिगृद्धया वैद्यमंत्र ज्योतिषादि कुशलतेन प्रतिबद्धो राजादिसेवा तत्परः ।

४. ओसण्णोऽपगत संज्ञश्चारित्रा प्रहीनो जिनवचन मंजानञ्चारित्रादिप्रभ्रष्टः करणालसः सांसारिक सुखमानसः ।।

५. मृगस्येव पशोरिव चारित्रमाचरणं यस्यासौ मृगचारित्रः परित्यक्ताचार्योपदेशः स्वछन्दगति रेकाकी जिनसूत्र दूषणस्तपःसूत्राविनीतो धृतिरहित श्चेत्येते पञ्च पार्श्वस्था तीर्थ धर्माधकृत हर्षाः सर्वदा न वन्दनीया ।मूलाचार टीका० पृ० ४५०।। मूलाचार कुन्दकुन्दकृत पृ० ३०६

ये पार्श्वस्थ आदि साधु दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप की विनय से हमेशा दूर रहते हैं,इसलिये ये वन्दनीय नहीं हैं । ये हमेशा गुणी जनों के छिद्रों को देखने वाले हैं । संयतजनों के दोषों को प्रगट करने वाले हैं, इसलिये ये अवंद्य हैं ।१

इस प्रकार सामान्यतया शास्त्रानुसार साधुओं के भेद-प्रतिभेदों की विवेचना की है ।

दोहा — मोक्षमार्ग के मुनिन के भेदाभेद सुजान ।
पढ़कर करना आचरण पाओ सौख्य महान ।।
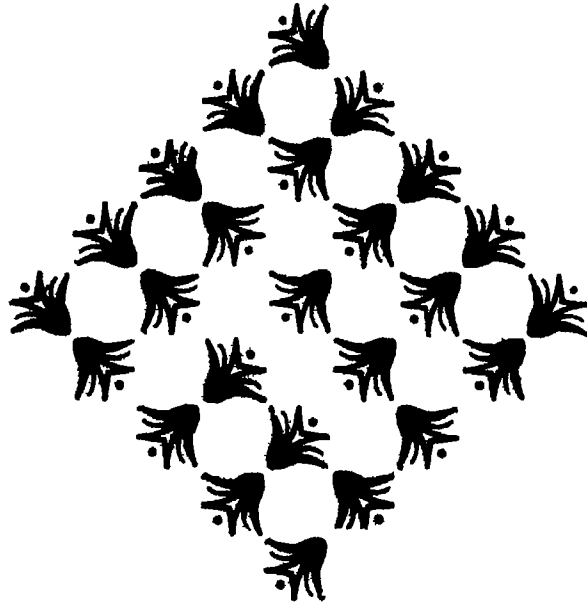
---

१. दंसणणाणे चरित्ते तवविणए णिच्चकाल पासत्था ।
एदे अवंदणिज्जा छिद्दप्पेही गुणधराणं ।।९७।।
छिद्रप्रेक्षिणः सर्वकालं गुणधराणां च छिद्रान्वेषिणः संयतजनस्य दोषोद्भाविनो अतो न वन्दनीया एतेऽन्ये च।

नैमित्तकक्रियाधिकार

संसार मार्ग से विमुख, मोक्षमार्ग पर अग्रसर, संसार शरीर भोगों से विरक्त, परम दिगम्बर, वीतरागी मुनिराज नित्य, नैमित्तिक क्रियाओं में किंचित् मात्र भी प्रमाद नहीं करते पूर्व में नित्य क्रियाओं की विवेचना की जा चुकी है। अब यहाँ पर कुछ नैमित्तिक क्रियाओं की चर्चा करना उपयुक्त है । विशेष पर्व एवं विशेष अवसरों पर कुछ विशेष क्रियायें भक्ति, पाठ आदि किये जाते हैं, वह नैमित्तिक क्रियायें कही जाती हैं । उनकी विवेचना निम्न प्रकार है–

चतुर्दशी क्रिया—

चतुर्दशी के दिन त्रिकाल देव वन्दना में चैत्यभक्ति करके श्रुतभक्ति की जाती है । फिर पंचगुरु भक्ति होती है । अथवा चैत्य-भक्ति के पहले सिद्ध भक्ति फिर चैत्यभक्ति, श्रुतभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति ऐसे वन्दना में पाँच भक्तियां की जाती हैं । यदि कदाचित् किसी धर्म प्रसंग, किसी की सल्लेखना आदि के प्रसंग में वैयावृत्ति आदि की बहुलता से धर्म प्रभावना आदि विशेष कार्यों के निमित्त चतुर्दशी की क्रिया न हो सके तो अमावस्या या पूर्णिमा को पाक्षिक क्रिया की जाती है । सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति और शांति भक्ति को पाक्षिकी क्रिया कहते हैं ।

अष्टमी क्रिया—

सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति इन चार भक्तियों द्वारा अष्टमी क्रिया होती है । इनमें चारित्र भक्ति सालोचना की जाती है । तब पाक्षिक प्रतिक्रमण में 'इच्छामिभंते, अट्ठामियम्मि आलोचेउं' इत्यादि पाठ प्रारम्भ करके जिन गुण सम्पत्ति होउमज्झं तक बोला जाता है ।

सिद्ध वन्दना क्रिया—

सिद्ध प्रतिमा की वन्दना करते समय साधु एक सिद्धभक्ति ही करते हैं ।

जिन वन्दना क्रिया—

जिन प्रतिमा की वन्दना में सिद्ध, चारित्र और शांति-भक्ति ही करते हैं ।

अपूर्वचैत्यवन्दनादि क्रिया—

अष्टमी आदि क्रियाओं के समय में ही अपूर्वचैत्यवन्दना और त्रैकालिक नित्यवन्दना का संयोग आकर उप-

पर्व-८ नैमित्तिक क्रियाधिकार

स्थित हो जाता है तो साधु सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति करते हैं।

६ पाक्षिक प्रतिक्रमण क्रिया—

पाक्षिक प्रतिक्रमण प्रत्येक मास की चतुर्दशी, पूर्णिमा या अमावस्या को करते हैं। इसमें पहले विधिवत् लघु सिद्ध, श्रुत, आचार्य भक्ति पूर्वक आचार्य की वन्दना करके सभी साधुगण आचार्य के साथ सिद्धभक्ति और चारित्रभक्ति पढ़ कर "इच्छामिभंतेपक्खियम्मि" इत्यादि आलोचना पढ़ते हैं। पुनः भगवान के सामने अकेले आचार्य लघुसिद्धभक्ति आलोचना सहित लघु योगभक्ति करके अपने दोषों की आलोचना करके प्रायश्चित्त लेते हैं। अनन्तर सभी शिष्य साधुगण पूर्वोक्त लघु सिद्धभक्ति, आलोचना, योगभक्ति करके, आचार्य भक्ति पढ़कर आचार्य वन्दना करके आचार्य से पन्द्रह दिन के अतिचारों का प्रायश्चित्त मांगते हैं। आचार्यवर्य शिष्यों को यथोचित प्रायश्चित्त देते हैं।

अनन्तर आचार्य सभी शिष्यों के साथ प्रतिक्रमण भक्ति कर कायोत्सर्ग तक क्रिया करते हैं। पुनः केवल आचार्य "थोस्सामि" से लेकर वीरभक्ति की प्रतिज्ञा तक प्रतिक्रमण दंडकों का उच्चारण करते हैं, पढते हैं और सभी शिष्य बैठे हुए एकाग्रमन से सुनते रहते हैं अनन्तर सभी साधु "थोस्सामि" इत्यादि दंडक पढ़कर आचार्य के साथ आगे की भक्तियाँ बोलते हैं। जिसमें वीरभक्ति, चतुर्विंशतितीर्थंकरभक्ति, चारित्रालोचनाचार्य भक्ति, बृहदालोचनाचार्य भक्ति और लघीयस्याचार्य भक्ति की जाती है। पाक्षिक प्रतिक्रमण में वीरभक्ति के समय ३०० उच्छ्वासों में कायोत्सर्ग किया जाता है। सम्पूर्ण विधिपूर्ण हो जाने पर सभी साधु विधिवत् तीन भक्ति पूर्वक आचार्य की वन्दना करते हैं।

७ चातुर्मासिक प्रतिक्रमण क्रिया—

इसमें यही पाक्षिक प्रतिक्रमण करते हैं। अन्तर केवल इतना है कि "सर्वातिचारविशुद्धयर्थं चातुर्मासिक प्रतिक्रमणक्रियायां" पाठ सर्वत्र बोला जाता है और वीरभक्ति में ४०० उच्छ्वासों में कायोत्सर्ग किया जाता है।

८ वार्षिक प्रतिक्रमण—

इस प्रतिक्रमण में "सांवत्सरिकप्रतिक्रमणक्रियायां पाठ सर्वत्र बोला जाता है और वीरभक्ति में ५०० उच्छ्वासों द्वारा कायोत्सर्ग किया जाता है।

पुनः व्रतारोपण आदि विषयक चार प्रतिक्रमणों में बृहदाचार्यभक्ति और मध्यमाचार्यभक्ति के अतिरिक्त पाक्षिक प्रतिक्रमण की ही सारी विधि की जाती है।

९ श्रुतपंचमी क्रिया—

श्रुतपंचमी के दिन साधुगण विधिवत् बृहत्सिद्धभक्ति और बृहत् श्रुतभक्ति करके श्रुतस्कंध की प्रतिष्ठापना करके श्रुतावतार के उपदेश को स्वीकार करके बृहच्छ्रुतभक्ति और बृहत् आचार्यभक्ति पढ़कर स्वाध्याय प्रारम्भ करते हैं पुनः बृहत्श्रुतभक्ति पूर्वक स्वाध्याय की समाप्ति करके शांतिभक्ति का पाठ करते हैं।

सिद्धांतवाचना और आचारवाचना में यही विधि होती है। अर्थात् बृहत्सिद्धभक्ति और बृहत्-श्रुत भक्ति पढ़कर सिद्धांतवाचना की प्रतिष्ठापना करके बृहत्श्रुत और बृहदाचार्य भक्ति पूर्वक स्वाध्याय स्वीकार कर उपदेश देते हैं। पुनः श्रुतभक्ति के द्वारा स्वाध्याय समाप्त कर अन्त में शांति भक्ति बोलकर क्रिया समाप्त करते हैं। शुद्ध व्यवहार के अनुसार आचारवाचना में भी यही विधि की जाती है।[1]

साधुगण सिद्धांत के प्रत्येक अर्थाधिकार के अन्त में कायोत्सर्ग करते हैं तथा प्रत्येक अर्थाधिकार के अन्त में और आदि में सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और आचार्य भक्ति करते हैं। वाचना के दिन में भी यही क्रिया करते हैं। जहाँ वाचना की गई है उस स्थान पर दूसरे, तीसरे आदि दिन अति भक्ति प्रगट करने के लिए छह-छह कायोत्सर्ग करते हैं। यह क्रिया सिद्धांत और उसके अर्थाधिकार के प्रति उत्तम बहुमान प्रदर्शित करने के लिए कही गई है, अतएव यह क्रिया अपनी शक्ति के अनुसार करनी चाहिये।

१० संन्यास प्रारम्भ की क्रिया—

बृहत्सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति बोलकर सन्यास प्रतिष्ठापना (ग्रहण) करते है। सन्यास के आदि और अन्त के दिनो को छोड़कर मध्य के दिनों में बृहत्सिद्धभक्ति, बृहदाचार्य भक्ति के द्वारा स्वाध्याय करके बृहत्श्रुत भक्ति के द्वारा उसका निष्ठापन करते हैं। सन्यास के अन्त में क्षपक की समाधि हो जाने पर सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति करके शांतिभक्ति पूर्वक संयास की निष्ठापना कर देते है।[1]

रात्रियोग या वर्षायोग आदि अन्यत्रग्रहण कर चुके हैं तो भी परिचारक साधु पहले दिन स्वाध्याय की प्रतिष्ठापना करके उस सन्यास वसति में ही सोवें ऐसा कथन है।

जो स्वाध्याय को ग्रहण नहीं करने वाले श्रावक हैं वे सन्यास ग्रहण के प्रथम दिन और अंतिम दिन सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और शांतिभक्ति करते हैं।

११-नन्दीश्वर क्रिया—

आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुन महीने की अष्टमी से लेकर पूर्णमासी पर्यंत प्रतिदिन साधुगण आचार्य के साथ मध्यान्ह में पौर्वान्हिक्-स्वाध्याय को समाप्त करके सिद्धभक्ति नन्दीश्वर भक्ति पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति के द्वारा अष्टान्हिक् क्रिया करते हैं। नन्दीश्वर भक्ति करते हुये तीन प्रदक्षिणा भी करने का विधान है।

१२-वंदन अभिषेक क्रिया—

जिनेन्द्र देव के महाअभिषेक के दिन सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पचगुरुभक्ति और शान्तिभक्ति करके वंदना करते हैं।

---

१. सन्यासारंभकाले भक्ति सिद्धश्रुतसंज्ञके । कृत्वागृहीतसन्यासंवेगाङ्कितमानसः ॥
श्रुताचार्याभिधे भक्ती दत्वा स्वाध्यायमुत्तमम् ।
गृहीत्वा श्रुतभक्त्यन्ते युक्त्या निष्ठापयन्मुदा ॥
स्वाध्यायग्रहणे ज्ञेयाः सन्यासस्यमहामुने
महाश्रुतमहाचार्यभक्त्या श्रुतभक्त्यः ॥मूलाचार प्रदीप पृ० १२२

१३ मंगलगोचर मध्यान्ह वंदना क्रिया—

वर्षायोग ग्रहण और विसर्जन के प्रसंग में मंगलगोचर मध्यान्ह वंदना होती है अर्थात् आषाढ़ सुदी तेरस के दिन साधु मंगलार्थ गोचरी करने के पहले मध्यान्ह काल में अभिषेक क्रिया में की जाने वाली सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति करके मध्यान्ह वंदना करते हैं। सिद्धांत शास्त्र के स्वाध्याय में सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, आचार्यभक्ति और शान्तिभक्ति करना चाहिए इसे ही मंगलगोचर मध्यान्ह वंदना कहते हैं। १

१४ मंगलगोचर प्रत्याख्यान क्रिया—

आहार ग्रहण करने के पश्चात् आकर आचार्य आदि सभी साधु मिलकर बृहत्सिद्धभक्ति, बृहत्योगभक्ति करके गुरु से भक्त प्रत्याख्यान उपवास ग्रहण करके बृहत् आचार्य भक्ति द्वारा आचार्य की वंदना करके शांति भक्ति करते हैं। यही विधि कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी को भी करते हैं। चूंकि वर्षायोग ग्रहण करने के लिए आषाढ़ सुदी चौदस का उपवास करते हैं और वर्षायोग निष्ठापन करने के लिए कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी का उपवास करते हैं। २

१५ वर्षायोग प्रतिष्ठापन क्रिया—

प्रत्याख्यान प्रयोगविधि के अनन्तर त्रयोदशी के मंगलगोचर प्रत्याख्यान ग्रहण करने के बाद आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी की पूर्वरात्रि में साधु वर्षायोग प्रतिष्ठापन करते हैं। आचार्य आदि सभी साधु मिलकर सिद्धभक्ति और योगभक्ति करके "यावंतिजिनचैत्यानि" इत्यादि श्लोक बोलकर वृषभजिन और अजितजिन की स्तुति "स्वयभुवा भूतहितेन भूतले" इत्यादि स्तोत को बोलकर अंचलिका सहित "वर्षेषु वर्षान्तरपर्वतेषु" इत्यादि चैत्यभक्ति करके पूर्वदिक् चैत्यालय की वंदना करते हैं। ऐसे ही "यावंति जिनचैत्यानि" पुनः बोलकर संभव जिन और अभिनन्दन जिन को "त्वंसंभवः" इत्यादि स्तुति पढ़कर अंचलिका सहित वर्षेषु वर्षान्तरपर्वतेषु इत्यादि चैत्यभक्ति पढ़के दक्षिणदिक् चैत्यालय की वन्दना करते हैं। इसी तरह सुमति और पद्मप्रभुजिन की स्तुति पूर्वोक्त चैत्यभक्ति करके पश्चिमदिक् और सुपार्श्व-चन्द्रप्रभु जिन की स्तुति पूर्वक चैत्यभक्ति करके उत्तरदिक् चैत्यालय की वन्दना करते हैं। साधु भाव से चारों दिशाओं की प्रदक्षिणा करते हैं। ३

---

१. वर्षायोगग्रहणविसर्जनयोः मंगलगोचरे-मंगलार्थगोचरे मध्यान्हवन्दना मंगलगोचर-मध्यान्ह वन्दना। अनगार धर्मा० ८-६४
भवेन्मंगलगोचारमध्यान्हे स्नपनस्तवः। सवर्षाकालयोगस्याधानतिष्ठापनेऽपि तु ॥ ७४
योगभक्तिर्भवेदत्र सिद्ध भक्तेरनन्तरम्। सिद्धांत वाचनायाः श्रुतपंचम्याः क्रियोदिताः ॥ ७५ आचार सार

२. लात्वा बृहत्सिद्धयोगिस्तुत्या मंगलगोचरे।
प्रत्याख्यानं बृहत्सूरिशान्ति भक्ति प्रयुञ्जताम् ॥ अ० ध० ९--६५

३. ततश्चतुर्दशी पूर्वरात्रे सिद्धमुनिस्तुति ।
चतुर्दिक्षु परीत्याल्पाश्चैत्य भक्तिर्गुरुस्तुतिम् ॥६६॥
शान्ति भक्तिं च कुर्वाणै वर्षायोगस्तु गृह्यताम्
ऊर्जकृष्णचतुर्दश्यां पश्चाद्रात्रौ च मुच्यताम् ॥६७॥
चतुर्दशीपूर्वरात्रे आषाढशुक्लचतुर्दश्या रात्रेः प्रथमप्रहरोद्देशे ॥अनगारधर्मा० ९–६६।६७।

और चारों दिशाओं में योग–तंदुल पीताक्षत प्रक्षेपण करते हैं ।

पुनः साधु पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति करते हैं । इस विधि से वर्षायोग ग्रहण करके (उस ग्राम के चारों तरफ कुछ मीलों की सीमा निश्चित करके) विधि समाप्त करते हैं ।

१६. वर्षायोग समापन विधि :—

कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की पिछली रात्रि में सभी साधु पूर्वोक्त विधि से वर्षायोग निष्ठापन कर देते हैं । अन्तर केवल इतना ही है कि वर्षायोग ग्रहण विधि में "अथ वर्षायोगप्रतिष्ठापन-क्रियायां —सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं" बोलते हैं– और वर्षायोग समापन में– "अथ वर्षायोग निष्ठापन क्रियायां–सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं" बोलते हैं । बाकी सारी विधि वही की जाती है ।१

१७. वर्षायोग काल की व्यवस्था :—

वर्षायोग के सिवाय दूसरे समय– हेमन्त ऋतु आदि में भी श्रमण संघ को किसी भी एक स्थान या नगर में एक महीने तक निवास करना चाहिये तथा वर्षायोग के लिये जहाँ जाना है, वहाँ आषाढ़ में पहुंच जाना चाहिये और मगसिर महीना पूर्ण होने पर उस क्षेत्र को छोड़ देना चाहिये। यदि कोई विशेष प्रसंग आ जावे तो श्रावण कृष्ण चतुर्थी तक वर्षायोग स्थान पर पहुंच जाना चाहिये, परन्तु इस तिथि का उल्लंघन नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार वर्षायोगनिष्ठापना यद्यपि कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की पिछली रात्रि में हो जाती है, फिर भी कार्तिक शुक्ला पंचमी के पहले विहार नहीं करना चाहिये । श्रावण कृष्णा चतुर्थी के बाद और कार्तिक शुक्ला पंचमी के पहले वर्षायोग के काल में यदि कदाचित् दुर्निवार उपसर्ग आदि प्रसंगों से स्थान छोड़ना पड़े तो प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए । २

१८. वीरनिर्वाण क्रिया :—

साधुगण कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी की पिछली रात्रि में वर्षायोग निष्ठापन करके सूर्योदय के समय सिद्ध भक्ति, निर्वाण भक्ति, पंचगुरुभक्ति, और शांतिभक्ति पूर्वक वीरनिर्वाण क्रिया करते है । इसकी प्रयोगविधि— "अथ वीरनिर्वाणक्रियायां—सिद्धभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहं" इत्यादि प्रकार से निर्वाण क्रिया करके साधु और श्रावक नित्यवंदना (सामायिक) करते हैं । ३

---

१. मुञ्चतां च निष्ठाप्यतां वर्षायोगः श्रमणैस्तेनैव विधानेन ।
क्व ? पश्चाद्रात्रौ पश्चिमयामोद् देशे । कस्यां ? उर्जकृष्णचतुर्दश्यां कार्तिककृष्ण चतुर्दशीतिथौ ।।अनगार धर्मामृत ९–६६,६७।।

२. मासं वासोऽन्यदैकत्र योगक्षेत्रे शुचौ व्रजेत् ।
मार्गेऽतीते त्यजेच्चार्थवशादपि न लंघयेत ।।
नभश्चतुर्थी तद्याने कृष्णांशुक्लोर्जपंचमी ।
यावन्नगच्छेत्तच्छेदे कथंचिच्छेदमाचरेत् ।।

३. वर्षायोगनिष्ठापने कृते सति—वीरनिर्वाणक्रिया कर्तव्येत्यर्थः अतः एतत्क्रियान्तरं कृत्वा कर्तव्या ।
कासो ? नित्यवन्दना श्रमणैः श्रावकैश्च ।।अनगार धर्मामृत ९–६८,६९,७०।।

१. पंचकल्याणक क्रिया :—

तीर्थंकर भगवान का गर्भ कल्याणक और जन्मकल्याणक जब हो तब साधु और श्रावक सिद्ध भक्ति, चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति पढ़कर क्रिया करते हैं ।

निष्क्रमण कल्याणक में सिद्ध, चारित्र, योग और शांतिभक्ति करते हैं । १

केवल ज्ञानकल्याणक में सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योग और शांतिभक्ति तथा निर्वाण कल्याणक में सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योग, निर्वाण और शांति भक्ति करते हैं ।

निर्वाण कल्याणक क्रिया में निर्वाण भक्ति पढ़ते समय तीन प्रदक्षिणा भी दी जाती हैं । २

प्रयोग विधि— "अथ वृषभदेवजिनगर्भकल्याणक क्रियायां सिद्धभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहं"। ऐसे ही सर्वत्र समझना ।

तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण कल्याण से पवित्र क्षेत्रों की वंदना में भी उपर्युक्त भक्तिपाठ बोलकर वंदना करते हैं ।

यथा— "अथ पार्श्वनाथजिननिर्वाणकल्याणकनिषद्यावंदनायां—सिद्धभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहं" इत्यादि ।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के अवसर में गर्भ, जन्म आदि कल्याणकों के अवसर में भी उपर्युक्त विधि से भक्तिपाठ करते हुये वंदना करते हैं ।

२०. मुनि के शरीर की और निषद्या की क्रिया :—

मुनि मरण को प्राप्त हो जाये तो उनके शरीर की वंदना करने में अथवा जहाँ पर उनका संस्कार किया जाता है उसे निषेधिया या निषद्या कहते हैं । उसकी वंदना करने में भक्ति का विधान बताते हैं ।

सामान्य मृत साधु के शरीर की या निषद्या की वंदना में साधु सिद्धभक्ति, योगभक्ति, और शांतिभक्ति पढ़ते हैं । सिद्धान्त वेत्ता साधु के शरीर या निषद्या की वंदना में सिद्ध, श्रुत, योग और शांति ये चार भक्तियाँ करते हैं । उत्तरगुणधारी साधु के शरीरादि की वंदना में सिद्ध,चारित्र योग और शांति भक्ति पढ़ते हैं । यदि ये सिद्धान्त वेत्ता भी हैं तो सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योग और शांतिभक्ति करते हैं । आचार्य के शरीर या निषद्या वंदना में सिद्ध, योग, आचार्य और शान्तिभक्ति पढ़ते हैं । यदि आचार्य सिद्धान्त वेत्ता हैं तो सिद्ध, श्रुत, योग, आचार्य और शान्ति भक्ति से वंदना करते हैं और यदि आचार्य सिद्धान्त वेत्ता और उत्तरगुणधारी भी हैं तो उनके

---

१. योगभक्त्या परीतिश्च परिनिष्क्रमणं क्रिया । आचारसार प्र० २४०

२. परिनिर्वाणभक्त्या तु सि:शरीरस्यक्रिया भवेत् ॥

शरीर या निषद्या की वंदना में सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योग, आचार्य और शान्तिभक्ति पढ़कर वंदना करते हैं ।

प्रयोग विधि— "अथ आचार्यशांतिसागर शरीरवंदनायां—सिद्धभक्ति—कायोत्सर्गं करोम्यहं" इत्यादि । यह शरीर की वंदना तो साधु का समाधिमरण होने के बाद तत्काल ही की जाती है। अथवा उनकी निषद्या वंदना में—

"अथ आचार्यशांतिसागर निषद्यावंदनायां—सिद्धभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहं" इत्यादि ।

२१. जिन प्रतिमा की प्रतिष्ठा में वंदना क्रिया :—

स्थिर जिन प्रतिमा की प्रतिष्ठा अथवा चल जिन प्रतिमा की प्रतिष्ठा के समय सिद्धभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर वंदना की जाती है ।

जिन भगवान की चल प्रतिमा की प्रतिष्ठा के चतुर्थ-दिन के अभिषेक के समय सिद्धभक्ति चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति पढ़कर वंदना की जाती है । तथा स्थिर प्रतिमा के प्रतिष्ठा के चतुर्थ दिन के अभिषेक के समय सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, बृहदालोचना और शान्ति भक्ति बोलकर वंदना की जाती है । यह क्रिया साधुओं के लिए है । जो स्वाध्याय को ग्रहण नहीं करने वाले श्रावक होते हैं वे चल, स्थिर जिनप्रतिम की प्रतिष्ठा में उपर्युक्त भक्तियाँ पढ़ें अर्थात् सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति करें किन्तु चारित्र भक्ति मे जो आलोचना है, उसको नहीं पढ़ें ।

केशलोंच क्रिया :—
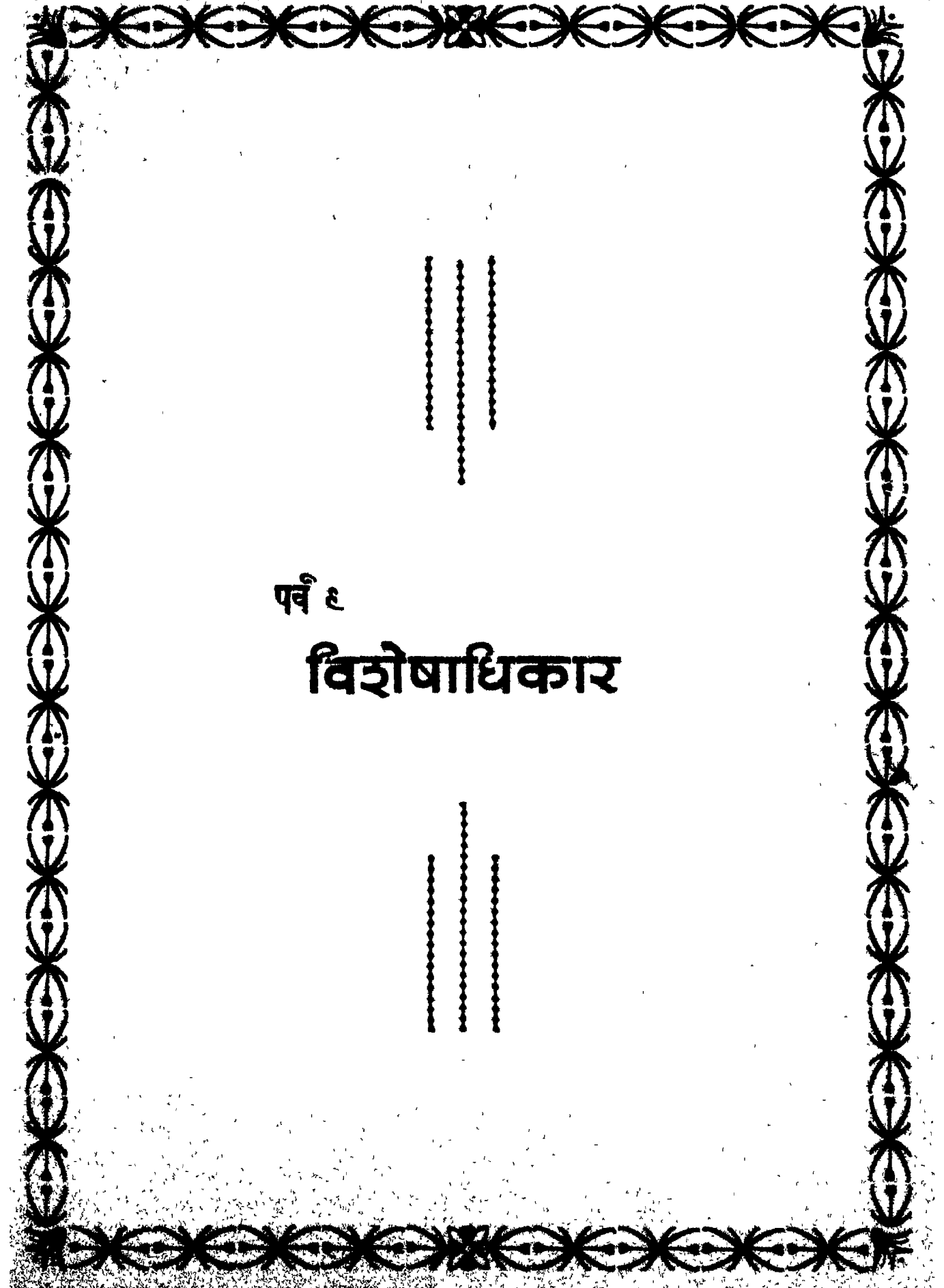
साधु अपने शिर और दाढ़ी मूछ के केशों को हाथ से उखाड़ते हैं इसी का नाम केशलोंच है । इसके उत्तम, मध्यम और जघन्य भेद हैं ।

दो महीने में किया गया लोंच उत्कृष्ट है, तीन महीने में किया गया मध्यम और चार मास में किया गया जघन्य है । लोंच के दिन उपवास करके साधु लघु सिद्धभक्ति और लघु योग भक्ति करके मौन पूर्वक लोंच करते हैं और अन्त में लघुसिद्धभक्ति पूर्वक समाप्त कर देते हैं ।

प्रयोग— "अथ केशलोंचप्रतिष्ठापन क्रियायां—सिद्धभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहं" इत्यादि । समाप्ति में प्रतिष्ठापन के स्थान पर निष्ठापन शब्द बोलते हैं ।

विशेष— सभी क्रियाओं के अन्त में हीनाधिक दोष की विशुद्धि के लिये समाधिभक्ति अवश्य की जाती है । कहा भी है—

हीनाधिक दोष की विशुद्धि के लिये सर्वत्र सभी क्रियाओं की समाप्ति में प्रियभक्ति-समाधि भक्ति पढ़ी जाती है । १

---

१. ऊनाधिकविशुद्ध्यर्थं सर्वत्र प्रिय भक्तिका । अनगार धर्मामृत प्र० ६६०

पर्व ९

विशेषाधिकार

२१. योगी की वंदना क्रिया :—

प्रतिमायोग धारी, सूर्य की तरफ मुख करके ध्यान करने वाले साधु योगी कहलाते हैं। भले ही वे दीक्षा में लघु हों फिर भी अन्य साधु उनकी वंदना करते हैं। उनकी सिद्धभक्ति, योग भक्ति, और शांतिभक्ति द्वारा वंदना करते हैं। योगभक्ति पढ़ते-पढ़ते उन योगी की तीन प्रदक्षिणा भी देते हैं। १

क्योंकि चैत्य वन्दना, निर्वाण वन्दना, योगिवन्दना और नन्दीश्वर वन्दना करते समय उन-उन भक्तियों को पढ़ते हुए साधुगण प्रदक्षिणा दिया करते हैं। २

---
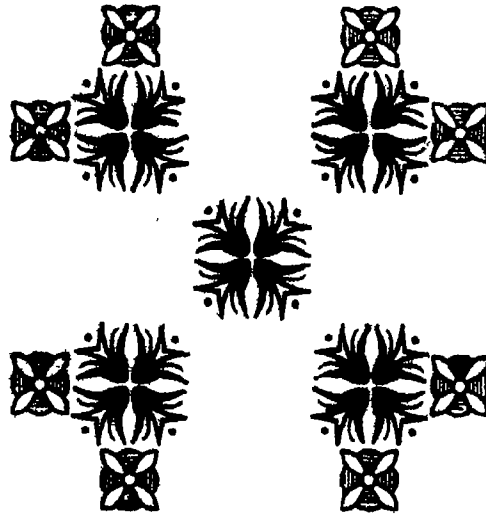
१. लघीयसोऽपि प्रतिमायोगिनो योगिनः क्रियाम्।
कुर्युः सर्वेऽपि सिद्धर्षिशान्तिभक्तिभिरादरात्॥ अनगार धर्मामृत, ९–७२।

२. वंदते चैत्यनिर्वाणयोगिनन्दीश्वरेषु हि।
वन्द्यमानेष्वधीयानैस्तत्तद् भक्तिं प्रदक्षिणा॥ अनगार धर्मामृत, ८–९२

* विशेषाधिकार *

दोहा— वैराग्यभाव हित हेतु कुछ, वर्णन करूँ विशेष ।
निज पर का उपकार हो, रहे राग नहीं लेश ॥

आचारांग विषय के अन्तर्गत अभी तक दीक्षाविधि, मूलोत्तरगुण परिसर, पंचाचार, समाचार नीति, पिंडशुद्धि, भावनाधिकार एवं भेदाधिकार आदि के माध्यम से संसार, शरीर, भोगों से विरक्त, आत्म स्वरूप में अनुरक्त, भेद–विज्ञानी, रत्नत्रय से विभूषित, यतिवरों के अभ्यंतर एवं बाह्य आचरण की विवेचना की गई है । इस विशेषाधिकार में वैराग्य–वर्धक द्वादश अनुप्रेक्षा, विशेष अवसरों पर होने वाली नैमित्तिक क्रियायें एवं पूर्व वर्णित क्रियाओं का अंश तथा प्रकरणीय क्रियाओं की विवेचना की जा रही है ।

देव, धर्म, गुरु को नमूँ, भावन बारह भाय ।
भवि हित को वर्णन करूँ, भावन को चित लाय ॥

द्वादस अनुप्रेक्षा– (बारह भावना)

मोक्ष लक्ष्मी के सावरण करने के जिज्ञासु महा मनीषी मुनिराज वैराग्यवृद्धि एवं रत्नत्रय संवर्धन हेतु अहर्निश द्वादश भावनाओं का चितवन करते हैं । संक्षिप्त में उन द्वादश अनुप्रेक्षाओं की विवेचना यहां पर की जा रही है ।

अनुप्रेक्षा का लक्षण—

अनुप्रेक्षाओं या बारह भावनाओं के पहले यह समझ लेना भी परमोपयोगी है कि अनुप्रेक्षा किसे कहते हैं । अनुप्रेक्षा का लक्षण आचार्यों ने निम्नप्रकार किया है । अनु — प्रेक्षा, अनु का अर्थ पुनः पुनः या बार–बार है और प्रेक्षा का अर्थ चितवन या भावना है । अर्थात् वस्तु स्वरूप की उपलब्धि के लिये हेयोपादेयरूप पदार्थों का पुनः–पुनः चितवन अनुप्रेक्षा है ।

तत्वार्थ सूत्रकार ने नौवें अध्याय के सप्तम सूत्र में लिखा है कि बारह प्रकार के कहे गये तत्व का पुनः-पुनः चिंतवन करना अनुप्रेक्षा है। १

सर्वार्थसिद्धि एवं राजवर्तिककार ने लिखा है, शरीर आदि के स्वभाव का पुनः–पुनः चिंतवन करना अनुप्रेक्षा है। २

अथवा जाने हुये अर्थ का मन में अभ्यास करना अनुप्रेक्षा है। ३

तत्वार्थसार एवं चारित्र सार में कहा है कि कर्मों की निर्जरा के लिए अस्थि, मज्जा, अनुगत अर्थात् पूर्ण रूप से हृदयंगम हुए श्रुतज्ञान के परिशीलन करने का नाम अनुप्रेक्षा है।

धवलाकार ने भी कहा है—

सुने हुये अर्थ का, श्रुत के अनुसार चिंतवन करना अनुप्रेक्षा है।

स्वामीकार्तिकेय के अनुसार अनुप्रेक्षाओं के नाम निम्न प्रकार विवक्षित हैं—

> अद्धुवअसरण भणिया संसारामेगमण्णमसुइत्तं।
> आसव-संवर णामा णिज्जर लोयाणुपेहाओ ॥ २"
> इय जाणिऊण भावह दुल्लह धम्माणु भावणा णिच्चं।
> मण-वयण-काय सुद्धी एदा दस दो य भणिया हु ॥ ३"

अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म ये बारह अनुप्रेक्षाओं के स्वरूप को समझकर विशुद्ध, मन, वचन, काय से निरंतर इन्हें भाना चाहिये।

अध्रुव (अनित्य) भावना

विश्व में जड़-चेतन, राजा-रंक, धन-वैभव, मित्र आदि नित्य नहीं हैं इस प्रकार का निरन्तर चिंतवन करना अनित्य भावना है।

> राजा व रंक धन भी तन मित्र जो हैं, ये नित्य नाँहि, पल में सब ही विलो हैं।
> ज्यों देखते नशत हैं नभ मेघ माल, चैतन्य चेत जड़ को मत रे संभाल ॥

बारस अनुप्रेक्षा में इसका निश्चय स्वरूप निम्न प्रकार बताया है— शुद्ध निश्चय नय से आत्मा के स्वरूप का सदैव इस तरह चिन्तवन करना चाहिये कि यह देव, मनुष्य, असुर और राजा आदि के विकल्पों से रहित है। इसमें देवादिक भेद नहीं है— ज्ञान स्वरूप मात्र है और सदा स्थिर रहने वाला है। ४

राजवार्तिक में कहा है—

उपात्त और अनुपात्त द्रव्य संयोगों का व्यभिचारी स्वभाव अनित्य है। ५

---

१. स्वाख्याततत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा। त० सू० ।९।७
२. शरीरादीनां स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा।
३. अधिगतार्थस्य मनसाभ्यासोऽनुप्रेक्षा। स. सि. ९।२५।४४१
४. परमट्ठेण दु आदा देवासुरमणुव रायविविहेहिं।
   वदिरित्तो सो अप्पा सस्सदमिदि चिंतये णिच्चं ॥ बा० अ० ७
५. उपात्तानुपात्त द्रव्य संयोगव्यभिचारस्वभावोनित्यत्वम्। रा० वा० ९।७।६००

बृहद्द्रव्य संग्रह में भी कहा है— धन, स्त्री आदि सब अनित्य हैं, इस प्रकार चिंतवन करना चाहिए। इस भावना सहित पुरुष के धन आदि के वियोग होने पर भी झूठे भोजन के समान ममत्व नहीं होता। उसमें ममत्व का अभाव होने से अविनाशी निज परमात्मा को ही भेद, अभेद रत्नत्रय की भावना द्वारा भाता है। जैसी अविनश्वर आत्मा को ध्याता है। वैसी ही अक्षय अनंत सुख स्वभावस्वरूप मुक्त आत्मा को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार अध्रुव भावना है। १

व्यवहार से इसका स्वरूप बारस अनुप्रेक्षा में निम्न प्रकार बताया है।

जब क्षीर नीरवत् जीव के साथ निबद्ध यह शरीर ही शीघ्र नष्ट हो जाता है, तो भोगोपभोग के कारण भूत यह दूसरे पदार्थ किस तरह नित्य हो सकते हैं। २

अध्रुवानुप्रेक्षा का प्रयोजन

अध्रुव अनुप्रेक्षा का चिंतवन करने से अध्रुव संसार, शरीर भोगों से दृष्टि मुड़कर उस ध्रुव टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव की ओर दृष्टि जाती है जिससे अविनाशी, अक्षय, अनंत सुख की प्राप्ति होती है।

अशरण भावना

अखिल विश्व में दृष्टि घुमाकर देख लिया—देवी-देवता, माता-पिता, परिवार, धन, वैभव आदि अंतिम समय पर यह एक भी काम नहीं आते। आयु कर्म पूरा होने पर यह जीव निश्चित ही शरीर को छोड़ देता है। अगर कोई शरण है तो बाह्य में देव, शास्त्र, गुरु और धर्म एवं अन्तरंग में शुद्धात्म स्वरूप के अलावा विश्व में कोई भी मेरे लिए शरण नहीं है ऐसा चिंतवन करना अशरण भावना है।

है कौन जो मरण से जग में बचावे, जो देव देवि मणि मन्त्र न काम आवे।
नौका सहाय रत्नत्रय धर्म लेके, हो पार सिन्धु दुख से निज हाथ ले के॥

सर्वार्थसिद्धि में भी कहा है—

ये समुदाय रूप शरीर, इन्द्रिय विषय, उपभोग, और परिभोग द्रव्य, जल बुद्बुद के समान अनवस्थित स्वभाव वाले होते हैं तथा गर्भादिअवस्था विशेषों में सदा प्राप्त होने वाले संयोगों से विपरीत स्वभाव वाले होते हैं। मोहवश अज्ञ प्राणी इनमें नित्यता का अनुभव करता है, पर

---

१. तत्सर्वमध्रुवमिति भावयितव्यम् तद्भावना सहित पुरुषस्य तेषां वियोगेपि सत्युच्छिष्टेष्विव ममत्व न भवति। तत्रममत्वाभावादविनश्वरनिजपरमात्मानमेव भेदाभेद रत्नत्रय भावनया भावयति, यादृशमविनश्वरमात्मानं भावयति, तादृशमेवाक्षयानन्त सुखस्वभावं मुक्तात्मानं प्राप्नोति। द्र. स. टीका ३५। १०२

२. जीवणिबद्धं देहं खीरोदयमिव विणस्सदे सिग्घं।
भोगोपभोग कारणं दव्वं णिच्चं कहं होदि॥ बा० अ० ६

वस्तुतः आत्मा के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के सिवाय इस संसार में कोई भी पदार्थ ध्रुव नहीं है। इस प्रकार चिंतवन करना अनित्यानुप्रेक्षा है । १

निश्चय से इसका स्वरूप बारस अनुप्रेक्षा में निम्न प्रकार बताया है–

जन्म, जरा, मरण, रोग और भय आदि से आत्मा ही अपनी रक्षा करता है । इसलिए वास्तव में जो कर्मों की बन्ध, उदय और सत्ता अवस्था से अलग है वह आत्मा ही इस संसार में शरण है । अर्थात् संसार में अपने आत्मा के सिवाय अपना और कोई रक्षा करने वाला नहीं है । यह स्वयं ही कर्मों को क्षय कर जन्म, जरा, मरणादि के कष्टों से बच सकता है । २

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी कहा है–

हे भव्य! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र शरण हैं । परम श्रद्धा के साथ उन्हीं का सेवन कर । संसार में भ्रमण करते हुए जीवों को उनके सिवाय अन्य कुछ भी शरण नहीं है । ३

बृहद्द्रव्य संग्रह में भी कहा है–

निश्चय रत्नत्रय से परिणत जो शुद्धात्म द्रव्य और उसकी बहिरंग सहकारी कारण भूतपंच-परमेष्ठियों की आराधना, यह दोनों शरण हैं । उनसे भिन्न जो देव, इन्द्र, चक्रवर्ती, सुभट, कोटिभट और पुत्रादि चेतन पदार्थ तथा पर्वत, किला, भौहरा, मणि, मंत्र, तंत्र, आज्ञा, महल और औषध आदि अचेतन पदार्थ तथा चेतन, अचेतन मिश्रित पदार्थ ये कोई भी मरणादि के समय शरणभूत नहीं होते हैं। जैसे महावन में व्याघ्र द्वारा पकड़े हुये हिरण के बच्चे को अथवा समुद्र में जहाज से छूटे हुये पक्षी को शरण नहीं है । इस प्रकार अन्य पदार्थों को अपना ना जानकर आगामी भोगों की आकांक्षा रूप निदान बन्ध आदि का अवलंबन न लेकर स्वानुभव से उत्पन्न सुख रूप अमृत का धारक निज शुद्धात्मा का ही अवलंबन करके, उस शुद्धात्मा की भावना करता है । जैसी आत्मा को यह शरण भाता है वैसे ही सदा शरणभूत, शरण में आये हुए के लिये वज्र के पिंजरे के समान निज आत्मा को प्राप्त होता है ।
बारस अनुप्रेक्षा में निम्न प्रकार बतायाहै ।

---

१. इमानि शरीरेन्द्रिय विषयोपभोगद्रव्याणि जलबुद्बुदवदनवस्थित स्वभावानि गर्भादिष्व वस्थाविशेषेषु सदोपलभ्यमानसंयोग विपर्ययाणि मोहादज्ञो नित्यतां मन्यते । न किञ्चित् संसारेसमुदितं ध्रुवमस्ति आत्मनो ज्ञानदर्शनोपयोग स्वभावा दन्यदिति चिन्तनमनुप्रेक्षा । सर्वार्थसिद्धि ९, ७,

२. जाइजरामरणरोगभयदो रक्खेदि अप्पणो अप्पा ।
जम्हा आदा सरणं बंधोदयसत्तकम्मवदिरित्तो ।। बा० अ०

३. दंसणणाणं–चरित्तं सरणं सेवेह परम–सद्धाए ।
अण्णं किंपि ण सरणं संसारे संसरंताणं ।

४. निश्चयरत्नत्रय परिणतं स्वशुद्धात्मद्रव्यं तद् बहिरंगसहकारिकारणभूतं पञ्चपरमेष्ठ्याराधनं च शरणं तस्माद् बहिर्भूता ये देवेन्द्र चक्रवर्ति सुभटकोटिभटपुत्रादि चेतना गिरिदुर्गभूविवर मणिमन्त्राज्ञाप्रासादौषधादयः पुनरचेतनास्तदुभया त्मकमिश्राश्च मरणकालादौ महाटव्यां व्याघ्रगृहीत मृगबालस्येव महासमुद्रेपोतच्युत पक्षिणं इव शरणं न भवन्तीति

इसका शेष फुटनोट पृष्ठ ३१० पर है ।

मरते समय प्राणियों को तीनों लोकों में मणि, मन्त्र, औषध, रक्षक, घोड़ा, हाथी, रथ और जितनी विद्याएं हैं वे कोई भी शरण नहीं हैं अर्थात् ये सब उन्हें मरने से नहीं बचा सकते । १

सर्वार्थसिद्धि में भी कहा है– जैसे हिरण के बच्चे को अकेले में भूखे मांस के अभिलाषी व बलवान् व्याघ्र द्वारा पकड़े हुए का कुछ भी शरण नहीं है, तैसे जन्म, बुढ़ापा, मरण, पीड़ा इत्यादि विपत्ति के बीच में भ्रमते हुए जीव का कोई रक्षक नहीं है । बराबर पोषा हुआ शरीर भी भोजन करते हुये सहायता करने वाला होता है न कि कष्ट आने पर । यत्नपूर्वक इकट्ठा किया हुआ धन भी परलोक को नहीं जाता है । सुख दुख में भागी मित्र भी मरण समय में रक्षा नहीं करते हैं । इकट्ठे किये हुये कुटुम्बी रोगग्रसित का प्रति पालन नहीं कर सकते हैं । यदि भले प्रकार आचरण किया हुआ धर्म है तो विपत्ति रूप बड़े समुद्र में तरने का उपाय होता है । काल के द्वारा ग्रहण किये हुये का इन्द्रादिक भी शरण नहीं हैं । इसलिये भवरूपी विपत्ति में, कष्ट में, धर्म ही शरण है, मित्र है, धन है, अविनाशी अन्य कुछ भी शरण नहीं है । इस प्रकार बार-बार चितवन करना अशरण भावना है । २

अशरण अनुप्रेक्षा का प्रयोजन

मैं सदा अशरण हूं, इस तरह अतिशय उद्विग्न होने के कारण संसार के कारण भूत पदार्थों में ममता नहीं रहती और वह भगवान् अर्हंत सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग को ही शरणभूत जानकर अपनी आत्मा की शरण लेता है । इस प्रकार अशरण भावना का चितवन करने से पर से दृष्टि हटकर अपनी ओर दृष्टि मुड़ जाती है ।

संसार भावना

संसार में कहीं पर भी सच्चा सुख नहीं है देव, नारकी, मनुष्य, तिर्यंच, राजा–रंक सभी तृष्णा रूपी ज्वाला में प्रतिक्षण जलते जा रहे हैं । निर्धनी धन की चाह में दुःखी है तो धनी उसके संरक्षण के लिए व्याकुल है । रोगों की बहुलता में कोई पीड़ित है तो किसी को जन्म मरण के

विज्ञेयम् । तद्विशाय भोगाकांक्षारूप निदान बन्धादि निरालम्बनं स्वसंवित्तिसमुत्पन्न सुखामृत भावलम्बने स्वशुद्धात्मन्ये वालम्बनं कृत्वा भावनां करोति । यादृशं शरणभूतमात्मानं भावयति तादृशमेव सर्वकालशरणभूतं शरणगतवज्रपञ्जर सदृश निजशुद्धात्मानं प्राप्नोति इत्यशरणानुप्रेक्षा व्याख्याता । बृहद्द्रव्यसंग्रह, ३५। १०२ (पृष्ठ ३०९ का शेष)

१. मणिमंतोसहरक्खा हयगयरहओ य सयलविज्जाओ ।
जीवाणं ण हि सरणं तिसु लोए मरणसमयम्हि ॥ बा० अ० ८

२. यथा मृगशावस्यैकान्ते बलवता क्षुधिते नामिषैषिणा व्याघ्रेणाभिभूतस्य न किञ्चिच्छरणमस्ति, तथा जन्मजरा मृत्यु व्याधि प्रभृतिव्यसनमध्ये परिभ्रमतो जन्तोः शरण न विद्यते । परिपुष्टमपि शरीरं भोजनं प्रति सहायी भवति न व्यसनोपनिपाते । यत्नेन संचिता अर्था अपि न भवान्तरमनुगच्छन्ति । संविभक्त सुखदुःखाः सुहृदोपि न मरण काले परित्रायन्ते । बान्धवाः समुदिताश्च रुजा परीतं न परिपालयन्ति । अस्ति चेत्सुचरितो धर्मो व्यसन महार्णवे तरणोपायो भवति । मृत्युनानीय मानस्य सहस्रनयनदयोऽपि न शरणम् । तस्माद् भवव्यसन संकटे धर्म एव शरणं सुहृदर्थोऽप्यनपायी नान्य किंचिच्छरणमिति भावना अशरणानुप्रेक्षा । सर्वार्थ सिद्धि, ९–७

दुख (त्रास) दे रहे हैं। संसार की लीला अजब निराली है । आज जो मित्र है, अपना है, कुटुम्बी है, हितैषी है, वही क्षणमात्र में पराया हो जाता है, शत्रु बन जाता है, विपक्ष में खड़ा हो जाता है, प्रशंसक के स्थान पर निंदक का रूप ग्रहण कर लेता है । संसार सर्वथा असार है, पुण्य पाप की लीला का ताण्डव नृत्यमात्र देखने में आ रहा है । संसार में रत्नत्रय ही सार है । ऐसी भावना का नाम संसार भावना है ।

हैं रंक राव पशु नारक देव सारे, संसार में सुख न ले दुख ही निहारे ।
मिथ्यात्व की जड़ कषाय करे उजार, सम्यक्त्व रत्न सुख दे उसको सम्हार ।। ३

निश्चय से इसका स्वरूप बारस अनुप्रेक्षा में निम्न प्रकार बताया है यद्यपि यह जीव कर्म के निमित्त से संसार रूपी बड़े भारी वन में भटकता रहता है, परन्तु निश्चय नय से यह कर्म से रहित है, और इसलिए इसका भ्रमण रूप संसार से कोई संबंध नहीं है । १

बृहद्द्रव्य संग्रह में कहा है

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव, रूप पांच प्रकार के संसार का चिन्तवन करते हुए इस जीव के संसार रहित निज शुद्धात्म ज्ञान का नाश करने वाले तथा संसार की वृद्धि के कारण भूत जो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद कषाय और योग हैं उनमें परिणाम नहीं जाता । किन्तु वह संसारातीत सुख के अनुभव में लीन होकर निज शुद्धात्मा के बल से संसार को नष्ट करने वाले निज निरंजन परमात्मा की भावना करता है । तदनंतर जिस प्रकार के परमात्मा को ध्याता है उसी प्रकार के परमात्मा को प्राप्त होकर संसार से विलक्षण मोक्ष में अनंत काल तक रहता है । २

व्यवहार से इसका स्वरूप बारस अनुप्रेक्षा में निम्नप्रकार बताया है ।

यह जीव जिनमार्ग की ओर ध्यान नहीं देता है । इसलिये जन्म, बुढ़ापा मरण, रोग और भय से भरे हुये पांच प्रकार के संसार में अनादि काल से भटक रहा है । इस प्रकार का चितवन करना संसार भावना है । ३

सर्वार्थसिद्धि में भी कहा है— कर्म विपाक के वश से आत्मा को भवान्तर की प्राप्ति होना सो संसार है । अनेक योनि और कोटिलाख कुल व्याप्त उस संसार में परिभ्रमण करता हुआ यह जीव कर्मयंत्र से प्रेरित हो पिता, भाई, पुत्र और पौत्र होता है । माता होकर भगिनी,

---

१. कम्मणिमित्तं जीवो हिंडदि संसारघोरकांतारे ।
जीवस्स ण संसारो णिच्चयदो कम्मणिम्मुक्को ।। बारस अणुवेक्खा, ३७

२. द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपं पञ्चप्रकारं संसारं भावयतोऽस्य जीवस्य संसारातीतस्वशुद्धात्मसंवित्ति विनाशकेषु संसारवृद्धि कारणेषु मिथ्यात्वाविरति प्रमाद कषाययोगेषु परिणामो न जायते, किन्तु संसारातीत सुखास्वादे रतोभूत्वा स्वशुद्धात्मसंवित्तिबलेन संसारविनाशकनिज निरञ्जनपरमात्मन्येव भावनां करोति । ततश्च यादृशमेव परमात्मानं भावयति तादृशमेव लब्ध्वा संसारविलक्षणे मोक्षेऽनन्तकालं तिष्ठतीति ।

३. पंचविहे संसारे जाइजरामरणरोगभयपउरे ।
जिणमग्गं पेच्छंतो जीवो परिभमदि चिरकालं ।। बारस अणुवेक्खा, २४

भार्या और पुत्री होता है, स्वामी होकर दास होता है , तथा दास होकर स्वामी भी होता है। जिस प्रकार रंगस्थल में नटनाना रूप धारण करता है उसी प्रकार यह होता है । अथवा बहुत कहने से क्या प्रयोजन, स्वयं अपना पुत्र होता है । १

इत्यादि रूप से संसार के स्वभाव का चिंतवन करना संसार भावना है ।

संसार अनुप्रेक्षा का प्रयोजन—

जो जीव संसार से पार हो गया है, वह अवस्था उपादेय अर्थात् ध्यान करने योग्य है, ऐसा विचार करना चाहिए, और जो संसार रुपी दुःखों से घिरा हुआ है, वह अवस्था हेय है, ऐसा चितवन करना चाहिये । इस प्रकार चिंतवन करते हुए संसार के दुःख के भय से उद्विग्न हुये संसार से निर्वेद होता है और निर्विण्ण होकर संसार का नाश करने के लिए असक्त प्रयत्न करता है ।

इस प्रकार संसार को जानकर और सम्यक्व्रत, ध्यान आदि समस्त उपायों से मोह को त्याग कर अपने उस शुद्ध ज्ञानमय स्वरूप का ध्यान करो, जिससे पांच प्रकार के संसार परिभ्रमण का नाश होता है ।

एकत्व अनुप्रेक्षा—

जन्म समय में अकेला ही आया था और मरण समय में भी अकेला ही जाऊंगा । पुण्य—पाप उदयानुसार इन्द्रिय जन्य सुख—दुख भी अकेला ही भोग रहा हूं । स्त्री, पुत्र, मित्र यह सभी मतलब के ही साथी हैं, स्वार्थ सधने के बाद कोई भी बात पूंछने वाला नहीं है । जिस प्रकार एक मेले में विभिन्न स्थानों से तमासागीर आकर एकत्रित होते हैं, रास्ते में ट्रेन आदि के डिब्बों में अनेकों मुसाफिर मिल जाते हैं, उसी प्रकार यह परिजन एवं समाज का झमेला मेरे बीच है । जिस प्रकार एक वृक्ष पर बैठे हुए पक्षी प्रातः अपनी दिशा को चले जाते हैं, उसी प्रकार इस शरीर से विदा होकर अकेला ही जाऊंगा, ऐसा चिन्तवन करना ही एकत्व भावना है

> जो जीव हैं जनमते मरते अकेले, हैं स्वार्थ के सुजन हों दुख में न भेले ।
> रे मूढ ! चेत अब मो कब काम आवे, हूं एक चितन करे भव पार जावे ॥

निश्चय से एकत्व अनुप्रेक्षा का स्वरूप भगवती आराधना में निम्न प्रकार बताया है ।

---

१. कर्म विपाकवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः । सः पुरस्तात्पञ्च विधपरिवर्तन रूपेण व्याख्यातः तस्मिन्नेकयोनि-कुलकोटिबहुशतसहस्र संकटे संसारे परिभ्रमन् जीवः कर्मयन्त्रप्रेरितः पिता भूत्वा भ्राता पुत्रः पौत्रश्च भवति । माता भूत्वा भगिनि भार्यादुहिता च भवति। नट इव रङ्गे ।अथवा किंबहुनास्वयमात्मनः पुत्रो भवतीत्येवमादि संसारस्व भावचिन्तनं संसारा नुप्रेक्षा । सर्वार्थ सिद्धि, ९—७

सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान–सम्यक्चारित्र अर्थात् रत्नत्रय रूप धर्म जो इस जीव ने धारण किया था, वही लोक में इसका कल्याण करने वाला सहायक होता है। रज्जु आदि से बंधा हुआ पुरुष जिस प्रकार उन रज्जु आदि बन्धनों से राग नहीं करता, वैसे ही ज्ञानी जनों के शरीर में स्नेह नहीं होता है तथा विष के समान दुःखद व महाभयप्रदायी धन में भी राग नहीं होता है।१

बारस अनुप्रेक्षा में भी कहा है–मैं अकेला हूं, ममता रहित हूं, शुद्ध हूं और ज्ञान–दर्शन स्वरूप हूं। इसलिए शुद्ध एकपना ही उपादेय है। ऐसा निरन्तर चिंतवन करना एकत्व भावना है।२

बृहद द्रव्य संग्रह में कहा है–निश्चय केवलज्ञान ही एक सहज या स्वाभाविक शरीर है, सप्तधातुमयी यह औदारिक शरीर नहीं। निजात्म तत्व ही एक सदा शाश्वत व परम हितकारी है, पुत्रकलत्रादि नहीं हैं। स्वशुद्धात्म पदार्थ ही एक अनीश्वर व परम हितकारी परम धन है, सुवर्णादि धन नहीं हैं। स्वभावात्म सुख ही एक सुख है, आकुलता उत्पादक इन्द्रिय सुख नहीं। स्वशुद्धात्मा ही एक सहायी है अन्य कोई भी नहीं। इस प्रकार एकत्व भावना को महान जानकर निरन्तर शुद्धात्म एकत्व भावना करनी चाहिए।३

व्यवहार से इसका स्वरूप बारस अनुप्रेक्षा में निम्न प्रकार बताया है–यह आत्मा अकेला ही शुभाशुभ कर्म बांधता है, अकेला ही अनादि संसार में भ्रमण करता है, अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही अपने कर्मों को भोगता है अर्थात् इसका कोई साथी नहीं है। ऐसा चिंतवन करना एकत्व भावना है।४

सर्वार्थसिद्धि में कहा है–जन्म, जरा, मरण की आवृत्ति रूप महा दुख का अनुभव करने के लिए अकेला ही मैं हूं, न कोई मेरा स्व है और न कोई पर है, अकेला ही मैं जन्मता हूं,

---

१. जो पुण धम्मो जीवेण कदो सम्मत्त चरणसुदमइयो।
सो परलोए जीवस्स होइ गुणकारकसहाओ ॥ १७५२ ॥
बद्धस्स बंधणे व ण रागो देहम्मि होइ णाणिस्स।
विससरिसेसु ण रागो अत्थेसु महाभयेसु तहा ॥ १७५३ ॥

२. एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो णाणदंसणलक्खणो।
सुद्धयत्तमुपादेयमेवं चिंतेइ सव्वदा ॥ बारस अणुवेक्खा, २०

३. निश्चयेन केवलज्ञानमेवैकं सहजशरीरं। न च सप्तधातुमयौदा रिकशरीरम् —।—निजात्मतत्त्वमेवैकं सदा शाश्वतं परहितकारी न च पुत्रकलत्रादि—।—स्वशुद्धात्मपदार्थ एक एवाविनश्वर हितकारी परमोऽर्थ न च सुवर्णाद्यर्थाः —स्वभावात्मसुखमेवैकं सुखं न चाकुलत्वोत्पादेन्द्रियसुखमिति।—स्वशुद्धात्मैकसहायो भवति।—एवं एकत्व भावना फलं ज्ञात्वा निरन्तरं निजशुद्धात्मैकत्व भावना कर्तव्या ॥बृ० द्र० सं० ४१-१०७

४. एक्को करेदि कम्मं एक्को हिंडदि य दीहसंसारे।
एक्को जायदि मरदि य तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥बारस अणुपेक्खा ॥१४॥

अकेला ही मरता हूं ।मेरा कोई स्वजन व परजन, व्याधि, जरा और मरण आदि के दुखों को दूर नहीं करता । बन्धु और मित्र श्मशान से आगे नहीं आते, धर्म ही सदाकाल सहायक है, इस प्रकार का चिंतवन करना एकत्वानुप्रेक्षा है ।१

एकत्वभावना का प्रयोजन–

इस जीव के स्वजनों में प्रीति का अनुबंध नहीं होता और परजनों में द्वेष का अनुबन्ध नहीं होता । इस प्रकार निः संगता को प्राप्त होकर जीव मोक्ष के लिए ही प्रयत्न करता है ।

अन्यत्व भावना–

यह शरीर मेरा भी साथी नहीं है तो और मेरा साथी कौन हो सकता है ? नारी अन्त समय म घर से बाहर तक भी साथ नहीं देती । परिजन श्मशान में शरीर में आग लगाकर अलग हो जाते हैं । धन–सम्पदा आदि जड़ वैभव से तो मैं सर्वथा भिन्न ही हू । सिवाय शुद्ध चैतन्य ज्ञायक स्वभाव के विश्व के अन्य पदार्थों से मेरा कोई नाता नहीं है । राग–द्वेष आदि विभाव परिणाम भी मुझसे अन्य हैं । ऐसी भावना का नाम ही अन्यत्व भावना है ।

है देह भी निज नहीं लखि और कौन, कान्ता सुतादि धन आदि मदीय हो न ।
भी भूल सदन को निज मानता था, ज्ञाता स्वभाव अति भिन्न न जानता था ॥ ५

अन्यत्व भावना का स्वरूप बारस अनुप्रेक्षा में निम्न प्रकार बताया है–

शरीरादि जो बाहरी द्रव्य हैं वे सब अपने से जुदे है–और मेरा आत्मा ज्ञान–दर्शन स्वरूप है । इस प्रकार अन्यत्व भावना का चिंतवन करना चाहिए ।२

सर्वार्थसिद्धि में भी कहा है–शरीर से अन्यत्व का चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है । यथा बंध की अपेक्षा अभेद होने पर भी लक्षण के भेद से मैं अन्य हूं । शरीर इन्द्रियक है, मैं अतीन्द्रिय हूं । शरीर अज्ञ है, मैं ज्ञाता हूं । शरीर अनित्य है, मैं नित्य हूं । शरीर आदि–अन्तवाला है और मैं अनाद्यनन्त हूं । संसार में परिभ्रमण करते हुए मेरे लाखों शरीर अतीत हो गये हैं । उनसे भिन्न वह ही मैं हूं । इस प्रकार शरीर से भी जब मैं अन्य हूं तब हे वत्स ! मैं बाह्य

---

१. जन्मजरामरणवृत्तिमहादुःखानिभवनं प्रति एक एवाहं न कश्चिन्मे स्वः परो वा विद्यते ।एक एव जायेहम् ।एक एव म्रिये ।न मे कश्चित् स्वजनः परजनो वा व्याधिजरामरणादीनि दुःखान्यपहरति । बन्धुमित्राणि श्मशान नातिवर्तन्ते ,धर्म एव मे सहायः सदा अनपायीति चिन्तनमेकत्वानुप्रेक्षा ।।सर्वार्थसिद्धि ९।७।

२. अण्णं इमं सरीरादिगं पि जं होइ बाहिरं दव्वं ।
णाण दंसणमादा एवं चिंतेहि अण्णत्तं ।।बारस अणुवेक्खा ।।२३।।

पदार्थों से भिन्न होऊँ, तो इसमें क्या आश्चर्य है ? इस प्रकार मन को समाधान युक्त करने वाले इससे शरीरादि में स्पृहा उत्पन्न नहीं होती ।१

इसका स्वरूप बारस अनुप्रेक्षा में इस प्रकार है—माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री आदि बन्धुजनों का समूह अपने कार्य के वश सम्बन्ध रखता है परन्तु यथार्थ में जीव का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है । अर्थात् ये सब जीव से जुदे हैं । ऐसा चितवन करना अन्यत्व अनुप्रेक्षा है ।२

वृहद् द्रव्यसंग्रह में भी कहा है—देह, बन्धुजन, सुवर्ण आदि अर्थ और इन्द्रिय सुख आदि कर्मों के अधीन होने से विनश्वर हैं । निश्चयनय से निज परमात्म पदार्थ से अन्य है, भिन्न है और उनसे आत्मा भिन्न है, अन्य है । इस प्रकार का चितवन करना अन्यत्व अनुप्रेक्षा है ।३

अन्यत्व अनुप्रेक्षा का प्रयोजन—

अन्यत्व अनुप्रेक्षा का चितवन करने से जीव के शरीरादि में स्पृहा उत्पन्न नहीं होती है और इससे तत्वज्ञान की भावना पूर्वक वैराग्य की वृद्धि होने पर आत्यन्तिक मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है ।

जो आत्मस्वरूप को यथार्थ में शरीर से भिन्न जानकर अपनी आत्मा का ही ध्यान करता है उसके अन्यत्वानुप्रेक्षा कार्यकारी है ।

अशुचि भावना—

शरीर अपवित्र है, इसके सर्वांगोपांगों से, दुर्गन्धि छूटती रहती है । यह हड्डी, मांस, चर्बी त्वचा, आदि दुर्गन्धित कुधातुओं से निर्मित है । जिस प्रकार मल से भरे हुए घड़े को बाहर से कितना भी स्वच्छ क्यों न किया जाए परन्तु वह पवित्र नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अंदर मल विद्यमान है, ठीक इसी प्रकार शरीर को बाहर से भले ही उबटनों से, अनेकों साबुनों से, निर्मल जल से मल-मल करके धोया जाय, क्रीम, पाउडर, तेल, फुलेल चंदनादि के द्वारा शरीर

---

१. शरीरादन्यत्व चिन्तनमन्यत्वानुप्रेक्षा ।तद्यथा बन्धं प्रत्येकत्वे सत्यपि लक्षणभेदादन्योऽहमैन्द्रियकं शरीरमतीन्द्रियोऽहमज्ञं शरीरं ज्ञोऽहम-नित्यं शरीरं नित्योऽहमाद्यन्तवच्छरीरमनाद्यन्तोऽहम् ।बहूनि मे शरीर शतसहस्राण्यतीतानि संसारे परिभ्रमतः ।स एव अहमन्यस्तेभ्यः इत्येवं शरीरादप्यन्यत्वं मे किमङ्ग पुनर्बाह्येभ्यः परिग्रहेभ्यः इत्येवं ह्यस्य मनः समाधानस्य शरीरादिषु स्पृहा नोपजायते ॥

२. मादापिदरसहोदरपुत्तकलत्तादिबंधुसंदोहो ॥
जीवस्स ण संबंधो णियकज्जवसेण वट्टंति ॥बारस अणुवेक्खा ॥१५॥

३. देहबन्धुजनसुवर्णाद्यर्थेन्द्रिय सुखादीनि कर्माधीनत्वे विनश्वराणि निजपरमात्मपदार्थान्निश्चय नयेना न्यानि भिन्नानि ।तेभ्यः पुनरात्माप्यन्यो भिन्न इति ।इत्यन्यत्वानुप्रेक्षा ॥वृ०द्र०सं० ३५/१०८

को कितना भी क्यों न सजाया जाय, परन्तु अन्दर दुर्गन्धि का खजाना होने के कारण अपवित्र ही है अगर कोई पवित्र है तो मात्र मेरा चैतन्य स्वरूप ही है। पुनः पुनः चिन्तवन करना अशुचिभावना है।

दुर्गन्ध है अशुचि है मल की पिटारी, जो शुद्ध वस्तु जग में तन मे बिगारी।
क्यों क्रीम पौडर लगाकर रे सजाता, ज्ञानी सदा तपतपा सुख शांति पाता ॥ ६

अशुचि भावना का स्वरूप बारस अनुप्रेक्षा में निम्न प्रकार कहा है—

वास्तव मे आत्मा अशुचि देह से जुदा है, कर्मों से रहित है अनन्त सुख का घर है, इसलिए शुद्ध है। इस प्रकार निरन्तर भावना करते रहना चाहिए।१

बृहद् द्रव्य संग्रह में भी कहा है—अपवित्र, सात धातुमय होने से, नासिकादि नौ छिद्र द्वार होने से, स्वरूप से भी अशुचि होने के कारण तथा मूत्र-विष्ठा आदि अशुचि मलों की उत्पत्ति का स्थान होने से ही यह देह अशुचि नही है, किन्तु यह शरीर अपने संसर्ग से पवित्र सुगंध माला आदि को भी अपवित्र करने से और अशुचिमल उत्पादक होने से भी अशुचि है। निश्चय से अपने आप पवित्र होने से यह परमात्मा (आत्मा) ही शुचि या पवित्र है। ब्रह्मचारियों (आत्मा में चर्या करने वाले मुनि) ही के ही पवित्रता है। जो काम क्रोधादि में लीन जीव है, उनके जल स्नान आदि करने पर भी पवित्रता नहीं है। आत्मारूपी शुद्ध नदी में स्नान आदि करना ही परम पवित्रता का कारण है। लौकिक गंगादि तीर्थ में स्नान करना पवित्रता का कारण नहीं है।२

इसका स्वरूप बारस अनुप्रेक्षा में इस प्रकार बताया है। यह देह दुर्गन्धमय है, डरावनी है, मल-मूत्र से भरी हुई है, जड़ है, मूर्तिक है और क्षीण होने वाली है तथा विनाशीक स्वभाववाली है। इस तरह निरन्तर इसका विचार करते रहना चाहिए।३

---

१. देहादो वदिरित्तो कम्मविरहिओ अणंतसुहणिलयो ॥
चोक्खो हवेई अप्पा इदि णिच्च भावणं कुज्जा ॥बारसअणुवेक्खा ॥४६॥

२. सप्तधातुमयत्वेन तथा नासिकादिनवरन्ध्रद्वारैरपि स्वरूपेणा
शुचित्वात्तथैव मूत्रपुरीषाद्यशुचिमलानामुत्पत्ति स्थानत्वाच्चाशु-
चिरयं देहः। न केवलमशुचिकारणत्वेनाशुचिः स्वरूपेणा शुच्युत्पादक-
त्वेनचाशुचिः निश्चयेन शुचिरूपात्वाच्च परमात्मैव शुचिः।
"ब्रह्मचारी सदा शुचि" इति वचनात्तथाविध ब्रह्मचारिणामेव
शुचित्वं ते कामक्रोधादिरतानां जलस्नानादिशौचेऽपि।
विशुद्धात्मनदीस्नानमेव परमशुचित्वकारणं न च लौकिकगंगादितीर्थे
स्नानादिकम् इति अशुचित्वानुप्रेक्षा।बृहद द्रव्य संग्रह ३५/१०१

३. दुग्गंधं बीभत्सं कलिमलभरिदं अचेयणा मुत्तं ॥
सडणपडणं सहाव देहं इदि चितये णिच्चं ॥बारस अणुवेक्खा ४४॥

सर्वार्थसिद्धि में भी कहा है—यह शरीर अत्यन्त अशुचि पदार्थों की योनि है। शुक्र और शोणित रूप अशुचि पदार्थों का भाजन है। त्वचा मात्र से आच्छादित है। अतिदुर्गन्धित रस को बहाने वाला झरना है। अंगार के समान अपने आश्रय में आये हुए पदार्थों को भी शीघ्र ही नष्ट कर देता है। स्नान, अनुलेपन, और सुगंधित माला आदि द्वारा भी इसकी अशुचिता को दूर करना शक्य नहीं है। अच्छी तरह भावना किये गये सम्यग्दर्शन आदिक जीव की आत्यान्तिक शुद्धि को प्रगट करते हैं। इस प्रकार वास्तविक रूप से चिन्तवन करना अशुचि अनुप्रेक्षा है।१

अशुचि अनुप्रेक्षा का प्रयोजन—

अशुचि भावना का चिंतवन करने से शरीर से निर्वेद होता है और निर्विण्ण होकर जन्मोदधि से तरने के लिए जीव चित्त को लगाता है। जो दूसरों के शरीर से विरक्त है और अपने शरीर में भी अनुराग नहीं करता है तथा आत्मध्यान में लीन रहता है उसके अशुचि भावना सफल है।

आसूव भावना—

कषाय, मिथ्यात्व, राग, द्वेष आदि विभाव—भावों के निमित्त से अनादि काल से कर्मों का आस्रव नाव में छिद्र के द्वारा पानी की तरह निरन्तर होता चला आ रहा है। पानी भरने पर जैसे नाव समुद्र में डूब जाती है उसी प्रकार कर्मों की बहुलता के कारण मैं संसार सागर में गोते खाता आ रहा हूँ। अनंतकाल से दुख उठाता आ रहा हूँ अतः यह आस्रव महान अहितकारी है। स्वप्न मे भी इससे प्रीति नहीं करूंगा, अपने स्वरूप मे ही लीन रहूँगा। पुनः पुनः ऐसा चितवन करना ही आसूव भावना है।

रागादि मोह इनमें रत के सदा ही, की प्रीति कर्म मल से निधि है लुटाई।
मौका तुझे मिल गया मत चूक दाँव, होगा अभी रुकत आसूव तीव्र भाव ॥ ७

आसूव अनुप्रेक्षा का स्वरूप बारस अनुप्रेक्षा में निम्न प्रकार बताया है—

मिथ्यात्व, अविरति आदि भेद निश्चयनय से जीव के नहीं होते हैं। इसलिए निरन्तर ही आत्मा को द्रव्य और भाव रूप दोनों प्रकार के आसूवों से रहित चिन्तवन करना चाहिए २

कर्मों का आसूव करने वाली क्रिया से परम्परा से भी निर्वाण नहीं हो सकता है। इसलिए संसार में भटकने वाले आसूव को बुरा समझना चाहिए।३

---

१. शरीरमिदमत्यन्ताशुचियोनिशुक्रशोणिताशुचिसंवर्धितमवस्करवद – शुचिभाजनं त्वङ्मात्रप्रच्छादितमतिपूतिरसनिष्यन्दिस्रोतोबिलमङ्गार – वदात्म भावमाश्रितमप्याश्वेवापादयति ।स्नानानुलेपनधूपप्रघर्षवासमा – ल्यादिभिरपि न शक्यमशुचित्वमपहर्तुमस्य ।सम्यग्दर्शनादि पुनर्भाव्य– मानं जीवस्यात्यन्तिकीं शुद्धिमाविर्भावयतीति तत्त्वतोभावन- मशुचित्वानुप्रेक्षा ।।सर्वार्थसिद्धि ९–७।।

२. पुव्वुत्तासवभेयो णिच्छयणयएण णत्थि जीवस्स ।
उहयासवणिम्मुक्कं अप्पाणं चिंतए णिच्चं ।।बारसअणुवेक्खा ।।६०।।

३. पारंपज्जएण दु आसवकिरियाए णत्थि णिव्वाणं ।
संसारगमणकारणमिदि णिंदं आसवो जाण ।।बारस अणुवेक्खा ।।५९।।

सर्वार्थसिद्धि में भी कहा है—

आस्रव इस लोक और परलोक में दुखदायी हैं। महानदी के वेग के समान तीक्ष्ण है, तथा इन्द्रिय कषाय और अव्रत है। उनमें ये स्पर्शादिक इन्द्रियां वनगज, कौआ, सर्प, पतंगा और हरिण आदि को दुख रूप समुद्र में अवगाहन कराती है१। कषाय आदि भी इस लोक में वध, बन्ध, अपयश और क्लेशादिक दुखों को उत्पन्न करते हैं तथा परलोक में नाना प्रकार के दुखों से प्रज्वलित नाना गतियों में भ्रमण कराते हैं। इस प्रकार आस्रव के दोषों का चिन्तवन करना आस्रवानुप्रेक्षा है। १

बृहद्द्रव्य संग्रह में भी कहा है– पांच इन्द्रियां, चार कषाय, पांच महाव्रत और पच्चीस क्रिया रूप आस्रवों के द्वारों से कर्म जल के प्रवेश हो जाने पर ससांर समुद्र में पतन होता है और मुक्ति रूपी नगर 'वेला पत्तन' की प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार आस्रव के दोषों का पुनः पुनः चिन्तवन करना आस्रवानुप्रेक्षा है। २

आस्रवानुप्रेक्षा का प्रयोजन :—

आस्रव भावना का चिन्तवन करने से क्षमार्कादि में प्रवृत्ति होती है, कर्मों का आना रुक जाता है, जिससे कर्म श्रृंखला छूटती जाती है तथा अपने स्वरूप की ओर दृष्टि जाती है।

संवर भावना :—

राग, द्वेष, मोह, विभाव–भावों के कारण अनादि काल स मैं संसार सागर में असह्य दुखों को सहन करता आ रहा हूं। अब भेद-विज्ञान और समता रूपी ढाल से कर्म रूपी बाणों का आना पूर्ण रूप से अवरुद्ध कर दूंगा। विभाव परिणति को हमेशा–हमेशा के लिये छोड़ दूंगा। अपने वीतराग भाव में समाहित हो जाऊंगा। पुनः पुनः ऐसी भावना करना संवर भावना है।

जो समता लोक तन इन्द्रिय नाहिं पोखे, ते ध्यान ढाल धर कर्म बिशाल रोके।
ऐसे मुनिवर लखे निज भाव सारे, वे राग छोड़ निज में निज भाव धारे॥

संवर भावना का स्वरूप बारस अनुप्रेक्षा में निम्न प्राकर बताया है —

---

१. आस्रवा इहामुत्रापाययुक्ता महानदीस्रोतोवेगतीक्ष्णा इन्द्रिय कषायाव्रतादयः तत्रेन्द्रियाणि तावत्स्पर्शादीनि वनगजवायसपन्नाग पतङ्गहरिणादीन् व्यसनार्णवमवगाहयन्ति तथा कषायोदयोऽपीहवधबन्धा-पयशः परिक्लेशादीन् जनयन्ति। अमुत्र च नानागतिषु बहुविध दुख प्रज्वालितासु परिभ्रमयन्तीत्येवमास्रवदोषानुचिन्तमास्रवानुप्रेक्षा ॥सर्वार्थसिद्धि ९–७

२. इन्द्रियाणि ——कषाया —पञ्चाव्रतानि ——पंचविंशतिक्रिया — रूपास्रवाणां द्वारै ——कर्मजलप्रवेशे सति संसारसमुद्रे पातो भवति न च मुक्तिवेलापत्तनं प्राप्नोतीति ।एवमास्रवगतदोषानुचिन्तन—मास्रवानुप्रेक्षा ज्ञातव्येति ॥बृहद द्रव्य संग्रह ॥३५॥

शुद्धनिश्चय नय से जीव के संवर ही नहीं है । इसलिये संवर के विकल्प से रहित आत्मा का निरंतर चिन्तवन करना चाहिए । १

बृहद्रव्य संग्रह में कहा है–

जिस प्रकार समुद्र का जहाज अपने छेदों के बन्द हो जाने से, जल के न घुसने से निर्विघ्न वेलापत्तन को प्राप्त हो जाता है । उसी प्रकार जीव रूपी जहाज अपने शुद्ध आत्म ज्ञान के बल से, इन्द्रिय आदि आस्रव छिद्रों के मुंह बन्द हो जाने पर कर्म रूपी जल न घुसने से केवलज्ञानादि अनन्त गुणरत्नों से पूर्ण मुक्ति रूपी वेलापत्तन को निर्विघ्न प्राप्त हो जाता है । ऐसे संवर के गुणों का चिन्तवन करना संवर भावना है । २

व्यवहार से इसका स्वरूप बारस अनुप्रेक्षा में इस प्रकार बताया है–

मन, वचन, काय की शुभ प्रवृत्तियों से अशुभोपयोग का संवर होता है और केवल आत्मा के ध्यान रूप शुद्धोपयोग से शुभयोग का संवर होता है । इसके पश्चात् शुद्धोपयोग से जीव के धर्मध्यान और शुक्लध्यान होते हैं । इसलिए संवर का कारण ध्यान है । ३

सर्वार्थसिद्धि में भी कहा है–

जिस प्रकार महार्णव में नाव के छिद्र के नहीं ढके रहने पर क्रम से घिरे हुए जल से उसके व्याप्त होने पर उसके आश्रय पर बैठे हुए मनुष्यों का विनाश अवश्यम्भावी है और छिद्र के ढके रहने पर निरुपद्रव रूप अभिलाषित देशान्तर का प्राप्त होना अवश्यम्भावी है । उसी प्रकार कर्मागम द्वार के ढके होने पर कल्याण का प्रतिबंध नहीं होता । इस प्रकार संवर के गुणों का चिन्तवन करना संवरानुप्रेक्षा है । ४

---

१. जीवस्स ण संवरण परमट्ठणएण सुद्धभावादो ।
संवरभावविमुक्कं अप्पाणं चिंतये णिच्चं ॥बारस अणुवेक्खा ६५॥

२. यथा तदेव जलपात्रं छिद्रस्य झम्पने सति कर्म जलप्रवेशाभावे निर्विघ्नेन वेलापत्तनं प्राप्नोति। तथा जीवजलपात्रं निजशुद्धात्मसंवित्ति-बलेन निर्विघ्नेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणरत्नपूर्णं मुक्तिवेलापत्तनं प्राप्नोति एवं संवरगतगुणानुचिन्तनं संवरानुप्रेक्षा ज्ञातव्या ॥बृहद् द्रव्य संग्रह

३. सुहजोगेण पवित्ती संवरणं कुणदि असुह जोगस्स ।
सुहजोगस्स णिरोहो सुद्धुवजोगेण संभवदि
सुद्धुपजोगे पुणो धम्मं सुक्कं च होदि जीवस्स ।
तम्हा संवर हेदु झाणोत्ति विचिंतये णिच्चं ॥बारस अणुवेक्खा ॥६३॥६४॥

४. यथामहार्णवे नावो विवरपिधानेऽसति क्रमात्स्रुतजलाभिप्लवे सति तदाश्रयाणां विनाशोऽवश्यंभावी छिद्रपिधाने च निरुप-द्रवमभिलाषित देशान्तरप्रापणं तथा कर्मागम द्वारसंवरणे सति नास्ति श्रेयः प्रतिबन्धः इति संवर –गुणानुचिन्तनं संवरानुप्रेक्षा ॥–सर्वार्थसिद्धि ९–७

संवर अनुप्रेक्षा का प्रयोजन :—

संवर भावना का चिन्तवन करने वाले जीव के संवर में निरन्तर उपयुक्तता होती है और इसके मोक्ष पद की प्राप्ति होती है ।

निर्जरा भावना :—

अनशन आदि बाह्य एवं प्रायश्चित् आदि अभ्यन्तर तप के साथ सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र, इन च.रों की एकता अर्थात् चारों आराधनाओं के बल से जितना कर्म समूह आत्म प्रदेशों के साथ में संकलित हुआ है उन सबको क्रम–क्रम से क्षय कर दूंगा, नष्ट कर दूंगा, उनसे मुक्त हो जाऊंगा । जैसे नाव में पानी अधिक भर जाने के कारण वह सरिता में डूब जाती है, समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार अधिक कर्मभार होने से मैं भी संसार सागर में डूबा जा रहा हूं । अतः जैसे भी बनेगा तैसे सारे कर्मों को तपस्या के बल से क्षय कर दूंगा । मात्र अपने शुद्ध स्वरूप के आश्रय ही रहूंगा । पुनः पुनः ऐसी भावना करना निर्जरा भावना है ।

है निर्जरा द्विविध या इक सौख्य कारी जो, भेद ज्ञान तप से युत कर्महारी ।
ज्ञानी जरा करम को शिव धाम पावे, ज्यों नाव में जल न हो सर पार जावे ॥

निश्चय से निर्जरा भावना का स्वरूप समयसार में निम्न प्रकार बताया है —

कर्मों के उदय का रस जिनेश्वर देव ने अनेक प्रकार का कहा है । वे कर्म विपाक से हुए भाव मेरे स्वभाव नहीं हैं । मैं तो एक ज्ञायक भाव स्वरूप हूं । १

बृहद्द्रव्य संग्रह मे भी कहा है—

निज परमात्मानुभूति के बल से निर्जरा करने के लिये दृष्ट श्रुत व अनुभूत भोगों की आकांक्षादिक विभाव परिणाम के त्याग रूप संवेग तथा वैराग्य रूप परिणामों के साथ रहना निर्जरा भावना है । २

व्यवहार से इसका स्वरूप बारस अनुप्रेक्षा में इस प्रकार बताया है—

निर्जरा दो प्रकार की है । स्वकालपक्व और तप द्वारा की गयी । इनमें से पहली तो चारों गति वाले जीवों के होती है और दूसरी केवल व्रतधारियों (श्रावक या मुनियों) के होती है ।३

सर्वार्थसिद्धि में भी कहा है—

---

१. उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं ।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ।समयसार २–९८॥

२. निजपरमात्मानुभूति बलेन निर्जरार्थं दृष्टश्रुतानुभूत भोगाकांक्षादिवि–
भाव परिणामं परित्यागरूपैः संवेग वैराग्यपरिणामैर्वर्त्तत इति निर्जरानुप्रेक्षा ॥

३. सा पुण दुविहा णेया सकालपक्का तवेण कयमाणा ।
चादुगदीणं पढमा वयजुत्ताणं हवे बिदिया ॥बारह अणुवेक्खा ॥६७॥

वेदनाविपाक का नाम निर्जरा है । वह दो प्रकार की है । अबुद्धि पूर्वक और कुशलमूला । नरकादिक गतियों में कर्ममल के विपाक से उत्पन्न जो अबुद्धि पूर्वक निर्जरा होती है, वह अकुशलानुबंध है । तथा परिषह के जीतने पर जो निर्जरा होती है, वह कुशल मूला निर्जरा है । वह शुभानुबन्धा और निरानुबन्धा होती है । इस प्रकार निर्जरा के गुण दोषों का चिन्तवन करना निर्जरानुप्रेक्षा है । १

निर्जरानुप्रेक्षा का प्रयोजन :—

निर्जरा भावना का चिन्तवन करने से कर्म निर्जरा के लिये प्रवृत्ति होती है । जो मुनि समता रस में लीन हुआ, बार–बार आत्मा का स्मरण करता है । इन्द्रिय और कषाय जीतने वाले के उत्कृष्ट निर्जरा होती है ।

लोक भावना :—

षट्द्रव्यों का समूह रूप यह लोक किसी के द्वारा निर्मित नहीं है । इसको कोई धारण भी नहीं किये हुए है । इसका ध्वंसकर्ता भी विश्व में कोई नहीं है । ऐसे लोक के अन्दर कर्मों का तीव्र निमित्त आने पर एवं खोटे संयोग (निमित्त) मिलने पर मैं अपने स्वभाव से विचलित नहीं होऊंगा, पराधीन नहीं बनूंगा । अनादि काल से आज तक समता भाव के अभाव में एवं राग-द्वेष के सदभाव में इस लोक के अन्दर दुखी होता आ रहा हूं । अब अपने समता स्वभाव में ही विचरण करना है । ऐसा पुनः पुनः चिन्तवन करना लोक भावना है ।

षट् द्रव्य से युत न मालिक आदि अन्त, समभाव के बिन लहे दुख जीव सन्त ।
जो भाव बार सम चिन्तन रे करेगा, तो मुक्ति नारि सुख लोक वरे वरेगा ॥

निश्चय से लोकानुप्रेक्षा का स्वरूप बारस अनुप्रेक्षा में निम्न प्रकार बताया—

यह जीव अशुभ विचारों से नरक तथा तिर्यंच गति पाता है, शुभविचारों से देवों तथा मनुष्यों के सुख भोगता है और शुद्ध विचारों से मोक्ष प्राप्त करता है । इस प्रकार लोकभावना का चितवन करना चाहिए । २

बृहदद्रव्य संग्रह में भी कहा है—

आदि, मध्य तथा अन्त रहित शुद्ध, बुद्ध, एक स्वभाव तथा परमात्म में पूर्ण विमल केवल ज्ञानमयी नेत्र हैं, उसके द्वारा जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बों का भाव होता है उसी प्रकार से शुद्धात्म

---

१. निर्जरा वेदना विपाक सा द्वेधा अबुद्धिपूर्वा कुशलमूला चेति तत्र
नरकादिषु गतिषु कर्मफलविपाकजा अबुद्धिपूर्वा सा अकुशलानुबन्धा ।
परीषहजये कृते कुशलमूला सा शुभानुबन्धा निरनुबन्धा चेति ।
इत्येवं निर्जराया गुणदोषभावनं निर्जरानुप्रेक्षा ॥सर्वार्थसिद्धि ९–७॥

२. असुहेण णिरयतिरियं सुहउपजोगेण दिविजणरसोक्खं ।
सुद्धेण लहइ सिद्धिं एवं लोयं विचिंतिज्जो ॥बारस अणुवेक्खा ४२॥

ही निश्चय लोक है अथवा उस निश्चय लोक वाले निज शुद्धात्मा में जो अवलोकन है वह निश्चय लोक है । इस प्रकार निज शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न परमाह्लादरूप सुख-रूपी अमृत के आस्वाद के अनुभव से जो भावना होती है वही निश्चय से लोकानुप्रेक्षा है ।१

व्यवहार से इसका स्वरूप मूलाचार में इस प्रकार बताया है इस लोक में यह जीव अपने कर्मों से उपार्जन किए सुख दुख को भोगता हैं और भयंकर भवसागर में जन्म मरण का बार-बार अनुभव करता हैं । इसमें जो माता है वह पुत्री हो जाती है, पुत्री माता हो जाती है। पुरुष स्त्री हो जाता है और स्त्री पुरुष और नपुंसक हो जाता है । प्रताप, सुन्दरता बल वीर्य से परिपूर्ण राजा भी कर्मवश अशुचि स्थान में लट पिपिलादि हो जाता है । इसलिए ऐसे संसार में रहने को धिक्कार हो । लोक स्वभाव को धिक्कार हो, जिससे कि देव और महान ऋद्धि वाले अनुपम सुख को भोगकर पश्चात् दुख भोगने वाले हो जाते हैं । इस प्रकार लोक को निस्सार जानकर अनंत सुख का स्थान ऐसे मोक्ष का यत्न से ध्यान कर ।२

सर्वार्थसिद्धि में कहा है-लोक का आकार व प्रकृति आदि की विधि का चिंतन करना अर्थात् चारों ओर से अनन्त अलोकाकाश के बहुमध्य देश मे स्थित लोक के आकारादिक का अनु-चिंतन करना लोकानुप्रेक्षा है ।३

लोकानुप्रेक्षा का प्रयोजन-

लोकभावना का चिंतन करने से तत्वज्ञान की विशुद्धि होती है । जो पुरुष उपशम परिणाम स्वरूप परिणमन होकर इस प्रकार लोक के स्वरूप का ध्यान करता है, वह कर्मपुंज को नष्ट करके उसी लोक का शिखामणि होता है ।

---

२. आदिमध्यान्तमुक्ते शुद्धबुद्धैकस्वभावे परमात्मनिसकलविमलकेवलज्ञान –
लोचनादर्शे बिम्बानीव शुद्धात्मादिपदार्थों लोक्यन्ते दृश्यन्ते
ज्ञायन्ते परिच्छद्यन्ते यतस्तेन कारणेन स एव निश्चयलोकस्तस्मि-
न्निश्चयलोकाख्ये स्वकीय शुद्धपरमात्मनि अवलोकन वा स निश्चय
लोकः ।इति निजशुद्धात्म भावनोत्पन्नपरमाह्लादिक सुखामृत स्वादा–
नुभवनेन च या भावना सैव निश्चयलोकानुप्रेक्षा ॥बृहद द्रव्य संग्रह ॥१४३॥

१. तत्थणुहवंति जीवा सकम्मणिव्वित्तियं सुहं दुक्खं ।
जम्मणमरण पुणब्भव मणंत भवसायरे भीमे ॥
मादा य होदि धूदा धूदा मादूत्तणं पुणं उवेदि ।
पुरिसोवि तत्थ इत्थी पुमं च अपुमं च होइ जगे
होऊण तेयसत्ताधिओ दु बलविरियरूवसंपण्णो ।
जादोवच्चघरे किमिधिगत्थु संसारवासस्स ॥
धिब्भवदु लोगधम्मं देवावियं सूरवदीय महधीया ।
भोत्तूण य सुहमतुलं पुणरवि दुक्खावहा होंति ॥
णाऊण लोगसारं णिस्सारं दीहगमण संसारं ।
लोगग्गसिहरवासं झाहि पयत्तेण सुहवासं ॥मूलाचार॥७१५-७१९॥

१. लोकसंस्थानादिविधिन्तनं समन्तादनन्तस्यालोकाकाशस्य बहुमध्यदेश
भाविनो लोकस्य संस्थानादिरिति तस्य भावना अनुचिन्तनं लोकानुप्रेक्षा ॥सर्वार्थसिद्धि ९।७॥

१२ बोधि दुर्लभ भावना–

जड़ चेतन, स्त्री, पुत्र, मित्र, धन–धान्य आदि का संग्रह, मैंने अगणित बार किया है। प्रयत्न साध्य सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति आज तक नहीं कर पाया हूं। इसलिए दुख एवं अशांति का भागी बना हुआ हूं। संसार की सभी वस्तुओं की प्राप्ति सहज है, परन्तु सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति दुःसाध्य है। सम्यग्ज्ञान के अभाव में मुनिव्रत लेने के बाद भी शांति नही है एवं सम्यग्ज्ञान के साथ अन्तर्मुहुर्त के लिए शुद्धोपयोग के होने पर केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। अतः सभी परद्रव्यों से दृष्टि मोड़कर अपनी निजी सम्पत्ति सम्यग्ज्ञान की उपलब्धि करूंगा, अपने ही शरीर में लीन रह जाऊंगा। पुनः–पुनः ऐसा चिंतवन करना बोधिदुर्लभ भावना है।

ऐकेन्द्रियादि दुख से भर देह धार, चारित्र के बल हुआ भव से न पार।
अत्यन्त है कठिन सम्यक् बोधि पाना, जो पा लिया सुलभ है भव पार जाना ॥

निश्चय से बोधिदुर्लभ भावना का स्वरूप बारस अनुप्रेक्षा में निम्न प्रकार बताया है–जिस उपाय से सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति हो उस उपाय का चिन्तवन करने को बोधिदुर्लभ भावना कहते हैं, क्योंकि बोधि अर्थात् सम्यग्ज्ञान को पाना अत्यन्त कठिन है। अशुद्धनिश्चयनय से क्षायोपशमिक ज्ञान कर्मों के उदय से उत्पन्न होता है इसलिए हेय अर्थात् त्यागने योग्य है और सम्यग्ज्ञान स्व-द्रव्य है अर्थात् आत्मा का निज स्वभाव है इसलिए उपादेय है।[१]

व्यवहार से बृहद् द्रव्यसग्रह में इसका स्वरूप इस प्रकार बताया है–यदि काकतालीयन्याय से मनुष्य गति, आर्यत्व, तत्वश्रवणादि सबकी उपलब्धि हो भी जाये तो भी इनकी प्राप्ति के फलभूत जो शुद्धात्मा के ज्ञान स्वरूप निर्मल धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान रूप परमसमाधि है वह दुर्लभ है।

इसलिए उसकी ही निरन्तर भावना करनी चाहिए। सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का प्राप्त होना बोधि है और उन्हीं सम्यग्दर्शनादिकों को निर्विघ्न अन्य भव में साथ ले जाना सो समाधि है।[१]

---

२. उप्पज्जदि सण्णाणं जेण उवायेण त-सुवायस्स ।
चिंता, हवेहि बोही अच्चतं दुल्लहं होदि ॥
कम्मुदयपज्जाया हेयं खाओवसमियणाणं खु ।
सगदव्वमुवादेयं णिच्छयदो होदि सण्णाणं ॥ बारस अणुवेक्खा ॥८३।८४॥

३. कथंचित काकतालीयन्यायेन (एतेमनुष्यगति आर्यत्वतत्वश्रवणादि सर्वे)
लब्धेष्वपि तल्लब्धिरूपबोधेः फलभूतस्वशुद्धात्मसंवित्यात्मकनिर्मल
धर्मध्यानशुक्लध्यानरूपा परसमाधिर्दुर्लभः तस्मात्सा एव निरन्तरं
भावनीयः। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामप्राप्तप्रापणं बोधिस्तेषामेव
निर्विघ्नेन भवान्तरप्रापणं समाधिरिति ॥बृहद्द्रव्यसंग्रह टीका ॥१४४॥

सर्वार्थसिद्धिमें भी कहा है—एक निगोद शरीर में सिद्धों से अनन्तगुणे जीव हैं। इस प्रकार के स्थावर जीवों से सर्वलोक निरन्तर भरा हुआ है। अतः इस लोक मे त्रस पर्याय का प्राप्त होना इतना दुर्लभ है जितना कि बालुका के समुद्र में पड़ी हुई वज्रसिकता की कणिका का प्राप्त होना। उसमें भी पशु, मृग, पक्षी और सरीसृप तिर्यंचों की बहुलता होती है। इसलिए जिस प्रकार चौराहे पर रत्नराशि का प्राप्त होना अति कठिन है। उसी प्रकार मनुष्य पर्याय का प्राप्त होना अति कठिन। मनुष्य पर्याय मिलने के बाद उसके च्युत हो जाने पर पुनः उसकी प्राप्ति होना इतना कठिन है, जितना कि जले हुए पुद्गलों का पुनः उस वृक्ष पर्याय रूप से उत्पन्न होना कठिन होता है। कदाचित्, पुनः उसकी प्राप्ति हो जाये देश, कुल, इन्द्रिय सम्पन्नता और निरोगता इनका प्राप्त होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। इन सबके मिल जाने पर भी यदि समीचीन धर्म की प्राप्ति न होवे तो जिस प्रकार दृष्टि के बिना मुख व्यर्थ होता है, उसी प्रकार मनुष्य जन्म का प्राप्त होना व्यर्थ है। इस प्रकार अति कठिनता से प्राप्त होने योग्य उस धर्म को प्राप्त कर विषय सुख में रमण होना भस्म के लिए चन्दन को जलाने के समान निष्फल है। कदाचित् विषय सुख से विरक्त हुआ तो भी उसके लिए तप की भावना, धर्म की प्रभावना और सुखपूर्वक मरण रूप समाधि का प्राप्त होना अति दुर्लभ है। इसके होने पर ही बोधिलाभ सफल है ऐसा विचार करना बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है।[1]

बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा का प्रयोजन-

बोधिदुर्लभ भावना का चिन्तवन करने से इस जीव को बोधि (सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र, संसार की समस्त दुर्लभ वस्तुओं में भी दुर्लभ होने का ज्ञान होता है। रत्नत्रय के प्रति उत्साह उमड़ता है।

---

१. एकस्मिन्निगोतशरीरे जीवा सिद्धानामनन्तगुणाः ।एव सर्वलोको
निरन्तरं निचितः स्थावरैरतस्तत्र त्रसता वालुकासमुद्रे पतिता वज्रसि –
कताकणिकेव दुर्लभा तत्र च विकलेन्द्रियाणा भूयिष्ठत्वात्पंचेन्द्रियता
गुणेषु कृतज्ञमेवकृच्छ्रलभ्या । तत्र च तिर्यक्षु पशुमृगपक्षि सरीसृपादिषु बहुषु
मनुष्यभावश्चतुष्पथे रत्नराशिरिव दुरासदः। तत्प्रच्यवे च पुनस्तदुपपत्ति-
र्दग्धतरुपुद्गलतद्भावोपपत्तिवद् दुर्लभा। तल्लाभे च देशकुलेन्द्रिय
संपन्नीरोगत्वान्युत्तरोत्तरतोऽति दुर्लभानि ।सर्वेष्वपि तेषु लब्धेषु
सद्धर्मप्रतिलम्भो यदि न स्यात् व्यर्थ जन्म वदनमिव दृष्टिविकलम् ।
तमेव कृच्छ्रलभ्यं धर्ममवाप्य विषयसुखे रञ्जनं भस्मार्थं
चन्दनदहनमिव विफलम विरक्त– विषय सुखस्य तु तपोभावनाधर्म
प्रभावना सुखमरणादिलक्षणः समाधि र्दुरवापः । तस्मिन्सतिबोधिलाभः फलवान्
भवतीति चिन्तनं बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा ।।सर्वार्थसिद्धि ९–७

धर्म भावना—

संसार में राजा के पास, देवादि इन्द्रों के पास, माता–पिता के पास, सरकार के पास पुनः पुनः याचना करने पर भी यथेच्छ वस्तु की उपलब्धि होना संभव नहीं है। लोक में कहा जाता है" बिन मांगे मोती मिले, मांगे मिले न भीख"। ठीक इसी प्रकार भोगोपभोग की सामग्री याचना के बाद भी संभव नहीं है। परन्तु धर्म एक ऐसा देवता है, धर्म एक ऐसा महाराजा है, धर्म एक ऐसा दानी कल्पवृक्ष है, जो बिना मांगे ही मुक्ति सुन्दरी को प्रदान करता है, यथेच्छ वस्तु प्राप्त करा देता है, मन की सारी भावनाएं उसके अवलम्बन से पूर्ण हो जाती हैं, सारे संकल्प–विकल्प चकनाचूर हो जाते हैं, धर्मात्मा व्यक्ति ज्ञानानंद से परिपूर्ण हो जाते हैं। अतः सत्य, अहिंसा, वीतराग धर्म की शरण लेकर अपने शुद्ध चैतन्यपिंड अखंड आनंदघन आत्मस्वरूप में ही समाहित हो जाऊंगा। पुनः पुनः ऐसा चिन्तवन करना धर्म भावना है।

चिन्तामणी रतन से बढ़ि धम धारो, वांछित्य देय सुख मोक्ष सुरेन्द्र प्यारो।
जो धारलें सम्मति तजि संग सारे, तो भावना सफल हो शिव को पधारे। १२

निश्चय से धर्म अनुप्रेक्षा का स्वरूप बारस अनुप्रेक्षा में निम्न प्रकार बताया है— जीव निश्चय नय से सागार और अनगार अर्थात् श्रावक और मुनि धर्म से बिलकुल जुदा है। इसलिये राग–द्वेष रहित परिणामों से शुद्ध स्वरूप आत्मा का ही सदा ध्यान करना चाहिये। १

व्यवहार से इसका स्वरूप बारस अनुप्रेक्षा में इस प्रकार बताया है—

उत्तम सुख में लीन जिनदेव ने कहा है, कि श्रावको और मुनियों का धर्म जो कि सम्यक्त्व सहित होता है, क्रम से ग्यारह और दश प्रकार का है। जो जीव श्रावक धर्म को छोड़कर मुनियों के धर्म का आचरण करता है, वह मोक्ष को नहीं छोड़ता है। इस प्रकार धर्म भावना का नित्य ही चिन्तन करते रहना चाहिये। २

सर्वार्थसिद्धि में भी कहा है—

जिनेन्द्रदेव ने जो अहिंसा लक्षण धर्म कहा है, सत्य उसका आधार है। विनय उसकी जड़ है, क्षमा उसका बल है, ब्रह्मचर्य से रक्षित है, उपशम की उसमें प्रधानता है, नियति उसका लक्षण है, परिग्रह से रहितपन। उसका आलम्बन है। इसकी प्राप्ति नहीं होने से दुष्कर्म विपाक से

---

१. णिच्छयणएण जीवो सायारणगारधम्मदो भिण्णो
मज्झत्थभावणाए सुद्धप्पं चिंतये णिच्चं ॥८२॥

२. एयारसदसभेयं धम्मं सम्मत्तपुव्वयं भणियं।
सागारणगाराणं उत्तमसुहसंपजुत्तेहिं ॥बारसअणुवेक्खा ८२–८३
सावयधम्मं चत्ता जदिधम्मे जो हु वट्टए जीवो।
सो ण य वज्जदि मोक्खं धम्मं इदि चिंतए णिच्चं ॥बारस अणुवेक्खा ॥८१॥

उत्पन्न दुःख को अनुभव करते हुये ये जीव अनादि संसार में परिभ्रमण करते हैं । परन्तु इसका लाभ होने पर नाना प्रकार के अभ्युदयों की प्राप्ति पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति होना निश्चित् है । ऐसा चिन्तन करना धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा है ।

बृहद्द्रव्यसंग्रह में भी कहा है— चौरासीलाख योनियों में दुखों को सहते हुए, भ्रमण करते इस जीव को जब इस प्रकार के पूर्वोक्त धर्म की प्राप्ति होती है, तब वह विविध प्रकार के अभ्युदय सुखों को पाकर तदनंतर अभेद रत्नत्रय की भावना के बल से अक्षयानंत सुखादि गुणों का स्थान भूत अर्हंतपद और सिद्ध पद को प्राप्त होता है । इस कारण धर्म ही परम रस का रसायन है, धर्म ही निधियों का भण्डार हैं, धर्म ही कल्पवृक्ष है, धर्म ही चिन्तामणि है——इस प्रकार का चिन्तवन धर्मानुप्रेक्षा है । ३

धर्मानुप्रेक्षा का प्रयोजन

धर्मानुप्रेक्षा का चिन्तवन करने वाले इस जीव के धर्मानुरागवश उसकी प्राप्ति के लिये सदा यत्न होता है । इस प्रकार हे प्राणियो ! इस धर्म और अधर्म का अनेक प्रकार महात्म्य देख कर सदा धर्म का आचरण करो और पाप से दूर ही रहो ।

अनुप्रेक्षा का माहात्म्य व फल—

इस प्रकार बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करने से साधु के धर्म का महान उद्योत होता है । वे निष्प्रमाद होते हैं । उनके महान संवर होता है ।

इस प्रकार जो पुरुष इन बारह भावनाओं का चिन्तन करके अनादि काल से आज तक मोक्ष को गये हैं उनको मैं मन, वचन,काय पूर्वक बारम्बार नमस्कार करता हूं । भूतकाल में जितने श्रेष्ठ पुरुष सिद्ध हुये और जो आगे होंगे वे सब इन्हीं भावनाओं का चिन्तवन करके ही हुये हैं ।

इन द्वादश भावनाओं के निरन्तर अभ्यास करने से पुरुषों के हृदय में स्थित कषाय रूप अग्नि बुझ जाती है, पर द्रव्यों के प्रति राग-भाव गल जाता है और अज्ञानरूपी अंधकार का विलय होकर ज्ञान रूप दीप का प्रकाश होता है ।

---

३. अय जिनोपदिष्टो धर्मोऽपिहिंसालक्षणः मत्याधिष्ठतो विनयमूलः । क्षमाबलो ब्रहमचर्यगुप्त उपशम प्रधानो नियतिलक्षणो निष्परिग्रहतालम्बनः। अस्यालाभादनादि ससारे जीवा. परिभ्रमयन्ति दुष्कर्मविपाकज दुःखमनुभवन्तः अस्य पुनः प्रतिलम्भे विविधाभ्युदय प्राप्तिपूर्वका निः श्रेय सोपलब्धिःनियतेति चिन्तनं धर्मस्वाख्या तत्त्वानुप्रेक्षा ।।मर्वार्थसिद्धि ९—७

१. चतुरशीति लक्ष योनि लक्षेषु मध्ये————दुःखानि सहमानः सन्भ्रमितोऽयं जीवो यदापुनरेवं गुणविशिष्टस्य धर्मस्य लाभो भवति तदा——विविधाभ्युदयसुखं प्राप्य पश्चादभेदरत्नत्रयभावनाबलेना क्षयानन्तसुखादिगुणास्पदमर्हत्पदं सिद्धपद च लभते तेन कारणेन धर्म एव परमरसरसायनं निधिनिधानं कल्पवृक्षः कामधेनुश्चिन्तामणिरिति । बृहद् द्रव्यसंग्रह, ३५ । १४५

ज्ञान और उपयोग

—: लेखक :—

ज्ञानदिवाकर उपाध्याय

श्री भरत सागर जी महाराज

बहुरि अपनी बुद्धि की तुच्छताकरि प्रशंसा योग्य ज्ञान कूं तुच्छ जानना सो उपघात है।[1]

(आसादन में विद्यमान ज्ञान का विनय प्रकाशन, गुण कीर्तन आदि न करके आसादन किया जाता है और उपघात में ज्ञान को ही अज्ञान कहकर ज्ञान का नाश किया जाता है।)

ज्ञान के इन दोषों के अतिरिक्त ज्ञान को मलिन करने वाले अथवा उसकी प्राप्ति में बाधा डालने वाले अन्य दोष इस प्रकार हैं—

(७) आचार्य उपाध्याय के प्रतिकूल प्रवृत्ति (८) अकाल अध्ययन (९) अश्रद्धा (१०) अभ्यास में आलस्य (११) अनादर से अर्थ सुनना (१२) तीर्थोपरोध अर्थात् दिव्यध्वनि के समय स्वयं व्याख्या करने लगना (१३) बहुश्रुतपने का गर्व करना (१४) मिथ्योपदेश से बहुश्रुत का अपमान करना (१५) स्वपक्ष का दुराग्रह (१६) दुराग्रहवश असम्बद्ध प्रलाप (१७) सूत्र विरुद्ध बोलना (१८) असिद्धि से ज्ञान प्राप्ति (१९) शास्त्र विक्रय (२०) हिंसादि कार्य रूपी कीचड़ में फँसा ज्ञान-कमल मुरझा रहा है ऐसे समय आलस्य, निद्रा, संक्लेश, शोक, अधिक रोग, अधिक चिन्ता के दल-दल में फँसे मानव का ज्ञान-कमल जर्जरित हो रहा है।

आलस्य— "आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः"

आलस्य मानव का महाशत्रु है। आलसी का ज्ञान-कमल कभी भी विकसित नहीं होता है। "अलसस्य कुतो विद्या" आलसियों को विद्या कहाँ है ?

निद्रा— पंचेन्द्रिय मानव को भी एकेन्द्रियवत् कर देने वाली महादेवी निद्रा है। एक कहावत है। "सुआ पालक चूका" जो सो गया वह सब को चूक गया। अधिक निद्रा ज्ञान की बाधक है। इन्द्रिय सुख में रत मानव को विद्या कहाँ ?

"सुखार्थिनां कुतो विद्या, विद्यार्थिनां कुतो सुखं।
सुखार्थी वा त्यजेत् विद्यां, विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखं॥"

सुखार्थी को विद्या नहीं, विद्यार्थी को सुख नहीं, सुखार्थी विद्या को छोड़े, विद्यार्थी सुख को छोड़े। अन्यथा निद्रा देवी में मस्त जीवन अज्ञानान्धकार में भस्मीभूत हो जायगा।

संक्लेश— दाँतों में अटका एक तिनका भी जिह्वा को बार-बार आकर्षित करता है। इष्ट वियोग-अनिष्ट संयोग जनित, अहंकार, ममकार बुद्धि रूप संक्लेश परिणाम जीव के ज्ञान विकास में बाधक बनकर बीच मझधार में नाव को झटका देते हैं। एक भी शल्य मन में हो तो ज्ञान में बाधक हो जाती है। संक्लेश परिणामों की अधिकता का ही प्रभाव है कि वर्तमान में मति-श्रुतज्ञान की प्रखरता एवं अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान का अभाव सा है।

१-मू.आ. पृ. ६३४ ।

[illegible] भेद हैं, [illegible] के छह भेद हैं, वक्तव्यता के तीन भेद हैं और अर्थाधिकार के भी तीन भेद हैं ।

आनुपूर्वी के तीन भेद हैं– पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी यथातथानुपूर्वी । जिसमें वस्तु का विवेचन मूल परिपाटी से किया जाता है वह पूर्वानुपूर्वी है । जैसे– ऋषभ, अजित, संभव से महावीर पर्यन्त क्रम से वन्दना करना । जिसमें वस्तु का विवेचन अन्त से लेकर आदि तक प्रतिलोम पद्धति से किया जाता है उसे पश्चादानुपूर्वी कहते हैं । जैसे णमोकारमन्त्र में साधु, उपाध्याय आचार्य, सिद्ध, अरहंत परमेष्ठियों को नमस्कार करता हूं । जो वस्तु का कथन अनुलोम,प्रतिलोम क्रम के बिना जहाँ कहीं से भी किया जाता है, उसे यथातथानुपूर्वी कहते हैं । जैसे– दुरित वर्ग संकट हरण, सप्तफणी से शोभायमान 'वामा माता' के अद्वितीय लाल पार्श्वनाथ प्रभु जयवन्त हों । शांति के प्रदाता, शांतिप्रभु को मैं वन्दना करता हूं, इत्यादि यथातथानुपूर्वी आदिके उदाहरण हैं ।

यह सूत्रकृताङ्ग ग्यारह अंगों की अपेक्षा पूर्वानुपूर्वी क्रम से लिखा है क्योंकि ग्यारह अंगों में सूत्रकृताङ्ग दूसरा अंग है । पश्चादानुपूर्वी की अपेक्षा यह दसवां अंग है । यथातथानुपूर्वी की अपेक्षा जहाँ से पुकारा जाय, वही अंग है ।

नाम उपक्रम के दस भेद हैं— गौण्यपद, नोगौण्यपद, आदानपद, प्रतिपक्षपद, अनादिसिद्धान्तपद प्राधान्यपद, नामपद, प्रमाणपद, अवयवपद, और संयोगपद । जिस संज्ञा के व्यवहार में अपने विशेष गुण का आश्रय लिया जाता है, उसे गौण्यपद नाम कहते हैं । जैसे– सूर्य की तपन गुण अपेक्षा तपन, भास अपेक्षा भास्कर इत्यादि संज्ञाएं हैं । जिन संज्ञाओं में गुणों की अपेक्षा न हो अर्थात् जो असमर्थक नाम हैं, उन्हें आदानपद कहते हैं । जैसे– पानी के निमित्त से 'पूर्णकलश' कहना । अनादिकाल से प्रवाह रूप से चले आये सिद्धान्तवाचक पदों को अनादिसिद्धान्तपदनाम कहते हैं । जैसे– धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि । बहुत से पदार्थों के होने पर भी किसी एक पदार्थ की बहुलता आदि द्वारा प्राप्त हुई प्रधानता से जो नाम बोले जाते हैं, उन्हें प्राधान्यपदनाम कहते हैं । जैसे– आम्रवन, निम्बवन इत्यादि । गौड़, आन्ध्र, द्रमिल इत्यादि नामपद नाम हैं । गणना अथवा नाम की अपेक्षा से जो संज्ञायें प्रचलित हैं, उन्हें प्रमाणपदनाम कहते हैं । जैसे– सौ, हजार, द्रोण, खारी, पल, तुला, कर्ष इत्यादि । अवयवपदनाम में अवयव दो प्रकार के होते हैं– उपचितावयव और अपचितावयव । रोगादि के कारण से अवयवों के बढ़ जाने से जो नाम बोले जाते हैं, उन्हें उपचितावयव कहते हैं । जैसे– गलगंड, शिलीपद, लम्बकर्ण इत्यादि जो नाम अवयवों के अपचय अर्थात् छिन्न हो जाने के निमित्त से व्यवहार में आते हैं, उन्हें अपचितावयव कहते हैं । जैसे– छिन्ननासिक, छिन्नकर्ण आदि । संयोगपदनाम चार प्रकार का है– द्रव्य संयोग, क्षेत्रसंयोग, कालसंयोग, भाव संयोग । द्रव्य के संयोग से जो नामपद होता है, वह द्रव्यसंयोग है । जैसे–दंडी, छत्री, गर्भिणी आदि । कालसंयोग– शरद, वासन्तक आदि में काल के संयोग से व्यवहार में नामलिये जाते हैं । क्षेत्र संयोग से जो नाम व्यवहार में आते हैं, वह क्षेत्रसंयोगनामपद है । जैसे– माथुर, दाक्षिणात्य, भारतीय आदि । क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी इत्यादि नाम भाव संयोगपद हैं क्योंकि क्रोधादि के संयोग से ये नाम व्यवहार में आते हैं । पूर्वोक्त दस प्रकार के नाम पदों में यह सूत्रकृतांग गौण्यपद नाम है ।

● नय ●

नयों के बिना लोक व्यवहार नहीं चल सकता । इसलिये नयों की जानकारी अत्यन्त आवश्यक है । नय किसे कहते हैं– "प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशे वस्त्वध्यवसायो नयः"।१

प्रमाण के द्वारा ग्रहण की गई वस्तु के एक देश में वस्तु का निश्चय करने वाले ज्ञान को नय कहते हैं । वह दो प्रकार का है–द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक । द्रव्यार्थिक– द्रवति द्रोष्यति अदुद्रुवत्–तांस्तान्पर्यायानिति द्रव्यम्, द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः" पर्यायार्थिक– परिभेदमेति गच्छतीति पर्यायः, पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः । २

अर्थात्– जो उन–उन पर्यायों को प्राप्त होता है, प्राप्त होगा और प्राप्त हुआ था उसे द्रव्य कहते हैं । द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है, उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं । "परि" अर्थात् भेद को जो प्राप्त होता है उसे पर्याय कहते हैं एवं पर्याय ही जिसका प्रयोजन है वह पर्यायार्थिक नय है । (यहाँ सूत्रकृतांग से प्रयोजन है अतः नयों का विस्तृत विवेचन नहीं किया जाता है)

❁ अनुगम ❁

अनुगम— द्रव्यश्रुत और भावश्रुत प्रमाण से जीव ज्ञान के अन्वेषण रूप प्रयोजन के होने पर चौदह मार्गणास्थान जानने योग्य हैं क्योंकि सूत्रकृतांग जीव के ज्ञान प्राप्ति के उपायों का वर्णन करता है । चौदहमार्गणास्थानों में सूत्रकृतांग ज्ञानमार्गणा रूप है ।

द्रव्यप्रमाण और भाव प्रमाण के दो भेद से वह प्रमाण दो प्रकार का है । द्रव्यप्रमाण अपेक्षा शब्द, प्रमातृ और प्रमेय के आलंबन से क्रमशः संख्यात, असंख्यात और अनंतरूप द्रव्य सूत्रकृतांग है अथवा ३६ हजार मध्यम पद प्रमाण है । भाव प्रमाण के पाँच भेद हैं– आभिनिबोधिक भाव प्रमाण, श्रुतभावप्रमाण, अवधिभावप्रमाण, मनःपर्ययभावप्रमाण और केवलभाव प्रमाण ।

पाँच इन्द्रिय और मन के निमित्त से तथा मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप तथा शब्द, स्पर्श, रस, रूप गंध और दृष्टश्रुत तथा अनुभूत पदार्थ को विषय करने वाला और बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त, ध्रुव, एक, एकविध अक्षिप्र, निःसृत, उक्त, अध्रुव के भेद से तीन सौ छत्तीस भेदरूप आभिनिबोधिक मतिज्ञान होता है ।

जिस ज्ञान में मतिज्ञान कारण पड़ता है, जो मतिज्ञान से ग्रहण किये गये अर्थ को लेकर तत्संबंधित दूसरे पदार्थों में व्यापार करता है और श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है । उसे श्रुतज्ञान कहते हैं ।

१-ध. पु. १ पृ. ८४ । २-ध. पु. १ पृ. ८४ ।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के विकल्प से अनेक प्रकार के पुदगल द्रव्य को जो प्रत्यक्ष जानता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान द्रव्य की अपेक्षा जघन्यरूप से जानता हुआ एक जीव के औदारिक शरीर योग्य संचित लोकाकाश के प्रदेश प्रमाण खंड करने पर उनमें एक खंड तक को जानता है। उत्कृष्ट रूप से अवधिज्ञान एक परमाणु तक को जानता है। क्षेत्र की अपेक्षा अवधिज्ञान जघन्य से अंगुल अर्थात् उत्सेधाङ्गुल के असंख्यातवें भाग क्षेत्र को जानता है। उत्कृष्ट से असंख्यात लोकप्रमाण क्षेत्र को जानता है। काल की अपेक्षा जघन्य से आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण भूत और भविष्यत् पर्यायों को जानता है। उत्कृष्ट से असंख्यात लोक प्रमाण समयों में स्थित अतीत और अनागत पर्यायों को जानता है। भाव की अपेक्षा अवधिज्ञान द्रव्य की शक्ति को जानता है।

जो दूसरों के मनोगत मूर्तीक द्रव्यों को उस मन के साथ प्रत्यक्ष जानता है। उसे मनः-पर्ययज्ञान कहते हैं। मनः पर्ययज्ञान द्रव्य की अपेक्षा जघन्यरूप से एक समय में होने वाले औदारिक शरीर के निर्जरारूप द्रव्य को जानता है। उत्कृष्ट रूप से कार्माणद्रव्य के अर्थात् आठ कर्मों के एक समय में बंधे हुये समयप्रबद्ध रूपी द्रव्य के अनन्त भागों मे से एक भाग को जानता है। क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य रूप से गव्यूतिपृथक्त्व क्षेत्र को जानता है और उत्कृष्ट रूप से मनुष्य क्षेत्र के भीतर जानता है, मनुष्य क्षेत्र के बाहर नहीं जानता है। काल की अपेक्षा जघन्य रूप से दो तीन भवों को ग्रहण करता है और उत्कृष्ट रूप से असंख्यात भवों को जानता है।

जो अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायों सहित संपूर्ण द्रव्यों को प्रत्यक्ष जानता है उसे केवलज्ञान कहते हैं। पर यहाँ क्या आभिनिबोधिक प्रमाण से प्रयोजन है, क्या श्रुत प्रमाण से प्रयोजन है, क्या अवधि प्रमाण से प्रयोजन है, क्या मनः पर्ययप्रमाण से प्रयोजन है अथवा केवल प्रमाण से प्रयोजन है? यहाँ न आभिनिबोधिक से, न अवधिप्रमाण से, न मनःपर्यय प्रमाण से, प्रयोजन है किन्तु ग्रन्थ की अपेक्षा यहां श्रुतप्रमाण से और अर्थ की अपेक्षा केवलप्रमाण से प्रयोजन है।

यहां पर पूर्वानुपूर्वी से गणना करने पर द्रव्यश्रुत और भावश्रुत की अपेक्षा तो दूसरे भाव-श्रुतप्रमाण से प्रयोजन है। और अर्थ की अपेक्षा पांचवे केवलज्ञान प्रमाण से प्रयोजन है। पश्चादानुपूर्वी से गणना करने पर द्रव्य श्रुत और भावश्रुत की अपेक्षा चौथे श्रुत प्रमाण से प्रयोजन है। और अर्थ की अपेक्षा प्रथम केवलज्ञान प्रमाण से प्रयोजन है। यथातथानुपूर्वी से गणना करने पर श्रुतप्रमाण और केवल प्रमाण से प्रयोजन है।

श्रुतज्ञान यह सार्थक नाम है। वह अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति आदि की अपेक्षा संख्यात भेद रूप है और अर्थ की अपेक्षा अनन्त है।

तीनों वक्तव्यताओं में से इस श्रुत प्रमाण की तदुभय वक्तव्यता जाननी चाहिये।

अर्थाधिकार दो प्रकार का है— अंगबाह्य और अंग प्रविष्ट । उनमें अंगबाह्य के चौदह अर्थाधिकार हैं । वे इस प्रकार हैं— सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निषिद्धिका । उनमें से सामायिक नाम का अंगबाह्य अर्थाधिकार समता भाव का विधान करता है । चतुर्विंशतिस्तव अर्थाधिकार चतुर्विंशति तीर्थंकरों के गुणों का एवं वंदना के फल का निरूपण करता है । वंदना अर्थाधिकार एक जिनेन्द्र देव संबंधी वन्दना के अवलंबन से जिनालय संबंधी वन्दना के निरवद्य भाव का अर्थात् प्रशस्त रूप भाव का वर्णन करता है । प्रतिक्रमण नाम का अर्थाधिकार दुःषमादिकाल और छह संहनन से युक्त स्थिर तथा अस्थिर स्वभाव वाले पुरुषों का आश्रय लेकर सात प्रकार के प्रतिक्रमणों का वर्णन करता है । वैनयिक नामक अधिकार ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, तप विनय और उपचार विनय इस तरह पांच प्रकार की विनयों वर्णन है । कृतिकर्म नाम का अधिकार पंचपरमेष्ठी की पूजादि विधि का वर्णन करता है । जिसमें मुनियों की आचार एवं गोचर विधि का भी वर्णन करता है वह दश वैकालिक है । जिसमें अनेक प्रकार के उत्तर पढने को मिलते हैं वह उत्तराध्ययन अर्थाधिकार है । यह चार प्रकार के उपसर्ग, बाईस परीषहों के सहने की विधि का भी वर्णन करता है । कल्प व्यवहार साधुओं के योग्य, अयोग्य आचरण होने पर प्रायश्चितविधि का वर्णन करता है । कल्पाकल्प द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा मुनियों के लिये क्या योग्य है और क्या अयोग्य है इत्यादि का वर्णन करता है । महा कल्पकाल और संहनन का आश्रय लेकर साधुओं के योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का वर्णन करता है । पुण्डरीक भवनवासी आदि चार प्रकार के देवों में उत्पत्ति के कारण रूप दान, पूजा, तपश्चरण, अकामनिर्जरा, सम्यग्दर्शन और संयम आदि अनुष्ठानों के आचरण का वर्णन करता है । महापुण्डरीक समस्त इन्द्र और प्रतीन्द्रों में उत्पत्ति के कारणरूप तपोविशेष आदि के आचरण का वर्णन करता है । प्रमादजन्य दोषों के निराकरण करने को निषिद्धि और इस निषिद्धि अर्थात् बहुत प्रकार के प्रायश्चित के प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को निषिद्धिका कहते हैं ।

अंग प्रविष्ट के अर्थाधिकार बारह प्रकार के हैं । वे इस प्रकार हैं–आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय व्याख्याप्रज्ञप्ति, नाथ धर्मकथा, उपासकाध्ययन, अंतकृद्दशा, अनुत्तरौपपादिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद ।

अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट में यहां किससे प्रयोजन है ? तो कहते हैं– यहाँ अंगप्रविष्ट से प्रयोजन है । अंगप्रविष्ट के भी बारह भेद आचार, सूत्रकृत, स्थानादि हैं, उनमें यहां किससे प्रयोजन है ? उत्तर में कहते हैं– अंगप्रविष्ट के बारह भेदों में भी यहा "सूत्रकृतांग" स प्रयोजन है ।

"पूर्वानुपूर्वी की अपेक्षा सूत्रकृताङ्ग अंगप्रविष्ट श्रुत का द्वितीय अंग है । पश्चादानुपूर्वी की अपेक्षा यह ग्यारहवां अंग है एवं यथातथानुपूर्वी की अपेक्षा यह अंगप्रविष्ट श्रुत का सूत्रकृताङ्ग नामक एक अंग है ।"

सूत्रकृतांग यह इस अंग का सार्थक नाम है । प्रमाण अपेक्षा छत्तीस हजार मध्यम पद प्रमाण है (पद की अपेक्षा) । अक्षरों की अपेक्षा असंख्यात वर्ण प्रमाण यह सूत्रकृतांग है । वक्तव्यता की अपेक्षा यह सूत्रकृतांग स्व समय का विवेचन करता है । अतः यहां स्वसमय वक्तव्यता है ।

अर्थाधिकार— ज्ञान प्राप्ति के उपाय, ज्ञान के आठ अंग, स्वाध्याय, स्वाध्याय के भेद आदि इसके अर्थाधिकार हैं ।

सूत्रकृतांग का वर्णनीय विषय क्या है ?

सूत्रकृतांग के वर्णनीय विषय के संबंध में विभिन्न आचार्यों की भिन्न-भिन्न परिभाषाएं मिलती हैं जो निम्न प्रकार हैं—

"विनय अध्ययन व व्यवहार धर्म क्रिया का सूत्रों द्वारा जिसमें वर्णन किया जाता है, उसे सूत्रकृतांग कहते हैं" । । जीवकांड ।

"सूदयदं णाम अंगं छत्तीस-पय सहस्सेहिं ३६००० णाणविणय-पण्णावणा-कप्पा-कप्प-छेदोव-ट्ठावण-ववहार धम्मकिरियाओ परूवेई ससमय-परसमय-सरूवं च परूवेई" । ।।ध०पु०१पृ०१००।।

अर्थात्-सूत्रकृतांग छत्तीस हजार पदों के द्वारा ज्ञानविनय, प्रज्ञापना, कल्प्याकल्प्य, छेदोपस्थापना और व्यवहार धर्मक्रिया का प्ररूपण करता है । स्वसमय और पर समय का भी निरूपण करता है ।

इस अंग में ज्ञान प्राप्ति के उपायों को बतलाते हुये ज्ञान के आठ अंगों एवं स्वाध्याय के भेदों आदि का विवेचन है ।

"सूत्रकृते ज्ञानविनयप्रज्ञापना कल्प्याकल्प्यच्छेदोपस्थापना व्यवहार धर्मक्रियाः प्ररूपयन्ते" ।

अर्थ- सूत्रकृतांग में ज्ञानविनय कल्प्य क्या है ? अकल्प्य क्या है, छेदोपस्थापनादि व्यवहार धर्म क्रियाओं का निरूपण है ।

संक्षेप में कहें तो सूत्रकृतांग की पदसंख्या छत्तीस हजार मध्यम पद प्रमाण है । इसमें ज्ञान-विनय, दर्शनविनय, चारित्र विनय और उपचार विनय ऐसे विनयों का तथा ज्ञानविनय आदि निर्विघ्न अध्ययन का, अथवा प्रज्ञापना का, कल्प्याकल्प्य, छेदोपस्थापना आदि व्यवहार धर्मों का तथा स्वसमय और पर समयों का स्वरूप सूत्रों द्वारा बताया है ।

सारांशतः सूत्रकृतांग शब्द से जो भाव फलित होता है, वह इस प्रकार है—

"यः सूत्रात् विवेचनः क्रियते सः सूत्रकृतांग कथ्यते"

१-जीवकांड । २-ध.पु. १ पृ. १०० । ३-रा० वा० १ ।

जो सूत्रों की विवेचना करता है वह सूत्रकृतांग कहलाता है।

सूत्र किसे कहते हैं ?

अल्पाक्षरमसंदिग्धं न्यायवद्विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्र विदोविदुः ।।१

जो थोड़े अक्षरों से संयुक्त हो, संदेह रहित हो, परमार्थ सहित हो, गूढ पदार्थों का निर्णय करने वाला हो, निर्दोष हो, युक्तियुक्त हो, यथार्थ हो उसे पंडितजन सूत्र कहते हैं। २

अल्पपरिमाण हो, महत्वपूर्ण हो, बत्तीस दोषों से रहित हो, आठ गुणों से युक्त हो वह सूत्र है। ३

जो सूत्र का ही व्याख्यान करता है किन्तु जिसकी शब्द रचना संक्षिप्त है और जिसमें सूत्र के समस्त अर्थ को संग्रहीत कर लिया गया है, वह वृत्तिसूत्र है। ४

द्रव्यश्रुत सूत्र है, और वह सूत्र भगवान अर्हंत के द्वारा स्वयं जानकर उपदिष्ट स्यात्कार चिन्हयुक्त पौद्गलिक शब्द ब्रह्म है ५

सूत्र शब्द तीन अर्थ सूचित करता है— १-ग्रन्थ २-तंतु ३-व्यवस्था। ६

परिच्छित्ति रूप भावश्रुतज्ञान समय को सूत्र कहते हैं।७

गणधर रचित, प्रत्येक बुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्न दसपूर्व धारक आचार्यों के आगम को सूत्र कहते है। ८

जिसके द्वारा अनेक अर्थ सूचित न हों वह असूत्र है। ९

सूत्र का अर्थ आगम है। कारण आगम की अधिकांश रचना सूत्रों में ही होती है। सूत्रों द्वारा अर्थ को थोड़े में वर्णित किया जाता है। पीछे अल्पबुद्धियों के लिये रची गई टीकाएं सूत्र के भावों की प्रतिपादक होने से प्रामाणिक हैं।

आगम का लक्षण

आगम, सिद्धान्त, प्रवचन ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। १०

आचार्य परम्परा से आगत मूल सिद्धान्त को आगम कहते हैं। इसका भाव ठीक-ठीक ग्रहण कर समझने के लिये पांच प्रकार से इसका अर्थ करने की विधि है— १-शब्दार्थ २-नयार्थ ३-मतार्थ

१—जयधवला। २—ध. ६/४। ३—आवश्यक निर्युक्ति सूत्र। ४—कषा. पा. २/२। ५—प्र.सा./त.प्र./३४।
६—स.म. ८/७४/६। ७—स.सा.। ८—[भ०आ०मू०।३४][ध०१२।५।५] ९—असूत्र गाथा (क.पा. १/१)।
१०—ध. १।१।

४-आगमार्थ ५-भावार्थ । शब्द का अर्थ यद्यपि क्षेत्र कालादि के अनुसार बदल जाता है, पर भावार्थ वही रहता है । जैसे– दूध को पालु, मिल्क, क्षीर आदि नामों से पुकारने पर भी भाव एक ही है । इसी प्रकार अरहंत, अरिहंत, अर्हंत्, अरुहन्त, अलिहन्त आदि नाम, क्षेत्र, काल की अपेक्षा शब्द भेद होने पर भी सबका भाव एक ही है । इसी कारण शब्द बदल जाने पर भी आगम अनादि कहा जाता है ।

स्वामी समन्तभद्र ने आगम (शास्त्र) का लक्षण इन शब्दो में किया है–

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् ।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्" ।। १ ।।

जो आप्त का कहा हुआ है, वादी प्रतिवादी द्वारा खंडन करने मे न आव, प्रत्यक्षादि प्रमाणों में विरोध रहित हो, वस्तु स्वरूप का उपदेश करने वाला हो, सब जीवो का हित करने वाला हो, मिथ्यामार्ग का खंडन करने वाला हो वह सत्यार्थ शास्त्र आगम है । शास्त्र को ही आगम कहा जाता है ।

वीतराग सर्वज्ञ के द्वारा कथित षड्द्रव्य, सप्ततत्व आदि का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा व्रतादिक के अनुष्ठान रूप चारित्र इस प्रकार भेद रत्नत्रय का स्वरूप जिसमें प्रतिपादित किया जाता है वह आगम है ।२

पूर्व एवं अंगरूप भेदों में विभक्त यह श्रुतज्ञान प्रमाण देवेन्द्रों व असुरेन्द्रों से पूजित, सुख के पिण्ड रूप मोक्ष फल से संयुक्त, कर्म रूप पटल के मल को नष्ट करने वाला, पुण्य पवित्र, शिव, भद्र अनंत पदार्थो से संयुक्त, दिव्य, नित्य, कलिरूप कलुष को दूर करने वाला, निकाचित अनुत्तर, विमल, संदेहरूप अंधकार को नष्ट करने वाला, गुणों से युक्त, स्वर्ग की सीढ़ी, मोक्ष के मुख्य द्वार भूत, निर्मल एवं उतम बुद्धि के समुदाय रूप सर्वज्ञ के मुख से निकला हुआ, पूर्वापर विरोध रहित विशुद्ध, अक्षय, अनादि निधन कहा गया है ।३

द्रव्यश्रुत का प्रमाण– ३३ व्यञ्जन, २६ स्वर और चार योगवाह इस प्रकार सब अक्षर का प्रमाण ६४ है । उन अक्षरों के संयोगों की गणना $२^{६४}$=१८४४६७४४०७३७०९५५१६१६ होती है ।

श्रुतज्ञान के (११२८३५८००५) एक सौ बारह करोड़ तिरासी लाख अट्ठावन हजार पाँच मध्यम पद होते हैं ।

अर्थ करने की विधि– शब्दार्थ के व्याख्यान रूप से शब्दार्थ जानना चाहिये । व्यवहार निश्चय रूप से नयार्थ जानना चाहिये । सांख्यों के प्रति मतार्थ जानना चाहिये । आगमार्थ प्रसिद्ध है । हेयोपादेय के व्याख्यान रूप से भावार्थ जानना चाहिये ।शब्दार्थ,नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ एवं भावार्थ

१–[रा.श्रा.१/९] २–[पं.का./ता.वृ./१७३/२५५] ३–[जंबूद्वीपपण्णत्ति १३/८०-८३]

इस प्रकार पाँच प्रकार से आगम का अर्थ किया जाता है । १

१ **शब्दार्थ**——शब्द का अर्थ करते हुए विवेचन करना शब्दार्थ कहलाता है । शब्द और अर्थ में वाचक-वाच्य शक्ति है । उसमें संकेत होने से अर्थात् उस शब्द का वाच्य यह अर्थ है ऐसा ज्ञान हो जाने से शब्दादि से पदार्थों का ज्ञान होता है । जिसप्रकार मेरु आदि पदार्थ हैं, मेरु शब्द के उच्चारण करने से ही जम्बूद्वीप के मध्य स्थित मेरु का ज्ञान हो जाता है इसी प्रकार अन्य पदार्थों को भी समझ लेना चाहिए ।

२ **नय निक्षेपार्थ विधि**——सापेक्ष कथन को नयार्थ कहते है ।

जिन जीवादि पदार्थों का नामादि निक्षेप विधि द्वारा विस्तार से कथन किया जाता है, उनका स्वरूप, प्रमाण और नयों के द्वारा जाना जाता है । २

आगम के किसी भी श्लोक, गाथा, वाक्य व पद से, अर्थ का निर्णय करने के लिये निर्दोष पद्धति से श्लोकादि का उच्चारण करना चाहिये । तदनन्तर पदच्छेद करना चाहिये । उसके बाद उसका अर्थ करना चाहिये । तदनन्तर पद-निक्षेप अर्थात् नामादि विधि से नयों का अवलंबन लेकर पदार्थ का ऊहापोह करना चाहिये तभी पदार्थ के स्वरूप का निर्णय होता है । पदार्थ निर्णय के इस क्रम को दृष्टि में रखकर गाथा में 'अर्थ, पद का उच्चारण करके और उसमें निक्षेप करके नयों के द्वारा तत्व निर्णय का उपदेश दिया जाता है । ३

३ **मतार्थ**——मत की प्रधानता से अर्थ करने को मतार्थ कहते हैं ।

प्रश्न

सर्ववस्तु कथंचित् एक है, कथंचित् अनेक है, यह कैसे संगत हो सकता है ? क्यों कि किसी प्रकार से सर्ववस्तुओं में एकता नहीं हो सकती है । त० सू० में कहा भी है– "उपयोगो लक्षणं" अर्थात् ज्ञान दर्शन रूप उपयोग ही जीव का लक्षण है । इस सूत्र के अन्तर्गत त० श्लोकवार्तिक में — "अन्य व्यक्ति मे उपचार से एक काल में सदृश परिणाम रूप अनेक व्यक्ति व्यापी एक सत्व हम नहीं मानते" ऐसा कहा है ।

उत्तर

पूर्व उदाहरणों में आचार्यों के वचनों से जो सर्वथा एकत्व ही माना है उसी के निराकरण से तात्पर्य है न कि कथंचित् एकत्व के निराकरण में और ऐसा न मानने पर सर्वथा सत्ता सामान्य के अनेकत्व मानने से पृथकत्व एकान्त पक्ष का ही आदर होगा । ४

आगमार्थ—— सिद्धांत की प्रधानता से अर्थ करना आगमार्थ है ।

१ परमागम के अविरोध पूर्वक विचार करना चाहिये किन्तु कथन में विवाद नही करना चाहिये ।

२ सूत्र में पदों की अनुवृत्ति दूसरे सूत्रों से ग्रहण करनी चाहिये ६

१–(स० सा० ता० वृ० १२० । बृ० द्र० टी २।१) २–(स० सि० १।६।२०)
३–(धवल १।१,१।३।१०) ४–(स भं त । ७७ । १) ५–(द्र० सं० टी० २२।२६)
६–(पं० ध० । पृ० ३३५)

कथन तो अनेक प्रकार होय परन्तु यह सर्व आगम अध्यात्मशास्त्रनिसो विरोध न होय वैसे विवक्षा भेद करि जानना । १

परम्परा का ध्यान रखकर अर्थ करना जैसे —एदीए गाहाए एदस्स वक्खाणस्सकिण्णं विरोहो । होउ णाम । ०००० ण जुत्तिसिद्धस्य आइरियपरम्परागयस्स एदीएगाहाए णाभद्दत्त काऊण सक्कि-ज्जदि अइप्पसंगादो । —प्रश्न —यदि ऐसा है तो (देशसंयत में तेरहकरोड़ मनुष्य हैं) इस गाथा के साथ इस पूर्वोक्त व्याख्यान का विरोध प्राप्त होता है तो होओ ।

कारण जो युक्ति सिद्ध है और आचार्य परम्परा से आया हुआ है, उसमें इस गाथा से असमीचीनता नहीं लायी जा सकती अन्यथा अतिप्रसंग दोष आ जायेगा । २

शब्द का नहीं भाव का ग्रहण करना चाहिये । जैसे —स्व समय ही शुद्धात्मा का स्वरूप है पर समय नहीं । ३ यहाँस्वसमय शब्द का भाव ग्राह्य है शब्द नहीं ।

भाव हे— स्वसमय याने जैनागम और पर समय मतलब अन्य दर्शन ।

५ भावार्थ——सार भूत तत्व को ग्रहण करना भाव है । कर्मोपाधि जनित मिथ्यात्व रागादि रूप समस्त विभाव परिणामों को छोड़कर, निरुपाधि केवल ज्ञानादि गुणों से युक्त जो शुद्ध जीवास्तिकाय है, उसी को निश्चय नय से (उपादेय) जानना चाहिये, यह भावार्थ है । वा यद्यपि इस अध्याय म आठ प्रकार के ज्ञानोपयोग तथा चार प्रकार के दर्शनोपयोग का व्याख्यान करते समय शुद्धाशुद्ध की विवक्षा की गई है, फिर भी निश्चय नय से आदि, मध्य, अन्त से रहित ऐसी परमानन्दमालिनी, परमचैतन्यशालिनी भगवान आत्मा में जो अनाकुलत्व लक्षण वाला पारमार्थिक सुख है, उस उपादेयभूत का (उपादान कारण का जो केवल ज्ञान व केवल दर्शन गुण रूप हैं अतः ये दोनो ही उपादेय हैं । यही श्रद्धेय हैं यही ज्ञेय है तथा इसी को, आर्तरौद्र आदि विकल्पों को त्यागकर) ध्येय बनाना चाहिए । ऐसा भावार्थ है । यह भावार्थ की विधि है ।४

शुद्धनय के आश्रित जो जीव का स्वरूप है, वह तो उपादेय यानी ग्रहण करने के योग्य है और शेष सब त्याज्य है । इस प्रकार हेयोपादेय रूप से भावार्थ भी समझना चाहिये तथा व्याख्यान के समय सब जगह जानना चाहिये ।५

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप और उसका महत्व—

जैनाचार्यों ने एक महत्वपूर्ण बात सबके सामने रखी कि "मैं कौन हूँ" इसे पहचानना मुमुक्षुओं के लिये अत्यन्त आवश्यक है । भगवान महावीर के समवशरण में गौतम गणधर ने जब प्रवेश किया तो उनके मन में अनेक शंकायें थी, उनके समाधान हेतु उन्होंने भगवान से पूछा प्रभो ! कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा ज्ञानमय है, कुछ कहते हैं कि आत्मा नित्य है, शाश्वत है, कुछ

१-(रहस्यपूर्ण चिट्ठी पं० टो० । ५१२) २-(ध० ४ । १ ४. ४ । १५ । ६ । २)
३-(स. सा. ता. वृ. ३ । ६) ४-[पं. का. । ता. वृ. । ६१ ।११३] ५-[द्र. सं. टीका २/१०]

कहते हैं कि यह नाशवान है, कुछ कहते हैं कि इसका पुनर्जन्म होता है । मैं तो इसमें उलझ गया हूं । सत्य क्या है ?

महावीर प्रभु ने अपनी दिव्यध्वनि में कहा– सत्य क्या है इसे जानने के लिये आवश्यकता है सम्यग्ज्ञान की, सम्यग्ज्ञान के अभाव में सत्यासत्य का ज्ञान नहीं हो सकता है । वह सम्यग्यान क्या है ?

"भूतार्थ प्रकाशकं ज्ञान अथवा सद्भावविनिश्चयोपलम्भकं ज्ञानम्" १

भूतार्थ का प्रकाश करने वाला ज्ञान होता है अथवा सद्भाव का निस्चय करने वाले धर्म को ज्ञान कहते हैं ।

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञानं प्रमाणम् ।२

स्व और अपूर्वार्थ पदार्थ का निश्चयात्मक ज्ञान प्रमाण है ।

हिताहितप्राप्ति परिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञान मेव तत् । ३

हित की प्राप्ति और अहित के परिहार मं जो समर्थ है वह प्रमाण है । ऐसा प्रमाण ज्ञान ही है ।

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं बिना च विपरीतात् ।

निःसंदेह वेद यदा हुस्तज्ज्ञानमार्गमिनः ।।४२ रत्न०।।

जो ज्ञान वस्तु के स्वरूप को न्यूनता, अधिकता, विपरीतता और सदेह रहित जैसा का तैसा जानता है वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है ।

"जानाति ज्ञायतेऽनेन ज्ञाति मात्रं वा ज्ञानम्" ४

ज्ञान शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है–"जानाति, ज्ञायते अनेन, ज्ञाति मात्रं वाज्ञानम्" जो जानता है, जिसके द्वारा जाना जाय या जानना मात्र ज्ञान है ।

"स्वपर अर्थ बहु धर्मजुत जो प्रगटावन भान" ५

"आप रूप को जानपनो सो सम्यग्ज्ञान कला है" ६

१–ध. १–१४४–१४३ २–सू. १ परीक्षामुख ३–सू. २ परीक्षामुख ४–सर्वा. सि.१/१ ५– छ.४/१
६–छ. ३/२ ।

संशयविमोहविब्भम-विवज्जियं अप्पपरसरूवस्स ।
गहणं सम्मण्णाणं सायारमणेयमेयं तु ॥१

अपने स्वरूप का और परवस्तुओं के स्वरूप का संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित आकार विकल्प सहित जैसा का तैसा जानना सम्यग्ज्ञान है और वह अनेक भेद वाला है ।

णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदओहि अणाणणाणाणि ।
मणपज्जय केवलमवि पच्चक्खपरोक्खभेयं च ॥ २
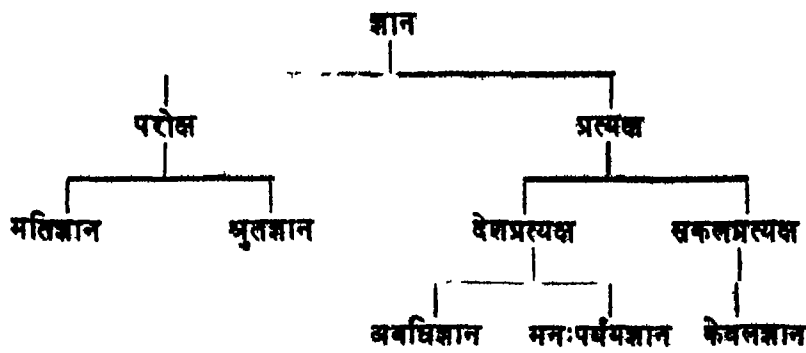
मानव जीवन व उसकी जीवन चर्यायें महत्वपूर्ण एवं विचित्रतापूर्ण हैं । मानव पर कष्ट, उपसर्ग अथवा अशुभ का उदय आ जाये तो वह परेशान हो जाता है । अधर्म में प्रवृत्त हो उद्देश्य से भटक जाता है । पर ज्ञान की अतुल महिमा है। यही कारण है कि ज्ञानी ज्ञानचक्षुओं से आत्मावलोकन करते हुए अपने ऊपर आये हुए कष्टों को सहिष्णुता के साथ झेल लेते हैं । ऐसे ज्ञान की महिमा अतुल है—

कोटिजन्म तपतपैं, ज्ञान विन कर्म झरैं जे ।
ज्ञानी के छिनमांहि, त्रिगुप्तितैं सहज टरैं ते ॥
मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो ।
पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो ॥ ३

ज्ञान के बिना अज्ञानी जीव करोड़ों जन्मों में तप करके जितने कर्मों की निर्जरा करता है, उतने कर्मों को ज्ञानी जीव त्रिगुप्ति द्वारा क्षणभर में सहज ही दूर कर देता है ।

जे पूरब शिव गये, जांहि अब आगे जै हैं ।
सो सब महिमा ज्ञान तनी मुनिनाथ कहे हैं ॥४

१-द्र. सं. ४२, २-बृ.इ.५ ३-छहढाला ४-४ ४-छह. ४-७ ।

जो भव्य जीव पूर्व में मोक्ष गये हैं और आगे भी जायेंगे वह सारी महिमा सम्यग्ज्ञान की ही है। ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवे।
ज्ञान आपको रूप भये फिर अचल रहावे ॥१

धन, समाज, हाथी, घोड़ा, कोई भी आत्महित में काम नही आते है। ज्ञान प्राप्त होने पर जीव स्थिर अचल अवस्था को प्राप्त करता है।

"ज्ञान" मध्यदीपक है। "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:"।

ज्ञान से दर्शन मे विशुद्धता आती है और चारित्र में निर्मलता आती है। ज्ञान के अभाव में दर्शन और चारित्र परिपक्वावस्था को प्राप्त नही होते हैं। देहली पर रखे दीपक की तरह "ज्ञान" दर्शन और चारित्र दोनों को प्रकाशित करता है।

ज्ञान जीवन का प्राण है—

येषां न विद्या न तपो न दानं, ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृत्युलोके भुवि भार भूता, मनुष्य रूपेण मृगाश्चरन्ति ॥

जिनके पास ज्ञान नही है ऐसे जीव इस पृथ्वीतल पर भार भूत हे मानो मनुष्य रूप में पशु ही विचरण करते हैं।

ऐसे महान जीवनाधार, महिमावन्त ज्ञान के विना जीवन मृतक शरीर के समान अकार्यकारी है परन्तु ऐसे ज्ञान की उपलब्धि कैसे होती है ? कौन से ऐसे उपाय हैं, जिन्हें प्राप्तकर आत्मा को ान रूपी आभूषण से सजाया जा सकता है ?

ज्ञान रूपी आभूषणों से आत्मा को सजाने के प्रत्युत्तर में आचार्य कहते हैं—

"तातें जिनवर कथित तत्व अभ्यास करीजे"

जिनवर कथित तत्वों के अभ्यास द्वारा मुकुलित ज्ञान कमल को विकसित किया जा सकता है।

१—छह. ४-६।

सम्यग्ज्ञान प्राप्ति का उपाय—

क्षुधा की तृप्ति का उपाय भोजन, तृषा की तृप्ति का उपाय जल, आत्मशांति का उपाय ज्ञान, ज्ञान की प्राप्ति का उपाय ज्ञान का क्षयोपशमादि ।

ज्ञान की प्राप्ति का मूल उपादान ज्ञानावरणी कर्म का क्षयोपशम है एवं बहिरंग उपाय अनेक हैं।

आत्मा स्वभाव से ही शक्ति अपेक्षा पूर्ण केवलज्ञान ज्योति का स्वामी है । जीव के उस ज्ञान का अभाव कभी नहीं होता है । परन्तु स्वभाव की अभिव्यक्ति ज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम के अनुसार ही होती है । ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होने वाले ज्ञान को क्षायोपशमिक ज्ञान कहते हैं । क्षायोपशमिक ज्ञान मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय के भेद से चार प्रकार का है । ज्ञान पर पूर्ण आवरण कभी नहीं होता है। यह क्षायोपशमिक ज्ञान श्रुतज्ञान की अपेक्षा बीस भेद वाला है— पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, संघात, संघात समास, प्रतिपत्तिक, प्रतिपत्तिकसमास, अनुयोग, अनुयोग समास, प्राभृत प्राभृत, प्राभृत प्राभृत समास, प्राभृत, प्राभृतसमास, वस्तु, वस्तुसमास, पूर्व, पूर्वसमास । श्रुतज्ञान का सबसे जघन्य क्षयोपशम पर्यायज्ञान में रहता है एवं सबसे उत्कृष्ट क्षयोपशम पूर्वसमास ज्ञान में है ।

पर्याय ज्ञान किसे कहते हैं—

णवरि विसेसं जाणे सुहुमजहण्णं तु पज्जयं णाणं ।
पज्जायावरणं पुण, तदणंतर णाणभेदम्हि ।। १

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के जो सबसे जघन्यज्ञान होता है उसको पर्यायज्ञान कहते हैं । इसमें विशेषता यह है कि इसके आवरण करने वाले कर्म के उदय का फल इसमें (पर्याय ज्ञान में) नहीं होता है । (निरावरणज्ञान होते हुए भी यह क्षायोपशमिक ही है)

सुहुमणिगोद अपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयम्हि ।
हवदि हु सव्व जहण्णं णिच्चुग्घाडं णिरावरणं ।।२

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने के प्रथम समय में सबसे जघन्य ज्ञान होता है । इसी को पर्याय ज्ञान कहते हैं । इतना ज्ञान हमेशा ही निरावरण तथा प्रकाशमान रहता है ।

सुहुमणिगोद अपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयम्हि ।
फासिंदियमदिपुव्वं सुदणाणं लद्धिअक्खरयं ।। ३

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने के प्रथम समय में स्पर्शन इन्द्रिय जन्य मतिज्ञान पूर्वक लब्ध्यक्षररूप श्रुतज्ञान होता है । लब्धि नाम श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम का है । और अक्षर नाम अविनश्वर का होता है । इसलिये इस ज्ञान को लब्ध्यक्षर कहते हैं, क्योंकि इस क्षयोपशम का कभी विनाश नहीं होता । कम से कम इतना क्षयोपशम तो जीव के रहता ही है ।

१—गो.जी. ३१९ २—गो.जी. ३२० ३—गो.जी. ३२२ ।

इसके आगे यही ज्ञान क्षयोपशम के बढ़ने पर अनंतभाग वृद्धि, असंख्यात भाग वृद्धि, संख्यात भाग वृद्धि, संख्यात गुण वृद्धि, असंख्यात गुण वृद्धि, अनंत गुणवृद्धिरूप से बढ़ता–बढ़ता "पूर्वसमास" ज्ञान क्षयोपशम की उत्कृष्ट सीमा पर पहुंच जाता है । परिणामों की विशुद्धि पतन की ओर अग्रसर हुई तो यही ज्ञान पुनः अनंतभाग हानि, असंख्यात भाग हानि, संख्यातभाग हानि, संख्यात गुण हानि, असंख्यात गुण हानि और अनंतगुण हानि पर पहुंचकर पुनः पर्याय ज्ञान पर आकर टिक सकता है ।

एक क्लास मे ६० विद्यार्थी हे । गुरूजी सभी विद्यार्थियों को समान रूप से पढ़ाते हैं । सभी के पास बाहरी सभी साधन मौजूद हैं । परन्तु परीक्षा का जब रिजल्ट आता है, एक विद्यार्थी फेल हो जाता है, दूसरा पूरक में और तीसरा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होता है । एक विद्यार्थी एक प्रश्न को दस बार पढ़ता है, परन्तु याद नहीं रहता । दूसरा दो बार पढ़कर कंठस्थ कर लेता है । इस सबका कारण क्या है ? क्या गुरूजनों का पक्षपात है ? नहीं, अपना–अपना क्षयोपशम है । ज्ञान की विशेषता में मूल ज्ञानावरण का क्षयोपशम है, बाह्य साधन तो निमित्त मात्र हैं । एक बालक को दस बार भी पढ़ाया, समझाया जाने पर कुछ ध्यान नहीं रहता । दूसरा एक बार के इशारे मात्र से भावो को समझ लेता है । यह सब क्षयोपशम का खेल है ।

क्षयोपशम की वृद्धि करने के लिये सर्व प्रथम परिणामो की विशुद्धि और संक्लेश परिणामों का अभाव बहुत आवश्यक है । गुणवानो के प्रति प्रीति, ज्ञानियों के ज्ञान में अनुराग, ज्ञानियों के प्रति भक्ति, उनकी वैयावृत्ति करने से क्षयोपशम बढ़ता है । निरन्तर ज्ञानाभ्यास, आत्मचिंतन, ज्ञानियों के ज्ञान का प्रकाश करने के लिये धनादि का दान देना, शास्त्र कापियाँ वितरित करना, स्वयं यदि ज्ञानार्जन नहीं करते तो जो ज्ञानेच्छुक हैं उन्हें ज्ञान की प्राप्ति के साधन जुटाना, उनकी हर तरह से प्रशंसा करना आदि शुभ कार्यों से ज्ञान का क्षयोपशम बढ़ता है ।

इसलिये कहा है— नाज्ञोविज्ञत्वमायाति विज्ञोनाज्ञत्वमृच्छति ।
निमित्तमात्र मन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥१

अज्ञानी (अभव्य) ज्ञान को प्राप्त नही होता और न ही ज्ञानी (भव्य) अज्ञानी हो जाता है । गति में धर्मास्तिकाय के समान बाह्य कारण तो सभी निमित्त मात्र हैं । भावार्थ– कार्य तो क्षयोपशम के अनुसार होगा ।

अवधिज्ञान एवं मनःपर्ययज्ञान के भी जो जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद पाये जाते हैं । वे सब अपने–अपने अवधि, मनःपर्यय ज्ञानावरण के क्षयोपशम से ही उपलब्ध हैं ।

भावों की उत्कृष्टता और हीनता क्षयोपशम की हानि या वृद्धि का मूल कारण है । क्षयोपशम की उत्कृष्टता के कारण अवधिज्ञान लोक के समस्त रूपी पदार्थों को जानने में समर्थ

१–इष्टोपदेश ३५ ।

है, वही ज्ञान हीनता को प्राप्त होने पर सिर्फ घनांगुल के असंख्यात प्रदेश मात्र क्षेत्र को अपने ज्ञान का विषय बना पाता है। क्षयोपशम की हीनाधिकता की अपेक्षा ही देशावधि, परमावधि, सर्वावधि अथवा अनुगामी, अननुगामी, वर्द्धमान, हीयमान, अवस्थित, अनवस्थित आदि भेद पाये जाते हैं।

अवधिज्ञान का क्षयोपशम बढ़ाने का मूल उपाय सम्यक् चारित्र की आराधना है। तपस्या, ध्यान एवं चारित्र की विशेषता से ही इस ज्ञान के क्षयोपशम में वृद्धि होती है।

मनःपर्यय ज्ञान के भी उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य भेद मनःपर्यय ज्ञानावरण के क्षयोपशम की अपेक्षा ही कहे गये हैं।

मनःपर्ययज्ञान के विशेष क्षयोपशम वाला विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी जीव ही होता है। यह ज्ञान श्रेष्ठचारित्राराधक मुनियों के ही होता है। मुनियों में भी विशेष ऋद्धिधारियों के ही यह ज्ञान होता है। मनःपर्ययज्ञान का जघन्य क्षयोपशम ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी जीवों में होता है। उत्कृष्ट क्षयोपशम का फल यह है कि वह जीव उसी भव से मुक्त हो जाता है। जघन्य क्षयोपशम वाले के वह ज्ञान छूट भी सकता है।

मनःपर्ययज्ञान के क्षयोपशम को उन्नत करने के लिये मूल उपाय निर्दोष चारित्राराधना है। निर्दोष चारित्र का पालन और उत्तरोत्तर परिणामों की विशुद्धता के बल से ही मनःपर्ययज्ञान का क्षयोपशम उत्कृष्ट हो जाता है। फलतः जीव सूक्ष्म मन में स्थित कुटिल या सरल सभी भावों को ग्रहण करने में समर्थ होता है।

जिन कारणों से ज्ञानावरण कर्म बंधता है, उनको नहीं करना यही ज्ञान प्राप्ति का सच्चा उपाय है। जैसे—(१) अप्रदोष (२) अनिन्हव (३) अमात्सर्य (४) अनन्तराय (५) अनासादन (६) अनुपघात (७) स्वाध्याय (८) तीनों योगों की एकाग्रता (९) उद्यम (१०) मौन (अल्प बोलना) (११) ऊनोदर तप (१२) विद्वानों की संगति (१३) विनय (१४) कपट रहित तप (१५) संसार की असारता जानना (१६) सीखे हुए ज्ञान का चिन्तन (१७) ज्ञानी गुरु से पढ़ना (१८) पञ्चेन्द्रिय विषयों में अनासक्ति (१९) प्रमाद का त्याग (२०) अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग।

अप्रदोष:-प्रदोष ज्ञान का बाधक है अतः ज्ञान प्राप्ति के हेतु भूत अप्रदोष है। किसी धर्मात्मा के द्वारा तत्त्व ज्ञान की प्रशंसा सुनकर मन में आल्हादित होना। धर्मात्मा के ज्ञान की प्रशंसा करना "अप्रदोष" है।

एक धर्मात्मा पति अपनी शीलवती धर्मपत्नी सहित मंदिर जी में अष्टमी चतुर्दशी आदि दिनों में तत्त्व ज्ञान, स्वाध्यायादि किया करता था। दोनों के तत्वज्ञान की प्रशंसा लोक प्रसिद्ध हो गई। अज्ञानी व्यक्ति ईर्ष्या से जाग उठा फलतः उसने स्वाध्याय करते हुए पति-पत्नि को तलवार से मृत्यु के घाट उतार दिया। दोनों भव्यात्मा स्वर्ग में देव-देवी हो गये। वह अज्ञानी नाना योनियों में भ्रमण करता हुआ राजपुत्र हो गया परन्तु उसे एक अक्षर का भी ज्ञान नहीं।

पढ़ना लिखना कुछ आता नहीं। चारों तरफ अनादर हुआ। अन्त में मुनिराज के पास जाकर अपने अज्ञान का कारण पूछने पर मुनिराज ने पूर्वकृत पापकार्य का वर्णन किया। मुनि दीक्षा लेकर वह मौनव्रत से रहने लगा उसे णमोकार मंत्र का भी ज्ञान नहीं हो पाया। अपने अन्दर पूर्वकृत पापों की निंदा, गर्हा करने लगा। भाग्य से वहीं जोड़ा मुनिराज के दर्शन को आया। इन्होंने सब जानकर मुनि होकर भी उनसे अपने पूर्वकृत पाप की क्षमा मांगी और उनके तत्व ज्ञान की भूरि-भूरि प्रशंसा एवं अपने दुष्कृत्य की वे मुनिराज निंदा करने लगे। फलतः अप्रदोष गुण की वृद्धि होते ही उसी भव में केवलज्ञान को प्राप्त कर मुक्ति को प्राप्त हो गये।

अनिन्हव:—किसी भी कारण से ज्ञान को नहीं छिपाना अनिन्हव है। एक उत्तम बुद्धि वाला बालक, अपने ज्ञात विषयों को दूसरे बालक से छिपाता है। सोचता है, कहीं मेरा ज्ञान कम नहीं हो जाय या मेरा नंबर पीछे नहीं रह जाय। मान, बड़ाई, ईर्ष्या आदि कई कारणों से ज्ञान को छिपाया जाता है। फलतः ज्ञान कुंठित हो जाता है उसके विकास को स्थान नहीं मिलने से लोप भी हो जाता है। अतः ज्ञान को विकसित करने के लिये महान उपाय यही है कि अपने पास प्राप्त ज्ञान को छिपाना नहीं चाहिये। ज्ञान धन एक ऐसा धन है, जिसे जितना व्यय करेंगे उतना बढ़ेगा और जितना छिपाकर रखना चाहेंगे वह आपसे ही छिप जायगा, आपको ही कुंठित कर देगा। नीतिकार कहते है—

"व्ययेकृतेवर्धति एव नित्यं, विद्याधनं सर्व धनप्रधानम्"

और भी कहते है—

अपूर्वः कोऽपि कोशोऽयं विद्यते तव भारती।
व्ययतो वृद्धिमायाति क्षयमायाति सञ्चयात्॥

अरे भव्य आत्माओ! विद्याधन एक ऐसा अपूर्व खजाना है जो जितना व्यय किया जायेगा उतना बढ़ेगा और जितना सञ्चय करोगे उतना घटेगा। कुए से पानी नहीं निकाला तो सड़ जायेगा। फल पकने पर वृक्ष ने छिपा लिया तो सड़ जायेगा। फूल खिलने पर प्रभुचरणों पर चढ़ाया नहीं तो मुरझाकर पैरों में रोंदा जाने लगेगा। सरोवर ने कमलों को अपनी ओट में छिपा लिया तो मुरझाकर सड़ जायेंगे, वे सरोवर को ही गंदा कर देंगे। और यदि निष्प्रह होकर बांट दिया मनुष्य को दे दिया तो वही कमल अपनी गंध से सबको अपनी बहार लुटाकर स्वयं भी हसते है, दूसरे को भी हंसाते है। ठीक इसी प्रकार ज्ञानार्जन करके उस विद्या को छिपाया, बांटा नहीं तो ज्ञान कमल भी मुरझा जायगा। ज्ञान कमल को विकसित करके उसकी सौरभ को चारों ओर बिखेरते चलो। ज्ञान के पिपासु बाल-वृद्ध, शत्रु-मित्र, नर-नारी, सभी को अपनी सौरभ से सुरभित करते चलो, अन्यथा यह विकसित कमल मुरझाकर आत्मसरोवर को गंदा कर संसार रूपी कीचड़ मे ऐसा आकंठ फंसायेगा, जहाँ से निकलना भी दुष्कर होगा।

अमात्सर्य:—अपने द्वारा अर्जित ज्ञान को योग्य शिष्य को बिना किसी छल कपट के दे देना अमात्सर्य है। देने योग्य ज्ञान को यदि योग्य शिष्य को दे दिया जाता है तो वह ज्ञान संतति निरंतर अबाध रूप से प्रवाहित रहती है और केवल ज्ञान के लिये कारण बनती है।

अथवा वस्तु स्वरूप को जानकर यह भी पंडित हो जायेगा अतः मेरा सम्मान, प्रतिष्ठा कम हो जायेगी, ऐसे मात्सर्य को नहीं रखते हुए प्राप्त ज्ञान को देना अमात्सर्य है । मात्सर्य से ज्ञान की हीनता होती है । मध्य युग में बौद्ध विद्वान जैन बालकों को इसी मात्सर्य से नहीं पढ़ाते थे कि वस्तु तत्व का सही ज्ञान होने पर ये हमारा खंडन करेंगे । अतः अकलंक-निकलंक बालक बौद्ध भेषी बनकर बौद्धमठों में पढ़ते थे । एक दिन गुरुजी ने एक सूत्र लिखा । सूत्र अशुद्ध लिखा देख विचक्षण बुद्धि, बालकों ने गुरुजी की अनुपस्थिति मे इसे सुधार दिया । गुरुजी ने जब यह देखा तो मात्सर्य जागृत हो उठा । अरे ! हमारा कौन शत्रु यहाँ छिपा है, इसे अभी खत्म करना होगा । अंततोगत्वा दोनों बालकों की हत्या के कई उपाय हुए । फलतः निकलंक के प्राणों की बलि भी हो गई । परन्तु विद्वान अकलंक ने ज्ञान बल से बौद्धों को वाद में हरा दिया । मात्सर्य के फल स्वरूप बौद्ध धर्म का सफाया होने लगा और अकलंक ने मुनिराज बनकर जैन धर्म का झंडा विश्व में फहरा दिया । अतः अमात्सर्य ज्ञान प्राप्ति का अमोघ उपाय है ।

अनन्तराय—किसी के ज्ञानाभ्यास में विघ्न नहीं डालना अनन्तराय है ।

एक बालक पढ़ रहा था । मां को काम था । जाकर असमय में पुस्तक बंद कर दी, रात्रि का समय बालक पढ़ रहा था । बिजली जलने से पिता जी को नींद नहीं आ रही थी, बिजली बुझा दी । दो ज्ञानी आपस में चर्चा कर रहे थे । अज्ञानी वहां जाकर जोर-जोर से चिल्लाने लगा, तत्व चर्चा में बाधा कर दी । मुनिराज स्वाध्याय कर रहे थे । जाकर जोर-जोर से नमोस्तु-नमोस्तु करना चालू कर दिया । इधर स्वाध्याय, प्रवचन चल रहा है, उधर अपनी बातें चल रहीं हैं । इन सब कारणों से जीव तीव्र ज्ञानावरणी कर्म बांधता है और तीव्र अन्तराय करता है । अतः ज्ञान प्राप्ति के उपाय हेतु—पढ़ते हुए को कभी रोकना नहीं, अपने सुख के लिये बिजली आदि बंद करना नहीं, व्यर्थ जोर-जोर से बकवास करना नहीं । ज्ञानियों की आपसी तत्वचर्चा को ध्यान से सुनना, प्रवचन आदि मे मौन रहना । इस प्रकार ज्ञान प्राप्ति के उपायों में किसी प्रकार विघ्न नहीं करते हुए, ज्ञानाभ्यासी को हर प्रकार से मदद करना, उनके विघ्नों को दूर करना यह अनन्तराय नामक ज्ञान प्राप्ति का उपाय है ।

अन्तराय करने से क्या हानि होती है— एक बालक जो बुद्धिमान था और परीक्षा में द्वितीय नम्बर से पास होता था । उसने मेरा प्रथम नम्बर आये यह सोचकर प्रथम नम्बर आने वाले विद्यार्थी की पढ़ाई में अंतराय करना आरम्भ कर दिया । पुस्तक फाड़ना, पढ़ते हुए की बिजली बन्द करना, पढ़ते समय तेज आवाज में चिल्लाना, रेडियो लगाना आदि विघ्न किये और इसी में समय पूरा कर दिया पढ़ाई कुछ नहीं हो सकी । फलतः योग्य बालक तो अपनी पूर्ववत् क्रिया करता हुआ प्रथम नम्बर से पास हो गया, और ईर्ष्यालु फेल हो गया । अतः ज्ञान प्राप्ति के इच्छुक मानव को कभी भी ज्ञानाभ्यास में विघ्न नहीं डालना चाहिए ।

अनासादन—"दूसरे के द्वारा प्रकाशित होने वाले ज्ञान को नहीं रोकना अनासादन है"। कोई लेखक, कवि, उपदेशक, तत्वज्ञानी एवं धर्म प्रभावक है ऐसे ज्ञानी के ज्ञान प्रकाशन का निरंतर प्रयत्न करना ज्ञान प्राप्ति का अमोघ उपाय है । यदि लेखक या कवि है तो सुन्दर-सुन्दर

पुस्तकों का प्रकाशन कराकर उनके एवं स्वयं के ज्ञान का विकास करें । यदि उपदेशक है तो स्थान-स्थान पर प्रवचनादि का आयोजन कराके उनके ज्ञान से स्वयं का एवं धर्मप्रिय जनता का विकाश करें । तत्वज्ञानी है तो "तत्वनिर्णय" की पद्धति का ज्ञान स्वयं सीखें और अन्य को सिखाने की उनसे प्रार्थना कर उनके ज्ञान का प्रकाशन करते हुए अपना विकास करें । यदि धर्मप्रभावक है तो तीर्थ वंदना, रथयात्रा, पूजा, तप, त्याग आदि धर्म प्रभावक कार्यों से ज्ञानी के ज्ञान विकाश मे सहायक बनकर अपना ज्ञान कमल सुरभित, पुष्पित करें ।

अनुपघात— "सच्चे ज्ञान में दोष नहीं लगाना अनुपघात है" ।

ज्ञानियों को सबसे भारी उपसर्ग यही सहन करना पड़ता है कि अज्ञानी दुष्ट जन उनके ज्ञान को सहन नही कर पाते है और किसी भी उपाय से ज्ञानी के निर्दोष ज्ञान को दूषित, कलंकित कर जड़ मूल से उखाड़ने का प्रयत्न करते है । परन्तु सच्चा ज्ञान सूर्य बादलों की ओट में दबता नही, अपितु अन्दर ही अन्दर तेजी से चमकता है । फलतः वह पूर्ण तेजपुञ्ज ज्ञान सूर्य तीन लोक को प्रकाशन करने में समर्थ ऐसी कैवल्य ज्योति को प्राप्त होता है ।

वर्तमान की सच्ची घटना— एक शिक्षित बालिका की शादी ए धनाढ्य किंतु अशिक्षित परिवार में हो गई । उसने अपनी सास को मा, ससुर को पिता की तरह मानकर उनका विनय किया । परन्तु घर के अशिक्षित, रूढ़िवादी, दूषित वातावरण को वह सहन नहीं कर पाई । सभी को विनय से योग्य अयोग्य-क्रियाओं को बताने का प्रयत्न किया परन्तु नतीजा उल्टा हुआ बड़ी पढ़ी लिखी आई है जो हमें सिखाती है, तिरस्कार, अपमान,करके नाना प्रकार से यातनाएं दी जाने लगी । पति भी पत्नी के प्रति होने वाले अत्याचार को मात्र देखकर रह जाता । अन्त में उसके सच्चे ज्ञान को दूषित दृष्टि से देखने वाले देवर ने एक दिन कपट भरे प्यार, स्नेह से भाभी को अपने पास बुलाया और बन्दूक तानकर गोली से उड़ा दिया । कोर्ट में पूछा गया तो उत्तर मिला— भाभी एक शिक्षित योग्य महिला थी वह हमें अपने अनुसार चलाना चाहती थी । उसकी यह ज्ञान की विशेषता हमे सहन नही हो पाई, इसलिये उसे मार दिया है ।

परन्तु सच देखिये तो बालिका का ज्ञान निर्दोष था, उसका उद्देश्य निर्मल था । सच्चा ज्ञानी सभी को अपने समान बनाना चाहता है अतः ज्ञानार्जन के लिये क्या करें—

"गुणीजनों को देख हृदय में मेरे प्रेम उमड़ आवे
बने जहाँ तक उनकी सेवा करके यह मन सुख पावे"

स्वाध्याय— स्व माने आत्मा । अध्याय माने अध्ययन । अर्थात् जिन शास्त्रों में आत्मा के स्वरूप और आत्म-हित का उपदेश दिया गया हो, उन ग्रंथों का अध्ययन करना स्वाध्याय कहलाता है । स्वाध्याय करने से आत्मा के स्वरूप की पहचान होती है तथा आत्मा के लिये क्या हेय है और क्या उपादेय है, इसका ज्ञान होता है । यह ज्ञान होने पर ही आत्मा हेय का त्याग और उपादेय का ग्रहण कर सकती है । इसलिये 'स्वाध्यायः परमं तपः' अर्थात् स्वाध्याय को परम तप कहा है । यही कारण है कि स्वाध्याय को श्रावकों और साधुओं-

दोनों के लिये आवश्यक कर्तव्य बताया गया है। स्वाध्याय के पांच भेद बतलाये हैं-- वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश।

स्वाध्याय को आगम ग्रन्थों में तप बताया है। उसका कारण यह है कि स्वाध्याय करते रहने से ज्ञान की निरन्तर वृद्धि होती रहती है, वस्तु तत्व के स्वरूप की पहचान होती है, उससे स्व और पर का भेद विज्ञान होता है, आत्मा स्वभाव के सन्मुख और परभाव से विमुख होती है। कर्मक्षय करने और आत्म स्वरूप की प्राप्ति का यही एक मात्र उपाय है। यह सब तभी संभव है, जब आगम ग्रन्थों का केवल वाचन ही न हो, उसका पाचन भी हो। अन्यथा ज्ञान का अजीर्ण होकर ज्ञान भी मद बन जाता है।

मन वचन काय की एकाग्रता--

मन लोभी मन लालची मन चंचल मन चोर।
मन के मते न चालिये, पलक पलक में और॥

संसार में मन के समान लोभी, चंचल, चोर, पल-पल में रंग बदलने वाला अन्य कोई पदार्थ नहीं है। मन की चंचलता ज्ञान प्राप्ति में बाधक है। जिस पाठ को चंचल मन वाला विद्यार्थी दस बार पढ़ने पर भी याद नहीं कर पाता है, उस पाठ को मन की एकाग्रता, मन को वश में रखने वाला विद्यार्थी एक या दो बार पढ़कर याद कर लेता है। मन की एकाग्रता ही मनोगुप्ति है। मनोगुप्ति करने वाले के बड़ी बड़ी ऋद्धियां आसानी से हस्तगत हो जाती हैं मनोगुप्ति के द्वारा ज्ञान की सिद्धि और ज्ञान की सिद्धि से कैवल्य की प्राप्ति एवं मुक्ति की सिद्धि होती है। चंचल मन वाला व्यक्ति जितने कर्मों की निर्जरा करोड़ों वर्षों में करता है, मन गुप्ति वाला क्षणमात्र में उतने कर्मों की निर्जरा करने में समर्थ होता है।

वचनों की चंचलता-व्यर्थ बकवास करना, बिना प्रयोजन बोलना, असत्य बोलना, अपशब्दों का उच्चारण करना, अशुद्ध उच्चारण करना आदि है। जो जीव ज्ञानेच्छुक हैं, उनमें वचनों का संयम अत्यंत आवश्यक है। असत्य, अप्रिय, अशुभ, अशुद्ध, अश्लील वचनों को नहीं बोलकर जो भाषा समिति का पालन कर शुद्धोच्चारणादि करता है, उसे शीघ्र ही ज्ञान की उपलब्धि होती है।

काय की चंचलता होने पर भी ज्ञान का विकास रुक जाता है। काय की शुद्धि, आसन शुद्धि, काय से कुचेष्टाओं का अभाव कर काय को वश में रखना यह काय की एकाग्रता है।

ज्ञान की वृद्धि, ज्ञान की प्राप्ति का मूल उपाय मन, वचन, काय की एकाग्रता ही है। जिस प्रकार मंदिर के लिये मूर्ति आवश्यक है, पुत्र के लिये विवाह आवश्यक है, मोक्ष के लिये केवल ज्ञान आवश्यक है, केवलज्ञान के लिये शुक्लध्यान आवश्यक है, शुक्लध्यान के लिये शुद्धोपयोग आवश्यक है, शुद्धोपयोग के लिये मुनिव्रत आवश्यक है, मुनिव्रत के लिये षष्ठम-सप्तम गुणस्थान आवश्यक है, षष्ठम-सप्तम गुणस्थान के लिये दिगम्बरत्व आवश्यक है, दिगम्बरत्व के लिये स्वानुभूति आवश्यक है, ठीक इसी प्रकार ज्ञान प्राप्ति के लिये मन, वचन काय की एकाग्रता आवश्यक है।

उद्यम करना —

नीतिकारों ने कहा है— उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।
नहि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ।।

परिश्रम से ही कार्यों की सिद्धि होती है, केवल कल्पना मात्र से नहीं । सोए हुए वनराज के मुख में मृग प्रवेश नहीं करता ।

"परिश्रम ही सफलता की कुञ्जी है" । उद्यमी जीव पुरुषार्थ के बल पर भाग्य की रेखा को भी पलट देता है । ज्ञानार्जन की प्राप्ति के लिये केवल ज्ञान रूप मंदिर पर लगे अज्ञान रूपी ताले को खोलने के लिये "उद्यम" एक अमूल्य कुञ्जी है । "आलस्य न करके पाच मिनट भी शब्द, अर्थ, ज्ञानसहित केवल एक अक्षर भी मनन् कर आत्मसात् करलें तो कल्याण हो सकता है –

एक व्यक्ति ने जिन्हें अक्षर मात्र का ज्ञान नहीं था आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के पास जाकर दीक्षा ले ली। ज्ञान के अभाव मे समय व्यतीत कैसे हो, परीषह उपसर्गों को धैर्य से कैसे सहन किया जाय ? अतः ज्ञान की पिपासा जागृत हुई । लग गए ज्ञान प्राप्ति के उद्यम में । एक बालक आया उससे पूछा बेटा ! यह क्या है ? उत्तर मिला महाराजजी "अ" । दूसरे बालक से पूछा । उसने कहा– "आ" क्रम चलता रहा । दिन बीते, मास व्यतीत हुये । एक अनपढ़ व्यक्ति पढ़ना सीख गया । मुनिराज श्री के परिश्रम का ही यह चमत्कार था कि संस्कृत, न्याय आदि के प्रकाण्ड विद्वान् बनकर उन्होंने कई शास्त्रों को लिपिबद्ध किया, जो आज उपलब्ध हैं जिनका नाम था आचार्य श्री कुंथुसागर ।

क्षणशः कणशश्चैव, विद्यामर्थं च साधयेत् ।

क्षण त्यागे कुतो विद्या, कण त्यागे कुतो धनम् ।

एक–एक समय अमूल्य समझकर विद्या का अर्जन करें और एक–एक कण संचय कर के धन इकट्ठा करें। क्षण त्यागने पर विद्या और कण त्यागने पर धन का संचय नहीं हो सकता है ।

एक चरणहू नित पढे सहज कटे अज्ञान ।
पनिहारी की लेज से, सहज कटे पाषाण ।।

मौन (अल्प बोलना)—

कम खाना, कम सोवना , कम दुनिया से प्रीति ।
गम खाना, कम बोलना, यही बड़न की रीति ।।

बुद्धि के विकास के लिये आवश्यक है कि यदि "एक शब्द से काम चलता है तो दूसरे शब्द कभी न बोलो"। वर्तमान म आयु कम है, शक्ति कम है, सक्लेश अधिक है । अपनी अधिकांश शक्ति को व्यर्थ की बकवास में न लगाकर ज्ञानार्जन में लगाना चाहिये ।

मौन, शक्ति का संचायक, ज्ञान का वर्धक, वासनाओं का नाशक, उत्तम जीवन का अमूल्य व्रत है । कहते है कि—

"संतोषोभाव्यते तेन वैराग्यं तेनदर्श्यते ।
संयमः पोष्यते तेन मौनं येन विधीयते" ।।

१ जिसने मौन का धारण किया है, उसका संतोष, वैराग्य एवं संयम पुष्ट होता है ।

२ लोलुपता के त्याग से तप की वृद्धि, स्वाभिमान की रक्षा, एवं मन की सिद्धि होती है ।

३ द्रव्यश्रुत की विनय के प्रसार से वह मौनव्रती पुण्यवान बनता है एवं नानाप्रकार की समृद्धियों को पाता है ।

४ निर्मल मौन के-धारक की वाणी शास्त्र संदर्भ सहित मनोरम और आदेय होती है ।

५ समस्त विद्वानों के द्वारा प्राप्त वंदनीय पदवियां मौन से मिलतीं हैं ।

"शुद्ध मौनान्मनः सिद्ध्या शुक्ल ध्यानाय कल्प्यते ।
वाक् सिद्ध्या युगपत्साधुस्त्रैलोक्यानुग्रहाय च" ।।

मुनि वा सयमी निरतिचार मौन व्रत से मन की सिद्धि होने पर शुक्लध्यान को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं ।

तीर्थंकर प्रभु दीक्षा होने के पूर्व (जन्म से) अवधिज्ञानी होते है और दीक्षा लेते ही मनः पर्यय ज्ञान के धारक हो जाते हैं । फिर भी केवलज्ञान जब तक नहीं होता है, तब तक मौन ही रहते हैं । यह सब मौन का ही प्रभाव है कि अपनी अचिन्त्य शक्ति का संचय कर कर्म ईंधन को शुक्लध्यानाग्नि में भस्म करने में समर्थ हो जाते हैं ।

ऊनोदर तप— "कम खाना" । भूख से कम खाना ऊनोदर तप है । निद्रा, आलस्य, प्रमाद ये जीवन के ज्ञाननाशक महाशत्रु हैं । भरपेट भोजन प्रमाद को बढ़ाता है, निद्रा और आलस्य को वर्धित करता है अतः इसे जीतने के लिये आचार्यों ने कहा—"अल्पाहारी बनो" । ऊनोदर तप करने से शरीर में सदा हल्कापन रहता है, स्फूर्ति बनी रहती है एवं ज्ञानार्जन में उत्साह जागृत रहता है ।

विद्वानों की संगति— ज्ञान बढ़े गुणवानन के संग" अपने से अधिक विद्वान् अथवा विशेष ज्ञानी जनों की संगति ज्ञान की वृद्धि में अमूल्य साधक है । शराबी के संग में रहने वाला शराबी कहलाता है । शराब नहीं पीये तो भी उसके परमाणु संगति से उस रूप परिणमन कर जाते है, सुगंधित फूलों के संग में रहकर एक सुगंध रहित फूल भी खुशबूदार बन जाता है । नीम की संगति से पानी कड़वा और नारियल में आकर मीठा हो जाता है । ठीक इसी प्रकार ज्ञानी की संगति से अज्ञानी भी ज्ञानी बन जाता है । मानतुङ्गाचार्य ने संगति का फल बताते हुए सुन्दर चित्रण किया है— "नात्यद्भुत भुवनभूषण भूतनाथ ।
भूतैर्गुणै भुविभवन्तमभिष्टुवन्तः
तुल्याभवन्ति भवतो ननु तेन किंवा
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति" ।।

हे प्रभो ! एक धनवान की संगति से नौकर भी धनवान बन जाता है । तो प्रभु आपकी संगति से आपका सेवक भी आपके समान बन जाये इसमें क्या आश्चर्य है । भाव है "ज्ञानीजनों की संगति ज्ञान प्राप्ति के लिये आवश्यक है । अपने से कम ज्ञानी की संगति न करके अधिक गुणवानों की संगति करना चाहिये, जिससे स्वयं भी उन गुणों रूप परिणमन कर सकें ।

विनय:— विनयहीसों ज्ञान होय, विनय बिना नहिं होय ।
सूधा घट बरषत भरे, औंधा भरे न कोय ।।

विनय ज्ञान का मूल है । विनय, भक्ति, सुश्रूषा, नम्रता, सभी पर्यायवाची हैं ।
"विणओ मोक्खद्दारो" विनय मोक्ष का द्वार है ।

एक बालक विनयशील था । गुरु की विनय, भक्ति, सुश्रूषा में कोइ उसकी बराबरी नहीं कर पाता था । गुरूजी सदैव उसकी प्रशंसा किया करते थे उसने अपनी गुरू भक्ति, विनय के फलस्वरूप ज्ञान के क्षेत्र में भी विशेष नाम प्राप्त कर लिया था । गुरुजी की पत्नि जब भी कुछ कहती गुरुजी अपने विनयवान पुत्र की सदैव प्रशंसा करते । पत्नि ने कहा आप क्यों इतना पक्षपात करते हैं । सदैव एक की ही प्रशंसा । गुरुजी ने कहा मैं ठीक कहता हूं । वह बालक ही ऐसा है कि उसकी प्रशंसा के लिये शब्द भी नहीं हैं । अच्छा, समय आने पर बता दूंगा ।

एक दिन गुरूजी ने शिष्यों की परीक्षा लेने के लिये अद्‌भुत कार्य किया । हाय-हाय करके गुरुजी चिल्ला रहे हैं, आंखों से अश्रुधारा बह रही है । फोड़ा हो गया है-मुझसे तो दर्द सहन नहीं होता है । सभी बालक आये गुरूजी को नमस्कार कर बोले चलिये डाक्टर के पास, दवाई करेंगे । गुरूजी ने कहा-इसमें (फोड़े में) मवाद हो गया है जहर फैलने का डर है । अतः यदि कोई इस मवाद को मुंह से चूसकर निकाल देगा तो मेरी सारी व्यथा दूर हो जायगी । ओह ये क्या ! कहां की आफत आई, हमारे वश की तो बात ही नहीं है । सब घृणा करके भाग गये कुछ समय बाद वही विनयवान शिष्य आया । गुरुजी की फोड़े से होने वाली वेदना को देखकर वह बहुत दुखी हो गया । कहा गुरुजी आप बताइये, वही उपाय करेंगे । आपकी आज्ञा शिरोधार्य है मैं आपकी पीड़ा को नहीं देख सकता । गुरुजी ने कहा इसे मुंह से चूसकर मवाद निकालने पर पीड़ा दूर होगी और कोई उपाय नहीं है । शिष्य ने सहर्ष कहा—मैं अभी चूसकर सारा मवाद निकालता हूँ । कुछ भी हो आपका रोग दूर होना चाहिये । भक्ति, विनय से युक्त वह जैसे ही चूसता है, क्या देखता है, यह तो आम है गुरुजी शिष्य की भक्ति से, उसकी विनय से बहुत प्रसन्न हुए । पत्नी को कहा—बताओ सच्चा शिष्य कौन है ?

ज्ञान प्राप्ति के लिये पुस्तकों का विनय, उन्हें ऊँचे योग्य स्थान पर रखना, गुरुजनों की, अपने से बड़ों की विनय करना । (विनयका विशद विवेचन आगे होगा)

संसार की असारता जानना:—

क्षणभंगुर संसार को सारभूत नित्यमानकर जीव अज्ञानी बन, मोह में पागल हो चारों ओर भटकता है । कहीं ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है । ज्ञान प्राप्ति के लिये सर्व प्रथम संसार, शरीर और भोगों की असारता को जानकर मोह का अभाव करना आवश्यक है । प्राचीन समय में राजपुत्र एवं सामान्य पुत्रादि सभी घर परिवार के मोह को छोड़कर जंगलो में गुरुओं के पास पढ़ते थे और उत्तम ज्ञानार्जन कर अपना गृहस्थ और मुनिधर्म दोनों ही प्रशस्त करते थे ।

जोबन-गृह गोधन नारी, हय गय जन आज्ञाकारी ।
इन्द्रिय भोग छिन थाई, सुरधनु चपला चपलाई ।। १ ।।

यौवन, गृह, पशुधन, नारी, हाथी, घोड़ा, नौकरआदि एवं इन्द्रियों के भोग सब क्षणभंगुर, असार हैं; इन्द्र धनुष एवं बिजली की चपलता के समान नश्वर हैं जब यह भाव, यह ज्ञान

१– छहढाला–५/३

जीव अपने में आत्मसात् करलेता है, तभी अज्ञान को दूर कर ज्ञान की प्राप्ति की ओर पूर्ण निशंक हो कदम बढ़ाते हुए निर्मल ज्ञान को प्राप्त करता है। ऐसा मनुष्य एकान्त से निर्मोही होकर ज्ञान प्राप्ति में पूर्ण संलग्न हो केवल ज्ञान ज्योति को प्राप्त कर लेता है।

सीखे हुए ज्ञान का चिंतन:—

ज्ञान प्राप्ति का उपाय सीखे हुए ज्ञान का चिंतन है। पूर्व का चिंतन मनन करते रहने से ज्ञान का प्रवाह अविरल स्रोत की तरह प्रवाहित रहता है।

गुरुजी ने शिष्यों से कहा मेरे सभी प्रश्नों का एक उत्तर दो:–

प्रश्न— पान सड़े घोड़ा अड़े, विद्या विसरीजाय।
तवे पर रोटी जले को चेला किमथाय॥

उत्तर—"नहीं फेरने से"। पान को फेरा नहीं तो सड़ गया, घोड़े को फेरा नहीं अत: चलते-चलते अड़गया और अर्जित विद्या का मनन, चिंतन पलटकर फेरना नहीं किया तो वह विसर जाती है।

जिसप्रकार गाय एक बार खाती है फिर उसकी जुगाली करती है तब उसका वह भोजन पचता है। उसी प्रकार ज्ञान रूपी अमृत का पान करके चिंतन रूपी जुगाली करने से ज्ञान अविस्मरणीय बनता है। स्मरणशक्ति, धारणाशक्ति को बढ़ाने का मूल सूत्र निरन्तर चिंतन है। "मुहुर्मुहु" बार–बार चिंतन करते रहना चाहिये। वाचन करते रहे, पाचन नहीं हुआ, धारणा नहीं हुई तो वाचन का उपयोग ही नहीं है। "वाचन से पाचन महान है"। वाचन कम पाचन अधिक। पाचन की मूल अग्नि चिंतनधारा है।

निरंतर अभीक्ष्णज्ञानोपयोग की सिद्धि भी इसी चिंतन से होती है। एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति ने अपशब्द कहे, उसका अपमान किया। बारह वर्ष बाद भी उससे पूछा जाय तो कहेगा मेरे साथ ऐसा व्यवहार हुआ हैकि मैं जिन्दगी भर भी नहीं भूलूंगा कारण बस मेरे दिमाग में वही घूमता है। किन्तु उसी व्यक्ति ने एक दिन पूर्व आचार्य श्री के प्रवचन में क्या सुना पूछने पर उत्तर मिलता है–हमें याद नहीं है। क्यों? तो कहेंगे–हमारी स्मृति बहुत कमजोर है।

क्या वास्तव में स्मृति कमजोर है। नहीं, अपितु लक्ष्य का चिंतन नहीं है और अलक्ष्य में निरन्तर उपयोग को लगाये रहता है। आचार्य कहते है–इससे सिद्ध होता है कि "ज्ञान के प्रति तुम्हारी यथार्थ रुचि नहीं है"। ज्ञान को निर्मल विशुद्ध बनाने के लिये सीखे हुए पाठों का का निरन्तर चिंतन करना अति आवश्यक है।

ज्ञानी गुरु से पढ़ना:—

'जल पीजे छानकर गुरु कीजे जानकर' गुरुयदि स्वयं अज्ञानी है तो वह शिष्य को कैसे सिखायेगा। अत: ज्ञानी गुरु की शरण लेना उत्तम है सौ अज्ञानियों के गुरु बनने की अपेक्षा एक ज्ञानी का शिष्य बनना ज्ञान की प्राप्ति का अमोघ उपाय है।

पञ्चेन्द्रिय विषयों में अनासक्ति:—

"विषयासक्त चित्तानां गुणः को वा न नश्यति ।
न वैदुष्यं न मानुष्यं, नाभिजात्यं न सत्यवाक् ।।

ज्ञान प्राप्ति के लिये पञ्चेन्द्रिय विषयों में अनासक्ति का होना अत्यावश्यक है । इन्द्रिय विषयों में आसक्तजीव विषयभोगों में आसक्त होकर अपने आपको ही भूल जाता है। फिर ज्ञान प्राप्ति करना तो उसके लिये असंभव ही है । विषयासक्त जीव के गुणों की बजाय उसके स्वाभाविक मूलगुणों का भी ह्रास होने लगता है ।

प्रमाद नहीं करना— विद्या का अर्जन निष्प्रमादी को होता है ।

सच्चा विद्यार्थी वही है जो विद्या प्राप्ति हेतु प्राप्त समस्त कठिनाइयों को जीवन का उपहार समझकर उत्साहित हो, निष्प्रमादी बन तन-मन से रात-दिन विद्याध्ययन में अपने आपको समर्पित कर देता है । प्रमाद रहित होकर एकलव्य ने गुरू साक्षी मात्र (प्रतिकृति मूर्ति) करके उत्कृष्ट धनुर्विद्या का अर्जन किया । आज जितने बड़े-बड़े वैज्ञानिक, डाक्टर, इंजीनियर, वकील, विद्वान, पंडित आदि दिखाई देते है उनके जीवन का इतिहास देखने पर ज्ञात होता है कि उन्होंने दिन के २४ घंटों में से १८-२० घटों तक रात दिन एक कर निद्रा को अपनी गोद में सुलाया, स्वयं को उसकी गोद में न सुलाकर निरालसी हो सतत ज्ञानाराधना की थी । उसी के प्रतिफल स्वरूप आज उन्हें मान, सम्मानादि प्राप्त हो रहा है ।

आलसी निरुद्यमी न स्वयं परिश्रम करते हैं और न ही परिश्रम करते हुए व्यक्ति को देख ही पाते हैं । स्वयं भी अज्ञान पास में बंधते हैं एवं दूसरों को भी फंसाना चाहते हैं । चार बालक दौड़ रहे थे । एक गाड़ी आगे दौड़ी जा रही थी । बालक उसी में बैठना चाहते थे । दो बालकों ने निष्प्रमादी हो तेज दौड़ लगाई और दौड़ती गाड़ी में पीछे बैठ गये, दो आलसी इसे सहन नहीं कर पाये । सोचा ये चढ़ गये, हम पीछे रह गये, इन्हें भी उतरवाना चाहिये । उपाय सोचने लगे । दोनों ने चिल्लाना आरम्भ किया – चोर-चोर, गाड़ी के पीछे चोर बैठे हैं सुनते ही गाड़ीवान ने दोनों बालकों को गाड़ी से उतार दिया ।

ऐसे दुष्ट अज्ञानी आलसी जीव कभी भी ज्ञान का विकास नही कर सकते हैं । तीन सौ वर्ष पूर्व सिंधीभाषा के एक कवि हुए हैं । एक दिन मध्यान्ह में वे सो रहे थे । कुछ ही समय बाद आंख खुली तो सुना कि बाहर एक व्यक्ति "सुआ-पालक-चुका" कहता हुआ जा रहा है । उन्होंने समझा, शायद मुझे कह रहा है । सुआ = मैं सोया था, पालक = पल भर के लिये, चुका = खो गया, यानी मैं जो पलभर सो गया था, वह पल मेरे जीवन में व्यर्थ चला गया, मुझे कुछ कार्य करना चाहिये था । यह सोचकर उन्होंने एक ग्रन्थ में एक कविता लिखी है-"तू आछो मैं रात सजण नित सो जाऊं" भाव हैं- चन्द्रमा रात में प्रकाश प्रदान करता है, सूर्य दिन में परन्तु साधु चौबीस घंटे, दिन और रात रोशनी देते हैं । चांद-सूरज तो केवल बाहर ही रोशनी देते हैं पर साधु तो अन्तर में प्रकाश फैलाते हैं ।

सम्यग्ज्ञान की विषय सामग्री

सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के उपाय जानने पर सम्यग्ज्ञान की विषय सामग्री क्या है ?

उत्तर में कहते हैं– ज्ञान की विषय सामग्री प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग है । इन चार अनुयोग रूप विषय सामग्री की प्राप्ति के लिये ज्ञान के सारे उपाय प्रयोजनीय हैं ।

अनुयोग क्या है ?

अणुओयण मणुओगो सुयस्स नियएण जमभिधेएणं ।
वावारो वा जोगो जो अणुरूवोऽणुकूलो वा ।।
अहवा– जमत्थओ थोवपच्छभावेहि सुयमणु तस्स ।
अभिधेए वावारो जोगो तेणं व संबंधो ।। १

१ जिनेन्द्रकथित आगम का पूर्वापर संदर्भ मिलाते हुए अनुकूल व्याख्यान करने को अनुयोग कहते हैं । अथवा

२ सूत्र का उसके वाच्यरूप विषय के साथ संबंध जोड़ने का अनुयोग कहते हैं । अथवा

३ एक ही आगम–कथित सूत्र के अनंत अर्थ होते हैं । इसलिये सूत्र की "अणु" संज्ञा है । उस सूक्ष्मरूप सूत्र का अर्थ रूप विस्तार के साथ संबंध के प्रतिपादन को अनुयोग कहते हैं ।

सम्पूर्ण ज्ञान सामग्री की प्राप्ति के अनुयोग द्वार चार हैं– प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग । एक–एक अनुयोग छः अनुयोग द्वारों द्वारा अपने विषय का पूर्ण विवेचन करता है । पदार्थ क्या है, किसका है, किसके द्वारा होता है, कहां पर होता है, कितने समय तक रहता है, कितने प्रकार का होता है । इस प्रकार इन छह अनुयोग द्वारों से सम्पूर्ण अनुयोगों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये । जैसे––

प्रथमानुयोग क्या है —

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम् ।
बोधि समाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः ।। २

अर्थ— सम्यग्ज्ञान परमार्थ विषय का अथवा धर्म, अर्थ, काम, मोक्षका कथन करने वाला, पुण्यबंध का कारणभूत, रत्नत्रय व ध्यान का खजाना स्वरूप, एक पुरुष अथवा त्रेसठ शलाका पुरुषों के कथानक रूप को प्रथमानुयोग जानता है । भावार्थ—जिसमें एक या अनेक शलाका पुरुष और महापुरुषों का वर्णन हो, उसे प्रथमानुयोग कहते हैं । जैसे– आदिपुराण, पद्मपुराण, हरिवंश पुराण, महावीर चरित, क्षत्रचूड़ामणि इत्यादि ।

प्रथमानुयोग में किसका चारित्र वर्णित है–– कर्म भूमि में होने वाले त्रेसठ शलाका पुरुषों का चारित्र प्रथमानुयोग में वर्णित है ।

---

(१) वि. भा. १३८३, १३८४ । (२) रत्न. श्रा. ४३ ।

किसकारण से प्रथमानुयोग उत्पन्न हुआ है— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के कथन द्वारा पुण्यबंध की सामग्री, पुण्य-पाप का फलोदय, धैर्यता, वीरता, निर्भीकता, विशद्धता आदि का बोध जीवों को कराने के लिये प्रथमानुयोग की उत्पत्ति हुई है ।

प्रश्न— प्रथमानुयोग के आधारभूत पुरुष किस समय होते हैं या यह प्रथमानुयोग किसमें होता है—

उत्तर— प्रथमानुयोग के आधार भूत जीव कर्म भूमि में चतुर्थकाल में होते हैं । या प्रथमानुयोग किसमें होता है ? जीव में ? कौन से जीव में ? त्रेसठशलाका पुरुषों में ।

प्रश्न— प्रथमानुयोग कब तक रहता है ?

उत्तर— जीव अनादि है, । सिद्ध अनादि अनिधन हैं । संसारी अनादि निधन हैं । काल आनदि-निधन है । पुण्यपाप का खेल अनादि निधन है । अरहंतादि पंचपरमेष्ठी अनादि निधन हैं, । अरहंत भगवान की वाणी अनादिनिधन है। ठीक इसी प्रकार प्रथमानुयोग भी जिनेन्द्र वाणी होने से अनादि निधन है ।

प्रश्न—प्रथमानुयोग कितने प्रकार का है ?

उत्तर— वर्णनीय पुण्य-पाप, चार पुरुषार्थ आदि की अपेक्षा प्रथमानुयोग एक प्रकार का है । त्रेसठ शलाका पुरुषों की विशेषताओं के वर्णन की अपेक्षा त्रेसठ प्रकार का है एवं शब्द, अक्षर तथा अर्थादि की अपेक्षा संख्यात, असंख्यात एव अनंत प्रकार का है ।

करणानुयोग क्या है— "भाव रूपी सूत्रों से या भावसूत्रों से जिसका संबंध है वह करणानुयोग है।"

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च ।
आदर्शमिवतथामतिरवैति करणानुयोग च ॥ १

अर्थ— सम्यग्ज्ञान ही लोक और अलोक के विभाग को, युगों के परिवर्तन को, तथा चारों गतियों को दर्पण के समान स्पष्ट रीति से निरूपण करने वाले करणानुयोग को जानता है ।

भावार्थ— जिसमें लोका काश, अलोकाकाश, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी आदि काल के भेद तथा जीवों के चौदह मार्गणा स्थान, जीवस्थान, परिणामों के अनुसार प्राप्त अवस्थाओं का वर्णन हो, उसे करणानुयोग कहते हैं । जैसे— जीवकांड, कर्मकांड, त्रिलोकसारादि ।

करण किसके होते हैं— करण जीव में होते हैं । करण नाम भावों का है । भाव या करण के संबंध से करणानुयोग है ।

करणानुयोग की उत्पत्ति कैसे हुई—

भावों के द्वारा जीव तीन लोक में भ्रमण करता है । शुभ भावों से मनुष्य एवं देव में, अशुभभावों से नारकी, तिर्यञ्चों में एव शुद्ध भावों से सिद्धालय में जाता है । जिन स्थानों पर जीव जाता है , ऐसा यह तीन लोक कहां है, नरक कहाँ हैं देव लोक कहाँ है, सिद्धालय कौनसा है ? आदि का ज्ञान कराने हेतु करणानुयोग की उत्पत्ति हुई ।

(१) र. श्रा. ४४ ।

करणानुयोग के आधार भूत जीव किस समय होते हैं— या कौन से हैं ?

करणानुयोग के आधारभूत जीव अनादि से हैं । वे कौन से हैं ? समस्त संसारी एवं मुक्त जीवों के स्थान का वर्णन करने से करणानुयोग वर्णित समस्त संसारी और मुक्त जीव इसके विषय हैं ।

करणानुयोग कब तक रहता है— जीव के भाव अनंतकाल तक रहते हैं । अतः उनके परिणामों का काल अनंत होने से करणानुयोग का काल भी अनंत है ।

करणानुयोग कितने प्रकार का है—

वर्णनीय विषय के आधार पर करणानुयोग अभेद है । त्रेपन भावों की अपेक्षा त्रेपन प्रकार का है एवं उत्तम, मध्यम, जघन्य, सूक्ष्म, स्थूल आदि भावों के अनुसार, संख्यात, असंख्यात एवं अनन्त प्रकार का है । भावों के अनुसार जीव तीन लोक में भ्रमण करता है अतः तीन लोक के वर्णन की अपेक्षा तीन प्रकार का भी है एवं लोकाकाश के एक–एक प्रदेश के वर्णन की अपेक्षा असंख्यात प्रकार का भी है ।

चरणानुयोग क्या है—"आचरण, चारित्र से जिसका संबंध है वह चरणानुयोग है"

गृहमेध्यनगाराणां, चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम् ।
चरणानुयोगसमयं, सम्यग्ज्ञानं विजानाति ॥ १

अर्थ—सम्यग्ज्ञान गृहस्थ और मुनियों के चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा के कारणभूत चरणानुयोगशास्त्र को विशेष रूप से जानता है ।

भावार्थ—जिस अनुयोग में गृहस्थ और मुनियों के चारित्र का वर्णन हो, उसे चरणानुयोग कहते हैं । जैसे—सागारधर्मामृत, अनगारधर्मामृत, नियमसार, मूलाचार, भगवती आराधना, रत्नकरण्ड श्रावकाचार आदि ।

चरण या आचरण किसके होता है—आचरण जीव में होता है । यहाँ चरण से प्रयोजन मुनि और श्रावक के चारित्र से है ।

चरणानुयोग की उत्पत्ति कैसे हुई—

कधं चरे कधं चिट्ठे, कधमासे कधं सए ।
कधं भुंजेज्ज भासेज्ज कधं पावं ण बज्झई ॥
जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सए ।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झई ॥ २

किस प्रकार चलना चाहिये ? किस प्रकार खड़े रहना चाहिये ? किस प्रकार बैठना चाहिये ? किस प्रकार शयन करना चाहिये ? किस प्रकार भोजन करना चाहिये ? किस प्रकार संभाषण करना चाहिये और किस प्रकार पापकर्म नहीं बंधता है? इस प्रकार गणधर देव के द्वारा

१— रत्न. श्रा.—४६ । मू. चा.—१०, ११

प्रश्नों के उत्तर में चरणानुयोग की उत्पत्ति हुई कि— यत्न से चलना चाहिये, यत्नपूर्वक खड़े रहना चाहिये, यत्न से बैठना चाहिये, यत्नपूर्वक शयन करना चाहिये, यत्नपूर्वक भोजन करना चाहिये, यत्न से संभाषण करना चाहिये । इस प्रकार आचरण करने से पापकर्म का बंध नहीं होता है ।

चरणानुयोग के आधारभूत जीव किस समय होते हैं या कौन है ?

चरणानुयोग के या चारित्र को धारण करने वाले (मुनि और श्रावक) जीव कर्मभूमि के चतुर्थ एवं पंचम काल में होते हैं । आचरण मुनि और श्रावकों के होता है । मनुष्य एवं तिर्यंचों के होता है । इनमें भी मुनिव्रत एवं श्रावक व्रतों का पूर्ण पालक मनुष्य ही होता है ।

चरणानुयोग कब तक रहता है— जीव अनादि से हैं, मोक्ष भी अनादि से है, अनंतकाल तक रहेगा । आचरण का धारक ही मुक्ति पाता है इसलिये चरणानुयोग भी अनंतकाल तक रहेगा ।

चरणानुयोग कितने प्रकार का होता है— आचरण या चारित्र के वर्णन की अपेक्षा यह अभेद है । मुनि और श्रावक के आचरण के वर्णन की अपेक्षा दो प्रकार का है, मुनि श्रावक के आचरण के जघन्य मध्यम उत्कृष्ट प्रकार होने से तीन प्रकार का भी है । द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार भी आचरण में विभिन्नता आती रहती है । इस अपेक्षा संख्यात, असंख्यात और अनंत भेद वाला भी है ।

द्रव्यानुयोग क्या है— छः द्रव्यों के वर्णन के संबध में यह द्रव्यानुयोग है ।

जीवाजीव सुतत्त्वे, पुण्यापुण्ये च बंधमोक्षौ च ।
द्रव्यानुयोगदीपः, श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥ १

अर्थ— द्रव्यानुयोग रूपी दीपक जीव अजीव रूप सुतत्त्वों को, पुण्यपाप और बंध मोक्ष को तथा भावश्रुतरूपी प्रकाश को विस्तारता है ।

भावार्थ—जिस अनुयोग में ७ तत्व, ९ पदार्थ, ५ अस्तिकाय तथा ६ द्रव्यों का वर्णन हो उसे द्रव्यानुयोग कहते हैं । जैसे— द्रव्यसंग्रह, मोक्षशास्त्र, सर्वार्थसिद्धि, समयसार, प्रवचनसार, पंचाध्यायी, पञ्चास्तिकाय, राजवार्तिक आदि ।

द्रव्यानुयोग किसके होता है ? –

द्रव्यानुयोग छः द्रव्यों (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल) में होता है । ७ तत्व, ९ पदार्थ भी इसके विषय हैं ।

द्रव्यानुयोग की उत्पत्ति कैसे हुई— गणधर देव ने प्रभु से प्रश्न किया–प्रभु सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति कैसे होती है ? प्रश्न के उत्तर में–६ द्रव्य, ७ तत्व, ९ पदार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन

१– रत्न श्रा –४६

का कारण है ऐसा कहा गया है। पुन: प्रश्न उठा– ये ६ द्रव्य, ७ तत्व, ९ पदार्थ क्या हैं? उत्तर में इनका विशेष विस्तृत विवेचन हेतु द्रव्यानुयोग की रचना हुई।

द्रव्यानुयोग के आधारभूत द्रव्यादि किस समय होते हैं?

द्रव्यानुयोग के आधारभूत द्रव्य, तत्व, पदार्थ अनादि से हैं और हर समय रहते हैं क्योंकि द्रव्यों का समूह ही विश्व है।

द्रव्यानुयोग कब तक रहता है–

विश्व अनंत काल तक है। द्रव्य भी अनंत काल तक हैं। तत्व, पदार्थ भी अनंत काल तक हैं। इसी कारण इनका विवेचक द्रव्यानुयोग भी अनंत काल तक रहेगा। क्योंकि जिनवर वाणी का भी काल अनंत है।

द्रव्यानुयोग कितने प्रकार का होता है—

अखण्ड वस्तु स्वरूप के कथन की अपेक्षा यह अभेद है। फिर भी छः द्रव्य, सात तत्व, नव पदार्थों के विवेचन की अपेक्षा (६+७+९=२२) बाईस प्रकार का भी है। जीव अनंत हैं। पुद्गल अनंतानंत हैं, धर्म, अधर्म और आकाश एक-एक है, काल असंख्यात हैं।

सम्यग्ज्ञान के आठ अंग

मूल के बिना वृक्ष हरा नहीं रह सकता,
नींव के बिना मकान टिक नहीं सकता,
संस्कार के बिना संतान योग्य नहीं बन सकती,
मूर्ति के बिना मंदिर नहीं कहा जा सकता,
मूल गुण के बिना साधु नहीं कहा जा सकता ।।

इसी प्रकार चारों अनुयोगों की ज्ञान सामग्री, ज्ञान के आठ अंगों के बिना स्थिर नहीं रह सकती है । अत: ज्ञान रूपी वृक्ष को सदैव हरा भरा रखने के लिये मूल भूत आठ अंगों सहित ज्ञानाराधना करनी चाहिये । जिस प्रकार हीनाधिक अक्षर वाला मंत्र विष की वेदना को उतारने में समर्थ नहीं होता, ठीक इसी प्रकार आठ अंग रहित ज्ञान अज्ञान रूपी विष को उतारने में समर्थ नहीं हो सकता है । ज्ञान के आठ अंग

काले विणए उवहाणे बहुमाणे तहेव णिण्हवणे ।
वंजण अत्थ तदुभये णाणाचारो दु अट्ठविहो ।। १

स्वाध्याय का काल, मन वचन काय से शास्त्र विनय, गुरु या शास्त्र का नाम नहीं छिपाना, वर्णपद वाक्य को शुद्ध पढ़ना, अनेकान्त स्वरूप को ठीक समझकर पाठादिक शुद्ध पढ़ना ।

ग्रंथार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च ।
बहुमानेन समन्वितमनिन्हवं ज्ञानमाराध्य ।। २

अध्ययनकाल में विनय पूर्वक अतिशय सम्मान के साथ अर्थात् आदर भक्ति एवं नमस्कार क्रिया के साथ ग्रंथ शब्द से पूर्ण, अर्थ से पूर्ण और शब्द अर्थ दोनों से पूर्ण धारणा सहित अर्थात् शुद्ध पाठ सहित बिना किसी बात को छिपाये सम्यग्ज्ञान की आराधना करनी चाहिये ।

कालाचार- संसार के प्रत्येक कार्य का काल नियत है । स्कूल में विद्यार्थी समय पर नहीं पहुंचता है, तो दंडित होता है, कोर्ट में गवाह समय पर नहीं पहुंचता है तो गवाही रद्द हो जाती है, समय पर भोजन नहीं किया तो पेट में विकार हो जाते हैं, समय पर नींद नहीं लेने पर मस्तिष्क काम नहीं करता है, समय पर डाक्टर के पास नहीं पहुंचने पर रोग भीषणता को प्राप्त होता है , समय पर अध्ययन नहीं किया तो स्मरण शक्ति धीरे-धीरे घटती जाती है, वृद्धावस्था मे याद होता नहीं है, समय पर जलवृष्टि नहीं हो तो खेत उजड़ जाते हैं ? समय पर वृक्ष फल नहीं देवें तो कटवा दिये जाते हैं, असमय में परीक्षालय में पहुंचने पर परीक्षार्थी परीक्षालय से निरस्त कर दिया जाता है । संसार का प्रत्येक कार्य योग्य समय में सुशोभित होता है । आचार्य कहते हैं जब व्यावहारिक जीवन को सुखी बनाने केलिये भी योग्य समय आवश्यक है, फिर उत्तम पारमार्थिक जीवन की उन्नति हेतु उचित समय में ग्रंथावलोकन, ज्ञानार्जन, अध्ययन करना आवश्यक क्यों न हो ।

स्वाध्याय, शास्त्रों का अध्ययन काल जो आचार्यों ने प्रमाणित किया है, उसी काल में पठन-पाठन करना चाहिये । जो समय ग्रंथों के पठन-पाठन एवं अध्ययन या ज्ञानार्जन के लिये निषिद्ध है उसमें कभी ज्ञानार्जन का कार्य नहीं करना चाहिये ।

१- मू० आ-२६० । २- पु० सि० उ० ३६

प्रश्न उठ सकता है कि जिस ज्ञानार्जन या अध्ययन से कर्मों की निर्जरा होती है, मन में, आत्मा में निर्मलता आती है, क्या उसके लिये भी समय नियत है ? ऐसे शुभकार्य तो निरंतर करते रहना चाहिये ।

आचार्य कहते हैं कि जिस क्रिया का विधान जिस समय आगम में कहा है उसी समय वह करना चाहिये । यदि आगम विहित मार्ग का अपलाप किया जायेगा तो क्या साधनरूप उस अनियत क्रिया से कभी साध्य की प्राप्ति हो सकेगी ? नहीं । आगम में जिस प्रकार साधु को योग्य आहार, विहार, स्तुति, भक्ति, स्वाध्याय, सामायिक, शयनकाल आदि समस्त काल नियत हैं और साधु यदि समयानुसार ही अपनी क्रिया करते हैं तो चारित्राराधना में पूर्ण सफल हो मुक्ति के भागीदार बनते हैं । अन्यथा चारित्र में हानि आने से पतन भी हो सकता है ठीक इसी प्रकार ज्ञानाराधक पुरुष उचित समय में ज्ञानाराधना करता है तो ज्ञान-सूर्य को पूर्ण दीप्तिमान कर केवलज्ञान ज्योति से प्रदीप्त होने में समर्थ हो जाता है, अन्यथा अज्ञातवश अनेकानेक कठिनाईयों का सामना करता हुआ लोक में घूमता रहता है---

चौदहराजु उत्तुंग नभ लोक पुरुष संठाण ।
तामें जीव अनादितें भरमत है बिन ज्ञान ।।

अयोग्य काल में किया गया अध्ययन लाभप्रद नहीं होता है । शिवनंदी नामक मुनि अपने गुरु के पास अध्ययन करते थे । गुरु ने बताया था कि श्रवणनक्षत्र उदय होने के बाद स्वाध्याय का समय माना गया है । फिर भी तीव्र कर्मोदय से वे अकाल में ही स्वाध्याय करते थे । फलतः मिथ्या समाधि मरण कर गंगा नदी में मच्छपर्याय को प्राप्तहुए । सत्य ही है जो आचार्य कथित आगम वाणी को नहीं मानना उसकी दुर्दशा ही होती है वह अर्हन्त प्रभु का विरोधी महामिथ्यात्वी होता है । आचार्य कहते है-संपूर्ण द्वादशांग को माने, श्रद्धा करे, पर एक अक्षर में भी अश्रद्धा है तो वह जीव मिथ्यादृष्टि ही है ।

अचानक उसी गंगा नदी के किनारे किन्हीं मुनिराज का पदार्पण हुआ उन्होंने वहाँ योग्य समय में शास्त्राध्ययन प्रारंभ कर दिया, जिसे सुनते ही उस मच्छ के जीव को जाति स्मरण हो गया । उसने तत्काल ही अपने स्वकृत पापों की घोर निंदा, आलोचना की । निरन्तर पश्चाताप की अग्नि से पापों को जलाने लगा कि "मैंने जैन धर्म के विमुख कार्य किया" में पढ़कर भी मूर्ख रहा उसी के फलस्वरूप आज मैं मच्छ बना हूँ । पश्चाताप से विशुद्धि सहित वह मच्छ सम्यक्त्व को प्राप्तकर, भक्ति पूर्वक, जिन प्रभू की वंदना-स्तुति में रत होगया फलतः निंदनीय अशुभ पर्याय को छोड़कर आयु का अन्त कर पुण्योदय से स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुआ ।

योग्य समय में किया गया कार्य अनंतगुणा फल देता है । सामायिक का जो समय है उसको टालकर अन्य समय में सामायिक में बैठने पर चित्त में उतनी विशुद्धता नहीं रहती है और मन भी नहीं लगता है । अतः कर्म निर्जरा भी नहीं होती है । जैसे यदि व्यापारी दुकान में ग्राहक के आने के समय को चूकता है तो धन संग्रह नहीं कर पाता है । उसी प्रकार योग्य

समय अध्ययन नही करने वाला समय चूक जाने से ज्ञानधन को संग्रह नहीं कर सकता है। अयोग्य समय में स्वाध्याय करने वाला जीव स्वाध्याय रूपी महातप के द्वारा कर्म की निर्जरा नही करता, अपितु अज्ञान एव पापरूपी भार को लादकर नीच गतियों में भ्रमण करता है । जिस प्रकार सामायिक का काल नियत है– प्रातः मध्यान्ह एवं सांयकाल, उसी प्रकार अध्ययन का काल या ज्ञानार्जन का काल भी नियत है । अकाल में स्वाध्याय करने से चित्तमें व्यग्रता, आकुलता एवं बुद्धि में मंदता आती है, स्मरणशक्ति का ह्रास भी होता है, कई विघ्नों का सामना करना पड़ता है । इतना ही नही असमय मे याद किया हुआ स्मरण भी नहीं रहता, धारणा शक्ति नहीं बन पाती, परन्तु पुराना याद किया हुआ भी भूल जाता है ।

यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि समय का प्रभाव आत्मापर पड़ता है । जो निर्मलता, पवित्रता प्रातःकाल परिणामों में रहती है, वह अन्य समय में नहीं रहती है । प्रातः ब्रह्ममुहूर्त में याद किया गया पाठ विस्मृत नहीं होता । जो बात या पाठ रात्रि में याद नहीं हो पाता है, प्रातः एक या दो बार में आसानी से याद हो जाता है । समय का प्रभाव भी परिणामों की निर्मलता, पवित्रता, और अपवित्रता में निमित्त कारण पड़ता है । बुद्धिमान पुरुषों के लिये उचित यही है कि असमय में निषिद्ध शास्त्रों का, सिद्धान्त शास्त्रों का कभी भी पठन–पाठन नही करें ।

आगम विहित शास्त्राध्ययन काल का कौनसा है और निषिद्ध काल कौनसा है ?

गोसर्गकाल (मध्यान्ह से दो घड़ी पूर्व और सूर्योदय से दो घड़ी पीछे का काल) अपरान्ह काल (मध्यान्ह के दो घड़ी पश्चात् और रात्रि के दो घड़ी पूर्व का काल) प्रदोषकाल (रात्रिसे दो घड़ी उपरांत और मध्यरात्रि से दो घड़ी पूर्व का काल)और वैरात्रिक काल (मध्यरात्रि से दो घड़ी पश्चात् और सूर्योदय से दो घड़ी पूर्व का काल) इन चार समयों में, इन उत्तमकालों में पठन पाठनादिरूप स्वाध्याय करना कालाचार नामक, ज्ञान का प्रथम अंग है ।

चारों संध्याओं की अंतिम दो–दो घड़ियों में, दिग्दाह, उल्कापात, वज्रपात, इन्द्रधनुष, सूर्य, चन्द्र ग्रहण, तूफान, भूकंप आदि उत्पातों के समय में सिद्धान्त शास्त्रों का पठन वर्जित है । हां स्तोताराधना जिन भक्ति, स्तुति, कथाकोशादि के अध्ययन, पठन पाठन आदि के लिये निषेध नहीं है ।

एक समय की घटना है-जैन तत्व के अपूर्व विद्वान् श्री वीरभद्र मुनिराज सारी रात्रि स्वाध्याय करते रहे । उन्हें अध्ययन की लीनता, गंभीरता में समय का कुछ भी ध्यान नहीं रहा । उसी समय श्रुतदेवी ने ग्वालिन के भेष में आकर संबोधन करना चाहा कि मुनि के ज्ञान में आ जाय कि यह पठन पाठन का समय नही है । देवी ने ग्वालिन का भेष बनाया । ग्वालिन (देवी) के सिर पर छाछ की मटकी थी निर्जन एकान्त स्थान था । वह पुकारती हुई उधर से निकली लो मेरे पास मीठी छांछ है । मुनिराज ने उसे देखकर कहा "क्या तू पागल हो गई है जो भला इस एकान्त निर्जन स्थान में छाछ बेचने आई है । यहां यह तेरी छाछ कौन लेगा । ग्वालिन देवी ने कहा–पगली मैं हूं या आप ? जिस समय पठन पाठन निषिद्ध है, ऐसे असमय में शास्त्राध्ययन कर रहे हैं । मुनिराज नें आकाश की ओर देख कर अपनी निंदा, आलोचना की फिर अल्पनिद्रा हेतु सो गए ।

दूसरे दिन गुरु के पास जाकर स्वकृत आगम की अवज्ञा रूप क्रिया की आलोचना की, और प्रायश्चित लिया। श्रुतदेवी ने मुनिराज की पूजा की। अब मुनिराज योग्य समय में शास्त्राभ्यास करते हुए रत्नत्रय की आराधना में तत्पर हुए। आयु के अंत में समाधिमरण कर स्वर्ग में देव हुए। यह है कालव्ययन का फल। सुकाल में किया गया ज्ञानार्जन मुक्ति को प्राप्त कराता है।

विनयाचार:– विनय का अर्थ है नम्रता,—

अथवा शाब्दिक अर्थ है वि+नय = विशेष प्रकार से नय बुद्धि को लक्ष्य में रखते हुए योग्याचरण करना। अपने–अपने पदानुकूल पूज्य पुरुषों में पूज्यता का भाव रखना।

"विणओ जिणसासणे मूलम्"

ज्ञान का विकास दो प्रकार से होता है (१) स्वभाव से (२) विनय से [उत्तर पुराण] विनय पूर्वक किया हुआ श्रुताभ्यास यदि प्रमादवश इस भव में विस्मृत भी हो जावे तो दूसरे भव में यथावत् स्मृत हो आता है।

> देवशास्त्र गुरुराय तथा, तप संयमशील व्रतादिक धारी।
> पाप के हारक काम के छारक, शल्य निवारक कर्म निवारी॥
> धर्म के धीर कषाय के भेदक पञ्चप्रकार संसार के तारी।
> ज्ञान कहे "विनयो" सुखकारक, भावधरी मन राखो विचारी॥

देवशास्त्रगुरु, तपशीलसंयम व्रत के धारक, पाप एवं कामादि विषयों के नाशक, कषाय के नाशक पंच प्रकार संसार का नाश करने वाले महापुरुषों में विनय करना सुख को करने वाला है।

> सुपर्यंकार्द्धपर्यंकवीरासनादिकान् बहून्।
> विधायहृदये धृत्वाप्रतिलेख्य कर द्वयम्॥ १
> नत्वा सिद्धान्त सूत्राणि पठ्यन्ते यत्रयोगिभि:।
> सूत्रार्थयोगशुद्धया स ज्ञानस्यविनयोमत:॥ २

जो मुनिराज पर्यंकासन, अर्द्ध पद्मासन, वीरासन, आदि में से कोई भी आसन लगाकर हाथों को शुद्ध करके सिद्धान्तग्रंथों को नमस्कार कर, उन्हीं को हृदय में विराजमान कर, मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक जो सूत्र व सूत्र के अर्थ को पढ़ते हैं उसको ज्ञान का विनय या विनयाचार कहते हैं।

जिनवाणी की भक्ति हृदय में रखकर विनयपूर्वक स्वाध्याय करना उसे विनयाचार कहते हैं। विनय दो प्रकार की है (१) बाह्य विनय (२) आभ्यंतर विनय।

शरीर की शुद्धि तथा वस्त्रादि की शुद्धि पूर्वक, शुद्ध ऊँचे स्थान पर विनयासन पूर्वक शास्त्र पढ़ना चाहिये। जिस समय शास्त्र को उच्चस्थान से लाकर चौकी आदि पर स्वाध्याय के लिये

१–मू० ॥५०।६॥ पृ० २१८ २–मू० ॥५१।६॥ पृ० २१८

विराजमान किया जाता है, उस समय खड़े होना एवं विनय पूर्वक नमस्कार करना चाहिए। चौकी पर शास्त्र विराजमान करके अष्टांग नमस्कार करना चाहिये। शास्त्रों पर उत्तम वेष्टन आदि लगाकर सुरक्षित रखना चाहिये। शास्त्र पढ़ते समय हाथ धोकर उन्हें स्पर्श करें। तेलादि से युक्त हाथों को कभी भी शास्त्रों पर नहीं लगाना चाहिये। वर्षादि में सीलन से बचाने के लिये, जीव जन्तु की उत्पत्ति के प्रसंग से बचाने के लिये, शास्त्रों को धूप में रखना भी शास्त्र की विनय है। शास्त्र लिखना, शुद्ध आगमानुसार लिपिबद्ध करना एवं शुद्ध लिखवाना, पढ़ना, पढ़वाना, एवं स्वाध्याय के लिये दूसरों को देना आदि सब कार्य बाह्य विनय में गर्भित हैं।

गुरू की विनय करना भी ज्ञान की विनय है। आचार्य वादीभसिंह कहते हैं—

माता-पिता भी गुरु हैं। एक अक्षर का भी ज्ञान देने वाला गुरु है। माता-पिता लौकिक गुरु हैं। तथा आचार्य, तीर्थंकर आदि अलौकिक, अध्यात्म गुरू हैं। इनका यथायोग्य विनय ज्ञान के विकास का कारण है। साक्षात् कथन है—

एकलव्य की गुरू भक्ति, गुरू विनय, जगत्प्रसिद्ध है। एकलव्य एक भील पुत्र था। गुरू द्रोणाचार्य के पास धनुर्विद्या सीखने के लिये गया। बहुत विनय प्रार्थना करने पर भी उसे गुरुजी ने धनुर्विद्या सिखाने से इंकार कर दिया। निराश एकलव्य अपने स्थान को लौटा, । उसने गुरु की मूर्ति को हृदय में विराजमान किया था। उसकी ज्ञान पिपासा अति तीव्र थी। उसने मिट्टी की एक मूर्ति गुरू द्रोणाचार्य की बनवाई और स्वयं मूर्ति के सामने धनुर्विद्या का अभ्यास करने लगा, "मानो गुरू सिखा रहे हैं, शिष्य सीख रहा है"। प्रतिदिन गुरु की भक्ति स्तुति विनय के प्रभाव से वह धनुर्विद्या में कुशल हो गया।

एक दिन जब गुरू को ज्ञात हुआ कि एकलव्य धनुर्विद्या में निपुण हो गया है और अर्जुन से भी आगे निकल गया है तो उन्होंने एकलव्य को बुलाया और सारा वृतान्त जानकर उससे गुरू दक्षिणा मांगी। शिष्य ने कहा जो आपकी आज्ञा होगी, मुझे मंजूर है। गुरु के हृदय में ईर्ष्या जागृत हो गई। मेरा योग्य शिष्य पीछे नहीं रह जाय, अर्जुन की अपकीर्ति न हो अतः ऐसा उपाय करें कि यह धनुष नही चलाने पाये, अतः उन्होंनें गुरु दक्षिणा में दाहिने हाथ का अंगूठा शिष्य से मांगा। शिष्य ने गुरु भक्ति से प्रेरित हो अपना दाहिने हाथ का अंगूठा भी गुरू को सहर्ष दे दिया। ऐसी गुरू विनय ही ज्ञान ज्योति का मूल विनयाचार है।

बाह्य विनय चार प्रकार की है- ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय तप विनय एवं उपचार विनय।

ज्ञान विनय पूर्ववत् है। दर्शन विनय सम्यग्दर्शन को दूषित नहीं करना यही दर्शन विनय है। चारित्र एवं चारित्र के आराधकों की यथायोग्य विनय चारित्र विनय है, तप धारियों की विनय एवं बारह तपों के धारण की भावना तप विनय है। यथायोग्य पूज्य पुरुषों में विनय करना— माता पिता, दीक्षा गुरू, शिक्षा गुरू, लौकिक, अलौकिक गुरू आदि में विनय उपचार विनय है। अथवा आचार्य आदिक के समक्ष आने पर खड़े हो जाना, उनका अनुगमन करना, उनके आगे

हाथ जोड़ना और परोक्ष में भी मन–वचन–काय से उनको नमस्कार करना, उनके गुण–स्मरण करना उपचार विनय है ।

आभ्यंतर विनय अनेक प्रकार की है– प्रथम– जिनवाणी के प्रति अकाट्य श्रद्धा होना–

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं, हेतुभिर्नैव हन्यते ।
आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं, नान्यथा वादिनो जिनाः ।।

जिनेन्द्र देव के द्वारा प्रतिपादित तत्त्व सूक्ष्म है, । किसी भी हेतु से इसका खंडन नहीं हो सकता है । अतः परम विनय के साथ 'यह जिनवचन है' ऐसा जानकर उत्साह पूर्वक आनंद से उसे स्वीकार करना आभ्यंतर विनय है । जिनेन्द्र की वाणी कभी भी अन्यथा नहीं होती यह अकाट्य श्रद्धान करना, स्वप्न में भी जिनवचनों की अवहेलना न हो यही अन्तर्विनय है ।

विभीषण को यह पूर्ण श्रद्धा थी कि नारायण के हाथ से प्रतिनारायण की मृत्यु होती है, यह आगम वचन है । यह अन्यथा नहीं हो सकता है। रावण जैसे त्रिखंडाधिपति भाई को बहुत समझाया भाई देखो ! जिनवचनों का उल्लंघन करने से जीवन का पतन हो जायगा । परन्तु रावण ने एक भी नहीं सुनी । ऐसे समय में विभीषण ने, जो कि अलौकिक अकाट्य श्रद्धानी था, रावण जैसे त्रिखंडाधिपति किन्तु मिथ्यादृष्टि भाई का भी साथ छोड़ दिया और सम्यक्त्व का पक्ष लेकर राम से जा मिला । विभीषण ने राम की ओर से सच्चा युद्ध किया । जिनवाणी की अपूर्व विनय के कारण भाई के विरुद्ध युद्ध किया । विभीषणकी यह सच्ची अन्तर्विनय है ।

द्वितीय–शास्त्रों का अच्छी तरह मनन चिन्तन करके बुद्धि को निर्मल एवं क्षयोपशमशालिनी बनाना अपूर्व अन्तर्विनय है । शास्त्राध्यन के पश्चात् बार–बार उसका मनन–चिंतन करना चाहिये । पुनः पुनः चिंतन करने से ज्ञान निर्बाध निर्मलता को प्राप्त होता है । हेयोपादेय का ज्ञान जागृत होता है । "हेयोपादेय विज्ञानं नो चेद्व्यर्थं श्रमश्रुतौ" । १

वादीभसिंह आचार्य कहते हैं शास्त्रों का बहुत ज्ञान होने पर भी यदि हेयोपादेय बुद्धि जागृत नहीं हुई तो उस ज्ञान प्राप्ति के लिये किया गया परिश्रम व्यर्थ है । सच्चाज्ञान जो विनय पूर्वक प्राप्त किया गया है निर्मलता को लाता है एवं क्षयोपशम भी निरंतर वृद्धिगत होता है । मात्र पढ़ने से ज्ञान में निर्मलता नहीं आती है । जितना–जितना ज्ञान बढ़ता है, उतनी–उतनी विनय गुण में वृद्धि होती जाती है । विनय पूर्वक ज्ञान प्राप्त कर, जीवन को पूर्ण विनय में भिगो कर अपने आपको अपने में निहित करना सच्ची अन्तर्विनय है । "विद्याददाति विनयं" । विनय से विद्या आती है , और विद्या से विनय आती है ।

ज्ञान की अभ्यंतर विनय यही है जो "स्वहित करे और अहित हरे" । कवि भर्तृहरि ने भी नीति शतक में लिखा है कि "जब मैं थोड़ा जानता था, तब हाथी के समान झूमता हुआ गर्व

---

१ क्ष॰ चू॰ ३।

से चलता था सोचता था मुझसे बड़ा कोई ज्ञानी है ही नहीं। पर अब ज्यादा जानने लगा तब चींटी की तरह फूंक-फूंक कर धीरे-धीरे चलने लगा हूं। क्योंकि अब मुझे आभास हो गया है कि ज्ञान अनंत है, ज्ञान का पार ही नहीं है। उस अपेक्षा तो मैं पूर्ण ज्ञान के अंश मात्र को भीनहीं

जानता हूं। अपने को अल्पज्ञ मानकर, निरंतर अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग की आराधना करते हुए अहित को दूर कर, आत्महित का चिंतन ही सच्चा ज्ञान विनय है।

प्रतिदिन एक-एक शब्द भी अर्थ सहित, भाव सहित पठन मनन करे तो यह मानव सरस्वती का भंडार बन जाए। एक पांच वर्ष का बालक पड़ौस से एक चाकू चुरा लाया। मां ने कहा- शाबास बेटा! रख दो। बहुत अच्छा किया। मां के इस प्रोत्साहन से बीस वर्ष बाद बालक बड़ा भारी डाकू बन गया। मां के इस प्रोत्साहन से जब एक बालक डाकू बन सकता है तो जिनवाणी माता के आशीर्वाद, प्रोत्साहन से क्या सर्वज्ञ, केवलज्ञानी नहीं बन सकता है। जबकि यह तो स्वभाव परणति है और वह विभाव परणति है। अतः जिनवाणी की प्रतिदिन उपासना करनी चाहिये। नित्य, प्रतिदिन विनय पूर्वक किया गया स्वाध्याय सम्यग्दर्शन का प्रबल निमित्त कारण है। प्रतिदिन शास्त्र स्वाध्याय, शब्द, अर्थ, मनन सहित, दृढ़ करें तो योग्यसमय पाकर स्वयं आत्मा ही समयसार बन जाये।

जैसे माता पुत्र को, कर देती बलवान।
जिनवाणी जग मात है, अमर करे दे ज्ञान॥

ज्ञान की प्राप्ति कर चिंतन-मनन के द्वारा अपने क्षयोपशम को इतना निर्मल बना लेना कि क्षायिक ज्ञान केवलज्ञान को प्राप्त कर आत्मा त्रिकालवर्ती सर्व पदार्थों को एक साथ जानकर पूर्ण समरस भावों में विलीन हो जाय यह ज्ञान की अमूल्य अन्तर्विनय है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि भरत चक्रवर्ती का माता-पिता, देव, गुरु, शास्त्र, के प्रति जो विनय भाव था। वही उनके अनुपम प्रसिद्ध जीवन का प्रतीक है। मां को झूले में बैठा कर इस प्रकार झुला देते थे मानों मां के पूर्व में किये उपकार का प्रत्युत्तर ही दे रहे है। अष्टमी-चतुर्दशी को उपवास, व्रत, नियम, स्वाध्याय, मनन, चिन्तन में ऐसे मग्न होते थे, मानो मुनिराज योगधारण कर ध्यान में लीन बैठे हों। प्रतिदिन द्वारा प्रेक्षण कर गुरुओं को आहारदानादि देकर अपनी अतुल विनय प्रगट करते हुए कहते थे हे गुरु देव! "जबहमारा महल इतना टेढ़ा मेढ़ा है, तो हमारे अन्दर में कितना टेढ़ापन, कितनी कलुषता होगी"। उनकी यही साक्षात् अन्तर्विनय पूर्ण ज्ञान की सहायक थी।

अन्तर्विनय का साक्षात् फल चक्रवर्ती भरत ने दीक्षा लेने के अन्तर्मुहूर्त बाद ही केवलज्ञान को प्राप्त कर, केवलज्ञान सूर्य से स्व और पर दोनों को प्रकाशित कर दिया।

आगे की अन्तर्विनय है जैन धर्म को सर्व व्यापी बनाना। बड़े-बड़े आचार्यों, मनीषी तपस्वियों ने चिंतन विनय से ज्ञान प्राप्त कर उसे ग्रंथों के रूप में उत्कीर्ण किया। उसका यह प्रतिफल है कि आज हमें मोक्ष का सच्चा मार्ग मिल रहा है। आचार्य कुन्द-कुन्दादि के अन्दर कितना आगम का विनय था। शास्त्र के अन्त में लिख दिया। क्षयोपशम ज्ञान होने से

अल्पबुद्धिमुझसे कुछ गलती हो गई हो तो विद्वान पाठक उसे सुधार लें । उमास्वामि आचार्य ने कहा—

अक्षरमात्र पदस्वर हीनं, व्यञ्जनसंधिविवर्जितरेफम् ।
साधुभिरत्रमम क्षमितव्यं, को न विमुह्यति शास्त्र समुद्रे ।।

कुन्द-कुन्द स्वामी लिखते हैं—

तंएयत्त विहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण ।
जदि दाएज्ज पमाणं, चुक्केज्ज छलं ण घेत्तव्व ।। १

अर्थ— मैं उस एकत्व विभक्त आत्मा को स्वानुभव से दिखाऊंगा । यदि दिखाऊं तो प्रमाण मानना अन्यथा छल ग्रहण नहीं करना ।

कितनी विनम्रता है । ज्ञान हमें विनम्रता से प्राप्त होता है । बिना विनय के ज्ञान की विशुद्धता प्राप्त नहीं होती है । इसीलिये धर्मात्मा के लिये पहली शर्त है "विनम्रबनो" "दूसरों को झुकाने के पहले स्वयं झुको" । ज्ञान विनय एक गोविन्द नामक ग्वाले ने की । एक वृक्ष की कोटर में उसने एक शास्त्र देखा । नमस्कार कर घर ले आया । घर में प्रतिदिन पूजादि करने लगा । और एक दिन उसने एक मुनिराज को शास्त्र दान कर दिया । शास्त्र विनय के प्रतिफल रूप वह कुछ ही भवों में श्रुतकेवली बन मुक्तिगामी बन गया ।

शब्दाचारः— व्याकरण से शब्दों को परिष्कृत करके अर्थात् शब्दशास्त्र से शब्द व वाक्यों को शुद्ध करके अक्षर पद, वाक्य, चरण, श्लोक, पंक्ति सूत्र आदि का शुद्धोच्चारण पठन-पाठन करने का नाम शब्दाचार या ग्रंथाचार है । शब्दाचार, श्रुताचार, व्यञ्जनाचार अक्षराचार, ग्रंथाचार, ये सभी एकार्थवाची शब्द हैं ।

आचार्यों ने तत्वज्ञान के तीन साधन बताये हैं-शब्द, अर्थ व ज्ञान । श्लोक वार्तिक में भी इसे समझाया है । आचार्यों ने नाम, स्थापना, द्रव्य व भाव से व्यवहार होता है ऐसा कहा है । नाम को ही ले लीजिये-नाम की आवश्यकता क्यों ? आचार्यों ने कहा कि उद्देश्य को समझने के लिये, उद्देश्य की सिद्धी के लिये नाम की आवश्यकता है । नाम के साथ समस्त दार्शनिकों ने अपने मतानुसार लौकिक, अलौकिक या आध्यात्मिक या पारमार्थिक परिभाषाएं दी हैं । जैसे-कमण्डलु शब्द है इसका क्या अर्थ है ?

क = जल, मण्डल = पात्र या आकार । इस प्रकार कमण्डलु शब्द या अर्थ हुआ-"वह पात्र जिसमें जल रखा जाता हो" । इसी प्रकार कमल शब्द है । क = जल, मल = कीचड़ अर्थात् जल व कीचड़ का योग और इससे एक पुष्प का अर्थ निकलने लगा जो जल व कीचड़ के योग से उत्पन्न होता है "कमल" ।

एकाक्षरी कोष में "क" शब्द का अर्थ आत्म वाचक है । "क" शब्द के आत्मा व जल, ये दोनों अर्थ एक साथ बताये हैं । बृहद् द्रव्यसंग्रह में इसी प्रकार अप्पा शब्द से भी आत्मा व जल दोनों अर्थों का निर्देश है अर्थात् आत्मवाचक व जलवाचक में एक रूपता है । जल को

१—समयसार-५

जीवन का प्रतीक माना है । जैसे जल अपने शीतल स्वभाव को नहीं छोड़ता, वैसे ही आत्मा भी अपने ज्ञान चैतन्य स्वभाव को चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते हुये भी नहीं छोड़ता। समान उद्देश्य से समानार्थक नाम है ।

नाम के साथ उद्देश्य की सिद्धि आवश्यक है । इसलिये शब्दों को निश्चित अर्थों में निबद्ध कोष द्वारा कीलित कर दिया गया है, बंधन में डाल दिया गया है । यदि शब्द व अर्थ को बंधन में नहीं डाला जाये तो शब्द संदिग्ध हो जायेंगे । एक ही शब्द के अनेक अर्थ हो जाने से भ्रम उत्पन्न हो जायगा ।

सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हेतु आचार्यों ने शब्द, उसके अनुकूल अर्थ व ज्ञान ये तीन अंग दिये हैं । यदि शब्द के अनुरूप अर्थ नहीं होगा तो वे शब्द अव्यावहारिक हो जायेंगे । जैसे बहुत व्यक्ति "कमल" नाम रख लेते हैं । "कमल" नाम रख देने से कोई उसे सूंघता नहीं है। किसी महिला का सोना नाम होने से कोई उसके गहने नहीं बनाता ।

अक्षरस्वरमात्राभिर्यच्छुद्धं पठ्यते श्रुतम् ।
दक्षैर्गुरूपदेशेन व्यञ्जनाचार एव सः ।। १

चतुर पुरुष गुरू के उपदेशानुसार जो अक्षर, स्वर मात्राओं का शुद्ध उच्चारण करते हैं उसको व्यञ्जनाचार कहते हैं ।

एक–एक शब्द में किंचित् भी प्रमाद होने पर शब्द दूषित हो जाता है । जैसे एक गुरुकुल में गुरूजी बालकों को पढ़ा रहे थे । गुरूजी ने कहा एक शब्द में बिन्दु मात्र की हीनाधिकता होने पर अर्थ का अनर्थ हो जाता है । शब्द दूषित हो जाता है ।क्या आप लोग कोई उदाहरण दे सकते हैं । बालक समझदार थे । उन्होंने कहा गुरूजी एक उदाहरण है । आपका पवित्र नाम गजानन्द है । यदि इसमें "ग" अक्षर पर अनुस्वार लगादिया जाये तो गंजानंद हो जायेगा ।

अक्षर, स्वर, मात्रा, अनुस्वार एक–एक का ध्यान रखते हुए शुद्धोच्चारण करना व्यञ्जनाचार है ।

अर्थाचारः—

अर्थेनात्र विशुद्धं यत्सदर्थालंकृतश्रुतम् ।
पठ्यते पाठ्यतेऽन्येसोर्थाचारः श्रुतस्य वै ।। २

अर्थ से अत्यंत सुशोभित शास्त्रों का शुद्ध अर्थ पढ़ना और शुद्ध ही पढ़ाना ज्ञान का अर्थाचार नामक अंग है ।

१–मू० प्र० पृ० २१६।६।५१   २–मू० प्र० पृ० २१२।६॥

यथार्थ अर्थ का परिज्ञान करने का नाम अर्थाचार है, अर्थात् जिनशब्द या वाक्यों का जो जहां अर्थ निहित है, उन शब्द या वाक्यों का वहां वही अर्थ करना अर्थाचार है । विहित अर्थ से प्रतिकूल अर्थ करना अनर्थ एवं विपरीत मार्ग है । उदाहरण के लिये एक व्यक्ति ने सीखा था सु याने अच्छा कु याने खराब । किस समय किसका क्या विहित अर्थ है, नहीं जानने से विपरीतता हो गई । एक समय वे अपनी ससुराल पहुंचे । ससुरजी ने पुकारा-कुंवर साहब आगये क्या ? उस व्यक्ति ने सीखा था "कु" का अर्थ खराब है । अतः कहने लगा "कु" नहीं "सु" कहिये, फल क्या हुआ ? कुंवर साहब नहीं, सुवर साहब । ऐसा अनर्थ,अर्थ के बिना शब्द मात्र का प्रयोग करने से होता है ।

आचार्य कहते हैं– विपरीत अर्थ से दर्शनमोहनीय कर्म का बंध होता है । किसी वाक्य अथवा श्लोक का विपरीत अर्थ करना सबसे बड़ा पाप है । इससे स्व और पर दोनो का अकल्याण होता है । इसलिये बुद्धिमानों का कर्तव्य है कि आगमनुकूल अर्थ करें । आगम जो कहे उसके अनुसार अर्थ लगाना, मन जो कहे उस अनुसार नहीं । एक शब्द के भी अर्थ का अनर्थ हो गया तो सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर तक मोहनीय कर्म की स्थिति पड़ जायेगी । सम्यग्ज्ञानी जीव इससे बहुत डरता है ।

सिर्फ शब्द जान लें किन्तु अर्थ नहीं जाने तो वह शब्द लाभदायक नहीं है । यदि अर्थ नहीं जानें तो ज्ञान स्थाई नहीं रह सकता है । एक विद्यार्थी "घट" शब्द जानता है, किन्तु अर्थ नहीं जानता है तो वह उसका उपयोग नहीं कर सकता है । जब उसे समझाया जाता है कि "जिसमें जल धारण क्रिया होती है उसे घट कहते है" तब वह घट उसके लिये उपयोगी हो जाता है । कोरा शब्द ज्ञान भार रूप हो सकता है, कार्यकारी नहीं हो पाता है

एक शब्द है "दूध" । केवल दूध कह देने से वक्ता का उद्देश्य ज्ञात नहीं हो पाता है । दूध गाय का भी होता है भैंस का भी होता है, और आक का भी होता है । दूध शब्द के साथ "किसका दूध" यह भी ज्ञात होना चाहिये, तभी उद्देश्य की प्राप्ति हो सकेगी । शब्द के साथ अर्थ निश्चित होना चाहिये । निश्चित अर्थ के अभाव में संशय, विपर्यय, अनध्यवसायादि दोष उत्पन्न हो जाते हैं । इन तीनों से स्थिति अनिर्णीत हो जाती है और वह मिथ्याज्ञानी कहलाता है । अतः शब्द ज्ञान के साथ अर्थ ज्ञान अत्यंत आवश्यक है ।

अयोध्या के राजा ने राज्यव्यवस्था के लिये मंत्रियों के नाम एक पत्र लिखा, उसमें लिखा था–

पुत्रोध्यापयितव्योऽसौ वसुमित्रोति सादरम् ।
शालिभक्तं मसिस्पृक्तं सर्पियुक्तं दिनं प्रति ।।
गर्गोपाध्याय कस्त्वोऽस्मै दीयते भोजनाय च ।

भाव यह था कि वसुमित्र के पढ़ने की पूरी व्यवस्था हो । अध्यापक जी को खाने-पीने को घी, दूध चावल आदि की पूरी व्यवस्था हो किंतु "मसिस्पृक्तं" एक शब्द ऐसा था जिसके अर्थ को मंत्री वर्ग समझ नहीं पाया । अतः जब पंडित जी भोजन को बैठते तो चावलों के साथ भोजन में थोड़ा कोयला भी दिया जाता था ।

राजा ने आने पर पंडित जी से कुशल क्षेम पूछा । उन्होंने कहा, सब कुछ ठीक है पर भोजन में कोयला भी साथ में दिया जाता है। वह मुझसे नहीं खाया जाता है अतः मुझे जाने की आज्ञा दे दीजिये । राजा क्रोधित हुए । उन्होंने रानी से पूछा, ऐसा क्यों किया ? उत्तर मिला- "मसिस्पृक्त" शब्द का अर्थ "कोयले से युक्त भोजन" इस प्रकार ही लगाया गया है । राजा क्रोधित हुए उन्होंने समझाया वास्तविक अर्थ था-पंडित जी को भोजन में घी आदि के साथ लिखने को स्याही आदि की भी पूरी व्यवस्था करना। एक शब्द के अनर्थ ने एक विद्वान को पीड़ित कर दिया ।

उभयाचार— अर्थाक्षरविशुद्धं यदधीयते जिनागमम् ।
निर्दिभस्तदुभयाचारो ज्ञानस्य कथ्यते महान् ।। १

जो जिनागम को शब्द, अर्थ और दोनों से विशुद्ध अध्ययन करता है, उसको विद्वान लोग ज्ञान का महान अंग उभयाचार कहते हैं ।

"शब्द ,अर्थ, दोनों के शुद्ध और यथार्थ पठन-पाठन करने का नाम उभयाचार है ।" प्रश्न उठता है कि शब्दाचार और अर्थाचार दोनों को अलग-अलग कह आये फिर यहां उभयाचार कहने का क्या कारण है ?

उत्तर मे आचार्य कहते हैं—कहीं पर सिर्फ अर्थ मात्र से प्रयोजन सिद्ध हो जाता है । कहीं पर केवल शब्द मात्र से ज्ञान की उपासना की जाती है । जैसे- श्री शिवभूति मुनि "तुषमास भिन्न" शरीर अलग है, आत्मा अलग है । जैसे- छिलका भिन्न है, दाल भिन्न है वैसे ही शरीर भिन्न है, आत्मा भिन्न है ।

यहाँ भावज्ञान (अर्थज्ञान) मात्र से पार हो गये । कहीं शब्दज्ञान ही मुक्ति का मार्ग बन जाता है । जैसे- भक्तामर, कल्याण मन्दिर, तत्त्वार्थ सूत्रादि का पाठ मात्र करके ज्ञान की उपासना की जाती है । यहां केवल शब्द शास्त्र में ही निष्ठा पाई जाती है । उपर्युक्त दोनों आचारों में उभयाचार सम्मिलित नहीं होता है । अतः एक साथ दोनों (शब्द-अर्थ) की पूर्ति के लिये (शब्द-अर्थ) उभयाचार का जुदा ग्रहण किया गया है । शब्दाचार, अर्थाचार, उभयाचार-तीनों की शुद्धि रखते हुए ज्ञानार्जन करना जिनवाणी का मूल विनय है । इनकी अशुद्धता में जीवों की हानि होती है । हां जहां पर हृदय में जिनवाणी के प्रति परम भक्ति है, वहां पर स्वल्प बोध वश कुछ वैपरीत्य होने पर भी पाप बंध अथवा अकल्याण नहीं होता है । कहा है-

१- मू० प्र० पृ० २१३।६

सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठंपवयणं तु सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ।।

सम्यग्दृष्टि जीव देव शास्त्र गुरु का श्रद्धानी अज्ञानवश, गुरु मुख से निकले असत् भावों का भी उपदेश सुनकर श्रद्धान कर लेता है (तत्व का असत्य वचन भी श्रद्धावश सम्यग्दर्शन को दूषित नहीं करता है) परन्तु–

सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि ।
सो चेव हवदि मिच्छादिट्ठी जीवो तदो पहुदि ।। २

यदि ज्ञानी गुरु के द्वारा सत्य कथन मिलने पर भी वह उसे मानता नहीं है, अपने दुराग्रह को यदि नहीं छोड़ता है तो वह जीव उसी समय से मिथ्यादृष्टि कहलाता है । कारण भावों से ही पापबंध होता है। भावों में जहां पर विपरीत बुद्धि का समावेश होता है वहां थोड़ा भी वैपरीत्य अनर्थ का, संसार भ्रमण का कारण बन जाता है—

दृष्टान्त के लिये अञ्जन चोर को ले लीजिये । अपने जीवन की समाप्ति जानकर उसने धर्मनिष्ठ सेठ के वचनों पर दृढ़ विश्वास करके "आणं ताणं कछु न जाणं सेठ वचन प्रमाणं" अशुद्ध वचनों से भी इस णमोकार मंत्र को पढ़ने मात्र से कल्याण को प्राप्त किया । और राजा वसु ने बुद्धि पूर्वक अज का 'जौ' अथवा पुराना धान्य अर्थ न करके विपरीत 'छाग' (बकरा) अर्थ किया । फलतः नरक प्राप्त किया ।

दृष्टांतों से ज्ञात होता है कि बुद्धि पूर्वक भावों से एक शब्द का भी विपरीत अर्थ होने से कितना पाप हुआ कि नरक में जाना पड़ा और शुद्ध अन्तःकरण तथा दृढ़ श्रद्धामात्र मे कितना तत्व भरा है कि उसके भूल जाने पर शब्दान्तर का भी जाप देने से विद्या को सिद्ध किया । सम्यक् ज्ञान के इच्छुक भव्यात्मा जीवों का कर्तव्य है कि शब्दाचार, अर्थाचार एवं उभयाचार पर पूर्ण ध्यान रखते हुए अपने ज्ञान को निर्मल बनायें ।

बहुमानाचार— अंगपूर्वश्रुतादीनां सूत्रार्थं च यथास्थितम् ।
तथैव चोच्चरन् वाण्या योऽन्येषां प्रतिपादयेत् । ३

अंगपूर्व और अन्य शास्त्रों का सूत्र अर्थ जैसा है, उसी प्रकार जो वाणी से उच्चारण करते हैं, उसी प्रकार दूसरों के लिये प्रतिपादन करते हैं एवं—

कर्मक्षयाय कुर्यान्न सूरिश्रुतादि योगिनाम् ।
क्वचित् परिभवं गर्वाद्बहुमानं लभते हि सः ।। ४

यह सब पठन–पाठन के द्वारा कर्मों के क्षय के लिये करते हैं । तथा अभिमान से आचार्य, शास्त्र व किसी योगी का भी तिरस्कार नहीं करते हैं । उसको बहुमानाचार नामक ज्ञानांग कहते हैं ।

१– जीवकां० २७ । (२) जी कां० २८ । मू०प्र० ४४१६ पृ २१८ । (४) मू० प्र० ४५

सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के हेतु भूत ग्रंथों का पूर्ण आदर करना, गुरुजनों का यथायोग्य पूर्ण विनय करना यह बहुमानाचार है। ग्रंथ पढ़ते समय ग्रंथ को पूर्ण सावधानी रखते हुए साङ्गोपाङ्ग प्रारंभ से अन्त तक पढ़ना, शास्त्र के रचयिता का ध्यान रखना, क्रम पूर्वक, अपने पद के योग्य, बुद्धि की योग्यतानुसार शास्त्रों का अध्ययन करना भी ज्ञान का बहुमान है।

शास्त्रों पर वेष्टन लगाना, अपने से ऊँचे स्थान पर विराजमान करके शास्त्रों को रखना, योग्य शुद्ध स्थान में धरना, शुद्धि पूर्वक रखना और उठाना आदि भी इसी के अंग हैं। आचार्य कहते हैं कि भक्ति से भीगा भक्त आदर विनय पूर्वक यदि जिनभक्ति में लीन हो जाता है तो वह भी भगवान बन जाता है। तो क्या ऐसी वीतराग जिन मुखोद् भूत दिव्यवाणी की विनय, भक्ति करने वाला केवलज्ञानी नहीं बन सकता है? अवश्य बनता है।

यह निश्चित है कि हम जिस वस्तु को प्राप्त करना चाहते हैं, यदि उसके प्रति आदर नहीं है तब तक उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। फिर जिस वस्तु की प्राप्ति केवल भावों की विशुद्धता मात्र से संबंध रखती है, उस वस्तु के प्रति यदि भावों में विनय, भक्ति, सम्मान नहीं अपितु मलिनता है, उस की प्राप्ति तो अशक्य ही समझनी चाहिये। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिये सम्यग्ज्ञान की आराधना की जाय एवं निमित्त भूत गुरु एवं शास्त्रों की उपासना की जाय। इस अंग की परवाह नहीं करने पर गुरु और शिष्य या शिष्यः गुरु में समीचीन संबंध नहीं रहता है और न समीचीन ज्ञान की ही उपासना हो पाती है। परिणाम स्वरूप जीव कुमतिज्ञानी या अज्ञानी बना चौदह राजू लोक में भ्रमण करता रहता है।

उपधानाचार— "सूत्र, वार्तिक, श्लोक गाथा आदि को न भूलने का नाम उपधानाचार है"।

मूलग्रंथ का स्मरण रखना अत्यावश्यक है। बिना इसके शब्द विपर्यास, अर्थ विपर्यास होने की पूरी संभावना है। अतः मूल पाठ की धारणा अत्यावश्यक है।

सिद्धातं पठ्यते यत्नाग्रहेण स्वार्थसिद्धये।
आचार उपधानाख्यः स ज्ञानस्य स्मृतो महान् ॥ १

आचाम्ल निर्विकृताद्यैः पक्वान्नादिरसोज्झनैः।
विधाय नियमं ग्रन्थसमाप्त्यन्तं श्रुतोत्सुकैः ॥ ४२ ॥

शास्त्रज्ञान की उत्कट इच्छा रखने वाले मुनि ग्रन्थ की समाप्ति तक केवल मांड खाने का, निर्विकृति (विकार रहित पौष्टिकता रहित) आहार ग्रहण, करने का व पक्वान्न रस को त्याग करने का जो नियम लेते हैं, और ऐसा नियम लेकर अपनी आत्मा का कल्याण करने के लिये आग्रह पूर्वक जो सिद्धान्तों का पठन–पाठन करते हैं उसको उपधानाचार कहते हैं।

---

१ मू० प्र २१६। ६, ४३ ॥

शास्त्राध्ययन करते समय पूर्वापर संबंध याद रखते हुए, पूर्व पाठ को ध्यान में रखते हुए पढ़ना आवश्यक है, अन्यथा सूत्रार्थ का ज्ञान नहीं हो पाता । जैसे तत्त्वार्थ सूत्र में सूत्र आया— "नाणोः" शाब्दिक अर्थ है अणु नहीं है । पर क्या नहीं है ? तो पूर्व सूत्र की धारणा आवश्यक है कि बहुप्रदेशी का वर्णन चला आया है । अतः सूत्रार्थ है अणु बहुप्रदेशी नहीं है । पूर्व पाठ की धारणा रखते हुए ही अध्ययन कार्य कारी होता है अन्यथा– "आगे पाठ पीछे सपाट" इससे कल्याण नहीं होता है "वाचन से पाचन" महान है ।

उपधानाचार की प्रवीणता के फलस्वरूप ही अकलंकाचार्य ने बौद्धधर्मियों को वाद में पराजित कर जैन धर्म की ध्वजा को फहराया था ।

अनिन्हवाचार— सामान्यादि यतिभ्यो ऽपि पठित्वा श्रुतमूर्जितम् ।
महर्षिभ्यो मयाधीतं मानिभिर्यन्निगद्यते ।। १

अधीत्यप्रवरं शास्त्रं पार्श्वे निर्ग्रन्थ योगिनाम् ।
कुलिंगिनिकटेऽधीत मुच्यते यज्जडार्दिभिः ।।

नाधीत न श्रुतं वेचिनेत्यादि श्रूयते च यत् ।
पठितस्यापिशास्त्रस्य सर्वं निन्हवनं हि तत् ।।

इमं निन्हवदोष च त्यक्त्वाचार्यादियोगिनाम् ।
गुरुपाठकशास्त्राणां श्रुतस्य पठितस्यवा ।।

गुणप्रकाशनं लोके ख्यातिश्चश्रूयतेतराम् ।
मुमुक्षुभिः स सर्वोऽप्यन्निन्हवाचार उच्यते ।।

अर्थ— कोई भी अभिमानी पुरुष किसी उत्तम शास्त्र को किसी सामान्य मुनि से पढ़कर यह कहे कि मैंने तो यह शास्त्र अमुक महर्षि से पढ़ा है, अथवा किसी उत्तम शास्त्र को महामुनि से पढ़कर यह कहे कि यह शास्त्र अमुक मिथ्या साधु या कुलिंगी से पढ़ा है । अथवा पढ़े हुए शास्त्र के लिये यह कहे कि यह शास्त्र मैंने नही पढ़ा है अथवा नहीं सुना है । इस प्रकार जो मूर्ख लोग कहते हैं, उसको निन्हव कहते हैं। इस निन्हवको त्याग कर आचार्य आदि योगियों का, गुरु, उपाध्याय की, शास्त्र की और सुनने या पढ़ने की प्रसिद्धि करना, लोक में आचार्य, गुरु, उपाध्याय के गुण प्रकाशित करना, मोक्ष के इच्छुक मुनियों का अनिन्हवाचार कहलाता है ।

प्राप्त ज्ञान, गुरु और शास्त्र को नही छिपाना अनिन्हवाचार नामक ज्ञानांग है । ज्ञान आदि के छिपाने से ज्ञानावरण कर्म का बंध होता है । ज्ञान का जितना प्रसार किया जाता है, उसकी उतनी ही अधिक वृद्धि होती है । जितना छिपाकर रखा जाता है वह मंद, कुंठित अन्ततः विस्मृत हो जाता है । वादीभसिंह आचार्य कहते हैं—

---

१ मूला० प्र० ६।२१८ । (४६ से ५०)

विद्याहि विद्यमानेयं, वित्तिर्णा पि प्रकृष्यते ।
नकृष्यते च चौराद्यैः पुष्यत्येव मनीषितम् ।। १

अर्थ— क्योंकि मौजूद यह विद्या अन्य को दी गई भी बढ़ती ही जाती है । चोर बंधु आदि के द्वारा छुड़ाई नही जा सकती है तथा इच्छित कार्यों को पूर्ण करती है । अतः ज्ञान को कभी छिपाना नही चाहिये । ज्ञान को छिपाकर क्या आत्मा के गुणों को पुनः कर्मों से आवृत करना चाहते हो ? अत्यंत कठिनता से ज्ञान पुष्प कुछ विकसित हुआ है, पुनः अंधकार की ओर क्यों ले जाकर उसे मुर्झाना चाहते हो ? उसको पूर्ण विकसित करना ही सच्चा ज्ञान है ।

आचार्य कहते हैं, ज्ञान दान देने वाले या तत्व बोध कराने वाले गुरू का नाम भी कभी नहीं छिपाना चाहिये । गुरू का नाम छिपाने से कृतघ्नता का दोष उपस्थित होता है ।

एक कालसंदीव नामक महामुनिराज ने, श्वेतसंदीव नामक भव्यात्मा को दीक्षित किया । दीक्षा प्राप्त कर गुरूदेव के साथ शिष्य भी भव्यात्माओं को उपदेशामृत का पान कराते हुए विहार कर गये । विहार करके दोनों मुनि श्री वीर प्रभु केसमवशरण में पहुँच कर दिव्य वाणी रूप उपदेशामृत का पान करने लगे ।

श्वेतसंदीव मुनि समवशरण के बाहर आतापन योग द्वारा तप कर रहे थे । महाराज श्रेणिक ने समवशरण में जाते हुए उन्हें देख लिया और उनके समीप जाकर दर्शन किये । दर्शन कर पूछा–मुनिवर ! आपके गुरू कौन हे ? श्वेत सदीव मुनि ने कहा–मेरे गुरू श्री वर्धमान भगवान हैं । इस प्रकार कहना ही था कि उनका शरीर कृष्ण वर्ण का हो गया । श्रेणिक आश्चर्य चकित हो गये । उन्होंने गणधर देव से इसका कारण पूछा । उत्तर में गणधर देव ने कहा–श्वेतसंदीव मुनि के गुरू कालसंदीव मुनि हैं जो अभी इसी समवशरण में हैं । अपने गुरू का इन्होंने निन्हव किया है, असली बात छिपाई है । इसी कारण इनका शरीर कृष्ण हो गया है । श्रेणिक ने मुनिराज के पास जाकर उन्हें संबोधित किया और कहा– आपने अपने गुरू का नाम छिपाया, यह आपके योग्य नहीं है, यह आपने आगम विपरीत कार्य किया है । आगे इस प्रकार गुरू का नाम नहीं छिपाने की प्रतिज्ञा करिये । श्वेतसंदीव पर इस बात का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा । वे अपनी बहुत निंदा और आलोचना करने लगे । स्वकृत दुष्कर्म का प्रायश्चित कर शुक्ल ध्यान में स्थिर हुए । और चार घातिया कर्मों का क्षय कर केवल ज्ञान को प्राप्त किया । २

सज्जन पुरुषों का कर्तव्य है कि वे किये हुए उपकार को भूलें नहीं । एक अक्षर का भी ज्ञान देने वाला हमारा गुरू है । उसकी भी हमारे द्वारा अवहेलना नहीं हो यही सज्जनों की गुरु भक्ति एव सच्ची विनय है । "नहि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति" । सबसे बड़ा उपकार

---

१ अ० । २। २५ ।।   २–(आरा० कथाकोश भा० ३)

ज्ञान दान है । जिसने सम्यक्ज्ञानदान दिया है, उसने अनंत ससार छेद करने का मार्ग दिखाया है । ऐसे महान उपकारी का नाम छिपाना अत्यंत कृतघ्नी मनुष्यों का कार्य है । दूसरी बात गुरु का नाम छिपाने से अपने ज्ञान में भी प्रामाणिकता नहीं आती है । इसी प्रकार जिन शास्त्रों से अध्ययन किया हो उनका नाम एवं उनके रचयिता आदि का नाम भी नहीं छिपाना चाहिये ।

> आराध्यदर्शनं ज्ञानमाराध्यं तत्फलत्वतः ।
>
> सहभावेऽपि ते हेतुफले दीपप्रकाशवत् । १५

सम्यग्दर्शन की आराधना के बाद ही सम्यग्ज्ञान की आराधना करनी चाहिये । क्यों कि निर्मल अष्ट अंग सहित होने वाला ज्ञान दर्शन का ही फल है । जिस प्रकार दीप और प्रकाश एक साथ ही उत्पन्न होते हैं फिर भी प्रकाश दीप का कार्य है । उसी प्रकार यद्यपि सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान साथ-साथ होते हैं फिर भी सम्यग्ज्ञान कार्य है और सम्यग्दर्शन कारण है ।

❀ सम्यग्ज्ञान की पाँच भावनायें ❀

एभिरष्ट विधाचारैरधीत यज्जिनागमम् ।
तदिहैवाखिलं ज्ञानं जनयेद्धाशुकेवलम् ।। १

इस प्रकार आठ प्रकार के ज्ञानचारों के साथ जो जिनागम का अध्ययन किया जाता है उसी से इस लोक में अविलम्ब क्षायिकज्ञान अर्थात् केवलज्ञान प्रकट हो जाता है ।

विनयाद्यैरधीतं यत्प्रमादाद्विस्मृतं श्रुतम् ।
तथामुत्र च तज्ज्ञा सूते च केवलोदयम् ।। २

जो जिनागम विनयादिक के साथ अध्ययन किया गया है, तथा प्रमाद के कारण वह भूला जा चुका है तो भी उसके (विनयादिक के) प्रभाव से उसे परभव में केवलज्ञान प्रकट हो जाता है ।

ज्ञानमष्टविधाचारैः पठितं यमिनास्फुटम् ।
अनन्त कर्म हान्यैस्यात्, कर्मबंधाय चान्यथा ।। ३

इन आठ प्रकार के आचारों के साथ पढ़ा हुआ ज्ञान मुनियो के अनंत कर्मों का नाश कर देता है । यदि वही ज्ञान आठ आचारो के साथ न पढ़ा हो तो फिर उससे कर्मों का बंध ही होता है ।

आठ अंग सहित प्राप्त सम्यग्ज्ञान की पाँच भावनाएं हैं-

"वाचनापृच्छनेसानुप्रेक्षणं परिवर्तनं । सद्धर्मदेशनचेति ज्ञातव्या, ज्ञान भावना"

जैन शास्त्रों का स्वयं पढ़ना, दूसरे से पूंछना, पदार्थ के स्वरूप का चिन्तवन करना, श्लोकादि कंठस्थ करना तथा समीचीन धर्म का उपदेश देना ये पांच सम्यग्ज्ञान की भावनायें जाननी चाहिये ।

स्वाध्याय में उसी ज्ञान का महत्व है, जिस ज्ञान से तत्व को जाना जाय, चित्त को वश में किया जाय तथा जिससे आत्मा का बोध हो जाय । आत्महितकारी ज्ञान को प्राप्त करने के लिये ही ज्ञान की पांच भावनायें कही गई है । वस्तुतः ये पांच प्रक्रियायें हैं, जिनसे किसी वस्तु की पूरी जानकारी की जाती है । गुरुमुख अथवा शास्त्र से आत्मा के स्वरूप के संबधमें जो वाचना (मूलपाठ) प्राप्त हुई है, उसे केवल याद कर लेने से किसी तप की सिद्धि नहीं होती है। उस पाठ पर आत्मानुभव के प्रश्न चिन्ह खड़े करने होंगे । यही पृच्छना नामक भावना है । आत्मा में चेतना और ज्ञान है । इस पाठ को क्षण मात्र के लिए ही सही, स्वयं अनुभव करना पृच्छना से गुजरना है। पुस्तक में तैरने की विधि पढ़ने मात्र से व्यक्ति को तैरना नहीं आ सकता । उसे स्वयं पानी में उतर कर तैरने के अनुभव से गुजरना होगा। यह स्वानुभव ही स्वाध्याय है । तैरने में निपुणता निरन्तर अभ्यास से आती है, वैसे ही आत्मा के स्वरूप से निरन्तर साक्षात्कार करने की प्रक्रिया आम्नाय (परिवर्तना है) है । अनुप्रेक्षा का अर्थ है अनुभव की स्थिरता। आत्मा के संबंध में जो हमने पहले स्वयं अनुभव किया है उसे स्थायित्व देना उसी स्वरूप का चिन्तन एवं मनन करना ।

१- मू० प्र० ,५४।६।२१६ पृ।। २-मू प्र ५५ ३-.मू. प्र.५६ [४-म० पृ० २१।६६]

पूर्ण ज्ञानार्जन की प्राप्ति हेतु, अथवा ज्ञान कमल को विकसित कर उसे पूर्णतः सुरभित करने के लिये आठ अंग सहित स्वाध्याय आवश्यक है ।

स्वाध्याय क्या है किस प्रकार किया जावे जिससे कि ज्ञान कमल सौरभमयी पूर्ण विकसित हो जाये अतः स्वाध्याय का वर्णन निम्न रूपों में किया जाता है– (१) स्वाध्याय क्या है व किसे कहते हैं (२) स्वाध्याय की भावनायें कितनी है । (३) स्वाध्याय के भेद (४) स्वाध्याय विधि (५) स्वाध्याय के योग्य द्रव्य क्षेत्र काल भाव (६) स्वाध्याय के अयोग्य द्रव्य क्षेत्र काल भाव (७) विशेष शास्त्रों के प्रारंभव समाप्ति पर उपवासादि का निर्देश (८) स्वाध्याय का महत्व (९) स्वाध्याय का लाभ ।

स्वाध्याय किसे कहते हैं वह क्या है—व्यवहार से

स्वस्य वा परभव्यानां हितोध्यायो विधीयते ।
ज्ञानिभिर्योघघाताय स स्वाध्यायो गुणाकरः ।। १

जो ज्ञानीपुरुष अपना पाप नाश करने के लिये अथवा आत्महित करने के लिये अथवा अन्य भव्य जीवों का हित करने के लिए सिद्धान्त आदि ग्रंथों का पठन–पाठन करते हैं, उसको गुणों की खान स्वाध्याय कहते हैं ।

स्वाध्यायस्तत्त्वज्ञान स्वाध्ययन मध्यापनं स्मरण च । २
तत्वज्ञान को पढ़ना, पढ़ाना, स्मरण करना आदि स्वाध्याय है।

पूयादिसु णिरवेक्खो जिण सत्थं जो पढेइ भत्ती, कम्ममल सोहणट्ठं सुय लाहो सुहयरो तस्स ।।
जो मुनि अपनी पूजादि से निरपेक्ष केवल कर्म मल शोधन के अर्थ जिनशास्त्रों को भक्तिपूर्वक पढ़ता है, उसका श्रुतलाभ सुखकारी है ।

वारसंगं जिणक्खादं सज्झाय कथितं बुधैः । ३
बारह अंग और चौदह पूर्व जो जिनदेव ने कहे हैं उनको पंडितजन स्वाध्याय कहते हैं।

"अंगंगबाहिर आगमवायणपुच्छणाणुपेहा । परियट्टण धम्मकहाओ सज्झायो णाम" ।।
अर्थ–अंग और अंगबाह्य आगम की वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा परिवर्तन और धर्मकथा करना स्वाध्याय नाम का तप है ।

निश्चय नय से–"ज्ञानभावनालस्यत्यागः स्वाध्यायः" । ४ आलस्यत्यागकर ज्ञान की आराधना करना स्वाध्याय तप है ।

"स्वस्मै हितोऽध्यायः स्वाध्याय" ।।५
अपने आत्मा का हित करने वाला अध्ययन करना स्वाध्याय है ।

१–मू. ६३।६। २–आ. सा. ४४।३।। ३–मू. आ, ५११।।
४–स. सि. ६।२०।४३९।७ ५–आ. सा. १५२।५।।

स्तुति आदि परिवर्तन रूप भी स्वाध्याय है:—

अर्हद्ध्यान परस्यार्हन् शं वो दिश्यात्सदास्तु वः ।
शान्तिरित्यादि रूपोऽपि स्वाध्यायःश्रेयसे मतः ॥ १

जो साधु निरंतर अर्हन्त भगवान के ध्यान में लीन रहता है उसको "अर्हन" शंवो दिश्यात् अर्थात् अर्हन्त भगवान तुम्हारा कल्याण करें तथा सदास्तु वः शान्तिः अर्थात् तुम्हें सदा शान्ति बनी रहे इत्यादि वचनों को भी स्वाध्याय ही कहना चाहिये क्यों कि पूर्वाचार्यों ने इसके द्वारा भी कल्याण और परम्परयामोक्षमार्ग की सिद्धि मानी है ।

स्वाध्याय सर्वोत्तम तप है:—

बारसविहम्मि य तवे सब्भंतर बाहिरे कुसलदिट्ठे ।
णवि अत्थि ण वि य होहिदि सज्झायसमं तवो कम्मं ॥ २

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भव सयसहस्स कोडीहिं ।
तं णाणी तिहि गुत्तो खवेदि अंतोमुहुत्तेण ॥ ३

छट्ठट्ठमदसमदु वालसेहिं अज्जाणियस्स जासो ही ।
तत्तो बहुगुणदरिया होज्ज दु जिमिदस्स णाणिस्स ॥ ४

सर्वज्ञ देवकर उपदिष्ट हुए अभ्यंतर और बाह्य भेद सहित बारह प्रकार के तप में से स्वाध्याय तप के समान अन्य कोई तप न तो है और न होगा ।

सम्यग्ज्ञान से रहित जीव लक्षावलि कोटि भवों में जितने कर्मों की निर्जरा करने में समर्थ होता है, ज्ञानी जीव गुप्ति गुप्त होकर उतने कर्मों का क्षय अन्तर्मुहूर्त में कर देता है ।

एक, दो, तीन, चार, वा पांच अथवा पक्षोपवास व मासोपवास करने वाले सम्यग्ज्ञान रहित जीव से भोजन करने वाला स्वाध्याय में तत्पर सम्यग्दृष्टि परिणामों की ज्यादा विशुद्धि कर लेता है ।

स्वाध्याय में सम्यक्त्व की प्रधानता:—

सयलो झाणज्झयणो णिरत्थओ भाव रहियाणं । ५

भाव रहित श्रमणों का सकल ध्यान और अध्ययन निरर्थक है ।

ण च सम्मत्तेण विरहियाणं णाणमसंखेज्जगुण सेढिकम्म णिज्जराए अणिमित्ताणं णाणझाणववए सो परमत्थिओ अत्थि, अवगमट्ठ, सद्दहणाणे, तव्ववए सब्भुवगमे संते अइप्पसंगादो । ६

सम्यक्त्व से रहित ज्ञान ध्यान के असंख्यात गुण श्रेणिरूप कर्म निर्जरा के कारण न होने से "ज्ञानध्यान" यह संज्ञा वास्तविक नहीं है। क्योंकि अर्थ श्रद्धान से रहित ज्ञान में वह संज्ञा स्वीकार करने में अति प्रसंग दोष आता है।

संसारो विदुषां शास्त्रमध्यात्म रहितानां । ७

जो विद्वान् है—शास्त्रों का अक्षराभ्यास तो कर चुके हैं, परन्तु आत्मध्यान से शून्य हैं उनका संसार शास्त्र है ।

१—अ. धर्मा. ९२। २—भ. आ. १०७, मू. आ. ४०९।९।। ३—भ. आ.।१०८।। ४—भ. आ. १०९।५—भा. पा. ।मू.८९
६—ध. ९-४-१। ७—योग, ४४।

स्वाध्याय के भेद—

आलंबणं च वायण पुच्छण परियट्टणाणुपेहाओ ।
धम्मस्स, तेण अविसुद्धाओ सव्वाणुपेहाओ ।। १

अथवा वाचनापृच्छनाक्षयोऽनुप्रेक्षाम्नायवर्जितः ।
धर्मोपदेश एवेति स्वाध्याय पंचधा मतः ।। २

वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, श्रेष्ठ आम्नाय और धर्मोपदेश ये स्वाध्याय के पांच भेद हैं ।

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नाय धर्मोपदेशाः ।। ३

वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, श्रेष्ठ अम्नाय और धर्मोपदेश ये पांच प्रकार के स्वाध्याय जानने चाहिये ।

वाचना— निरवद्यग्रन्थार्थोभयप्रदानं वाचना— । ४
निरपेक्षभाव से तत्वार्थज्ञ के द्वारा पात्र को निरवद्य ग्रंथ अर्थ या उभय का प्रतिपादन वाचना है ।

वा— अंगपूर्वादिशास्त्राणां यथातथ्येन मुक्तये ।
व्याख्यानं क्रियतेयस्ययस्तां वाचनाख्सा ।। ५

जो मुनि मोक्ष प्राप्ति के लिये सज्जनों को अंगपूर्व आदि शास्त्रों का व्याख्यान करते हैं, उनको वाचना नामक स्वाध्याय कहते हैं ।

निर्दोष ग्रंथ का उसके अर्थ का तथा दोनों का स्वयं पढ़ना और भव्य जीवों को श्रवण कराना भी वाचना है ।

यदि क्षमता है तो ग्रंथ के उल्लिखित विषय का पूर्णसांगोपांग पूर्वापर दृष्टि को ध्यान में रखकर शुद्धोच्चारण करना चाहिये । इससे असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती है ।

प्रश्न उठता है यदि अर्थ समझ में नहीं आये तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिये क्या ?
उत्तर— ऐसा नहीं है । अर्थ नहीं समझ में आये तो भी स्वाध्याय तो करते ही रहना चाहिये । जिससे पापास्रव से बचेंगे और पुण्यास्रव होगा । इतना ही नहीं जब एक चींटी भी चलते-चलते मंजिल तय कर लेती है, तो पढ़ते-पढ़ते, संस्कार जमते-जमते अवश्य ही ज्ञान भी एक दिन स्पष्ट हो जायेगा ।

पृच्छना— संशयच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा परानुयोगः पृच्छनम् ।। ५

आत्मोत्रति, परातिसंधान, परोपहास, संघर्ष और प्रहसन आदि दोषों से रहित हो, संशय उच्छेद या निर्णय की पुष्टि के लिये ग्रंथ, अर्थ या उभय का दूसरे से पूछना पृच्छना है ।

१— मू० आ० १५९६ ।। २— पु० प्र० ६४ ।। ३— रा०वा ।। ४—रा०वा ।। मू० प्र०६५ ।। ५— सज० वा० ।।

संदेह हानयेऽन्येषां पार्श्वे प्रश्नं विधीयते ।
सिद्धान्तार्थं महागूढं श्रूयते पृच्छनात सा ।। १

अपना संदेह दूर करने के लिये अन्य किसी के पास जाकर प्रश्न पूछना अथवा महागूढ सिद्धान्तशास्त्रों के अर्थों को सुनना पृच्छना नाम का स्वाध्याय है ।

संशय को दूर करने के लिये अथवा कृतनिश्चय को दृढ़ करने के लिये प्रश्न पूछना पृच्छना है ।

किसी तत्वज्ञानी की हंसी या मजाक के लिये नहीं अपितु तत्व में संशय को दूर करने के लिये या विषय को पक्का करने के लिये एक दूसरे से ऊहापोह करना पृच्छना है । इस प्रकार स्वाध्याय से तत्व के विषय में मन (ज्ञान) इतना निश्चल हो जाता है कि कोई स्वप्न में भी कहे "पाप में धर्म है" आप उसे स्वीकार नहीं करेंगे ।

अनुप्रेक्षा— अधिगतार्थस्य मनसाऽनुप्रेक्षा । २

पदार्थ की प्रक्रिया को जानकर गरम लोह पिंड की तरह चित्त को तद्रूप बना देना और उनका मन से बार-बार अभ्यास करना अनुप्रेक्षा है ।

तप्तायः पिंड सादृश्येनैकाग्रार्पित चेतसा ।
अभ्यासोऽधीतशास्त्राणां योनुप्रेक्षात्र सोत्तमा । ३

"अनुप्रेक्षा परिज्ञार्थे भावना या मुहुर्मुहः" । ४

—पढ़े हुए शास्त्र में (मुहुर्मुह) बार-बार भावना करना अनुप्रेक्षा है ।

जाने हुए पदार्थ का बार-बार चिन्तवन करना अनुप्रेक्षा है ।

हम कहते हैं हम बहुत पढ़ते हैं, पर भूल जाते हैं, याद नहीं रहता है । इसका क्या कारण है । कई महानुभाव ऐसे भी मिलेंगे— कितना भी पढ़ो, याद तो रहता ही नहीं, क्या फायदा पढ़ने से, हम तो नहीं पढ़ेंगे । बस पढ़ना लिखना छोड़ देते हैं ।

यह गलत मार्ग है । क्या कारण है, एक गाली किसी ने हमें एक वर्ष पूर्व दी है वह अभी एक वर्ष बाद भी तरोताजा है किन्तु स्वाध्याय की एक पंक्ति भी जो अभी एक घंटे पूर्व पढ़ी थी, या प्रवचन सुना था वह याद नही है । गाली को सुनकर निरंतर मस्तिष्क में उसका चिंतवन कर उसे हम अपनी बुद्धि से संस्कारित कर लेते है और कहते हैं हम इस बात को स्वप्न में भी नहीं भूल सकते हैं ।

इससे प्रतीत होता है कि "आपकी सांची रुचि नाहीं" । ५

१— मू० प्र० ६६ ।। २— राज० वा० ६ ।। ३— मू०प्र०६ ।। ४— भा० सा० पृ० ८८ गा० ६१
५— मोक्ष० प्र० ।।

हमने क्या पढ़ा है, क्या सुना है, इसे हम कभी भी पढ़ने सुनने के बाद चिन्तन करते ही नहीं हैं, तत्व के प्रति हमारी सच्ची रुचि नहीं होने से हम उसके संस्कार से अपनी आत्मा को सुसज्जित नहीं करते हैं । उसीका फल है कि हमने क्या पढ़ा, सुना आदि हमें याद नहीं रहता है । बुद्धि के संस्कार होने से हम अनावश्यक बातों को याद रखते हैं और आवश्यक बातों को भूल जाते हैं ।

तत्वज्ञान को निश्चित दृढ़ करने के लिये एवं धारणा शक्ति को मजबूत बनाने के लिये पढ़ी गई तत्व की व्याख्यादि" का पुनः पुन: चिंतन अवश्य करना चाहिये ।

आम्नाय— घोषविशुद्ध परिवर्तनमाम्नायः ।१

वृत्ति—व्रतिनो वेदित समाचारस्येह लौकिक फलनिरपेक्षस्य द्रुतविलंबितादि दोषविशुद्धं परिवर्तनामाम्नायः ।

आचार पारगामी व्रती का लौकिक फल की अपेक्षा किये बिना द्रुतविलंबित आदि पाठ दोषों से रहित होकर पाठ का फेरना, घोखना आम्नाय है ।

द्रुतविलम्बितमात्रादि च्युतदोषातिग च यत् ।
परिवर्तनमभ्यस्तागमस्याम्नाय एव सः ।। २

पढ़े हुए शास्त्रों का बार-बार अभ्यास करना, पाठ करना और ऐसा पाठ करना जो न धीमे हो, न जल्दी हो और न अक्षर मात्रा आदि से रहित हो ऐसे पाठ करने को आम्नाय कहते हैं ।

परिवर्तनमाम्नायो घोषदोषविवर्जितम् ३

परिज्ञान अर्थ में उच्चारण दोष रहित परिवर्तन वह आम्नाय है ।

"निर्दोष उच्चारण करते हुए पाठ करना आम्नाय है"

ह्रस्व को ह्रस्व, दीर्घ को दीर्घ पढ़ना, जो भक्ति, स्तुति, श्लोक, गाथा, दोहादि जिस छंद में लिखे हैं, उन्हें उसी छंद की चाल से निर्दोष उच्चारण करना चाहिये । जिस प्रकार दूध में मीठा डालने पर गुणकारी होता है, नमक डालते ही फट जाता है, उसी प्रकार भक्ति रूपी दूध में लय छंद की चाल रूपी मिठास असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा का कारण बनती है । जैसे शिखरिणी छन्द है और स्रग्धरा की चाल में गायेंगे तो ह्रस्व, दीर्घ प्लुतादि की पकड़ के अभाव में, माधुर्य के अभाव में भक्ति का पूर्ण आनंद, नहीं मिल पाता है । भक्ति के आनन्द रूपी अश्रुओं से कर्म की रेख मिट जाती हैं । अन्यथा यह अचिन्त्य फल हमें मिल पाता नहीं है । अतः छन्द, स्वर, व्यञ्जन, दीर्घ, ह्रस्व मात्रादि का ध्यान रखते हुए शुद्धोच्चारण कर पढ़ना आम्नाय नाम का स्वाध्याय है ।

१– (रा. वा.) । २– (मू. अ.) ३– (आ. सा. ६१)

धर्मोपदेश— धर्मकथाद्यनुष्ठानं धर्मोपदेशः । १

दृष्ट प्रयोजन परित्यागादुन्मार्ग निवर्तनार्थं संदेह व्यावर्तन।पूर्वपदार्थ प्रकाशनार्थं धर्मकथाद्यनुष्ठानं धर्मोपदेश इत्याख्यायते ।

लौकिक ख्याति लाभ आदि फलों की आकांक्षा के बिना उन्मार्ग की निवृत्ति के लिये, संदेह की व्यावृत्ति और अपूर्व पदार्थ के प्रकाशन के लिये धर्मकथा करना धर्मोपदेश है ।

ख्यातिपूजालाभादीन् विना तीर्थंकृतासताम् ।
सत्कथाख्यापनं यच्च, धर्मोपदेश एव सः ।। २

अपनी कीर्ति, बड़प्पन व लाभ आदि की इच्छा के बिना तीर्थंकर आदि सज्जन पुरुषों की कथा कहना धर्मोपदेश नाम का स्वाध्याय है । जिनेन्द्र देव कथित तत्त्व का जनमानस में सरल सही तरीके से प्रतिपादन करना यही धर्मोपदेश है । धर्मोपदेश अर्हन्त प्रभु की दिव्य ध्वनि ही है । वैसे पूर्ण ज्ञान के धारी अर्हन्त ही इसके अधिकारी हैं परन्तु इसके अभाव में उनके द्वारा किये गये दिव्यज्ञान को क्षयोपशम ज्ञान की माला में गूथकर आचार्य, मुनि, त्यागी उसे जीवन्त बनाये रखने के लिये जगह-जगह पर फूलों की महक महकते हैं, जिसकी सुरभि से कई भव्यात्माएं अपने जीवन को सुरभित कर लेती हैं । अतः दिया गया धर्मोपदेश भी मान, बड़ाई, ख्याति, लाभ, पूजा की इच्छा से रहित होने पर महान निर्जरा का कारण बनता है, तत्काल संवर तो करता ही है ।

धर्मोपदेश (धर्मकथा) इस शब्द की गहराई को समझना होगा । इसका इतना ही अर्थ नहीं है कि धार्मिक कथाए या धर्मोपदेश में प्रवीणता पा लेना मात्र है । अपितु एक पाठ को याद कर सुना देने में अथवा एक ग्रंथ को पढ़कर दूसरे को पढ़ा देने में अध्यापक तो हो सकता है, अच्छा धर्मोपदेशक भी हो सकता है, किन्तु इससे स्वाध्याय जैसा तप फलित नहीं होगा । धर्म कथा का अर्थ होना चाहिये, धर्म को अभिव्यक्त करने की शक्ति का होना, सत्य को उद्घाटित करने की शक्ति का होना । अब तक स्वाध्याय की चार सीढ़ियों पर चढ़कर साधक अनुभव के जिस पड़ाव पर पहुँचा है, वहाँ वह आत्मा के सन्निकट हो गया है । उसने स्वयं को और ज्ञाता को भी जान लिया है । इसलिये अब तक प्राप्त ज्ञेय की जानकारी उसके लिये निरर्थक हो गयी है । ज्ञाता को जानना एवं धर्म और ज्ञेय को जानना विज्ञान है । अतः स्वाध्याय तप के इस पड़ाव तक पहुंचा हुआ साधक यदि इतना सक्षम हो गया है कि वह उस धर्म के स्वरूप को अभिव्यक्त कर सके तो उसका स्वाध्याय तप पूर्ण जानना चाहिये । सागर धर्मामृत में कहा है —

कलिप्रावृषि मिथ्यादिक्मेघच्छन्नासु दिक्ष्विह ।
खद्योतवत्सुदेष्टारो या द्योतन्ते क्वचित् क्वचित् ।।

१– राज. वा. अ. ९ ।। २– मू प्र ६६ ।।

पंचम काल है, कर्म रूपी मेघ चारों ओर मंडरा रहे हैं। ऐसे समय सच्ची जिनवाणी के उपदेश वचनों की अमृत वर्षा करने वाले योग्य उपदेष्टा जुगनू के समान कहीं-कहीं चमकते दिखाई देते हैं। सच्चे मार्ग के उपदेष्टा मिलना कठिन है, संसार बढ़ाने वाले तो बहुत मिलते हैं। जैसे—

एक कीर्तनकार था उसने अपने पुत्र को कीर्तन विद्या के साथ सुसंस्कारों से भी परिमार्जित किया। एक दिन वे दोनों राज-सभा में कीर्तन करने गये! पुत्र सत्यवादी था, उसने कीर्तन करते हुए कहा कि— जो एक बूंद शराब पियेगा, नरक जायेगा। राजा शराब पीता था, उसने सोचा यह तो मुझ पर कटाक्ष है। राजा ने उसको सजा दे दी। पिता ने सोचा व्यवहार कुशल न होने के कारण ही पुत्र बंधन में पड़ गया। वह थोड़ा चालाक था। उसने एक तरकीब सोची और बंधन में पड़े पुत्र को बताई। फिर राजा के पास आकर कहने लगा-राजन्! आपने मेरे पुत्र की बात पूरी नहीं सुनी। आप पूरी बात सुनते तो कभी भी सजा नहीं देते। आप पुनः उसकी सुनें। राजा मान गया। दुबारा कीर्तन हुआ। पुत्र ने कहा-जो एक बूंद शराब पीता है, वह नरक में जाता है और जो पूरी बोतल पीता है वह स्वर्ग में जाता है। राजा पूरी बोतल पीता था, वह खुश हो गया। तात्पर्य यह है कि संदिग्ध बोलकर, भ्रमित कर लोगों को खुश करने वाले बहुत हैं, पर धर्मोपदेश द्वारा आत्मानुभव की अभिव्यक्ति, तत्वज्ञान को स्पष्ट रूप से कहने वाला सच्चा धर्मोपदेष्टा अत्यंत कठिनाई से मिलता है। सच्चा धर्मोपदेश अपूर्व तप है, स्व और पर दोनों का उपकारक होता है।

द्वादशांगैकदेशोपदेशो धर्मोपदेशनम्। १

द्वादशांग के एक देश का उपदेश देना धर्मोपदेश है।

स्वाध्याय की इस प्रकार की गहराई को ध्यान में रखें, तो स्वाध्याय के साथ जो अध्ययन की परम्परा है उसे परिष्कृत किया जा सकता है। जानने योग्य जो पदार्थ हैं, वे केवल सब बाहर ही नहीं है, न केवल शास्त्रों में ही हैं, अपितु व्यक्ति स्वयं अपने आप में आगम है। अतः व्यक्ति को समझना पढ़ना भी स्वाध्याय है। शास्त्र का पढ़ना सरल है, उसकी एक निश्चित प्रक्रिया है, नियम है किन्तु व्यक्ति को समझना कठिन है।

स्वाध्याय के संबंध में गाथा प्रचलित है कि जैसे भूल से गिरी हुई धागे वाली सुई सर्वथा गुम नहीं हो पाती है, उसी प्रकार शास्त्र ज्ञान से युक्त कोई व्यक्ति प्रमादवश स्खलित होने पर भी नष्ट नहीं होता है।

स्वाध्याय के योग्य, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव शुद्धि—

१— द्वा. सा. ६३।

द्रव्यशुद्धिः—

यमपटहर व श्रमणे रुधिरस्रावेऽङ्गतोऽतिसारे च ।
दातृऽवशुद्धकायेषु भुक्तवति चा पि नाध्येयम् ।। १

तिल पलल-पृथुकला जापूपादि स्निग्ध सुरभिगंधेषु ।
भुक्तेषु भोजनेषु च दवाग्नि च नाध्येयम् ।। २

योजन मंडल मात्रे सन्यासविधौ महोपवासे च ।
आवश्यक क्रियायां केशेषु च लुच्यमानेषु ।। ३

सप्तदिनाध्ययनं प्रतिषिद्धं स्वर्गगते श्रमण सूत्रे ।
योजनमात्रे दिवस त्रिसयं त्वति दूरतो दिवसम् ।। ४

प्राणिनि च तीव्र दुःखान्म्रियमाणे स्फुरति चाति वेदनया ।
एक निवर्तनमात्रे तिर्यंक्षु चरत्सु च न पाठ्यम् ।। ५

द्रव्यशुद्धि—यम पटह की (मृत व्यक्ति के शब्द) सुनने पर, अंग से रक्तस्राव के होने पर, अतिसार के होने पर तथा दाताओं के अशुद्ध काय होते हुए भोजन कर लेने पर स्वाध्याय नही करना चाहिये

तिल, मोदक, चिउड़ा—लाई पूए आदि और चिक्कण एवं सुगंधित भोजन करते हुए तथा दावानल का धुंआ होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिये ।

एक योजन के घेरे में सन्यास विधि, महोपवास विधि, आवश्यक क्रिया एवं केशो का लोच होने पर या करने पर तथा आचार्य का स्वर्गवास होने पर सात दिन तक अध्ययन करने का प्रतिषेध है। उक्त घटनाओं के एक योजन मात्र में होने पर तीन दिन तथा अत्यन्त दूर होने पर एक दिन अध्ययन नहीं करना चाहिये ।

प्राणी के तीव्र दुख से मरणासन्न होने पर या अत्यंत वेदना से तड़फाड़ने पर तथा एक निवर्तन (एक बीघा) मात्र में तिर्यञ्चों का संचार होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिये ।

रुधिरंच वृणादीनि् मांसपूयपञ्चादय ।
इत्याद्यन्याशुचिद्रव्या देहे स्वस्य परस्य वा ।। ६

वर्जनीयाः प्रत्येनन पाठकैर्द्रव्यशुद्धये ।
स्वाध्यायस्यसमारंभेद्रव्यशुद्धिरियंमता ।। ७

स्वाध्याय करने वालों को स्वाध्याय प्रारम्भ करते समय अपने शरीर पर रुधिर, घाव, मास, पीव, विष्ठा आदि लगा हो वा ऐसे ही अन्य द्रव्य लगे हों तो उनकी प्रयत्यन पूर्वक शुद्धि करनी चाहिये यह द्रव्य-शुद्धि कहलाती है ।

१,२,३,४,५—धवला ।।९।४।१।।९६।९७।९८।९९।१००।। ६,७—मू. २७।२५।।६।।

क्षेत्रशुद्धिः—

तावन्मात्रे स्थावरकायक्षय कर्मणि प्रवृते च ।
क्षेत्राशुद्धौ दुर्गन्धे वासिकूणपे वा ॥ १

विपतार्थां गमने वा स्व शरीरे शुद्धिवृत्ति विरहे वा ।
नाध्येयः सिद्धान्तः शिवसुखफलमिच्छता व्रतिना ॥ २

प्रमिति-व्यन्तर भेरी ताडन तत्पूजा संकटे घर्षणे वा ।
संमूक्षण संमार्जन समीप चाण्डाल बालेषु ॥ ३

अग्निजलरुधिरदीपे मांसास्थि प्रजनने तु जीवानाम् ।
क्षेत्रविशुद्धिर्न स्याद्यथोदित सर्वभावज्ञैः ॥ ४

उतने मात्र स्थावर काय जीवों के घात रूप कार्य में प्रवृत्त होने पर, क्षेत्र की अशुद्धि होने पर, दूर से दुर्गन्ध आने पर अथवा अपने शरीर के शुद्धि से रहित होने पर मोक्ष सुख के चाहने वाले व्रती पुरुष को सिद्धान्त का अध्ययन नहीं करना चाहिये ।

व्यन्तरों के द्वारा भेरी ताड़न करने पर उनकी पूजा का संकट आनेपर, घर्षण के होने पर चाण्डाल बालकों द्वारा समीप झाड़ा बुहारी करने पर, अग्नि, जल व रुधिर की तीव्रता होने पर, तथा जीवों के मांस हड्डियों के निकाले जाने पर क्षेत्र की शुद्धि नहीं रहती है ।

चतुर्दिक्षु शुभंक्षेत्रं चतुःशतकरप्रमम् ।
रक्तास्थिरहित पूतं संशोध्यक्रियते बुधैः ॥ ५

स्वाध्यायो योग पूर्वाणां ज्ञानायाह्वानये ।
कर्मणां निर्जरायैवा क्षेत्रशुद्धिर्मतात्र सा ॥ ६

कर्म निर्जरा एवं ज्ञान वृद्धि के लिये बुद्धिमानों को अंगपूर्वों का स्वाध्याय करना चाहिये । उस समय चारों ओर का चार सौ हाथ क्षेत्र शुद्ध रखना चाहिये । चार सौ हाथ तक के क्षेत्र में मांस रक्त हड्डी आदि अपवित्र पदार्थ नहीं रहना चाहिये ।

कालशुद्धिः—

युक्त्यासमधीयानो वक्षणकक्षाद्यमस्पृशन् स्वाङ्गम् ।
यत्नेनाधीत्य पुनर्यथाश्रुतं वाचनां मुंचेत् ॥ ७

तपसि द्वादशसंख्ये स्वाध्यायः श्रेष्ठ उच्यते सद्भिः ।
अस्वाध्यायदिनानि ज्ञेयानि ततोऽत्रविद्वद्भिः ॥ ८

१,२,३,४—धवला. ॥९।४१।१०२।१०२।१०५।१०६॥ ५,६—मू. ॥२६,२७॥७॥ ७,८—धवला।९।४।१।१०८,१०९।

पर्वसु नंदीश्वर महिमादिवसेषु चोपरागेषु ।
सूर्याचन्द्रमसोऽपि नाध्येयं जानता व्रतिना ॥

अष्टम्यामध्ययनं गुरु शिष्य द्वय वियोगमावहति ।
कलहं तु पौर्णमास्यां करोति विघ्नं चतुर्दश्याम् ॥

कृष्ण चतुर्दश्यां यदधीयते साधवो ह्यमावस्याम् ।
विद्योपवास विधयो विनास वृत्ति प्रयान्त्यशेषं सर्वे ॥

मध्यान्हे जिनरूपं नश्यति करोति संध्योर्व्याधिम् ।
तुष्यन्तोप्यप्रियतां मध्यमरात्री समुपयान्ति ॥

अतितीव्र दुःखितानां रुदतां संदर्शने समीपे च ।
स्तनयित्नु विद्युदभ्रेष्वति वृष्ट्या उल्कनिर्घाते ॥ १

साधु पुरुषों ने बारह प्रकार के तपों में स्वाध्याय को श्रेष्ठ कहा है। इसलिये विद्वानों को स्वाध्याय करने के दिनों को जानना चाहिये।

पर्व दिनों, नंदीश्वर के श्रेष्ठ महिम दिवसों और सूर्य, चन्द्र, ग्रहण होने पर विद्वान् व्रती को अध्ययन नहीं करना चाहिये।

अष्टमी में अध्ययन गुरु शिष्य दोनों में वियोग कराने वाला होता है। पूर्णमासी के दिन किया गया अध्ययन कलह को करता है और चतुर्दशी को किया गया अध्ययन विघ्नकारक होता है।

यदि साधुजन कृष्ण चतुर्दशी और अमावस्या के दिन अध्ययन करते हैं तो विद्या और उपवास विधि सब विनाशवृत्ति को प्राप्त होते हैं।

मध्यान्ह काल में किया गया अध्ययन जिनरूप को नष्ट करता है। दोनों संध्या कालों में किया गया अध्ययन व्याधि को करता है तथा मध्यम रात्रि में किये गये अध्ययन से अनुरक्त जन भी द्वेष को प्राप्त होते हैं।

अतिशय तीव्र दुःख से युक्त और रोते हुए प्राणियों को देखने या समीप में होने पर, मेघों की गर्जना व बिजली के चमकने पर और अतिवृष्टि केसाथ उल्कापात होनेपर अध्ययन नहीं करना चाहिये।

स्वाध्याय के योग्य काल:—[कृतिकर्म—]

(१) प्रातः काल स्वाध्याय सूर्योदय से दो घड़ी पश्चात् प्रारंभ करके मध्यान्ह दो घड़ी शेष रहने पर समाप्त कर देना चाहिये।

१—धवला. ॥९।४।१॥११०,१११,११२,११३,११४।

अपरान्ह का स्वाध्याय मध्यान्ह के दो घड़ी पश्चात् से प्रारंभ कर सूर्यास्त से दो घड़ी पूर्व तक समाप्त कर देना चाहिऐ । यही क्रम पूर्व रात्रिक, वैरात्रिक स्वाध्याय में अपनाना चाहिए ।

प्रतिपदेकः पादो ज्येष्ठा मूलस्य पौर्णमास्यां तु ।
सावाचना विमोक्षे छाया पूर्वाह्ण वेलायाम् ।।

सैवापराण्हकाले वेला स्याद्वाचना विधौ विहिता ।
सप्तपदी पूर्वाण्हापरा छाया ग्रहण मोक्षेषु ।।

ज्येष्ठ मासात्परतोऽप्यापौषाद् द्वयङ्गुलाहि वृद्धिस्यात् ।
मासे विहिता क्रमेण सा वाचना छाया ।।

एवं क्रमप्रवृद्धया पाद द्वयमवहीयते पश्चात् ।

पौषादाज्येष्ठान्ताद् द्वयङ्गुलमेवेति विज्ञेयम् ।। १

ज्येष्ठ मास की प्रतिपदा एवं पूर्णमासी के पूर्वाण्हकाल में वाचना की समाप्ति में एक पाद अर्थात् एक वितस्ति प्रमाण (जांघों की) वह छाया कही गयी है अर्थात् इस समय पूर्वाण्ह काल में बारह अंगुल प्रमाण छाया के रह जाने पर अध्ययन समाप्त कर देना चाहिये ।

वही समय अपरान्हकाल वाचना प्रारंभ करने में कहा गया है । पूर्वाण्ह काल में वाचना प्रारंभ करके अपराण्ह काल में उसे छोड़ने में सात पद प्रमाण छाया कही गई है ।

ज्येष्ठमास से आगे पौष मास तक प्रत्येक मास में दो अंगुल प्रमाण वृद्धि होती है । यह क्रम से वाचना समाप्त करने की छाया का क्रम बताया गया है । इस प्रकार क्रम से वृद्धि होने पर पौस मास तक दो पाद हो जाते हैं । पश्चात् पौषमास से ज्येष्ठ मास तक दो अंगुल ही क्रमशः कम होते जाते हैं । ऐसा जानना चाहिये ।

भावशुद्धिः—

कृतवायोमुद्यतैर्वक्षैः स्वाध्यायो जिनसूत्रकः ।
विशुद्धयासार्ज्यविज्ञेया भाव शुद्धिर्विशुद्धिदा ।।

क्रोधमानादिकान् सर्वान् क्लेशेर्ष्याशोक दुर्मदान् ।
हास्यारतिभयादींश्चत्यक्त्वा प्रसन्नमानसम् ।। २

चतुर मुनि क्रोध, मान, माया, लोभ, क्लेश, ईर्ष्या, शोक, दुर्मद, हास्य, रति, अरति भय आदि सबका त्याग कर मन को प्रसन्न कर मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक जिन सूत्रों का स्वाध्याय करते हैं । इसको विशुद्धता उत्पन्न करने वाली भाव शुद्धि कहते हैं ।

१–अ.१४-१-४४, आ.११२,११४, दर्शना–मू. प्र.–२८

जो मुनि श्रेष्ठ काल शुद्धि, श्रेष्ठ द्रव्य, क्षेत्र, भाव शुद्धि पूर्वक स्वाध्याय में सिद्धान्तशास्त्रों का पठन–पाठन करते हैं, उनको समस्त ऋद्धि आदि श्रेष्ठ गुणों के साथ-साथ समस्त श्रुतज्ञान प्राप्त हो जाता है।

अयोग्य द्रव्यादि में स्वाध्याय करने से हानि:—

दव्वादिवदि कमणं करेदि सुत्तत्थ सिक्खलोहेण।

असमाहि मसज्झायं कलहं वाहि वियोगं च॥ १

सूत्र और अर्थ शिक्षा के लोभ से किया गया द्रव्यादि का अतिक्रमण असमाधि अर्थात् सम्यक्त्वादि की विराधना, अस्वाध्याय अर्थात अलाभ, कलह व्याधि और वियोग को करता है।

स्वाध्याय का क्रम:—

पहला सच्चा तत्व ज्ञान है द्रव्यानुयोग। पीछे पुण्य पाप के फल को जाने (प्रथमानुयोग) शुद्धोपयोग से मोक्ष माने (चरणानुयोग) और गुणस्थानादि जीव का व्यवहार निरूपण जाने (करणानुयोग) इत्यादि जैसे हैं वैसे श्रद्धान करके उसका अर्थात् (आगम का) अभ्यास करे तो सम्यग्ज्ञान होय।२

करणानुयोग विषै भी किसी ठिकाने उपदेश की मुख्यता पूर्वक व्याख्यान होता है। वहाँ उसे सर्वथा वैसा ही मानना (४०७।२) मुख्यपने तो निचली दशा में द्रव्यानुयोग कार्यकारी है। गौणपने जाको मोक्षमार्ग की प्राप्ति न होती जानिये ताकों पहले कोई व्रतादि का उपदेश दीजिये है। तातें ऊंची दशा वालों को अध्यात्म अभ्यास योग्य है। ३

एक बालक जिसने कभी पुस्तक नहीं पढ़ी, सीधा आगे की क्लास में नहीं चढ़ सकता है। इसी प्रकार जिसने कभी स्वाध्याय नही किया, वह सीधा क्रम भंग करके करणानुयोग या द्रव्यानुयोग पढ़े तो समझ नहीं सकता है। जैसे समझदार व्यक्ति चाकू से सब्जी बनाता है, नाक नहीं, इसी प्रकार सज्जन पुरुष क्रमशः शास्त्र स्वाध्यायादि करके अज्ञान घटायेगा, संसार बढ़ायेगा नहीं। इसलिये क्रम कहा है:—

"प्रथम करणं चरणं द्रव्यं नमः"

सर्वप्रथम प्रथमानुयोग का स्वाध्याय कर पुण्यपाप के फल का स्वरूप जानकर अपनी श्रद्धा को दृढ़ बनाना चाहिये। संकट में जिस प्रकार "धैर्य देने का अमोघशास्त्र" यह है यह वर्णन भी नहीं कर सकते हैं। समन्त भद्रस्वामीने कहा "बोधिसमाधि निधानं" यह बोध याने "ज्ञान का अमोघ खजाना है"।–

प्रथमानु योग के द्वारा पुण्य पाप में समवृत्ति लाने के लिये करणानुयोग का स्वाध्याय करें, जिससे अष्टकर्मों के आश्रवों के मूल कारणों का ज्ञान करें एवं किस प्रकार कर्मों के बंध और इनसे मुक्ति हो सकती है इसका ज्ञान हो जाय। इस प्रकार ज्ञान करने के लिये करणानुयोग का स्वाध्याय आवश्यक है।

कर्म बंधन के कारणों को जानकर एव मुक्ति के कारण भूत भावों को जानकर जिसमें आस्रव कम और संवर निर्जरा अधिक हो सके ऐसी विशुद्ध चर्या को जानकर जीवन चर्या में अपनाने के लिये चरणानुयोग का स्वाध्याय करना चाहिये।

१–ध० ९।४।१-५४, गा ११९। २५९॥ २–मो. मा. प्र. ७।३४७।१८॥ ३– मो. मा प्र. ८

जिससमय प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग तीनों का क्रम से स्वाध्याय हो जाता है उस समय मंदिर पर शिखर चढ़ाने के समान द्रव्यानुयोग में डुबकी लगाना चाहिये । स्वपर का भेद विज्ञान यहीं जागृत होगा । अब यह द्रव्यानुयोग मुक्ति की ओर अग्रसर करेगा । द्रव्य गुण पर्याय का ज्ञान करके मैं कौन हूं, मेरा द्रव्य क्या है ? पर्याय क्या है ? गुण क्या है ? मेरी अशुद्ध पर्याय शुद्ध कैसे हो सकती है आदि का ज्ञान करके समस्त पर से भिन्न अपने लक्ष्य की ओर दृष्टि द्रव्यानुयोग सिखाता है । इस प्रकार क्रमशः जो स्वाध्याय किया है वह ज्ञानामृत का पान कराकर जीव को अजरामर बना देता है, अन्यथा अक्रम से किया गया स्वाध्याय हालाहल विष की तरह भव भ्रमण का कारण होता है ।

स्वाध्याय प्रतिष्ठापन व निष्ठापन विधि—

क्षेत्रं संशोध्य पुनः स्वहस्तपादौ विशोध्य शुद्धमनाः ।
प्रासुकदेशावस्थो गृह्णीयाद् वाचनां पश्चात् ।।
युक्त्या समधीयमानो वक्षणकक्षादिमस्पृशन् स्वाङ्गम् ।
यत्नेनाधीत्य पुनर्यथाश्रुतं वाचना मुञ्चेत् ।। १

क्षेत्र की शुद्धि करने के पश्चात् अपने हाथ और पैरों को शुद्ध करके तदनन्तर विशुद्ध मन युक्त होता हुआ प्रासुक देश में स्थित होता हुआ वाचना को ग्रहण करे । १०६

बाजू और काख आदि अपने अंगों का स्पर्श न करता हुआ उचित रीति से अध्ययन करे और यत्नपूर्वक अध्ययन के पश्चात् शास्त्र विधि से वाचना को छोड़ दे ।

स्वाध्याय का प्रारंभ दिन और रात्रि के पूर्वार्द्ध, अपरान्ह चारों ही बेलाओं में लघु सिद्ध, श्रुत भक्ति पूर्वक प्रतिष्ठापना करनी चाहिये, और लघु श्रुत भक्ति पूर्वक निष्ठापन करना चाहिये । ये सब पाठ योग्य कृतिकर्म सहित किये जाते हैं । २

विशेष शास्त्रों के प्रारंभ व समाप्ति पर उपवासादि का निर्देश—

'उद्देस समुद्देसे अणुणापणए य होंति पंचेव'
अंगसुदखंध अणुवदेसा वि य पद विभागो । ३

ग्यारह अंग चौदह पूर्व वस्तु प्राभृत–प्राभृत इन के बाद विभाग के प्रारंभ में, समाप्ति में वा गुरुओं की अवज्ञा होने पर पांच–पांच उपवास अथवा प्रायश्चित अथवा कायोत्सर्ग कहे हैं ।

नियमित व अनियमित विधि से पढ़े जाने योग्य कुछ शास्त्र

गणधरकथिदं तहेव पत्तेय बुद्धिकथिदं च ।
सुदकेवलिणा कथिदं अभिण्णदसपुव्वकधिदं च ।। ४

(१– अ०ध० । ४ । १,१४ । गा० १०७,१०८) (२–कृतिकर्म ४ । ३) (३–मू० पा० -२८०) (४–मू० म०-२७७)

तं पढिदुमसज्झाये णो कप्पदि विरद इत्थिवग्गस्स ।
एत्तो अण्णो गंथो कप्पदि पढिदु असज्झाए ।।
आराहणणिज्जुत्ती मरणविभत्ती य संगहत्थुदि ओ ।
पच्चक्खाणावासय धम्मकहाओ य एरिसओ ।। १

अंग पूर्व वस्तु प्राभृत रूप सूत्र गणधर कथित, श्रुत केवली कथित, अभिन्नदस पूर्वी कथित होता है । वे चार प्रकार के सूत्र काल शुद्धि आदि के बिना संयमियों को तथा आर्यिकाओं को नहीं पढ़ने चाहिये । इनसे अन्य ग्रंथ काल शुद्धि आदि के न होने पर भी पढ़ने योग्य माने गये हैं ।

सम्यग्दर्शनादि चार आराधनाओं का स्वरूप कहने वाला ग्रंथ, सत्रह प्रकार के मरण को वर्णन करने वाला ग्रंथ, पंचसंग्रह ग्रंथ, स्तोत्र ग्रंथ, आहारादि का उपदेश करने वाले ग्रंथ, सामायिकादि छः आवश्यकों को कहने वाला ग्रन्थ, महापुरुषों के चारित्र को वर्णन करने वाला ग्रन्थ कालशुद्धि आदि के न होने पर भी पढ़ सकते हैं ।

शास्त्र स्वाध्याय के आरम्भ करते समय आवश्यक बातों का निर्देश —

शास्त्र प्रारम्भ करने के पूर्व ६ बातों का ध्यान रखना भी आवश्यक है—

"मंगल णिमित्त हेऊ परिमाणं णाम तह य कत्तारं ।
वागरिय छप्पि पच्छा वक्खाणउ सत्थमाइरियो ।। २

(१) मंगल (२) णिमित्त (३) हेतु (४) परिमाण (५) नाम (६) कर्ता । इन छः अधिकारों को ध्यान में रखते हुए शास्त्र आरम्भ करना चाहिये । जैसे शास्त्र में मंगलाचरण में किसको नमस्कार किया है, किस निमित्त से शास्त्र की रचना हुई, इसका हेतु (उद्देश्य) क्या है, शास्त्र का परिमाण कितना है, इसके रचयिता कौन है ? शास्त्र का नाम क्या है । इस प्रकार आवश्यक बातों का ध्यान रखते हुए शास्त्रारम्भ करने से शास्त्र का रहस्य समझ में आता है । जहाँ तक हो आचार्यकृत कृतियों का अध्ययन कर ज्ञान को ठोस बना लेना चाहिये ।

स्वाध्याय का प्रयोजन व महत्व—

'सज्झायं कुव्वंतो पंचिंदिय संवुडो तिगुत्तो य ।
हवदि य एयग्गमणो विणएण समाहिदो भिक्खू ।।
जह जह सुदमोग्गहदि अदिसयरसपसरमसुदपुव्वं तु ।
तह तह पल्हादिज्जदि नव नव संवेग सड्ढाए ।।
आयापायविदूण्हं दंसणणाण तव संजमे णिच्चा ।
विहरदि विसुज्झमाणो जावज्जीवं दु णिक्कंपो ।। ३

१— मू० गा०, २७८, २७९ ।। २—म० गा० १०४, १०६ ।। ३—ध० १३।५-५-५०, गा०२१.२२।।

जो साधु स्वाध्याय करता है, वह पांचों इन्द्रियों का संवर करता है, मन आदि गुप्तियों को भी पालने वाला होता है, और एकाग्रचित्त हुआ विनय कर संयुक्त होता है ।१०४

जिसमें अतिशय रस का प्रसार है और जो अश्रुतपूर्व है ऐसे श्रुत का वह जैसे-जैसे अवधारण करता है, वैसे ही वैसे अतिशय नवीन धर्म श्रद्धा से संयुक्त होता हुआ परम आनन्द का अनुभव करता है । १०५

स्वाध्याय से प्राप्त आत्म विशुद्धि के द्वारा निष्कम्प तथा हेयोपादेय में विचक्षण बुद्धि होकर यावज्जीवन रत्नत्रयमार्ग में प्रवर्तता है । १०६

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा ।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं ।।

एयग्गदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु ।
णिच्छित्ती आगम दो आगम चेट्ठा तदो जेट्ठा ।।

आगम चक्खू साहू इन्दिय चक्खूणि सव्वभूदाणि ।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू ।।

आगम हीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि ।
अविजाणं तो अट्ठे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू ।।

सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं ।
जाणंति आगमेण हि पेच्छित्ता ते वि तं समणा ।। १

जिन शास्त्रों द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थों को जानने वाले के नियम से मोह समूह का क्षय होता है । इसलिये शास्त्र का सम्यक् प्रकार से अध्ययन करना चाहिये ।

श्रमण एकाग्रता को प्राप्त होता है, एकाग्रता के पदार्थों के निश्चय करने वालों के होती है और पदार्थों का निश्चय आगम द्वारा होता है, इसलिये आगम के व्यापार मुख्य हैं ।

साधु आगम चक्षु है, सर्व प्राणी इन्द्रिय चक्षु वाले हैं, देव अवधि चक्षु वाले और सिद्ध सर्वतः चक्षु हैं ।

आगम हीन श्रमण आत्मा को और पर को नहीं जानता । पदार्थों को नहीं जानता हुआ भिक्षु कर्मों को किस प्रकार क्षय करे ।

समस्त पदार्थ विचित्र गुण पर्यायों सहित आगम सिद्ध हैं उन्हें भी वे श्रमण आगम द्वारा वास्तव में देखकर जानते हैं ।

१— प्र० सा० ८६, २३२ से २३५ ।

आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स ।
णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो ।।

णहि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु ।। १

इस लोक में जिसकी आगम पूर्वक दृष्टि नहीं है । उसके संयम नहीं है इस प्रकार सूत्र कहता है, और ही वह असंयत श्रमण कैसे हो सकता है ।

आगम से यदि पदार्थों का श्रद्धान न हो तो सिद्ध नहीं होता है ।

पवयण सारब्भासं परमप्पज्झाण कारणं जाण ।
कम्मक्खवणणिमित्तं कम्मक्खवेहि मोक्खसोक्खं हि ।।

अज्झयण मेव झाणं पंचेंदिय णिग्गह कसा यंपि ।
तत्तो पंचमकाले पवयणसारब्भासमेव कुज्जा हो । २

प्रवचन सार का अभ्यास ही परब्रह्म परमात्मा के ध्यान का कारण है । विशुद्ध आत्मा के स्वरूप का ध्यान ही कर्मों के क्षय का कारण है । कर्म-क्षय होने पर निश्चय ही मोक्ष-सुख मिलता है ।

जिनागम का अध्ययन ही ध्यान है, उसी से इन्द्रियों और कषायों का निग्रह होता है । अतः इस पंचमकाल में जिनागम का ही अभ्यास करना चाहिये ।

जिणवयण ओसह मिणं विसयसुहविरेयणं अमियभूयं ।
जरमरणवाहिहरण खयकरण सव्वदुक्खाणं । ३

यह जिनवचन रूप औषधि इन्द्रिय विषय से उत्पन्न सुख को दूर करने वाली है तथा जन्म मरण रूप रोग को दूर करने के लिये अमृत सदृश है ।

सुत्तम्मि जाणमाणो भवस्सं भवणासणं च सो कुणदि ।
सुई जहा ससुत्ता णासदि सुत्ते सहा णो वि । ४

जो पुरुष सूत्र का जानकार है, वह भव का नाश अवश्य करता है । जैसे सुई डोरे सहित हो तो नष्ट नहीं होती यदि डोरे सहित न हो तो नष्ट हो जाती है । (खो जाती है)

प्रशांतिशय: प्रशस्ताध्यवसाय: परमसंवेगस्तपोवृद्धिरतिचार विशुद्धिरित्येवमाद्यर्थ: । ५

१- प्र० सा० २३६ से २३७) (२- रयणसार १६१ । ६०) (३- द० पा०) ४- सू० प० १३)
५- स सि० ६ । २५)

प्रज्ञा में अतिशय लाने के लिये, अध्यवसाय को प्रशस्त करने के लिये, परम संवेग के लिये, तप व अतिचार शुद्धि के लिये (संशयोच्छेद व परवादियों की शंका का अभाव–रा०वा०) आदि के लिये स्वाध्याय तप आवश्यक है।

कणय धराधरधीरं मूढत्तय विरहिदं हयट्ठमलं आयादि पव यण पढणे सम्मदंसण मणुवमाणं । १

प्रवचन अर्थात् परमागम के पढ़ने पर सुमेरु पर्वत के समान निश्चल लोक मूढ़ता, देवमूढ़ता से रहित, शंका आदि आठ दोषों से रहित अनुपम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

जिनागम जीवों के मोहरूपी ईंधन को जलाने के लिये अग्नि के समान, अज्ञान के विनाश के लिये सूर्य के समान तथा कर्मों के मार्जन के लिये समुद्र के समान है। २

"स किल गुणः श्रुताध्ययनस्य यद्विविक्तवस्तुभूतज्ञानमयात्मज्ञानम् । ३
–जो भिन्न वस्तु भूत ज्ञानमय आत्मा का गुण है, वह शास्त्र पठन का गुण है।

अनेकांतात्मार्थे प्रसवफलभारातिविनते वचः पर्णाकीर्णे विपुलनयशाखायुते ।
समतुङ्गे सम्यक् प्रतत मतिमूले प्रतिदिनं श्रुतस्कंधे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम् ।

जो श्रुतस्कंधरूप वृक्ष अनेक धर्मात्मक पदार्थ रूप फूल एवं फलों के भार से अतिशय झुका हुआ है, वचनों रूपी पत्तों से व्याप्त है, विस्तृत नयोंरूप सैकड़ों शाखाओं से युक्त उन्नत है तथा समीचीन एवं विस्तृत मतिज्ञान रूप जड़ से स्थिर है, उस श्रुत स्कंध रूप वृक्ष के ऊपर बुद्धिमान साधु के लिये अपने मन रूपी बंदर को सदा रमाना चाहिये।

निजशुद्धात्मैवोपादेयं इति मत्वा–तत्परिज्ञान साधकं च पठति तदा परम्परया मोक्ष साधकं भवति।

जो निज शुद्ध आत्मा को उपादेय जानकर–ज्ञान की प्राप्ति का उपाय जो शास्त्र उनको पढ़ता है, तो परम्परया मोक्ष का साधक होता है।

स्वाध्याय का लौकिक, अलौकिक फल—

दुविहो हवेदि हेदू तिलोयपण्णत्तिगंथयज्झयणे ।
जिणवर वयणुद्दिट्ठो पच्चक्खपरोक्खभेएहिं ।। ४

त्रिलोक प्रज्ञप्ति ग्रन्थ के अध्ययन में जिनेन्द्र देव के वचनों से उपदिष्ट हेतु प्रत्यक्ष परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है। प्रत्यक्ष हेतु साक्षात् और परम्परा के भेद से

१– ति० प० १ । ५१) (२– प्र० । १) (३– स० सा० २०४) (४–ति० प० १ । ३५)

सक्खा पच्चक्खपरं पच्चक्खा दोण्णिहोदि पच्चक्खा ।
अण्णाणस्स विणासं णाणदिवायरस्स उप्पत्ती ॥
देवमणुस्सादीहिं संततमब्भच्चणप्पयाराणि।
पडिसमयमसंखेज्जय गुण सेढि कम्मणिज्जरणं ॥

इय सक्खा पच्चक्ख पच्चक्खं परं परं च णादव्वं ।
सिस्सपडिसिस्सपहुदीहिं सददमब्भच्चणपयारं ॥

दोभेदं च परोक्खं अभुदय सोक्खाइं मोक्ख सोक्ख चाइं ।
सादादिविविहसुवर सत्थ कम्म तिव्वाणु भागउदएहिं ॥

इंदपडिंददिगिंदय तेत्तीसामरसमाणपहुदि सुहं ।
राजाहि राजमहाराजद्धमंडलीमंडलयाणं ॥

महमंडलियाणं अद्ध चक्कि चक्क हरितित्थयर सोक्खं ।
अट्ठारसमेत्ताणं सामोसेसाणं भत्ति जुत्ताणं ॥

वररयण मउडधारी सेवयमाणाण वत्ति तह अट्ठं ।
देता हवेदि राजा जितसत्तुसमरसंघट्टे ॥ १

दो प्रकार का है । अज्ञान का विनाश व ज्ञान रूपी दिवाकर की उत्पत्ति, देव और मनुष्यादि के द्वारा निरन्तर की जाने वाली विविध प्रकार की अभ्यर्चना और प्रत्येक समय में होने वाली असंख्यात गुणी रूप से कर्मों की निर्जरा इसे साक्षात प्रत्यक्ष हेतु समझना चाहिये ।

शिष्य प्रतिशिष्य आदि के द्वारा निरन्तर अनेक प्रकार से की जाने वाली पूजा को परम्परा परोक्ष हेतु समझना चाहिये । परोक्ष हेतु भी दो प्रकार का जानना चाहिये – अभ्युदय और मोक्षसुख । साता वेदनीय आदि सुप्रशस्त कर्मों के तीव्र अनुभाग के उदय से प्राप्त हुआ इन्द्र प्रतीन्द्र, दिगिन्द्र, त्रायस्त्रिंश, सामानिक आदि देवों के सुख तथा राजा, अधिराजा, महाराजा, मंडलीक, अर्द्धमंडलीक, मह।मण्डलीक, अर्धचक्री, चक्रवर्ती और तीर्थंकर इनका सुख अभ्युदय सुख है । जो भक्तियुक्त अठारह प्रकार की सेनाओं का स्वामी है, उत्कृष्टरत्नों के मुकुट को धारण करने वाला है, सेवकजनों को वृत्ति भूमि आदि तथा अर्थ धन प्रदान करने वाला है और समर के संघर्ष में शत्रुओं को जीत चुका है, ऐसा राज्यपद शास्त्राध्ययन का ही फल है । २

१– ति. प. १, ३६–४२ । २– ध०१। १।५६।१

भविय सिद्धांताणं दिणयर कर णिम्मलं हवइणाणं।
सिसिर यर कर सिच्छं हवइ चरित्तं स-वस चित्तं ॥

मेरुव्व णिक्कंप णट्ठट्ठ मलं तिमूढ उम्मुक्कं।
सम्मद्दंसणमणुमसमुप्पज्जइ पवयणब्भासा ॥

तत्तो चेवसुहाइ सयलाइं देवमणुयखराणं।
उम्मूलियट्ठ कम्मं फुट सिद्धं सुहंपि पवयण दो ॥ ३

जिह मोहि धण-जलणो अण्णाण तमंधयार-दिणयरओ।
कम्ममल कलुसयुसओ जिणवयणमिवोवही सुहओ ॥ ४

अण्णाण–तिमिर हरणं सुभविय-हिययारविंद।
जोहणयं–उज्जोइयं–सयल वहं सिद्धंत दिवायरं भजइ ॥ ५[1]

जिन्होंने सिद्धान्त का उत्तम प्रकार से अभ्यास किया है, ऐसे पुरुषों का ज्ञान सूर्य की किरणों के समान निर्मल होता है और जिसने अपने चित्त को स्वाधीन कर लिया है, ऐसा चन्द्रमा की किरणों के समान निर्मल चारित्र होता है।

प्रवचन के अभ्यास से मेरु के समान निष्कंप आठ मल रहित, तीन मूढ़ता रहित सम्यग्दर्शन होता है।

देव मनुष्य और विद्याधरों के सुख प्राप्त होते हैं और आठ कर्मों के उन्मूलित होने पर प्रवचन के अभ्यास से विशद् सिद्ध सुख को प्राप्त होता है।

जिनागमजीवों के मोह रूपी ईंधन को अग्नि के समान, अज्ञानरूप अंधकार के विनाश के लिये सूर्य के समान और द्रव्य कर्म एवं भाव कर्म के मार्जन के लिये समुद्र के समान है।

अज्ञानरूपी अन्धकार के विनाशक भव्यजीवों के हृदय को विकसित करने वाले, मोक्षपथ को प्रकाशित करने वाले सिद्धान्त को भजो।

स्वाध्याय का फल गुण श्रेणी निर्जरा व संवरः—

कर्मणामसंख्यात गुण श्रेणिनिर्जराकेषां प्रत्यक्षेति चेत् अवधिमनः पर्ययज्ञानिनां सूत्रमधीयानानां तत्प्रत्यक्षतया, समुपलम्भात्। २

प्रश्न—कर्मों की असंख्यात गुणित श्रेणी रूप से निर्जरा होती है यह किसको प्रत्यक्ष है ?

उत्तर—ऐसी शंका ठीक नहीं है क्योंकि सूत्र का अध्ययन करने वालों की असंख्यात गुणित श्रेणी

१—ध० १ १। ११ गा० ५०-५१ ॥ २—ध० ९।४,१,१ - ५६ ।३ ॥

रूप से प्रतिसमय कर्म निर्जरा होती है । वह अवधिज्ञानी और मनः पर्यय ज्ञानियों को प्रत्यक्ष रूप से उपलब्ध होती है ।

उसहसेणादि गणहरदेवेहि विरइय सद्दरयणादो, दव्वसुत्तादो तप्पढणा-गुणणकिरियावावदाणं सव्वजीवाणं पडिसमयमसंखेज्जगुणसेडीए पुव्वसंचिय कम्मणिज्जरा होदित्ति ।[1]

वृषभसेनादि गणधर देवों द्वारा जिनकी शब्द रचना की गई है, ऐसे द्रव्य सूत्रों से उसके पढ़ने और मनन करने रूप क्रिया में प्रवृत्त हुए सब जीवों के प्रतिसमय असंख्यात गुणित रूप से पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा होती है ।

किमर्थं सर्वकालं व्याख्यायते । श्रोतुर्व्याख्यातुश्च असंख्यात श्रेण्या कर्म निर्जरेण हेतुत्वात् ।

प्रश्न–इस की सर्वकाल किस हेतु से व्याख्या करते हैं ।

उत्तर–क्यों कि वह व्याख्याता और श्रोता के असंख्यात गुण श्रेणी रूप से होनेवाली कर्म निर्जरा का कारण है ।

१–ध०–१, ४, १ ।१।३।१॥

आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज की पूजा

(रचयिता—श्री [illegible]लाल जी)

परम पूज्य हैं विमल सिन्धु आचार्य जी ।
नग्न दिगम्बर भेष बने मुनिराय जी ।।
आह्वानन मैं करूं विराजो आई के ।
पूजूं मन वच काय हर्ष चित लाई के ।।

ॐ ह्रीं श्रीमदाचार्य विमलसागर स्वामिन् अत्र अवतर अवतर संवौषट् इत्याह्वाननम् । अत्र तिष्ठ ठः ठः स्थापनम् । अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् सन्निधिकरणम् ।

❀ अष्टक ❀

अति विमल सम नीर निर्मल हेमझारी में भरूं ।
अरु जन्म मृत्यु विनाशवे कूं तुम चरण आगे धरूं ।।
श्री विमल सूरि गुरु चरण की मैं सदा पूजा करूं ।
संसार के सब दुःख छूट जाय शिव रमणी वरूं ।।

ॐ ह्रीं श्री १०८ आचार्य विमलसागर मुनीन्द्राय जन्म जरा मृत्यु विनाशनाय जल निर्वपामीति स्वाहा ।

केशर कपूर मिलाय चन्दन स्वच्छ कर लाइया ।
गुरु के चरण कूं चर्च करके भवताप मिटाइया ।। श्री विमल ।।
।। चन्दनम् ।।

अक्षत अनुपम खण्डवर्जित धोय करके लाइया ।
अक्षय सुपद के कारणे गुरु चरण मांहि चढ़ाइया ।। श्री विमल ।।
।। अक्षतम् ।।

बेला चमेली और चम्पा विविध फूल मंगाइया ।
काम बाण विनाशने के हेतु चरण चढ़ाइया ।। श्री विमल ।।
।। पुष्पम् ।।

व्यंजन अनुपम सरस ताजे स्वर्ण की थाली भरे ।
निज क्षुधा रोग विनाशने कूं गुरु चरण आगे धरे ।। श्री विमल ।।
।। नैवेद्यम् ।।

शुभ स्वच्छ मणिमय दीप लेकर गुरु चरण आगे धरूं ।
मम मोह तिमिर विनाश होवे आरती गुरु की करूं ।। श्री विमल ।।
।। दीपम् ।।

दशविधि सुगंधित धूप लेकर, चरण मांहि चढ़ाय दूं ।
श्री विमल गुरु के चरण पूजूं, कर्मकाष्ठ जलाय दूं ।। श्री विमल ।।
।। धूपम् ।।

उत्तम सरस सुन्दर मनोहर फल अनुपम लाइया ।
आचार्य पद में भेंट करके चित्त अति हरषाइया ।। श्री विमल ।।
।। फलम् ।।

जल गंध आदिक द्रव्य आठों स्वर्ण थाली में धरूं ।
श्री विमलसागर गुरु चरण की अर्घ ले पूजा करूं ।। श्री विमल ।।
।। अर्घ्यम् ।।

❀ जयमाला ❀

विमल सिन्धु आचार्य की अब वरणूं जयमाल ।
मेरे सब संकट हरो प्रभु तुम दीनदयाल ॥

श्री विमल ऋषीश्वर शांतिदाय तुम चरण नमूं मन वचन काय ।
जय सूर शिरोमणि वीतराग, जय परम दिगम्बर नग्न काय ॥ १ ॥
तुम बाल ब्रह्मचारी मुनीश, तुम धर्म धुरन्धर हो मुनीश ।
तुम सिंहवृत्ति धारक महान्, सब शास्त्रों के तुम ज्ञानवान ॥ २ ॥
संसारी सुख सब क्षणिक जान, सब छोड़ि बने त्यागी महान् ।
महावीर कीर्ति गुरु पास जाय, मुनि दीक्षा लीनी मोक्ष दाय ॥ ३ ॥
गुण मूल अठाईस धार लीन, सब नर-नारी जय-जय सुकीन ।
तुम पंच महाव्रत धार लीन, अरु पंच समिति पालन प्रवीन ॥ ४ ॥
द्वादश विधि गुरु तुम तप तपंत, अरु तीन गुप्ति पालन महंत ।
जय विमल सिन्धु मुनिवर महंत, त्रस थावर की रक्षा करंत ॥ ५ ॥
सब जीवों पर करुणा जु कीन, निज आतम में नित रहत लीन ।
अहिंसिह आदि उपसर्ग कीन, सम-भावों से रहे अमलीन ॥ ६ ॥
श्री बन्धा अतिशय क्षेत्र जाय सूखा कुआ दीना भराय ।
इत्यादिक अतिशय दिये दिखाय, शुभ भाग्य उदय तुम दरश पाय ॥ ७ ॥
गुण सूर योग छत्तीस धार, आचार्य भये लहि गुण अपार ।
तुम सौम्य शांति मुद्रा धरंत, सब जीवों पर करुणा करंत ॥ ८ ॥
जय मूल तीस षट् गुणन धार, तप उग्र तपत आनन्द कार ।
जय सहत परीषह बीस दोय, अरु बारह भावन भाय लोय ॥ ९ ॥
आजन्म रसों का त्याग कीन, घृत तेल नमक दधि त्याग दीन ।
धनि धनि कटोरी मात जान, अरु धन्य आपके तात जान ॥ १० ॥
यह पद्मावती पुरवाल-पुरवाल जाति, हुई धन्य सुगुरु तुमरे प्रताप ।
है धन्य कोसमा ग्राम जान, जहाँ जनमे श्री गुरुवर महान् ॥ ११ ॥
है धन्य हमारा भाग्य जान, जो ऐसे गुरु निरखे दयाल ।
कर जोड़ि वीनवे "मंगूलाल", मम संकट मेटो हे कृपाल ॥ १२ ॥

❀ घत्ता ❀

विमल सिन्धु आचार्य की, पूजा करी बनाय ।
पढ़ें सुने जो भाव से, पहुँचे शिवपुर जाय ।

ॐ ह्रीं श्री १०८ आचार्य विमलसागराय पूर्णार्घ्यम् नि० स्वाहा ।

❀ दोहा ❀

विमल सिंधु आचार्य को, जो पूजें मन लाय ।
रोग शोक आदिक नशै, सुख सम्पत्ति मिल जाय ॥

❀

विमल-स्तवन

सन्मार्ग दिवाकर धर्म गुरु, सबको उपदेश सुनाते हैं।
ऐसे आचार्य विमलसागर, [illegible] से [illegible] मिलाते हैं॥

बाल्यकाल में प्यार नहीं,
माता का जिनको मिल पाया।
तरुण हुवे तरुणी का भी,
सिंगार नहीं इनको भाया॥

पढ़-लिखकर पंडित बन करके,
उपदेश नहीं पर को दीना।
क्षुल्लक ऐलक मुनि दिगम्बर,
बनकर समता रस पीना॥

महावीर कीर्ति की गरिमा को,
इनने दिन-रात बढ़ाया है।
व्रत उपवास अनेकों कर निज,
भेद ज्ञान प्रगटाया है॥

धर्म ध्यान में निरत निरन्तर,
शुक्ल ध्यान मन भाया है।
देखत में वे बाहर दीखें,
अद्भुत इनकी माया है॥

वादी प्रतिवादी चर्चा कर,
संशय मत भेद मिटाते हैं।
धनी दीन दुःखिया जन सब ही,
चरणों में आ सुख पाते हैं॥

निज पर उपकार भावना से,
जिन बिम्ब अनेकों बनवाये।
औषधशाला अरु विद्यालय,
जगह-जगह पर बहु खुलवाये॥

चरण कमल की भरत आदि बहु,
[illegible] अमोलक रत्न लिये।
स्याद्वाद का स्वाद निरन्तर,
[illegible] में 'ज्ञानानन्द' पिये॥

"[illegible]" [illegible]

आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज की

(रचयिता : श्री सन्मतिसागर 'ज्ञानानन्द' जी महाराज)

ओम् जय विमल सिन्धु मुनिराय, स्वामी विमल सिन्धु मुनिराय।
आरती हम सब करते संकट जाय नशाय, ओम् .... टेक ॥

पिता बिहारीलाल आपके, मात कटोरी बाय।
ग्राम कोसुमा धन्य हो गया, जन्म आपका पाय ॥

ओम् जय विमल सिन्धु मुनिराय .... मुनिराय ॥

बाल ब्रह्मचारी पंडित बन, संघ गुरु का पाय।
मुनि दिगम्बर दीक्षा लीनी, सोनागिर में आय ॥

ओम् जय विमल सिन्धु मुनिराय .... मुनिराय ॥

व्रत उपवास अरु तीर्थ वन्दना, कीरत रही जग छाय।
जो भी तुम चरणों में आये, संकट सब मिट जाय ॥

ओम् जय विमल सिन्धु मुनिराय .... मुनिराय ॥

महावीर कीरत गुरु गरिमा, हर जिह्वा गई छाय।
"सन्मति" स्याद्वाद जय होवे, मुक्ति लक्ष्मी पाय ॥

ओम् जय विमल सिन्धु मुनिराय, स्वामी विमल सिन्धु मुनिराय।
आरती हम सब करते संकट जाय नशाय, ओम् जय विमल ॥